हिन्दी महाकाव्य

का

स्वरूप विकास

डॉ. शम्भूनाथ सिंह

हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय

हिन्दुस्तानी एकेडेमी पुस्तकालय
इलाहाबाद

वग सख्या ८११.०३०९
पुस्तक सख्या शम्भु/हि
क्रम सख्या १२६८३

हिन्दी महाकाव्य

का

स्वरूप-विकास

डा० शम्भूनाथ सिंह

हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय

वाराणसी

प्रकाशक :

ओमप्रकाश बेरी

हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय

पो० बाक्स न० ७०

ज्ञानवापी, वाराणसी ।

प्राक्कथन

साहित्य में सबसे ऊँचा स्थान काव्य का है और काव्य के भीतर महाकाव्य को शीर्षस्थ पद दिया गया है। यही कारण है कि प्रत्येक महत्त्वाकांक्षी कवि महाकाव्य लिखने की अभिलाषा करता है। महाकाव्य की इस महत्ता को देखते हुए यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि महाकाव्य की रचना करना कितना कठिन और कवित्व शक्ति सापेक्ष कार्य है। फिर भी इसकी चिन्ता न करके 'यश प्रार्थी' कवियों ने महाकाव्य नाम से न जाने कितने काव्य ग्रन्थों की रचना की है। इनमें से बहुतों को लोग जानते तक नहीं, अनेक पुस्तकालयों या ग्रन्थागारों की शोभा मात्र हैं और न जाने कितने काल कवलित हो चुके हैं। इससे यह तो स्पष्ट है कि महाकाव्य नाम से लिखे गये अथवा बाह्य दृष्टि से महाकाव्य प्रतीत होने वाले सभी काव्य महाकाव्य नहीं होते। ऐसी स्थिति में इस महत्त्वपूर्ण काव्यरूप का स्वरूप निर्धारण करना अत्यन्त कठिन कार्य है। किसी भी साहित्य के इतिहास में महाकाव्य के विकास क्रम की दिशा निर्धारित करना और उसके प्रमुख महाकाव्यों का मूल्यांकन करना तो और भी कठिन कार्य है।

अतः इस दिशा में कार्य आरम्भ करते समय मेरे सम्मुख तीन समस्याएँ उपस्थित हुईं, प्रथम तो यह कि केवल भारतीय महाकाव्यों और भारतीय आलंकारिकों द्वारा निर्दिष्ट लक्षणों को दृष्टि में रखकर महाकाव्य की परिभाषा निश्चित की जाय या पाश्चात्य साहित्य के महाकाव्यों और पाश्चात्य साहित्यशास्त्रियों द्वारा निर्दिष्ट लक्षणों को भी ध्यान में रखा जाय। दूसरा प्रश्न यह था कि हिन्दी में महाकाव्य के स्वरूप विकास का अध्ययन करते समय केवल हिन्दी के महाकाव्यों पर ही विचार किया जाय या उसके पूर्ववर्ती संस्कृत, पालि, प्राकृत और अपभ्रंश के महाकाव्यों की परम्परा के विकास का भी अध्ययन करके यह देखा जाय कि उसके साथ हिन्दी महाकाव्य परम्परा का क्या सम्बन्ध है? तीसरा प्रश्न यह उपस्थित हुआ कि महाकाव्य के स्वरूप पर विचार करते समय उसकी विषय वस्तु पर विचार किया जाय या नहीं?

इन्हीं तीन प्रश्नों की खोज के समाधान के रूप में प्रस्तुत विषय का विवेचन किया गया है। महाकाव्य के सम्बन्ध में विचार करने से पूर्व यह आवश्यक

प्रतीत हुआ कि उसके उद्भव और विकास के मूल स्रोतों का पता लगाया जाय। अतएव पहले हमने महाकाव्य के पूर्ववर्ती काव्यरूपों तथा उसकी सामग्री के सम्बन्ध मे विचार करते हुए यह देखने का प्रयत्न किया है कि सामूहिक गीत नृत्य से लेकर अलकृत महाकाव्य तक की लम्बी यात्रा के बीच काव्य को विकास के किस रास्ते स होकर गुजरना पडा है। हिन्दी मे अबतक महाकाव्य के सम्बन्ध मे प्राय सस्कृत क अलकार ग्रन्थों म निदिष्ट महाकाव्य के लक्षणो को ही आधार मानकर विचार किया गया है। पर इस ग्रन्थ में महाकाव्य सम्बन्धी भारतीय और पाश्चात्य मतों के तुलनात्मक अध्ययन के पश्चात् कुछ ऐसे शाश्वत लक्षणों का निर्धारण किया गया है जा ससार के सभी शैलियों के महाकाव्यो पर समान रूप से लागू हो सकें। मेरे विचार स वही काव्य वास्तविक अथ मे महाकाव्य पद का अधिकारी हो सकता है जिसमें ये लक्षण प्राप्त हों और प्रत्येक युग के महाकाव्यो की परीक्षा इन्हीं लक्षणो के आधार पर की जा सकती है। चूँकि प्रत्येक युग की परिस्थितियाँ और प्रवृत्तियो के अनुरूप महाकाव्य के स्वरूप मे भी परिवर्तन होता रहा है, अत किसी एक युग या एक देश के महाकाव्यो को दृष्टि मे रखकर निर्धारित किये गये लक्षणो की कसौटी पर सभी युगा के महाकाव्यों की जाँच नहीं हा सकती। इसीलिए इस ग्रन्थ मे महाकाव्य की अन्तरात्मा से सम्बन्धित शाश्वत लक्षणों की खोज करने का प्रयास किया गया है।

तीसरे अध्याय मे रामायण महाभारत से लेकर अपभ्रश काल तक के महाकाव्यों की परम्परा का पर्यवक्षण किया गया है। हिन्दी के महाकाव्य भारतीय महाकाव्य-परम्परा के अविच्छिन्न अग हैं। अत विषय वस्तु और रूप-शिल्प दोनों ही दृष्टियों से हिन्दी महाकाव्यों का सम्यक् मूल्याकन करने के लिए संस्कृत, पालि, प्राकृत और अपभ्रश क विभिन्न शैलियों क महाकाव्यों और उनकी शैलीगत विशेषताओं पर विचार करना आवश्यक है। सच पूछा जाय तो हिन्दी के प्रारम्भिक महाकाव्य सीधे अपभ्रश की महाकाव्य परम्परा म आते हैं। प्राकृत और अपभ्रश में सस्कृत की शास्त्रीय शैला की महाकाव्य परम्परा को उतना नहीं अपनाया गया जितना पौराणिक और रोमाचक शैली की महाकाव्य परम्परा को। अपभ्रंश के महाकाव्यों की परम्परा म होने के कारण हिन्दी के प्रारम्भिक महाकाव्यों में पौराणिक और रोमाचक शैली की ही प्रमुखता है। इसीलिए हि दी महाकाव्य के स्वरूप-विकास के क्रम को ठीक ठीक समझने तथा उसके पूवापर सम्बन्ध का निर्धारण करने के लिए प्राकृत अपभ्रश के महाकाव्यों पर विशेषरूप से विचार करना पडा है।

महाकाव्य जीवन का सर्वांगीण चित्र उपस्थित करने वाला काव्य रूप है। अत उसके सम्बन्ध में एकांगी दृष्टि से विचार करने से भ्रमपूर्ण निष्कर्ष पर पहुँचने की आशंका है। इसीलिए इस ग्रन्थ मे मैने महाकाव्य को साहित्यिक दृष्टि से देखने के साथ ही साथ उसे समाजशास्त्र, राजनीति, इतिहास, धर्म, दर्शन आदि के व्यापक परिपार्श्व मे रखकर देखने का प्रयास किया है। इस प्रयत्न म मुझे कहाँ तक सफलता मिली है, इसके बारे मे कुछ कहने का अधिकारी म नही हूँ। फिर भी मुझे विश्वास है कि इस प्रयास से हिन्दी मे महाकाव्य से सम्बन्धित समीक्षात्मक साहित्य के अभाव की कुछ पूर्ति हो सकेगी।

यह ग्रन्थ काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की पी-एच डी उपाधि के लिए शोध प्रबन्ध के रूप मे लिखा गया था और विश्वविद्यालय द्वारा स्वीकृत भी किया गया। अपने शोध कार्य के सिलसिले मे मुझे अपने प्रबन्ध निर्देशक डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी से तो पर्याप्त सहायता मिली ही, डा० रामअवध द्विवेदी, प० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, डा० जगन्नाथ शर्मा, डा० माताप्रसाद गुप्त और श्री उदयशंकर शास्त्री से भी समय समय पर उपयोगी सुझाव और परामर्श प्राप्त होते रहे। इसके लिए मै इन सभी समादरणीय विद्वानो का आभार स्वीकार करता हूँ। गम्भीर विचारक और विद्याव्यसनी श्री व्रजविलास श्रीवास्तव ने इस ग्रन्थ के प्रारम्भ से लेकर इसके प्रकाशन के समय तक विविध प्रकार से मेरी सक्रिय सहायता की है, पर उन्हें धन्यवाद देना अपने ही को धन्यवाद देना होगा। हाँ, अपने उन मित्र का भी मैं चिरकृतज्ञ हूँ जिन्होने अपभ्रंश साहित्य पर अत्यन्त परिश्रम से सकलित मेरी सामग्री को पढने के बहाने ले जाकर उसका उपयोग अपनी एक पुस्तक के द्वितीय संस्करण मे कर डाला पर कृतज्ञता ज्ञापन तो दूर, कही मेरा नामोल्लेख करना भी उचित नही समझा।

काशी विद्यापीठ
दीपावली, स० २०१३ } शम्भूनाथ सिंह

विषयानुक्रमणिका

नवाँ अध्याय— पृ० ५६१–६६६—

रूपककथात्मक महाकाव्य-कामायनी

आधुनिक हिंदी काव्य पर पाश्चात्य साहित्य का प्रभाव, नवीन सांस्कृतिक चेतना का उदय, कामायनी—आधुनिक युग का प्रतिनिधि महाकाव्य, कामायनी कथा के मूल स्रोत, देव जाति और देवासुर संग्राम, जलप्लावन, मनु और श्रद्धा का सम्बन्ध, मनु और इडा, कामायनी का रूपकत्व, कामायनी का महाकाव्यत्व—महदुद्देश्य, महती प्रेरणा और उत्कृष्ट काव्य प्रतिभा, कामायनी का समन्वयवाद, गुरुत्व, गाम्भीर्य और महत्व, प्रत्यभिज्ञा दर्शन, महत्कार्य और समग्र युग जीवन का चित्रण, कलात्मक संकलन की प्रवृत्ति, सुसंगठित और जीवन्त कथानक, मनोवैज्ञानिक तथ्यों के उद्घाटन की दृष्टि, कार्यावस्थाओं और संधियों की दृष्टि से कामायनी का कथानक, महच्चरित्र, आदर्श और यथार्थ का सुन्दर समन्वय, मनु, श्रद्धा तथा अन्य पात्र, कामायनी में शैली के विविध तत्वों तथा अभिव्यक्ति के विविध स्वरूपों की पूर्णता, सांकेतिकता तथा ध्वनि के द्वारा प्रस्तुत में अप्रस्तुत का आरोप, ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, चित्रात्मकता और प्रतीकात्मकता, भाषा और शब्द चयन, तीव्र प्रभावान्विति और गम्भीर रसवत्ता, भारतीय सुखान्त काव्यों और पाश्चात्य दुखान्त काव्यों की परस्पर विपरीत कथानकशैलियों का सामंजस्य, अप्रस्तुत कथा की दृष्टि से कामायनी का रस विवेचन, जीवनी शक्ति और सशक्त प्राणवत्ता।

दसवाँ अध्याय— पृ० ६६७–७०१

उपसंहार

हिन्दी प्रबन्धकाव्यों की विशेषताएँ, संस्कृत की शास्त्रीय काव्य धारा और हिन्दी के प्रबन्धकाव्य, प्रशस्तिमूलक प्रबन्धकाव्य, पौराणिक शैली के प्रबन्धकाव्य, अन्य महत्वपूर्ण प्रबन्धकाव्य, मध्यकाल के पाँच प्रधान प्रबन्धकाव्य—राजविलास, छत्रप्रकाश, हम्मीररासो और रामचन्द्रिका, आधुनिक युग के प्रबन्धकाव्य, आधुनिक युग में शास्त्रीय शैली का अनुकरण, तीन प्रकार के आधुनिक प्रबन्धकाव्य, अपने काव्यों को स्वयं महाकाव्य कहने की प्रवृत्ति, आधुनिक युग के प्रमुख प्रबन्धकाव्यों की विवेचना, कृष्णायन, साकेत संत, सिद्धार्थ, नूरजहाँ, हल्दीघाटी, जौहर आदि, प्रियप्रवास और साकेत के महाकाव्यत्व के विषय में विचार।

हिन्दी महाकाव्य
का
स्वरूप-विकास

रूपककथात्मक महाकाव्य-कामायनी

उपसंहार

हिन्दी महाकाव्य
का
स्वरूप-विकास

पहला अध्याय

महाकाव्य का उद्भव और रूप गठन

हिन्दी महाकाव्य आदिकाल से लेकर अब तक अक्षुण्ण रूप से प्रवाहित होनेवाली भारतीय साहित्य धारा के बीच दिक्काल के बन्धनों की उपेक्षा करके सतत प्रवहमान महान भारतीय महाकाव्यो की परम्परा का ही एक अविच्छिन्न अग है। अत हिन्दी के महाकाव्यों के उद्भव ओर विकास की कहानी भी भारतीय साहित्य के उद्भव और विकास की कहानी से अलग नही है। भारत ही नही, विश्व भर के प्रारम्भिक या विकसनशील महाकाव्यों के मूल स्रोतो की खोज मानव जाति के आदिम साहित्य और इतिहास के भीतर से की जाती है। कारण यह है कि किसी भी जाति के साहित्य के प्रारम्भिक महाकाव्यो को उसके प्राचीनतम काव्यरूपो मे से प्रधान काव्यरूप माना जाता है। इन महाकाव्यो के विकास या निमाण के पूव उस जाति का कोई साहित्य था या नही, यदि इस तथ्य का सम्यक् विवेचन किया जाय तो महाकाव्य के पूर्व के काव्यरूपो और उनके महाकाव्य रूप म विकास का इतिहास सरलता-पूर्वक समझा जा सकता है। ऐसे महाकाव्यो और उनके पूर्ववता साहित्य के तुलनात्मक अध्ययन से पता चलता है कि उन महाकाव्यो की रचना नहीं हुई बल्कि उनका विकास हुआ। उस विकास मे किसी एक ही प्रतिभा का हाथ नही था, बल्कि अनेक शक्तिशाली कविया अथवा समूची जाति और उसकी विभिन्न युगा की विकसनशील सास्कृतिक चेतना का भी बहुत अधिक हाथ रहा। इसी कारण प्रारम्भिक महाकाव्यो को प्राकृतिक या विकसनशील महा काव्य (ऑथेण्टिक एपिक या एपिक आफ ग्रोथ) कहा जाता हे। रामायण, महाभारत, इलियड, ओडेसी आदि इसी प्रकार के महाकाव्य हें। इन महा काव्यो मे जिस युग की सभ्यता ओर सस्कृति की अभिव्यक्ति हुइ है, वह आज के वैज्ञानिक सभ्य युग को अपेक्षा कम विकसित था। फिर भी उनमे व्यक्त सभ्यता का प्रतिमान काफी ऊँचा है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि इन महाकाव्यो के युग—जिसे वीर युग (हीरोइक एज) कहा जाता है—तक पहुँचने के पहले मानव समाज को सभ्यता के विकास की और भी कई अवस्थाओं से होकर गुजरना, अनेक अ य युगो को पार करना पडा होगा।

पहला अध्याय

महाकाव्य का उद्भव और रूप गठन

हिन्दी महाकाव्य आदिकाल से लेकर अब तक अक्षुण्ण रूप से प्रवाहित होनेवाली भारतीय साहित्य धारा के बीच दिक्काल के बन्धनों की उपेक्षा करके सतत प्रवहमान महान भारतीय महाकाव्यो की परम्परा का ही एक अविच्छिन्न अग है। अत हिन्दी के महाकाव्यों के उद्भव और विकास की कहानी भी भारतीय साहित्य के उद्भव और विकास की कहानी से अलग नही है। भारत ही नही, विश्व भर के प्रारम्भिक या विकसनशील महाकाव्या के मूल स्रोतो की खोज मानव जाति के आदिम साहित्य और इतिहास के भीतर से की जाती है। कारण यह है कि किसी भी जाति के साहित्य के प्रारम्भिक महाकाव्यो को उसके प्राचीनतम काव्यरूपो म से प्रधान काव्यरूप माना जाता है। इन महाकाव्यो के विकास या निमाण के पूर्व उस जाति का कोई साहित्य था या नही, यदि इस तथ्य का सम्यक् विवेचन किया जाय तो महाकाव्य के पूर्व के काव्यरूपा और उनके महाकाव्य रूप म विकास का इतिहास सरलता पूर्वक समझा जा सकता है। ऐसे महाका यो और उनके पूर्ववता साहित्य के तुलनात्मक अध्ययन से पता चलता है कि उन महाकाव्या की रचना नहीं हुई बल्कि उनका विकास हुआ। उस विकास मे किसी एक ही प्रतिभा का हाथ नही था, बल्कि अनेक शक्तिशाली कविया अथवा समूची जाति और उसका विभिन्न युगा की विकसनशील सास्कृतिक चेतना का भी बहुत अधिक हाथ रहा। इसी कारण प्रारम्भिक महाकाव्यो को प्राकृतिक या विकसनशील महाकाव्य (ऑथेण्टिक एपिक या एपिक आफ ग्रोथ) कहा जाता है। रामायण, महाभारत, इलियड, ओडेसी आदि इसी प्रकार के महाकाव्य है। इन महाकाव्यो मे जिस युग की सभ्यता और सस्कृति की अभिव्यक्ति हुई है, वह आज के वैज्ञानिक सभ्य युग की अपेक्षा कम विकसित था। फिर भी उनमे व्यक्त सभ्यता का प्रतिमान काफी ऊँचा है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि इन महाकाव्यो के युग—जिसे वीर युग (हीरोइक एज) कहा जाता है—तक पहुँचने के पहले मानव समाज को सभ्यता के विकास की ओर भी कई अवस्थाओ से होकर गुजरना, अनेक अन्य युगो को पार करना पडा होगा।

इन महाकाव्यो मे उक्त पूववना युगो की सभ्यता और उनके प्राचीनतम काव्य के अवशेष भरे पडे हैं। अत समाज के विकास की किस अवस्था मे महाकाव्य का उद्भव और विकास हुआ, यह जानने क लिये समाज के विकास के स्वरूप और उसके विभिन्न युगो को सक्षेप मे समझ लेना आवश्यक है।

समाजशास्त्र समाज के विकास के इतिहास को इतिहास शास्त्र की तरह काल की दृष्टि से नहा, वल्कि आर्थिक, सामाजिक और सास्कृतिक विकास की दृष्टि से विभिन्न युगा मे विभाजित करता है। एक ही काल मे कोई जाति प्रारम्भिक अवस्था म और दूसरी अत्यन्त विकसित अवस्था मे रह सकती है। आर्थिक दृष्टि से समाज के विकास की तीन अवस्थाये मानी गयी है—

१—शिकार और खाद्य सचय युग

२—कृषि युग

३—ओद्योगिक युग

सामाजिक और राजनीतिक दृष्टि से इन्हीं युगो के ये नाम दिये गये हैं—

१—कबीला युग या जन समाज युग

२—सामन्त युग

३—राष्ट्र-युग

पहले युग म कबीले ही समाज थे। उनमे प्रारम्भिक समाजवाद की सामाजिक व्यवस्था थी, सामूहिकता की प्रवृत्ति प्रमुख थी और प्रत्येक कार्य सामूहिक रूप मे होता था। व्यक्तिगत सम्पत्ति और व्यष्टि भावना का विकास नही हुआ था। यही प्रारम्भिक मानव समाज था और सामूहिक नृत्य गीत, प्रारम्भिक पौराणिक और निजधरी आख्यान आदि उसकी धार्मिक और सामाजिक अभिव्यक्तियों के माध्यम थे। इस युग की भी दो अवस्थाये मानी जाती हैं—वन्यावस्था (सेवेजरी) और बर्बरावस्था (बारबेरिज्म)। कबीलो म रहकर सामूहिक सामाजिक जीवन बिताना उसने दूसरी अवस्था मे ही सीखा। ये दोनो ही अवस्थाये प्रागैतिहासिक काल की हैं। यह काल मानव के इतिहास मे न जाने कितने हजार वर्षो का रहा होगा। विभिन्न कारणो से प्रेरित होकर इस समाज को कृषि-व्यवस्था अपनानी पडी और उसके साथ ही उसके सामाजिक सम्बन्धो, सस्कृति और काव्य के स्वरूप मे भी क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए। इस काल मे पशुचारण, खेती तथा एक सीमा तक व्यापार द्वारा समाज के लोगो का जीवन निर्वाह होता था। इस युग को सामन्त युग भी कहा जाता है और इसके विकास की तीन अवस्थायें मानी जाती हैं—

१—प्रारम्भिक सामन्त युग।

२—मध्य सामन्त युग।

३—उत्तर सामन्त युग।

कृषि युग या सामन्त युग भी कम लम्बा नही रहा। हमारे देश मे वैदिक-काल से लेकर १९वी शताब्दी तक, आदि, मध्य और उत्तर सामन्ती समाज की अवस्थायें विभिन्न कालो मे रहीं। महाकाव्य की सामग्री इस युग के प्रथम काल मे निर्मित हुई और दूसरे काल मे वह विकसित होकर महाकाव्यो के रूप मे परिणत होने लगी। इस दूसरे काल का अन्त होते होते अलकृत महाकाव्यो की रचना होने लगी जो तीसरे काल के महाकाव्यों मे अपने उत्कृष्ट रूप मे परिणत हुई। सामन्त युग मे ही अनेक आन्तरिक और बाह्य प्रभावो के कारण प्राकृत, अपभ्रश और वर्तमान आर्यभाषाओं का विकास हुआ और उनमे भी विविध विकसनशील और अलकृत महाकाव्यों की रचना हुई। कृषि युग के बाद राष्ट्र युग मे औद्योगिक क्रान्ति के परिणामस्वरूप सामन्ती बन्धन टूटने लगते हैं और पूँजीवादी स्वतन्त्रता की भावना का विकास होता है। व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर बहुत अधिक जोर दिये जाने के कारण इस युग मे वैयक्तिक भावना की ही प्रधानता रहती है। व्यष्टि भावना तथा अन्तर्मुखी प्रवृत्तियो के परिणामस्वरूप इस युग मे प्रगीतात्मक (लिरिकल) तथा आधुनिक स्वच्छन्दतावादी महाकाव्यो की ही रचना विशेष रूप से होती है।

जैसा ऊपर कहा गया है, विकसनशील महाकाव्य पूरे समाज के सामान्य मस्तिष्क की देन होता है, उसमे उस समाज के विश्वासो, कर्मों, रीतिरिवाजों, अनुभवों और परम्पराओ का लेखा जोखा रहता है। इस प्रकार यद्यपि वह मानव जाति का अत्यन्त प्राचीन काव्यरूप है, पर साथ ही अपने पूर्व के अन्य काव्य रूपो की ओर सकेत करता या सूचना देता है। होमर, व्यास और वाल्मीकि अपने युग की कथा कहते हुए भी प्राचीन परम्परायुक्त कथाओं को दुहराते और उनकी प्राचीनता को स्वय स्वीकार करते हैं। अत मेकनील डिक्सन का यह कथन सही है कि प्रारम्भिक महाकाव्य का जो सुष्ठु और विकसित रूप आज प्राप्त है, उसके निर्माण मे न जाने कितने काव्यो और आख्यानों का उपयोग किया गया होगा[1]। उन प्राचीन गीतो और कथाओं का रूप भी इन

1 'The epic—a highly developed form of art—could not have come to birth save for the cruder poems it took up and transformed and these were, in turn more finely wrought

महाकाव्यो मे पहुँचकर कट छँट और सज सँवर कर नया सा हो गया है। इसीलिये निश्चित रूप से बता सकना कठिन है कि प्रारम्भिक सामूहिक गीतो से लेकर अलकृत महाकाव्य तक की लम्बी यात्रा के बीच काव्य को विकास के किस रास्ते से होकर गुजरना पडा होगा, फिर भी उसका कुछ अनुमान किया जा सकता है। यह विकास सभवत इस क्रम से हुआ है —

१—सामूहिक गीत नृत्य (कोरल म्यूजिक ऐंड डान्स)

२—आख्यानक नृत्य गीत (बैलेड डान्स)

३—आख्यान और गाथा (लेज एण्ड बैलेड्स)

४—गाथा चक्र (साइकिल आफ बैलेड्स)

५—प्रारम्भिक महाकाव्य

६—अलकृत महाकाव्य

विकास के इस क्रम को ठीक इसी प्रकार से भले ही न स्वीकार किया जाय किन्तु इस बात को तो सभी स्वीकार करेंगे कि सामूहिक गीत नृत्य से ही काव्य, सगीत, नृत्य, रूपक, सबका विकास हुआ है और अलकृत महाकाव्य, कथा, आख्यायिका, गीतिकाव्य आदि इस विकास क्रम की सबसे अन्तिम कडियाँ हैं। उनके बाद के साहित्य-रूपा के विकास का इतिहास रहस्यमय और उलझनपूर्ण नहीं है। नृतत्वशास्त्रिया और समाजशास्त्रियो का अनुमान है कि सबसे पहले मानव की धार्मिक क्रियायें सामूहिक गीत नृत्य के रूप मे अभिव्यक्त होती थीं। बाद मे पूजा, पर्व और उत्सवो का प्राधान्य हो जाने पर भी उनसे नृत्य गीत का सम्बन्ध बना रहा। जन समाज युग के कबीले अपने आदि पुरुष के सम्बन्ध मे अपने मनोभावो की अभिव्यक्ति सामूहिक रूप से करते थे। ऐसे अवसरो पर सभी व्यक्ति एकत्र होकर सामूहिक रूप मे नृत्य गान करते थे[1]। जो लोग

than the earliest narratives and lyrics of men in the infancy of society'

N Macneile Dixon English Epic and Heroic Poetry P 27
London—1912

1 'To this god the assembled multitude sang a hymn, at first merely a chorus exclamation and incoherent chant full of repetitions As they sang they kept time with the foot in a solemn dance which was inseperable from the chant it self and governed the words"

F B Gummere A Hand Book of Poetry p 9

धामिक क्रियाओ के साथ साथ काव्य कला की उत्पत्ति नही मानते और मनो रजन की प्रवृत्ति को ही प्रधान समझते है, उनका भी कहना है कि काव्य, नृत्य, सगीत आदि की उत्पत्ति प्रारम्भिक मानव समाज मे सामूहिक उत्सवो से ही हुई है।

आख्यानक नृत्य गीत —

प्रारम्भिक मानव समाज मे देवताओ और पितरो की पूजा के लिये आयो जित नृत्य गीत मे अर्थयुक्त भाषा का व्यवहार होने और उन व्यक्तियो से सम्बधित आख्यानो के जुट जाने पर सामूहिक नृत्य गीत ने आख्यानक नृत्य गीत का नया रूप धारण कर लिया। आख्यानक नृत्य गीत के सम्ब ध म दो स्रोतों से पता चलता है—

१—प्राचीनतम उपलब्ध साहित्य से

२—सभ्य जातियों के अशिक्षित ग्रामीण समाज के और आदिम जातियो के नृत्य गीत से।

स्पष्ट ही इसमे रूपक और प्रबन्धकाव्य दोनो का बीज दिखलाई पडता है। भारत मे इसका प्रारम्भिक स्वरूप क्या था, यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता, किन्तु अनेक विद्वानो का मत है कि ऋग्वेद के सवाद सूक्तो मे इनका रूप दिखलाई पडता है। आख्यानक नृत्य गीत का स्पष्ट प्रमाण पतजलि के महाभाष्य (३–१–२६) मे मिलता है जिसमे कहा गया है कि शौभिक लोग कसवध और बालिवध के आख्यानों का प्रदर्शन करते थे। इसमे कोइ सन्देह नही कि परवता काल म पौराणिक और निजन्धरी आख्यानो का स्वरूप धार्मिक हो जाने से धामिक उत्सवा के अवसरो पर मन्दिरों म गीति नाट्य का अथवा आख्यानक नृत्य गीत का आयोजन होता था जिसका अवशिष्ट रूप आज भी देवदासियो के नृत्य तथा कथाकली, कथक आदि भाव रूपकों म दिखाइ पडता है अथवा लोकोत्सवो और लोक नृत्यो आदि मे अब भी जिसका मूल रूप अवशिष्ट है। बगाल मे लोग देवताओ के मुखौटे पहनकर नृत्य करते हैं। काली, चामुण्डा, वासुकी, राम, लक्ष्मण, हनुमान, शिव पार्वती, नरसिह, हिरण्यकशिपु, कार्तिक आदि की कथाओं का वहाँ नृत्य द्वारा प्रदर्शन किया जाता है और दुर्गापूजा, धमपूजा, (गाजन), शिवपूजा (गभीरा) आदि के समय आवश्यक धामिक क्रिया के रूप मे उनका आयोजन होता है[1]।

1 Music, song and dance form an integral part of these festivities and these are performed by the populace putting on masks of gods goddesses and many lower animals Besides

इस तरह नृत्य गीत अथवा भाव नृत्य द्वारा किसी कथा का अभिनय करने की प्रथा इस देश म और अ य देशो मे भी बहुत पुरानी है। फेरो द्वीप मे सतरहवीं शताब्दी तक नृत्य के साथ आख्यानक काव्य और वीरगीति का गान होता था। आइसलैण्ड मे नृत्य के साथ न जाने कब से आख्यानक काव्य का गान होता आ रहा है। इग्लैंड मे भी राबिनहुड जैसी वीरगाथाओ का नृत्य मे उपयोग होता था। यूरोप मे बैलेट नामक नृत्य गीत बैलेड (गाथा) से ही निकला है[1]। भारत, विशेषकर उत्तर भारत, मे रामलीला और रासलीला का स्वरूप आख्यानक नृत्य गीत का ही है। उनके सम्बन्ध मे यह नही कहा जा सकता कि वे साहित्यिक नाटक के विकृत रूप हैं क्योंकि ऊपर महाभाष्यकार का कथन इस प्रथा की प्राचीनता के प्रमाण मे दिया जा चुका है। सम्भवत रामायण और महाभारत की कथाओ का अभिनय करने की प्रथा यहाँ पहले ही से थी जिसका अवशिष्ट रूप रामलीला रास लीला आदि हैं। इस सम्बन्ध मे एक महत्वपूर्ण उल्लेखनीय बात यह है कि भारतीय साहित्याचार्यों ने उपरूपक के १८ भेदा मे एक रासक भी माना है। रास नृत्य का सम्बन्ध श्री कृष्ण के जीवन से है और यह सम्भवत लास का ही दूसरा रूप प्रतीत होता है। भरतमुनि ने नृत्य के भीतर लास्य, ताण्डव आदि भेद गिनाये हैं। अस्तु, लास या रास मृदु भावनाओं की अभिव्यक्ति करने वाला नृत्य था जो प्रारम्भ मे आख्यानक नृत्य गीत ही रहा होगा।

आख्यान और गाथा —

प्रारम्भिक काल के आख्यानक नृत्य गीतो से नृत्य, सगीत, काव्य आदि का अलग अलग विकास उस समय हुआ जब समाज मे व्यक्ति का महत्व बढ गया। समवेत नृत्य-गीत मे पहले सभी साथ ही साथ गाते नाचते थे। बाद मे पहले एक व्यक्ति अगुआ बनकर गाता या नाचता था और अन्य लोग उसी की क्रियाओं को दुहराते थे। इस तरह विशिष्ट प्रतिभा और स्मरण शक्ति वाले व्यक्ति सामूहिक नृत्य-गीत मे पहले आगे आये। आख्यानक नृत्य गीत का विकास होने पर वे नृत्य, सगीत और आख्यान मे अलग अलग विशेषज्ञता प्राप्त करने लगे।

this mask dances of he sparrow and she sparrow (performed by washer men), buda budı Ravan Hanuman Kalı etc are also performed"

Benoy Kuma- Sarakar The Folk Element ın Hındu Culture p 91 92 London 1917

1 F B Gummere Old Englısh Balıads Intsoductıon P 78, London 1894

इस तरह वैयक्तिक भावनाओं के विकास के साथ सगीत, नृत्य और काव्य (आख्यान और गाथा) का अलग कलाओ के रूप म विकास हुआ। इन्ही विशेषज्ञ अगुओ से ही चारणों और गाथा गायको का विकास हुआ। प्राचीन आख्यानो ओर गाथाओ के सम्बन्ध म भी हमारी जानकारी दो स्रोतो पर ही आधारित है—

१—प्राचीन लिखित साहित्य।

२—आधुनिक अविकसित जातियों तथा जन जातियो का मौखिक साहित्य। प्रारम्भिक आख्यान नि सदेह प्रागैतिहासिक काल के हैं। वे समाज की सामूहिक सम्पत्ति थे, किसी विशेष कवि की कृति नही। वेदो म यद्यपि आख्यान गीता (सवाद सूक्त) के ऋषियो का नाम दिया हुआ है पर विद्वानो का मत है कि जिस गोत्र के लोग उन सूक्तो को गाते थे, उन्होने अपने पूवज ऋषियो के नाम उनके कर्त्ता के रूप मे जोड दिये हैं। ऋग्वेद मे कम से कम १५ सूक्त ऐसे हैं जिनमे सवाद रूप म आख्यान कहे गये हैं। उनम से यम यमी (१०, ११) पुरूरवोर्वशी (१०, ९५), अगस्त्य लापामुद्रा (१, १७९), इन्द्र अदिति वामदेव (४, १८), इन्द्र इन्द्राणी वृषाकपि (१०, ८६) सरमा पणीस (१०, ५१, ३) इन्द्र मरुत् (१, १६५, १७०) आदि आख्यान प्रमुख हैं। डा० एस० के० दे का मत है कि ऋग्वेद के ये सवाद-सूक्त वस्तुत पौराणिक और निजन्धरी आख्यान हैं[1]। शौनक ने 'बृहद्देवता' मे इनमे से कुछ को सवाद ओर कुछ को इतिहास कहा है। यास्क ने भी निरुक्त में पुरूरवोर्वशी को सवाद ओर सरमा पणीस क कथा को आख्यान कहा है[2]।

ऋग्वेद के इन सवाद सूक्तो के सम्बन्ध मे पश्चिम के प्राच्य विद्याविद् महारथियों मे काफी विवाद हो चुका है। ओल्डेनबर्ग प्रभृति कुछ विद्वानो का यह अनुमान है कि ये आख्यान प्रारम्भ मे गद्य पद्य मिश्रित रहे होगे क्योकि यारोपाया परिवार के समस्त प्राचीन साहित्य मे यह गद्य पद्यात्मक रूप दिखलाइ पडती है[3]। कीथने इस मत का खण्डन करते हुए लिखा है कि वेदा मे कही भी इस तरह के गद्य-पद्य मिश्रित आख्यान नही आये हैं, अत यह केवल अनुमान है[4]।

1 S N Das Gupta and S K De A History of Sanskrit Lito rature p 43—44 Calcutta 1947

२ देवा सुनीन्द्रेण प्रहिता पणिभिरसुरे समुदा इति आख्यानम्। निरुक्त ११ २५।

3—Z D M G Vol XXXVII p 54

4—A B Keith, The Origin of Tragedy and the Akhyan J R A S p 437 1912

किन्तु लोक प्रचलित कथाओं तथा प्राचीन आख्यानो और कथाओ के अध्ययन से पता चलता है कि आख्यानों का प्राचीन रूप गद्य पद्य मिश्रित ही रहा होगा। भोजपुरी प्रदेश मे सारङ्गा सदावृज तथा अ य कई ऐसे लोक प्रचलित आख्यान हैं जो गद्य पद्य मिश्रित हैं। प्राचीन साहित्य म सर्वप्रथम ब्राह्मण ग्रन्थो मे गद्य पद्यमय आख्यानो के उदाहरण मिलते है। ऐतरेय ब्राह्मण मे शुन शेप तथा शतपथ ब्राह्मण मे पुरूरवोवशी के आख्यान गद्य पद्य मिश्रित हैं।

गाथा नाराशसी —

ऐसे आख्याना को प्रारम्भ मे गाथा या गाथा नाराशसी कहा जाता था और बाद मे इन्हीं को इतिहास, पुराण, आख्यान नाम दिया गया। अथर्ववेद (१५–६–१०,११,१२) मे गाथा और गाथानाराशसी का नाम इतिहास पुराण के साथ लिया गया है। शतपथ ब्राह्मण मे अश्वमेध यज्ञ का जो वर्णन है उससे ज्ञात होता है कि यज्ञ के अवसर पर पारिप्लव आख्यान होता था, अर्थात् घोडे के भ्रमणार्थ चले जाने पर वर्ष भर तक दस दस दिन के अ तर से कला, ज्ञान आदि के प्रदर्शन का आयोजन होता था। उसमे गाथा और इतिहास कहने की कला भी प्रदर्शित होती थी। दिन मे ब्राह्मण और रात्रि मे राजन्य वीणा पर उनका गान करते थे[१]। ब्राह्मणो की गाथा मे किसी राजा के दान या यज्ञ की प्रशसा की जाती थी और राजन्य उसकी वीरता और युद्धों का गान करता था। फिर जब यजमान और अध्वर्यु साथ बैठते थे तो अध्वर्यु होता से कहता था कि तुम इस राजा को औरो की तुलना मे प्रशसा द्वारा ऊँचा उठाओ। इसके बाद पारिप्लव गान प्रारम्भ होता था। तदनन्तर वीणा बजाने वाले वीणा पर राजा की प्रशसा के गीत गाते थे। सध्या समय फिर राज य वीणा पर स्वरचित तीन छ दो का गान करता था। इससे यह पता चलता है कि गाथा या गाथा नाराशसी प्रशस्तिमूलक आख्यान ही था जिसमे इतिहास पुराण भी मिला होता था। वेदो की दान-स्तुति को भी नाराशसी गाथा कहा जाता था और अश्वमेध यज्ञो, उत्सवो और सस्कारा के समय उनका गान करने की प्रथा थी। आश्वलायन गृह्य सूत्र म कहा गया है कि वेद मन्त्रा का गान करने वालो को इतिहास, पुराण और गाथा नाराशसी का भी गान करना चाहिये। काठक-सहिता ने इन गाथाओ को मिथ्या बताया है क्योकि इनमे राजाओ की अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशसा रहती थी। ऐतरेय ब्राह्मण (३–२५–१) म आख्यानविद् शब्द का प्रयोग हुआ है। शतपथ ब्राह्मण (३–६–२, ७) मे सुपर्णाख्यान कहने वाले को आख्यानविद्

१—शतपथ ब्राह्मण (१३–४–३–२, १५)।

कहा गया है। यास्क ने निरुक्त (५–२१ और ८–७) मे ऋग्वेद के व्याख्याताओ को आख्यानविद् कहा है।

इससे इतना तो स्पष्ट है कि वैदिक काल म गाथा, आख्यान, इतिहास, पुराण और गाथा नाराशसी आदि का रूप मिला जुला था और सम्भवत सभी समानार्थी शब्द थे। हाप्किन्स ने सप्रमाण यह सिद्ध किया है कि महाभारत म आख्यान, उपाख्यान, कथा, पुराण और इतिहास इन सब शब्दो का प्रयोग प्राय समान अर्थो मे हुआ है और सभी मे किसी प्राचीन कहानी, घटना या निजन्धरी आख्यान का वर्णन है। इस तरह की कथाये अत्यन्त प्राचीनकाल से पौराणिक और निजन्धरी विश्वासो के साथ मिली जुली थी[1]। फिर भी महाभारत मे इन शब्दों के अर्थ मे कही कही अन्तर दिखाइ पडता है उसमे इतिहास शब्द अनुश्रुति (सेइग) के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। इसी अर्थ म कही कही गीता और गाथा शब्दो का प्रयोग हुआ है तथा कार्यकलाप या नैतिक उपदेश को भी कहीं कही गाथा कहा गया है (३–२९–३५)। ऋग्वेद मे गाथा और गातु शब्दों का प्रयोग गीत या पद्य के अर्थ मे और एक जगह नाराशसी गाथा के अर्थ मे हुआ है। उसमे गीत गानेवालो को गाथिन् और गाथापति तथा गीत शुरू करने वालों को गाथानि कहा गया है[2]। शतपथ ब्राह्मण और तैत्तिरीय ब्राह्मण तो गाथा का अर्थ स्पष्ट ही दान स्तुति या नाराशसी गाथा मानते हैं।

ऋग्वेद के इन सवाद सूक्तों के आधार पर ही ओल्डेनबर्ग ने यह अनुमान किया है कि भारतवर्ष म महाकाव्य का प्राचीनतम रूप गद्य-पद्य मिश्रित था जिसमे पात्रो के संवाद तो पद्य म होते थे किन्तु उन सवादो से सम्बन्धित घटनाओं का वर्णन गद्य मे किया जाता था। प्रारम्भ मे केवल पद्यो को याद रखा जाता था, घटनाओ से सम्बन्धित वणना को लोग अपने ढग से कहते थे[3]। किन्तु मैक्समूलर, सिल्वॉ लेवी, हटल आदि का अनुमान है कि ये सवाद सूक्त एक प्रकार के नाटक थे[4]। विटरनित्स ने इस सम्बन्ध म मध्यममार्ग का

1—Hopkins The Great Epic of India P 50 Yale University 1920

2 Macdonell and Keith Vedic Index Vol I, Edition 1912 P 224

3 Z D M G Vol XXXVII (1883) P 54 ff and Vol 39 (1885) 52 ff

4 Winternitz A History of Indian Literature Vol I, P 102 Calcutta 1927

अवलम्बन करते हुये कहा है कि ऋग्वेद के सवाद सूक्तो की तरह की कविताये भारतीय साहित्य—महाभारत, पुराण तथा बौद्ध साहित्य आदि—मे बहुत अधिक मिलती हैं, अत ये सवाद सूक्त वस्तुत प्राचीन गाथाये हैं। इन गाथाओ मे नाटक और कथाकाव्य दोनों के तत्व वर्तमान हैं। उन्हीं के आख्यानक तत्व से महाकाव्य, और सवाद तत्व से नाटक का विकास हुआ है[1]।

इस प्रकार हम देखते है कि प्राचीन भारतीय साहित्य मे आख्यानो और गाथाओ की अधिकता है और उनकी परम्परा भी बहुत प्राचीन है। इन आख्यानो का वस्तु तत्व पौराणिक, निजधरी, समसामयिक तथा कल्पित, इन चार प्रकार के पात्रो, घटनाओ और परिस्थितियो को लेकर गठित हुआ है। उनका निर्माण समूचे समाज द्वारा युग युग मे होता था। इस तरह उनके भीतर लोक-तत्व की प्रधानता होती थी। वे प्रारम्भ मे मौखिक रूप से गाये या सुनाये जाते थे, बाद म लिखने की प्रथा शुरू होने पर और समाज के वर्ग विभक्त हो जाने पर उन्हे लिख डाला गया, अथवा, उनका रूप बदलकर, उन्हे धार्मिक और शिष्ट साहित्य मे सम्मिलित कर लिया गया। इस प्रकार प्रारम्भिक गाथाओं और आख्यानों की दो धाराये हो गई, १—शिष्ट साहित्य के गाथा आख्यान तथा, २—लोकगाथा और लोककथा। पहले प्रकार की गाथाओं और आख्याना का स्वरूप बहुत पहले ही निश्चित हो गया था किन्तु लोक प्रचलित गाथाओ और आख्यानों मे आदिकाल से निरन्तर परिवर्तन होता आ रहा है। उनमे प्राचीन भाषा और मूल कथा तो नहीं सुरक्षित रह सकी है किन्तु प्रारम्भिक आख्यानों और गाथाओ के अनेक तत्व आज भी सुरक्षित हैं। अत प्राचीन साहित्य के अध्ययन की दृष्टि से लोक-कथाओ और लोक गाथाओं का भी कम महत्व नहीं है क्योंकि महाकाव्य के रूप निर्माण मे इनके भी अनेक तत्वो का उपयोग हुआ है।

गाथाचक्र (बैलेड साइकिल) –

इन गाथाओ म कुछ इतनी लोकप्रिय होती हैं कि वे बडी आसानी से विभिन्न स्थानो और जातियो म दूर दूर तक फैल जाती हैं। फिर स्थान और कालभेद से उनमें भिन्न भिन्न निजन्धरी पुरुषों की कथाये जुडने लगती हैं। इस तरह एक ही गाथा मिश्रण के कारण विभिन्न स्थानों मे विभिन्न गाथाओ के रूप मे दिखलाइ पडती है। बाद मे वे सभी गाथाये फिर एक मे मिलने लगती हैं क्योंकि उन सबमें प्रमुख पात्र समान होते हैं। जब विभिन्न स्थानो के गायक अथवा चारण एक ही पात्र से सम्बन्धित अनेक गाथाओ को याद करके गाने

1—Ibid P 102—103

लगते हैं तो धीरे धीरे वह गाथा महागाथा अथवा गाथाचक्र के रूप म बदल जाती है। यही बात आख्यानो के बारे मे भी लागू होती है। उनमे भी एक ही कथा महाकथा या कथाचक्र के रूप म बदल जाती है। गाथाओं और कथाओ में अनेक तत्व समान होते हैं और बहुधा दोनो म एक ही प्रकार के कथानक सम्बन्धी अभिप्राय दिखलाई पडते हैं। इसीलिये विभिन्न देशा ओर जातियो के गाथा चक्रो मे बहुत सी समान बातें दिखलाई पडती हे। किसी गाथा का गाथाचक्र के रूप मे तभी तक विकास होता है जब तक कि उसका लिखित रूप नहीं रहता और वह मौखिक परम्परा म विकसित होती रहती है। मोल्टन ने इस सम्ब ध मे 'विश्वसाहित्य' नामक पुस्तक मे लिखा है कि कण्ठस्थ काव्य एक तरह से सतरणशील साहित्य है, क्योकि लिखित काव्य तो स्थिर हो जाता है, पर अलिखित और मौखिक काव्य मानो हवा मे तैरता रहता है और प्रत्येक नया गाने वाला किसी गाथा का नया सस्करण करता है[1]। इस सतरण शील काव्य के गायक शुरू मे तो गैर पेशेवर होते थे पर बाद म पेशेवर लोग चारण के रूप म उसके विशेषज्ञ बनने लगे। ये चारण वीर युग मे पूरे समाज, विशेषरूप से सामन्तवर्ग, द्वारा बहुत सम्मानित होते थे क्योकि परम्परागत अनु श्रुतियो और गाथाओ—इतिहास, पुराण आदि—की रक्षा करने के साथ ही वे समाज का मनोरजन और हित साधन भी करते थे। इस प्रकार मौखिक काव्य यद्यपि सामूहिक सम्पत्ति था किन्तु चारणो ने उसका उपयोग और विकास विभिन्न युगो मे विभिन्न रूपो मे किया। विकास की इसी प्रक्रिया द्वारा एक ही गाथा ने पहले अनेक गाथाओं का रूप धारण किया और अन्त मे उन सबके सम्मिश्रण से गाथा चक्र (बैलेड साइकिल) का निर्माण हुआ।

गाथा चक्रों के बनने का दूसरा कारण विभिन्न व्यक्तियो, घटनाओं आदि से सम्बन्धित अलग अलग कथाओ का परस्पर गुम्फन और सम्मिश्रण भी था। वीरों और सास्कृतिक पुरुषो के चरित से सम्बन्धित गाथाओं म ऐसा अधिक होता था। इनके मौखिक ओर गेय होने के कारण गायक अपनी सुविधा के अनुसार किसी गाथा म अन्य गाथाओ की कुछ बातें भी मिला देत थे और जो अधिक लोकप्रिय और शक्तिपूर्ण गाथा होती थी, उसमे अ य अनेक गाथाये अन्तर्मुक्त हो जाती थी। इस तरह किसी गाथा की मूल कथा के भीतर अनेक

1— Oral poetry is a floating literature because apart from writing that gives fixity each delivering of a poem becomes a fresh edition

Moltón world Literature P 102

अवलम्बन करते हुये कहा है कि ऋग्वेद के सवाद सूक्तो की तरह की कवितायें भारतीय साहित्य—महाभारत, पुराण तथा बौद्ध साहित्य आदि—मे बहुत अधिक मिलती हैं, अत ये सवाद सूक्त वस्तुत प्राचीन गाथायें हैं। इन गाथाओ मे नाटक और कथाकाव्य दोनों के तत्व वर्तमान हैं। उन्हीं के आख्यानक तत्व से महाकाव्य, और सवाद तत्व से नाटक का विकास हुआ है[1]।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीन भारतीय साहित्य मे आख्यानो और गाथाओं की अधिकता है और उनकी परम्परा भी बहुत प्राचीन है। इन आख्यानो का वस्तु तत्व पौराणिक, निजन्धरी, समसामयिक तथा कल्पित, इन चार प्रकार के पात्रो, घटनाओ और परिस्थितियों को लेकर गठित हुआ है। उनका निर्माण समूचे समाज द्वारा युग युग मे होता था। इस तरह उनके भीतर लोक-तत्व की प्रधानता होती थी। वे प्रारम्भ मे मौखिक रूप से गाये या सुनाये जाते थे, बाद म लिखने की प्रथा शुरू होने पर और समाज के वर्ग विभक्त हो जाने पर उन्हें लिख डाला गया, अथवा, उनका रूप बदलकर, उन्हे धार्मिक और शिष्ट साहित्य मे सम्मिलित कर लिया गया। इस प्रकार प्रारम्भिक गाथाओं और आख्यानों की दो धारायें हो गईं, १—शिष्ट साहित्य के गाथा आख्यान तथा, २—लोकगाथा और लोककथा। पहले प्रकार की गाथाओं और आख्यानो का स्वरूप बहुत पहले ही निश्चित हो गया था किन्तु लोक प्रचलित गाथाओ और आख्यानों मे आदिकाल से निरन्तर परिवर्तन होता आ रहा है। उनमे प्राचीन भाषा और मूल कथा तो नही सुरक्षित रह सकी है किन्तु प्रारम्भिक आख्यानो और गाथाओं के अनेक तत्व आज भी सुरक्षित हैं। अत प्राचीन साहित्य के अध्ययन की दृष्टि से लोक कथाओ और लोक गाथाओं का भी कम महत्व नहीं है क्योकि महाकाव्य के रूप निमाण मे इनके भी अनेक तत्वो का उपयोग हुआ है।

गाथाचक्र (बैलेड साइकिल) –

इन गाथाओं में कुछ इतनी लोकप्रिय होती हैं कि वे बडी आसानी से विभिन्न स्थानो और जातियों म दूर दूर तक फैल जाती हैं। फिर स्थान और कालभेद से उनमें भिन्न भिन्न निजन्धरी पुरुषो की कथाये जुडने लगती हैं। इस तरह एक ही गाथा मिश्रण के कारण विभिन्न स्थानों मे विभिन्न गाथाओ के रूप म दिखलाइ पडती है। बाद म वे सभी गाथायें फिर एक मे मिलने लगती हैं क्योंकि उन सबमें प्रमुख पात्र समान होते हैं। जब विभिन्न स्थानो के गायक अथवा चारण एक ही पात्र से सम्बन्धित अनेक गाथाओ को याद करके गाने

1—Ibid P 102—103

लगते हैं तो धीरे धीरे वह गाथा महागाथा अथवा गाथाचक्र के रूप म बदल जाती है। यही बात आख्यानों के बारे मे भी लागू होती है। उनमे भी एक ही कथा महाकथा या कथाचक्र के रूप मे बदल जाती है। गाथाओ और कथाओ में अनेक तत्व समान होते हैं ओर बहुधा दोनो मे एक ही प्रकार के कथानक सम्बन्धी अभिप्राय दिखलाई पडते हैं। इसीलिये विभिन्न देशो ओर जातियो के गाथा चक्रो मे बहुत सी समान बाते दिखलाई पडती ह। किसी गाथा का गाथाचक्र के रूप मे तभी तक विकास होता है जब तक कि उसका लिखित रूप नहीं रहता और वह मौखिक परम्परा मे विकसित होती रहती है। मोल्टन ने इस सम्बन्ध मे 'विश्वसाहित्य' नामक पुस्तक मे लिखा है कि कण्ठस्थ काव्य एक तरह से सतरणशील साहित्य है, क्योंकि लिखित काव्य तो स्थिर हो जाता है, पर अलिखित और मौखिक काव्य मानो हवा मे तैरता रहता है ओर प्रत्येक नया गाने वाला किसी गाथा का नया सस्करण करता है[1]। इस सतरण शील काव्य के गायक शुरू मे तो गैर पेशेवर होते थे पर बाद मे पेशेवर लोग चारण के रूप म उसके विशेषज्ञ बनने लगे। ये चारण वीर युग मे पूरे समाज, विशेषरूप से सामन्तवर्ग, द्वारा बहुत सम्मानित होते थे क्योकि परम्परागत अनु श्रुतियो और गाथाओ—इतिहास, पुराण आदि—की रक्षा करने क साथ ही वे समाज का मनोरजन और हित साधन भी करते थे। इस प्रकार मौखिक काव्य यद्यपि सामूहिक सम्पत्ति था किन्तु चारणो ने उसका उपयोग ओर विकास विभिन्न युगो मे विभिन्न रूपो मे किया। विकास की इसी प्रक्रिया द्वारा एक ही गाथा ने पहले अनेक गाथाओ का रूप धारण किया और अन्त मे उन सबके सम्मिश्रण से गाथा चक्र (बैलेड साइकिल) का निर्माण हुआ।

गाथा चक्रों के बनने का दूसरा कारण विभिन्न व्यक्तियो, घटनाओ आदि से सम्बन्धित अलग अलग कथाओ का परस्पर गुम्फन और सम्मिश्रण भी था। वीरों और सास्कृतिक पुरुषों के चरित से सम्बन्धित गाथाओ म ऐसा अधिक होता था। इनके मौखिक और गेय होने के कारण गायक अपनी सुविधा के अनुसार किसी गाथा म अ य गाथाओ की कुछ बाते भी मिला देते थे ओर जो अधिक लोकप्रिय और शक्तिपूर्ण गाथा होती थी, उसम अ य अनेक गाथाय अन्तर्भुक्त हो जाती थी। इस तरह किसी गाथा की मूल कथा के भीतर अनेक

1— Oral poetry is a floating literature because apart from writing that gives fixity each delivering of a poem becomes a fresh edition
Moltōn, world Literature, P 102

उपकथाये जुड जाती था। इस गुम्फन क्रिया मे लोक का हाथ तो रहता ही था पर चारणो और गायका का अधिक हाथ रहता था क्योकि वे इस प्रक्रिया द्वारा किसी गाथा का नये रूप रग म सुनाकर अपने श्रोताओ तथा आश्रय-दाताओ को प्रसन्न और विस्मय विमुग्ध कर सकते थे। दो एक गाथाचक्रो के उदाहरण ही पयाप्त हागे। वेदो मे इ द्र सम्बन्धी जितनी गाथाये या आख्यान हैं, वे गाथचक्र के पूर्वरूप हैं। वैदिक साहित्य मे सुपणा याय या सुपर्णाख्यान को विटरनित्स ने गाथाचक्र ही माना है[१]। इसमे कद्रू आर विनता की निजन्धरी कथा है जिसका उल्लेख प्रारम्भिक वैदिक साहित्य से लेकर महाभारत आदि अनेक ग्रन्थो तक मे हुआ है। भारतीय इतिहास और पुराण का विकास भी भारतीय गाथाचक्रो के रूप म ही हुआ है। वैदिक काल म ही इतिहास और पुराण का महत्व स्वीकृत हो गया था। इसीलिये परवता साहित्य म इतिहास पुराण को पञ्चम वेद भी कहा गया है[२]। इतिहास पुराण का तात्पर्य प्रारम्भ मे आख्यान और गाथा ही होता था, यह कहा जा चुका है। कुछ विद्वानो का कहना है कि वैदिक काल मे ही वैदिक सहिताओं के समान इतिहासो और पुराणों की सहिताय भी थी जिनम पोराणिक, ऐतिहासिक और निजन्धरी वृत्तो का सग्रह था[3]। पार्जिटर का मत है कि इतिहास पुराण का विकास वैदिक काल से ही राजन्य वर्ग के आश्रय मे रहने वाले सूत मागधो की परम्परा मे हुआ है[४]। गाथाओं और आख्याना का विकास भी इन्ही सूत मागधो के द्वारा हुआ है, अत यह स्पष्ट है कि इतिहास पुराण के रूप मे जो भारतीय साहित्य आज हम उपलब्ध है वह नाना गाथाचक्रो का सग्रह मात्र है। स्वय महा भारत अनेक गाथाओं और गाथाचक्रो का विशाल भाण्डार है। यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि गाथाचक्र काव्य नही, काव्य की पूवावस्था है। वस्तुत

1—Winternitz A History of Indian Literature Vol I P 312

२—छान्दोग्य उपनिषद् (३–३,४)।

3 Winternitz A History of Indian Literature footnote No 4 p 313

4 This marked difference can only be explained on the ground that royal linage were not the concern of Rishis but of court bards and of court priests This Kshatriya literature grew up in virtul independence of Brahmanical literature ' Pargiter Ancient Indian Geneologies, And Chronologies p 4

वह लोक गाथा और विकसनशील महाकाव्य के बीच की एक आवश्यक कडी है[1]।

प्रारम्भिक महाकाव्य —

जब गाथाये गाथाचक्र का रूप धारण कर लेती हैं, तो उनका प्रारम्भिक या मूल रूप क्या था यह जानने का कोई उपाय नहीं रह जाता। चिरकाल तक विकसित और परिष्कृत होते हुये ये ही गाथाचक्र प्रारम्भिक महाकाव्य का रूप धारण कर लेते हैं। प्रत्येक जाति और देश मे समय समय पर नये वीर और नयी घटनाये होती रहती थी। अत या तो पुराने वीरो की कथा नये वीरो की कथा को आत्मसात कर लेती थी अथवा नये वीरो के सम्बन्ध मे ही पुराने वीरो की बहुत सी बाते प्रचलित हो जाती थीं। दोनों ही दशाओ मे कथा का रूप बदल कर नया हो जाता था। इस तरह किसी वीर पुरुष या महत्वपूर्ण घटना की अपने समय मे भले ही उतनी ख्याति न रही हो पर कालान्तर मे वही वीर अन्य अनेक वीरो के यश और कीर्ति को अपना बना लेता है। कभी कभी तो ऐसे व्यक्तियो और वीरो की गाथाये ऐतिहासिक सत्य के रूप मे प्रचलित हो जाती हैं जो इतिहास मे कभी हुये ही नहीं। इस प्रकार की विकसनशील वीर गाथा जब किसी उपयुक्त चारण या गायक के हाथ मे पड जाती है तो वह उसमे अन्य गाथाओ, कथाओ, घटनाओ और वर्णनों को ऐसी बारीकी से पिरो देता है कि पता ही नही चलता कि ये बाद की जोडी हुइ हैं। यह सयोजन या सग्रह का कार्य जिसके द्वारा होता है वही उस गाथाचक्र या गाथा सहिता का कर्ता मान लिया जाता है। उस गाथाचक्र का कालान्तर मे इतना प्रचार और प्रसार होता है और उसम धीरे धीरे इतना अधिक जोडा घटाया जाता है कि उस गाथाचक्र के मूल रूप को ढूंढ निकालना असभव हो जाता है। इस तरह प्रारम्भिक गाथाओ से गाथाचक्रो और गाथाचक्रो से प्रारम्भिक या विकसनशील महाकाव्यो का विकास होता है। इसस यह स्पष्ट है कि विकसनशील महाकाव्यों का कोइ एक कवि नही होता और न वे एक युग की निमिति होते हैं। उनकी रचना अनेक युगा म अनेक कवियो द्वारा होती है। इलियड, ओडेसी, महाभारत आदि इसी प्रकार गाथाचक्रों से विकसित महाकाव्य हैं।

अलकृत महाकाव्य —

प्रारम्भिक महाकाव्यों का विकास वीर युग मे होता है जिसे हमने ऊपर

1 Such an heroic cycle it will be understood, is not a poem, but a state of poetry The cycle has now the chance of growing into an organic epic

Molton World Literature p 103

प्रारम्भिक सामंत युग कहा है। इस युग में राजतन्त्र का विकास होने से समाज का सर्वप्रमुख व्यक्ति राजा बन जाता है और उसी के आश्रय में धर्म, साहित्य, संस्कृति आदि का संरक्षण होता है। समाज में वर्गभेद उत्पन्न होते ही अनेक सांस्कृतिक केन्द्र स्थापित हुये। राजाओं की राजधानियाँ साहित्यिक, कलात्मक और धार्मिक कार्यों का प्रमुख केन्द्र होने लगीं। शिक्षा और संस्कृति के केन्द्रों में तथा शिष्ट समाज में पुरानी लोककथाओं और लोकगाथाओं को ग्राम्य समझकर उनका उतना सम्मान नहीं होता था। अतः उन सामंती सांस्कृतिक केन्द्रों में ग्राम्य कथाओं और गाथाओं की सामग्री लेकर दरबारी तथा नागर चारणों और कवियों ने साहित्यिक कथाओं और काव्यों का विकास किया। इस तरह प्रारम्भिक शिष्ट कथा साहित्य और गाथाचक्र, लोककथाओं और लोकगाथाओं को आत्मसात करके विकसित हुये। उधर लोककथायें और लोकगाथायें ग्रामीण और अशिक्षित जनता में ही सिमट कर रह गई। इस प्रकार शिष्ट समाज और ग्रामीण समाज का भेद उत्पन्न होने के साथ ही साथ साहित्य के भी—शिष्ट साहित्य और लोक साहित्य—ये दो रूप हो गये। सांस्कृतिक केन्द्रों और राज दरबारों में शिक्षा और संस्कृति के विकास के साथ साथ लिखने की प्रथा भी विकसित हुई और काव्य रचना भी एक विशिष्ट कला के रूप में स्वीकृत हुई। उन केन्द्रों में प्राचीन गाथाओं, कथाओं और गाथाचक्रों को लिपिबद्ध किया गया और इनके गायक, चारण आदि सामंतों के दरबारों में आश्रय पाने लगे। उस वातावरण में वैयक्तिक और सचेत काव्य रचना का होना आवश्यक था। अतः धीरे धीरे वे चारण और गायक ही कवि रूप में सामने आये। उनके काव्यों के साथ उनका नाम भी जुड़ने लगा और वे काव्य लिखित रूप में सुरक्षित रखे जाने लगे। इस स्थिति पे पहुँचकर लोक काव्य और शिष्ट काव्य, अलग हो गये। अब शिष्ट काव्य, अलंकृत, जटिल और दीक्षागम्य होने लगा। इसी वातावरण में और इन्हीं कवियों द्वारा अलंकृत महाकाव्यों की रचना होने लगी। इन अलंकृत महाकाव्यों को अनुकृत (इमीटेटिव) अथवा कलात्मक महाकाव्य (एपिक आफ आर्ट) भी कहा जाता है क्योंकि उनमें प्रायः विकसनशील महाकाव्यों अथवा पूर्ववर्ती गाथाचक्रों और इतिहास पुराणों से ही कथावस्तु ग्रहण की गई और उनकी शैली भी विकसनशील महाकाव्यों की शैली से बहुत प्रभावित थी।

ऊपर आख्यान और गाथा से लेकर अलंकृत महाकाव्य तक के काव्य विकास का जो विवेचन किया गया है उसे निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट रूप में समझा जा सकता है —

अलिखित (मौखिक) काव्य

विकास की अवस्था	विशेषतायें
	१—संतरणशील काव्य सामग्री
१—प्रारम्भिक लोक गाथायें	२—आशु काव्य प्रतिभा द्वारा परिवर्तन परिवर्द्धन की प्रवृत्ति
२—मिश्र कथानकों का विकास	३—सामूहिक कृतित्व या अपौरुषेयत्व
	४—अनलंकृति और सहजता
३—गाथाचक्र	५—लोक ख्याति और परम्पराभुक्तता (ट्रेडिशनलिज्म)
४—प्रारम्भिक (विकसनशील) महाकाव्य	६—गतिशील घटनाक्रम और स्वाभाविक भावों और चरित्रों का चित्रण
	७—कल्पना के स्वाभाविक उपयोग द्वारा वास्तविक जीवन का चित्रण

लिखित काव्य

विकास की अवस्था	विशेषतायें
१—विकसनशील महाकाव्य	१—रूप की स्थिरता
	२—संतरणशील काव्य सामग्री का संयत और सोद्देश्य उपयोग
	३—वैयक्तिकता की प्रवृत्ति और व्यक्तिगत कृतित्व
२—अलंकृत महाकाव्य तथा अन्य काव्य रूप	४—कृत्रिम, नागर और दरबारी वातावरण तथा परम्परा का प्रभाव
	५—शैलीगत मौलिकता और नवीनता की प्रवृत्ति
	६—घटना क्रम में गति की शिथिलता, सूक्ष्म और विस्तृत वर्णन का आधिक्य
	७—आदर्श चरित्रों की अवतारणा
	८—अलंकृति और पांडित्य प्रदर्शन की प्रवृत्ति
	९—कल्पना की अतिशयता द्वारा सचेष्ट रूप से अतिरंजना की प्रवृत्ति

ऊपर विकसनशील महाकाव्य को मौखिक और लिखित दोनो श्रेणियों मे रखा गया है। इसका कारण यह है कि जब तक कोई महाकाव्य विकास या निर्माण की अवस्था मे रहता है तब तक वह लोक कण्ठ या चारण गायक के कण्ठ म ही निवास करता है। जब वह परिपक्व महाकाव्य के रूप मे ढल जाता है और शिष्टवर्ग की दृष्टि उसपर पडती है अथवा शिष्टवर्ग का ही कोई व्यक्ति उसे महाकाव्य का रूप प्रदान करता है, तब उसे लिख लिया जाता है। इस प्रकार वह लिखित और अलिखित दोनों ही अवस्थाओ का काव्य है। अलिखित अवस्था मे उसमे निरतर परिवर्तन होते रहते हैं, पर लिखित अवस्था मे उसका रूप स्थिर हो जाता है। बहुत से गाथाचक्र परिपक्वावस्था (महाकाव्य रूप) मे पहुँचने के पूर्व ही उत्साही लोगो द्वारा लिख लिये जाते हैं, परिणामस्वरूप उनका विकास वही रुक जाता है। कुछ काव्य ऐसे भी होते है जो चारणों द्वारा रचे जाते हैं पर मौखिक प्रचार के कारण वे लोक गाथा और फिर गाथा चक्र के रूप मे बदल जाते है। कुछ इतने लोकप्रिय होते हैं कि अन्य कवि उनमे अपनी रचनाये, अपने भाव और विचार, क्षेपक के रूप मे मिलाने लगते हैं और धीरे-धीरे उसके आकार प्रकार को ही बदल देते हैं। फिर यह कहना कठिन हो जाता है कि उसमें कौन सा अश मूल कवि का है और कौन सा प्रक्षेपको का।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि प्रारम्भिक मानव समाज मे, जब कि वह बर्बरावस्था म रहता है, महाकाव्य की रचना या उसका विकास नही होता। कारण यह है कि समाज जब तक वर्गहीन रहेगा, उसम महाकाव्य का उदय नही हो सकता क्योकि महाकाव्य को नायक के लिए विशिष्ट व्यक्तित्व वाले वीरो तथा व्यक्तियो की आवश्यकता होती है जो वर्गहीन बर्बर समाज मे नही होते। जन-समाज युग म सामूहिकता की प्रवृत्ति प्रधान होने के कारण व्यष्टि भावना का अभाव था। प्रत्येक व्यक्ति समाज का ही एक अग था, उसे अपनी अलग व्यक्तिगत सत्ता का ज्ञान नहीं था। वह अपने मे ही समाज का एक लघु रूप था। ऐसी स्थिति मे सुदृढ व्यक्तित्व का अभाव होना स्वाभाविक था। किन्तु धीरे धीरे अन्य कबीलो अथवा जातियो के साथ होनेवाले सघर्ष और सम्पर्क के कारण समाज के भीतर व्यक्ति चेतना उद्बुद्ध हुई और वैयक्तिकता की भावना का प्रारभ हुआ। इस परिवर्तन का एक प्रधान कारण आर्थिक आधार म क्रान्तिकारी परिवर्तनो का होना भी था। कृषि-युग मे पहुँच कर कबीलो को अपनी पुरानी परम्पराओ, रूढियो तथा उत्पादन के साधनों मे परिवर्तन करना अनिवार्य हो गया। यह कृषि युग की प्रारम्भिक अवस्था थी और साहित्य मे इसी युग को प्रारम्भिक वीर युग कहा जाता है जिसमे श्रम विभाजन के साथ

वैयक्तिक वीरता, उदारता, सौन्दर्य प्रेम आदि की प्रतिष्ठा हुई। इस युग की परिवर्तित सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक परिस्थितियो के कारण ही महाकाव्यो का उद्भव और विकास हुआ। अत इसके पहले कि महाकाव्य की की सामग्री पर विचार करे, महाकाव्य युग या वीरयुग के सम्बन्ध मे विचार कर लेना आवश्यक है।

वीरयुग का उदय —

वीरयुग ववर समाज व्यवस्था और पूर्ण सभ्य समाज व्यवस्था के बीच की मजिल है। इस युग मे व्यक्ति अदम्य वैयक्तिक सत्ता और शक्ति लेकर समाज के पुराने बधनो को तोडकर सामने आया। समाज की रक्षा की भावना और जीवन रक्षा की आवश्यकता ने इस युग म व्यक्ति को विवश किया कि वह अपना शक्ति और साहस का परिचय औरो से भिन्न रूप म दे और उसके बदले ख्याति और सम्मान प्राप्त करे। इस प्रकार इस युग मे योद्धाओ और वीरो की अलग श्रेणी बन गई और राजतत्र तथा सामन्ततन्त्र की स्थापना हुई जिसम 'वीर भोग्या वसुन्धरा' का सिद्धा त स्वभावत लागू हो गया। युद्धो में शोर्य प्रदर्शित करने और विजय दिलाने वाला व्यक्ति कबीले का नेता या सरदार बनने लगा और मत्र तत्र, जादू टोना और पौराणिक कथाओ और विश्वासो के विशेषज्ञ पुरोहित और विद्वान बनकर सम्मानित हुए।

यह युग प्रत्येक जाति के इतिहास म कभी न कभी अवश्य आया था अथवा आता रहता है। यह समाज के जीवन की युवावस्था के समान होता है जिसमे बौद्धिक और वैज्ञानिक विकास तथा सामाजिक सघटन का उत्कर्ष उतना नही दिखलाई पडता जितना भावनाओं की तीव्रता के साथ मानवीय प्रयत्नो का सशक्त स्वरूप दिखलाइ पडता है। ऐसे समाज म सबल निबल के ऊपर और युवक वृद्ध के ऊपर विजय प्राप्त करता है और व्यक्ति अपने बाहुबल या शस्त्र चालन की दक्षता से ही समाज या जाति का नेतृत्व प्राप्त करता है। उसम अवस्था की प्रौढता और अनुभव वृद्धता की जगह, शारीरिक शक्ति को ही अधिक महत्व दिया जाता है। सभी आनुविक सभ्य जातियों के इतिहास मे ऐसे युग आये थे जिसका प्रमाण उनका प्राचीन साहित्य ओर इतिहास है। प्राचीन यूनानी और भारतीय साहित्य से तो इस कथन की सत्यता और भी स्पष्ट हो जाती है। उस काल (वीरयुग) मे युद्धों मे व्यक्तिगत वीरता का ही अधिक महत्व था, सामूहिक वीरता या सैन्य शक्ति का नहीं क्याकि युवको की प्रबल शारीरिक शक्ति और महान साहस से ही युद्ध जीते जाते थे। स्वभावत ऐसे युग मे प्राचीन वर्वर युगीन सामूहिक विश्वासो और मान्यताओं की जगह

नये विश्वासो, नये देवताओ और वीरो तथा नये सामाजिक और राजनीतिक सघटन की प्रतिष्ठा होगी। ऋग्वेद मे ववरयुग और वीरयुग दोनो ही के अस्तित्व का प्रमाण मिलता है। ब्राह्मण-साहित्य और पुराण इतिहासो मे वैयक्तिक वीरता के महत्व को पूर्णरूप से स्वीकार किया गया है। उदाहरण के लिये महाभारत को ले सकते हैं। इस महाकाव्य (अथवा इतिहास) की कथा मुख्यतया अर्जुन भीम, कर्ण, द्रोण, भीष्म, दुर्योधन आदि की व्यक्तिगत वीरता की कथा है। साथ ही उसमे पुराने वीर, नये वीरो के सामने झुकते और पराजित होते हुये दिखाई पडते हैं[1]। इसी प्रकार अन्य देशो के प्राचीनतम महाकाव्यो मे भी राष्ट्रीय या जातीय शक्ति अथवा सामूहिक वीरता का उतना महत्व नही दिखाई पडता जितना व्यक्तिगत वीरता का।

प्रारम्भिक वीरयुग और सामन्ती वीरयुग —

ववर युग की भाँति वीरयुग भी विभिन्न जातियो के इतिहास मे विभिन्न कालो, मे आया। उसी तरह वीर काव्य का उद्भव भी देशकाल के अनुरूप विभिन्न स्थानो मे विभिन्न रूपो मे हुआ। किन्तु परिस्थितियो और विकास के कारणो मे समानता होने के कारण उक्त युगों के अभिव्यक्ति के माध्यम—वीर काव्य—के विभिन्न रूपो मे समानता दिखाई पडती है। इस युग मे पहुँचने पर समाज के पुराने बन्धन टूटने लगते या लचीले हो जाते है। किन्तु बाद मे जब सामत तत्र स्वय समाज के लिये बधन बन जाता है तो उसके लचीले सामाजिक और सास्कृतिक नियम भी बन्धन ग्रस्त होकर रूढ हो जाते हैं। पर उस समय भी समाज से वीरता का अन्त नही होता, हा, उसका वह स्वरूप नही रह जाता

1 In a discussion of this society one has to notice that in most of the poems it is an age of youth not in the sense of youthfulness of social organisat on, of primitive forms of human endeavour but in the domination of the old by the young, the weak by the strong strength of muscles and skill in arms imply leadership in society and youthful prococity is very much in evidence in the immaturity of the leaders so far as age goes In the period we are discussing, however the issue of warfare depends on the personal bravery of vigourous youngmen ambitious of fame confident of prowess proud and boastful but fatalist about the overruling powers of Destiny" N K Sidhant The Heroic Age of India P 114—115 London 1929

है। उसके बाद समाज फिर उन परिस्थितियो मे लौटकर नही जाता, यद्यपि युद्ध कभी कम और कभी अधिक होते ही रहते हैं। अत किसी जाति का वीरयुग वही होगा जिसमे यद्यपि व्यक्तिगत वीरता को महत्व दिया जाता है पर वीर व्यक्ति समाज की भावनाओ और शक्ति का प्रतिनिधित्व भी करता है। वस्तुत उसकी वीरता उसी की नहीं, समूची जाति या समाज की होती है। उस काल मे वीरता समाज की एक प्रधान प्रवृत्ति होती है[1]। वीर व्यक्ति उसी प्रवृत्ति का प्रतीक होता है और इसीलिये वह समाज म प्रतिष्ठा प्राप्त करता है। ऐसे ही वीर व्यक्ति महाकाव्यों, गाथाओ और गाथाचक्रो के नायक बनते है। वीरयुग मे समाज यद्यपि वर्गो मे बँट जाता है पर सरदार या राजा और सामान्य जन या प्रजा क बीच का सम्बन्ध बहुत घनिष्ठ रहता है। धीरे धीरे सामन्तवाद के विकास के साथ राजा और प्रजा के बीच की दूरी बढती जाती है। प्रारम्भिक वीरयुग मे सरदार या राजा जातीय गुणो और आकाक्षाओ का प्रतीक होता है। वह समाज का नायक और सचालक होता है और उसके सम्मान मे रचित काव्य या आख्यान समाज की सम्पत्ति बन जाते हैं जिनसे निजन्धरी कथाओं और प्रारम्भिक महाकाव्यो का विकास होता है। इसके विपरीत बाद के युगा मे राजाओ के पारस्परिक युद्ध समाज क लिये नहा, अपने लिये होते हैं। सामत या सम्राट, समाज या जाति की आकाक्षाओ का प्रतिनिधित्व नही करते यद्यपि उनमे भी वीरता की कमी नहीं होती। अत इस युग को प्रारम्भिक वीरयुग (हीरोइक एज) नही बल्कि सामती वीरयुग (एज आफ शिवेलरी) कहा जाता है[2]। इस युग के सम्बन्ध मे 'हिन्दी महाकाव्य के उद्भव और विकास' वाले अध्याय मे विशेष रूप से विचार किया जायगा क्योकि हिन्दी के कइ प्रारम्भिक

I 'Epic poetry, heroic literature generally implies not merely certain favourite themes combats battles killing of monsters escapes and defences—but a diffused sympathy for the heroic mood among the people for whom the epic is made The multitude in an heroic age interprets life heroically and it is common vague sentiment of heroism not any bare unaccomodated thing in itself with which be the epic poets make their beginning'
W P Ker The Dark Ages P 84, Second impression London 1904

2 W Macneil Dixon English Epic and Heroic Poetry, p 38 London 1915

महाकाव्य (आथेन्टिक एपिक), वीर गाथायें (हीरोइक बैलेड्स), और रोमाचक गाथायें (रोमासेस) इसी काल मे लिखी गई थीं।

विभिन्न देशों मे वीरयुग —

वीरयुग विभिन्न जातियो और विभिन्न देशो मे भिन्न भिन्न कालो मे रहा है। उदाहरणार्थ यूनानी वीरयुग और ट्यूटन वीरयुग के बीच हजारो वर्ष का अन्तर था। यूनानी वीरयुग पूर्णतया प्रागैतिहासिक है। प्राचीन यूनानी साहित्य और अनुश्रुतियों के आधार पर प्रसिद्ध विद्वान शाडविक ने यूनानी वीरयुग का काल ई० पू० १००० से पहले का माना है[1]। किन्तु ट्यूटन वीरयुग ऐतिहासिक काल का है। शाडविक ने इसे ईसा की तीसरी और छठी शताब्दी के बीच माना है। उनके अनुसार यूरोप की अन्य जातियों—ब्रिटिश, नार्वेजियन, आइरिश, आइसलैंडिक आदि—का वारयुग भी ट्यूटन वारयुग का समकालीन ही था। यूरोप के प्राचीन प्रारम्भिक महाकाव्य—इलियड, ओडेसी, बियोउल्फ आदि—इन्हीं वीर युगो मे विकसित हुए। भारतीय वीरयुग का काल निर्णय प्राचीन भारतीय साहित्य—वेद, ब्राह्मण ग्रन्थ, पुराण और महाभारत रामायण—के आधार पर किया जाता है। भारतीय वीरयुग ऋग्वेद के काल मे ही प्रारम्भ हो गया था। वेदो और ब्राह्मण आरण्यक ग्रन्थों मे आये वीर आख्यान यह सिद्ध करते हैं कि वे वीरयुग की देन हैं। इन्द्र, अश्विन आदि ऋग्वेद के प्रधान वीर है। बार्नेट का मत है कि इन्द्र और अश्विन ऐतिहासिक व्यक्ति हैं जिन्हे उनकी वीरता के कारण पौराणिक और निजन्धरी रूप प्रदान किया गया[2]। केगी का

1 ' The Greek Heroic Age is wholly prehistoric The persons and events recorded in the poems are known to us only from native tradition The trustworthiness of geneologies is ofcourse a different question But their evidence such as it is points to 1000 BC or perhaps even rather a later date for the end of the Greek Heroic Age "
Chadwick The Growth of Literature Vol I P 17 Cambridge 1932

2 Indra and Ashvina at the beginning came to be worshipped because they were heroes, men who were supposed to have wrought marvellously noble and valiant deeds in dim far off days saviours of the afflicted champions of the right, and who for this reason were worshipped after death perhaps even before death as divine beings and gradually became

भी कहना है कि इद्र वैदिककालीन आयो के ऐसे देवता हैं जो आदर्श व्यक्ति, वीर, नेता, सरक्षक और सम्राट् है। वस्तुत इन्द्र ही वैदिक काल के महाकाव्य-नायक हैं[1]। महाभारत और रामायण भारतोय वीरयुग के प्रतिनिधि महाकाव्य हैं जो निश्चय ही वैदिककाल तथा सन् ई० के बीच के हैं। इस काल को विदेशी विद्वानो ने बहुत पीछे रखने का प्रयत्न किया है और कई भारतीय विद्वानो ने उसे सुदूर अतीत मे बहुत पहले रखने की कोशिश की है। वस्तुत यूनानी वीरयुग की भाति भारतीय वीरयुग भी प्रागैतिहासिक ही है। फिर भी भारत मे प्रारम्भिक वीरयुग का काल अनुमानत ई० पू० २००० से ई० पू० ५०० के बीच स्थिर किया जा सकता है क्याकि अधिकाश विद्वानो के मत से महाभारत युद्ध १००० ई० पू० के आस पास हुआ था और उसके बहुत पहले से ही प्रारम्भिक वीरयुग प्रारम्भ हो गया था जिसकी समाप्ति गौतम बुद्ध के समय तक, सामन्ततत्र का रूप स्थिर हो जाने के बाद हुई।

वीरयुग का काव्य —

इस युग का जो साहित्य आज प्राप्त है उसमे कही कहीं स्फुट या प्रासगिक रूप से और कहीं कहीं प्रधान रूप से वीर काव्य का स्वरूप दिखलाई पडता है। इस युग के भारतीय साहित्य का क्रमिक विकास इस रूप मे हुआ है—

१—वेद
२—ब्राह्मण आरण्यक
३—सूत्र ग्रन्थ
४—वेदाग
५—महाकाव्य (महाभारत–रामायण)
६—पुराण।

इस विशाल साहित्य भाण्डार मे सात श्रेणियो का काव्य मिलता है —

(क) कथात्मक काव्य या वीर–आख्यान गीत
(ख) सम्वाद–गीत
(ग) उपदेशात्मक या नीति सबधी गद्य या पद्य
(घ) आवाहन या प्रशस्ति काव्य जैसे यज्ञ या देवताओ की प्रार्थना, राजाओ की स्तुति, शोक-काव्य आदि

associated in their legends and the form of their worship with all kinds of other gods

* Lionet D Barnett Hindu Gods and Heroes P 25, London 1886

Kaegi The Rigveda P 43, London 1886

(ङ) वर्णनात्मक काव्य
(च) गीति-काव्य
(छ) मंत्र तंत्र और धम का काव्य ।

इनमें से अधिकाश श्रेणिया का काव्य वेदो मे दिखाई पडता है । प्राचीन साहित्य जो प्रधानतया वीरयुग का ही साहित्य है, धम से अत्यधिक आक्रान्त है, फिर भी उसमे (क) श्रेणी (कथात्मक) के काव्य की कमी नही है । रामायण और महाभारत तो पूर्ण रूप से वीरकाव्य है ही । उनके अतिरिक्त वेदो और ब्राह्मण ग्रन्थो के आख्यानो मे भी वीर काव्य या वीर गाथा का प्रारम्भिक रूप दिखलाई पडता है । पुराणो में भी उनकी कमी नहीं है । इसी तरह (ग) और (घ) श्रेणी का काव्य भी जो (क) श्रेणी के वीर काव्य से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध है, वेदो से लेकर पुराणो तक मे दिखलाई पडता है । (घ) श्रेणी का वर्णनात्मक काव्य वीर काव्यो के बीच मे या वेदो मे स्वतन्त्र रूप मे प्रकृति या सामाजिक दशा के चित्रण मे दिखलाई पडता है । अत वीर काव्य, विशेषकर महाकाव्य, की दृष्टि से यह भी कम महत्व का नहीं है । वीर काव्य तथा उससे सम्बन्धित श्रेणियो के काव्य के बारे मे बाद मे यथास्थान विचार किया जायगा क्योकि भारतीय महाकाव्य के विकास और रूप-निमाण मे उनका प्रभाव अत्यन्त महत्वपूर्ण है । पहले वीर काव्य की विशेषताओ के सम्बन्ध मे विचार कर लेना आवश्यक है । प्रोफेसर शाडविक ने अपने 'साहित्य का विकास' नामक पुस्तक मे यूरोपीय वीरयुग के काव्य की विवेचना करते हुये यूनानी वीर-काव्य (इलियड ओडेसी आदि), ट्यूटन वीरकाव्य (बियोउल्फ आदि) और नार्स वीर काव्य की तुलना की है और सब में समान रूप से पाई जानेवाली कुछ विशेषताओं का पता लगाया है ।[१] वे विशेषताये नीचे दी जा रही हैं । ये भारतीय वीर काव्य में भी किसी न किसी रूप मे अवश्य दिखलाई पडती हैं ।

वीर काव्य की विशेषतायें —

१—वीर-काव्य प्रधानतया कथात्मक (नरेटिव) होता है, उसका प्रधान लक्ष्य सर्वत्र कोई कहानी या गाथा कहना रहता है ।

२—इन कथाओं मे साहसपूर्ण कार्यों (एडवेञ्चर) की प्रधानता रहती है ।

३—उनकी उत्पत्ति मनोरंजन के लिये हुई, उपदेश या धार्मिक कार्यों के लिये नहीं ।

४—उनमे से प्राय सभी ऐसी हैं जिनके लेखक या कवि का निश्चित पता

१—ग्रोथ आफ लिटरेचर, भाग १—अध्याय ३ ।

नही है अर्थात् वे या तो अज्ञात कवियो की या पूरे समाज की रचना (कम्यूनल पोइट्री) हैं।

५—उन सबका सम्बन्ध एक विशेष युग से है जिसे वीरयुग कहा जाता है।

६—प्रत्येक काव्य मे आद्यन्त एक ही छ द का प्रयोग हुआ है।

७—उनम छ दो का अनवरुद्ध या अटूट प्रवाह मिलता है।

८—उनम सवाद शैली का प्रयोग दिखलाइ पडता है।

९—उनम प्रत्येक घटना, परिस्थिति या वस्तु का, चाहे वह अतिशय परिचित ही क्यो न हो, विवृत विवरण और चित्रण की प्रवृत्ति होती है।

१०—विभिन्न काव्यो म और एक ही काव्य के विभिन्न स्थलो पर एक ही प्रकार के विशेषणो, शब्दावली, मुहावरो, अलकारो और उक्तियो की अधिकता दिखलाई पडता है।

११—उनमे कथा की प्रधान घटना के घटित होने का काल बहुत कम होता है अथात् उनमे विवरणा के आधिक्य के कारण ही कार्यकलाप को कम महत्व मिला है।

१२—उनमे से अधिकाश मे घटनाये और पात्र कवि के समय के ही हैं अथवा उससे किसी न किसी प्रकार सम्बन्धित हैं। और कुछ नही तो वे रचना काल से बहुत दूर अतीत के नहीं हे।

ऊपर की विशेषताये यूरोपीय वीर काव्य की हैं और वहाँ भी वे प्रत्येक दशा मे नियम के रूप मे नही मानी जा सकतीं, इसे शाडविक ने स्वय स्वीकार किया है। इन विशेषताओ के अतिरिक्त कुछ सामान्य बातो की ओर भी शाडविक ने सकेत किया है—जैसे व्यक्तियो या वीरो पर कवि का अधिक ध्यान होना, उनमे ऐतिहासिक और अनैतिहासिक तत्वो का साथ साथ होना तथा उनका सामती वातावरण आदि[1]। ध्यान देने की बात है कि उपर्युक्त विशेषतायें

1 The above list of characteristics common to the two groups of poems is by no means exhaustive Thus in both we frequently meet with episodes in the form of stories relating to the past usually but not always contained in speeches In addition to these there are certain other common characteristics—the concentration of interest upon individuals the aristocratic milieu the presence of both historical and unhistorical elements—which we shall have to consider in the following chapters"
Chadwick The Growth of literature Vol I p 24

केवल कथात्मक वीर काव्य की हैं, गीतात्मक (लीरिकल) वीर काव्य की नहीं और न प्रशस्ति काव्य की।

उपर्युक्त विशेषताओ को भारतीय वीर काव्य मे खोजने पर पता चलता है कि उनमे से आधकाश यहाँ भी दिखलाई पडती है। शाडविक के ही मत के अनुसार उपयुक्त विशेषताओ मे से प्रथम चार भारतीय वीर काव्य, विशेषकर महाभारत की मूल कथा और उपाख्यानो मे पाई जाती हैं, अर्थात् उनमे कथा त्मकता है, साहस और वीरतापूर्ण कार्यो का वर्णन है। उनकी रचना भी प्रारम्भ मे मनोरजन के लिये हुई थी यद्यपि बाद म धामिक लोगो या ब्राह्मणो ने उ हे उपदेशात्मक या नैतिक बना दिया। उनका सम्ब ध वीरयुग से है और इ० पू० चौथी पाँचवी शताब्दी तक उनमे से बहुत सी सुदूर अतीत की नहीं समझी जाती थी[1]। उनके कर्ताओ के सम्बन्ध में भी लगभग वही बात लागू होता है। इस सम्ब ध में तीसरे अध्याय मे विशेषरूप से विचार किया जायगा। छठी और सातवीं ावशेषताये छ द सम्बन्वी हैं जो भारतीय वीर काव्य पर आशिक रूप मे ही लागू होती हें। महाभारत, रामायण तथा पुराणों मे अनुष्टुप छन्द या श्लोक की प्रधानता तो अवश्य है पर उनमे अन्य छन्दो—त्रिष्टुभ, जगती, अति जगती, मालिनी, भुजगप्रयात, द्रुतविलबित आदि का प्रयोग भी हुआ है। उनमे धारा प्रवाह वाक्य वि यास नहीं है बल्कि अधिकतर एक छ द के भीतर ही वाक्य समाप्त हो जाते हें। ये पद के समान हैं, कही कहीं ही कई पदो मे एक ही वाक्य प्रवाह दिखाई पडता है। हापूकि स के मत के अनुसार महाभारत मे ९५ प्रतिशत छ द एक प्रकार (अनुष्टुप—त्रिष्टुभ) के हैं[2]। जहाँ तक आठवी विशेषता का सम्बन्ध है भारतीय वीर काव्यो मे सवाद—शैली की प्रचुरता है। सवादो मे कहा तो बोलने वाले का नाम छ द के भीतर ही आ गया है और कही छ द के बाहर गद्यरूप मे आया है जैसे 'सूत उवाच' आदि। इलियड और बियोउल्फ के समान महाभारत म भी सवादों की बहुलता है। नवीं विशेषता—विवृति और पूर्ण ाचत्रण की प्रवृत्ति—भी उनमे बहुत अधिक दिखलाई पडती है। महाभारत, रामायण और पुराणो का आकार इसी प्रवृत्ति के कारण इतना बडा हो गया है। एक प्रकार के विशेषणो और शब्दावली का प्रयोग तो इतना अधिक दिखलाई पडता है कि वह कही पुनरावृत्ति दोष मालूम पडता है और कहीं दूसरो का अनुकरण। हापूकिन्स ने महाभारत और रामायण

1 See The Growth of literature Vol II p 477

2 Washburn Hopkins "The Great Epic of India" p 192 Yale University 1920

आख्यानो का होना आश्चर्य की बात नही है। इस तरह हम देखते हैं कि भारतीय वीरयुग मे (ग) और (छ) श्रेणियो (धर्म, देवता या नैतिक आदर्श से सम्बन्धित) के आख्यानगीत भी पर्याप्त सख्या म है। ब्राह्मण ग्रन्थो के अधिकाश आख्यान इसी प्रकार के हैं और उनमे पद्य बीच म कहीं कही ही आया है, अधिकतर वे गद्य मे है। अत उ हे गद्याख्यान (सागा) के रूप मे माना जा सकता है। इस सम्ब ध म शाडविक का मत यह है कि भारत मे आख्यानगीता के पहले गद्याख्यान ही लिखे गये। यह अनुमान सत्य नही है क्योंकि ब्राह्मण ग्रन्थो के गद्याख्यान वीर काव्येतर विषयों के ह और बहुत सम्भव है कि भारत मे प्रारम्भ से ही वीर काव्येतर विषयों को लेकर ब्राह्मणो द्वारा गद्याख्यान लिखे जाते रहे हो और वीर काव्य के विषय पद्यबद्ध रूप मे अब्राह्मण कवियो द्वारा लिखे गये हो[1]।

महाकाव्य की सामग्री —

वीर युग और उसके काव्य पर विचार करने के उपरान्त यह स्पष्ट हो जाता है कि महाकाव्य का विकास इसी काल मे हुआ। प्रारम्भिक महाकाव्यो का रूप निमाण कुछ दिनो या कुछ वर्षो मे नही हुआ बल्कि युग युग तक उसके अवयव–विषयवस्तु और रूपविधान–का सघटन धीरे धीरे होता रहा और अन्त मे उसका एक विशेष स्वरूप दिखाई पडने लगा। यहाँ उसकी विषय-वस्तु सम्बन्धी सामग्री पर विचार किया जायगा। वह सामग्री सारे ससार के विकसन शील महाकाव्यों मे निम्नलिखित स्रोतो से आई हुई दिखलाई पडती हैं—

१—पौराणिक विश्वास (मिथ)
२—निजन्धरी आख्यान (लिजेण्ड)
३— ऐतिह्य और वशानुक्रम
४—समसामयिक घटनायें (ईवेण्ट्स)
५—प्राचीन ज्ञान भाण्डार
६—लोक गाथा और लोक कथा।

ये सभी स्रोत प्रारम्भ मे परस्पर घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध थे। यही कारण है कि बहुत से प्रारम्भिक महाकाव्यों मे ये सभी बाते आ गई हैं और ऐसे महाकाव्य काव्य-ग्रन्थ ही नहीं, इतिहास, पुराण और धर्म-ग्रन्थ भी माने जाते हैं। जिस महाकाव्य मे शुद्ध काव्य का ही रूप दिखलाई पडे, वह प्रारम्भिक महाकाव्य नहीं, अलकृत महाकाव्य होगा। ऐसे महाकाव्यो का विकास नहा

1 Chadwick The Growth of Literature Vol, II p 479—79

होता, निमाण या रचना होती है और वे किसी एक व्यक्ति की रचना होते हैं।

१—पौराणिक विश्वास और आख्यान —

सभी जातियो के पौराणिक विश्वास प्राचीन परम्परा से प्राप्त हे अर्थात् उनकी उत्पत्ति उस काल मे हुई थी जिसे सास्कृतिक विकास की दृष्टि से पौराणिक युग कहा जा सकता है। पौराणिक विश्वासो की दूसरी विशेषता यह है कि उन सबमे प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से कोइ कथा अवश्य होती है। साधारण कथा और पौराणिक कथा मे अन्तर यह होता है कि साधारण कथा को समाज के लोग कल्पना समझ सकते हैं, पर पौराणिक कथाये सत्य समझी जाती हैं। उनका उद्देश्य विभिन्न प्रकार की वस्तुओ, विश्वासो या रीतिरवाजो की उत्पत्ति ओर उपयोगिता समझाना होता है। इस प्रकार पौराणिक विश्वासो ओर आख्याना का धम के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है क्योकि वे प्रकृति की शक्तिया, देवताओ और अन्य शक्तियो की स्थिति का रहस्य समझाते आर इस प्रकार उनसे मनुष्य का सम्बन्ध स्थापित करते हें। उसी तरह धार्मिक कमकाडो ओर मन्त्र तन्त्र के साथ भी पुराण का बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है क्याकि उन कमकाण्डा द्वारा ही उक्त शक्तियो के प्रति मनुष्य अपनी श्रद्धा-भक्ति, आवेदन निवेदन या घृणा विरोध का प्रकाशन करता है। 'धार्मिक और पोराणिक विश्वकोष' (इनसा इक्लोपीडिया आफ रीलिजन ऐंड माइथोलाजी,) के अनुसार करीब करीब सभी पौराणिक विश्वास और आख्यान निम्नलिखित उपविभागो के भीतर आ सकते हें—

१- ऋतु परिवतन और प्रकृति की वस्तुओ के भीतर होने वाले सामयिक परिवर्तनों से सम्बन्धित।

२—अन्य प्राकृतिक शक्तियो और वस्तुओ से सम्बन्धित।

३—विराट, आश्चयजनक और असाधारण प्राकृतिक वस्तुओ या घटनाओ से सम्बन्धित।

४—सृष्टि की उत्पत्ति और प्रलय से सम्बन्धित।

५—ईश्वर की उत्पत्ति, स्थिति और कार्यो (अवतारादि) से सम्बन्धित।

६—मनुष्य और पशुओं की उत्पत्ति से सम्बन्धित।

७—आत्मा के आवागमन, स्वर्ग नरक, भूत प्रेत, रूप परिवर्तन आदि से सम्बन्धित।

८—वीरों, वशो, जातियो और राष्ट्रों से सम्बन्धित।

९—सामाजिक सस्थाओं (तत्वों) और आविष्कारों से सम्बन्धित।

१०—राक्षसों और दानवों से सम्बन्धित।

११—ऐतिहासिक घटनाओ से सम्बन्धित ।

इस सूची से स्पष्ट है कि पौराणिक विश्वासो के भीतर निजन्धरी कथाओ, वशानुक्रम और इतिहास को भी समेट लिया गया है। वस्तुत 'पुराण' शब्द का प्रयोग बहुत व्यापक अर्थ मे होता है और बहुत से लोग तो उसे निजन्धरी कथाओ और इतिहास का समानार्थी भी मानते हैं। ब्रिटिश विश्वकोश (इन्साइक्लोपीडीया ब्रिटानिका) ने भी इसे इसी रूप मे माना है[1]। भारतीय दृष्टि से भी पुराण की वही परिभाषा है जो ऊपर दी जा चुकी है अर्थात् भारतीय पुराणो मे इन पॉच विषयो की चर्चा है, सृष्टि, प्रलय, वश परम्परा, मन्वतर और विशेष वशो मे होने वाले महापुरुषों का चरित —

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वशो मन्वन्तराणि च।
वशानुचरित चैव पुराण पच लक्षणम् ॥

निजन्धरी आख्यान —

किन्तु वस्तुत पौराणिक और निजन्धरी आख्यानो मे तात्विक भेद है। निजन्धरी कथाये महापुरुषो, सन्तो, देवताओं या राक्षसो के जीवन और कार्यों से सम्बन्धित होती हैं पर उनमे इतिहास का तत्त्व किसी न किसी मात्रा और रूप मे अवश्य वर्तमान रहता है। पौराणिक आख्यान यदि प्रकृति सम्बन्धी जिज्ञासा-मूलक अनुभूतियो के काल्पनिक, धार्मिक और कथात्मक प्रतीक या समाधान हैं तो निजन्धरी कथाये जीवन की ठोस अनुभूतियों का प्रतीक हैं। किन्तु यह अ तर इतना अस्पष्ट है कि सहज ही दोनों को एक ही मान लिया गया है। वस्तुत ससार की सभी जातियो के प्राचीनतम साहित्य और इतिहास मे पौराणिक और निजन्धरी कथाओं के बीच कोई स्पष्ट विभाजक रेखा नहीं दिखलाई पडती। प्राय निजन्धरी कथाआ के पात्र पौराणिक देवता बन गये हैं और पौराणिक देवता निजन्धरी कथाओं के नायक मान लिये गये हैं। पौराणिक कथाओ की तरह ही निजधरी आख्यानो का भी विकास हुआ है। वे किसी एक व्यक्ति या एक युग की देन नही हैं और इस विकास के पीछे भी वही कारण रहे हैं जो

1 Mythology—the science which examines myths or legends of cosmogony and of Gods and heroes It is also used as a term for these legends themselves Thus mythology of Greece means the whole body of Greek divine and heroic and cosmogonic legends'
Encyclopaedia Britannica Vol 19 llth edition P 128, See mythology

पौराणिक कथाओं के विकास के मूल मे थे। भारतीय पौराणिक कथाओ और निजन्धरी आख्यानों का प्रारम्भिक रूप वेदों मे ही दिखलाई पडने लगता है। सूय, सोम, अग्नि, द्यौस, मरुत्, वायु आदि प्राकृतिक पदार्थो और तत्वो का प्रतिनिधित्व करने वाले देवताओं, इन्द्र, वरुण, मित्र, अदिति, विष्णु, पूषन, अश्विन, रुद्र, पर्जन्य आदि प्राकृतिक शक्तियो का नियन्त्रण करने वाले अलौकिक शक्ति सम्पन्न देवताओ, तथा विश्वकर्मन्, प्रजापति, श्रद्धा, भारती आदि कल्पनात्मक या भावात्मक देवताओ अथवा किन्नर अप्सरस्, असुर आदि अन्य देवताओ (जो बाद की पौराणिक कथाओ मे पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित हो गये) की उत्पत्ति, कार्य, युद्ध और विजय पराजय की कथाओं से ऋग्वेद भरा हुआ है। इन्हीं कथाओ की सामग्री से वैदिक और उत्तर वैदिक काल के पुराण, इतिहास और महाकाव्य विकसित हुए। निजन्धरी कथाओ और पौराणिक आख्यानो का मिश्ररूप भी वेदों मे ही दिखलाई पडने लगता है। अनेक विद्वानों का मत है कि इन्द्र कोई राजा ही थे जो बाद मे देवता के रूप मे स्वीकृत हुए। पर देवता बन जाने के बाद भी इन्द्र का वीर रूप आद्यन्त दिखाइ पडता है अथात् उनका व्यक्तित्व निजन्धरी है, पौराणिक नही। वे जातीय या सास्कृतिक वीर और विशुद्ध योद्धा हैं। वे जल को मुक्त करने के लिये वृत्र का वध करने वाले, बृहस्पति की गायों के लिये पणीस ओर नमूचि से युद्ध करने वाले तथा अपने पूजक दिवोदास की सहायता करके सम्बर को मारने वाले वीर हैं, पर पुराने आकाश देवता द्यौस की तरह ब्राह्मण पुरोहितो के आवाहन पर सोमरस पीने वाले तथा इच्छित फल देने वाले भी हैं। इन्द्र सम्बन्धी आख्यान मत्रो के अतिरिक्त वेदो मे अश्विन द्वय की चमत्कारपूर्ण चिकित्सा की कथा च्यवन सम्बन्धी आख्यान में आई है। बाद के मत्रो मे निजन्धरी कथायें सम्वाद रूप या नाटकीय शैली मे आई है और उनकी कथावस्तु भी वीरता व्यजक नही वल्कि सामाजिक प्रतीत होती है। पुरूरवा उर्वशी, अगस्त्य लोपामुद्रा, यम यमी, इन्द्र-इन्द्राणी वृषाकपि आदि के सम्वाद इसी प्रकार के हैं जिनमे स्त्री पुरुष के सम्बन्ध को लेकर नैतिक या सौन्दर्यशास्त्रीय (कामशास्त्रीय) समस्याये उठाई गई हैं। ऐसे ही आख्यान गीत उस समय लोक गाथाओं के रूप म प्रचलित रहे होगे जो बाद मे ब्राह्मणो द्वारा स्वीकृत कर लिये गये ओर जिनका परिष्कृत ओर सूत्र या खण्ड रूप ऋग्वेद मे दिखाई पडता है। इन्द्र वृत्र युद्ध की कथा ऐसी ही निजन्धरी कथा है जिसका आधार ऐतिहासिक प्रतीत होता है[1]।

1 "I even venture to think that there is a karnel of heroic legend in the story of the slaying of Vritra that at bottom

वेदो मे सूत्ररूप मे आये आख्यानो का विस्तृत और विकसित रूप ब्राह्मण ग्रन्थो, आरण्यको और बृहद्देवता आदि मे दिखलाई पडता है। इन ब्राह्मणों मे एक ही देवता की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे तरह तरह की व्याख्याये मिलती हैं, जैसे प्रजापति को, जो ऋग्वेद के पुरुष सूक्त म महत्वपूर्ण देवता नहीं हैं, इस काल मे सृष्टि का आदिकर्ता मान लिया गया और जिनके सम्बन्ध मे ब्राह्मणो मे अनेक प्रकार की कथाये मिलती हैं। पौराणिक आख्यानो की तरह ब्राह्मण ग्रन्थो मे निजन्धरी आख्यानो का भी बहुत विकास हुआ है। ये आख्यान अधिकतर यह समझाने के लिये विकसित हुए कि किस वैदिक मत्र की रचना क्यो, कब और किसके द्वारा हुइ। अत इन आख्यानो का बीज ऋग्वेद मे और उनका पल्लवित पुष्पित रूप महाकाव्यो और पुराणो मे दिखाई पडता है। ब्राह्मणों के आख्यान रूप-विकास, काल और भाषा सभी दृष्टियो से वेद और महाकाव्य पुराण के बीच की स्थिति वाले अथवा इन दोनो छोरो के बीच की कडी हैं। इस तरह ब्राह्मण ग्रन्थो म ये सभी कथाये आ गई है —मन्वन्तर की कथा (शतपथ ब्राह्मण) शुन शेप की कथा (ऐतरेय ब्राह्मण) विष्णु के वामन रूप और भगवान बनने की कथा (शतपथ, ऐतरेय, और तैत्तरीय आरण्यक, पचविंश ब्राह्मण) प्रजा पति का कच्छपरूप (शतपथ ७ ४ ३ ५) सूकरावतार (वाजसनेयी सहिता ३ ७-९ और शतपथ १४ १ २ ११) रुद्र की कथा (शतपथ ६ १ ३७ और साख्यानक ब्राह्मण) आदि।

इतिहास और वशानुक्रम —

महाकाव्यो और पुराणों मे पहुँचते पहुँचते इन कथाओ या आख्यानो का रूप बहुत कुछ स्थिर हो गया। अब ये परम्परागत अनुश्रुतियाँ इतिहास पुराण कहलाने लगी और उनका वेदिक मन्त्रो और ब्राह्मण ग्रथो के याज्ञिक विधिविधानो से अलग, स्वतत्र स्वरूप मान्य हो गया। यही नहीं, इस काल मे इतिहास पुराण को पचम वेद माना जाने लगा और वेदज्ञ ब्राह्मणा के लिए उनका जानना आवश्यक समझा जाने लगा। वायुपुराण, पद्मपुराण, शिवपुराण और महाभारत

it is a tale relating how Indra with a band of brave fellows, stormed a mountain hold surrounded by water in which dwelt wicked chieftain who had carried away the cattle of his people'

Dr Barnett Hindu Goda and Heroes p 29

१२८५२

मे इस बात को स्पष्ट शब्दों मे कहा गया है[1]। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, प्राचीनकाल मे पौराणिक और निजन्धरी कथाओ को ऐतिहासिक तथ्य के रूप म स्वीकार किया जाता था। इस लिए भारत मे भी ऊपर विवेचित आख्यानो को इतिहास कहा जाता था। यहाँ इतिहास पुराण समानार्था शब्द माने गये हे और दोनो का साथ साथ प्रयोग हुआ है। शतपथ ब्राह्मण मे कई जगह इतिहास और पुराण शब्द साथ साथ आये है[2]। जर्मन विद्वान सीग (sieg) ने अपनी पुस्तक वेदाध्ययन (वैदिक स्टडीज) मे यह अनुमान किया है कि प्रारम्भ म 'इतिहास पुराण' नाम का कोइ ऐसा ग्रन्थ रहा होगा जिसम प्राचीन पौराणिक, निजन्धरी, ऐतिहासिक और आ यात्मिक आख्यान सग्रहीत होगे। किन्तु यह अनुमान ही अनुमान है। मेकडानल्ट कीथ ने (वैदिक इन्डेक्स खड १ पृ० ७७) लिखा है कि यास्क ने निरुक्त मे इस तरह की किसी पुस्तक का सकेत नही किया है, केवल इतिहास शब्द का ही प्रयाग किया है।

जो भी हो, भारत के प्राचीन काल का बहुत कुछ ज्ञान हमे उन्ही पौराणिक और निजन्धरी अनुश्रुतियो से होता है जिन्हे इतिहास-पुराण कहते हैं। यह सही है कि भारतवर्ष मे या कही भी प्राचीनकाल मे इतिहास का वह स्वरूप नही दिखलाइ पडता जैसा आज के वैज्ञानिक युग मे दिखलाइ पडता है, फिर भी इतिहास कहे जाने वाले महाभारत, रामायण, पुराणादि म भारतीय सास्कृतिक चेतना का इतिहास स्पष्ट देखा जा सकता है। वस्तुत भारत मे इतिहास शब्द का प्रयोग बहुत व्यापक अर्थ मे किया गया है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष से समन्वित पूर्व वृत्त ओर कथा ही भारतीय दृष्टि से इतिहास है—

१—यो विद्याच्चतुरो वेदान्साङ्गोपनिषदो द्विज ।
न चेत्पुराण सविधान्नेव स स्याद्विचक्षण ॥
इतिहास पुराणाभ्या वेदे समुपबृहयेत ।
बिभेत्यल्प श्रुतात्वेदो मामय प्रहरिष्यति ॥ वायुपुराण १ २०० और २०१ ।
देखिये पद्म (५ २ ५० से ५२) शिव (५ १ ३५) महाभारत (१-२ ६४५ और १ १ २६०) ।

२—शतपथ ब्राह्मण—काण्ड ११—अध्याय ५। ब्राह्मण ७—खण्ड १—५ श्लोक ९।

क्षीरौदनमासौदनाभ्या ह वा एव देवास्तर्पयति। य एव विद्वान्वाको वाक्य मितिहास पुराणामित्या हरह स्वाध्यायमधीते त एतन्तृप्तस्तर्पयन्ति सव कामै सर्वे भोगै ॥

धर्मार्थ काम मोक्षाणामुपदेश समन्वितम् ।
पूर्ववृत्तकथायुक्तमितिहास प्रवक्ष्यते ॥

इसी दृष्टि से पुराण, जिनमे 'सप्तलोकात्मक विश्व का इतिहास (पुर = सप्त-लोकात्मक विश्व, अन = श्वासोच्छ्वास) वर्णित है, इतिहास भी हैं । रामायण-महाभारत महाकाव्य के साथ साथ इतिहास ग्रथ माने जाते हैं । महाभारत और रामायण तो स्वय अपने को इतिहास कहते भी हैं—

भारतस्येतिहासस्य पुण्या ग्रन्थार्थसयुताम् (महा० आदि० १-१७)
पूजयश्च पठश्चैन इतिहास पुरातनम् (रामा० युद्ध० १२८-१४४)

किन्तु इन्हे सास्कृतिक इतिहास कहने का अर्थ यह नही है कि इनमे भाव सत्य ही है, घटना सत्य नहीं है । पुराणा मे तो ऐतिहासिक वशो की वशा वली और अनेक राजाओं का वर्णन भा है । यह दूसरी बात है कि उनमे कितना यथार्थ है और कितना अतिशयोक्तिपूर्ण । बिल्कुल तथ्यात्मक न होने पर भी उनका ऐतिहासिक मूल्य बहुत अधिक है ।

वैसे इतिहास की एक अलग शैली ही होती है । वह आख्यानमूलक नहा होता जब कि प्राचीन भारतीय इतिहास पुराण आख्यानमूलक हैं । यूनान का प्राचीन इतिहास भी होमर हीसियड आदि के काव्यो के रूप मे आख्यान-मूलक ही है । वस्तुत वीरयुग मे इतिहास का यही रूप होता था । जैसा पहले कहा जा चुका है, इतिहास पुराण का अर्थ प्रारम्भ में आख्यान और गाथा ही था और आख्यानक काव्य (आख्यान गीत और महाकाव्य) की सामग्री इतिहास पुराण से ही ली जाती थी । राजाओ की प्रशस्ति और आख्यान की यह प्रथा भारत मे बहुत बाद तक चलती रही । सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और हिन्दी मे ऐसे प्रशस्तिपरक ऐतिहासिक आख्यानक काव्य बहुत अधिक लिखे गये हें जिनमे इतिहास का विकृत रूप और वीर नायकों का अतिशयोक्ति पूर्ण वर्णन तथा आख्यानो और कथानक रूढियो का मिश्रण दिखलाई पडता है ।

समसामयिक घटनाये —

अतीत के साथ ही साथ वर्तमान से भी कवियों ने अपने काव्य के लिये सामग्री ली है । प्रारम्भिक और सामती दोनों वीरयुगो मे वीर आख्यान अधिकतर समसामयिक वीरो और घटनाओं को लेकर लिखे गये हैं । प्रारम्भिक वीरयुग म मौखिक काव्य का ही प्रचलन था । अत अपने युग की प्रधान वीरतापूर्ण घट नाओ और वीरो की गाथा सामान्य जनता के किसी अज्ञात कवि द्वारा पहले शुरू की जाती थी और दूसरे उसमे परिष्कार, विस्तार ओर परिवर्तन करके उसे समाज की सम्पत्ति बना देते थे । सामन्ती वीरयुग मे राजाओं के दरबारो में

चारण और कवि रहते थे जो अपने आश्रयदाताओ के पूर्वजो या स्वय उन्ही के चरित्र से सम्बन्धित प्रशस्तिमूलक और बहुधा अत्युक्तिपूर्ण काव्य की रचना करते थे। उनका यही कार्य था कि वे विशेष अवसरो पर अपने वीर नायको या उनके पूर्वपुरुषो के वीरतापूर्ण कार्यो की गाथा गाकर उन्हे उत्साहित करे। इन दोनो ही प्रकार के वीरयुगो मे युद्ध अधिक होते थे, अत राजाओ की प्रशस्ति मे इन युद्धो का वर्णन स्वत हो जाता था। युद्धों के अतिरिक्त दान, उदारता, त्याग, बुद्धिमत्ता आदि गुणो से समन्वित व्यक्तियो अथवा राजाओ का भी वर्णन किया जाता था। वैदिक काल की दान स्तुतियो और नाराशसी गाथाओं से लेकर राजपूत मराठा काल के राजाओ के आश्रित चारण भाटो के रासो, चरित, विजय आदि काव्या तक मे समसामयिक घटनाओ और व्यक्तियो का गुणगान करने की प्रवृत्ति बराबर दिखाइ पडती है। दूसरे शब्दा मे वीरयुग के दोनो ही कालो—प्रारम्भिक वीरयुग और सामती वीरयुग—मे समसामयिक घटनाये काव्य की सामग्री बनती आई हैं। ऋग्वेद के मत्रो मे अनेक समसामयिक घटनाओ की सूचना मिलती है यद्यपि उनमे आये पात्रो की वशावली और उनके काल के सम्बन्ध मे निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा गया है। यही बात ब्राह्मण ग्रन्थो के सम्बन्ध मे भी लागू होती है[1]। उन पात्रों और घटनाओ की, बाद के पुराण महाकाव्य मे आई उनकी चर्चा से तुलना करके इतिहासज्ञ लोग वैदिककाल के इतिहास पर प्रकाश डालते हैं। महाभारत के रचयिता माने जाने वाले महर्षि कृष्णद्वैपायन व्यास महाभारत की कथा के स्वय एक पात्र हैं और इन्हें कौरव पाण्डवों का सम कालीन माना जाता है। महर्षि वाल्मीकि के सम्बन्ध म भी यही बात कही जाती है। इस सम्बन्ध मे सत्य जो भी हो किन्तु इससे इतना अवश्य पता चलता है कि जिस समय वे युद्ध और वीर हुए थे, उसी समय उनके आख्यानो का प्रचलन भी हो गया था जो बाद मे महाभारत—रामायण के रूप म विकसित हुए। पुराणो मे भी बहुत सी सामयिक घटनाओं का अतीत या भविष्य की बात

1 Even the contemporary notices though having all the trustworthiness of first hand evidence, yet fix little or nothing definitely of themselves because they have no certain chronological setting with reference to other events The same remarks hold good for the Brahmanic Literature later than Rigveda
F E Pargitor Ancient Indian Historical Tradition P 2, London 1922

कहकर वर्णन किया गया है। बाद के ऐतिहासिक सामती वीरयुग के दरबारी कवियो ने तो अयोग्य व्यक्तियो और राजाओ की भी अत्युक्तिपूर्ण प्रशसा की तथा सभावना और रूढियो पर आधारित वीर-काव्यो की रचना की।

प्राचीन शास्त्रीय, उपदेशात्मक और वर्णनात्मक ज्ञान —

वीर युग के काव्य के सम्बन्ध मे विचार करते समय वीर काव्येतर आख्यान के अन्तर्गत ग, ड, छ श्रेणियो के काव्य सामग्री की चचा की गइ है। इन तीनो श्रेणियो में उपदेशात्मक और नीतिशास्त्रीय, देश काल परिस्थिति या वशावली का वर्णन करने वाली और मत्र तत्र सम्बन्धी कवितायें आती हे। इन विषया पर हर काल मे मुक्तक काव्य तो लिखे ही गये है, प्रबन्ध काव्यो, विशेषरूप से महाकाव्यो, मे प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से इनसे खूब सामग्री ली गइ है। निश्चय ही यह सामग्री मनोरजनार्थ नही, उपदेश और ज्ञान वृद्धि के निमित्त काव्य म प्रयुक्त होती है। मोटे तौर पर इन श्रेणियो के अन्तर्गत निम्नलिखित विषय आते हैं—

१—आचार शास्त्र
२—धमशास्त्र और मत्र तत्र
३—राजनीति शास्त्र
४—दर्शन
५—ज्योतिष तथा पशुपक्षियो सम्बन्धी विद्या
६—भौगोलिक या यात्रा सम्बन्धी वणन
७—प्राकृतिक वस्तुओं की इतिवृत्ति या सूची
८—वीरो, वशो, दरबारो, युद्धो, सेनाओ आदि का सविस्तर वणन
९—जातियो, मन्दिरों, तीर्थो, धर्मगुरुओं आदि का वर्णन
१०—अन्य ज्ञानवर्धक सामग्री।

इस सूची से ही स्पष्ट है कि इसमे अधिकाश विषय ऐसे हैं जिनके अलग-अलग शास्त्र हे। प्राचीनकाल मे जब इन शास्त्रो का विकास नही हुआ था और न वे ज्ञान या विद्या के अलग विषय ही माने गये थे, उनको काव्य के भीतर ही रखा गया था।

काव्य मे ज्ञान विज्ञान सम्बन्धी इन विषयों का ग्रहण कइ कारणो से हुआ है। कहीं काव्य की कला और उसके कथा प्रवाह मे बाधा पहुँचाये बगैर, उसमे गाम्भीर्य और गुरुत्व लाने के लिये, तो कहीं पाडित्य प्रदर्शन अथवा धर्मप्रचार के लिये इन विषयो को अपनाया गया है। राजदरबारा मे सम्मान, धन और आश्रय पाने तथा काव्य प्रतिभा के अभाव को छिपाने मे भी इन

विषयों से काफी सहायता ली गई है। इन सब के परिणामस्वरूप आदिकाल से अब तक जो भी आख्यानक काव्य हमे प्राप्त हैं, उनमे से अधिकाश मे ज्ञान विज्ञान के विषयों का समावेश और अनावश्यक विवरणा का आधिक्य मिलता है या स्पष्ट रूप से मत मतान्तर या व्यक्ति वशादि का प्रचार और प्रशस्ति दिखलाई पडती है। पूवनिर्दिष्ट 'क' श्रेणी के वाराख्यानो मे भी उनकी कमी नही है। होमर के इलियड ओडेसी मे भी वशानुक्रम और सूची विवरण दिखाई पडता है। महाभारत मे तो वशावली और सूची ही क्या, सभी कुछ है। महाभारत का तो दावा ही है कि 'यन्नभारते तन्नभारते'। रामायण मे यद्यपि इस प्रकार का कोई दावा नहीं किया गया है पर इलियड की तरह उसमे भी वशानुक्रम और विवरणों की कमी नही है। बाद के अलकृत महाकाव्यो मे भी पाण्डित्य प्रदर्शन, धम प्रचार और विवरणो की भरमार दिखाई पडती है।

लोकतत्त्व और कथानक रूढियाँ —

महाकाव्य की सामग्री के सम्बन्ध मे अब तक जो कुछ कहा गया है वह अधिकतर उसकी विषय वस्तु से ही सम्बधित है। किन्तु उसके रूप शिल्प के सघटन मे जिस वस्तु का सबसे अधिक हाथ है, वह है लोक कथा और लोक गाथा (फोक टेल्स और फोक बैलेड्स)। महाकाव्य के उद्भव और विकास पर विचार करने समय लोक गाथाओं पर विचार किया जा चुका है और कहा जा चुका है कि लोक गाथाओ और लोक कथाओं के अनेक तत्त्वों का महा काव्यो, विशेष रूप से प्रारम्भिक या विकसनशील महाकाव्यो, मे ग्रहण हुआ है। निजन्धरी और कल्पनाश्रित लोक गाथाओ मे लोकतत्त्वो की अधिकता पाइ जाती है, वैसे पौराणिक अथवा ऐतिहासिक लोक गाथाओं मे भी इनकी कमी नही है। इन तत्त्वों को मोटे तौर पर निम्नलिखित रूपा में देखा जा सकता है —

१—उनम देश काल नाम रहित कथाओ की अधिकता है। यदि ये वस्तुएँ होती भी हैं तो कथा के साथ उनका सम्ब ध इतना क्षीण या नहीं के बराबर रहता है कि आसानी से उनके स्थान पर कोई भी स्थान, काल या नाम रखा जा सकता है। ये बिलकुल काल्पनिक और सुविधा के लिये होते हैं।

२—उनम पशुपक्षियों की कहानियो की भी अधिकता होती है। प्राय ये पशु पक्षी कथा के पात्र होते हैं और मानवोचित व्यवहार करते हुये दिखाई पडते हैं। वे मानव वाणी में बात करते और कठिनाइयों मे अपने प्रिय व्यक्तियों की सहायता करते हैं। कभी वे पशुपक्षी के रूप मे शापभ्रष्ट मानव, देवता

या अप्सरा होते हैं और कभी पशुपक्षी के वेश मे दानव, राक्षस, जादूगर आदि। अधिकतर उपदेशात्मक कथाओं मे ही पशुपक्षी पात्र के रूप म आते हैं।

३—इनमे अलौकिक, अतिप्राकृत और अतिमानवीय (सुपरनेचुरल और सुपरह्यूमन) तत्त्वो की बहुलता होती है।

४—मनोरजन के साथ साथ इन कहानियो मे प्राय कोई उपदेश या ज्ञान भी अवश्य निहित रहता है। अधिकतर उनमे भाग्य और कर्म का सघष दिखाया गया रहता है। अत बहुत सी ऐसी कहानियाँ अन्योक्ति या रूपक-कथा (एलेगरी) के रूप में होती हैं।

५—उनमे कथाओं का चक्र दिखलाई पडता है अर्थात् एक कथा के भीतर कुछ प्रधान पात्रों को लेकर या उन्हीं के माध्यम से बहुत सी कथाये कही गई रहती हैं, अथवा एक ही कथा के भीतर दूसरी और तीसरी कथा की अटूट लडी दिखलाई पडती है। कथासरित्सागर, सहस्ररजनी चरित्र (अरैबियन नाइट्स), हितोपदेश, अलिफलैला, दशकुमारचरित आदि साहित्यिक कथा ग्रन्थो मे ऐसे ही कथाचक्र हैं।

६—ये कथायें बहुत कुछ सार्वभौम होती हैं अर्थात् थोडे-थोडे रूप परिवर्तन के साथ ये ससार की भिन्न भिन्न, सुदूरवर्ती स्थानों में बसने वाली, जातियों मे पाई जाती हैं। इसके दो कारण हैं—एक तो व्यापार सम्बन्ध, जातीय मिश्रण और सास्कृतिक अन्तरावलम्बन के कारण इनका दूर दूर तक प्रचार हो जाता है, दूसरे मानव मनोविज्ञान के अनुसार मानव के समान परिस्थितियों मे समान रूप से सोचने विचारने के फलस्वरूप ऐसा होता है।

७—परिणामस्वरूप एक देश की अथवा विभिन्न देशो की लोक कथाओ और लोक-गाथाओ मे कुछ विशेषताये समान रूप से पाई जाती हैं और विभिन्न कथाओं और गाथाओ मे उनकी बार बार आवृत्ति दिखलाई पडती है। विद्वानो ने इन्हें अभिप्राय (मोटिफ) या कथानक रूढि की सज्ञा दी है। प्राचीन साहित्य और नृतत्त्व शास्त्र के पण्डितो मे से कुछ–बेनिफी, ब्लूमफील्ड, पैंजर, टानी, नार्मन ब्राउन आदि—ने इस सम्बन्ध मे वैज्ञानिक अध्ययन करके इस प्रकार की अनेक रूढिया का सग्रह और विवेचन किया है[१]। उदाहरण के लिए कुछ प्रमुख रूढियाँ ये हैं—

---

(१) (1) S N Das Gupta and S, K De A History of Sanskrit Literature Vol I, p 28—29

(२) डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी—हिंदी साहित्य का अदिकाल पृ० ७४ ७५।

१—विशाल सर्प, पशुपक्षी या दानव के साथ युद्ध ।

२—पक्षियों या अन्य किसी की बातचीत से किसी कठिन कार्य का रहस्य मिल जाना (मोटिव आफ ओवरहीयरिंग)

३—जादू की वस्तुयें—घोडा, खटोला, खडाऊँ घर तथा अभिमन्त्रित शस्त्रादि ।

४—उजाड नगर जिसमे भवनादि हो पर कोई जीवधारी या मनुष्य न हो ।

५—परकाय प्रवेश ।

६—विपस्ताभ्यस्त अश्व ।

७—समुद्र मे जहाज का टूटना और काष्ठ फलक के सहारे नायक नायिका की रक्षा ।

८—हस कपोत आदि से सदेश भेजना ।

९—शरीर के किसी विशेष अग म या किसी बाह्य वस्तु मे प्राण बसना और उसपर आघात होने से प्राणान्त ।

१०—किसी के स्पर्श या प्रश्नोत्तर से शाप मुक्ति ।

११—रूप-परिवर्तन और लिंग परिवर्तन ।

१२—स्वप्न अथवा चित्र मे किसी नायिका को देखकर पूर्वानुराग और प्रिय की प्राप्ति का उद्योग अथवा शुक परिचारक-बन्दीजन से रूप गुण की प्रशसा सुनकर आसक्ति ।

१३—किसी वस्तु या सकेत से अभिज्ञान (टोकेन आफ रिकगनीशन)

(3) M Bloomfield J A O S XXXVI 1917 pp 54—89
' " XL 1920 pp 1—24
' XLIV 1924 pp 202—242
A J of Philosophy XL pp 1—36
" " XLI ' 309—335
' XLIV ' 97 133 193 229
" ' XLVII ' 205—233

(4) W Norman' ' XL " 423—430
Brown ' XLII ' 122—151
" XLIII ' 289—317

(5) E H Burlingame J R A S 1917—pp 429—467

(6) Penzer in Tawney s Translation of Kathasaritsagar

(7) Chadwick Growth of Literature Vol I pp 423—444
Vol II p 562—573

१४—राजा का किसी दासी से प्रेम और बाद में उसके राजकुमारी होने का पता लगना।

१५—भरुण्ड, गरुड, यक्ष गन्धर्वादि द्वारा प्रेमी प्रेमिका का एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँच जाना।

१६—आकाश मे उडना और आकाशवाणी।

१७—हाथी के द्वारा छद्मराजा की पहचान।

१८—मृत व्यक्ति का जीवित हो जाना।

१९—सत्य क्रिया।

२०—दोहद कामना और उसकी पूर्ति के लिये प्रिय का प्रयत्न।

२१—जल की तलाश मे जाते समय यक्ष, गन्धर्व, असुर, राक्षस आदि से भेंट और प्रिय व्यक्तियो का वियोग।

२२—विजन-वन म सुन्दरियो और अप्सराओ से साक्षात्कार।

२३—राक्षसो कापालिको अथवा मतवाले हाथी से किसी सुन्दरी की रक्षा और उससे प्रेम आदि।

इन कथानक रूढियो मे से कुछ तो निजन्धरी विश्वासो पर आधारित होती हैं और कुछ कवि कल्पना जन्य होती हैं जो बार बार प्रयुक्त होकर रूढि बन गयी हैं। उपर्युक्त लोक-तत्वो और लोक विश्वास पर आधारित रूढियो क सम्बन्ध मे इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि शिष्ट साहित्य मे जहा कही भी इनका ग्रहण हुआ है, लोककथाओ, लोक गाथाओं और पौराणिक आख्यानों के प्रभाव से ही हुआ है क्योंकि इनका प्रारम्भ और विकास इन्हीं कथाओ और गाथाओं मे ही मुख्यरूप से हुआ है। भारतीय साहित्य मे तो इनकी भरमार है क्योंकि यहाँ लोक कथाओं के आधार पर बहुत अधिक आख्यानक साहित्य निर्मित हुआ है। इन कथानक रूढियो का इतना अधिक प्रयोग हुआ है कि उनम से अधिकाश म से चमत्कार और आश्चर्य उत्पन्न करने वाला तत्त्व समाप्त हो गया है[1]। भारतीय महाकाव्य, कथा, आख्यायिका, मुक्तक काव्य सब पर उपर्युक्त लोक-तत्वो का प्रभाव किसी न किसी रूप और मात्रा म अवश्य पडा है। हिन्दी महाकाव्यो के सम्बन्ध म विचार करते समय इन पर विशेष रूप से विचार किया जायगा।

1 Even various motifs which occur in legends fables and plays are worn out by repetetion and loose ther-by their element of surprise and charm'

S N Dasgupta and S K De A History of Sanskrit Literature P 28—29

इस प्रकार महाकाव्य के उद्भव और विकास की कहानी युगो की धारा म बहने वाले वीराख्यानो, लोकगाथाओ और पौराणिक ऐतिहासिक पुरुषो से सम्बन्धित निजन्धरी कथाओ के विकास की कहानी है जिन्हे युग युग के मानव समाज ने अपने अपने देश मे अपने अपने ढग से निमित किया। प्रारम्भिक विकसनशील महाकाव्यो की तुलना हम प्रवाल द्वीपो से कर सकते है। ये महाकाव्य न जाने कितने युगो मे कितने कण्ठो से निस्सृत होकर और कितनी प्रतिभाओ की शक्ति से रूप ग्रहण करके आज अपना वर्तमान स्थिर रूप प्राप्त कर सके हैं। लिख लिये जाने के बाद उनके स्वरूप मे कुछ स्थिरता अवश्य आती है किन्तु कभी कभी लिख लिये जाने पर भी उनका विकास होता रहता है। सम्भवत लिखने वालो की अपनी रुचि, अज्ञान, पूर्वग्रह तथा देश भेद के कारण एक ही महाकाव्य का विभिन्न प्राचीन हस्तलिखित प्रतियो मे इतना अन्तर आ गया। किन्तु छपाई का प्रारम्भ हो जाने के बाद अब लोक गाथाओ से महाकाव्य के विकास की सम्भावना बहुत कम रह गयी है क्योंकि अपढ ग्रामीण जनता मे प्रचलित लोक गाथाएँ भी अब अधिकतर लिपिबद्ध करके प्रकाशित की जाने लगी हैं। प्रकाशित हो जाने पर उनका रूप स्थिर हो जाता और विकास रुक जाता है। साराश यह कि महाकाव्य का उद्भव प्रारम्भिक वीरयुग मे होता है विकासोन्मुख सामन्त युग मे उसका रूप निखरता है, ह्रासोन्मुख सामन्त युग मे उसके रूप शिल्प के अनेक भेद हो जाते हैं ओर पूजीवाद के वैज्ञानिक युग म उनकी रचना बहुत कम हो जाती है और उनका स्थान उपन्याम लेने लगत हैं।

दूसरा अध्याय

महाकाव्य का स्वरूप

पिछले अध्याय में महाकाव्य के उद्भव और विकास के क्रम तथा परिस्थितियो के सम्बन्ध मे विस्तार के साथ विचार करने का उद्देश्य यह था कि महाकाव्य के सूक्ष्म और स्थूल, अतरग और बहिरग तत्त्वो का उद्घाटन किया जा सके। उक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं —

१—महाकाव्य मनुष्य जाति के प्रारभिक काव्यरूपों मे से एक प्रधान काव्य रूप है।

२—नाटक की तरह उसका उद्भव भी प्रारम्भिक आख्यानक नृत्य (बैलेड डास) से हुआ है, अत महाकाव्य मे नाटक के अनेक तत्त्व मिल सकते हैं।

३—उसका रूप विकास लोकगाथाओ और गाथा चक्रों के रास्ते से हुआ है, अत प्रारभिक महाकाव्य और लोकगाथा मे अनेक तत्त्व समान या उभयनिष्ठ हे।

४—महाकाव्य अपनी सामग्री इतिहास, पुराण, निजन्धरी आख्यान, परपरागत लोकविश्वास, अनुश्रुति और लोक कथा से ग्रहण करता है।

५—महाकाव्य का रूप विकास प्रारम्भिक वीरयुग मे हुआ। परवर्ती युगों—सामती वीरयुग और पूँजीवाद युग—मे उसके अतरग और बहिरग दोनों ही रूपो म युग की आवश्यकताओं के अनुरूप परिवर्तन होता रहा है।

६—प्रारम्भिक महाकाव्य मौखिक परम्परा मे सुरक्षित होने से विकसनशील थे। उनका कर्ता कोई विशिष्ट कवि नहीं होता था। अत वे लोक जीवन से अधिक सम्पृक्त और सामाजिक या जातीय भावनाओं से युक्त थे। बाद के विशिष्ट कवियो द्वारा व्यक्तिगत रूप से लिखित महाकाव्य अधिक व्यक्तिवादी भावनाओं से युक्त और अलकृत शैली के होने लगे।

७—वीरयुग किसी समाज में एक बार नहीं, विभिन्न रूपो मे कइ बार आता रहता है और प्रत्येक बार वह महाकाव्य के रूप को नया मोड देता है। शान्तिपूर्ण युगों मे लिखे गये महाकाव्य अधिकतर एक जाति के होते हैं और वीरयुगों के महाकाव्य दूसरी जाति के। किन्तु इन दोनों ही

जातियो के महाकाव्यो के कुछ ऐसे समान तत्त्व होते हैं जिनके कारण दोनो ही महाकाव्य की सज्ञा प्राप्त करते है।

८—महाकाव्य के विकास मे महान प्रतिभाशाली और विशिष्ट कवियो का जितना योग रहा है उससे कही अधिक लोक कवियो और पेशेवर-गैरपेशेवर चारणो ओर उनकी वश परपरा का रहा है। उसी तरह सामन्ती दरबार, धामिक सम्प्रदाय और सस्थाएँ और सामान्य जन-समाज इन तीनों के बीच समान रूप से महाकाव्य की परम्परा का विकास होता रहा है।

९—महाकाव्य, विशेषकर प्रारम्भिक महाकाव्य, विभिन्न काव्यरूपो जैसे नाटक, कथा आख्यायिका, खण्डकाव्य, अलकृत गाथा आदि का, यहाँ तक कि अनेक पुराणो और अलकृत महाकाव्यों का आकर साहित्य भी रहता आया है अर्थात् अनेक काव्य रूपो के तत्त्वो के मिश्रण से महाकाव्य का निमाण हुआ और फिर महाकाव्य की सामग्री से अनेक काव्यरूपो का पोषण होता रहा और इस समय तक होता जा रहा है।

१०-यद्यपि महाकाव्य का प्रारम्भ और विकास प्रारम्भिक वीरयुग मे हुआ पर इसका यह अर्थ नही कि हर काल का महाकाव्य वीरकाव्य ही होता है। उसके निर्माण के मूल मे अनेक प्रकार क उद्देश्य रहते आये हे। यदि अलग अलग महाकाव्यो का परीक्षण किया जाय तो उनके उद्देश्य, शैली ओर उनपर पडे प्रभावो का पता आसानी से लग सकता है। इसी तरह उनके विषय भी भिन्न भिन्न होते रह है जैसे कभी युद्ध, कभी प्रेम, कभी धर्म, कभी राष्ट्र का कल्याण, कभी राजा या धर्म प्रवर्तक की प्रशस्ति आर कभी मनोरजन और कल्पना विलास मात्र।

परिभाषा की समस्या

महाकाव्य की परिभाषा निश्चित करना अत्यन्त कठिन कार्य है क्योकि विभिन्न युगो म उसका स्वरूप बदलता रहा है। यही कारण है कि विभिन्न युगो के साहित्याचाया ने उसके भिन्न भिन्न मानदण्ड स्थिर किये, फिर भी महाकाव्य की सम्यक् परिभाषा आज तक स्थिर नही हो सकी है। किन्तु ऊपर जो निष्कर्ष दिये गये हें उनके आधार पर हम महाकाव्य की व्यापक परिभाषा निश्चित करके उसके सामान्य तत्त्वों ओर विशेषताओ का विश्लेषण और उसकी विभिन्न शैलियो का निधारण कर सकते है। पश्चिमी देशा तथा भारत के प्राचीन साहित्याचायो ओर पण्डितो ने महाकाव्य के लक्षण निर्धारित करते समय अपने सामने किन्हीं आदर्श महाकाव्यां या महाकवियो को रखा था। वे महाकाव्य जिस युग मे निर्मित हुए थे उस युग के लिए तो अवश्य

वह परिभाषा उपयुक्त थी, पर बाद के युगो के महाकाव्यो पर वे पिछली परिभाषायें और मानदण्ड पूर्णतया नहीं लागू हो पाते हे। यूरोपीय देशो मे महाकाव्य ही नहा बल्कि काव्य मात्र के सर्वप्रथम आलोचक अरस्तू ईसापूर्व तीसरी शताब्दी मे हुए। उन्होने अपने पूर्व के काव्य रूपो, विशेषकर होमर के दो महाकाव्यो, इलियड और ओडेसी को आदर्श रूप म सामने रख कर महाकाव्य के लक्षण निधारित किये। किन्तु ईसवी सन् के प्रारम्भ क कुछ वर्ष पूव इटली के प्रथम सम्राट् आगस्टस के सरक्षण मे रहकर महाकवि वर्जिल ने 'इनीड' नामक जिस काव्य की रचना की वह एक बिल्कुल भिन्न युग और भिन्न कोटि का महाकाव्य था। अत अरस्तू द्वारा निधारित लक्षण वर्जिल के महाकाव्य पर पूर्ण रूप से नही लागू किये जा सकते। वर्जिल के पूव और उसके बाद भी रोमाचक तत्त्वों से युक्त जो महाकाव्य लिखे गये उनपर न तो अरस्तू की परिभाषा ही लागू होती थी और न वर्जिल के महाकाव्य को आदर्श मानकर रचित बाद के शास्त्रीय शैली (क्लासिक्ल स्टाइल) वाले महाकाव्यों का मानदण्ड, जो हजारों वषो तक सारे यूरोप मे मान्य रहा, उन पर लागू हो सकता था। उसी तरह कुछ लोक-महाकाव्य जो सामन्ती वीरयुग (१२वीं शताब्दी तक) मे विकसित हुए, अरस्तू क लक्षणों के अनुसार अथवा शास्त्रीय महाकाव्य के मानदण्ड से महाकाव्य नहा माने जा सकते पर परम्परा से 'वियो वूल्फ' 'साग आफ रोला,' 'निबुलगेनलीड' आदि विकसनशील महाकाव्य माने जाते रहे हैं। ठीक यही दशा भारत म भी रही है। महाभारत ओर रामायण हमारे देश के आदि महाकाव्य हैं। इनमे से महाभारत को तो धर्मग्रन्थ, शास्त्र, पुराण, इतिहास, यहॉं तक कि पचमवेद तक मान लिया गया और रामायण को इतिहास और आदि काव्य कहा गया। रामायण का आदि काव्य मानते हुए भी भारतीय साहित्यशास्त्रियो—दण्डी, हेमच द्र, विश्वनाथ आदि—ने महाकाव्य का लक्षण निधारित करते समय उसे आदर्श रूप मे अपने सामने उतना नहीं रखा जितना अश्वघोष, कालिदास, भारवि, माघ आदि परवर्ती महाकवियो के अलकृत महाकाव्यो को। अत उनकी निर्धारित परिभाषा के अनुसार न तो रामायण महाकाव्य है न महाभारत और यदि उनकी परिभाषा को अक्षरश स्वीकार किया जाय, जैसा कुछ पुरानी परिपाटी के पडित लोग करते हैं, तब तो अनेक नितान्त नगण्य काव्य ग्रन्थ भी महाकाव्य की सीमा म चले आयँगे। हिन्दी मे इन्हीं सस्कृत साहित्यशास्त्रा की परम्परा स्वीकृत हुइ। अत यहॉं भी उक्त लक्षण ग्रन्थों के लक्षणो से युक्त सभी काव्य-ग्रन्थो को महाकाव्य सिद्ध करने की परिपाटी चल पडी हैं। यही

नही बहुत से ऐसे काव्य जो सचमुच महाकाव्य पद के अधिकारी हैं, इसी कारण महाकाव्य नहीं माने गये कि उनमे उपर्युक्त आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट कुछ लक्षण नही मिलते।

अतएव पुरानी परिभाषाओं और लक्षण ग्रन्थो से हमारा काम नही चल सकता। हमे वैज्ञानिक रीति से महाकाव्य के रूप-विकास का अध्ययन करके उसकी परिभाषा निर्धारित करनी होगी। इस दशा मे आधुनिक युग के अनेक पाश्चात्य पडितो ने बहुत अधिक कार्य किया है जिनमे प्रो० डब्यू० पी० केर, एबरक्रॉम्बी, मैकलीन डिक्सन आर सी० एम० बावरा के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। उन सभी पाश्चात्य विद्वानो ने, जिन्होने भारतीय प्राचीन साहित्य का अध्ययन और शोधकार्य किया है, महाभारत और रामायण को महाकाव्य माना है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भी महाभारत और रामायण को इतिहास के साथ साथ महाकाव्य भी माना है[1]। यदि महाभारत ओर रामायण को महाकाव्य मान लिया जाता है तो यह निश्चित है कि सस्कृत के साहित्याचार्यो की महाकाव्य की परिभाषा के भीतर वे नही समा सकेंगे, अथात् महाकाव्य की नइ परिभाषा बनानी होगी। उसी तरह हिन्दी का रामचरितमानस जो सारे समाज के हृदय मे महाकाव्य-रूप म प्रतिष्ठित है और हि दी के आलोचक भी जिसे महाकाव्य मानते ह, सस्कृत लक्षण ग्रन्थो के अनुसार महाकाव्य की कसौटी पर खरा नही उतरता। अ य काव्यों, पद्मावत, पृथ्वीराज रासो, कामायनी आदि, की तो बात ही अलग है। इसके साथ ही उ हीं लक्षण ग्रन्थो के आधार पर अनेक छोटे बडे और महत्व हीन का य ग्रन्थो को महाकाव्य कहा जा सकता है ओर कहा जाता रहा है। अत कौन काव्य ग्रन्थ महाकाव्य है और कौन नही, अब तक के मान्य महाकाव्य के लक्षणो के आधार पर इसका निर्णय करना अत्यन्त कठिन है। इसका सबसे सुगम उपाय तो यही है कि प्रत्येक देश या समाज मे जिस काव्य को परम्परा से महाकाव्य माना जाता रहा है या वतमान काल क जो काव्य सामान्यतया महाकाव्य मान लिये जाते हैं उन्हे ही सामने रखकर महाकाव्य की परिभाषा निर्धारित की जाय। उदाहरण के लिए फारसी के मसनवी ढग के ऐतिहासिक काव्य शाहनामा को ससार के प्रसिद्ध महाकाव्यो मे माना गया है। कालिदास का रघुवश भी सस्कृत का सर्वश्रेष्ठ अलकृत महाकाव्य माना जाता है पर अरस्तू और भामह की परिभाषा के अनुसार ये दोना ग्रन्थ महाकाव्य नही हो सकते क्योकि इनम एक व्यक्ति की जीवन कथा नही बल्कि राजवशो का काव्यात्मक इतिहास है। उनमे कथानक की अन्विति भी नहीं है। फिर भी ये दोनो

१—रवीन्द्रनाथ ठाकुर प्राचीन साहित्य, स० १९८० वि०, पृ० २–३।

महाकाव्य माने गये हैं। सस्कृत के साहित्यशास्त्रियो ने रघुवश को दृष्टि मे रखकर ही यह लक्षण बनाया कि महाकाव्य मे एक वश के अनेक व्यक्तियो की कथा भी हो सकती है। प्रश्न हो सकता है कि यदि एक वश के अनेक व्यक्तियो की कथा से महाकाव्य बन सकता है तो एक देश के अनेक सास्कृतिक नेताओ, या एक धर्म के विभिन्न अवतारो या तीर्थंकरो की कथा के आधार पर रचित काव्य को महाकाव्य क्यो नहीं माना जा सकता? अत कुछ विशेष महाकाव्यो के बाह्य लक्षणो को देखकर उ हें महाकाव्य मात्र का लक्षण मान लेने से परिभाषा मे अतिव्याप्ति या अव्याप्ति दोष आ जाता है। प्राचीन यूनानी और प्राचीन सस्कृत के लक्षण ग्रन्थों के सम्बन्ध मे यही बात लागू होती है।

कि तु उपर्युक्त कथन का अभिप्राय यह नहीं है कि महाकाव्य का स्वरूप अ य काव्य रूपो से भिन्न नहीं है अथवा महाकाव्य एक काल्पनिक काव्य रूप है। इसकी परिभाषा निश्चित करने मे कठिनाई का कारण यही है कि युग युग म इसका रूप अन्य काव्य रूपो की अपेक्षा अधिक स्पष्टता के साथ बदलता रहा है क्याकि इसका युग जीवन के साथ अत्यन्त निकट का सम्बन्ध होता है, और आज तो परिस्थितियाँ पहले से इतनी बदल गयी हैं कि बहुत से विद्वानों ने घोषणा कर दी है कि इस युग मे महाकाव्य की रचना हो ही नहीं सकती। डिक्सन ने इस सम्ब ध मे लिखा है कि आज मानव जीवन के क्षितज का विस्तार इतना अधिक हो गया है कि कोई महाकवि चाहे जितना भी दूरद्रष्टा या विराट कल्पना वाला क्या न हो, वह महाकाव्य के भीतर अपने युग जीवन की सभी बातो और अनुभूतियों को उस प्रकार नहीं समाविष्ट कर सकता जैसे होमर, व्यास या वाल्मीकि ने किया है[1]। यह बात सही भी है। विश्व म सभी जगह आज महाकाव्यों की रचना बहुत कम हो रही है। उनकी जगह उपन्यास ने ले ली है। यूरोप मे तो महाकाव्य के गुण

1 The ancient wide and undivided realm is split and rent into many kingdoms Perhaps it is no longer for the epic poet to secure scope and verge enough for his undertaking, or universal attention for his selected theme The horizons of human life have widened but so vastly widened that the epic poet can no longer include them however far seeing his vision as did homer weave so many histories together as to contain the whole learning of his time"

W Macneile Dixon English Epic & Heroic Poetry London, 1912 p 16

वाले श्रेष्ठ उपन्यासों को भी 'एपिक' कहा जाने लगा है। निष्कर्ष यह कि महाकाव्य के विकास के इतिहास को और सारे ससार के महाकाव्यो के स्वरूप को ध्यान मे रखकर यदि कोई परिभाषा बनाई जाय जिसमे महाकाव्य के सभी सामान्य लक्षण आ जायँ, तो भी वह अन्तिम परिभाषा नही हो सकती। कल समाज की मान्यतायें बदल जायँगी, उसकी कलात्मक रुचि मे उलट फेर हो जायगा, फिर आज की परिभाषा बेकार हो जायगी। सम्भवत इसी परिवर्तनशीलता को देखकर क्रोचे ने अपने सौन्दर्यशास्त्र मे कहा है कि काव्य रूपों का वर्गीकरण करना ही बेकार है, कला के क्षेत्र मे गीतिकाव्य, महाकाव्य, नाटक, उपन्यास आदि का भेद नहीं हो सकता। यदि किया जाता है तो यह कृत्रिम भेद है, क्योकि एक तो आत्मगत और वस्तुगत भावो या विचारो की अलग अलग स्थिति नही है, दूसरे कलाकार और कवि सदा शास्त्रीय नियमो का उल्लघन करते रहते हैं। प्रत्येक उत्कृष्ट कलात्मक निर्माण मे कलाकार अपने पूर्व के स्थिर नियमो की उपेक्षा करके आलोचको को इस बात के लिए विवश करता है कि वे शास्त्रीय नियमो मे परिवर्तन करें। अत परिभाषायें फिर फिर बनती और फिर फिर सुधरती रहती हैं[1]। क्रोचे के इस कथन मे सत्य का बहुत अधिक अश है, फिर भी काव्य भेद किया जाता रहा है और परिभाषाये बनती रहती हैं, क्योंकि मनुष्य की बुद्धि का काम ही विश्लेषण करना है। भारतीय मनीषा तो सूक्ष्म भेद प्रभेद की प्रवृत्ति मे अपनी उपमा आप ही है। अत परिभाषा निश्चित किये बिना हम अपने विषय के साथ समुचित न्याय नहीं कर सकते। इतना अवश्य सत्य है कि काव्य-रूपो और मानदण्डो मे निरन्तर परिवर्तन होते रहने के बावजूद उनकी एक परम्परा होती है जिसका इतिहास होता है। इतिहास की गति मे भी नियम होता है जिसका पता लगा कर उसके आधार पर विश्लेषण-विभाजन और परिभाषा का निर्माण किया जा सकता है। यहाँ महाकाव्य के ऐतिहासिक विकास और परम्परागत नैरन्तर्य के आधार पर उसकी परिभाषा देने और उसके तत्वों का उद्घाटन करने का प्रयत्न किया जायगा।

महाकाव्य की परिभाषा के सम्बन्ध मे विचार करने के पूर्व इस बात को फिर दुहरा देना आवश्यक है कि ससार के सभी देशो म महाकाव्य की परम्परा दो धाराओ में विभक्त होकर प्रवाहित होती आ रही है, मौखिक परम्परा वाली धारा और लिखित परम्परा वाली धारा। यद्यपि इन दोनो म बहुत अन्तर है पर वस्तुत दोनो महाकाव्य की ही धारायें हैं क्योकि दोनो के मूल तत्त्व

1 Benedetto croce Aesthetics p 60 61
Translated by—Dongas Ainslie

एक ही हैं। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि "महाकाव्य शब्द का प्रयोग आज कल दो अर्थो म होने लगा है—अग्रेजी के 'एपिक' शब्द के अर्थ म और प्राचीन आलकारिक आचार्यो द्वारा प्रयुक्त सर्गबद्ध काव्य के अर्थ मे। साधारणत यूरोपियन पण्डितो ने भारतीय एपिक कह कर केवल दो ग्रन्थो की चर्चा की है, महाभारत की और रामायण की।[1]" यह कथन सत्य है। इसका कारण यह ह कि पाश्चात्य देशा म अरस्तू ने होमर के आदर्श पर महाकाव्य की जो परिभाषा निश्चित की थी वह वर्जिल और मिल्टन जैसे कवियो क महाकाव्यो पर पूर्णतया लागू नहा होती थी और इन महाकाव्यो के, जो शास्त्रीय (क्लासिकल) महाकाव्य कहलाते हैं, आधार पर, जो परिभाषा बनी वह लोक महाकाव्य (फोक एपिक) जेसे बियोवूल्फ, निबुलगेनलीड आदि पर लागू नहीं होती थी। अत वहाँ बाद मे महाकाव्य के दो रूप मान लिए गये, प्राकृतिक या विकसनशील या लोक महाकाव्य (आथेन्टिक एपिक, फोक एपिक या एपिक आफ ग्रोथ) और अनुकृत साहित्यिक या अलकृत महाकाव्य (लिटरेरी या इमिटेटिव एपिक या एपिक आफ आर्ट)। मौखिक और लिखित परम्परा के कारण ही महाकाव्य क ये दो रूप हो गये जो आधुनिक साहित्यशास्त्रियो द्वारा स्वीकृत कर लिये गये। इसी नियम को योरोपीय पडितो ने भारतीय महाकाव्यो पर भी लागू किया और महाभारत रामायण को प्राकृतिक या विकसनशील महाकाव्य माना और अश्वघोष कालिदास तथा बाद के कवियो क महाकाव्यो को दरबारी महाकाव्य या अलकृत महाकाव्य कहा। मेकडानल प्रभृति विद्वान महाभारत को लोक महाकाव्य और रामायण को अलकृत महाकाव्य मानते ह और बाद के अलकृत महाकाव्यों को रामायण के अनुकरण पर निर्मित बताते हैं[2]। इस तरह उन्होंने महाभारत रामायण से लेकर बाद

१—'सस्कृत के महाकाव्यो की परम्परा' आलोचना—अक १—पृष्ठ ९, दिल्ली १९५१।

2— As the popular epic poetry of the Mahabharat was the chief source of the Puranas, so the Ramayan the earliest artificial epic was succeeded though after a long interval of time by a number of Kavyas ranging from the fifth to twelth century"

Arthur A Macdonell—A History of Sanskrit Literature—P 325—26 London 1913

तक के सभी अलकृत या दरबारी काव्यों को महाकाव्य ही माना है जब कि भारतीय अलकारिक अचार्य महाभारत को महाकाव्य मानते हुए हिचकिचाते हे। अत द्विवेदी जी के उपर्युक्त कथन मे 'एपिक' शब्द सम्भवत प्राकृतिक या विकसनशील महाकाव्य (एपिक आफ ग्रोथ) के लिए प्रयुक्त हुआ है। द्विवेदी जी भी महाकाव्य की दो धाराओ—विकसनशील ओर अलकृत—को मानते हे और इसीलिए उन्होने पाश्चात्य विद्वानो की तरह ही अपने निबन्ध 'सस्कृत के महाकाव्यो की परम्परा' मे महाभारत रामायण को भी सम्मिलित किया है। महाकाव्य की परिभाषा को इतना यापक और उदार बनाकर न देखने के कारण ही हिन्दी के अनेक इतिहासकार और आलोचक रासो, पद्मावत, यहाँ तक कि रामचरित मानस तक के का य रूप का वगाकरण करते समय उन्ह केवल प्रबन्ध काव्य कहकर टाल गये हैं, क्योकि सस्कृत के आचार्यो की परिभाषा के अनुसार वे पूर्णत महाकाव्य नही कहे जा सकते। अत पाश्चात्य विद्वानो तथा रवीन्द्रनाथ ठाकुर, डाक्टर हजारी प्रसाद द्विवेदी आदि के इस मत को हम शुरू ही मे स्वीकार करके चल रहे हें कि महाकाव्य की दो धाराये अथवा उसके विकास की दो अवस्थाएँ हैं—प्राकृतिक अथवा मौखिक और लिखित।

इस सम्बन्ध मे इतना ओर कह देना आवश्यक प्रतीत होता है कि विज्ञान और सौन्दर्यबोध के क्षेत्र मे देश काल के विशेषण बहुत कुछ अनावश्यक ओर सत्य की उपलब्धि मे बाधा उपस्थित करने वाले होते हे। जिस तरह विभिन्न देशो म बसने वाली जातियो के अ ययन का शास्त्र नृतत्व शास्त्र है, ओर समाज के विकास के नियमो के अध्ययन का शास्त्र समाज शास्त्र है उसी तरह विभि न देशों के साहित्य के अ ययन के लिए भी एक ही साहित्यशास्त्र हो सकता है या होना चाहिए। इस क्षेत्र मे पाश्चात्य साहित्यशास्त्र ओर प्राच्य साहित्यशास्त्र अथवा भारतीय ओर यूनानी साहित्यशास्त्र आदि शब्दों का इस युग मे कोई महत्व नही रह गया है, क्योकि एक तो विज्ञान ने देशो की दूरी मिटा दी है, दूसरे विकास की प्रक्रिया सभी देशो मे बहुत कुछ एक सी रही है। अत महाकाव्य के नियमों के सम्बन्ध मे पाश्चात्य और भारतीय विशेषण विशेष महत्व के नही हे। कम से कम उन्हे आवश्यक शर्त मान कर नहीं चला जा सकता क्योकि दैशिक सकीर्णता की मनोवृत्ति सत्या न्वेषण मे बाधक है। अन्य विषयो ओर शास्त्रो की तरह साहित्य ओर उसके शास्त्र का भी एक इतिहास होता है जिसके विकास की निश्चित गति होती है जो सभी देशो में करीब करीब एक जैसी होती है। सभी देशो के प्रारम्भिक वीरयुगीन महाकाव्यो मे विषय वस्तु ओर रूपशिल्प सम्बन्धी यह समानता स्पष्ट रूप से देखी

जा सकती है[१]। अत तुलनात्मक पुराणशास्त्र, भाषाशास्त्र, धर्मशास्त्र आदि की तरह तुलनात्मक साहित्यशास्त्र की भी आवश्यकता स्वयंसिद्ध है। कम से कम महाकाव्य के सम्बन्ध म तो उसकी आवश्यकता और भी अधिक है क्योकि वह मनुष्य के प्रारम्भिक मानसिक प्रयत्नो का जीवन्त प्रतीक है। इस क्षेत्र मे हम पाश्चात्य और पौवात्य के भेद को कृत्रिम और अवैज्ञानिक मानते हैं और महा काव्य की ऐसी परिभाषा की आवश्यकता समझते हैं जो सार्वभौम और वैज्ञानिक हो। भारतीय और पाश्चात्य मान्यताओ मे कोई तात्त्विक अन्तर है भी नहीं, उनमे कितना साम्य या वैषम्य है यह जानने के लिए उनके सम्बन्ध मे कुछ विचार कर लेना आवश्यक है।

महाकाव्य सम्बन्धी भारतीय मान्यताये —

भामह—सस्कृत मे काव्यशास्त्र के ऐसे उपलब्ध ग्रन्थो मे, जिनमे महाकाव्य की परिभाषा दी गयी है, प्राचीनतम भामह का काव्यालकार है। उसमे उन्होने महाकाव्य की जो परिभाषा दी है वह परवर्ती आचार्यो की परिभाषा के समान सकीर्ण और रूढिपरक नही है[२]। भामह ने बडी लोक गाथाओ का, जिनमे ग्राम्य शब्दो का प्रयोग अधिक होता है और अलकरण नही होता या जिनके नायक महान नहीं होते और जिनमे सर्गबद्धता नहीं होती, महाकाव्य नहीं माना। इसके विपरीत उनका कहना है कि महाकाव्य को सर्गबद्ध होना चाहिये, उसका आकार बडा होना चाहिये, शब्द चयन और अप्रस्तुत विधान उत्कृष्ट होना चाहिये, उसकी कथा महान चरित्रो पर आश्रित होनी चाहिये, उसम नाटक की सन्धियाँ और कार्यावस्थाये होनी चाहिये और व्याख्या की अधिकता नहीं होनी चाहिये अर्थात् कथा प्रवाह म बाधा उपस्थित करने वाले अनावश्यक तत्त्व नही हाने चाहिये। इस परिभाषा से स्पष्ट है कि भामह ने रामायण ओर सम्भवत महाभारत को दृष्टि में रख कर या उन्ही के आदर्श पर रचित उन महाकाव्यो को देखकर, जो आज प्राप्त नहीं है, यह परिभाषा बनाई

1— Yet heroic poetry is one whether of the East or west, the North or South its blood and temper are the same,
M Dixon English Epic & Heroic Poetry, p 24

२—सर्गबन्धो महाकाव्य महता च महच्च यत्।
अग्राम्यशब्दमर्थं च सालकार सदाश्रयम्॥
मन्त्रदूतप्रयाणाजिन नायकाभ्युदयञ्चयत्।
पचभि सन्धिभियुक्त नाति व्याख्येयमृद्धिमत्॥
भामह—काव्यलकार १–१९, २१।

है। उनके समय तक महाकाव्य का रूप अतिशय अलकृत और रूढिबद्ध नही हुआ था। अत उनकी परिभाषा अरस्तू की परिभाषा से मिलती जुलती है क्योंकि दोनों के सामने आदर्श रूप मे विकसनशील महाकाव्य थे। ध्यान देने की बात है कि भामह ने परवता आलकारिको की तरह महाकाव्य के शरीर के बाह्य लक्षणो का ब्योरा नही उपस्थित किया और न सर्गों की सख्या, वर्ण्यविषयो की सूची, नायक के विशिष्ट गुणों, छ द, और ग्रन्थारभ आदि की आवश्यक शर्तें ही रखी। उन्होने उसके प्रधान तत्वो को पकड लिया है, जो ये हैं —

१—सर्गबद्धता
२—महान चरित्र और विजयी नायक
३—महत्ता
४—शिष्ट नागर प्रयोग और अलकृति
५—जीवन के विविध रूपो, अवस्थाओ और घटनाओ का चित्रण
६—नाटकीय गुण
७—अति व्याख्या रहित होना अर्थात् सघटित कथानक और प्रभाव की अन्विति।
८—ऋद्धिमत्ता

दण्डी—भामह के बाद दूसरे महान आचार्य दण्डी ने 'काव्यादर्श' मे महाकाव्य के जो लक्षण दिये हे उनमे उन्होंने भामह की सभी बातो को समेट तो अवश्य लिया है किन्तु उन्हे ऐसे ढग से अन्य स्थूल नियमो के बीच म डाल दिया है कि प्रधान तत्त्व महत्वहीन हो गये ह आर गोण तत्त्व ही प्रधान प्रतीत होते हैं[1]। महान चरित्र की जगह उन्होने चतुरोदात्त नायक शब्द रखकर महाकाव्य मे उद्देश्य का महत्व कम कर दिया है और उसकी जगह चमत्कार अथवा केवल रसानुभूति को ही प्रधानता दे दा है। इस तरह दण्डी ने भामह

१—सर्गबन्धो महाकाव्यमुच्यते तस्य लक्षणम्।
आशीर्नमस्क्रिया वस्तुनिर्देशो वापि तन्मुखम् ॥१४॥
इतिहासकथोद्भूतमितरद्वा सदाश्रयम्।
चतुर्वर्गफलायत्तचतुरोदात्तनायकम् ॥१५॥
नगरार्णवशैलर्तुचन्द्रार्कोदयवर्णनै।
उद्यानसलिलक्रीडामधुपानरतोत्सवै ॥१६॥
विप्रलम्भैर्विवाहैश्च कुमारोदयवर्णनै।
मन्त्रदूतप्रयाणाजिनायकाभ्युदयैरपि ॥१७॥
अलकृतमसक्षिप्त रसभावनिरन्तरम्।
सर्गैरनतिविस्तीर्णैं श्राव्यवृत्तै सुसन्धिभि ॥१८॥

के 'अग्राम्यशब्दमर्थ च सालकार सदाश्रयम्' का यह अर्थ लगा लिया कि अलकृत होना ही महाकाव्य का प्रधान लक्षण है। उन्होंने प्रारम्भ के आशीर्वचन, नमस्क्रिया और वस्तुनिर्देश और मध्य के उद्यान सलिल क्रीडा, मधुपानोत्सव आदि तथा विभिन्न सर्गों में भिन्न भिन्न छन्दों के उपयोग की जो सामान्य बातें बताई हैं, वस्तुतः वे महाकाव्य के तात्त्विक और आवश्यक लक्षण नहीं हैं। संस्कृत के सभी महाकाव्यों में ये सभी बातें नहीं मिलतीं। दण्डी की परिभाषा ही आगे चलकर अधिक प्रचलित हुई और हेमचन्द्र और विश्वनाथ ने उसी के आधार पर कुछ और बातें जोड कर अपने लक्षण बनाये। दण्डी के काव्यादर्श ने परवर्ती कवियों को कितना अधिक प्रभावित किया, यह इसी से स्पष्ट है कि परवर्ती महाकाव्य दण्डी के लक्षणों को सामने रख कर रचे गये प्रतीत होते हैं। अलङ्कृति और चमत्कार उनका प्रधान लक्ष्य हो गया और महती घटना या महान चरित्र द्वारा रसानुभूति उत्पन्न करके अपने महान उद्देश्य को पूरा करना उनका लक्ष्य नहीं रह गया। 'चतुर्वर्गफलायत्त' के नियम के अनुसार परवर्ती दरबारी कवि अर्थ और काम को ही लक्ष्य मान कर महाकाव्य रचने लग गये जिसके परिणामस्वरूप महाभारत रामायण को महाकाव्य रूप में सोचने की भी प्रवृत्ति नहीं रह गयी और कालिदास की सरलता, सहजता और महत्ता को भी भुला दिया गया। फलतः चौदहवीं शताब्दी के आलङ्कारिक आचार्य विश्वनाथ कविराज ने महाभारत को आर्ष महाकाव्य कह कर उसे कवि रचित महाकाव्यों से भिन्न कोटि का मान लिया और उसमें सर्ग की जगह आख्यान का प्रयोग होना बताया। केवल अलकार शास्त्रों में निर्दिष्ट महाकाव्यों के लक्षणों की खानापूरी धडल्ले के साथ होने लगी और स्वतन्त्र मार्ग अनुसरण करने, नये मानदण्ड स्थापित करने और आलङ्कारिकों को नये नियम बनाने के लिए विवश करने वाले महाकाव्यों का प्रणयन बन्द सा हो गया[1]।

सर्वत्र भिन्नवृत्तान्तैरुपेत लोकरञ्जनम्।
काव्य कल्पान्तरस्थायि जायेत सदलकृति ॥१९॥
दण्डी काव्यादर्श—प्रथमपरिच्छेद।

1—'It is generally believed that the poems which are composed in accordance with the rules laid down in the Alankar Shastra are slightly inferior to the early poems on which the rules of definitions were based There is, ofcourse, some truth in the assertion as the later poets were somewhat handicapped by the rules in making use of their

रुद्रट—किन्तु प्राकृत अपभ्रंश के महाकवि कुछ स्वतन्त्र और एक सीमा तक आलंकारिकों के मत के विरुद्ध मार्ग का अनुसरण करके चलते रहे। इसका कारण यह था कि उन पर जैन बौद्ध पुराणों, लोकगाथाओं लोककथाओं और हिन्दू पुराणों तथा रामायण महाभारत का प्रभाव अधिक था। दण्डी के समय तक सम्भवतः प्राकृत अपभ्रंश के महाकाव्यों की रचना कम हुई थी अथवा वे प्रकाश में नहीं आये थे। चाहे जो भी कारण हो, दण्डी ने प्राकृत-अपभ्रंश के महाकाव्यों तथा रामायण महाभारत को ध्यान में रख कर महाकाव्य के नियम नहीं बनाये। किन्तु दण्डी के बाद सातवीं शताब्दी के दूसरे महान आचार्य रुद्रट ने महाकाव्य की जो परिभाषा अपने काव्यालंकार में दी है, वह संस्कृत के अन्य सभी आलंकारिकों से बहुत कुछ भिन्न, तथा महाभारत रामायण और प्राकृत-अपभ्रंश के महाकाव्यों को भी ध्यान में रख कर बनाई प्रतीत होती है[१]। यही नहीं, रुद्रट की महाकाव्य सम्बन्धी मान्यता यूरोपीय महाकाव्यों के

free thinking which is essential in all forms of creative poetry'

Ramacharita of Abhinanda—Edited by Ramaswami Shastri Sheromani Preface, p 23

१ सन्ति द्विधा प्रबन्धाः काव्यकथाख्यायिकादयः काव्ये।
उत्पाद्यानुत्पाद्या महल्लघुत्वेन भूयोऽपि ॥ २ ॥
तत्रोत्पाद्या येषां शरीरमुत्पादयेत्कविः सकलम्।
कल्पितयुक्तोत्पत्तिं नायकमपि कुत्रचित्कुर्यात् ॥ ३ ॥
पञ्चरमितिहासादिप्रसिद्धमखिलं तदेकदेशं वा।
परिपूरयेत्स्ववाचा यत्रकविस्ते त्वनुत्पाद्या ॥ ४ ॥
तत्र महान्तो येषु च विततेष्वभिधीयते चतुर्वर्गः।
सर्वे रसाः क्रियन्ते काव्यस्थानानि सर्वाणि ॥ ५ ॥
ते लघवो विज्ञेया येष्वन्यतमो भवेच्चतुर्वर्गात्।
असमग्रानेकरसा ये च समग्रैकरसयुक्ताः ॥ ६ ॥
तत्रोत्पाद्ये पूर्वं सन्नगरीवर्णनं महाकाव्ये।
कुर्वीत तदनु तस्यां नायकवंशप्रशंसां च ॥ ७ ॥
तत्र त्रिवर्गसक्तं समिद्धशक्तित्रयं च सर्वगुणम्।
रक्तसमस्तप्रकृतिं विजिगीषुं नायकं न्यस्येत् ॥ ८ ॥
विधिवत्परिपालयतः सकलं राज्यं च राजवृत्तं च।
तस्य कदाचिदुपेतं शरदादिं वर्णयेत्समयम् ॥ ९ ॥

लक्षणो का भी पूर्णतया व्यक्त करती है। कारण यह है कि उन्होंने विकसनशील महाका यो—महाभारत रामायण—के अतिरिक्त यूरोपीय रोमाचक महाकाव्यो के ढग के भारतीय प्राकृत अपभ्रश के महाकाव्यो को भी अपनी दृष्टि मे अवश्य रखा था अथवा सस्कृत मे भी उस समय पद्यबद्ध कथा आख्यायिका के ढग के महाकाव्य होते थे जिनकी शैली म बा म बृहत्कथामजरी और कथासरित्सागर का निर्माण हुआ। रुद्रट ने गद्यबन्ध लघु या महत् प्रब धो को ही कथा आख्यायिका माना है, पद्यबद्ध प्रब धो को नही। इसीलिए उ होंने महाकाव्य की कथा के उत्पाद्य और अनुत्पाद्य तथा महत् और लघु दो भेद किये हैं और अनुत्पाद्य महत्प्रब ध (कथोद्भूत महाकाव्य) मे उन सभी लक्षणा को स्वीकार किया है जो गद्यबन्ध कथा आख्यायिका मे होते हैं। रुद्रट के महाकाव्य

स्वार्थं मित्रार्थं वा धर्मादि साधयिष्यतस्तस्य।
कुल्यादिष्वन्यतम प्रतिपक्ष वर्णयेद्गुणिनम् ॥ १० ॥
स्वचरात्तद्दूताद्वा कुलोपि वा वृण्वतोरिकार्याणि।
कुर्वीत सदसि राज्ञा क्षोभ क्रोधेद्धचित्तगिराम् ॥ ११ ॥
समन्त्र्य सम सचिवैर्निश्चित्य च दण्डसाध्यता शत्रो ।
त दापयेत्प्रयाण दूत वा प्रेषयेन्मुखरम् ॥ १२ ॥
अथ नायकप्रयाणे नागरिकाक्षोभजनपदाद्रिनदी ।
अटवीकाननसरसीमरुजलधिद्वीपभुवनानि ॥ १३ ॥
स्कन्धावारनिवेश क्रीडा यूना यथायथ तेषु।
रव्यस्तमय सध्या सतमसमथोदय शशिन ॥ १४ ॥
रजनीं च तत्र यूना समाजसगीतपानशृगारान्।
इति वर्णयेत्प्रसगात्कथा च भूयो निबध्नीयात् ॥ १५ ॥
प्रतिनायकमपि तद्वत्तदभिमुखममृष्यमाणमायान्तम्।
अभिदध्यात्कार्यवशान्नगरीरोधस्थित वापि ॥ १६ ॥
योद्धव्य प्रातरिति प्रबन्धमधुपीति निशि कलत्रेभ्य ।
स्ववध विशकमानान्सदेशान्दापयेत्सुभटान् ॥ १७ ॥
सन्नह्य कृतव्यूह सविस्मय युध्यमानयोरुभयो ।
कृच्छ्रेण साधु कुर्यादभ्युदय नायकस्यान्ते ॥ १८ ॥
सर्गाभिधानि चास्मिन्नवान्तरप्रकरणानि कुर्वीत।
सधीनपि सश्लिष्टस्तेषामन्योन्य सबन्धात् ॥ १९ ॥

रुद्रट—काव्यालकार, षोडशोध्याय ।

सम्बन्धी लक्षण यूरोपीय वीर काव्यों के लक्षणो से भी मिलते हैं क्योंकि उन्होने नायक और प्रतिनायक दोनो का वर्णन, दोनो का परस्पर युद्ध और नायक की विजय को बहुत महत्व दिया है और उनमे अवान्तर कथाओ का होना भी एक लक्षण बताया है। अन्य बाते उन्होने दण्डी के समान ही रखी हैं। रुद्रट की परिभाषा की सबसे बडी विशेषता यह है कि उसमे युग जीवन के विविध रूपो, पक्षो और घटनाओ को चित्रित करने की बात बहुत स्पष्ट रूप मे और विस्तार के साथ कही गयी है। अत इस परिभाषा को मानने पर केवल खानापूरी करने वालों का काम किसी प्रकार नही चल सकता था। सम्भवत इसीलिए दण्डी और विश्वनाथ कविराज की परिभाषाओ का जितना प्रचार हुआ उतना भामह और रुद्रट की परिभाषा का नही, क्योकि भामह ने तो सूत्र रूप मे महाकाव्य के मूल तत्वो को कह दिया था और रुद्रट ने उनका पूरा विश्लेषण ही दे दिया जिसे पूरा पूरा अपना कर चलना सामन्ती युग के दरबारी कविया के लिए सम्भव नही था। रुद्रट की परिभाषा मे निर्दिष्ट महाकाव्य के लक्षण ये हैं —

१—महाकाव्य मे उत्पाद्य या अनुत्पाद्य, कोई लम्बी पद्यबद्ध कथा होती है।

२—उसमे प्रसगानुसार अवान्तर कथाये होती हैं अर्थात् उसमे पुराण और कथा आख्यायिका के भी तत्व होते हैं।

३—कथा सगबद्ध और नाटकीय तत्वो से युक्त होती है।

४—उसमे जीवन की समग्रता का चित्रण होता है और किसी प्रधान घटना जैसे युद्ध या साहसिक कार्य आदि के आश्रय से अलकृत वर्णन, प्रकृति चित्रण और विभिन्न नगरो, देशा ओर भुवनों (स्वर्गादि) के वर्णन का विधान होता है।

५—उसका नायक द्विजकुलोत्पन्न सवगुणसम्पन्न महान वीर और विजिगीषु, शक्तिमान, नीतिज्ञ, कुशल राजा होता है।

६—उसमे प्रतिनायक और उसके कुल का भी वर्णन होता है।

७—उसमे अन्त मे नायक की ही विजय दिखाइ जाती है, प्रतिनायक की नहीं।

८—उसका कोई महदुद्देश्य, जैसे चतुवर्गफल की प्राप्ति, होता है, साथ ही उसमे सभी रस भी होते हैं, अर्थात् उसमे रसात्मकता और सोद्देश्यता अभिन्न रूप मे प्राप्त होती हैं।

९—उत्पाद्य महाकाव्यों मे प्रारम्भ मे सन्नगरीवर्णन और नायक के वंश की प्रशसा होती हैं।

१०—उसमे अलौकिक और अतिप्राकृत तत्व होते हैं पर मनुष्य कृत असम्भव या अस्वाभाविक घटनायें नही होतीं।

इन लक्षणो को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि रुद्रट ने महाकाव्य के सकीर्ण लक्षणों का नहा, उसके व्यापक और आवश्यक तत्वो का निदश किया है। अत पौराणिक, ऐतिहासिक, रोमाचक, नाटकीय, शास्त्रीय और गीतात्मक सभी शैलिया के महाकाव्या पर यह परिभाषा लागू हो सकती है। ऐसा प्रतीत होता है जैसे रुद्रट ने भामह की परिभाषा की व्यारया की है और दण्डी के बताये लक्षणों को भी उसमे समेट लिया है। यह भी कहा जा सकता है कि दण्डी की शैली का अनुसरण करते हुए भी रुद्रट ने महाकाव्य को केवल अलकृत महाकाव्य नहीं माना है, न उसकी रूढिया ही स्थिर की हैं जैसे मगलाचरण, वस्तु निर्देश आदि का विधान, आठ से अधिक सर्गों का नियम, प्रत्येक सर्ग म एक ही छन्द या सभी सर्गो म भिन्न छन्दो के प्रयोग का नियम आदि। महदुद्देश्य, महच्चरित्र, महती घटना और समग्रजीवन का रसात्मक चित्रण, महाकाव्य के बस ये ही चार प्रधान लक्षण होते हैं और रुद्रट ने उसका निर्देश कर के अन्य आचार्यो से अपने को भिन्न कर लिया है। उन्होने अरस्तू की तरह महाकाव्य मे सम्भावना और कल्पना को सयत रखने की भी सलाह दी है और कहा है कि यद्यपि महाकाव्य म अलौकिक और अतिप्राकृत तत्वो का योग हो सकता है पर उसमे मानव की सीमित शक्ति का ध्यान रखकर उससे ऐसे असम्भव काम नहीं कराना चाहिये जैसे पहाड समुद्र और समस्त पृथ्वी का अपनी ही शक्ति के सहारे लघन और चक्रमण। यदि ऐसा करना ही हो तो देवता, गन्धर्व, किन्नर विद्याधरादि की सहायता द्वारा कराना चाहिये[1]। इस तरह रुद्रट की महाकाव्य सम्बन्धी परिभाषा अन्य आचार्यो की अपेक्षा अधिक व्यापक और स्वतन्त्र चिन्ता पर आधारित प्रतीत होती है।

हेमचन्द्र—रुद्रट के बाद के दूसरे महान आचार्य बारहवीं शताब्दी के हेमचद्र सूरि हैं जिन्होंने महाकाव्य के सम्बन्ध मे विचार करते समय प्राकृत अपभ्रश के महाकाव्यों को भी ध्यान मे रखा है। उन्होंने 'काव्यानुशासनम्' मे सूत्र रूप मे महाकाव्य की यह परिभाषा दी है —

१—कुलशैलाम्बुनिधीना न ब्रूयाल्लघन मनुष्येण।
आत्मीयैव शक्त्या सप्तद्वीपानिचक्रमणम् ॥३७॥
येऽपि तु लघितवन्तो भरतप्राया कुलाचलाम्बुनिधीन्।
तेषा सुरादिसुरयै सगादासन्निमानानि ॥३८॥

वही—'षोडशोध्याय ।

पद्य प्राय संस्कृतप्राकृतापभ्रंशग्राम्यभाषानिबद्धभिन्नान्त्यवृत्तसर्गाश्वास-सन्ध्यवस्कन्धकबन्ध सत्सन्धि शब्दार्थवैचित्र्योपेत महाकाव्यम् ।

—काव्यानुशासन—आठवॉ अध्याय ।

इस सूत्र की वृत्ति मे प्राय दण्डी द्वारा निदिष्ट लक्षणो को ही दुहराया गया है[1] । दण्डी से उनकी परिभाषा मे नवीनता यही है कि उन्होने लक्षणो को शब्द वैचित्र्य, अर्थ वैचित्र्य और उभयवैचित्र्य मे विभाजित कर उभयवैचित्र्य मे रसानु-रूप सदर्भ, अर्थानुरूप छन्द, समस्तलोकरजकता आदि का होना भी आवश्यक माना है, पर ये महाकाव्य के हा नही, काव्यमात्र के लक्षण हैं। उन्होने देशकाल पात्रचेष्टाकथान्तरानुषजनम्' कहकर महाकाव्य म जीवन के व्यापक अनुभवो और किसी युग के सम्पूर्ण चित्र को उपस्थित करने का भी निदश किया है । उनकी परिभाषा की दूसरी बडी विशेषता यह है कि व प्राकृत अपभ्रश तथा ग्राम्य भाषाओ मे भी महाकाव्य का होना स्वीकार करते हैं क्योकि उस समय तक प्राकृत अपभ्रश के कुछ महाकाव्य बहुत प्रसिद्ध हो चुके थे। सर्गबद्धता के सबध म उन्होने लिखा ह कि सस्कृत मे सर्गबन्ध, प्राकृत मे आश्वासकबध, अपभ्रश मे सन्धिबन्ध और ग्राम्यापभ्रंश म अवस्कन्धकबन्ध महाकाव्य होते हैं पर कभी कभी सस्कृत मे अवस्कन्धक नाम से भी सर्ग विभाजन मिलता है। प्रत्येक सर्ग मे एक छन्द हो, अत मे छन्द बदल जाय और सभी सर्गो मे भिन्न भिन्न छन्द हों, इस रूढि को स्वीकार करते हुए भी उन्होने इसक अपवादो की चर्चा की है और कहा है कि कुछ महाकाव्यो—जैसे रावण विजय, हरविजय, सेतुबन्ध आदि—मे समाप्तिपर्यन्त एक ही छन्द होता है। इस तरह हेमचन्द्र ने महाकाव्य की परिभाषा में कुछ नई सूचनायें देने के अतिरिक्त और कोई

1—छन्दोविशेषरचित प्राय संस्कृतादिभाषानिबद्धैर्भिन्नान्त्यवृत्तैर्यथासंख्यसर्गादिभिनिर्मित सुश्लिष्टमुखप्रतिमुखगर्भविमर्शनिर्वहणसंधिसुन्दर शब्दार्थ वैचित्र्योपेत महाकाव्यम् ।

उभयवैचित्र्य यथा—रसानुरूपसदर्भत्वम्, अर्थानुरूपच्छन्दस्त्वम्, समस्त लोकरजकत्वम्, सदलकारवाक्यत्वम्, देशकालपात्र चेष्टाकथान्तरानुषजनम्, मार्गद्वयानुवर्तन च, इति ।

प्रायोग्रहणात्संस्कृतभाषयाप्याश्वासकबन्धो हरिप्रबन्धादौ न दुष्यति । प्रायो ग्रहणादेव रावणविजय हरिविजय सेतुबन्धेष्वादित समाप्तिपर्यन्तमेकमेवच्छन्दो भवतीति । गलितकानि तु तत्र कैरपि विदग्धमानिभि क्षिप्तानीति तद्विदो भाषन्ते ।

हेमचन्द्र—काव्यानुशासन, आठवा अध्याय ।

मौलिकता नहीं दिखाई है। वस्तुत उनपर सस्कृत महाकाव्यो का ही प्रभाव अधिक दीखता है और प्राकृत अपभ्रश के रोमाचक और पौराणिक महाकाव्यों की विशेषताओं को ढूंढने और उनकी व्याख्या करने का प्रयत्न उन्होंने नहीं किया है, यद्यपि वे यह कार्य आसानी से कर सकते थे क्योंकि वे इन भाषाओं के वैयाकरण ओर पडित ही नहीं, उनके साहित्यकार और महाकवि भी थे।

विश्वनाथ कविराज—सस्कृत के परवर्ती अलकार शास्त्रो मे विश्वनाथ कविराज के साहित्यदर्पण म जितनी स्पष्टता और व्याख्यात्मकता है उतनी ओर किसी ग्रन्थ म नही। उसम पूर्ववर्ती सभी आचार्यो के मतो का समाहार कर लिया गया है पर विशेष रूप से दण्डी के काव्यादर्श की बातो को ही आदर्श मानकर मत निश्चित किये गये हैं। सम्भवत इसीलिए सस्कृत साहित्य की शिक्षा परम्परा और आलोचना पद्धति मे विश्वनाथ बहुत अधिक उद्धृत होते हैं। उन्होने महाकाव्य का जो परिभाषा दी है वह दण्डी का परिभाषा का विकसित और परिवर्द्धित रूप है[1]। उनके समय तक सस्कृत मे महाकाव्य का अर्थ कालिदास, भारवि, माघ और श्रीहर्ष के आदर्श पर रचित अलकृत महाकाव्य ही समझा जाने लगा था और चरित्र की महानता, सोद्देश्यता और कथावस्तु की महत्ता आदि गुणो को महाकाव्य का आवश्यक तत्त्व मानने की बात भुला दी गयी थी। यद्यपि

१—सर्गबन्धो महाकाव्य तत्रैको नायक सुर ॥३१५॥
सद्वश क्षत्रियो वापि धीरोदात्तगुणान्वित ।
एकवशभवा भूपा कुलजा बहवोपि वा ॥३१६॥
श्रृगारवीरशान्तानामेकोऽङ्गी रस इष्यते ।
अगानि सर्वेऽपि रसा सर्वे नाटकसधय ॥३१७॥
इतिहासोद्भव वृत्तमन्यद्वा सज्जनाश्रयम् ।
चत्वारस्तस्य वर्गा स्युस्तेष्वेक च फल भवेत् ॥३१८॥
आदौ नमस्क्रियाशीर्वा वस्तुनिर्देश एव वा ।
क्वचिन्निन्दा खलादीना सता च गुणकीतनम् ॥३१९॥
एकवृत्तमयै पद्यैरवसानेन्यवृत्तकै ।
नातिस्वल्पा नातिदीर्घा सर्गा अष्टाधिका इह ॥३२०॥
नानावृत्तमय क्वापि सर्ग कश्चन दृश्यते ।
सर्गान्ते भाविसर्गस्य कथाया सूचन भवेत् ॥३२१॥
सध्यासूर्येन्दुरजनीप्रदोषध्वान्तवासरा ।

विश्वनाथ कविराज ने प्राकृत अपभ्रश के महाकाव्यो की भी चचा की है पर केवल इतना कहकर रह गये है कि उनमे सर्ग की जगह क्रमश आश्वास और कुडवक का विधान होता है और प्राकृत मे स्कन्धक और गलितक तथा अपभ्रश म उसके योग्य अन्य विविध प्रकार के छन्दो का प्रयोग होता है। उन्होने यह भी कहा है कि महाकाव्य मे कम से कम आठ सर्ग होने चाहिये और सर्गो का नाम उसमे निबद्ध प्रसगों के अनुसार भी रखा जाना चाहिये। सर्ग और छन्द सम्बन्धी ये बाते बहुत ही ऊपरी हैं और उन्हे लक्षण रूप मे स्वीकार नहीं किया जा सकता। यही बात प्रारम्भ मे आशीवचन, मगलाचरण, वस्तुनिर्देश, सज्जन स्तुति, दुर्जन निन्दा आदि के बारे म भी है। यह अवश्य है कि सस्कृत प्राकृत अपभ्रश क महाकाव्यो म ये बाते रुढि के रूप मे स्वीकार कर की गयी थी पर यदि कोई स्वतन्त्र विचार और व्यक्तित्व वाला महाकवि उन रूढियो को मानकर नही चलता है, जैसा बहुतो ने किया है और जिनम से कुछ का उल्लेख हेमचन्द्र ने किया है, तो उसके महाकाव्य का सदोष नही कहा जा सकता बल्कि यह उसकी विशेषता ही कही जायगी।

विश्वनाथ कविराज की महाकाव्य सम्बन्धी मान्यता मोलिक नहीं, अनुकृत, ऊपरी और महाकाव्य की रूढियो से अधिक सम्बद्ध है, उसके मूल तत्त्वो से नहीं। उन्होने अपनी परिभाषा म दण्डी से जो भिन्न और नयी बाते जोडी हैं, वे भी तात्त्विक नही हैं। वे ये हैं—

प्रातर्मध्याह्नमृगयाशैलर्तुवनसागरा ॥३२२॥
सभोगविप्रलम्भौ च मुनिस्वर्गपुराध्वरा ।
रणप्रयाणोपयममन्त्रपुत्रोदयादय ॥३२३॥
वर्णनीया यथायोग साङ्गोपाङ्गा अमी इह ।
कवेर्वृत्तस्य वा नाना नायकस्येतरस्य वा ॥३२४॥
नामास्य, सर्गोपादेयकथया सर्गनाम तु ।
अस्मिन्नार्षे पुन सर्गा भवन्त्याख्यानसज्ञका ॥३२५॥
प्राकृतैर्निर्मिते तस्मिन्सर्गा आश्वाससज्ञका ।
छन्दसा स्कन्धकेनैतत्क्वचिद्गलितकैरपि ॥३२६॥
अपभ्रशनिबद्धेस्मिन्सर्गा कुडवकाभिधा ।
तथापभ्रशयोग्यानि च्छन्दासि विविधान्यपि ॥३९७॥
भाषाविभाषानियमात्काव्य सर्गसमुत्थितम् ।
एकार्थप्रवणै पद्यै सन्धिसामग्र्यवर्जितम् ॥३२८॥

विश्वनाथ कविराज–साहित्यदर्पण, षष्ठपरिच्छेद ।

१—महाकाव्य का नायक सद्वंश क्षत्रिय या देवता होता है पर एक वंश के अनेक राजा या अनेक कुलीन राजा भी एक ही महाकाव्य मे नायक के रूप मे रखे जा सकते हैं। दण्डी ने इस तरह की वंश वर्ण सम्बन्धी कोइ शर्त नही रखी है। उन्होने केवल उसका सदाश्रय, चतुर और उदात्त होना आवश्यक माना है।

२—दण्डी ने 'रसभाव निरन्तरम्' मात्र कहा था। उसे सीमित करके विश्वनाथ ने केवल तीन रसो—शृंगार, वीर और शान्त—मे से किसी एक का अंगी होना आवश्यक कर दिया है। यद्यपि इन तीन रसो वाले महाकाव्य ही अधिक मिलते हैं, फिर भी सीमा बाँधने की कोई आवश्यकता नही थी, शान्त और करुण रस प्रधान महाकाव्य भी हैं और हो सकते हैं।

३—दण्डी ने महाकाव्य के सर्गो की संख्या नही निर्धारित की थी। विश्वनाथ ने कम से कम आठ सर्गो का होना आवश्यक मान लिया। दण्डी की यह बात कि प्रत्येक सर्ग में एक ही छन्द होना चाहिये, मानते हुए भी उन्होने यह भी कह दिया है कि कुछ महाकाव्यो मे एक ही सर्ग मे नाना छन्दो का प्रयोग भी देखा जाता है। यह मान लेने के बाद फिर यह महाकाव्य का लक्षण नहा रह जाता।

४—सर्गों की लम्बाई के सम्बन्ध मे दण्डी ने इतना ही कहा था कि वे अतिविस्तीर्ण न हो क्योकि उससे नाटक की सन्धियो की योजना अर्थात् कथानक के संघटन मे बाधा पडेगी। विश्वनाथ ने उसमे इतना और जोड दिया कि वे बहुत बडे तो न हो पर बहुत छोटे भी न हो। पर साथ ही उन्होने अपभ्रंश के काव्यम सर्ग की जगह कडवक का प्रयाग होना बताया है जबकि हेमचन्द्र ने उसका नाम सन्धि दिया है। कडवक को सर्ग नही, पद (स्टेन्जा) कहा जा सकता है, जैसे रामचरितमानस मे चौपाइयो के बाद एक दोहा होता है, और सबको मिलाकर एक दोहा ही कहा जाता है।

५—उन्होंने महाभारत को भी महाकाव्य माना है पर वे उसे आर्ष महाकाव्य कहते हैं अथात् उसके आदर्श पर प्राकृत जनो द्वारा महाकाव्य की रचना नहीं होनी चाहिये। उसमे उन्होने सर्ग की जगह आख्यान शब्द का प्रयोग होना स्वीकार किया है। पर यदि आख्यान ही सर्ग हैं तो फिर महाभारत के पर्व क्या हैं? उसी तरह रामायण में तो केवल सात ही काण्ड हैं। वह महाकाव्य कैसे हो सकता है? अत उसके प्रत्येक काण्ड मे जो सर्ग हैं उन्हे ही शास्त्रीय महाकाव्यो के सर्ग का रूप मान कर विश्वनाथ के मत से रामायण को महाकाव्य कहा जा सकता है।

६—प्रकृति चित्रण और जीवन व्यापार वर्णन के सम्बन्ध मे दण्डी की कही

बाते गिनाने के बाद विश्वनाथ ने जो महत्वपूर्ण बात कही है, वह यह है कि उनके निर्दिष्ट वस्तु व्यापारो की सख्या को ओर भी बढाया जा सकता है (मत्रपुत्रोदयादय) पर उनका वर्णन यथायोग और सागोपाग होना चाहिये। पर दण्डी की और उनकी गिनाई बातें ही रूढि रूप मे स्वीकार कर ली गया ओर परवता महाकाव्यो का वस्तु व्यापार वर्णन उस सूची के बाहर बहुत कम गया है, और जो वर्णन हुआ है वह भी 'यथायोग' नहीं, बलपूर्वक अनावश्यक रूप से महाकाव्य की शर्तें पूरी करने की दृष्टि से हुआ है।

यह हिन्दी साहित्य का दुभाग्य रहा है कि यद्यपि उसके अविकाश मूल्यवान साहित्य फा मूल स्रोत प्राय प्राकृत अपभ्रश का साहित्य था पर उसका साहित्यशास्त्र प्रारम्भ से ही सस्कृतसाहित्यशास्त्र का अन्व अनुकरण करता रहा है। इसका यह अर्थ नही कि हिन्दी साहित्य पर सस्कृत साहित्य का प्रभाव पडा ही नही है, बहुत अधिक पडा है, पर उसका सहज विकास सस्कृत की ओर से नही प्राकृत अपभ्रश की ओर से हुआ है। अत हिन्दी के काव्य रूपो का विवेचन प्राकृत अपभ्रश के आधार पर विशेष रूप से होना चाहिये, केवल सस्कृत के अलकार शास्त्रा के आधार पर नही। महा काव्य की जो परिभाषा सस्कृत के आचार्यों ने दी है वह मूलत सस्कृत के महाकाव्यों को देख कर ही बनाई गयी है। यह दूसरी बात यह है कि किसी किसी ने प्राकृत अपभ्रश के महाकाव्यो की कुछ ऊपरो बातो की भी चर्चा कर दी है। केवल रुद्रट ने महाकाव्य को ऐसी व्यापक परिभाषा दी है जो सभी प्रकार के और सभी साहित्यो के महाकाव्यो के प्रमुख तथा अनिवार्य लक्षणा का निर्देश करती है। प्राकृत अपभ्रश के महाकाव्या के रूप तत्त्व की विवेचना अगले अध्याय मे की जायगी। महाकाव्य सम्बन्धी प्राचीन भारतीय मान्यताओ को, जिन्हे विभिन्न आचार्यों ने विभिन्न रूपों में स्वीकार किया और विभिन्न शब्दावली मे व्यक्त किया है, एक सूत्र मे पिरो कर और एक साथ रख कर देखने ओर उनके अभिप्राय का पता लगाने पर महाकाव्य के ये प्रमुख तत्त्व दिखाई पडते हैं —

१—कथानक —

(क) भारतीय मान्यता के अनुसार कथानक असक्षित अथात् न बहुत लम्बा और न बहुत छोटा हाना चाहिये।

(ख) वह सगबद्ध होना चाहिए जिससे नाटक की सन्धियों की पद्धति सरलता पूर्वक अपनाई जा सके। नाटक की सन्धियां की योजना का उद्देश्य यह है कि महाकाव्य का कथानक इतिहास पुराण की तरह बिखरा हुआ और अस यमित न रहे जिससे समन्वित प्रभाव उत्पन्न हो सके।

(ग) उसमे कोई महती घटना होनी चाहिये जिस पर पूरी कथा आधारित हो। इसी को नायक का अभ्युदय कहा गया है। उसी प्रधान घटना की ओर अन्य अप्रधान घटनाओ का प्रवाह होना चाहिये। हर दशा मे महाकाव्य मे कार्यो या सक्रियता (एक्शन) की प्रधानता होनी चाहिये। रुद्रट को छोड अन्य लोगो ने इधर अधिक ध्यान नही दिया है।

(घ) अवा तर कथाये—मूल कथा के अतिरिक्त विकसनशील महाकाव्यो तथा कुछ अलकृत महाकाव्यों मे अनेक अवान्तर कथाये भी होती हैं। पर रुद्रट और हेमचन्द्र को छोडकर अ य किसी आचार्य ने अवान्तर कथाओं का होना आवश्यक नही माना है। अवा तर कथाये महाकाव्य की जीवन्तता और लोक-सम्पृक्तता का सकेत करती हैं क्योंकि कथा के भीतर कथा रखने की प्रवृत्ति विशेष रूप से लोककथाओ, लोकगाथाओं और पुराणो मे देखी जाती हैं। प्राकृत अपभ्रश और हिन्दी के अधिकाश महाकाव्यो मे लम्बी लम्बी अवान्तर कथाये मिलती हैं, पर इसे लक्षण रूप मे नहीं माना जा सकता।

(ङ) कथा उत्पाद्य, अनुत्पाद्य और मिश्र, तीन प्रकार की हो सकती है, पर अधिकतर उसे अनुत्पाद्य और मिश्र अर्थात् इतिहास पुराण, निजन्धरी आख्यान और लोककथा—लोकगाथा पर आधारित होना चाहिए ताकि पाठको श्रोताओं का चित्त घटनाचक्र मे न उलझ कर वर्णन सौन्दर्य और रस परिपाक का आनन्द सहजता से प्राप्त कर सके। उत्पाद्य कथानक मे कथा प्रवाह ही प्रधान हो जाता है और कलात्मक सौन्दर्य गौण। इसीलिए रुद्रट को छोडकर अन्य आचार्यो ने इसे नही स्वीकार किया है।

२—चरित्र —

(क) भारतीय दृष्टि से महाकाव्य का दूसरा प्रधान तत्त्व नायक है। उसे धीरोदात्त, सद्वशोत्पन्न अथवा क्षत्रिय या देवता होना चाहिये। रुद्रट को छोड अन्य आचार्यो ने नायक की महानता, वीरता, नीतिकुशलता आदि गुणों की ओर अधिक ध्यान नही दिया है। रुद्रट के अनुसार नायक त्रिवर्णो म से किसी वर्ण का और दण्डी के अनुसार कोई भी धीरोदात्त चतुर व्यक्ति हो सकता है। विश्वनाथ के अनुसार एक वश के कई राजा या उच्च कुलों मे उत्पन्न अनेक राजा महाकाव्य के नायक हो सकते हैं। पर सच पूछा जाय तो अनेक नायकों वाली कथा में वह अन्विति नहीं रह सकती जो एक नायक वाला कथा में होता है। ऐसे महाकाव्य प्रशस्तिमूलक और ऐतिहासिक धार्मिक होते हैं और उन्हे कथानक की दृष्टि से उच्च कोटि का महाकाव्य नही माना जा सकता।

(ख) नायक के बाद प्रधान भूमिका प्रतिनायक की होती है। उसके बिना कोई भी सघर्षमूलक महती घटना नही घट सकती। किन्तु रुद्रट को छोड अन्य किसी आचार्य ने उसकी चचा नही की है। रुद्रट का कहना है कि प्रतिनायक को भी नायक के समान ही बल गुण वाला होना चाहिये और उसके कुल का भी वर्णन होना चाहिये।

(ग) नायक प्रतिनायक के अतिरिक्त भी महाकाव्य मे न जाने कितने पात्र होते हैं, पर भारतीय आचार्यो ने उनके सम्बन्ध मे बिल्कुल नही अथवा बहुत कम विचार किया है। अधिक से अधिक इतना ही कहा है कि मत्र दूत प्रयाण की चर्चा होनी चाहिये अर्थात् मत्री, सहायक, दूत, सेना, सेनापति, शासक, रानियाँ, दास, दासियाँ इन सब का महाकाव्य मे आवश्यकता होती है। पर इन पात्रो को कैसा होना चाहिये, इस सम्बन्ध मे भारतीय साहित्य शास्त्र मौन हैं। केवल रुद्रट ने राजा, वीरो, मत्रियो और शत्रुओ के स्वभाव के सम्बन्ध म कुछ चर्चा की है। नायिकाओ की चचा तो किसी ने नहा की है।

३—**वस्तु व्यापार और परिस्थिति वर्णन** —भारतीय आचार्यों ने महाकाव्य मे वस्तु व्यापार-वर्णन पर बहुत अधिक जोर दिया है। अलकृत महाकाव्य का यही प्रधान लक्षण है कि उसमे घटना प्रवाह चाहे क्षीण हो पर अलकृत वर्णनो की प्रधानता होनी चाहिए। इसीलिए आचार्यो ने विभिन्न प्रकार की वस्तुओ, परिस्थितियो और व्यापारो का वर्णन आवश्यक माना है, वे ये हैं —

(क) प्रकृति चित्रण—सध्या, प्रभात, मध्याह्न, रात्रि, वन, सूर्य चन्द्र, नदी, पर्वत, मरु, समुद्र, द्वीप, द्वीपान्तर आदि प्राकृतिक वस्तुओं का यथायोग सागोपाग और अलकृत वर्णन।

(ख) जीवन के विभिन्न व्यापारो और परिस्थितिया का चित्रण—जैसे प्रेम, विवाह, मिलन, कुमारोदय, सगीत-समाज, मधुपान गोष्ठी, राजकाज, मत्रणा, दूत प्रेषण, यज्ञ, सैनिक अभियान, स्कन्धावार, व्यूहरचना, नगरावरोध, युद्ध, नायक की विजय आदि। इस सम्बन्ध मे यह पहले ही कहा जा चुका है कि रुद्रट को छोड अन्य आचार्यों ने जीवन के समग्र रूप को महाकाव्य म चित्रित करने पर अधिक बल नहीं दिया है। उन्होने कुछ प्रधान व्यापार ही गिना दिये हैं जो अलकृत महाकाव्यो मे पाये जाते हैं। रुद्रट ने जीवन क इतने अधिक व्यापारों और अवस्थाओ तथा देश काल आदि की गणना की है कि उन सब को अलकृत महाकाव्यो मे सागोपाग रूप म नहीं रखा जा सकता। अत यह स्पष्ट है कि रुद्रट की परिभाषा रामायण महाभारत और प्राकृत अपभ्रंश के

चरितकाव्यो को देखकर बनाई गई है। समग्र युग-जीवन का चित्रण इतने अधिक व्यापारो और परिस्थितियो को ग्रहण किये बिना सम्भव नही है।

४—रस और भाव व्यजना—भारतीय आचार्यों के मत के अनुसार महाकाव्य म रस की योजना अवश्य होनी चाहिये। उसम सभी रस होने चाहिएँ पर शृगार वीर शान्त म से कोई प्रधान होना चाहिये। रस की उत्पत्ति पात्रो और परिस्थितियो के सम्पर्क सघर्ष और क्रिया प्रतिक्रिया से होती है। अत किस परिस्थिति मे किसी पात्र के मन म क्या प्रतिक्रिया होती है, उसकी मानसिक अवस्थाएँ किस स्थिति म कैसी होती हैं, इसका चित्रण आवश्यक हो जाता है। आचार्यो ने इस सम्बन्ध म बस इतना ही कहा है कि महाकाव्य मे रस होना चाहिये अथवा सभोग विप्रलम्भ, युद्ध आदि का चित्रण होना चाहिये। उन्होने उसका विश्लेषण नही किया है। सम्भवत इसलिए कि अलकार शास्त्रो मे रस विवेचना पर अलग से बहुत अधिक विचार किया गया है और महाकाव्य के प्रसग म उसे दुहराने की आवश्यकता नही समझी गयी। लक्षण ग्रन्थो को देखकर महाकाव्य लिखने वालो ने आचार्यो के इस अभिप्राय को नहीं समझा और वे गिनाये लक्षणों का यत्रवत प्रयोग करने लगे। रस योजना का अभिप्राय पात्र और परिस्थिति के चित्रण के साथ मानसिक अवस्थाओ का सन्तुलित वर्णन करना भी है। वाल्मीकि और कालिदास मे घटना प्रवाह, वस्तु-व्यापार योजना और भाव व्यजना के समन्वय की अद्भुत शक्ति थी। पर परवर्ता कवियो ने लक्षण ग्रन्थो के अत्यधिक प्रभाव के कारण उनका असन्तुलित प्रयोग किया। नाटक के समान महाकाव्य मे भी भावव्यजना प्रधान तत्त्व है, पर यहाँ उसकी अभिव्यक्ति सवाद रूप मे ही नहीं, कवि द्वारा वर्णन रूप म भी होनी है। भाव-व्यजना के प्रकार और शैली के सम्बन्ध मे भारतीय आलकारिकों ने महाकाव्य पर विचार करते समय अधिक कुछ नहीं कहा है।

५—अलौकिक और अतिप्राकृत तत्त्व—मानव मात्र के हृदय मे प्रतिष्ठित धार्मिक वृत्तिया, पौराणिक और निज धरी विश्वासो और आश्चय तथा औत्सुक्य की सहज प्रवृत्ति के कारण सभी देशो के प्राचीन महाकाव्यो म अलौकिक और अतिप्राकृत तत्त्व पाये जाते हैं। भारतीय महाकाव्यो मे भी उनकी कमी नही है। पर आलकारिको ने उनके सम्बन्ध म बहुत कम विचार किया है। विश्वनाथ ने इस सम्बन्ध मे इतना ही कहा है कि महाकाव्य म देवता भी नायक हो सकते हैं और उसम मुनि और स्वर्ग का भी वर्णन होना चाहिये। देवता तो अलौकिक होते ही हैं, मुनि भी अलौकिक शक्ति वाले होते हैं और स्वर्ग भी अलौकिक या काल्पनिक ही होता है। रुद्रट ने महाकाव्य म अतिप्राकृत और अलौकिक तत्त्वो

का होना तो आवश्यक माना है पर यह भी कहा है कि मानव ऐसे अलौकिक या अतिप्राकृत कार्य अपनी शक्ति से नही कर सकते। अत पवत समुद्र आदि के लघन और सारी पृथ्वी का भ्रमण वह अपनी शक्ति से नहीं कर सकता। देवता, किन्नर, ग धव, यक्ष, विद्याधर, अप्सरा आदि अलौकिक और अतिप्राकृत कार्य आसानी से करते हैं। अत महाकाव्य मे ये कार्य उन्ही से कराने चाहिये और यदि मानव से कराना ही हो तो देवतादिको की सहायता से कराना चाहिये। इससे भी मालूम होता है कि रुद्रट ने महाकाव्य की परिभाषा निश्चित करते समय रामायण महाभारत और रोमाचक कथा काव्यो को ध्यान मे रखा था।

६—शैली—महाकाव्य की शैली के कुछ अवयवो के सम्बन्ध मे तो भारतीय आलकारिको ने पयाप्त विचार किया है और कुछ को बिलकुल छोड दिया है। महाकाव्य की शैली का मूल तत्त्व उसकी गरिमा या गम्भीरता है जो कथावस्तु और पात्रा की महत्ता पर और उससे भी अधिक कवि की महाप्राणता पर निर्भर करती है। पर इस तत्व पर आलकारिको ने विचार नही किया है। शैली के जिन बाह्य तत्वों पर उन्होने विचार किया है वे ये हैं —

(क) महाकाव्य के सर्ग न बहुत बडे हो न बहुत छोटे। विश्वनाथ को छोड अन्य आचाया ने सर्गो की सख्या नहीं निर्धारित की है। सर्गो का नाम विश्वनाथ के अनुसार उसमे वर्णित कथा के आधार पर रखना चाहिये। पर अधिकाश महाकाव्यो मे सर्गो की सख्या ही मिलती है नाम नहीं मिलता, अत यह लक्षण नही हो सकता। सस्कृत, प्राकृत और अपभ्रश मे उनके नाम क्रमश सर्ग, आश्वासक, और सन्धि (विश्वनाथ के अनुसार सन्धि नहीं कडवक) होते हैं। पर यह भी बहुत ऊपरी बात है। सर्ग के अन्त मे दूसरे सर्ग की कथा की सूचना देने को भी रूढि थी जिसे विश्वनाथ ने लक्षण मान लिया है।

(ख) विश्वनाथ के अनुसार महाकाव्य का नामकरण कवि अथवा कथावस्तु (वृत्त) या चरितनायक के नाम पर होना चाहिये। पर यह बन्धन महा कवियों को सदा मान्य कैसे हो सकता है? देश, काल, प्रधान भाव आदि के नाम पर भी तो महाकाव्यो का नामकरण हुआ है और हो सकता है। अत नामकरण के सम्बन्ध मे कोई लक्षण नहीं निधारित किया जा सकता।

(ग) महाकाव्य का आदि कैसा हो और अन्त कैसे किया जाय, इस बारे मे भी कवि को पूरी छूट होनी चाहिये। सस्कृत अलकार-ग्रन्थो मे आशीर्वचन,

मगलाचरण, इष्ट देवता को नमस्कार, वस्तु निदश या कथा की प्रस्तावना का विधान दिया गया है। पर सस्कृत के ही अनेक महाकाव्यो मे ये बाते नही पाई जातीं जैसे कुमारसभव शिशुपालवध आदि। अन्त के सबध मे रुद्रट ने लिखा है कि नायक का अभ्युदय अन्त मे होना चाहिये। ऐसा होना उचित भी है क्योंकि वही कथा का चरमोत्कर्ष होता है और उसके बाद कुछ भी लिखने या वर्णन करने से महाकाव्य की प्रभावान्विति मे बाधा पडेगी। पर हेमचन्द्र प्राकृत अपभ्रश के महाकाव्यो के आधार पर अन्त मे उपसहारात्मक वर्णन आवश्यक मानते हैं उनके अनुसार उसमे कवि को अपना अभिप्राय, अपना और अपने इष्ट का नाम और मगलवाची वाक्या का उपयोग करना चाहिये (स्वाभिप्रायस्वनामेष्टनाममगलाकित समाप्तित्वम्)।

(घ) परवर्ती महाकाव्यो की एक प्रधान रूढि यह हो गयी थी कि उनमे आदि मे ही प्रस्तावना के रूप मे सज्जन प्रशसा, दुजन निन्दा, कवियों की प्रशसा, नायक के वश की प्रशसा, अपना प्रयाजन आदि का विधान रहता था। इस सम्बन्ध मे भामह और दण्डी ने कोई लक्षण नहीं बनाया जो उचित ही था। पर बाद के महाकाव्यों को देखकर रुद्रट, हेमचन्द्र और विश्वनाथ ने ये लक्षण दिये हैं —

रुद्रट—आदि में सन्नगरी वर्णन, नायक वश प्रशसा होनी चाहिये।

'तत्रोत्पाद्ये पूर्वं सन्नगरीवणन महाकाव्ये।
कुर्वीत तदनुतस्या नायक वश प्रशसा च ॥'

हेमचन्द्र—आशीवचन, नमस्कार, वस्तु निर्देश, उपक्रम के साथ ही वक्तव्य अर्थ का प्रतिज्ञान, उसके प्रयोजन का प्रकाशन, कवि प्रशसा, सज्जन-दुजन का स्वभाव चित्रण आदि होना चाहिये।

'आशीर्नमस्कारवस्तुनिर्देशोपक्रमत्वम्, वक्तव्यार्थतत्प्रतिज्ञानतत्प्रयोजनोपन्यास कविप्रशसासुजनदुजनस्वरूपवदादिवाक्यत्वम्'

विश्वनाथ—इन्होंने केवल खल निन्दा आर अच्छे आदमियो का गुणकीर्तन करने की बात कही है, अन्य की चर्चा नहीं की है।

'क्वचिन्निन्दा खलादीना सता च गुणकीर्तनम्'

सस्कृत से अधिक प्राकृत और अपभ्रश के प्रबन्ध काव्यों मे प्रस्तावना और उपसहार सम्बन्धी इन रूढिया का पालन हुआ है।

(ङ) छन्द—छन्द के सम्बन्ध म भामह और रुद्रट ने कुछ नही कहा है। पर दण्डी ने जो लक्षण लिख दिया, बाद के सभी आचार्यों ने उसे ही दुहराया

है। दण्डी का कहना है कि महाकाव्य मे श्राव्यवृत्तो अर्थात् पढने सुनने मे रम्य छन्दो का प्रयोग होना चाहिये, प्रत्येक सर्ग मे एक ही छ द का प्रयोग और सर्ग के अ त म उसे बदल कर भिन्न छ द का प्रयोग होना चाहिये (सवत्रभिन्नवृत्ता तैरुपेत लोकरंजनम्)। हेमचन्द्र ओर विश्वनाथ ने भी यही बात दुहराई है पर विश्वनाथ ने इतना और जोड दिया है कि किसी किसी महाकाव्य मे नाना छ द वाले सर्ग भी देखे जाते हैं। इसका अर्थ हुआ कि यह महाकाव्य का सामा य लक्षण नही है। इस सम्बन्ध मे हेमचन्द्र ने 'उभयवैचित्र्य' शब्द की व्याख्या करते हुए कहा है कि अर्थ के अनुरूप छ द योजना (अर्थानुरूप छ दस्त्वम्) होनी चाहिये। पर यह तो महाकाव्य का ही नही, काव्य मात्र का लक्षण है।

(च) अलकार—रुद्रट और विश्वनाथ के अतिरिक्त अन्य सभी आचार्यो ने महाकाव्य म अलकारो का होना एक लक्षण माना है। भामह ने महाकाव्य का 'सालकार' होना और दण्डी ने 'अलकृत' होना आवश्यक कहा है। हेमचन्द्र ने कुछ और स्पष्टता के साथ कहा है कि महाका य अच्छे अलकारो से युक्त होना चाहिये। ध्यान देने की बात यह है कि प्रारम्भिक या विकसनशील महाकाव्यो–महाभारत–रामायण–म अलकार योजना पर बहुत अधिक ध्यान नही दिया गया है यद्यपि उनमे भी अल कारो की कमी नही है। कालिदास ने भी अलकारो के लिए अलकारो का प्रयोग नही किया है। उनके महाकाव्यो म कथा प्रवाह, चरित्र चित्रण और भाव-व्यजना के साथ वस्तुव्यापार वर्णन ओर अलकार-योजना का ऐसा सुदर सामजस्य हुआ है कि अलकार या वस्तुवर्णन अलग से जोडे या चिपकाये हुए नही प्रतीत होते। बाद के महाकाव्यो मे वाग्वैदग्ध्य, पाण्डित्य और आचार्यत्व अधिक दिखलाइ पडता है, सहज काव्य प्रतिभा कम। काव्य के अन्य क्षेत्रो की तरह परवर्ती काल म दरबारी प्रभाव के कारण महाकाव्यो मे भी अलकृति बहुत अधिक होने लगी। अत यह आश्चर्य ही है कि विश्वनाथ ने अलकृति को महाकाव्य का लक्षण क्यो नहीं माना।

(छ) भाषा—महाकाव्य की भाषा के सम्बन्ध मे अलकार शास्त्रों म बहुत कम कहा गया है क्योकि उनमें अन्यत्र शब्द शक्तियों पर बहुत अधिक विचार किया गया है और यह मान लिया गया है कि जो महाकवि होगा वह भाषा पर अपेक्षित अधिकार अवश्य रखता होगा। केवल भामह ने इतना कहा है कि महाकाव्य मे ग्राम्य शब्दों और अर्थो का प्रयोग नहीं होना

चाहिए अर्थात् उसम शिष्ट नागर जनो की भाषा प्रयुक्त होनी चाहिये। हेमच द्र ने महाकाव्य मे 'समस्तलोकरजकत्व' गुण आवश्यक माना है जिसका अर्थ यह है कि उसकी भाषा सरल और सर्वबोधगम्य अवश्य होनी चाहिए, तभी उससे सबका मनोरजन हो सकेगा। महाभारत रामायण और किसी सामातक कालिदास के महाकाव्यो मे भाषा का यह गुण दिखाई पडता है। पर बाद के महाकवियो ने बहुत ही क्लिष्ट, समास बहुल और अतिशय अलकृत भाषा का प्रयोग किया है। कुछ ने तो श्लिष्ट भाषा के प्रयोगों द्वारा द्वयर्थक काव्यों की और शास्त्र ज्ञान दिखाने के लिए शास्त्र का यो की भी रचना कर डाली है। महाकाव्य की गरिमामयी उदात्त शैली के अनुरूप उसकी भाषा भी गम्भीर अवश्य होनी चाहिए। पर गम्भारता का अर्थ अतिशय अलकृति या भाषा दुरूहता नहीं है, क्याकि इससे पाठक का मन भाषा की समस्याये सुलझाने मे ही उलझ जाता है। महाकाव्यो पर विचार करते समय आचाया ने इन प्रश्न पर विचार नही किया है।

(ज) **रूप-सघटन**—महाकाव्य का रूप अन्य काव्य रूपो से भिन्न है, पर किससे कितना भिन्न है या कहाँ से उसने क्या तत्त्व लिया है, इस सम्बन्ध मे आलकारिको ने बहुत कम विचार किया है। इतना तो सबने कहा है कि उसमे नाटक की पाँचो सधियाँ होती हैं और नाटक के अङ्क विभाजन की तरह इसमे भी सर्ग विभाजन होता है। पर नाटक के मूल तत्त्वा से महा काव्य के मूल तत्त्वों का क्या साम्य या वैषम्य है, इस सम्बन्ध मे विचार नहीं किया गया है। महाकाव्य के रूपगठन मे नाटक, गीतिकाव्य, कथा आख्यायिका और इतिहास पुराण, सबसे कुछ न कुछ तत्त्व ग्रहण किये गये हैं। भारतीय आचायो ने नाटक की पच सधियो को ग्रहण करना इसलिए आवश्यक माना है कि उसके कथानक मे विशृखलता न रहे और वह इतिहास-पुराण से भिन्न शैली का हो सके तथा उनसे अधिक समन्वित प्रभाव उत्पन्न कर सक। इतिहास पुराण से कथावस्तु लेने पर भी उसम बहुत सी बाते कवि कल्पित होती हैं जिसके सम्बन्ध म अरस्तू की तरह ही रुद्रट ने भी कहा है —

पजरामितिहासादिप्रसिद्धमखिल तदेकदेश वा।
परिपूरयेत्स्ववाचा यत्र कविस्ते त्वनुत्पाद्या ॥

काव्यालंकार—अ० १६, श्लोक ४।

अन्य आचार्य 'इतिहासकथोद्भूतम्' या 'इतिहासोद्भवम्' कहकर ही सन्तुष्ट हो गये पर रुद्रट ने यह भी बताया कि इतिहास, पुराण, कथा आदि से गृहीत कथानक से उसका कथा पजर ही लिया जा सकता है, शेष बातें तो कवि अपनी कल्पना और वाणी से, रक्त मास की तरह, उस कथा पजर मे भर कर महाकाव्य के सुगठित शरीर का निर्माण करेगा और ऐसा कथानक भी अनुत्पाद्य ही कहा जायगा। रुद्रट ने लिखा है कि महाकाव्य मे पूर्णतया उत्पाद्य या कल्पित कथानक भी होता है जिसे अन्य आचार्यो ने स्वीकार नही किया। रुद्रट के इस लक्षण को मान लेने पर महाकाव्य शैली मे निमित अनेक सगवद्ध पद्यात्मक कथा आख्यायिकाओ को भी महाकाव्य म ना जा सकता है। प्राकृत अपभ्रश के बहुत से प्रबन्धकाव्य इस प्रकार के है जैसे 'भविसयत्तकहा' 'करकण्ड चरिउ' आदि। इसे मानने पर यह भी मानना होगा कि महाकाव्य के रूपगठन मे रोमाचक कथा आख्यायिका के अनेक तत्त्वो का सम्मिश्रण हुआ है। उसी तरह गीतिकाव्य का प्रधान गुण कवि द्वारा विचारों और भावो की व्याख्या करना है अथात् यह विषयिप्रधान काव्य रूप है। बाद के महाकाव्यो में यह बात बहुत अधिक दिखाई पडती हैं। इनमे कथा प्रवाह तो क्षीण होता है, कवि के विचारो और भावो की अभिव्यक्ति अधिक होती है। महाकाव्य ने गीतिकाव्य के इसी तत्त्व को ग्रहण किया है। गीतिकाव्य के छन्द गेय होते हें और महाकाव्यो मे भी गेयता होती है। शायद इसीलिये दण्डी ने उनम 'श्राव्य' छन्दो का प्रयोग करने की सलाह की है। भारतीय आलकारिको ने इस सम्बन्ध मे विशेष विचार नहीं किया है।

७—उद्देश्य—महाकाव्य का कोई उद्देश्य होता है या नहीं, और होता है तो वह क्या है, इस सम्बन्ध मे आचायो ने स्पष्ट रूप से कुछ नही कहा है, पर प्रकारान्तर से उन्होने जो बाते कही हैं उनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि महाकाव्य म कोई न कोई महान उद्देश्य रहना चाहिये। स्पष्ट शब्दों म उन्होने इतना ही कहा है कि महाकाव्य का लक्ष्य धम, अर्थ, काम, मोक्ष इन फलो की प्राप्ति है। दण्डी, रुद्रट और हेमचन्द्र सभी पुरुषार्थो को लक्ष्य मानते हें पर विश्वनाथ किसी एक को। रुद्रट ने तो स्पष्ट शब्दो मे कहा है कि लघु प्रबन्धकाव्य (खण्ड काव्य) मे कोई एक पुरुषार्थ लक्ष्य होता है और महाकाव्य का उद्देश्य सभी पुरुषार्थो की प्राप्ति है[१]। यदि चतुर्वर्ग फल की प्राप्ति ही लक्ष्य है तो फिर रस

१—दण्डी—चतुर्वर्गफलायत्त चतुरोदात्त नायक—काव्यादर्श, १—१५।

हेमचन्द्र—चतुर्वर्गफलोपायत्वम्, काव्यानुशासन, आठवॉ अध्याय

अथवैचित्र्यम्—

चाहिए अर्थात् उसमे शिष्ट नागर जना की भाषा प्रयुक्त होनी चाहिये। हेमच द्र ने महाकाव्य मे 'समस्तलोकरजकत्व' गुण आवश्यक माना है जिसका अर्थ यह है कि उसकी भाषा सरल और सर्वबोधगम्य अवश्य होनी चाहिए, तभी उससे सबका मनोरजन हो सकेगा। महाभारत रामायण और किसी सीमातक कालिदास के महाकाव्यो मे भाषा का यह गुण दिखाई पडता है। पर बाद के महाकवियो ने बहुत ही क्लिष्ट, समास बहुला और अतिशय अलकृत भाषा का प्रयोग किया है। कुछ ने तो श्लिष्ट भाषा के प्रयोगों द्वारा द्व्यर्थक काव्यों की और शास्त्र ज्ञान दिखाने के लिए शास्त्र काव्यो की भी रचना कर डाली है। महाकाव्य की गरिमामयी उदात्त शैली के अनुरूप उसकी भाषा भी गम्भीर अवश्य होनी चाहिए। पर गम्भीरता का अर्थ अतिशय अल्कृति या भाषा दुरूहता नहीं है, क्याकि इससे पाठक का मन भाषा की समस्याये सुलझाने म ही उलझ जाता है। महाकाव्यो पर विचार करते समय आचाया ने इन प्रश्न पर विचार नही किया है।

(ज) **रूप-सघटन**—महाकाव्य का रूप अन्य काव्य रूपो से भिन्न है, पर किमसे कितना भिन्न है या कहाँ से उसने क्या तत्त्व लिया है, इस सम्बन्ध मे आलकारिको ने बहुत कम विचार किया है। इतना तो सबने कहा है कि उसमे नाटक की पाँचो सधियाँ होती हैं और नाटक के अक विभाजन की तरह इसमे भी सर्ग विभाजन होता है। पर नाटक के मूल तत्त्वों से महा काव्य के मूल तत्त्वों का क्या साम्य या वैषम्य है, इस सम्बन्ध मे विचार नहीं किया गया है। महाकाव्य के रूपगठन मे नाटक, गीतिकाव्य, कथा-आख्यायिका और इतिहास पुराण, सबसे कुछ न कुछ तत्त्व ग्रहण किये गये हैं। भारतीय आचार्यो ने नाटक की पच सधियो को ग्रहण करना इसलिए आवश्यक माना है कि उसके कथानक मे विशृखलता न रहे और वह इतिहास-पुराण से भिन्न शैली का हो सके तथा उनसे अधिक समन्वित प्रभाव उत्पन्न कर सके। इतिहास पुराण से कथावस्तु लेने पर भी उसम बहुत सी बाते कवि कल्पित होती हैं जिसके सम्बन्ध म अरस्तू की तरह ही रुद्रट ने भी कहा है —

पजरमितिहासादिप्रसिद्धमखिल तदेकदेश वा।
परिपूरयेत्स्ववाचा यत्र कविस्ते त्वनुत्पाद्या॥

काव्यालंकार–अ० १६, श्लोक ४।

अन्य आचार्य 'इतिहासकथोद्भूतम्' या 'इतिहासोद्भवम्' कहकर ही सन्तुष्ट हो गये पर रुद्रट ने यह भी बताया कि इतिहास, पुराण, कथा आदि से गृहीत कथानक से उसका कथा पजर ही लिया जा सकता है, शेष बातें तो कवि अपनी कल्पना और वाणी से, रक्त मास की तरह, उस कथा पजर मे भर कर महाकाव्य के सुगठित शरीर का निर्माण करेगा और ऐसा कथानक भी अनुत्पाद्य ही कहा जायगा। रुद्रट ने लिखा है कि महाकाव्य मे पूर्णतया उत्पाद्य या कल्पित कथानक भी होता है जिसे अन्य आचार्यो ने स्वीकार नही किया। रुद्रट के इस लक्षण को मान लेने पर महाकाव्य शैली मे निमित अनेक सगवद्ध पद्यात्मक कथा आख्यायिकाओ को भी महाकाव्य मना जा सकता है। प्राकृत अपभ्रश के बहुत से प्रबन्धकाव्य इस प्रकार के हैं जैसे 'भविसयत्तकहा' 'करकण्ड चरिउ' आदि। इसे मानने पर यह भी मानना होगा कि महाकाव्य के रूपगठन मे रोमाचक कथा आख्यायिका के अनेक तत्त्वो का सम्मिश्रण हुआ है। उसी तरह गीतिकाव्य का प्रधान गुण कवि द्वारा विचारो और भावो की व्याख्या करना है अथात् यह विषयिप्रधान काव्य रूप है। बाद के महाकाव्यो मे यह बात बहुत अधिक दिखाई पडती है। इनमे कथा प्रवाह तो क्षीण होता है, कवि के विचारो और भावो की अभिव्यक्ति अधिक होती है। महाकाव्य ने गीतिकाव्य के इसी तत्त्व को ग्रहण किया है। गीतिकाव्य के छद गेय होते हें और महाकाव्यो मे भी गेयता होती है। शायद इसीलिये दण्डी ने उनमे 'श्राव्य' छन्दो का प्रयोग करने की सलाह की है। भारतीय आलकारिको ने इस सम्बन्ध मे विशेष विचार नहीं किया है।

७—उद्देश्य—महाकाव्य का कोई उद्देश्य होता है या नहीं, और होता है तो वह क्या है, इस सम्बन्ध मे आचार्यों ने स्पष्ट रूप से कुछ नही कहा है, पर प्रकारान्तर से उन्होने जा बातें कही है उनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि महाकाव्य म कोई न कोई महान उद्देश्य रहना चाहिये। स्पष्ट शब्दो मे उन्होने इतना ही कहा है कि महाकाव्य का लक्ष्य धम, अर्थ, काम, मोक्ष इन फलो की प्राप्ति है। दण्डी, रुद्रट और हेमचन्द्र सभी पुरुपार्थों को लक्ष्य मानते हें पर विश्वनाथ किसी एक को। रुद्रट ने तो स्पष्ट शब्दो मे कहा है कि लघु प्रबन्धकाव्य (खण्ड काव्य) मे कोई एक पुरुषाथ लक्ष्य होता है ओर महाकाव्य का उद्देश्य सभी पुरुषार्थो की प्राप्ति है[1]। यदि चतुर्वर्ग फल की प्राप्ति ही लक्ष्य है तो फिर रस

१—दण्डी—चतुर्वर्गफलायत्त चतुरोदात्त नायक—काव्यादर्श, १–१५।
हेमचन्द्र—चतुर्वर्गफलोपायत्वम्, काव्यानुशासन, आठवाँ अध्याय
अथवैचित्र्यम्—

चाहिए अर्थात् उसमे शिष्ट नागर जनो की भाषा प्रयुक्त होनी चाहिये। हेमच द्र ने महाकाव्य मे 'समस्तलोकरजकत्व' गुण आवश्यक माना है जिसका अर्थ यह है कि उसकी भाषा सरल और सर्वबोधगम्य अवश्य होनी चाहिए, तभी उससे सबका मनोरजन हो सकेगा। महाभारत रामायण और किसी सामातक कालिदास के महाकाव्यो मे भाषा का यह गुण दिखाई पडता है। पर बाद के महाकविया ने बहुत ही क्लिष्ट, समास बहुला और अतिशय अलकृत भाषा का प्रयोग किया है। कुछ ने तो श्लिष्ट भाषा के प्रयोगों द्वारा द्वयर्थक काव्यों की और शास्त्र ज्ञान दिखाने के लिए शास्त्र काव्यो की भी रचना कर डाली है। महाकाव्य की गरिमामयी उदात्त शैली के अनुरूप उसकी भाषा भी गम्भीर अवश्य होनी चाहिए। पर गम्भीरता का अर्थ अतिशय अलकृति या भाषा दुरूहता नही है, क्याकि इससे पाठक का मन भाषा की समस्याय सुलझाने मे ही उलझ जाता है। महाकाव्यो पर विचार करते समय आचाया ने इन प्रश्न पर विचार नही किया है।

(ज) **रूप सघटन**—महाकाव्य का रूप अय काव्य रूपो से भिन्न है, पर किससे कितना भिन्न है या कहाँ से उसने क्या तत्त्व लिया है, इस सम्बन्ध म आलकारिको ने बहुत कम विचार किया है। इतना तो सबने कहा है कि उसमें नाटक की पाँचो सधियाँ होती हैं और नाटक के अक विभाजन की तरह इसमे भी सर्ग विभाजन होता है। पर नाटक के मूल तत्त्वों से महा काव्य के मूल तत्त्वों का क्या साम्य या वैषम्य है, इस सम्बन्ध मे विचार नहीं किया गया है। महाकाव्य के रूपगठन मे नाटक, गीतिकाव्य, कथा-आख्यायिका और इतिहास पुराण, सबसे कुछ न कुछ तत्त्व ग्रहण किये गये हैं। भारतीय आचार्यो ने नाटक की पच सधियो को ग्रहण करना इसलिए आवश्यक माना है कि उसके कथानक मे विश्रृखलता न रहे और वह इतिहास पुराण से भिन्न शैली का हो सके तथा उनसे अधिक समन्वित प्रभाव उत्पन्न कर सके। इतिहास पुराण से कथावस्तु लेने पर भी उसम बहुत सी बातें कवि कल्पित होती हैं जिसके सम्बन्ध म अरस्तू की तरह ही रुद्रट ने भी कहा है —

पजरामितिहासादिप्रसिद्धमखिल तदेकदेश वा।
परिपूरयेत्स्ववाचा यत्र कविस्ते त्वनुत्पाद्या॥

काव्यालंकार–अ० १६, श्लोक ४।

अन्य आचार्य 'इतिहासकथोद्भूतम्' या 'इतिहासोद्भवम्' कहकर ही सन्तुष्ट हो गये पर रुद्रट ने यह भी बताया कि इतिहास, पुराण, कथा आदि से गृहीत कथानक से उसका कथा पजर ही लिया जा सकता ह, शेष बाते तो कवि अपनी कल्पना और वाणी से, रक्त मास की तरह, उस कथा पजर मे भर कर महाकाव्य के सुगठित शरीर का निर्माण करेगा और ऐसा कथानक भी अनुत्पाद्य ही कहा जायगा। रुद्रट ने लिखा है कि महाकाव्य मे पूर्णतया उत्पाद्य या कल्पित कथानक भी होता है जिसे अन्य आचार्यो ने स्वीकार नही किया। रुद्रट क इस लक्षण को मान लेने पर महाकाव्य शैली मे निमित अनेक सर्गबद्ध पद्यात्मक कथा आख्यायिकाओ को भी महाकाव्य म ना जा सकता है। प्राकृत अपभ्रंश के बहुत से प्रबन्धकाव्य इस प्रकार के हैं जैसे 'भविसयत्तकहा' 'करकण्ड चरिउ' आदि। इसे मानने पर यह भी मानना होगा कि महाकाव्य के रूपगठन मे रोमाचक कथा आख्यायिका के अनेक तत्त्वो का सम्मिश्रण हुआ है। उसी तरह गीतिकाव्य का प्रधान गुण कवि द्वारा विचारों और भावो की व्याख्या करना है अथात् यह विषयिप्रधान काव्य रूप है। बाद के महाकाव्यो मे यह बात बहुत अधिक दिखाई पडती है। इनमे कथा प्रवाह तो क्षीण होता है, कवि के विचारो और भावो की अभिव्यक्ति अधिक होती है। महाकाव्य ने गीतिकाव्य के इसी तत्त्व को ग्रहण किया है। गीतिकाव्य के छन्द गेय होते हें और महाकाव्यो मे भी गेयता होती है। शायद इसीलिये दण्डी ने उनमे 'श्राव्य' छन्दो का प्रयोग करने की सलाह की है। भारतीय आलङ्कारिको ने इस सम्बन्ध मे विशेष विचार नहीं किया है।

७—उद्देश्य —महाकाव्य का कोई उद्देश्य होता है या नहीं, और होता है तो वह क्या है, इस सम्बन्ध मे आचार्यो ने स्पष्ट रूप से कुछ नहीं कहा है, पर प्रकारान्तर से उन्होने जो बातें कही हे उनसे यह स्पष्ट हा जाता है कि महाकाव्य म कोई न कोई महान उद्देश्य रहना चाहिये। स्पष्ट शब्दों मे उन्होने इतना ही कहा है कि महाकाव्य का लक्ष्य धम, अर्थ, काम, माक्ष इन फलो की प्राप्ति है। दण्डी, रुद्रट और हेमचन्द्र सभी पुरुषार्थो को लक्ष्य मानते हे पर विश्वनाथ किसी एक को। रुद्रट ने तो स्पष्ट शब्दा म कहा है कि लघु प्रबन्धकाव्य (खण्ड काव्य) मे कोई एक पुरुषार्थ लक्ष्य होता है आर महाकाव्य का उद्देश्य सभी पुरुषार्थो की प्राप्ति है[1]। यदि चतुर्वर्ग फल की प्राप्ति ही लक्ष्य है तो फिर रस

१—दण्डी—चतुर्वर्गफलायत्त चतुरोदात्त नायक—काव्यादर्श, १–१५।

हेमचन्द्र—चतुर्वर्गफलोपायत्वम्, काव्यानुशासन, आठवाँ अध्याय

अथवैचित्र्यम्—

का क्या स्वरूप होगा, क्योकि बहुत से लोग तो महाकाव्य का उद्देश्य रस निष्पत्ति ही मानते हैं। सभी आचार्यो ने महाकाव्य म रसो का होना आवश्यक माना है। इस सम्बन्ध मे रुद्रट और विश्वनाथ मे मत वैषम्य है। रुद्रट सभी रसो का होना और विश्वनाथ शृगार, वीर, शा त मे से किसी एक का अगी और अ य का अग रूप म होना आवश्यक मानत है[1]। महाकाव्या म रसो का जो भी स्थिति हो, उन्हे अपने आप म लक्ष्य नहीं माना जा सकता। महाकाव्य म रस किसी अन्य महान उद्देश्य का साधन ही होता है। उदाहरण के लिए यदि धम की सिद्धि या प्रचार ही किसा महाकाव्य का लक्ष्य हो तो उसके लिए भी उपदेश या कीतन से काम नही चल सकता, रसानुभूति उत्पन्न करना ही उसका सवात्तम उपाय हो सकता है। प्रब धकाव्यो या नाटका म उद्देश्य अधिकतर अप्रत्यक्ष और छिपा हुआ रहता है जो प्रभावान्विति क रूप मे या रसोद्रेक के बाद के लोकचित के परिष्कार क रूप मे प्रकट होता है। अत भारतीय दृष्टि से महाकाव्य का उद्देश्य धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति ही है, रसानुभूति, मनोरजन आदि नहीं।

८—प्राचीन ज्ञान वर्णन, पाण्डित्य प्रदर्शन और वस्तु विवरण —सस्कृत के अलकारशास्त्रो मे वस्तु व्यापार वणन के सम्बन्ध म जो विषय गिनाये गये हैं अनेक महाकाव्यों मे उनका बहुत दुरुपयाग भी हुआ है। कुछ मे प्रकृति चित्रण के प्रसग म प्राकृतिक वस्तुओ का तालिका तक प्रस्तुत कर दी गयी है। पर ऐसा परवर्ती कवियो ने ही किया है क्योकि उनम पाडित्य प्रदशन का प्रवृत्ति अधिक थी। यह प्रवृत्ति प्राकृत अपभ्रश से होते हुए हिदी म भी आयी जिसके फलस्वरूप रासो, पद्मावत, रामचन्द्रिका और आधुनिक प्रब धकाव्य—प्रियप्रवास-तक म घोडो की विविध जातियो, भोजन के विवध प्रकारा, नाना प्रकार के फूलो और पडपौधो के नामो की लम्बी सूची दी गयी है। सूची उपस्थित करने की यह प्रवृत्ति यूरोपीय महाकाव्यां म भी मिलती है। यह विवरण कहीं कही

विश्वनाथ—चत्वारस्तस्य वर्गा स्युस्तेष्वेक च फल भवेत् ॥

साहित्यदर्पण, ६–३१८।

रुद्रट—तत्र महान्तो येषु च वितते ष्वभिधीयते चतुर्वर्ग ।

× × ×

ते लघवो विज्ञेया येष्वन्यतमो भवेच्चतुवर्गात् ।

काव्यालकार— सोलहवाँ अध्याय, ५–६।

१—रुद्रट—सर्वे रसा क्रियन्ते काव्यस्थानानि सर्वाणि ।

काव्यालकार, १६–५।

इतना अधिक हो जाता है कि कथा या घटना से उसका कोई सम्ब ध ही नही रह जाता। विकसनशील महाकाव्यो, विशेषकर महाभारत, मे तो सभा विषयो जेसे दर्शन, औपनिषदिक ज्ञान, धर्मशास्त्र, प्राचीन इतिहास पुराण आदि की जानकारी प्रकट करने क लिए लम्बे लम्बे अध्याय जोड दिये गये है। इस अन-पेक्षित पाडित्य प्रदशन से महाकाव्य की कलात्मकता म बाधा उपस्थित होती है। सम्भवत इसीलिए भामह ने कहा था कि महाकाव्य को व्याख्या या विवरण द्वारा इतिहास पुराण के समान बनाना नही चाहिए। रुद्रटने भी स्पष्ट रूप से कहा है कि वस्तु यापार का वणन प्रसगानुसार ही होना चाहिए। विश्वनाथ के समय तक सस्कृत महाकाव्या के साथ ही प्राकृत अपभ्रश के महाकाव्यो मे भी वस्तु व्यापार वर्णन मे पाण्डित्य प्रदर्शित करने और प्राचीन ज्ञान और धार्मिक उपदेश की बाते लिखने की प्रवृत्ति अधिक हो गयी थी। महाभारत म तो वह पहले से ही थी। इन सब को देखकर ही विश्वनाथ को लिखना पडा कि इन का सागोपाग वर्णन करना अथात् पूर्ण विवरण उपस्थित करना चाहिये[२]। जिन कवियों ने विश्वनाथ को नही पढा था उनमे भी इस प्रवृत्ति की अधिकता यह सूचित करती है कि लोक महाकाव्यों मे भी यह एक रूढि सी थी। जायसी ने शतरज, खेलकूद, नाच, घोडा, सेना, भोजन आदि विविध प्रकार की वस्तुओ और योग, दर्शन, धम आदि विविध सिद्धान्तो का लम्बा विवरण दिया है। तुलसी म भी इस तरह की बहुत सी विवरणात्मक बाते मिलती हैं जिनसे उनके पाण्डित्य या दार्शनिक ज्ञान का परिचय मिलता है। प्राचीन भारतीय आलकारिक आचार्यों द्वारा निदिष्ट महाकाव्य के लक्षणो और उसके तत्त्वों के सम्बन्ध मे विचार कर लेने के बाद महाकाव्य सम्बन्धी पाश्चात्य मान्यताओ पर भी विचार कर लेना चाहिये ताकि सार्वभौम लक्षणो का निधारण किया जा सके।

पाश्चात्य मत —

यूरोपीय देशो म भी भारत की तरह महाकाव्य के विकास की कई अवस्थाये दिखाई पडती हैं। वहाँ पहली अवस्था अथात् प्रारम्भिक वीरयुग के महाकाव्य

विश्वनाथ—शृङ्गारवीरशान्तानामेकोऽङ्गी रस इष्यते।
अगानि सर्वेऽपि रसा सर्वे नाटकसधय ॥ साहित्यदर्पण, ६–३१६।

१—वर्णनीया यथायोग सागोपाग अमी इह।
साहित्य दर्पण ६ ३२४।

होमर के इलियड और ओडेसी हैं जो करीब सात सौ वर्ष इसा पूर्व के माने जाते हैं। उन्ही के अनुकरण पर, किन्तु अलकृत शैली मे, वर्जिल ने ईसा पूर्व पहली शताब्दी मे 'इनीड' नामक महाकाव्य लिखा जो अत्यधिक सस्कृत और नियमबद्ध रोमन सभ्यता का प्रतीक माना जाता है। रोमन सभ्यता का प्रभाव सारे यूरोप पर जब तक रहा, इसी प्रकार के अलकृत और शास्त्रीय महाकाव्यो की रचना होती रही। किन्तु उसी के साथ साथ विशेषकर मध्ययुग के अन्तिम काल म, जो सामता वारयुग का काल था, लोक महाकाव्यों का भी विकास होता रहा और दरबारी कवियो द्वारा रोमाचक महाकाव्य भी लिखे जाते रहे। विदेशी बर्बर आक्रमणो के बाद रोमन साम्राज्य छिन्न भिन्न हो गया और तब यूरोप के सभी देशा म राष्ट्रीयता और पुनजागरण (रेनेसाँ) का काल शुरू हुआ जिसम रोमानी प्रवृत्तियों के साथ ही ईसाइ नतिकता की भी प्रधानता थी। अत इस काल म रोमाटिक और नैातकतायुक्त, शास्त्रीय और रूपकात्मक महाकाव्यो की रचना साथ साथ हुई। किसा किसी महाकाव्य म तो इन विरोधी तत्त्वो का अद्भुत सम्मिश्रण दिखाइ पडता है, जैसे दा ते के 'डिवाइना कामेडिया' मे। धीरे धारे नेतिकता और बौद्धिकता से युक्त शास्त्रीय नियमा का ब धन इतना कडा हो गया कि उसके प्रतिक्रियास्वरूप सारे यूरोप मे रोमानी प्रवृत्तियो ने विद्रोह किया और अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के बाद से शास्त्रीय नियमो और पुरानी नेतिकता की अवहेलना करके प्राचीन यूनानी सववाद से प्रभावित रोमाचक काव्या की रचना होने लगी। इस तरह यूरोपीय महाकाव्यो के विकास की पहली अवस्था वीर भावना की, दूसरी शास्त्रीय, धार्मिक और नैतिक भावना की, तीसरी रोमाचक भावना की और चौथी आधुनिक स्वच्छन्दतावादी भावना की है। पहली अवस्था का महाकवि होमर, दूसरी के वर्जिल, दान्ते, कैमास, मिल्टन आदि, तीसरी के स्पेन्सर, एरिआस्टो, टैसो आदि और चौथी के गेटे, टेनिसन, ब्राउनिग, विक्टर ह्यूगो, हार्डी आदि हैं। सभी विकसनशील काव्य या तो यूनान के प्रारम्भिक युग में विकसित हुए या यूरोप के अन्य देशा म मध्ययुगीन साम ती वीरकाल मे, जो बारहवीं तेरहवी शताब्दी तक माना जाता है। वे अलकृत महाकाव्य जो रोमन साम्राज्य के वैभव काल मे लिखे गये, शास्त्रीय महाकाव्य कहलाते हैं। बाद में सामन्ती वीरयुग मे उस शैली की गम्भीरता की प्रतिक्रिया मे रोमाचक महाकाव्यों का प्रचलन हुआ। सारे यूरोप मे, विशेष रूपसे इटली मे, पुनजागरण काल तक ऐसे आश्चर्य कुतूहल की भावना से युक्त और साहसिक यात्राआ से भरे रोमाचक महाकाव्यो की रचना होती रही जिनमे अलौकिक और अतिप्राकृत तत्त्वो का आधिक्य रहता था। इनकी तुलना सस्कृत के कथात्मक

काव्यो और प्राकृत-अपभ्रश के चरितकाव्यो से की जा सकती है। चौदहवीं शताब्दी के बाद सारे यूरोप मे धार्मिक सुधार, पुनर्जागरण और बौद्धिक सक्रियता का युग प्रारम्भ हुआ जिसमे राष्ट्रीयता, आध्यात्मिकता और नैतिकता का स्वर प्रधान था। अत इस काल क कवियो की दृष्टि वर्जिल के अलकृत महाकाव्य इनीड' और सोलहवी शताब्दी के आलोचको, विशेषकर विडा, की शास्त्रीय महाकाव्य सम्बन्धी मान्यताओ पर अधिक थी। इस तरह पुनर्जागरण युग मे वर्जिल के अनुकरण पर शास्त्रीय महाकाव्यो की रचना हुई जैसे सस्कृत के परवर्ती कवियो ने कालिदास की शैली के अनुकरण पर महाकाव्य लिखे। किन्तु पुनर्जागरण काल मे भी रोमाचक भावधारा की समाप्ति नही हो गयी थी क्योकि इटली मे टैसो तथा इग्लैड मे मिल्टन के बाद शास्त्रीय या क्लासिकल महाकाव्य की उस ऊँचाई और गुरुत्व तक पहुँचने वाला अन्य कोइ कवि नही हुआ यद्यपि अठारहवी शताब्दी के मध्य तक क्लासिकल मान्यताओं की प्रधानता सारे यूरोप मे बनी रही। अठारहवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध और उन्नसवी शताब्दी मे रोमाटिक या स्वच्छदतावादी भावनाओ का प्रचार इतना अधिक हुआ कि महाकाव्य सम्बन्धी सभी पुरानी मान्यताये छिन्न भिन्न हो गयी। उस काल की प्रवृत्ति के सम्बन्ध मे डिक्सन का कहना है कि इस समय विभिन्न काव्य रूपो के सम्मिश्रण से ऐसे काव्यो की रचना हुई है जिन्हें देख कर लगता है कि या तो अब महाकाव्य को अलग काव्य रूप मानने की कोई आवश्यकता नहीं रह गइ है या महाकाव्य की परिभाषा को ही बहुत व्यापक और उदार बनाना होगा ताकि इस काल के नये प्रमुख कथात्मक काव्यों (नरेटिव पोइट्री) का महाकाव्य माना जा सके[1]।

1 'Is it possible to propose a clue by means of which this labyrinth may be traversed ? Distinguish and divide we may but frankly it is not possible Type merges into type classical forms melt into romantic to produce a confused panorama of scenes characters, actions where the distinctions that prevailed prevail no longer where the old distinctions fail us Two courses seem open, either to close the survey by the declaration that the term is outworn and must be castaside that a catagory once useful is useful no longer by the simple admission that epic poetry even what purpose to be epic poetry is no longer written or confessing as we have already had to confess,

महाकाव्य के इस स्वरूप विकास के समानान्तर यूरोप में महाकाव्य की परिभाषा में भी परिवर्तन होता रहा है। महाकाव्य के सम्बन्ध में सब से पहले अरस्तू ने अपने काव्यशास्त्र में विचार किया। उन्होंने होमर के नाम से प्रचलित विकसनशील महाकाव्यों–इलियड और ओडेसी–को ध्यान में रखकर महाकाव्य के लक्षणों का निर्देश किया। अरस्तू ने महाकाव्य की परिभाषा इस धारणा के साथ निश्चित की है कि होमर नाम का कोई महाकवि सचमुच था जिसने अपनी अनुपम और महती काव्य प्रतिभा के द्वारा इलियड ओडेसी की रचना की। यह धारणा यूरोप में उस समय तक प्रचलित रही जब तक कि अठारहवीं उन्नीसवीं शताब्दी के महान साहित्यिक अन्वेषकों ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न नहीं किया कि इलियड ओडेसी का उन प्राचीन गाथा चक्रों से विकास हुआ है जिन्हें प्राचीन यूनानी चारण (होमराइड) गाया करते थे और बहुत बाद में उन्हें लिपिबद्ध कराया गया। अब यह बात सर्वमान्य सी है कि होमर नाम का कोई कवि हुआ हो चाहे न हुआ हो, पर इलियड ओडेसी, जिस रूप में आज वे प्राप्त हैं एक हाथ की रचना नहीं हो सकते। इस अनुमान की पुष्टि इस बात से होती है कि यूरोप के अधिकांश देशों में ऐसे प्रारम्भिक महाकाव्य प्राप्त हुए हैं जो मौखिक परम्परा द्वारा विकसित हुए हैं और जो शैली तथा भावना में इलियड ओडेसी से मिलते जुलते हैं। अत अरस्तू ने होमर के महाकाव्यों की जो विशेषतायें बताई है वे न्यूनाधिक मात्रा में सभी विकसनशील महाकाव्यों में पाई जाती हैं, पर वर्जिल और उसके बाद के कवियों के अलंकृत महाकाव्यों पर वे पूर्ण रूप से नहीं लागू होता।

अरस्तू के बाद यूरोप में महाकाव्य के सम्बन्ध में जो कुछ विचार हुआ वह सब सोलहवीं शताब्दी के बाद हुआ। सोलहवीं शताब्दी तक यूरोप में प्राचीन यूनानी भाषा और साहित्य का लोगों को अधिक ज्ञान नहीं रह गया था और रोमन साहित्य ही सर्वत्र आदर्श के रूप में पूजा जाता था। अत उस समय तक महाकाव्य का अर्थ या तो 'इनीड' के ढंग का अलंकृत महाकाव्य समझा

that we over step th proper limits of the subject so throw our net as to bring within consideration certain of the larger and more ambitious narratives such as both represent the class to which they rightly belong and at the same time by their structure their breadth and scope recall in some degree the features of the older poetry cast in the traditional epic form '

M Dixon English Epic & Heroic Poetry p 297

जाता था या नव विकसित रोमास को ही महाकाव्य माना जाता था। पर पुनर्जागरण काल मे यूनानी भाषा और साहित्य की तरफ फिर लोगो का ध्यान गया और होमर के महाकाव्यो क साथ अरस्तू के काव्यशास्त्र का भी अ ययन प्रारम्भ हुआ। परिणामस्वरूप सोलहवी शताब्दी के बाद सारे यूरोप म 'एपिक' शब्द बहुत ही गम्भीर अथ म प्रयुक्त होने लगा। 'एपिक' शब्द का प्रयोग अब अरस्तू की परिभाषा से भी आगे बढकर श्रेष्ठ या महान काव्य के अथ म होने लगा। परिणामस्वरूप यूरोप म प्रबन्धकाव्यो की दो धाराये मान ली गयी, महाकाव्य (एपिक) और रोमाचक कथाका य (रोमान्स)। यह मान्यता आज तक चली आ रही है, पर हर युग म ऐसे काव्य रचे गये जिनमे दोना प्रकार के का यो के गुग दिखाइ पडते हैं। अत परवना यूरोपीय आलाचको को मानना पडा कि महाकाव्य दो प्रकार के होते हैं, इनीड की तरह के शास्त्रीय (क्लासिकल) महाकाव्य और ओडेसी और यरूसलम रिगेन्ड के ढग के रोमाचक महाकाव्य। बाद मे चलकर स्वच्छ दतावादी विद्रोह के युग म दान्ते क ढग के नाटकीय महाकाव्य और आधुनिक उपन्यास शैली के मनोवैज्ञानिक या रूपक कथात्मक (एलेगोरिकल) महाकाव्य भी लिखे गये। अत आधुनिक युग के समालोचको को महाकाव्य की नयी नयी परिभाषाये बनानी पडीं। किसी किसी को तो खीझ कर यह भी कह देना पडा कि आधुनिक युग मे महाकाव्य लिखा ही नही जा सकता और किसी ने महाकाव्य की परिभाषा को अत्यन्त उदार और व्यापक करने की सलाह दी। अनेक मतभेद रखते हुए भी एक बात मे सभी आधुनिक आलोचक एक मत हैं कि विकसनशील और अलकृत, दो प्रकार के महाकाव्य होते है और अलकृत महाकाव्यो की भी शास्त्रीय और रोमाचक दो श्रेणिया होती हैं। इनके अतिरिक्त शैली की दृष्टि से नाटकीय, रूपक कथात्मक, गीतात्मक और मनोवैज्ञानिक महाकाव्यों की भिन्न श्रेणियां भी मानी गयी हैं।

अरस्तू की परिभाषा—अरस्तू ने हर प्रकार के काव्य और कला का अनुकरण कहा है। उसके अनुसार महाकाव्य वह काव्य रूप है जिसम कथात्मक अनुकरण होता है, जिसमे षट्पदी छन्द (हेक्सामीटर वस) का प्रयोग होता है, जिसका कथानक दु खान्त नाटक (ट्रेजेडी) के समान अन्वितियुक्त होता है और जिसमे कोइ एक सम्पूर्ण (आद्यन्त) घटना होती है जिसका आदि, मध्य और अन्त युक्त जीवन्त विकास दिखाया गया रहता है और इस तरह वह कथा जीवित प्राणी की तरह एक इकाई मालूम पडती है। महाकाव्य मे समुचित आनद प्रदान की क्षमता होती है। उसका रूप सघटन इतिहास से बहुत भिन्न होता है

क्योंकि इतिहास एक व्यक्ति की समन्वित कथा नहीं कहता, बल्कि एक काल के एक या अनेक व्यक्तियों और घटनाओं की कथा कहता है और उन घटनाओं के बीच केवल सयोग का ही सम्बन्ध होता है, चेतन प्रयत्न से उत्पन्न सम्बन्ध नहीं। इस तरह कवि महाकाव्य की सामग्री का इतिहास से इस प्रकार चयन करता है कि उसमे सम्बन्धयुक्त अन्विति दिखाई पडती है। किसी काल की किसी प्रधान घटना का चुनाव करके उसका वर्णन करने के साथ ही कवि उस काल का अन्य घटनाओं या पूर्व काल की घटनाओं की कथा भी अवान्तर कथा के रूप मे कह सकता है या वस्तु व्यापार का विवरणात्मक वर्णन कर सकता है जिससे उसके महाकाव्य मे जीवन के विविध रूपो का चित्रण हो सके। कुछ महाकाव्यों म एक व्यक्ति की पूरी जीवन कथा या एक युग के किसी काल की सभी घटनाओं की कथा भी होती है अथवा एक ही महान घटना की कथा होती है जिसके कई भाग होते हैं[1]। इस तरह के महाकाव्यो मे अनेक उपाख्यान भरे रहते हैं। अरस्तू ने उपर्युक्त परिभाषा की व्याख्या करते हुए महाकाव्य मे नाटकीय तत्त्वा, अतिप्राकृत और अलौकिक घटनाओ, कथानक मे प्रयुक्त

1 With respect to that species of poetry which imitates by narration and in hexameter verse, it is obvious that the fable ought to be dramatically constructed like that of tragedy, and that it should have for its subject one entire and perfect action having a beginning a middle and an end so that, forming like an animal a complete whole it may afford its proper pleasure widely deffering in its construction from history which necessarily treats not of one action but of one time, and of all the events that happened to one person or to many during that time, events, the relation of which to each other is merely casual Instead of this selecting one part only of the war he (Homer) has from the rest introduced many episodes—such as the catalogue of the ships and others—by which he has diversified his poem other poets take for their subject the actions of one person or of one period of time or an actoin which though one is composed of too many parts
Aristotle s poetics—part III—of the Epic poem
Everyman s Library edition, 1949
Edited by T A Moxon p 46 47

सम्भावना ओर कल्पना पर आधारित तथ्या तथा महाकाव्य की भाषा और शब्द चयन पर भी विचार किया है। इस प्रकार अरस्तू की महाकाव्य सबधी मान्यता मुख्यतया उन गाथा चक्रो से बने विकसनसील महाकाव्यो पर आधारित है जिनमे से इलियड और ओडेसी आज भी सुरक्षित रह गये हे। बाद म वर्जिल ने भी इलियड ओडेसी के अनुकरण पर ही अपने अलकृत महाकाव्य 'इनीड' की रचना की ओर महाकाव्य का एक सुनिश्चित मानदण्ड स्थापित किया जिसके आधार पर बाद क शास्त्रीय महाकाव्य लिखे गये। अत अरस्तू द्वारा निर्दिष्ट लक्षण प्रधानतया विकसनशील महाकाव्या के ही हे, पर वे न्यूनाधिक मात्रा मे अलकृत महाकाव्यो मे भी पाये जाते हैं। वे लक्षण इतने व्यापक है कि उनमे से अनेक आज तक पाश्चात्य आलोचका द्वारा पूववत मान्य है। उन लक्षणो को अलग अलग करके नीचे दिया जा रहा है —

१—**काव्य रूप**—महाकाव्य एक लम्बा कथात्मक काव्य रूप है।

२—**छन्द**—उसमे आद्यन्त एक ही छन्द (हेक्सामीटर) का प्रयोग होता है जो वीर काव्य के उपयुक्त होता है।

३—**कार्यान्विति**—महाकाव्य म कार्यान्विति होती है अथात् उसका कथानक नाटक के समान अन्वितियुक्त होता है पर उसका आकार नाटक से बडा होता है। उसमें किसी एक किन्तु अपने आप मे सम्पूर्ण घटना का क्रमबद्ध वर्णन रहता है। इस प्रकार महाकाव्य का शरीर किसी जीवित प्राणी के समान सुसघटित रहता है जिसमे विकास क्रम का आदि, मध्य और अन्त निधारित रहता है। उसकी लम्बाई इतनी अधिक नहीं होनी चाहिये कि एक दृष्टि म आदि मध्य अन्त न दिखाई पडे। पर उसे नाटक के समान बहुत छोटा भी नहा होना चाहिये क्योंकि नाटक मे एक ही समय पर घटित होने वाली कई घटनायें अभिनीत नही हो सकती, पर महाकाव्य मे एक समय पर घटित हाने वाली वाली अनेक घटनाओ का बारी बारी से वर्णन किया जा सकता है। इसीसे महाकाव्य स्वभावत नाटक से बहुत बडा हो जाता है[1]।

1, The epic poem differs from tragedy in the length of its plan and in its metre With respect to length a sufficient measure has already been assigned It should be such as to admit of our compr hending at one view the beginning and the end and this would be the case if the epic poem were reduced from its ancient length so as not to exceed that

४—**अवान्तर कथाये**—महाकाव्य मे अवा तर कथाये भी होती हैं पर वे प्रधान कथा के अगरूप मे होती हैं। कुछ महाकाव्यो मे एक ही लम्बी कथा अनेक भागा मे विभक्त होती है अर्थात् उसम एक व्यक्ति से सम्बन्धित अनेक घटनाये होती है। ऐसे महाकाव्यो के भीतर अनेक महाकाव्यो की सामग्री भरी रहती है। अवान्तर कथाओ मे महाकाव्य के गाम्भीर्य ओर गुरुत्व की वृद्धि होती है ओर साथ ही पाठको श्राताओ को औत्सुक्य शान्ति और विश्रान्ति भी प्राप्त होती है, क्योकि विभिन्न प्रकार के उपाख्यानो मे विभिन्न प्रकार के चरितो और दृश्यो की योजना होती है। नाटका म यह रूप वैविध्य नहीं मिलता जिससे उन्हे वैसी सफलता नहीं मिलती जैसी महाकाव्यो को मिलती है[1]। इस प्रकार महाकाव्य का विषय चाहे महान और गुरु गम्भीर हो या न हो पर उमम उपकथाये और उसके भाग ऐसी गुरुता और गम्भीरता से युक्त अवश्य होने चाहिये जिससे पूरा महाकाव्य महान प्रतीत होने लगे। नाटक मे इस पद्धति को अपनाने से विपरीत परिणाम उत्पन्न हो जाता है[2]।

५—**कथानक**—महाकाव्य का कथानक इतिहास से लिया जाता है पर वह इतिहास से भिन्न होता है क्योकि इतिहास एक काल के एक या अनेक व्यक्तियो और घटनाओ का, जो सयोग से ही परस्पर सम्बद्ध हो जाते हैं, वर्णन करता है, पर महाकाव्य किसी एक व्यक्ति या घटना की ऐसी बाता का ही

of such a number of tragedies as are performed successively at one hearing But there is a circumstance in the nature of epic poetry which affords its peculiar latitude in the exten ion of its plan But the epic imitation being narrat ve admits of many such simultaneous incidents properly related to the subject which swell the poem to a considerable size'

Ibid p 47 48

1— And this gives it a great advantage both in point of mag nificence and also as it enables the poet to relieve his hea rer and diversify his work by a variety of dissimilar episodes, for it is to the satiety naturally arising from similarity that tragedies frequently owe their ill success Ibid p 48

2— By an epic plan I mean a fable composed of many fables as if any one for instance, should take the entire fable of the Iliad for the subject of a tragedy In the epic poem,

वर्णन करता है जिससे उसका कथानक विशृंखलित न होकर समन्वित बना रहे। पर उत्कृष्ट महाकाव्यों मे ही ऐसा होता है, अन्य महाकाव्यों मे एक काल की अनेक घटनाओ और व्यक्तियो की कथा भी हाती है। होमर ने पूर्व के महाकाव्य ऐसे ही बृहदाकार थे।

६—**औचित्य विचार**—इतिहास से विषय का चुनाव करने पर महाकाव्य का कथानक अनुत्पाद्य कहा जायगा। पर इतिहास के समान महाकाव्य केवल यथार्थ का वर्णन नही करता। उसमे कवि को छूट रहती है कि वह अपनी कल्पना का खुल कर उपयोग करे अथात् इतिहास की घटना मे उत्पाद्य या कल्पित अशो का सम्मिश्रण करे। महाकाव्य म कवि की कल्पना का कलात्मक उपयोग अवश्य करना चाहिये। इससे कथानक म असाधारणता उत्पन्न होती है ओर पाठको श्रोताओ की जिज्ञासा निरन्तर बनी रहती है। अत इसके लिये महाकाव्यो मे दो पद्धतियॉ अपनाइ जाती हे —

(क) अतिप्राकृत ओर अलोकिक तत्त्वो का मिश्रण—नाटको मे तो दर्शका को आश्चर्यचकित करने की ही आवश्यकता होती है पर महाकाव्य मे उससे आगे बढकर असम्भव और अविश्वसनीय बातो ओर घटनाओ का भी वणन होता है जिनमे आश्चर्योत्पादन की अधिक से अधिक शक्ति होती है। मनुष्य की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति भी है कि वह श्रोताओ को मुग्ध करने के लिये किसी बात को बहुत बढा चढा कर कहता है। इसी कारण महाकाव्य म अलोकिक ओर अतिप्राकृत शक्ति वाले व्यक्तियों, देवताओ ओर घटनाओ का वर्णन किया जाता है।[1]

(ख) असम्भव बातो का वर्णन—किन्तु यहॉ महाकवि इस बात पर ध्यान रखता है कि जो कुछ भी कहा जाय वह श्रोताओ पाठको को असम्भव न प्रतीत हो। अरस्तू के ही शब्दो मे 'महाकवि को असम्भव प्रतीत होने वाली सम्भव घटनाओ की अपेक्षा सम्भव प्रतीत होने वाली असम्भव घटनाओ

the length of the whole admits of a proper magnitude in the parts but in the drama the effect of such a plan is far different from what is expected "

Ibid Part II, p 36

1— The surprising is necessary in tragedy but the epic poem goes further and admits even the improbable and incredible from which the highest degree of surprising results, because there the action is not seen "

Ibid p 49

का चित्रण करना चाहिये' । पर ऐसी बातो का चित्रण करने की प्रवृत्ति कम से कम होनी चाहिये । असम्भव घटनाओ को महाकाव्य की मूल कथा का आधार तो कभी बनाना ही नही चाहिये, उन्हे मूल कथा का अग भी नही बनने देना चाहिये और यदि उनको रखना बहुत जरूरी हो जाय तो फिर उन्हे मूल कथा के बाहर ही रखना चाहिये । निष्कर्ष यह कि महाकाव्य का धरातल ऐसा होना चाहिए कि उसमे सम्भावना पक्ष क्षीण न होने पावे और कवि की शैली मे इतनी शक्ति होनी चाहिये कि वह असम्भव का भी सम्भव बना कर उपस्थित कर सके । इसके लिए वह अन्य तरीको से इतना सौन्दर्य उत्पन्न करता है कि असमभव होने पर भी कोई बात पाठको की दृष्टि स छिपी रह जाती है[1] ।

७—**वस्तु व्यापार वर्णन**—महाकाव्य मे मूल कथा और अवान्तर कथाओ के अतिरिक्त वस्तुओ और पात्रो के भावों अनुभावो का वर्णन भी होना चाहिये । महाकाव्य म कार्यान्विति लाने के लिए कवि किसी व्यक्ति के जीवन की आवश्यक घटनाओ को ही चुनता है पर जीवन की समग्रता का चित्रण करने के लिए वह अपनी कल्पना से जीवन की अन्य आवश्यक वस्तुओ और व्यापारो का चित्रण भी करता है जैसे समुद्री पोता की विवरण सूची तथा इसी तरह के अन्य विवरण । नाटक की तरह महाकाव्य मे भी जीवन के विविध व्यापारों जैसे युद्ध, क्रान्ति, अन्वेषण, दुर्घटना या विनाश आदि का वर्णन होना चाहिये । इन बातो से काव्य मे समग्र जीवन के रूपो और पक्षो का वैविध्य दिखलाई पडता है[2] ।

1 The poet should prefer impossibilities which appear probable to such things as though possible, appear improbable Far from producing a plan made up of improbable incidents he should, if possible admit no one circumstance of that kind or if he does it it should be exterior to the action itself If, however anything of this kind has been admitted and yet is made to pass under some colour of probability, it may be allowed though even in itself absurd

but here the absurdity is concealed under the various beauties of other kinds with which the poet has embellished it

Ibid p 50

2 Instead of this selecting one Part only of the war, he has from the rest introduced many episodes—such as the

८—**शैली**—अरस्तू के अनुसार नाटक की तरह महाका य भी दो प्रकार के होते हैं, सरल या जटिल। फिर इनमे से भी प्रत्येक दो प्रकार का होता है, नैतिकतापूर्ण और दुर्घटनापूर्ण। होमर का इलियड सरल किन्तु दुर्घटनापूर्ण (दुखान्त) है और ओडेसी जटिल कि तु नैतिकतापूर्ण है। ओडेसी की कथा जटिल इसलिए है कि उसमे रोमाचक तत्त्व (घटना वैविध्य) अधिक है। इलियड मे युद्ध ही प्रधान घटना है और उसमे कायान्विति अधिक है, अत वह सरल शैली का महाकाव्य है। यह लक्षण देखकर अरस्तू ने स्वीकार किया है कि किसी महाकाव्य मे दुखान्त नाटक के तत्त्व अधिक होते हैं और किसी मे रोमाचक कथा आख्यायिका के। इलियड पहले प्रकार का है और ओडेसी दूसरे प्रकार का[1]।

९—पात्र—महाकाव्य के पात्रो क सम्बन्ध मे अरस्तू ने अलग से अधिक नही कहा है, अपने काव्य शास्त्र मे ही उसने नाटक और महाकाव्य की तुलना करते हुए कहा है कि दोनो महान चरित्रो और महती घटनाओ का शब्दों द्वारा अनुकरण करते हैं[2]। इस तरह महाकाव्य और नाटक दोनो ही विषय प्रधान काव्य रूप हैं। नाटक मे कवि पात्रो के बीच अपने को बिल्कुल ही खो देता है पर महाकाव्य म भी उसे अपनी ओर से कम से कम बाते कहनी चाहिये। होमर इस कला मे दक्ष था। उसने पात्रो के सम्वाद के रूप मे ही अधिकाश कथा कही है। इन सभी पात्रो के अपने विशेष प्रकार क

Catalogue of the ships and others by which he has diversified his poem Its parts also, setting aside music and decor ations are the same, for it requires revolutions, discoveries and disasters '
Ibid p 47

1 Again the epic poem must also agree with the tragic as to its two kinds, it must be simple or complicated moral or disastrous Thus of his (Homer s) two poems, the Iliad is of the simple and disastrous kind the odyssey compli cated (for it abounds throughout discoveries) and moral '
Ibid p 47

2 Epic poetry agrees so far with tragic as is an imitation of great characters and actions by means of words "
Ibid p 13

व्यक्तित्व हैं और कवि उन्ही का अनुकरण करता है[1]। ये पात्र या चरित्र तीन प्रकार के होते हैं, वास्तविक, परम्परागत और आदर्श। महाकाव्य में तीनों प्रका के पात्र होते हैं पर नायक को महान घटनाओं के अनुरूप महान चरित्र वाल भी होना चाहिये।[2]

१०—**भाषा और शब्द-चयन**—महाकाव्य चाहे सरल शैली का हो या जटिल शैली का, हर हालत मे उसमे भावनाओं और शब्दो का सुन्दर सामजस्य होना चाहिये। होमर क महाकाव्यों मे यह सामजस्य पूर्ण मात्रा मे दिखाइ पड़ता है। यों तो भाषा और शब्द चयन का महाकाव्य मे हर जगह महत्व है, पर जहाँ पर घटना या चरित्र मे शिथिलता आ गयी हो, ऐसे स्थलो प कवियो को शब्द चयन और भाषा सौन्दर्य पर विशेष ध्यान देना और उसके लिए परिश्रम करना चाहिये। इस तरह ऐसे स्थलो के दोष छिप जाते हैं। अरस्तू का तात्पर्य यह है कि अलङ्कृति सहज होनी चाहिये और यदि वह प्रयत्न साध्य है तो समझना चाहिये कि महाकाव्य के दोषो को छिपाने के लिए ऐसा हुआ है।

११—**उद्देश्य**—अरस्तू के अनुसार कला का उद्देश्य अनुकृति द्वारा आनन्द प्रदान करना है, क्योंकि बचपन से मानव का यही स्वभाव है कि वह अनुकृति द्वारा आनन्द प्राप्त करता है। अनुकरण द्वारा उत्पन्न काव्य और कला से मानव को जो आनन्द प्राप्त होता है, वह साधन होता है साध्य नहीं। मनुष्य इस प्राप्त आनन्द की प्रेरणा से उस अनुकृति से बहुत कुछ सीखता है। इस तरह महाकाव्य और नाटक का, जो महती घटनाओं और महान चरित्रो को गारमामयी शैली मे अनुकरण करते हैं, उद्देश्य समाज को आनन्द प्रदान

1 The poet in his own person should speak as little as possible for he is not then the imitator But other poets ambitions to figure throughout themselves imitate but little and seldom'

Ibid p 49

2 'Since the poet is a portrayer no less than a painter or other makers of figures he must always be portraying one of the three following types, the real (past or present), the traditional (or conventional) or the ideal"

D S Morgoliouth—The poetics of Aristofle, London 1911 p 218

करके शिक्षा देना है[1] अथवा भारतीय अलकार शास्त्र की भाषा मे, उसका उद्देश्य रस निष्पत्ति द्वारा 'शिवेतर की क्षति' और 'कान्तासम्मिततयोपदेश' है।

पाश्चात्य महाकाव्य का स्वरूप विकास —

अरस्तू द्वारा निर्दिष्ट महाकाव्य के उपयुक्त लक्षणो से स्पष्ट है कि उसने होमर के इलियड और ओडेसी का ही आदर्श महाकाव्य माना है, यद्यपि होमर के पहले के भी महाकाव्य, जो आकार म इलियड ओडेसी से भी बडे थे, अरस्तू के समय मे वतमान थे। अरस्तू के समय मे महाकाव्य के रूप मे जो कथात्मक काव्य प्रचलित थे उनम रोमाचक तत्वो की कमी नही थी पर उसने वीर भावना और कायान्विति से युक्त महाकाव्या का ही अपना आदर्श मान कर लक्षण निमित किये। होमर के महाकाव्यो मे कायान्विति, कथानक की गम्भीरता और पात्रो की महानता आदि के कारण इतनी उत्कृष्टता थी और अरस्तू ने उन्हे इतना महत्व दे दिया कि आगे चल कर अरस्तू के समय के रोमाचक महाकाव्यो का महत्व बहुत कम हो गया और ईसापूव पहली शताब्दी मे वर्जिल ने होमर के अनुकरण पर ही इनीड की रचना की। इलियड ओडेसी अत्यन्त उत्कृष्ट महाकाव्य होते हुए भी एक हाथ की रचना नही हैं साथ ही उनका विकास प्रारम्भिक वीरयुग मे हुआ था, अत सभ्य सामन्त युग के विशिष्ट और दरबारी कवि द्वारा बिलकुल उसी प्रकार के महाकाव्य की रचना नही हो सकती थी। इसीसे वर्जिल ने होमर का अनुकरण करते हुए भी महाकाव्य का नया प्रतिमान स्थापित किया जो बाद के युगों मे सभी शास्त्रीय

---

1 'All men likewise naturally receive pleasure from imitation This is evident from what we experience in viewing the works of imitative art for in them we contemplate with pleasure and with the more pleasure the more exactly they are imitated such objects as if real, we could not see without pain as the figures of the meanest and most dis gusting animals, dead bodies and the like And the reason of this is that to learn is a natural pleasure, not confined to philosophers but common to all men Hence the pleasure they receive from a picture in viewing it they learn, they infer, they discover what every object is that this for instance, is such a particular man'

T A Moxon Aristlotle s poetics p 9

महाकाव्यो का आदर्श बना रहा। उसने होमर की कथा वस्तु और कथानक का ही अनुकरण नही किया, अनेक छोटी छोटी काव्य रूढिया को भी स्वीकार किया। होमर ने इलियड मे प्रधानतया युद्ध का ओर ओडेसी मे रोमाचक ओर साहसपूर्ण यात्राओ का वर्णन किया है। वर्जिल ने इनीड मे इन दोनो तत्त्वो का मिश्रण कर दिया। महाकाव्य के प्रारम्भ मे वस्तु निर्देश और सरस्वती की वन्दना की पद्धति उसने होमर से ग्रहण की और होमर की यूनानी जातीय भावना के समान उसने भी अपने महाकाव्य मे रोमन राष्ट्रीय भावना की अभिव्यक्ति की। उसी तरह अलौकिक और अतिप्राकृत तत्त्वो के प्रयोग मे भी उसने होमर का ही अनुसरण किया। दोनो ही महाकवियो के काव्यो मे मनुष्य क्रूर और इर्ष्यालु देवी देवताओ के हाथ के खिलौने प्रतीत होते हैं और देवता मानव के साथ मिलते जुलते और कथा के पात्र के रूप मे काम करते हैं। वस्तुओ के विवृत वर्णन मे भी 'इनीड' मे होमर का अणुकरण किया गया है। उदाहरणार्थ सेना, खेल कूद, अस्त्र शस्त्र आदि का ब्योरेवार वर्णन दोनो मे एक सा मिलता है।

शास्त्रीय महाकाव्य—इतना अनुकृत होते हुए भी 'इनीड' अलकृत महाकाव्य है, विकसनशील नही। उसका वातावरण, मूल प्रेरणा, उद्देश्य और शैली आदि होमर के महाकाव्यो से बहुत भिन्न है। अत अरस्तू ने महाकाव्य की जो परिभाषा बनाई थी वह 'इनीड' तथा बाद के शास्त्रीय महाकाव्या पर पूर्णतया नही लागू हो सकती। शास्त्रीय शैली का प्रचलन मध्ययुग के रोमाचक महाकाव्यो के अत्यधिक प्रभाव के कारण बन्द सा हो गया, पर पुनर्जागरण काल मे कैमास और ऐरिआस्टो ने उसे फिर से प्रारम्भ किया ओर मिल्टन ने उसे चरमोत्कर्ष पर पहुँचा दिया। इन सब शास्त्रीय महाकाव्यो म अरस्तू के बताये अनेक लक्षण मिलते ह पर उनम कुछ ओर भी विशेषतायें पाइ जाती हैं जिनके आधार पर ये महाकाव्य शास्त्रीय नियमो का पालन करने वाले कहे जाते हैं।

यूरोपीय अलकृत महाकाव्यो के लक्षण—

१—उनम किसी न किसी गुरु गम्भीर विषय को कथा का आधार बनाया गया है। उनके कथानक इतिहास पुराण या धर्म ग्रन्थ (बाइबिल) से लिये गये हैं, पर उनमे कवि द्वारा उत्पाद्य अश अधिक हैं।

२—उनम होमर के महाकाव्यों की तुलना मे कार्यान्विति अधिक हैं। इसीलिये उनका कथानक अधिक लम्बा नहीं है।

३—उनमे कोई न कोई महान उद्देश्य–जैसे देश के गौरव का चित्रण, धार्मिक और नैतिक मूल्यों की स्थापना, आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध

का चित्रण आदि—अवश्य रहता है जो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से पूरे महाकाव्य मे व्याप्त दिखाई पडता है।

४—उन सब मे कवियो के पुस्तकीय ज्ञान और पाडित्य का प्रभाव अत्यधिक मात्रा मे दिखाई पडता है।

५—उनमे सचेष्ट ओर प्रयत्न साध्य कलात्मक शैली का उपयोग हुआ है। यह शैली बहुत ही उदात्त और गरिमायुक्त है। होमर के महाकाव्यो मे पुनरुक्ति दोष बहुत है, पर शास्त्रीय महाकाव्यो मे शब्दों का अपव्यय नही हुआ है, उनमे अधिक से अधिक अर्थ ओर चमत्कार भरने का प्रयत्न दिखाइ पडता है।

६—उनमे होमर के महाकाव्यो के जेसा घटनाओ और अवान्तर कथाओ का आधिक्य नही है। इसके विपरीत उनमे वस्तु यापार वणन की रूढियो का पालन किया गया है। इस तरह सभी शास्त्रीय महाकाव्यो मे सघर्ष, द्वन्द्व युद्ध, साहसिक ओर कष्टप्रद यात्रा, सुदर उद्यान, भ य भवन, स्वर्ग ओर नरक के दृश्य, सृष्टि का रहस्य आदि बाता का चित्रण विस्तृत रूप म हुआ है।

७—सभी महाका यो मे प्रारम्भ मे प्रस्तावना, वस्तु निर्देश और मगलाचरण की पद्धति अपनाइ गया है।

८—शास्त्रीय महाकाव्यो मे वैयक्तिक वीरता का वह रूप नही दिखाइ पडता जो इलियट ओडेसी मे है। उसका स्थान सामाजिक हित की भावना और देशभक्ति से समन्वित वीरता ने ले लिया है। साथ ही इन महाकाव्यो मे प्रेम के अधिकाधिक चित्रण की परम्परा भी दिखलाइ पडती है। अपालोनियस ने अपने महाकाव्य 'आरगोनाटिका' मे सबसे पहले प्रेम का विशेष चित्रण किया था और वर्जिल ने उस पद्धति को अपनाया था। इसके पहले प्रेम का इतना महत्व नही था।[1]

९—होमर के महाकाव्या मे दिव्य ओर मानवीय चरित्रा का यथार्थ, परम्परागत या आदर्श चित्रण हुआ है जिसका उल्लेख अरस्तू ने अपने लक्षणो मे किया है। पर अपालानियस रोडियस के अनुकरण पर वर्जिल ने पात्रा के मनोवैज्ञानिक चरित्र चित्रण की पद्धति निकाली। अत बाद के सभी शास्त्रीय महा

1 'Love has been nothing but a subordinate incident almost an ornament in the early epics But it is Virgil who really begins the development of ep c art He took over from Apollonius love as part of the epic symbolism of life and delicate psychology as part of the epic method"

L Abercrombie The Epic p 71

काव्या म विश्लेषणात्मक मनोवैज्ञानिक चित्रण की परम्परा बराबर दिखाई पडती है ।[1]

१०—सभी शास्त्रीय महाकाव्यो मे अलौकिक और अतिप्राकृत शक्तियो और कार्यों का वर्णन हुआ है पर यह वर्णन होमर के महाका यो तथा बाद के रोमाचक महाकाव्यो जेसा नही है । उनमे बौद्धिक सयम और आ यात्मिक गम्भीरता के कारण अलौकिक अतिप्राकृत तत्त्वो के प्रयोग मे वैसी मनमानी नही बरती गयी है जैसी रोमाचक महाकाव्यो म दिखाइ पडती है ।

११—वर्जिल आर उसके बाद के अलकृत शास्त्रीय महाकाव्यो की सबसे बडी विशेषता, जो न तो विकसनशील महाकाव्यो मे मिलती है और न अलकृत रोमाचक महाकाव्या मे ही, यह है कि उनमे अपने युग की सच्ची सामाजिक चेतना को व्यक्त करने का सचेष्ट प्रयास दिखाइ पडता है । विकसन शील महाकाव्यो मे युग की चेतना वीरों की वैयक्तिक विशेषताओ के चित्रण द्वारा अभिव्यक्त होती है और रोमाचक महाकाव्यो मे यथाथ से दूर हट कर काल्पनिक जगत का चित्रण अधिक होता है । युग जीवन का समग्र ओर यथाथ चित्र सचेष्ट रूप से शास्त्रीय महाका यो मे ही मिलता है ।

विकसनशील महाकाव्य —

कहने की आवश्यकता नहीं कि महाकाव्य का यह गुरु गम्भीर रूप शिष्ट नागर समाज के लिए ही विशेष उपयोग का था । सामान्य जनता अपनी सीमाओ के कारण लोक महाकाव्यों और गाथाचक्रो मे ही रुचि लेती रही और मध्ययुग मे तथा उसके बाद भी ऐतिहासिक और निजन्धरी वीरो का आश्रय लेकर माखिक रूप मे लोक महाकाव्यो का विकास होता रहा । बियोवूल्फ, साग आफ रोला, निबुलगेनलीट, वाल्सग, एडा, आर्थर गाथाचक्र, राबिनहुड गाथाचक्र आदि इसी प्रकार के विकसनशील या अर्द्धविकसित महाकाव्य हे । इनमे परम्परागत अनु श्रुतियों और लोकगाथाआ लोकविश्वासो का प्रभाव इतना अधिक है तथा उन सबमे एक ही तरह का कथानक रूढियो और वणनो का इतना अधिक प्रयोग हुआ है कि विकसनशील महाकाव्यो की अलग श्रेणी मानकर ही उनकी विशेषताओ का वर्गीकरण किया जा सकता है । अरस्तू के बताये काव्य के लक्षण उन सबमे अधिक नहा मिलते, कारण यह है कि होमर के महाकाव्य जो अरस्तू के आदर्श

1 'To the manner of epic he added analytic psychology Through Virgil this contribution to epic manner has prevailed in subsequent literature

Ibid P 70

थे, विकसनशील होते हुए भी कला की उस सामा का स्पर्श करते हैं जो अलकृत महाकाव्यो से मिली हुई है। पर अन्य विकसनशील महाकाव्य कला को उस ऊँचाई तक नहीं पहुँच सके हैं यद्यपि महाकाव्य के मूल गुण, जिनकी चचा अरस्तू ने की है, उनमे ह। इन महाकाव्यों की विशेषताओ के सम्बन्ध मे विचार करने क पूव रोमाचक महाका या पर विचार कर लेना आवश्यक है क्योकि रोमाचक महाकाव्य भी अलकृत होते हैं यद्यपि उनमे शास्त्रीय महाकाव्यो की सभी विशेषताये नही होती। वस्तुत रोमाचक महाकाव्य शास्त्रीय और विकसनशील महाकाव्यो के बीच की कडी हैं। विकसनशील महाकाव्या म लोककथा लोकगाथा का इतना अधिक योग रहता है कि उनमे कुतूहल ओर आश्चर्य उत्पन्न करनेवाली अनोखी बातो की अधिकता दिखाई पडती है। इसी कारण होमर के 'ओडेसी' को अनेक विद्वान इलियड से भिन्न कोटि का रोमाचक महाकाव्य मानते हैं। अरस्तू ने ऐसा कोइ भेद नही किया था। पर सच बात तो यह है कि होमर ने ही एपिक ओर रोमान्स दोनो का प्रारम्भ किया था। उसके दोनों महाकाव्यो मे ये दो का यरूप विलग नहीं हुए थे। बाद मे वर्जिल ने इलियड के आदश पर अलकृत शास्त्रीय महाकाव्य की शैली विकसित की आर बाद के अन्य लैटिन कवियो ने ओडेसी के अनुकरण पर रोमाण्टिक महाकाव्य की शैली का विकास किया। पुनर्जागरण युग के पहले तक 'एपिक और रोमास' मे भेद नहीं माना जाता था, पर सोलहवीं शताब्दी के बाद इन दानो शब्दो का भिन्न-भिन्न अर्थो मे प्रयाग होने लगा। 'एपिक' शब्द तब से श्रेष्ठ या शास्त्रीय महाकाव्य के अर्थ मे प्रयुक्त होने लगा और रोमास रोमाचक कथाकाव्य के अथ मे।

रोमान्स और रोमाचक महाकाव्य —

यह पहले ही कहा जा चुका है कि प्रारम्भिक महाकाव्यो मे अनिवार्य रूप से रोमाचक तत्त्व रहा करते थे। वस्तुत कथात्मक या आख्यानक काव्य का वह एक प्रधान अङ्ग है। कुछ लोगो का तो यह भी कहना है कि महान और गम्भीर काव्य रूपा मे बीच बीच म रोमाचक तत्त्व रहने से उनका आकषण बढ जाता है क्योंकि वे तत्त्व गम्भीरता के दबाव और तीव्र भावानुभूतियो के तनाव से कुछ विश्रान्ति प्रदान करते चलते हैं[1]। रोमास ऐसी कल्पना का नाम है जिसमे सुदूर

1— Romance in many varieties is to be found inherent in Epic and Tragedy for some readers possibley the great and magnificent forms of poetry are most attractive when from time to time they forget their severity and when the tragic strength is allowed to rest "
W P Ker—Epic And Romance—P 321

वर्ती और अप्राप्य वस्तुओं मे रहस्य और जादू जैसा आकषण उत्पन्न करने की शक्ति होती है। महाकाव्य मे ऐसी कल्पनाये अलौकिक और अतिप्राकृत तत्त्वो तथा कथानक रूढियो का आश्रय लेकर प्रयुक्त होती हैं पर इनकी मात्रा उनमे ऐसी रहती है कि महाकाव्य का सन्तुलन नहीं बिगडने पाता। जब वे तत्त्व किसी काव्य मे अनपेक्षित रूप से अधिक हो जाते है तो वही रोमाचक कथा काव्य कहलाता है। यदि ऐसे कथाकाव्य मे महाकाव्य के गुण वतमान रहते हैं तो उसे रोमाचक महाकाव्य कहा जाता है। अत यह स्पष्ट है कि महाकाव्य और रोमाचक कथाकाव्य (रोमास) दो भिन्न वस्तुएँ हैं। उस सीमा रेखा का पता लगाना अत्यन्त कठिन है जहाँ रोमाचक कथाकाव्य महाकाव्य के रूप मे बदल जाता है। जैसा पिछले अध्याय म महाकाव्य की सामग्री के सम्बन्ध म विचार करते हुए कहा जा चुका है, सामूहिक नृत्यगीत से ही आख्यानक काव्य का विकास हुआ, अत उसमे प्रारम्भ म महाकाव्य और रोमान्स का रूप मिलाजुला था जैसा कि होमर के महाकाव्यो म दिखाई पडता है। धीरे धीरे महाकाव्य और रोमाचक कथाकाव्य भिन्न काव्य रूप हो गये। इन रोमाचक कथाकाव्यो मे साहसिक कार्यो, यात्राओ और प्रेम व्यापारो की प्रधानता होती थी। मध्ययुग मे यूरोप की परिस्थितियाँ ऐसी थी जिनमे रोमाचक कथाकाव्यों का बहुत अधिक विकास हुआ और महाकाव्य का उदात्त काव्य रूप भुला दिया गया। पर पुनर्जागरण युग (१४ वीं से १७ वीं शताब्दी तक) में महा काव्य का सम्मान फिर बढा और दान्ते, एरिआस्टो, केमास, टैसा, स्पेन्सर और मिल्टन ने उसे चरमोत्कर्ष पर पहुँचाया। इनमे से कुछ के महाकाव्यो पर रोमाचक कथाकाव्य का प्रभाव बहुत अधिक है। लैटिन मे टैसो का 'यरुसलम लिबरेटा' ऐसा ही रोमाचक महाकाव्य है। अग्रेजी मे स्पेसर का 'फेयरी क्वीन' भी ऐसा ही है। इस प्रकार यूरोप मे विकसनशील महाकाव्यों के समानान्तर शास्त्रीय और रोमाचक महाकाव्य और रोमाचक कथाकाव्य या रोमान्स, इन दोनों काव्य रूपों का प्रचलन था। रोमान्स के गद्यात्मक ओर पद्यात्मक दानो रूप थे। गद्यात्मक रोमास सागा, नरेटिव आदि नामों से पुकारा जाता था और उसी का विकास आधुनिक उपन्यासो के रूप मे हुआ। गद्यात्मक रोमान्स हमारे विचार का विषय नही है। पद्यात्मक रोमान्स भी, जिसे कथात्मक काव्य (नरेटिव पोइट्री) कहा जाता है, वहीं तक हमारे काम का है जहाँ तक उसने महाकाव्य को प्रभावित किया है। अत यहाँ सक्षेप म शास्त्रीय महाकाव्य और रोमाचक कथाकाव्य (गद्यात्मक या पद्यात्मक) का भेद समझ लेना चाहिये —

शास्त्रीय महाकाव्य और रोमाचक कथाकाव्य का भेद —

१—दोनो ही का विकास प्रारम्भिक विकसनशील वीराख्यानो या वीर महाकाव्यो से हुआ। अत दोनो मे वीरता और साहस की भावना होती है, पर दोना क वातावरण मे बहुत अधिक अ तर होता है। शास्त्रीय महाकाव्य का विकास दरबारो के सस्कृत शिष्ट वातावरण मे हुआ, अत उनका बौद्धिक स्तर बहुत ऊँचा होता है। इसके विपरीत रोमाचक कथाकाव्य लोक के बीच विकसित हुआ और बाद मे दरबारी कवियो ने इस काव्य रूप को ग्रहण कर लिया, अत उसमे भावुकता और कल्पना का रग अधिक होता है जो सामान्य जनता के लिए सुखद और सहज होता है।

२—जहाँ तक साहसिक कार्यो का सम्बन्ध है, रोमाचक कथाकाव्य, अलकृत शास्त्रीय महाकाव्य की अपेक्षा, विकसनशील महाकाव्यो के अधिक निकट है। विकसनशील महाकाव्यो के रोमाचक तत्त्वो का विस्तार रोमाचक कथाकाव्य म हुआ है, जब कि शास्त्रीय महाकाव्यो म आदश चरित्रो और महान उद्देश्य के कारण उन तत्त्वो पर सयम का अकुश लगा रहता है। इस तरह रोमाचक कथाकाव्य मे युद्ध, प्रेम, भयकर यात्रा आदि का अतिशयोक्ति पूर्ण चित्रण होता है।

३—रोमाचक कथाकाव्य मे कोई महान उद्देश्य नहीं होता। दूसरे शब्दो मे मनोरजक कथा कहना ही उसका उद्देश्य होता है, कोई आदश चित्रित करके उपदेश देना नहीं। महाकाव्य मे यह बात नही होती। उसका कोई महान उद्देश्य होता है जो महान चारित्रो का आश्रय लेकर व्यक्त होता है। इसके विपरीत रोमाचक कथाकाव्य मे यद्यपि वीर प्रतीत होने वाले चरित्र होते हैं पर उसका उद्देश्य वीर भावना की प्रतिष्ठा नहीं होता और न वे चरित्र वीरता का आदर्श हो उपस्थित करते हैं।

४—रोमाचक कथाकाव्य मे कथानक जीवन्त और आकषक अवश्य होता है पर वह यथार्थ जीवन पर आधारित नही होता। उसमे काल्पनिक कथा का चमत्कार अधिक से अधिक होता है। इस प्रकार उसमे लाक कथा के सभी तत्त्व होते हैं।

५—अतिशय काल्पनिकता के कारण उसमे असम्भव ओर अविश्वसनीय बातो ओर घटनाओं की भरमार रहती है। प्रारम्भिक वीरयुग मे सामान्य जनता ऐसी बातों को पौराणिक आर निजन्धरी विश्वासो के कारण सच मानती थी पर मध्ययुग में उन्हे असत्य कल्पना मानते हुए भी पाठक शुद्ध मनोरजन के लिए उनमे बहुत रुचि रखते थे। इसीलिए रोमाचक कथाकाव्यो मे उनकी

अधिकता है । अरस्तू ने महाकाव्य मे ऐसी असम्भव प्रतीत होने वाली बातो को रखना उचित नही माना है ।

६—उपर्युक्त प्रवृत्ति के कारण उनकी कथा चमत्कारपूर्ण होती है । इन काव्या के आश्चर्यमय लोक मे सभी कुछ अनोखा और आश्चर्यजनक है । अविकसित समाज मे मानसिक धरातल ऊचा न होने के कारण आश्चर्य और जिज्ञासा की भावना की प्रधानता रहती है । मध्ययुग का समाज ऐसा ही था । अत उस काल मे कथाकाव्यो की रचना अधिक हुइ, जिनम अलोकिक और अतिप्राकृत तत्वा की अधिकता है और देवी, देवता, भूत प्रेत, जादू टोना आदि की सहायता से आश्चय उत्पन्न करने की प्रवृत्ति प्रधान है । महाकाव्य मे भी ये बाते होती हैं पर उनमे मानव का सहज स्वरूप और उसके सहज कार्य ही प्रधान होते हैं ।

७—उपयुक्त प्रवृत्तियो के कारण रोमाचक कथाकाव्यो मे वे सभी कथानक रूढियाँ दिखलाई पडती हैं जिनकी चचा पहले अ याय म की जा चुकी है । जिस तरह वर्जिल का आदर्श इलियड था, उसी तरह रोमाचक काव्यो का निमाण ओडेसी के अनुकरण पर हुआ । एक ही स्रोत से प्रभावित होने और सुदूरवता देशो म समान रूप से प्रचलित लोककथाओ लोकगाथाओ से कथा के तत्त्व ग्रहण करने के कारण उनमे कथा की धारा को मोडने वाली वे छोटी से छोटी घटनायें और तथ्य पाये जाते हैं जो बहुत सी कथाआ म एक तरह के हैं । पडितो ने इन्हें ही कथानक रूढि (मोटिफ) नाम दिया है । कथानक रूढियो मे अलौकिक और अतिप्राकृत तत्वो के अलावा और भी अनक ऐसी बाते होती हैं जिनसे एक आर तो आश्चर्य की प्रवृत्ति की तृप्ति होती है, दूसरी आर किसी युग की सामाजिक दशा और लोक विश्वासा का भी पता चलता है । इस तरह कबन्ध का लडना, देवताओ या राक्षसो की सहायता म एक जगह से दूसरी जगह पहुँचा दिया जाना, सुनसान जगल या समुद्र म राह भटक जाना आदि कथानक रूढियाँ इन रोमाचक कथाकाव्या मे भरी पडी हे । अलकृत शास्त्राय महाकाव्या मे कथानक रूढियाँ अधिक नही होती ।

८—रोमाचक कथा काव्या मे कार्यान्विति नही होती और न नाटकीय तत्त्व ही अधिक होते हैं । उनका कथानक प्रवाहमय और वैविध्यपूर्ण अधिक होता है पर उसमे कसावट और थोडे म अधिक कहने का गुण, जो महाकाव्य का प्रधान लक्षण है, नहीं होता । इससे कथानक स्फीत और विश्रृखलित हो जाता है । मध्ययुगीन रोमाचक कथाका यो में अधिकतर समान विषय वस्तु पर आधारित समान कथानको का होना इस बात का सकेत करता है कि कवियो

का ग्रानसघटित कथानक द्वारा महान घटना का चित्रण करके समन्वित प्रभाव या उच्चकोटि का आनन्द उत्पन्न करने की ओर उतना नही था जितना पूर्ण विचित्र घटनाओ के अतिशयोक्ति चित्रण द्वारा मनोरजन करने की ओर था। मनोरजन के कारण ही उनमें कथा के भीतर कथा कहने की प्रवृत्ति अधिक है जिससे पूरे कथानक मे कार्यान्विति नही पायी जाती।

९—प्रारम्भिक विकसनशील महाकाव्यो के नायक शारीरिक शक्ति का प्रदर्शन करने वाले, पर साथ ही सामाजिक शक्ति का प्रतिनिधित्व करने वाले वीर होते थे। उनके प्रेमी रूप का चित्रण बहुत कम होता था। रोमाचक कथा काव्यो मे नायक वीर तो होता है पर उसकी वीरता निरुद्देश्य और बिलकुल ऐकान्तिक मालूम पडती है। लेकिन उनका वह वीर रूप भी उसके प्रेमी रूप से दबा रहता है। यह प्रेम भी बहुत ही बाह्य, भावुकतापूर्ण आर ऐकान्तिक होता है, महाकाव्यो की तरह आन्तरिक और सामाजिक नही।

रोमाचक महाकाव्य —

रोमाचक कथाकाव्य के उपर्युक्त लक्षणों को न्यूनाधिक मात्रा मे महाकाव्य म भी पाया जा सकता है। पुनर्जागरण-युग मे आलोचको मे इस प्रश्न को लेकर बहुत मतभेद था कि महाकाव्य मे रोमाचक तत्त्वा का क्या स्थान होना चाहिये। महाकाव्य के शास्त्रीय लक्षणो को कडाई के साथ पालन करने वाले लोग इस मत के थे कि महाकाव्य मे उन तत्त्वो का, जिन्हे उस समय 'गाथिक' कहा जाता था, बिलकुल प्रवेश नहीं होना चाहिये। अत इटली के प्रसिद्ध साहित्यकार डावेनाण्ट, एरिओस्टो और दान्ते के महाकाव्यो को भी महाकाव्य की काटि मे रखने को तैयार नही था[1]। इसके विपरीत इटली के दूसरे महाकवि टेसो ने अपनी आलोचनाओ मे एरिआस्टो का समर्थन हो नही किया, वह उसके महाकाव्य 'आर्लेण्डो' को अपना आदर्श भी मानता था। उसने महाकाव्य

1 The epic poetry of the more austere critics was devised according to the strictest principles of dignity and sub limity with a precise exclusion of everything Gothic and romantic Davenant s Preface to Gondibert—' The Authors Preface to his much Honoured friend, Mr Hobs —may show how the canon of epic was understood by poets who took things seriously, for I will yield to their opinion who per mit not Arisosto no not Du Bartes in this eminent rank of the Heroicks, rather than to make way by their admi ssion for Dante Marine and others ' Ibid p 30

को शास्त्रीय नियमा के ब धनो से जकडने वाल‍ा का विरोध करते हुए यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि महाकाव्य अार रोमाचक कथाकाव्य क बीच कोइ तात्त्विक अतर नहीं है[1]। यही कारण है कि उसका महाकाव्य 'यरसलम लिब्ररेटा' 'आर्लेण्डो' की भाँति रोमाचक महाकाव्य माना जाता है। दान्ते, एरिआस्टो और टैसो से प्रभावित होकर ही अग्रेजी म भी स्पेन्सर ने 'फेयरी क्वीन' नामक रोमाचक महाकाव्य की रचना की। इन रोमाचक महाकाव्यो मे शास्त्रीय महाकाव्यो की अपेक्षा रोमाचक तत्त्व अधिक थे अथात् उनम महाकाव्य और रोमाचक कथाकाव्य का सम वय हुआ था। सोलहवीं शताब्दी तक तो टैसा का यह सिद्धान्त कि रोमान्स भी महाकाव्य ही है, किसी सीमा तक मान्य था पर सत्रहवीं अठारहवीं शताब्दी के आलोचको ने दोनो को भिन्न माना और महाकाव्य की उदात्तता, गम्भीरता, अन्विति और आदशो पर ही अधिक जोर दिया। उनमे बासू (Bossu) का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इस सम्बन्ध मे आधुनिक आलोचको का कहना है कि उन आलोचकों ने महाकाव्य और रोमान्स मे अन्तर मान कर तो उचित किया पर दोना को अलग अलग काव्य रूप मान करके बहुत बडी गलती भी की, कारण यह है कि यद्यपि रोमान्स महाकाव्य का एक अनिवार्य अग है पर वही उसका सबसे बडा दुश्मन भी हो जाता है[2]। यदि महाकाव्य मे रोमाचक तत्त्वों का सयमित उपयोग किया जाय तो उससे महाकाव्य का महत्त्व बढ जाता है पर उसकी अधिकता उसके नाट्यतत्त्वा का हनन कर देती है[1]। इससे भी आगे बढने पर कुछ ऐसे

1 The question was debated by Tasso in his critical writings against the strict and pedantic imitators of classical models and with a strong partiality for Ariosto against Triosino Tasso made less of a distinction between romance and epic than was agreeable to some of his successor s criticism '

Ibid—p 30

2 'The critics of the seventeenth and eighteenth centuries were generally right in distinguishing between Epic and Romance and generally wrong in separating the one kind from the other as opposite and mutually exclusive forms Romance is at the same time one of the constituent parts and one of the enimies of epic poetry "

Ibid—p 31—32

1— Romance by itself is a kind of literature that does not allow the full exercise of dramatic imagination, a limited

महाकाव्य दिखाई पडते है जिनमे रोमाचक तत्वो और नाट्यतत्वो का स्थान बराबर बराबर होता है। ऐसे ही महाकाव्य रोमाचक महाकाव्य कहलाते हैं। जब किसी काव्य मे रोमाचक तत्व इतने अधिक हो जाते हैं कि उनमे नाट्य तत्व बिलकुल नही रह जाते और वह मात्र काल्पनिक और आश्चर्य भरी बातो पर ही आधारित होता है तो फिर वह महाकाव्य नही रह जाता, रोमाचक कथा काव्य बन जाता है। अत शास्त्रीय महाकाव्य, रोमाचक महाकाव्य और रोमाचक कथाकाव्य का यह सम्बन्ध और भेद रोमाचक तत्वो की मात्रा की न्यूनता या अधिकता पर ही आधारित है।

स्वच्छन्दतावादी और मनोवैज्ञानिक महाकाव्य —

यह पहले ही कहा जा चुका है कि वर्जिल के 'इनीड' मे ही पात्रो के मानसिक सकल्प विकल्प का चित्रण करने और मानसिक दशाओ पर प्रकाश डालने की पद्धति का प्रारम्भ हो गया। बाद मे शास्त्रीय महाकाव्यो म इस पद्धति को बराबर अपनाया जाता रहा। मिल्टन ने इस दिशा म महाकाव्य को बहुत आगे बढाया। पर पात्रो का चरित्र शास्त्रीय महाकाव्यो मे इतना मर्यादित होता था कि पूँजीवाद युग के प्रारम्भ मे व्यक्तिवादी स्वतत्रता की भावना से उत्पन्न स्वच्छन्दतावादी काव्यधारा मे उन शास्त्रीय नियमो के विरुद्ध जोरदार प्रतिक्रिया हुई। स्वतन्त्रता की भावना जीवन के क्षेत्रो तक ही सीमित न रही, वह साहित्य और कला के क्षेत्र म भी सभी पुरानी मान्यताओ के विरुद्ध विद्रोह करने लगी। फलस्वरूप अठारहवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे व्यक्तिवादी भावनाओ और अनुभूतियो से युक्त गीतिकाव्य का युग प्रारम्भ हुआ। ऐसे युग मे शास्त्रीय महाकाव्य की रचना की सम्भावना नही थी। फिर भी अनेक कवियों ने इस युग मे प्रबन्धकाव्य लिखे। उनम से स्काट जैसे लोगो ने जनता मे प्रचलित चारण गाथाओं का अनुकरण किया, वर्ड्सवर्थ और कालरिज ने गीति गाथाएँ (लिरिकल बैलेड्स) लिखी और कीट्स ने प्राचीन यूनानी पौराणिक आख्यानों के आधार पर प्रबन्धकाव्य की रचना की। बायरन ने जो प्रबन्ध काव्य लिखे उनमे उसने किसी प्रकार की मर्यादा का स्वीकार नही किया। अत इस युग में अंग्रेजी मे कोई महाकाव्य नहीं लिखा गया, पर जर्मनी मे गेटे

and abstract form as compared with the fulness and variety of epic though episodes of romance and romantic moods, and digressions may have their place along with all other human things in the epic scheme '

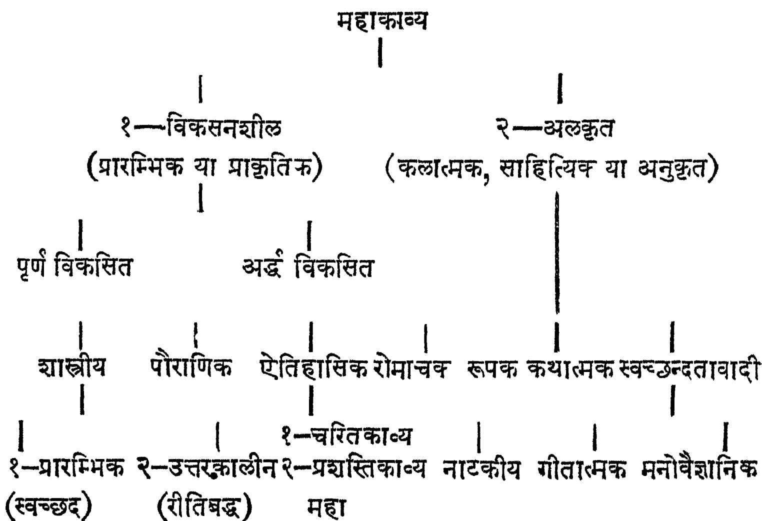
Ibid—P 33

ने स्वच्छन्दतावादी भावना से युक्त और दान्ते की काव्य शैली से प्रभावित 'फाउस्ट' नामक नाट्यमहाकाव्य की रचना की। आगे चलकर विक्टर ह्यूगो और टेनिसन ने शास्त्रीय और रोमांचक महाकाव्यों की शैलियों को एक में मिलाकर स्वच्छन्द शैली का आविष्कार किया। टेनिसन ने लोक प्रचलित 'आर्थर गाथाचक्र' के आधार पर 'आइडिल्स आफ द किंग' नामक महाकाव्य में आर्थर के दरबार में विभिन्न दरबारियों द्वारा कथायें कहलवाई हैं। ये कथायें अलग अलग स्वतन्त्र प्रतीत होती हैं पर साथ ही प्रत्येक को महाकाव्य का एक सर्ग भी समझा जा सकता है। यह रोमांचक कथाकाव्य का गुण है। पर टेनिसन ने शास्त्रीय महाकाव्य के गुण—महद् उद्देश्य और प्रतीकात्मकता—का भी अपने महाकाव्य में समावेश किया है। बीसवीं शताब्दी में टामस हार्डी ने 'द डाइनेस्ट्स' नामक महाकाव्य लिखा। यह भी नाट्य महाकाव्य है, इसमें पात्रों के स्वगत कथन के रूप में कथा कही गयी है। इस महाकाव्य का नायक नेपोलियन है। महाकाव्य का स्वरूप उन्नीसवीं सदी में विभिन्न काव्य रूपों में बदल गया और जो महाकाव्य लिखे भी गये उनमें पुराने शास्त्रीय नियमों को तोड़ दिया गया। अतः इस युग के महाकाव्यों को स्वच्छन्दतावादी मनोवैज्ञानिक महाकाव्य कहा जा सकता है क्योंकि उनकी सबसे बड़ी विशेषता मन का वैज्ञानिक विश्लेषण ही है। ब्राउनिंग का 'द रिंग ऐण्ड द बुक' इसका सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है जिसमें एक ही घटना अनेक व्यक्तियों के मुख से विभिन्न रूपों में कहलाई गई है। इससे स्पष्ट है कि कवि का उद्देश्य महान चरित्रों का चित्रण या महान घटना का वर्णन नहीं, बल्कि किसी भी घटना के कारण विभिन्न व्यक्तियों के मन पर पड़ने वाले विभिन्न प्रकार के प्रभावों का वर्णन और विभिन्न मानसिक दशाओं का उद्घाटन करना है। आधुनिक उपन्यास का महाकाव्य के इस रूप परिवर्तन में कितना हाथ है, यह कहने की आवश्यकता नहीं।

होमर से लेकर अब तक के यूरोपीय महाकाव्यों के विभिन्न रूपों के विकास की इस विवेचना का उद्देश्य यही था कि भारतीय महाकाव्यों के रूप विकास को भी इसके मेल में रखकर तुलनात्मक दृष्टि से देखा जा सके। अरस्तू से लेकर अब तक यूरोपीय देशों में महाकाव्य के सम्बन्ध में जितना वाद विवाद और विचार विमर्श हुआ है उतना भारत में नहीं हुआ। पर यूरोप में भी उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्व तक विकसनशील महाकाव्य के सम्बन्ध में कुछ भी चर्चा नहीं हुई थी क्योंकि इलियड ओडेसी को होमर कृत अलंकृत शास्त्रीय महाकाव्य माना जाता था और बियोवूल्फ निबेलुगनलीड आदि विकसनशील लोक महाकाव्यों का या तो आलोचकों को पता नहीं था या पता होने पर भी उनका लिखित रूप न मिलने और अज्ञात कवियों की रचना होने के कारण

उन्हें महाकाव्य की श्रेणी मे नही रखा गया था। रोमाण्टिक काल म जमनी के ग्रिम, शिलर, गेटे आदि विद्वानो ने तथा बाद के टेनब्रिंक, चाइल्ड, केर, किटरिज आदि शोधकर्ताओ ने इन विकसनशील लोककाव्या को भी महाकाव्य का ही एक रूप माना और उन्हे भी इलियड ओडेसी की श्रेणी मे रखा। उसी तरह भारतीय साहित्य के अन्वेषको—वेबर, मैक्समूलर, मैकडानल, विलसन, म्योर, कीथ, रिजवे, विण्टरनित्स आदि—ने महाभारत और रामायण को तथा ग्रियसन आदि ने हिन्दी के पृथ्वीराज रासो और आल्हखण्ड को विकसनशील महाकाव्य की सज्ञा दी। इस प्रकार भारतीय और पाश्चात्य महाकाव्यो के अलिखित और लिखित परम्परा के आधार पर दो स्पष्ट विभाग हो जाते ह—१—मौखिक परम्परा मे विकसित (विकसनशील) २—लिखित या अलकृत।

महाकाव्य के जिन रूपो और लक्षणो की चर्चा ऊपर की गयी है वे सभी अलकृत महाकाव्य के हैं। भारतीय साहित्य मे एक प्रकार का और महाकाव्य होता है जो पुराण और धम ग्रन्थ की शैली मे होता है और प्राकृत अपभ्रश मे उसकी अधिकता है। उसी तरह फारसी के शाहनामा और सस्कृत की राजतरगिणी को ऐतिहासिक शैली का महाकाव्य कहा जा सकता हे। इस प्रकार सारे विश्व के महाकाव्य इतनी शैलियो या कोटिया के हा सकते हैं —



महाकाव्य की उपर्युक्त शैलियों मे से कभी दो दो तीन तीन शैलियों के सम्मिश्रण से नये प्रकार के महाकाव्य भी दिखाई पडते हैं। अपभ्रंश के चरितकाव्यो मे से कुछ तो विशुद्ध रोमाचक कथाकाव्य हैं और कुछ में महाकाव्य के गुण होते हुए भी पुराण, इतिहास और रोमाचक कथाकाव्य तीनों की शैली अपनाई गयी हैं। अपभ्रश मे उन्हे चरितकाव्य का नाम दिया गया था। चरितकाव्य मे निजन्धरी और पौराणिक महापुरुषों और सामान्य व्यक्तियों के चरित को तो कथा का आधार बनाया ही जाता था, समसामयिक राजाओ, मन्त्रियों या सेठों की प्रशस्ति मे भी उनके आश्रित कवि प्रशस्तिमूलक महाकाव्यो की रचना करते थे। सस्कृत के विक्रमाकदेवचरित, वस्तुपालचरित आदि महाकाव्य ऐसे ही प्रशस्ति मूलक चरितकाव्य हैं। कई शैलियो के मिश्रण के आतरिक्त कभी कभी एक ही शैली बाह्यत कई रूपा म मिलती है, जैसे शास्त्रीय महाकाव्य प्रारम्भ मे अनुकृत होते हुए भा बहुत स्वच्छ द थे पर उत्तरकालीन शास्त्रीय महाकाव्यो ने पूववता शास्त्रीय महाकाव्यो की रीतियो का पूर्णतया अनुकरण करके उन्हे रूढ बना दिया, अत उनका रूप कालिदास और वर्जिल क स्वच्छन्दतायुक्त शास्त्रीय महाकाव्या से भिन्न प्रकार का है। इन शैलियो के भारतीय महाकाव्यो के सम्बन्ध मे अगले अध्याय म विशेष रूप से विचार किया जायगा।

आधुनिक पाश्चात्य आलोचको ने विकसनशील वीरगाथात्मक महाकाव्य के सबध मे जो कुछ विचार किया है उसके आधार पर उसकी विशेषताये आर अलकृत महाकाव्य से उसका अन्तर नीचे दिया जा रहा है —

विकसनशील महाकाव्य की विशेषताये —

१—विकसनशील महाकाव्य एक कवि की रचना नहीं होता, सैकडों वषा म अनगिनत व्यक्तिया की प्रतिभा और वाणी के योग स उसका विकास होता है। दूसरे शब्दो म अलकृत महाकाव्यो का तरह विशिष्ट कवियों द्वारा उसकी रचना नही होती बाल्क विभि न कालो के गायको, चारणो और लेखको (लिपिका) के प्रयत्न से उनका रूप विकसित होता है।

२—वीरता की भावना—विकसनशील महाकाव्य वीरयुग मे ही विकसित होते हैं। अत उनकी सामग्री तो वीरयुग की होती ही है, उनकी मूल भावना भी वारता प्रधान होती है। उनमे प्रेम का चित्रण भी होता है पर उसकी प्रधानता नही होती है। पहले अध्याय मे कहा जा चुका है कि वीरयुग दो प्रकार का रहा, पहला प्रारम्भिक वारयुग और दूसरा सामन्ती वीरयुग। प्रारम्भिक वीरयुग मे प्रेम का महत्व बहुत कम था। सामन्त वीरयुग के विकसनशील महाकाव्यों मे प्रेमभावना का चित्रण अधिक हुआ है। अलकृत महाकाव्यों मे

वीरभावना का यह रूप नहीं मिलता, उनमे प्रेम का चित्रण भी दूसरे प्रकार का होता है।

३—वीर चरित्र—इन महाकाव्यो के नायक ऐसे महान वीर होते हैं जो साहस और शक्ति मे समाज के अन्य लोगो की तुलना मे बहुत आगे बढे हुए होते हैं। ये वीर युद्धो मे अपनी वैयक्तिक वीरता और शक्ति प्रदशन से विजय प्राप्त करते हैं, सैन्य बल और सहयोग की अपेक्षा नहीं रखते। उनका प्रधान लक्ष्य यश और सम्मान की प्राप्ति और उसकी रक्षा करना होता है। इसके लिए वे बिना सोच विचार किये हर घडी अपने प्राणो की आहुति देने और दूसरो का प्राण लेने के लिए तैयार रहते हैं। उनके चरित्र की कुछ विशेषताये ये हैं —

(क) वे अपने शत्रुओ के प्रति अत्यन्त कठोर होते हैं।

(ख) उनम औरा से अधिक और कभी कभी अतिमानवीय शारीरिक और आत्मिक शक्ति होती है।

(ग) उनका नैतिक मानदण्ड सामाजिक नहीं, वैयक्तिक होता है। अथात् अपने यश सम्मान के लिए या अपनी विजय के लिये वे जो कुछ करते है, सभी नैतिक माना जाता है। वीरयुग का यही नैतिक मानदण्ड था।

(घ) प्रारम्भिक वीरयुग का वीरनायक सारे समाज का आदर्श होता है, वह समाज की भावनाओ का मूर्त रूप होने के कारण उसका प्रतिनिधित्व करता हे। पर सामती वीरयुग का वीर नायक सारे समाज का प्रतिनिधित्व नही करता, वह अपने चामत्कारिक चरित्र के कारण ही मान्य होता है।

(ङ) इन वीरो का मानवीय सम्बन्ध युद्ध आदि क बाद प्रेम व्यापार के रूप मे सवाधिक व्यक्त होता है।

इसके विपरीत अलकृत महाकाव्यों मे जो महान चरित्र चित्रित किये जाते हैं वे वीरयुग के बाद के सभ्य सस्कृत समाज के नैतिक मूल्यो से परिचालित महान उद्देश्य वाले सामाजिक व्यक्ति होते हैं।

४—साहसिक कार्य—इन महाकाव्यो म युद्ध आर भयकर यात्रा जैसे साहसिक कायो की अधिकता होती है। जीवन क अन्य क्षेत्रा और मानसिक दशाआ का चित्रण उनमे वेसा नही होता जैसा अलकृत महाकाव्यो मे होता है। अलकृत महाकाव्य समाज की अत्यन्त सघटित और विकसित अवस्था मे लिखे जाते हैं, अत उनमे सघटित जीवन—जैसे शासन कार्य, धर्म कार्य, सामाजिक व्यवहार आदि—का सश्लिष्ट चित्रण होता है।

५—कथानक का विस्तार—विकसनशील महाकाव्यो मे कथानक उतना सघटित और अन्वितियुक्त नही होता जितना अलकृत महाकाव्यो मे होता है। अत उनम विस्तार अधिक होता है, कसावट कम। शास्त्रीय महाकाव्यो की तरह उनमें थोडे मे अधिक कहने की प्रवृत्ति नही होती। उनम रोमाचक महाकाव्यो की तरह कथा प्रवाह अधिक वेगमय होता है। इसके निम्नलिखित कारण हैं —

(क) उनमे अवान्तर कथाये अधिक होती हैं। अवान्तर कथाये अलकृत महाकाव्यों मे भी होती हैं पर वे प्रधान कार्य से घनिष्ट रूप से सम्बद्ध होती हैं। विकसनशील महाकाव्यो की अवान्तर कथाये लोककथा-लोकगाथा की प्रवृत्ति का परिचय देती हैं क्योकि कथा के भीतर कथा रखने की प्रवृत्ति अधिकतर लोककथादि म ही होती है।

(ख) लोककथा की एक प्रवृत्ति अलोकिक और अतिप्राकृत तत्त्वो का अधिक उपयोग भी है। यह प्रवृत्ति विकसनशील महाकाव्या मे भी पाई जाती है। वीरयुग की सामान्य जनता अलौकिक शक्तियो और घटनाओ को सत्य मानती थी, अत लोकविश्वास और सम्भावना के आधार पर विकसनशील महाकाव्यो मे इन तत्त्वा का नियोजन पर्याप्त मात्रा म मिलता है। यही कारण है कि ऐसे महाकाव्या म कथानक रूढियाँ भरी रहती हैं।

(ग) नाटकीय अन्विति उनम उतनी नही होती जितनी शास्त्रीय महाकाव्यां मे, अत कथानक विश्रृंखलित प्रतीत होता है। अरस्तू द्वारा निर्दिष्ट यह लक्षण इलियड पर जितना लागू होता है उतना ओडेसी पर नही, और अन्य विकसनशील महाकाव्यो पर तो वह और भी कम लागू होता है।

६—उद्देश्य—विकसनशील महाकाव्य मे वैसा कोई महान दर्शन उपस्थित करना उद्देश्य नही होता जैसा अलकृत महाकाव्यो मे होता है। किसी युग की अविस्मरणीय और प्रख्यात घटनाओ और महान चरित्रो की कथा को जीवन्त रूप म उपस्थित करके मनोरजन करना इनका प्रधान उद्देश्य कहा जा सकता है। उनके चरित्र वीरयुग के बाद के युगो के लिए नेतिक दृष्टि से आदर्श नही होते। अत आदर्श चरित्रो का चित्रण करक उपदेश देना भी उनका उद्देश्य नहीं होता। यह अवश्य है कि विकसनशील महाकाव्य रोमाचक कथाकाव्य की तरह निरुद्देश्य और काल्पनिक नही होते, जीवन के प्रति दृढ आस्था उत्पन्न करना और सघर्ष और विपत्ति के क्षणो मे अडिग साहस, धैर्य और वीरता से काम लेने का आदर्श उपस्थित करना ही उनका उद्देश्य कहा जा सकता है।

७—वस्तु-व्यापार वर्णन—उनमे वस्तुओं और विविध जीवन व्यापारों का विव

रण उपस्थित करने की प्रवृत्ति प्रारम्भिक रूप म होती है जिसको रूढि के रूप मे अलकृत महाकाव्यों मे स्वीकार कर लिया गया। इससे जीवन और जगत मे विविध रूपो और पक्षो का पूर्ण चित्र उद्घाटित हो जाता है। इन महाकाव्यो मे जीवन के बाह्य रूपों का चित्रण जितना अधिक होता है उतना आन्तरिक रूपो अर्थात् मन की विविध दशाओ का नही। यही कारण है कि मनोवैज्ञानिक विवेचन उनम नही होता, व्यक्ति के सामान्य सुख दुख, क्रोध, घृणा, राग विराग का सीधा चित्रण ही अधिक होता है। ऐन्द्रिक आनन्द की ओर भी विकसनशील महाकाव्यो का रुझान वैसा नही होता जैसा अलकृत महाकाव्यों मे होता है। पर सामाजिक आन द की बातों—जैसे हसी मजाक, खेल कूद, नृत्यगान आदि—का चित्रण उनमे पर्याप्त मात्रा मे होता है। अलकृत महाकाव्या मे इनका चित्रण सयमित रूप मे होता है।

८—सादगी और अनलकृति—विकसनशील महाकाव्य समाज की रचना होता है किसी विशिष्ट कवि की नहीं। समाज की सामूहिक प्रवृत्ति सहजता की होती है, अलकरण की नही। इसके फलस्वरूप इन महाकाव्यो म निम्नलिखित विशेषताये दिखाइ पडती है —

(क) उनमे दूरारूढ कल्पनाओ और चमत्कार उत्पन्न करने वाले शास्त्रीय अलकारो का अभाव होता है, पर उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अनुप्रास और अतिशयोक्ति जैसे सहज अलकार, जो सामान्य जनता द्वारा प्रयुक्त होते हैं, इन महाकाव्यो मे भी मिलते हैं।

(ख) भाषा और शब्द-चयन की दृष्टि से भी इन महाकाव्यो मे वह चातुर्य और सौन्दर्य नही होता जो अलकृत महाकाव्यो मे होता है। अलकृत महाकाव्यो मे थोडे मे अधिक कहने की प्रवृत्ति के कारण कोइ शब्द अनावश्यक रूप से नहीं प्रयुक्त होता और प्रत्येक शब्द म अधिक से अधिक अर्थ भरने का प्रयत्न कवि करते हैं जिससे उनमे अलकारो की अधिकता दिखाइ पडता है। फिर भी सहज भाषा म जो सौन्दर्य इनमे होता है, वह अलकृत महाकाव्यो में नही होता।

(ग) उनमें पाण्डित्य प्रदर्शन और शास्त्रीय ज्ञानोपदेश की प्रवृत्ति नहीं होती जो अलकृत महाकाव्यों म होती है। विकसनशील महाकाव्य जीवन की खुली पुस्तक से अनुभव और सामान्य ज्ञान की सामग्री ग्रहण करते हैं, लिखित पोथियो से नही। अलकृत महाकाव्यो का अधिक अश पूर्व रचित ग्रन्थो के अध्ययन पर आधारित होता है। पर जिन विकसनशील महाकाव्यो को धार्मिक ग्रन्थ या पुराण के रूप मे स्वीकार कर लिया

जाता है उनमे उपर्युक्त बाते धीरे धीरे भर दी जाती है और वे प्राय पुराण का रूप धारण कर लेते है।

९—परिवर्तनशील रूप—इन महाकाव्यो का विकास और प्रचार जनता के बीच या दरबारो म मौखिक रूप से होता रहा, अत उनका रूप निश्चित नही रह सका। बाद म जब उ हे लिखा गया तो विभिन्न स्थानो मे और भि न व्यक्तिया द्वारा उसके विभि न रूप तैयार हो गये। इस मौखिक प्रचार के कारण उनम निम्नलिखित अभाव या दोष अनिवार्य रूप से मिलते हैं —

(क) उनका सुनिश्चित पाठ नही होता।

(ख) गायको चारणो की आशु कविता की परम्परा से विकसित होने के कारण उनम एक प्रकार की परिस्थितियो मे एक ही तरह की उपमाये, विशेषण आदि का प्रयोग मिलता है। कई जगह तो वह पुनरुक्तिदोष बन गया है।

१०—छन्द—ये महाकाव्य जनता के बीच मे दरबारो म वाद्य यत्रों के साथ गाये या सस्वर सुनाये जाते थे। अत इनमे अधिकतर गेय और सुपाठ्य छदों का प्रयोग हुआ है जो भावानुरूप प्रभाव उत्पन्न करने म सहायक होते है।

११—अन्य काव्य रूढियाँ—अ य काव्य रूढियाँ, जैसे महाकाव्य के प्रारभ म मगलाचरण, वस्तुनिर्देश और अनुक्रमणिका आदि, भी अनेक विकसनशील महाका यों मे पायी जाती हैं। पर इसे सामा य लक्षण नही माना जा सकता। इनके अतिरिक्त स्वर्ग नरक के वर्णन की रीति जो पाश्चात्य महाका यो मे रूढ हो गयी था, या प्रत्येक सर्ग में एक ही छ द रखने और सर्गान्त मे उसे बदल देने की भारतीय रूढि भी विकसनशील महाका यो म नहीं पाइ जाती। यही नही, विकसनशील महाकाव्यो में बीच बीच मे गद्याश भी मिलते हैं। इसे शास्त्रीय महाका य म रूढि रूप मे नहीं स्वीकार किया गया। नाटक का एक प्रधान तत्त्व सम्वाद भी है जो विकसनशील महाकाव्यों म अधिक पाया जाता है। पर इसे भी अलकृत महाकाव्यों मे अधिक नहीं अपनाया गया।

महाकाव्य सम्बन्धी नयी मान्यताये

महाका य के विविध रूपो और पाश्चात्य तथा भारतीय आचाया द्वारा निर्दिष्ट उनके लक्षणों पर विचार कर लेने के बाद हम इस स्थिति मे पहुँच गये हैं क रामायण-महाभारत और इलियड ओडेसी से लेकर आज तक के भारतीय और पाश्चात्य महाकाव्यो को दृष्टि पथ मे रखकर महाकाव्य की ऐसी परिभाषा निश्चित कर सके जो सभी प्रकार के महाकाव्यों पर लागू हो। पर यह कार्य

आज भी उतना ही कठिन है जितना पहले था। कारण यह है कि महाकाव्य के सम्बन्ध मे विभिन्न देशो और जातियो की विभिन्न प्रकार की मा यता है। 'द बुक आफ एपिक' के लेखक ने विश्व भर के महाका या के सम्ब ध मे अपना मत व्यक्त करते हुए उक्त पुस्तक की भूमिका मे ठीक ही लिखा है —

"ससार मे जितने राष्ट्र और जितने कवि हैं, महाकाव्य की सचमुच ही उतनी ही परिभाषाये हैं और महाकाव्य-रचना के उतने ही नियम हैं। इसलिए जहाँ तक प्रस्तुत ग्रन्थ का सम्बन्ध है, इस बात की ओर यान नही दिया गया कि कोई कवि विशेष स्वयम् अपनी किसी कृति को महाकाव्य मानकर महाकवि का अधिकार चाहता है और कोई दूसरा राष्ट्रविशेष उसी कोटि की अन्य राष्ट्रीय कृति को आगे रख सकता है या नही, प्रत्युत इस ग्र थ के लिए तो उसी कृति को महाकाव्य मान लिया गया जिसे किसी भी राष्ट्र ने महाकाव्य की सज्ञा दी है[1]।"

इस कथन से सहमति प्रकट करते हुए कहा जा सकता है कि इस अध्याय मे जिन आचार्यो के महाकाव्य सम्बन्धी विचार व्यक्त किये गये हैं उन सब ने भी महाकाव्य की परिभाषा उन काव्य ग्रन्थो को सामने रखकर ही बनाई है जो उनके समय म महाकाव्य माने जाते थे। अत एबरक्रोम्बी क अनुमार महाकाव्य की एक परिभाषा तो यह हो सकती है कि महाका य वह काव्य रूप है जिसे पढने या सुनने के उपरान्त उसी तरह का प्रभाव पडे जैसा रामायण महाभारत इलियड ओडेसी, इनीड रघुवश, बियोवूल्फ पृथ्वीराज रासो, शाहनामा पद्मावत, पैरेडाइजलास्ट रामचरितमानस और फाउस्ट तथा कामायनी का पडता है[2]। पर यह परिभाषा बहुत ही अस्पष्ट और परिवर्तनशील भूमि पर आधारित है क्योकि भावना और प्रभाव की परिभाषा नही हो सकती और न विभि न श्रोताओ

१—विदेशो के महाकाव्य—"द बुक आफ एपिक का अनुवाद" अनु० गोपीकृष्ण गोपेश, प्रयाग—१९४६, भूमिका पृ० १३।

2— An easy way to define epic though not a very profitable way would be to say simply that an epic is a poem which produces feelings similar to those produced by Paradise Lost or the Iliad, Beowulf or the Song of Roland Indeed you might include all the epics of Europe in this definition without loosing your breath, for the epic poet is the rarest kind of artist '

Abercrombie—The Epic, p 40–41

जाता है उनमे उपर्युक्त बाते धीरे धीरे भर दी जाती हे और वे प्राय पुराण का रूप धारण कर लेते हे।

९—परिवर्तनशील रूप—इन महाकाव्यो का विकास और प्रचार जनता के बीच या दरबारो म मौखिक रूप से होता रहा, अत उनका रूप निश्चित नही रह सका। बाद म जब उन्हे लिखा गया तो विभिन्न स्थानो मे और भिन्न व्यक्तियो द्वारा उसके विभिन्न रूप तैयार हो गये। इस मौखिक प्रचार के कारण उनम निम्नलिखित अभाव या दोष अनिवार्य रूप से मिलते हैं —

(क) उनका सुनिश्चित पाठ नही होता।

(ख) गायको चारणो की आशु कविता की परम्परा से विकसित होने के कारण उनम एक प्रकार की परिस्थितियो मे एक ही तरह की उपमाये, विशेषण आदि का प्रयोग मिलता है। कई जगह तो वह पुनरुक्तिदोष बन गया है।

१०—छन्द—ये महाकाव्य जनता के बीच मे दरबारो म वाद्य यन्त्रों के साथ गाये या सस्वर सुनाये जाते थे। अत इनम अधिकतर गेय ओर सुपाठ्य छदों का प्रयोग हुआ है जो भावानुरूप प्रभाव उत्पन्न करने म सहायक होते हें।

११—अन्य काव्य रूढियाँ—अन्य काव्य रूढियाँ, जैसे महाकाव्य के प्रारभ म मगलाचरण, वस्तुनिर्देश और अनुक्रमणिका आदि, भी अनेक विकसनशील महाकाव्यों मे पायी जाती हैं। पर इसे सामान्य लक्षण नही माना जा सकता। इनके अतिरिक्त स्वर्ग नरक के वर्णन की रीति जो पाश्चात्य महाकाव्यों म रूढ हो गयी था, या प्रत्येक सर्ग में एक ही छद रखने ओर सर्गान्त मे उसे बदल देने की भारतीय रूढि भी विकसनशील महाकाव्यो म नहीं पाइ जाती। यही नही, विकसनशील महाकाव्यो में बीच बीच मे गद्याश भी मिलते हैं। इसे शास्त्रीय महाकाव्य म रूढि रूप मे नहीं स्वीकार किया गया। नाटक का एक प्रधान तत्त्व सम्वाद भी है जो विकसनशील महाकाव्यों म अधिक पाया जाता है। पर इसे भी अलकृत महाकाव्यों म अधिक नही अपनाया गया।

महाकाव्य सम्बन्धी नयी मान्यताये

महाकाव्य के विविध रूपो और पाश्चात्य तथा भारतीय आचार्या द्वारा निर्दिष्ट उनके लक्षणा पर विचार कर लेने के बाद हम इस स्थिति मे पहुँच गये हैं कि रामायण महाभारत और इलियड ओडेसी से लेकर आज तक के भारतीय और पाश्चात्य महाकाव्यो को दृष्टि पथ म रखकर महाकाव्य की ऐसी परिभाषा निश्चित कर सके जो सभी प्रकार के महाकाव्यों पर लागू हो। पर यह कार्य

आज भी उतना ही कठिन है जितना पहले था। कारण यह है कि महाकाव्य के सम्बन्ध मे विभिन्न देशो और जातियो की विभिन्न प्रकार की मान्यता है। 'द बुक आफ एपिक' के लेखक ने विश्व भर के महाकाव्यो के सम्बन्ध म अपना मत व्यक्त करते हुए उक्त पुस्तक की भूमिका मे ठीक ही लिखा है —

"ससार म जितने राष्ट्र और जितने कवि हैं, महाकाव्य की सचमुच ही उतनी ही परिभाषाये हैं और महाकाव्य रचना के उतने ही नियम हैं। इसलिए जहाँ तक प्रस्तुत ग्रन्थ का सम्बन्ध है, इस बात की ओर ध्यान नहीं दिया गया कि कोई कवि विशेष स्वयम् अपनी किसी कृति को महाकाव्य मानकर महाकवि का अधिकार चाहता है और कोई दूसरा राष्ट्रविशेष उसी कोटि की अन्य राष्ट्रीय कृति को आगे रख सकता है या नही, प्रत्युत इस ग्रन्थ के लिए तो उसी कृति को महाकाव्य मान लिया गया जिसे किसी भी राष्ट्र ने महाकाव्य की सज्ञा दी है[1]।"

इस कथन से सहमति प्रकट करते हुए कहा जा सकता है कि इस अध्याय मे जिन आचार्यो के महाकाव्य सम्बन्धी विचार व्यक्त किये गये हैं उन सब ने भी महाकाव्य की परिभाषा उन काव्य ग्रन्थो को सामने रखकर ही बनाई है जो उनके समय म महाकाव्य माने जाते थे। अत एबरक्रोम्बी के अनुसार महाकाव्य की एक परिभाषा तो यह हो सकती है कि महाकाव्य वह काव्य रूप है जिसे पढने या सुनने के उपरान्त उसी तरह का प्रभाव पडे जैसा रामायण महाभारत, इलियड ओडेसी, इनीड रघुवश, बियोवूल्फ पृथ्वीराज रासो, शाहनामा पद्मावत, पैरेडाइजलास्ट रामचरितमानस और फाउस्ट तथा कामायनी का पडता है[2]। पर यह परिभाषा बहुत ही अस्पष्ट और परिवर्तनशील भूमि पर आधारित है क्योकि भावना और प्रभाव की परिभाषा नही हो सकती और न विभिन्न श्रोताओ

१—विदेशो के महाकाव्य—"द बुक आफ एपिक का अनुवाद" अनु० गोपीकृष्ण गोपेश, प्रयाग—१९४६, भूमिका पृ० १३।

2— An easy way to define epic though not a very profitable way would be to say simply that an epic is a poem which produces feelings similar to those produced by Paradise Lost or the Iliad, Beowulf or the Song of Roland Indeed you might include all the epics of Europe in this difinition without loosing your breath, for the epic poet is the rarest kind of artist '

Abercrombie—The Epic, p 40—41

पाठकों पर वह प्रभाव ही एक जैसा हो सकता है । अत महाका य का स्वरूप निर्णय किसी दृढ और मूर्त आधार पर होना चाहिये । इस दृष्टि से 'दी बुक आफ एपिक' का भूमिका मे महाकाव्य की यह परिभाषा दी गयी है —एपिक प्रधान रूप से उस वीर रस प्रधान कथात्मक काव्य का नाम है जिसम श्रेष्ठ काव्य के सभी गुण, जैस सुख दुख और सयोग वियोग का चित्रण तथा रीति तत्त्वों और कथा तत्त्वो का मिश्रण, आदि हो, जिसमे स्वाभाविक जीवन क मनोहारी चित्र आर घात प्रतिघात वर्णित हो और जिसम सारे तत्त्वो का प्रकृत सम वय इस कुशलता से किया गया हो कि वह रचना सदा के लिये अमर हो जाय। विस्तार से सोचने पर ऐसा प्रतीत होता है कि पौराणिक कथाये जिनम हम प्रकृति को अपने ढङ्ग से सोचने समझने का प्रयत्न करत रहे हैं, और महत्पात्रा के जीवन की कथायें जिनम हम इतिहास को आदर्श पथ पर ले चलने का प्रयास करते रहे हैं, महाकाव्य के मुख्य और आवश्यक अग हैं। और चूकि महा काव्य किसी भी जाति विशेष का जीता जागता इतिहास होता है अतएव उसम एक बडी नदी की चौडाई, गहराई, ओर विस्तार होना अनिवाय है। कहा जा सकता है कि आदिकाल से ही कल्पनाशील जातियाँ प्रकृति ओर जीवन को लेकर कितने ही अनुभव करती रही है। ये महाकाव्य और कुछ न होकर उन्ही अनुभवो के प्रथम परिणाम और निष्कर्ष रहे है और वास्तविक कवि नियमित रूप से स्वय एक जाति का व्यक्ति रूप रहा है[1]।

पर यह परिभाषा भी स्पष्ट और पूर्ण नहीं है क्योकि यह विकसनशील महाकाव्यो पर जितनी लागू होती है उतनी अलकृत महाकाव्यो पर नही। आधुनिक युग क महाकाव्या म कइ मे तो पौराणिक और निज धरी आख्यानो को बिलकुल नहीं लिया गया है। अत यह परिभाषा सभी देशो और कालो के सभी प्रकार के महाकाव्यो पर नहीं लागू हो सकती।

बावरा और एबरक्रोम्बी का मत —

अग्रेजा के वर्तमान समय के एक प्रसिद्ध आलोचक सी० एम० बावरा ने महाकाव्य की एक दूसरी परिभाषा दी है जो यह है —

"सर्व सम्मति से महाकाव्य वह कथात्मक काव्यरूप है जिसका आकार बृहद होता है, जिसमे महत्वपूण और गरिमायुक्त घटनाओ का वर्णन होता है और जिसमे कुछ चरित्रों की क्रियाशील जीवन कथा, विशेषकर भयकर कार्यों से युद्ध आदि से युक्त जीवन कथा होती है। उसके पढने के बाद हमें विशेष

१—विदेशो के महाकाव्य अनु० गोपीकृष्ण गोपेश भूमिका पृ० १३।

प्रकार का आनन्द प्राप्त होता है क्योकि उसकी घटनाये और पात्र हमारे भीतर मनुष्य की महानता, गौरव और उपलब्धियो के प्रति दृढ आस्था उत्पन्न करते है[1] ।" श्री बावरा की यह परिभाषा महाकाव्य के आन्तरिक गुणो को तो व्यक्त करती है पर उसके बाह्य लक्षणों पर इस से कुछ भी प्रकाश नही पडता । अत यह परिभाषा भी पूर्ण नहीं मानी जा सकती । इसी से मिलता जुलता मत एबरक्राम्बी का भी है जिन्हाने महाकाव्य की यह परिभाषा दी है, "बडे आकार के कारण ही कोई काव्य महाकाव्य नहीं हो जाता । जब उसकी शैली महाकाव्य की शैली होगी तभी उसे महाकाव्य माना जा सकता है और वह शैली कवि की कल्पना, विचारधारा तथा उनकी अभिव्यक्ति से जुडी रहती है । उस शैली के काव्य 'महाकाव्य' हम एक ऐसे लोक मे पहुँचा देते है जहाँ कुछ भी महत्वहीन और असारगर्भित नही होता । महाकाव्य के भीतर एक पुष्ट, स्पष्ट और प्रतीकात्मक उद्देश्य होता है जो उसकी गति का आद्य त सचालन करता है ।[2]" एब्रक्रोम्बी की इस परिभाषा मे घटना, चरित्र, उद्देश्य ओर शैली की महानता और गाम्भीर्य, सब पर ध्यान दिया गया है, फिर भी इससे महाकाव्य का रूप स्पष्ट नही हो पाता क्योंकि उसम बाह्य तत्वो के सम्बन्ध मे कुछ भी नहीं कहा गया है ।

केर ओर डिक्सन का मत —

इस सम्बन्ध मे डब्ल्यू० पी० केर की यह परिभाषा अधिक स्पष्ट और अपेक्षाकृत पूर्ण प्रतीत होती है । "महाकाव्य मे चरित्रों की कल्पना बहुत ही स्पष्ट ओर सम्पूण रूप म की जाती है, अत उनकी विभिन्न मनस्थितियो और समस्याओ के चित्रण के कारण महाकाव्य मे नाना प्रकार के दृश्यो और गुणो का चित्रण स्वभावत हो जाता है । इस प्रकार उसमे समग्र जीवन के कायकलाप जीवन कथा

1— An epic poem is by common consent a narrative of some length and deals with events which have a certain grandure and importance and come from a life of action especially of violent action such as war It gives a special pleasure because its events and persons enhance our belief in the worth of human achievement and in the dignity and nobility of man'

C M Bowara—From Virgil to Milton, P 1, London, 1945

2 'What epic quality detached from epic proper do these poems posses then apart from the mere fact that they take up great many pages ? It is simply a question of their style—the style of their conception and the style

पाठकों पर वह प्रभाव ही एक जैसा हो सकता है । अत महाकाय का स्वरूप निर्णय किसी दृढ और मूत आधार पर होना चाहिये । इस दृष्टि से 'दी बुक आफ एपिक' का भूमिका मे महाकाव्य की यह परिभाषा दी गयी है —एपिक प्रधान रूप से उस वीर रस प्रधान कथात्मक काव्य का नाम है जिसमे श्रेष्ठ काव्य के सभी गुण, जैसे सुख दुख और सयोग वियोग का चित्रण तथा रीति तत्त्वों और कथा तत्त्वो का मिश्रण, आदि हों, जिसम स्वाभाविक जीवन क मनोहारा चित्र आर घात प्रतिघात वर्णित हो और जिसम सारे तत्त्वों का प्रकृत समन्वय इस कुशलता से किया गया हो कि वह रचना सदा के लिये अमर हो जाय । विस्तार से सोचने पर ऐसा प्रतीत होता है कि पौराणिक कथाये जिनम हम प्रकृति को अपने ढङ्ग से सोचने समझने का प्रयत्न करत रहे हैं, और महत्पात्रा के जीवन की कथायें जिनम हम इतिहास को आदर्श पथ पर ले चलने का प्रयास करते रहे हैं, महाकाव्य के मुख्य और आवश्यक अग हैं । ओर चूंकि महा काव्य किसी भी जाति विशेष का जीता जागता इतिहास होता है अतएव उसम एक बडा नदी की चौडाई, गहराई, ओर विस्तार होना अनिवाय है । कहा जा सकता है कि आदिकाल से ही कल्पनाशील जातियाँ प्रकृति आर जीवन को लेकर कितने ही अनुभव करती रही हैं । ये महाकाव्य और कुछ न होकर उन्हीं अनुभवो के प्रथम परिणाम और निष्कर्ष रहे हैं और वास्तविक कवि नियमित रूप से स्वय एक जाति का व्यक्ति रूप रहा है[1] ।

पर यह परिभाषा भी स्पष्ट और पूर्ण नहीं है क्योंकि यह विकसनशील महाकाव्यो पर जितनी लागू होती है उतनी अलकृत महाकाव्यो पर नहीं। आधुनिक युग के महाकाव्यो म कइ मे तो पौराणिक और निजन्धरी आख्यानो को बिलकुल नहीं लिया गया है । अत यह परिभाषा सभी देशों और कालों के सभी प्रकार के महाकाव्यो पर नहीं लागू हो सकती।

बावरा और एबरक्रोम्बी का मत —

अंग्रेजा के वर्तमान समय के एक प्रसिद्ध आलोचक सी० एम० बावरा ने महाकाव्य की एक दूसरी परिभाषा दी है जो यह है —

"सर्व सम्मति से महाकाव्य वह कथात्मक काव्यरूप है जिसका आकार वृहद होता है, जिसमे महत्वपूर्ण और गरिमायुक्त घटनाओ का वर्णन होता है ओर जिसम कुछ चरित्रों की क्रियाशोल जीवन कथा, विशेषकर भयकर कार्यों जैसे युद्ध आदि से युक्त जीवन कथा हाती है । उसके पढने के बाद हमें विशेष

१—विदेशो के महाकाव्य अनु० गोपीकृष्ण गोपेश भूमिका पृ० १२ ।

प्रकार का आनन्द प्राप्त होता है क्योकि उसकी घटनाये और पात्र हमारे भीतर मनुष्य की महानता, गौरव और उपलब्धिया के प्रति दृढ आस्था उत्पन्न करते हैं[1] ।" श्री बावरा की यह परिभाषा महाकाव्य के आन्तरिक गुणो को तो व्यक्त करती है पर उसके बाह्य लक्षणों पर इस से कुछ भी प्रकाश नही पडता । अत यह परिभाषा भी पूर्ण नही मानी जा सकती । इसी से मिलता जुलता मत एबरक्राम्बी का भी है जिन्होने महाकाव्य की यह परिभाषा दी है, "बडे आकार के कारण ही कोई काव्य महाकाव्य नहीं हो जाता । जब उसकी शैली महाकाव्य की शैली होगी तभी उसे महाकाव्य माना जा सकता है और वह शैली कवि की कल्पना, विचारधारा तथा उनकी अभिव्यक्ति से जुडी रहती है । उस शैली के काव्य 'महाकाव्य' हमे एक ऐसे लोक मे पहुँचा देते हे जहाँ कुछ भी महत्वहीन ओर असारगर्भित नही होता । महाकाव्य के भीतर एक पुष्ट, स्पष्ट और प्रतीकात्मक उद्देश होता है जो उसकी गति का आद्यन्त सचालन करता है ।[2]" एबरक्रोम्बी की इस परिभाषा म घटना, चरित्र, उद्देश्य ओर शैली की महानता और गाभीर्य, सब पर ध्यान दिया गया है, फिर भी इससे महाकाव्य का रूप स्पष्ट नही हो पाता क्योंकि उसमे बाह्य तत्वो के सम्बन्ध मे कुछ भी नहीं कहा गया है ।

केर ओर डिक्सन का मत —

इस सम्बन्ध मे डब्ल्यू० पी० केर की यह परिभाषा अधिक स्पष्ट और अपेक्षाकृत पूर्ण प्रतीत होती है । "महाकाव्य मे चरित्रों की कल्पना बहुत ही स्पष्ट ओर सम्पूर्ण रूप मे की जाती है, अत उनकी विभिन्न मनस्थितियो और समस्याओ के चित्रण के कारण महाकाव्य मे नाना प्रकार के दृश्यो और गुणों का चित्रण स्वभावत हो जाता है । इस प्रकार उसमे समग्र जीवन के कायकलाप जीवन कथा

1— 'An epic poem is by common consent a narrative of some length and deals with events which have a certain grandure and importance and come from a life of action especially of violent action such as war It gives a special pleasure because its events and persons enhance our belief in the worth of human achievement and in the dignity and nobility of man'

C M Bowara—From Virgil to Milton, P 1, London, 1945

2 'What epic quality detached from epic proper do these poems posses then, apart from the mere fact that they take up great many pages ? It is simply a question of their style—the style of their conception and the style

का रूप धारण कर लेते हैं। महाकाव्य की सफलता कवि की कल्पना शक्ति और उसके चरित्र चित्रण पर निर्भर करती है। महाकाव्य माने जाने वाले कुछ काव्य ग्रथा के कथानक मे यद्यपि नाटकीय गुण नहीं होते और नवीन दृश्यों और साहसपूर्ण कार्यो की प्रधानता होते हुए भी उनका नायक महत्त्वहीन होता है, फिर भी ऐसे कथानका मे एक प्रकार की गरिमा होती है जिससे वे महाकाव्य माने जाते है[1]।" इस परिभाषा म होमर से लेकर अब तक के उन सभी काव्यो में, जिन्हे विकसनशील शास्त्रीय या रोमाचक महाका य माना जाता है, पाइ जाने वाला सामान्य विशेषताओ का समावेश हो गया है, पर आधुनिक युग के स्वच्छन्दतावादा महाकाव्यों पर, यदि उन्हे महाकाव्य माना जाय ता यह परिभाषा पूर्णतया नही लागू हो सकती। उदाहरण के लिए ब्राउनिग के 'द रिंग ऐण्ड द बुक' मे मनोवैज्ञानिक चित्रण ही प्रधान है, इसी तरह हिन्दी के आधुनक महाकाव्य कामायनी म भी मनोवैज्ञानिक चित्रण और दार्शनिक निरूपण की ही प्रधानता है, उसमे घटनाओ और समग्र जीवन के विविध रूपो और पक्षो का चित्रण अधिक नही हुआ है। फिर भी उन्हे महाकाव्य इसलिए माना गया है कि उनमे कोई एक प्रधान घटना ऐसी है जो सहज या सरल होते हुए भी बहुत ही महत्त्वपूर्ण और महान है। सबका निष्कर्ष यह है कि महा

---

of their writing the whole style of their imagination, in fact They take us into a region in which nothing happens that is not deeply significant, a dominant, noticeable symbolic purpose presides over each poem, moulds it greatly and informs it throughout '

Lascelles Abercrombie The Epic p 41 42

1 ' In an epic poem where the characters are vividly imagined it follows naturally that their various moods and problems involve a variety of scenery and properties, and so the whole business life comes into the story the success of epic poetry depends on the author's power of imagining and representing characters A kind of success and a kind of magnificence may be attained in stories, professing to be epic in which there is no dramatic virtue, in which every new scene and new adventure merely goes to accumulate in immortal verse, the proofs of the heroes nullity and insignificance "

W P Ker—Epic & Romance, p 17

काव्य सम्बन्धी मान्यतायें युग युग मे बदलती रहती हैं, पर प्रत्येक युग मे पिछले युगो के मान्य महाकाव्यो को उनकी गद्दी से उतार नहीं दिया जाता, इस तरह महाकाव्य की नइ नइ शैलियाँ बनती रहती है। अत महाकाव्य के छोटे मोटे लक्षणा से लेकर मूल विशेषताओ तक का विभिन्न युगो के कवियो द्वारा उल्लघन किया जाता रहा है। स्वच्छन्दतावाद (रोमांटिसिज्म) के युग मे इस तरह के पुराने लक्षणो के बन्धना को और भी अधिक तोडा गया। अत उस युग के महान स्वच्छन्द विचारक वाल्टेयर का महाकाव्य के सम्बन्ध मे यह कथन विचारणीय है जिसे मैकनील डिक्सन ने सर्वथा समीचीन मत माना है —

"मान्य लक्षणो के होने या न होने से ही कोई काव्य महाकाव्य नहीं बन जाता। ऐसे काव्य ग्रन्थ ही महाकाव्य नाम के अधिकारी हैं जिनम किसी महान घटना का वर्णन होता है और जिन्हे समाज व्यवहारत महाकाव्य मानने लगता है। चाहे वह घटना सरल हो या जटिल, चाहे वह इलियड की तरह एक स्थान पर घटित हो या ओडेसी की तरह उसका नायक ससार भर मे भटकता फिरे, चाहे उसमे एक नायक हो या अनेक, चाहे वे अभागे हो या सौभाग्यशाली, एचिलीस की तरह भयकर क्रोधी हो या एनियास की तरह धर्मात्मा, चाहे वे राजा हों, या सेनापति, या इनम से कुछ भी न हों, चाहे उसके दृश्य हिन्द महासागर के हो जैस कैमास के लूसियाडा म, या पश्चिमी द्वीप समूह के हो, चाहे वे स्वर्ग के हो या नरक के जो इस धरती पर नहीं होते, इससे कुछ नहीं बनता बिगडता। इनके बावजूद कोई काव्य तब तक महाकाव्य कहा जाता रहेगा जब तक आप उसके गुणो के अनुरूप उसका कुछ और नामकरण नहीं कर देते[1]।"

1 Use alone has prefixed the name of epic particularly to those poems which relate some great action Let the action be simple or complex let it lie in one single place as in the Iliad or let the hero wander all the world over, as in the Odyssey let there be one single hero or a great many, happy or unfortunate furious as Achilles or pious as Aeneas let them be kings or generals or neither of them let the scene lie upon the Indian ocean as in the lusiada of Camoens in the West Indies as in the Arancana of Alonzo of Ericilla in Hell in Heaven out of the limits of our nature as in Milton the poem will equally deserve the

वाल्टेयर का अभिप्राय यह है कि महाकाव्य मे कुछ ऐसे गुण होते हैं जो भले ही शब्दा मे व्यक्त न किये जा सके, पर समाज जिनका अनुभव अपनी सहज बुद्धि द्वारा करता है और इस तरह सहज ही उसे महाकाव्य का पद प्राप्त हो जाता ह। अत उसका महाकाव्यत्व किसी काव्य के बाह्य लक्षणो, उसकी परम्परागत रूढियो पर निर्भर नहा करता, बल्कि समाज की स्वीकृति पर निर्भर करता है। उस स्वाकृति के लिए वाल्टेयर ने केवल एक शर्त रखी है और वह है महा काव्य मे घटना का महान या गरिमा युक्त होना। अरस्तू ने भी यही शर्त रखी थी पर उसने उसके साथ और भी शर्तें रखी थीं जो बाद के कई मान्य महा काव्यो म न मिलने के कारण वाल्टेयर को मान्य नही हुई आर उसी तरह आज भी उन्हे मानने की कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। इस प्रकार सकीर्ण लक्षणो के मानदण्ड से महाकाव्य का स्वरूप निर्णय नही हो सकता। इस सबध मे डिक्सन का यह कथन सर्वथा उचित है कि यद्यपि महाकाव्य का एक निश्चित स्वरूप होता है पर उसे सकीर्ण लक्षणो के बन्धन मे नही बाधा जा सकता। उदाहरणार्थ शास्त्रीय महाकाव्य का यह नियम कि उसमे कल्पित और अविश्वस नीय तत्व नहीं होने चाहिये, यदि दृढता पूर्वक स्वीकृत किया जाय तो अनेक महान महाकाव्यो को इस श्रेणी से निकाल देना पडेगा[1]। जैसा पहले कहा जा चुका है, भारतीय आलकारिकों द्वारा निर्दिष्ट लक्षणो का ही यह परिणाम हुआ कि रामायण और महाभारत को महाकाव्य की श्रेणी से निकाल कर इतिहास-पुराण की श्रेणी मे रख दिया गया। इन दोनो महाकाव्यो मे नाटकीय अन्विति का अभाव है और आश्चर्यजनक तथा काल्पनिक घटनाओं का पर्याप्त वर्णन हुआ है, अत शास्त्रीय महाकाव्य के लक्षणो के मानदण्ड से वे महाकाव्य नही

name of epic unless you have a mind to honour it with another title proportionate to its merit'

Quoted by Macnielle Dixon—In English Epic & Heroic Poetry p, 9

1 'And we may remind ourselves and before all things that the term epic definite enough in meaning can bear no narr ow interpretation The rules like that for the exclusion of the marvellous or fantastic element laid down by the critics would have excluded from the role of epic poets if rigidly applied names the most brilliant had they not indeed made of it a total blank"

Ibid p 18—19

वाल्टेयर का अभिप्राय यह है कि महाकाव्य मे कुछ ऐसे गुण होते हैं जो भले ही शब्दो म व्यक्त न किये जा सके, पर समाज जिनका अनुभव अपनी सहज बुद्धि द्वारा करता है और इस तरह सहज ही उसे महाकाव्य का पद प्राप्त हो जाता ह। अत उसका महाकाव्यत्व किसी काव्य के बाह्य लक्षणो, उसकी परम्परागत रूढियो पर निर्भर नही करता, बल्कि समाज की स्वीकृति पर निभर करता हे। उस स्वीकृति के लिए वाल्टेयर ने केवल एक शर्त रखी है ओर वह है महाकाव्य मे घटना का महान या गरिमा युक्त होना। अरस्तू ने भी यही शर्त रखी थी पर उसने उसके साथ और भी शर्तें रखी थी जो बाद के कइ मान्य महाकाव्यो म न मिलने के कारण वाल्टेयर को मान्य नही हुइ और उसी तरह आज भी उन्हे मानने की कोई आवश्यकता नही प्रतीत होती। इस प्रकार सकीर्ण लक्षणो के मानदण्ड से महाकाव्य का स्वरूप निर्णय नही हो सकता। इस सबध म डिक्सन का यह कथन सर्वथा उचित है कि यद्यपि महाकाव्य का एक निश्चित स्वरूप होता है पर उसे सकीर्ण लक्षणो के बन्धन मे नही बाधा जा सकता। उदाहरणार्थ शास्त्रीय महाकाव्य का यह नियम कि उसमे कल्पित और अविश्वसनीय तत्व नही होने चाहिये, यदि दृढता पूवक स्वीकृत किया जाय तो अनेक महान महाकाव्यो को इस श्रेणी से निकाल देना पडेगा[1]। जेसा पहले कहा जा चुका है, भारतीय आलकारिकों द्वारा निदिष्ट लक्षणो का ही यह परिणाम हुआ कि रामायण और महाभारत को महाकाव्य की श्रेणी से निकाल कर इतिहास-पुराण की श्रेणी मे रख दिया गया। इन दोनो महाकाव्यो मे नाटकीय अन्विति का अभाव है और आश्चयजनक तथा काल्पनिक घटनाओ का पर्याप्त वर्णन हुआ है, अत शास्त्रीय महाकाव्य के लक्षणो के मानदण्ड से वे महाकाव्य नही

name of epic unless you have a mind to honour it with another title proportionate to its merit '

Quoted by Macnielle Dixon—In English Epic & Heroic Poetry p, 9

1 ' And we may remind ourselves and before all things that the term epic definite enough in meaning can bear no narrow interpretation The rules like that for the exclusion of the marvellous or fantastic element laid down by the critics would have excluded from the role of epic poets, if rigidly applied names the most brilliant, had they not indeed made of it a total blank "

Ibid p 18—19

वाल्टेयर का अभिप्राय यह है कि महाकाव्य मे कुछ ऐसे गुण होते हैं भले ही शब्दो मे व्यक्त न किये जा सक, पर समाज जिनका अनुभव अपनी स बुद्धि द्वारा करता है और इस तरह सहज ही उसे महाकाव्य का पद प्राप्त हो ज है। अत उसका महाकाव्यत्व किसी काव्य के बाह्य लक्षणो, उसकी परम्परा रूढियो पर निर्भर नहा करता, बल्कि समाज की स्वीकृति पर निर्भर करता । उस स्वीकृति के लिए वाल्टेयर ने केवल एक शर्त रखी है और वह है म काव्य मे घटना का महान या गरिमा युक्त होना। अरस्तू ने भी यही शर्त र खी पर उसने उसके साथ और भी शर्तें रखी थी जो बाद के कइ मान्य म काव्या मे न मिलने के कारण वाल्टेयर को मान्य नही हुइ और उसी तरह अ भी उन्हे मानने की कोई आवश्यकता नही प्रतीत होती। इस प्रकार सक लक्षणो के मानदण्ड से महाकाव्य का स्वरूप निर्णय नही हो सकता। इस स मे डिक्सन का यह कथन सर्वथा उचित है कि यद्यपि महाकाव्य का ए निश्चित स्वरूप होता है पर उसे सकीर्ण लक्षणो के बन्धन मे नही बाधा जा सक्त उदाहरणार्थ शास्त्रीय महाका य का यह नियम कि उसमे कल्पित और अविश्वर नीय तत्व नहीं होने चाहिये, यदि दृढता पूवक स्वीकृत किया जाय तो अने महान महाकाव्यो को इस श्रेणी से निकाल देना पडेगा[1]। जैसा पहले कहा चुका है भारतीय आलकारिकों द्वारा निदिष्ट लक्षणो का ही यह परिणाम हुआ रामायण और महाभारत को महाकाव्य की श्रेणी से निकाल कर इतिहार पुराण की श्रेणी मे रख दिया गया। इन दोनो महाकाव्यो मे नाटकीय अन्वि का अभाव है और आश्चयजनक तथा काल्पनिक घटनाओ का पयाप्त वर्ण हुआ है, अत शास्त्रीय महाकाव्य के लक्षणो के मानदण्ड से वे महाकाव्य नह

name of epic unless you have a mind to honour it wit another title proportionate to its merit '

Quoted by Macnielle Dixon—In English Epic & Heroi Poetry p, 9

1 'And we may remind ourselves and before all things tha the term epic definite enough in meaning can bear no narr ow interpretation The rules like that for the exclusio of the marvellous or fantastic element laid down by th critics would have excluded from the role of epic poet if rigidly applied names the most brilliant had they no indeed made of it a total blank"

Ibid p 18—1

जा सकते। पर यदि उन्हें, और प्राकृत अपभ्रंश के सेतुबंध या रावणवहो, नहो, पउम चरिउ, महापुराण, आदि को तथा हिन्दी के पृथ्वीराज रासो रित मानस और पद्मावत आदि को, जिनमे आश्चर्यजनक कल्पित घटनाओं अतिप्राकृत तत्त्वो की प्रधानता और शास्त्रीय लक्षणो का अभाव है, काव्य नही माना जायगा तो महाकाव्य की सीमा बहुत सकीर्ण हो जायगी।

काव्य के स्थिर लक्षण —

अत महाकाव्य का स्वरूप निर्धारण करते समय हमे इस बात का ध्यान होगा कि हम उसके जो लक्षण निश्चित कर रहे हैं वे उसके स्थायी से सम्बन्धित हैं या अस्थायी तत्त्वा से। पाश्चात्य और भारतीय आलोचको तने लक्षण बताये हैं उनमे स्थायी तत्त्वो से सम्बन्ध रखनेवाले लक्षणो मे क अतर नही है। भारतीय आचार्यो द्वारा निर्दिष्ट लक्षणो मे जो लक्षण सभी ो के महाका यो मे निश्चित और अनिवार्य रूप से पाये जाते हैं, वे ये हैं—

१—नायक का आदर्श और महान होना—ऐसे नायकों को भारतीय कारिको ने चतुरोदात्त या धीरोदात्त नायक कहा है। दशरूपक के अनुसार ात्त नायक महा सात्विक, अतिगम्भीर, क्षमावान, आत्मश्लाघाहीन, स्थिर अहकार को छिपाने वाला और दृढव्रती होता है[1]। रुद्रट ने महान नायक र भी लक्षण दिये हैं।

२—महान उद्देश्य—इसे भारतीय आचार्यों ने चतुर्वर्ग फल की प्राप्ति कहा है।

३—रस की उपस्थिति।

४—कथानक का सदाश्रित होना या घटना का महान होना—इसी बात रे ढग से इस तरह भी कहा गया है कि कथानक को इतिहास कथोद्भूत ातवृत्त होना चाहिये।

भी भारतीय महाकाव्यो मे अनिवार्य रूप से ये लक्षण मिलते हैं, क्योंकि सम्बन्ध महाकाव्य की आत्मा से है। महाकाव्य के लक्षणों के सम्बन्ध म य आलोचको म भी बहुत मतभेद रहा है। पर वहा भी महाकाव्य की से सम्बन्धित लक्षणों के बारे मे सब एक मत रहे हैं। वे अनिवार्य या लक्षण ये हैं —

—महाकाव्य में किसी महान घटना का वर्णन होना चाहिये। उसके क मे नाटकीय अन्विति हो तो ठीक है, न हो तो भी उसे रोमाचक कथा ह विश्रृङ्खलित नहीं होना चाहिये।

—"महासत्त्वोति गम्भीर क्षमावानविकत्थन।
स्थिरोनिगूढाहकारो, धीरोदात्त दृढव्रत ॥ दशरूपक—२।

२—उसमे कोई न कोई महान उद्देश्य अवश्य होना चाहिये,चाहे वह राष्ट्रीय हो, या नैतिक, धार्मिक हो या दार्शनिक, मानवीय हो या मनोवैज्ञा

३—उसमे प्रभावान्विति होनी चाहिये, चाहे वह नाटकीय ढग की वान्विति हो या रोमाचक कथा के ढग की या गीतिकाव्य के ढग की।

उक्त लक्षणो की आलोचना—

महाकाव्य की आत्मा से सम्बन्धित भारतीय और पाश्चात्य आचा उक्त लक्षणो की तुलना करने पर ज्ञात होता है कि दोनो मे अधिक नही है। महान उद्देश्य, महती घटना और रस या प्रभावान्विति के सम्ब दोना एक मत हैं। अन्तर केवल नायक या चरित्रो से सम्बन्धित लक्ष बारे म है। भारतीय आचार्यो और पाश्चात्य शास्त्रीय महाकाव्यो के सम ने समान रूप से इस बात पर जोर दिया है कि महाकाव्य का नायक होना चाहिये, पर रोमाचक महाकाव्यो मे प्रेम भावना की अतिरजना अतिप्राकृत तत्वों के आधिक्य के कारण नायक का व्यक्तित्व दबा रह अथवा कभी कभी नैतिक दृष्टि से मध्यम कोटि का भी होता है। आ स्वच्छन्दतावादी महाकाव्यों मे तो नायक का स्वरूप और भी बदल गय अत नायक का आदर्श या महान होना महाकाव्य का सामान्य लक्षण नहीं जा सकता। उसी तरह महान घटना का होना या कथानक का इति कथोद्धत होना भी सामान्य लक्षण नहीं माना जा सकता। कारण यह कुछ महाकाव्यो म घटना महान न होकर सामान्य या अतिस्वाभाविक हो पर उसके मूल मे स्थित गूढ रहस्य का उद्घाटन करके महाकाव्य म प्र न्विति और महानता उत्पन्न कर दी जाती है। उसी प्रकार अनेक महा ऐसे हैं जिनमे सभी या कुछ पात्र तो ऐतिहासिक पौराणिक या निजन्धरी ह पर शेष सभी बाते कवि द्वारा उत्पाद्य होती हैं। कुछ के कथानक मे अ अश भी होता है, पर उत्पाद्य अश उससे बहुत अधिक होता है। रोम और मनोवैज्ञानिक स्वच्छन्दतावादी महाकाव्यों मे यही बात होती है।

अनिवार्य बाह्य लक्षण—

महाकाव्य के शरीर से सम्बन्धित लक्षण वे हैं जो उसके विस्तार, स रूप विधान या शैली, अलकृति, वस्तुव्यापार वर्णन, अवान्तर कथायें, सग आदि के बारे मे होते हैं। पाश्चात्य और भारतीय आलकारिकों के ऐसे लक्षण परस्पर मिलते जुलते हैं, जिनकी चर्चा पहले की जा चुकी है। इनम लक्षण तो शाश्वत और स्थिर हैं और कुछ परिवतनशील या शैली विशेष युग विशेष में लागू होने वाले होते हैं। सभी देशों, कालों और

के महाकाव्यों मे वे अनिवार्य रूप से नहीं मिलते। शाश्वत या अनिवार्य बाह्य लक्षण ये है —

१—कथात्मकता और छन्दोबद्धता।

२—सर्गबद्धता या खण्डविभाजन और कथा का विस्तार।

३—जीवन के विविध और समग्र रूप का चित्रण।

४—नाटक, कथा और गीति काव्य के अनेक तत्त्वो क सम्मिश्रण से सघटित कथानक का निर्माण।

५—शैली की गम्भीरता, उदात्तता और मनोहारिता।

अस्थायी लक्षण—

इनके अतिरिक्त महाकाव्य के अन्य जितने भी लक्षण पाश्चात्य और भारतीय आलोचकों ने दिये हे व अव्याप्ति या अतिव्याप्ति दोष से युक्त रहे हैं। अत इस तरह के लक्षणो—जैसे महाकाव्य मे आठ सर्ग हो, प्रत्येक सर्ग मे एक ही छन्द हो जो अन्त मे बदल जाय, भिन्न सर्गो मे भिन्न छन्द हो, काव्यारम्भ में मगलाचरण, वस्तुनिर्देश, सज्जन दुर्जन वर्णन और आत्मनिवेदन हो, कुछ निश्चित वस्तुओ और व्यापारों का वर्णन अवश्य हो, आदि के सम्बन्ध मे अधिक विचार करना अनावश्यक है, क्योकि ये महाकाव्य के शाश्वत लक्षण नहीं हैं। विभिन्न महाकाव्यो मे इनका विभिन्न रूप होता है और किसी किसी म इनमे से कई बिलकुल नहीं होते। इनकी उपयोगिता आज यही है कि उनके द्वारा तत्कालीन समाज की मनोवृत्ति आर सास्कृतिक सामाजिक अवस्था का कुछ परिचय मिल जाता है।

उपयुक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि प्राचान आलकारिकों ने महाकाव्य के सम्ब ध मे पयाप्त गम्भीरता के साथ विचार करके सूक्ष्म बुद्धि से उसका स्वरूप निर्धारण किया है। पर कुछ ऐसी भी बाते हैं जिनकी ओर पुराने आलाचकों का ध्यान नही गया है। हाँ, कुछ आधुनिक आलोचको ने उनकी ओर सकेत अवश्य किया है।

निष्कर्ष —

अत प्राचीन आलकारिको और अर्वाचीन आलोचको के विचारों का अध्ययन करने के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि महाकाव्य मानव की कलात्मक प्रतिभा की वह सर्वोत्तम देन है जिसमे उसके जातीय गुणों, सर्वोत्कृष्ट उपलब्धियों और परम्परागत अनुभवो का पुजीभूत रसात्मक रूप दिखलाई पडता है, जो उसके समग्र सामाजिक जीवन का प्रतीक होता है और जिसके बाह्य स्वरूप मे यद्यपि देश काल के भेद के साथ निरन्तर परिवर्तन होता रहता है पर

उसके आन्तरिक मूल्य और स्वाभाविक गुण शाश्वत और नित्य होते हैं। महाकाव्य की परिभाषा देना आवश्यक ही हो तो उसकी यह परिभा जा सकती है—

महाकाव्य वह छ दोबद्ध कथात्मक काव्यरूप है जिसमे क्षिप्र कथा प्र या अलकृत वर्णन अथवा मनोवैज्ञानिक चित्रण से युक्त ऐसा सुनियोजित, साग और जीव त लम्बा कथानक हाता है जो रसात्मकता या प्रभावाि वति उ करने म पूर्ण समथ होता है, जिसम यथार्थ, कल्पना या सम्भावना पर आव ऐसे चरित्र या चरित्रो के महत्वपूण जीवनवृत्त का पूर्ण या आशिक चित्रण । है जो किसी युग के सामाजिक जोवन का किसी न किसी रूप मे प्रतिनि। करते हैं, और जिसम किसी महत्प्रेरणा से परिचालित हो कर किमी महदु की सिद्धि के लिये किमी महत्वपूर्ण, गम्भीर अथवा आश्चयात्पादक और रहस् घटना या घटनाओ का आश्रय लेकर सश्लिष्ट और समन्वित रूप से जाति वि आर युग विशेष के समग्र जीवन के विविध रूपों, पक्षो, मानसिक अवस्था अथवा नाना रूपात्मक कायो का वर्णन और उद्घाटन किया गया रहता है व जिसका शैली इतनी उदात्त और गरिमामयी होती है कि युग युगा तर में महाकाव्य को जीवित रहने की शक्ति प्रदान करती है।

इस परिभाषा मे विभिन्न देशो और युगों के विभिन्न शैलियो के महाका मे प्राप्त सामान्य स्थायी लक्षणों का समावेश हो गया है। उन्हे मोटे तौर महाकाव्य के निम्नलिखित अवयवों के बीच विभाजित करके इस प्रकार र जा सकता है—

१—महदुद्देश्य, महत्प्रेरणा और महती काव्य प्रतिभा—महाकाव्य कोई न कोई महान उद्देश्य अवश्य होता है। इस उद्देश्य का रूप क प्रतीकात्मक या अप्रत्यक्ष होता है, और कभी वह प्रत्यक्ष और कभी उपदेश त्मक रूप मे स्थान स्थान पर विकीर्ण रहता है। कुछ लोग उद्देश्य की प्रत्य अभिव्यक्ति को कलात्मक नहीं मानते, अत भारतीय आलकारिकों ने रसात्मकत के साथ चतुर्वर्ग फल की प्राप्ति का ही महाकाव्य का उद्देश्य कहा है। मा रसानुभूति अपने आप में कोई उद्देश्य नहीं है। महाकाव्य के महदुद्देश्य व मूल में कोई महत्प्रेरणा होतो है जो पूरे महाकाव्य में उसकी प्राणशक्ति के समा आदि से अन्त तक व्याप्त रहती है। प्रेरणा उत्पन्न करने वाली वस्तुएँ औ घटनायें तो बहुत सी होती हैं, पर उनकी अनुभूति उसी गहराई के साथ सबक नहीं होती जैसी किसी महान प्रतिभा वाले महाकवि को होती है। क्रौञ्चवध से उत्पन्न शोक को श्लोक मे बदल देने की शक्ति वाल्मीकि जैसे महान प्रतिभा

वाले कवि मे ही हो सकती थी, अत वही विश्व व्यापी करुणा रामायण की महत्प्रेरणा है जो क्रौंचवध, रामवनवास, सीताहरण और वैदेही वनवास के रूप म रामायण मे आद से अन्त तक व्याप्त है। इस महत्प्रेरणा से रामायण मे जिस महदुद्देश्य या फल की सिद्धि होती है वह है धमबल की विजय तथा महान आदर्श की स्थापना[१]। पर अन्य महाकाव्यो मे दूसरे प्रकार के उद्देश्य भी हो सकते हैं जैसे महाभारत और इलियड मे बाहुबल पर आधारित जीवन मूल्यो की स्थापना, रघुवश और कुमारसभव मे साम ती समाज के अनुरूप नैतिक कामशास्त्रीय और सामाजिक आदशो की स्थापना, इनीड और लूमियाडा मे देश प्रेम के महान आदश की स्थापना। इसी तरह सभी महाकाव्यो मे कोई न कोई महदुद्देश्य होता है जिसकी सफलता के लिए ही महाकाव्य का सारा सरजाम और अनुष्ठान होता है। इतने बडे अनुष्ठान की कल्पना साधारण प्रतिभा वाला कवि नही, महाकवि ही कर सकता है।

२—**गुरुत्व, गाम्भीर्य और महत्व**—काव्य प्रतिभा का सम्ब ध कवि की कल्पनाशक्ति और उसके मानसिक धरातल से है। महाकवि की कल्पना शक्ति इतनी विराट होती है कि उसमे उसका अपना स्वरूप बिल्कुल ही खो जाता है, उसकी विराट कल्पना मे समूचा युग समाज अपने सद् असद् रूपो के साथ प्रत्यक्ष रहता है और कवि उसका अपनी आवश्यकता के अनुरूप उपयोग करता है। इस विराट कल्पना की अवतारणा पहले उसके उच्च मानसिक धरातल पर होती है जहाँ वह उसे कलात्मक रूप प्रदान कर जीव त कथा प्रबन्ध मे बदलना और अपने मनोनुकूल भावो विचारो और वस्तु व्यापार का आयोजन करता है। कवि का मानसिक धरातल जितना ही ऊँचा होता है, उतनी ही गरिमा और उच्चता उसके महाकाव्य मे भी होती है। अत महाकाव्य का दूसरा आवश्यक और शाश्वत लक्षण यह है कि उसमे पर्याप्त, गुरुत्व, गाम्भीर्य और महत्व होना चाहिये। इन गुणों के बिना महाकाव्य की कल्पना भी नही की जा सकती है। गुरुत्व कवि के उच्च विचारों से आता है, गाम्भीर्य उसकी सयत और गम्भीर

१ "रामायण मे भी युद्ध व्यापार यथेष्ट है, राम का बाहुबल भी सामान्य नही है। इसमे बाहुबल की विजयदुन्दभी नही बजी है। युद्ध घटना उसके वणन का मुख्य विषय नहीं हैं मनुष्य के चूडान्त आदर्श की स्थापना के लिए ही कवि ने इस महाकाव्य की रचना की है और उस दिन से आज तक मनुष्य के उस आदर्श चरित्र वणन का पाठ भारतवासी अत्यन्त आग्रह और परम समादर से करते आ रहे हैं।"

रवीन्द्रनाथ ठाकुर—प्राचीन साहित्य, पृष्ठ ५।

भावाभिव्यक्ति से उत्पन्न होता है और महानता उसकी घटनाओ, शैली, उद्देश्य और प्रभावान्विति से उत्पन्न होती है। ये सब मिलकर महाकाव्य को अन्य काव्य रूपो से अलग अ यतम पद पर प्रतिष्ठित कर देते हैं।

३—**महत्कार्य और युग जीवन का समग्र चित्र**—महाका य मे युग विशेष के समग्र जीवन का चित्रण किसी कथा के माध्यम से होता है जिसका चरम विन्दु कोई महत्वपूर्ण कार्य और आश्रय कोई एक प्रधान पात्र होता है। महत्कार्य का अभिप्राय यह है कि पूरी कथा की विविध घटनाओ का प्रवाह उसी कार्य की ओर होता है जैसे रामायण म राम रावण युद्ध महत्कार्य है और राम की विजय और सीता का उद्धार उसका फल। महत्कार्य को पाश्चात्य नाटकों के चरमविन्दु (क्लाइमेक्स) के रूप में माना जा सकता है। महत्कार्य के बिना महाकाव्य मे महत्व नही आ सकता। आधुनिक स्वच्छ दतावादी महाकाव्यो मे महत्कार्य का रूप भिन्न होता है, उनम किसी स्वाभाविक या सामा य घटना के भीतर ही कवि किसी महत्वपूर्ण समस्या का आरोप करके फिर मनोवैज्ञानिक या दार्शनिक विश्लेषण द्वारा उसका उद्घाटन करता है। यही ऐसे महाकाव्या का चरमविन्दु या महत्काय होता है। महत्कार्य का स्वरूप चाहे जो हो, पर हर हालत म उसके इदगिर्द बुनी गयी कथा ऐसी हाती है जो किसी युग के समूचे समाज के विविध रूपो और पक्षा का विवृत या सूक्ष्म रूप म चित्रण अवश्य करती है। महाकाव्य म कवि का मानस क्षितिज इतना व्यापक और विशाल होता है कि युग का समष्टि रूप उसम स्वभावत चित्रित हो जाता है। भारतीय और पाश्चात्य आलकारिका ने वस्तु व्यापार की जा सूची महाकाव्या के लिए निश्चित की थी उसका अभिप्राय यही था कि मानव, प्रकृति, मानसिक दशाये, मानवीय कृतियाँ और उपलब्धियाँ, मानव और प्रकृति का सबध और सघर्ष, मानव मानव का सामाजिक सम्बन्ध और सघष, आदि विविध विषयो का समावेश हो जाने से महाकाव्य अपने युग का पूण चित्र उपस्थित कर सके। पर ये सभी बाते गौण होती है, महाकाव्य का प्रधान वर्ण्य विषय उसका महत्कार्य होता है जिसके बिना महाकाव्य हो ही नहीं सकता।

४—**सुसघटित जीवन्त कथानक**—महाकाव्य मे महत्कार्य और समष्टिगत जीवन चित्रों की नियोजना इतिहास पुराण और कथा आख्यान से भिन्न ढग की होती है। अत अरस्तू का यह कथन सही है कि महाकाव्य मे कार्यान्विति एक सीमा तक होनी चाहिये। महाकाव्य के कथानक और नाटक के कथानक मे एकत्व सम्बन्धी समानता होते हुए भी सबसे बडी भिन्नता यह है कि नाटक म उतना ही कहा जाता है कि जितना किसी पात्र द्वारा कहलाया जा सकता है।

कवि वहाँ अपनी ओर से कुछ भी नही कह सकता । इसके विपरीत महाकाव्य मे सवाद तत्व के साथ कवि का वक्तव्य भी सम्मिलित रहता है । साथ ही नाटको मे पात्रो के बीच सवाद रूप मे लम्बी अवान्तर कथायें नहीं कही जा सकती जब कि महाकाव्य मे यह सर्वथा विहित है । इस सम्बन्ध म बकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय का यह मत सवथा उचित है कि महाकाव्य मे नाटक और गीति काव्य दोनो ही की शैलियो का सम्मिश्रण होता है[1] । इस तरह महाकाव्य मे कार्यान्विति तो होती है, पर वह नाटक की तरह सकीर्ण नही होती और न इतिहास पुराण की तरह नहीं के बराबर होती है । महाभारत और रामायण मे घटना की अन्विति कम इसलिये है कि बाद के लोगो ने धार्मिक और नैतिक उद्देश्य से विविध प्रकार की सामग्री और कथाओ से उनको इस तरह भर दिया है जैसे वे सार्वजनिक वाहन (ओमनीबस) हो । निष्कर्ष यह है कि महाकाव्य का कथानक बहुत बिखरा भी नही होना चाहिये और न उतना सीमित और जीवन के एक ही अश और एक ही घटना पर आधारित होना चाहिए कि उसे खडकाव्य या एकार्थ काव्य की सीमा मे रखना पडे । भारतीय आचार्यो ने महाकाव्य के कथानक का एक आवश्यक लक्षण यह भी दिया है कि वह सर्गबद्ध और नाटक की सभी सन्धियों से युक्त होना चाहिये । पाश्चात्य आचार्यो ने ऐसा नियम तो नही बनाया, पर वहाँ के महाकाव्य भी सर्गबद्ध होते हे और नाटक के गुण उनमे भी होते हैं । इस प्रकार कथानक सम्बन्धी इतने लक्षण आवश्यक प्रतीत होते हैं —

(क) उसके कथानक मे पर्याप्त विस्तार होता है जो किसी व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन के चित्रण के कारण अथवा उसके जीवन से सम्बन्धित अन्य व्यक्तियों की जीवन कथा के समावेश के कारण अपने आप हो जाता है ।

(ख) उसमे कार्यान्विति से युक्त और सुसघटित कथानक होता है ।

(ग) उसम नाटक और गीतिकाव्य के तत्वो का सम्मिश्रण रहता है अर्थात् नाटक से उसमे सवाद, सक्रियता, सर्ग विभाजन, सन्धि आदि के तत्त्व लिये जाते हैं और गीतिकाव्य से वर्णनात्मकता का तत्त्व लिया जाता है ।

१ "वही बातचीत और क्रिया नाटककार की सामग्री है । जो उसमे अव्यक्त रहता है, वही गीतिकाव्य रचने वाले की सामग्री है । महाकाव्य का विशेष गुण यह है कि कवि को दोनो तरह के अधिकार रहते हैं, वक्तव्य और अवक्तव्य दोनो उसके अधीन होते है ।"
बकिम निबन्धावली, पृ० ५२—गीतिकाव्य, अनु० रूपनारायण पाण्डेय, बबई १९८८ ।

(घ) महाकाव्य के कथानक मे चमत्कारपूर्ण, आश्चर्यजनक और अतिप्राकृत तत्त्वो का सम्मिश्रण भी देखा जाता है। ये तत्त्व उसने रोमाचक कथाकाव्य से लिए हैं। पर आधुनिक महाकाव्यों मे ये अधिक नही होते।

(ङ) कथानक मे घटना का प्रवाह होना आवश्यक है, इसके बिना महाकाव्य दोषपूर्ण हो जाते हैं। घटना प्रवाह से सक्रियता का गुण उत्प न होता है जो महाकाव्य मे अवश्य होना चाहिये

(च) कथावस्तु कहाँ से ली जाय इसके लिए कोई नियम निधारित नही किया जा सकता। इतिहास पुराण, कथा आख्यायिका, प्राचीन महाकाव्य, सम सामयिक घटनायें और व्यक्ति, यहा तक कि विशुद्ध कल्पना से भी, कथा का चुनाव और निमाण किया जा सकता है। आज के युग की प्रवृत्ति अतीतोन्मुखी नही है, वर्तमान और भविष्य की ओर ही आज के समाज की आँखें रहती ह। अत महाका य की कथावस्तु वर्तमान जीवन से सम्बधित भी हो सकती हैं।

५—महत्वपूर्ण नायक—अरस्तू ने महाकाव्य मे तीन प्रकार के चरित्रा का होना बताया है, आदर्श, यथार्थ और परम्परागत या रूढ। आदर्श वे महा पुरुष होते हैं जो यथार्थ जीवन मे बहुत कम होते हैं। मानवीय कमजोरियाँ प्रत्येक व्यक्ति में कुछ न कुछ होती ही है पर कवि कलाकार और चिन्तक सदा से निर्दोष व्यक्तित्व की आदर्श के रूप म कल्पना करते आये है। अधिकतर महाकाव्यो मे नायक ऐसे ही आदश व्यक्ति होते हैं जो किसी उद्देश्य या निष्ठा के निमित्त अपना सब कुछ बलिदान करने के लिए तत्पर रहते हैं। भारतीय आचार्यों ने ऐसे आदर्श चरित्रो को धीरोदात्त नायक कहा है और उन्ही को महाकाव्य का नायक बनाना आवश्यक माना है। अनेक पाश्चात्य आलोचको का भी यही मत है। पर अनेक महाकाव्यो मे यथार्थ या सामान्य चरित्र वाले व्यक्तियों को भी नायक बनाया गया है। दूसरी बात यह भी है कि आदर्श चरित्र का मानदण्ड हर युग मे बदलता रहता है। प्रारम्भिक विकसनशील महाकाव्यो के नायक उस युग के लिए भले ही आदर्श रहे हों पर परवर्ती युगो म उन्हें या तो आदर्श नहीं माना गया या उनकी बहुत सी बातों को छिपाकर उन्हे आदश रूप प्रदान किया गया। परम्परागत या रूढ चरित्र से अरस्तू का अभिप्राय ऐसे कल्पित चरित्रों से है जिन्हे समाज पहले से मानता आया है पर जो ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं हैं। ये कोरे काल्पनिक या निजन्धरी चरित्र बहुधा कथाआख्यायिका के नायक होते हैं। इन कल्पित चरित्रों को चमत्कारपूण शक्ति से युक्त दिखाया जाता है, कहीं वे देवता, गन्धर्व, राक्षस आदि होते हैं और कहीं

मानव को ही पौराणिक और निजन्धरी रूप प्रदान कर अलौकिक शक्ति से युक्त बना दिया जाता है। सामान्य या यथार्थ चरित्रो को उनकी स्वाभाविक सदसद् प्रवृत्तियो, चेष्टाओ और क्रियाओ के साथ चित्रित किया जाता है। महाकाव्य म नाना प्रकार के चरित्र होते हैं पर उनमे कोई चरित्र प्रधान अवश्य होता है। वह विभिन्न कारणो से अन्य चरित्रो से भिन्न भूमिका पर प्रतिष्ठित दिखाई पडता है। उसे ही महाकाव्य का नायक कहा जाता है। आदर्श नायक भी अनेक प्रकार के होते है, जैसे, महान वीर, आदर्श त्यागी, महान प्रेमी, आदर्श देश प्रेमी, महान सम्राट और राजनीतिज्ञ, विदुषी और सती साध्वी नारी आदि पर इन महान और कल्पित व्यक्तियो के अतिरिक्त जो यथाथ व्यक्ति नायक के रूप मे दिखाये जाते हैं वे भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं होते। दान्ते के डिवाइना कामेडिया मे कवि ने अपने ही को नायक के रूप मे चित्रित किया है और अपने को यथार्थ व्यक्ति के रूप मे ही रखा है, आदर्श या कल्पित चरित्र के रूप मे नही। कामायनी का मनु भी यथार्थ नायक है। इसलिये नायक के सम्बन्ध मे बस यही लक्षण हो सकता है कि चाहे वह आदर्श हो या कल्पित अथवा यथार्थ पर हर हालत म महाकाव्य के लिए उसका चरित्र अत्यन्त महत्वपूर्ण होना चाहिये। उसके कारण ही महाकाव्य की कथा महत्वपूर्ण होती है और उसम गरिमा और महानता आती है। सामान्य चरित्र बहुधा निष्क्रिय और किसी अन्य उद्देश्य के माध्यम मात्र होते हैं पर इससे उनका महत्व कम नहीं होता।

नायक का महत्व इस कारण होता है कि वह प्रधान घटना का प्रधान चालक होता है। वह घटना महती होती है इसलिये नायक मे भी स्वत महानता का प्रक्षेप हो जाता है। केवल देवता, राजा या सरदार होने से ही नायक मे महानता नही आती बल्कि उनके अनुभवो और उद्दाम आवेगों का प्रशस्त और उदात्त चित्रण ही उन्हे महान बनाता है। अत महान चरित्र का निमाण भी कवि की कल्पना शक्ति पर ही निर्भर करता है जिसके द्वारा वह नायक को पूरे महाका य का मेरुदण्ड बना देता है। रवीन्द्रनाथठाकुर के अनुसार ऐसे चरित्र सदा आदर्श और देव स्वभाव वाले होते हैं[1]। पर सभी महाकाव्यो मे महान

१—"मन मे जब एक वेगवान अनुभव का उदय होता है तब कवि उसे गीत काव्य मे प्रकाशित किये बिना नही रह सकते। इसी प्रकार मन मे जब एक महत् व्यक्ति का उदय होता है, सहसा जब एक महापुरुष कवि के कल्पना राज्य पर अधिकार आ जमाता है, मनुष्य चरित्र का उदार महत्व

चरित्र आदर्श ही नहीं होते, कुछ मे तो वे अलोकिक शक्तियो के हाथ की कठ पुतली मात्र होते हैं और कुछ म अपने अन्तर म उठने वाले व्यक्तित्व होते हैं। पर सच पूछा जाय तो यही उनकी स्वाभाविक महानता है जो आदशवादी महानता से किसी भी अर्थ मे कम नहीं है। कल्पित नायक भले ही आदर्श या यथार्थ न हो पर महाकवि उनकी कल्पना यदि इस प्रकार करता है कि वे असम्भव या काल्पनिक नहीं प्रतीत होते, तब भी उनम महत्ता आ सकती है। उदाहरणार्थ यदि देव चरित्र वाले नायक 'कुमारसम्भव' के शिव को ले तो देखते हैं कि उनका चरित्र चित्रण कालिदास ने यथार्थ मानव रूप मे ही किया है जिससे उसमे सम्भावना पक्ष क्षीण नही हो पाया है[1]। पैरेडाइज लास्ट का शैतान, और कामायनी के मनु पौराणिक कल्पना के चरित्र हैं पर उन्हे भी आदर्श रूप मे नहीं चित्रित किया गया है। इस प्रकार नायक चाहे आदर्श हो, या कल्पित अथवा यथार्थ उसका प्रतीति असम्भव या कोरी कल्पना जैसी नही होनी चाहिये। इस प्रकार नायक के सम्ब ध मे तीन अनिवार्य लक्षण हो सकते हैं—

मनश्चक्षुओ के सामने अधिष्ठित होता है, तब उसके उन्नत भावो से उद्दीप्त होकर उस परम पुरुष की प्रतिमा प्रतिष्ठित करने के लिए कवि भाषा का मन्दिर निर्माण करते है। उस मन्दिर की भित्ति पृथ्वी के गम्भीर अन्तदश मे रहती है और उसका शिखर मेघो को भेद कर आकाश में उठता है। उस मन्दिर मे जो प्रतिमा प्रतिष्ठित होती है उसके देवभाव से मुग्ध और उसकी पुण्य किरणो से अभिभूत होकर, नाना दिग्देशो से आ आकर लोग उसे प्रणाम करते है। इसी को कहते है महाकाव्य।" रवीन्द्रनाथ ठाकुर, मेघनादवध की भूमिका पृ० १५७ १५८।

१—"कुमारसम्भव का कोई पात्र मनुष्य नहीं है। जो प्रधान नायक है, वे स्वय परमेश्वर हैं। नायिका परमेश्वरी है। इसी प्रकार मनोवृत्तियो को लेकर कवि ने नायक नायिका बना कर लोगो की प्रीति के लिए लौकिक देवताओ के नाम से उनका परिचय दिया है। किन्तु देव चरित्र के प्रण यन में कालिदास ने मिल्टन की अपेक्षा अधिक कौशल दिखाया है इसका कारण यही है कि कालिदास ने देव चरित्र को मनुष्य चरित्र के साचे मे ढाल कर इसमें अमित माधुर्य भर दिया है इसलिए अतिप्रकृत जब तक प्रकृत के अनुकरण पर नहीं होगा, तब तक वह उपयोगी नही हो सकता।" बकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय प्रकृत और अतिप्रकृत, बकिमग्रन्थावली पृ० ५६ ५७।

१—उसका चित्रण मानव के रूप म हो।

२—उसकी भूमिका महत्वपूर्ण और सर्वप्रधान हो और उसका चित्रण ऐसा हो कि वह अपनी अच्छाइयो बुराइयों तथा सदसद् प्रवृत्तियों के बावजूद महान प्रतीत हो।

३—वह महाकाव्य के महदुद्देश्य की सिद्धि का माध्यम और महत्कार्य का प्रधान आश्रय हो अर्थात् महाकाव्य के उद्देश्य के अनुरूप वह किसी विशेष राष्ट्र, जाति, कुटुम्ब, धर्म या समूची मानवता का प्रतिनिधित्व करने वाला व्यक्ति हो।

६—गरिमामयी उदात्त शैली—सामान्य कथात्मक काव्य और इतिहास-पुराण से महाकाव्य को अलग करने वाली प्रधान वस्तु उसकी शैली हा है। इसके अभाव म वही कथानक, वे ही पात्र, वही वस्तु व्यापार वर्णन कभी इतिहास, कभी पुराण ओर कभी कथा आख्यायिका का रूप धारण कर सकते हैं। अत महाकाव्य की शैली कथा और इतिहास पुराण की शैली से भिन्न, अत्यन्त गरिमामयी, उदात्त आर गम्भीर होनी चाहिये। शैला के अन्तर्गत भारतीय आचायो ने गुण, रीति, औचित्य विचार, अलकार, शब्द शक्ति, ध्वनि विचार आदि को लिया है। इसमे कोई सन्देह नहीं कि इन्हीं के द्वारा काव्य की शैली अभिव्यक्त हाती है पर शैली बाह्य से अधिक आन्तरिक वस्तु है। उसे काव्य की आत्मा नही कह सकते तो उसका शरीर भा नही कह सकते। वह काव्य-शरीर की वह कान्ति है जो काव्य की आत्मा को मोती के आब की तरह बाहर झलकाती रहती है। महाकाव्य की शैली गीतिकाव्य और नाटक की शैली से बहुत कुछ ग्रहण करने के बाद भी उनसे बहुत भिन्न इसलिए होती है कि उनकी आत्मा का स्वरूप भिन्न भिन्न होता है। गीतिकाव्य मे माधुर्य, मृदुता और आन्तरिक आवेग का गुण होता है, इसके विपरीत महाकाव्य मे गाम्भीर्य, प्रशस्तता और उदात्तता का गुण होता है। गीतिकाव्य की तुलना पहाडी झरने से, नाटक की मैदानी प्रवहमान सरिता से ओर महाकाव्य की गुरु गम्भीर सागर से की जा सकती है। सागर म जैसी व्यापकता, प्रशस्तता ओर गहराई होती है, वैसे ही महाकाव्य मे भी ये सभी गुण होते हैं जो उसकी शैली के अगरूप हैं। अत स्पष्ट है कि महाकाव्य की शैली शब्द चयन, अलकारों के प्रयोग और अन्य नियमो के पालन पर नही निर्भर करती। वह तो कवि की उस महाप्राणता पर निभर करती है जिसकी छाया का प्रक्षेपण काव्य पर स्वत हुआ करता है। इस तरह कवि की महाप्राणता अथवा विराट चेतना महाकाव्य की शैली में ही विशेष रूप से अभिव्यक्त होती है। यद्यपि कथानक, चरित्र, उद्देश्य आदि भी कवि की ही

चरित्र आदर्श ही नहीं होते, कुछ मे तो वे अलोकिक शक्तियो के हाथ की कठ पुतली मात्र होते हैं और कुछ म अपने अन्तर म उठने वाले व्यक्तित्व हाते हैं। पर सच पूछा जाय तो यही उनकी स्वाभाविक महानता है जा आदर्शवादी महानता से किसी भी अर्थ मे कम नहीं है। कल्पित नायक भले ही आदर्श या यथार्थ न हो पर महाकवि उनकी कल्पना यदि इस प्रकार करता है कि वे असम्भव या काल्पनिक नहीं प्रतीत हाते, तब भी उनम महत्ता आ सकती है। उदाहरणार्थ यदि देव चरित्र वाले नायक 'कुमारसम्भव' के शिव को ले तो देखते हैं कि उनका चरित्र चित्रण कालिदास ने यथार्थ मानव रूप मे ही किया है जिससे उसमे सम्भावना पक्ष क्षीण नही हो पाया है[१]। पैरेडाइज लास्ट का शैतान, और कामायनी के मनु पौराणिक कल्पना के चरित्र हैं पर उन्हे भी आदर्श रूप मे नहीं चित्रित किया गया है। इस प्रकार नायक चाहे आदर्श हो, या कल्पित अथवा यथार्थ उसका प्रतीति असम्भव या कोरी कल्पना जैसी नही होनी चाहिये। इस प्रकार नायक के सम्बन्ध मे तीन अनिवार्य लक्षण हो सकते हैं—

मनश्चक्षुओ के सामने अधिष्ठित हाता है, तब उसके उन्नत भावो से उद्दीप्त होकर उस परम पुरुष की प्रतिमा प्रतिष्ठित करने के लिए कवि भाषा का मन्दिर निर्माण करते है। उस मन्दिर की भित्ति पृथ्वी के गम्भीर अन्तर्देश मे रहती है और उसका शिखर मेघो को भेद कर आकाश में उठता है। उस मन्दिर मे जो प्रतिमा प्रतिष्ठित होती है उसके देवभाव से मुग्ध और उसकी पुण्य किरणो से अभिभूत होकर, नाना दिग्देशो से आ आकर लोग उसे प्रणाम करते है। इसी को कहते है महाकाव्य।" रवीन्द्रनाथ ठाकुर, मेघनादवध की भूमिका पृ० १५७ १५८।

१—"कुमारसम्भव का कोइ पात्र मनुष्य नही है। जो प्रधान नायक है, वे स्वय परमेश्वर है। नायिका परमेश्वरी है। इसी प्रकार मनोवृत्तियो को लेकर कवि ने नायक नायिका बना कर लोगो की प्रीति के लिए लौकिक देवताओ के नाम से उनका परिचय दिया है। किन्तु देव चरित्र के प्रण यन में कालिदास ने मिल्टन की अपेक्षा अधिक कौशल दिखाया है इसका कारण यही है कि कालिदास ने देव चरित्र को मनुष्य चरित्र के साचे में ढाल कर इसमे अमित माधुर्य भर दिया है इसलिए अतिप्रकृत जब तक प्रकृत के अनुकरण पर नहीं होगा, तब तक वह उपयोगी नही हो सकता।" बकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय प्रकृत और अतिप्रकृत, बकिमग्रन्थावली पृ० ५६ ५७।

१—उसका चित्रण मानव के रूप म हो।

२—उसकी भूमिका महत्वपूण और सर्वप्रधान हो और उसका चित्रण ऐसा हो कि वह अपनी अच्छाइयो बुराइयों तथा सदसद् प्रवृत्तियों के बावजूद महान प्रतीत हो।

३—वह महाकाव्य के महदुद्देश्य की सिद्धि का माध्यम और महत्कार्य का प्रधान आश्रय हो अर्थात् महाकाव्य के उद्देश्य के अनुरूप वह किसी विशेष राष्ट्र, जाति, कुटुम्ब, धर्म या समूची मानवता का प्रतिनिधित्व करने वाला व्यक्ति हो।

६—गरिमामयी उदात्त शैली—सामान्य कथात्मक काव्य और इतिहास पुराण से महाकाव्य को अलग करने वाली प्रधान वस्तु उसकी शैली हा है। इसके अभाव म वही कथानक, वे ही पात्र, वही वस्तु व्यापार वर्णन कभी इतिहास, कभी पुराण और कभी कथा आख्यायिका का रूप धारण कर सकते हैं। अत महाकाव्य की शैली कथा और इतिहास पुराण की शैली से भिन्न, अत्यन्त गरिमामयी, उदात्त आर गम्भीर होनी चाहिये। शैली के अन्तर्गत भारतीय आचाया ने गुण, रीति, औचित्य विचार, अलकार, शब्द शक्ति, ध्वनि विचार आदि को लिया है। इसमे कोई सन्देह नहीं कि इन्ही के द्वारा काव्य की शैली अभिव्यक्त हाती है पर शैली बाह्य से अधिक आन्तरिक वस्तु है। उसे काव्य की आत्मा नही कह सकते तो उसका शरीर भा नही कह सकते। वह काव्य शरीर की वह कान्ति है जो काव्य की आत्मा को मोती के आब की तरह बाहर झलकाती रहती है। महाकाव्य की शैली गातिकाव्य और नाटक की शैली से बहुत कुछ ग्रहण करने के बाद भी उनसे बहुत भिन्न इसलिए होती है कि उनकी आत्मा का स्वरूप भिन्न भिन्न होता है। गीतिकाव्य में माधुर्य, मृदुता और आन्तरिक आवेग का गुण होता है, इसके विपरीत महाकाव्य मे गाम्भीय, प्रशस्तता और उदात्तता का गुण होता है। गीतिकाव्य की तुलना पहाडी झरने से, नाटक की मैदानी प्रवहमान सरिता से और महाकाव्य की गुरु गम्भीर सागर से की जा सकती है। सागर मे जैसी व्यापकता, प्रशस्तता आर गहराई होती है, वैसे ही महाकाव्य मे भी ये सभी गुण हाते हें जो उसकी शैली के अनुरूप हैं। अत स्पष्ट है कि महाकाव्य की शैली शब्द चयन, अलकारों के प्रयोग और अन्य नियमो के पालन पर नहीं निर्भर करती। वह तो कवि की उस महाप्राणता पर निर्भर करती है जिसकी छाया का प्रक्षेपण काव्य पर स्वत हुआ करता है। इस तरह कवि की महाप्राणता अथवा विराट चेतना महाकाव्य की शैली में ही विशेष रूप से अभिव्यक्त होती है। यद्यपि कथानक, चरित्र, उद्देश्य आदि भी कवि की ही

कल्पना और बुद्धि की उपज होते हैं पर महाकाव्य विषयप्रधान काव्यरूप है और उसमे नाटक के सवाद तत्त्व का भी प्रयोग अधिक होता है तथा कवि को अपनी व्यक्तिगत बाते कहने का अवसर नही रहता है। अत वहाँ शैली के रूप में ही कवि अपने व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति करता है। कवि की चेतना विराट होने से उसकी शैली मे भी वही विराटता और गम्भीरता होती है जो किसी काव्य को महाकाव्य बनाती है।

महाकाव्य का कथानक चाहे सरल हो या जटिल, उसके चरित्र चाहे आदर्श हो या यथार्थ अथवा कल्पित, यदि उसका उद्देश्य महान है, उसका नायक महत्त्वपूर्ण या महान है, और उसमे समग्र जीवन की विविध परिस्थितियो और मानसिक दशाओ का चित्रण हुआ है तो शैली अनलकृत होते हुए भी अपने आप गम्भीर हो जायगी। विकसनशील महाकाव्यो म अलकृति नही होती पर उनकी शैली अलकृत महाकाव्यों जैसी ही गम्भीर और उदात्त होती है। भामह और दण्डी ने महाकाव्य म अग्राम्य शब्दो और अलकृत शैली का व्यवहार करने की व्यवस्था दी है। पर सच बात यह है कि जो अलकार स्वाभाविक होते हैं वे ही शैली के अनिवार्य अवयव हैं क्योकि वे कवि की चिन्ता धारा की भाषा के भी अवयव होते है। श्रमसाध्य अलकार तो साधन न रह कर साध्य बन जाते हैं। अत शिशुपालवध और नैषध चरित की शैली अतिशय अलकृत होने के कारण वैसी उदात्त और गम्भीर नहीं है जैसी रामायण, रघुवश या कुमारसम्भव की। रोमाचक, पौराणिक और स्वच्छन्दतावादी शैली के महा काव्यो मे अलकृति पर उतना ध्यान नहीं रहता जितना शास्त्रीय महाकाव्यो मे रहता है। अत अलकृति शैली का आवश्यक अग नही है। अरस्तू ने शैली के सम्बन्ध म अलग से विचार करते हुए कहा है कि कवि कभी सामान्य शब्दो द्वारा अपने विचार प्रकट करता है और कभी विदेशी या रूपकात्मक शब्दो द्वारा, और कभी कभी भाषा के उन परिवर्तनो और विशेषताओ (शब्द शक्ति आदि) का भी प्रयोग करता है जिन पर कवियो का ही विशेष रूप से अधिकार होता है। इससे स्पष्ट है कि भाषा सम्बन्धी प्रयोगो के लिए कवि को पूरी स्वत न्त्रता होती है। अत महाकाव्य की भाषा अलकृत ही हो ऐसा नियम नही हो सकता[1]। शब्द चयन और गुण रीति का ध्यान अलकृत महाकाव्यों मे अवश्य

1 Again all this he is to express in words either common or foreign and metaphorical or varied by some of those many modifications and peculiarities of language which are the privilege of poets
Poetics—by Aristotle—Ed—T A Maxon—London, 1949 p 51

रखा जाता है और इससे शैली मे परिपक्वता भी आती है, पर ये भी शैली के थूल रूप ही हैं। वस्तुत महाकाव्य की शैली उसके अन्य तत्त्वो से इतनी मिली जुली है कि उसे उनसे अलग करके देखना असम्भव है। महाकाव्य का वह सम्पूर्ण रूप विधान ही उसकी शैली है जिसके विभिन्न अवयवों की चर्चा ऊपर की जा चुकी है। उसके सम्बन्ध में बस यही कहा जा सकता है कि महाकाव्य की शैली महाकाव्योचित होनी चाहिए अर्थात् उसमे गम्भीरता, उदात्तता, कान्ति मत्ता, शक्तिमत्ता और प्राणवत्ता का होना आवश्यक है।

७—**तीव्र प्रभावान्विति और गम्भीर रस व्यजना**—अरस्तू ने महा काव्य मे प्रभावान्विति और भाव व्यजना का होना आवश्यक माना है और कहा है कि जिन स्थलो पर शैली और भावव्यजना क्षीण होती है और जहाँ सक्रियता नहीं होती उन्हीं स्थलो पर श्रमसा य अलकृति होनी चाहिये क्योकि चमत्कारपूर्ण अलकृति से शैली और भावव्यजना नष्ट हो जाती है[1]। अरस्तू का अभिप्राय यह है कि शब्द चयन और अलकृति की उपयोगिता महाकाव्य मे हर जगह नहीं होती, उसम तो शैली और भावव्यजना का ही अधिक महत्व होता है। भावव्यजना का ही भारतीय नाम रस है। भारतीय आचार्यो ने महाकाव्य म रस का होना आवश्यक माना है और कुछ आचार्य कहते हैं कि उसमे वीर, शृगार और शान्त मे से कोई एक रस प्रधान होना चाहिये पर अन्य रस भी गौण रूप से होने चाहिये। भारतीय आचार्यो का यह कथन सर्वथा सही है, हा प्रधान रस के लिए सामा नहीं निधारित होनी चाहिये, करुण, अद्भुत या भयानक रस भी प्रधान हो जाय तो महाकाव्य महाकाव्य ही रहेगा। इसीलिए रुद्रट ने सब रसो का होना आवश्यक माना, उनमे से चाहे जो प्रधान हो। रस ही महाकाव्य या सभी प्रकार के काव्यो की आत्मा है, पर पाश्चात्य काव्यो मे रस का स्वरूप भारतीय पारिभाषिक शब्दावली मे व्यक्त 'रस' के अर्थ से भिन्न प्रकार का होता है। उसे वहाँ प्रभावान्विति (यूनिटी आफ इफेक्ट) कहा गया है और भारतीय 'रस' का अनुवाद इम्बेलिशमेण्ट या सेण्टीमेन्ट किया गया है। प्रभावान्विति मे दर्शक, श्रोता या पाठक काव्य से प्रभावित होकर हमेशा आनन्दित, क्षुब्ध, दुखी या करुणा विगलित होकर कवि के उद्देश्य के प्रति परोक्ष रूप से अपनी सहमति और समथन प्रकट करता है। रस म वह

1— 'The diction should be most laboured in the idle parts of the poem tho e in which neither manners nor sentime nts prevail for the manners and sentiments are only obsc ured by too splendid a diction ' Ibid p 50

अपने 'स्व' की सकीर्ण परिधि को तोड कर अपने को नायक के साथ एक कर देता है, पर करुणा, क्षोभ, दुख, आन द, आश्चर्य, क्रोध आदि भाव रस क भीतर भी पहले प्रभावित ही करते हैं, और उस प्रभावान्विति के बाद हा रसानुभूति या रसनिष्पत्ति होती है। प्राचीन भारताय महाकाव्य म रस व्यजना प्रधान वस्तु है, इसम कोई सन्देह नही पर पाश्चात्य महाकाव्यों ओर पाश्चात्य शैली के आधुनिक भारताय स्वच्छन्दतावादी महाकाव्यो मे रस की वही स्थिति नहा है जो प्राचीन भारतीय महाकाव्यों म है। कामायनी को शान्त रस प्रधान महाका य कहा जाता है पर उसमें पाश्चात्य ढग की प्रभावान्विति अधिक है, भारतीय ढग की रस-व्यञ्जना उतनी पूण नही है। वस्तुत मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखने पर प्रभावान्विति और रस व्यजना मे अधिक अन्तर नहीं प्रतीत होता, यदि कोई अ तर है तो यही कि आदर्शवादी साहित्य में रम व्यजना होती है और यथार्थवादी साहित्य म प्रभावान्विति। रस व्यजना भी प्रभावान्विति का ही एक रूप है। इसीलिए यहाँ दोनो शब्दों का साथ प्रयोग हुआ है। महाकाव्य मे प्रभावान्विति का तीव्र और गहरा होना आवश्यक है क्योंकि इसी पर महाकाव्य की सफलता निर्भर करती है। यो तो नाटक और गीतिकाव्य मे भी प्रभावान्विति होती है पर उनका प्रभाव उतना स्थायी और गहरा नही होता जितना महाकाव्य का। महाकाव्य का क्षितिज इतना विस्तृत और उदार होता है कि वह पाठक श्रोता के मानस क्षितिज को भी उतना ही व्यापक और उदार बना कर गहराई तक उसकी मानसिक वृत्तियों को झकझोर देता है। इस तरह पाठक को घनीभूत सवेदना और गम्भीर मानसम थन का सुयोग प्राप्त होता है जो सामान्य काव्य द्वारा नही मिल सकता। जितना ही उदात्त और गम्भार महाका य होता है उतना ही उसका प्रभाव भी गहरा और व्यापक होता है। रस का सम्बन्ध भावव्यजना से है अत जिन महाकाव्यो मे मूल मनोवगो आर उनके विविध रूपों के प्रसार आर प्रभाव का चित्रण अधिक होता है वे स्वभावत रसात्मक होते हैं, उनमें घटना प्रवाह और चरित्र विकास भले ही अधिक न हो पर भावाभिव्यजना की गहराइ अधिक होती है। इस तरह महाकाव्य क लिए प्रभावान्विति या रसात्मकता आवश्यक तत्त्व है। उसमे उनका होना ही आवश्यक नहीं है, गहरा आर तीव्र होना भी आवश्यक है क्योंकि जिस महान उद्देश्य की पूति महाकवि करना चाहता है उसकी ऊँचाइ तक पाठका के व्यक्तित्व को उठाने के लिए उसके ऊपर गहरा से गहरा प्रभाव डाल कर या उ हें रसमग्न कर उनके व्यक्तित्व को बदल्ना आवश्यक हो जाता है।

८—अनवरुद्ध जीवनी शक्ति और सशक्त प्राणवत्ता—महाकाव्य के

लक्षणों का अनुसरण और प्रसिद्ध महाकाव्यो का अनुकरण करके भी महाकाव्य लिखे जा सकते हैं और भारत तथा यूरोप मे न जाने कितने लिखे जा चुके हैं। पर उनम से अधिकाश या तो महाकाव्य माने नही गये या माने भी गये तो महा काल ने उन्ह विस्मृति और अन्धकार के गर्त म ढकेल दिया। दूसरी ओर ऐसे काव्य, जिनके कवि या तो अज्ञात हैं अथवा जो न जाने कितने हाथो की रचनाये हैं और ऐसे ग्रन्थ जिनके लेखको ने कभी सोचा भी नहीं कि वे महा काव्य, लिख रहे हैं, कालान्तर मे व्यापक प्रभाववाले महाकाव्य के रूप म मान्य हुए। ऐसे काव्यो ने युग युग तक किसा विशेष देश, जाति या समाज के जीवन को नियत्रित और प्रभावित किया है। यही कारण है कि नाटक, कथा काव्य, इतिहास पुराण और गीतिकाव्य के ग्रन्थो की जहाँ कोइ गणना नहीं हो सकती, वहाँ किसी भाषा के महाकाव्यो के नाम उगलियों पर गिने जा सकते हैं और उस देश या जाति के अधिकाश लोग उन्हे अच्छी तरह जानते रहते हैं। ऐसा इसलिए है कि महाकाव्य हर समय और हर कवि द्वारा नहीं लिखा जाता। उसका एक उपयुक्त समय होता है और जब कोई विराट चेतनावाला महान कवि उस सुअवसर को पहचान कर तत्कालीन सामाजिक आवश्यकता की पूति अनजाने ही करने की चेष्टा करता है तब जाकर सच्चे महाकाव्य का निमाण होता है। इसी बात को रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने महाकवि का ऐसा सामर्थ्य कहा है जिसके कारण 'उसकी रचना के अन्तस्तल से एक सारा देश, एक सारा युग अपने हृदय को और अपनी अभिज्ञता को प्रकट करके उस रचना को सदा के लिए समादरणीय सामग्री बना देता है। ऐसे महाकवियों की उक्तियाँ देश मात्र और जाति मात्र को मान्य होती हे और ऐसे कवियों क नाम अपने काव्यो के अन्दर ही लुप्त हो जाते हैं।'[1] रवि बाबू का यह कथन

१—"साधारणत काव्य के दो विभाग किये जा सकते है। एक तो वह जिसमे केवल कवि की बात होती है और दूसरा वह जिसमे किसी बडे सम्प्रदाय या समाज की बात होती है"

"इस दूसरी श्रेणी के कवि ही महाकवि कहे जाते है। सारे देशो और सारी जातियो की सरस्वती इनका आश्रय लेती है। ये जो रचना करते है, वह किसी व्यक्ति विशेष की लिखी मालूम नही पडती। कहने का अभिप्राय यह कि उनकी उक्तियाँ देश मात्र और जाति मात्र को मान्य होती है। उनकी रचना उस बडे वृक्ष की सी मालूम होती है जो देश के हृदय रूपी भूतल से उत्पन्न होकर उस देश भर को आश्रयरूपी छाया देता हुआ खड़ा हो।" प्राचीन साहित्य–(हिन्दी)–पृ० १२

महाभारत रामायण और इलियड ओडेसी जैसे विकसनशील महाकाव्यो पर विशेष रूप से लागू होता है पर अलकृत महाकाव्यो म से भी कुछ म इतनी जीवनी शक्ति और प्राणवत्ता होती है कि वे समूचे राष्ट्र या जाति की सम्पत्ति बन जाते हैं। तुलसी का रामचरितमानस, वर्जिल का इनीड आदि ऐसे ही महाकाव्य है जो न केवल राष्ट्र और जाति की आत्मा को प्रतिबिम्बित करते हैं, बल्कि वे पूरे समाज की सम्पत्ति बन गये हैं।

अत हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि महाकाव्य के सामान्य लक्षणो से अधिक आवश्यक यह है कि उसमे ऐसी अनवरुद्ध जीवनी शक्ति हो जो युग युग मे गगा की धारा की तरह सामाजिक परिवर्तना, राजनीतिक उलटफेर और सास्कृतिक विकास की विषम भूमि के बीच से समाज के हृदय प्रदेश मे महाकाव्य की रस धारा को अजस्र रूप से प्रवहमान रखे। विभिन्न जीवित महाकाव्यों म यह जीवन शक्ति विभिन्न रूपो और मात्रा मे हो सकती है, पर जिनम यह बिल्कुल नहीं होती वे महाकाव्य के सभी लक्षणो से युक्त होकर भी काल के अन्ध गर्भ मे विलीन हो जाते हैं। यह जीवनी शक्ति महाकाव्य का अथवा महाकवि का अपनी जीवनी शक्ति नहीं होती, वस्तुत वह किसी समाज की वह चिरन्तन जीवनी शक्ति है जिसके साथ महाकवि का तादात्म्य हुआ रहता है। अत सच्चे महाकाव्य की जीवनी शक्ति पूरे समाज, राष्ट्र अथवा जाति की जीवनी शक्ति होती है जो अनवरुद्ध रूप से युग युग म प्रवाहित होती रहती है। रामायण, महाभारत और रामचरित मानस मे यह जीवनी शक्ति सर्वांश रूप मे वर्तमान है और पृथ्वीराज रासो, पदमावत तथा कामायनी म उनसे कुछ कम अशो मे। उसी तरह यूरोप मे इलियड, ओडेसी, वियोवुल्फ और इनीड मे वह सर्वांश रूप मे है और अन्य अलकृत महाकाव्यो म आशिक रूप मे। कुछ महाकाव्यो में वह शक्ति न्यूनतम अश मे होती है, अत उनका साहित्य क इतिहास म नाम भर गिना दिया जाता है।

महाकाव्य की जीवनी शक्ति इस बात पर निर्भर करती है कि वह समाज को कितनी शक्ति, कितना साहस और जीवन को कितनी उमग तथा आस्था प्रदान करती है। महाकवि जब अपनी सप्राणता को महाकाव्य मे जीवन्त रूप मे उतारता है तभी महाकाव्य मे वह सशक्त सप्राणता आ पाती है जो युग युग तक समाज को शक्ति और प्रेरणा प्रदान कर सकती है। रवि बाबू के शब्दो मे ऐसे महाकवियो के वाक्य झरना के समान अपने अपने देश के अन्तस्तल से निकल कर बहुत दिनो से उसे आप्लावित करते आये हैं।" सामाजिक जीवन की उद्दाम जिजीविषा, अखण्ड वेग, और अजस्र प्रवाह जिस सशक्त और जीवन्त रूप में

किसी जातीय महाकाव्य मे दिखाई पडता है, वैसा मानव की अन्य किसी कलात्मक कृति मे नहीं। वीर युग के प्रारम्भिक या विकसनशील महाकाव्यो म यह सशक्त प्राणवत्ता सबसे अधिक इसलिए मिलती है कि अत्याधिक सामूहिक भावना के कारण उस युग मे मानव की जीवनी शक्ति व्यक्ति केन्द्रित नही थी, वह विश्व मे बिखर कर चलने वाली अर्थात् केन्द्र प्रतिगामिनी थी, अत उस काल क महाकाव्यो मे कर्मण्यता, वीरता, त्याग बलिदान, लोकहित आदि ऐसे गुणो का पूर्ण समावेश हो सका है जिनकी आवश्यकता और प्रतिष्ठा युग युग मे होती है। व्यक्तिवाद के विकास के साथ जीवनी शक्ति व्यक्ति केन्द्रित होती गयी, अत परवता महाकाव्यो मे पहले जैसी सशक्त प्राणवत्ता नहीं मिलती। पर आधुनिक महाकाव्यो मे भी वह होता अवश्य है, भले ही उसमे शक्ति कम हो या उसका स्वरूप बदला हुआ हो। उदाहरणार्थ आज के मानव की शक्ति की सक्रियता शारीरिक कम, मानसिक या बौद्धिक अधिक है, अत आधुनिक महाकाव्यो—जैसे गेटे के फाउस्ट, हार्डी के डाइनेस्ट और प्रसाद की कामायनी—मे मन की विविध शक्तिया की सक्रियता और बौद्धिक सप्राणता जितनी अधिक है उतनी घटनाओं और काय सम्बन्धी सक्रियता नही। इस प्रकार महाकाव्य का मूलभूत लक्षण उसका अनवरुद्ध जीवनी शक्ति और सशक्त प्राणवत्ता से युक्त हाना ही है। ऐसा महाकाव्य लिखना सभी कवियों का काम नहीं है। इसी से महाकाव्य कहे जाने वाले सभी ग्रन्थ न तो महाकाव्य माने गये हैं, न माने जा सकते हैं।

तीसरा अध्याय

भारतीय महाकाव्य का रूप-विकास

हिन्दी महाकाव्य के रूप और उसकी विभिन्न शैलियो का विकास सहसा नहीं हो गया है। उसका अविच्छिन्न सम्बन्ध भारतीय महाकाव्य की उस अक्षुण्ण परम्परा से है जिसके विकास के विभिन्न स्रोतों और स्तरों तथा सामग्री के सम्बन्ध म प्रथम और द्वितीय अध्याय मे विचार किया जा चुका है। यह पहले ही बताया जा चुका है कि किस तरह भारतीय महाकाव्य का विकास वैदिक कालीन इतिहास पुराण आख्यान की परम्परा से हुआ है, जिनका प्रारम्भिक रूप वैदिक आख्यानो और दान स्तुतियों मे दिखाई पडता है और जिनके विकसित रूप महाभारत, रामायण तथा पुराण हैं। महाभारत और रामायण अपनी विशिष्ट शैली, विषय वस्तु और महत् उद्देश्य के कारण इतिहास पुराण के साथ महाकाव्य भी हैं। रवीन्द्रनाथ ठाकुर का तो कहना है कि "भारत म महाकाव्य केवल दो ही हैं, महाभारत और रामायण। उनके बाद फिर कोइ महाकाव्य नहीं निर्मित हुआ[1]।" अत रवि बाबू के मत के अनुसार इलियड ओडेसी और रामायण-महाभारत जैसे विशाल विकसनशील काव्य ही महाकाव्य हैं और परवर्ती अलकृत महाकाव्य वस्तुत महाकाव्य नहीं हैं। अनेक पाश्चात्य प्राच्य विद्याविदों ने भी रविबाबू की तरह ही महाभारत और रामायण को तो 'एपिक' या महाकाव्य कहा है और अश्वघोष, कालिदास आदि परवर्ती कविया के महाकाव्यो को दरबारी महाकाव्य (कोर्ट एपिक) या अलकृत महाकाव्य (आरनेट एपिक) कहा है। किन्तु इस प्रकार का नाम सम्बन्धी भेद उपस्थित करने का अर्थ

१— 'अतएव कुछ प्राचीन काव्यो को एक श्रेणी मे रख कर यदि उनका नाम करण किया जाय तो वह नाम महाकाव्य के सिवा और क्या होगा? ये महाकाव्य प्राचीन काल के देवताओ और दानवों के समान ही विशाल काय थे। अब इनकी जाति लुप्त हो गयी है। सारांश यह कि अब ससार भर में कहीं भी महाकाव्यो का अवतार नही होता।"

'प्राचीन साहित्य', ले० रवीन्द्रनाथ ठाकुर, अनु० रामदहिन मिश्र, पृ० ३।

इतिहास के विकास के सिद्धान्त की उपेक्षा करना है। वस्तुत हर युग मे महाकाव्य निर्मित होते रहे हैं और हर युग मे उनके स्वरूप और शैली मे परिवर्तन भी होता रहा है। अत बुद्धचरित, रघुवश, शिशुपालवध भी महाकाव्य हैं, भले ही महाभारत और रामायण से उनका स्वरूप भेद बहुत अधिक है। महाकाव्य की जो परिभाषा पिछले अध्याय मे दी गयी है, उसके अनुसार वही काव्य महा काव्य पद का अधिकारी हो सकता है जिसमे अदम्य और अक्षुण्ण जीवनी शक्ति हो और जिसका समग्र प्रभाव बहुत ही व्यापक और स्थायी हो। इस दृष्टि से शैली के विभिन्न भेदों के होते हुए भी भारत मे महाभारत और रामायण के बाद लिखे गये अनेक काव्य महाकाव्य पद के अधिकारी हैं और सैकडों ऐसे काव्य जो महाकाव्य नाम देकर लिखे गये और आचार्यो द्वारा स्वीकृत भी हुए, वस्तुत महाकाव्य नही हैं। इस अध्याय मे ऐसे ही महाकाव्य पद के अधिकारी काव्य ग्रन्थो को ध्यान मे रख कर भारतीय महाकाव्य की परम्परा और उसके रूप विकास पर विचार किया जायगा।

रामायण और महाभारत

रामायण और महाभारत हमारे देश के आदि महाकाव्य हैं। इनम रामायण को तो भारतीय परम्परा आदि काव्य मानती रही है, पर महाभारत को वह इतिहास, पुराण या धर्मग्रन्थ के रूप मे ही अधिक अपनाती आयी है, महाकाव्य के रूप मे कम। जहाँ तक कथावस्तु का प्रश्न है, रामायण और महाभारत दोनो ही इतिहास माने जाते रहे हैं। किन्तु इतिहास होने के कारण ही ये दोनो महाकाव्य के महान पद से च्युत नही किये जा सकते। महाकाव्य के स्वरूप का जो विवेचन पिछले अध्याय मे किया गया है, उसके अनुसार रामायण और महा भारत भारतीय इतिहास के प्रारम्भिक वीर युग के विकसनशील महाकाव्य हैं। ये दोनो ही सच्चे अर्थो मे महाकाव्य पद के अधिकारी हैं, क्योंकि महाकाव्य के जो मूलभूत लक्षण हैं, वे इनमे प्राप्त होते हैं। इन दोनों म आदिकालीन भारतीय सस्कृति और इतिहास का मर्म सम्पूर्ण रूप मे व्यक्त हुआ है और भारतीय इतिहास का आदिकाल उनमे अपनी समूची ज्ञान राशि और यथार्थ तथा बहुमुखी जीवन व्यापारो को अभिव्यक्त कर सका है। इसीलिए ये महाग्रथ सदा सवदा के लिए भारतीय जातीय जीवन का प्रतिनिधित्व करने वाले अमर महाकाव्य बन गये हैं। इनम भारत के आदिकालीन इतिहास का एक लम्बा युग इस कारण प्रति बिम्बित होता है कि ये किसी विशेष कवि और सीमित अवधि वाले युग की रचनाये नही हैं। दूसरे शब्दों मे वे यूनानी महाकाव्य इलियड और ओडेसी

की तरह भारत के आदि विकसनशील महाकाव्य है। विकसनशील महाकाव्य के लक्षण पिछले अध्याय मे बताये जा चुके हैं। वे सभी महाभारत और रामायण म मिल जाते हैं। वे ये हैं —

१—कवि और काव्य-विकास

यद्यपि महाभारत और रामायण के साथ उनके कर्ता के रूप म व्यास और वाल्मीकि के नाम जुडे हुए हे, पर आधुनिक शोध से पता चलता है कि ये महाकाव्य एक से अधिक हाथो की रचनाये हैं। सैकडो वर्षो म अनगिनत व्यक्तियो की प्रतिभा और वाणी के योग से उनका वर्तमान रूप निर्मित हुआ है। व्यास और वाल्मीकि के जीवन से सम्बन्धित नाना प्रकार की अनुश्रुतियाँ प्रचलित हैं पर वैदिक साहित्य में व्यास पाराशर्य की चर्चा तो है, वाल्मीकि की चर्चा कहीं नही है। तैत्तिरीय आरण्यक और साम विधान ब्राह्मण (१–४–३७७) मे व्यास पाराशर्य का नाम आया है[1]। पाणिनि की अष्टाध्यायी म महाभारत की कथा से सम्बन्धित कई नाम, जैसे युधिष्ठिर, हस्तिनापुर, वासुदेव, अर्जुन आदि, आये हैं पर व्यास की चर्चा नहीं है। महाभाष्य म पतजलि ने महाभारत के उद्धरण तथा कथा सन्दर्भ के साथ शुक वैयासिक (व्यास पुत्र शुक) का नाम लिया है। इससे स्पष्ट है कि उत्तर वैदिक काल म यद्यपि महाभारत की मूल कथा आख्यान गीत के रूप म प्रचलित हो गयी थी पर उसके कर्ता के रूप मे व्यास का नाम अज्ञात था। महाभारत के अनुसार मूल महाभारत, जिसका नाम 'जय' था, ऋषि कृष्णद्वैपायन अथवा व्यास द्वारा लिखा गया था, वे स्वय महाभारत के एक पात्र के रूप मे अर्थात् कौरव और पाण्डवो के पितामह के रूप मे दिखाये गये हैं (महा० १–६३–१००)। उन्होने भारती युद्ध के उपरान्त इस काव्य की रचना की और अपने शिष्य वैशम्पायन को उसे सुनाया या दे दिया। वैशम्पायन ने जनमेजय के नाग यज्ञ के समय पूरी कथा सुनाई। वैशम्पायन के उस ग्रन्थ का नाम 'भारत' था। उसी समय लोमहर्षण के पुत्र सूत उग्रश्रवा ने वह कथा सुनी थी। उन्होने बाद म नैमिषारण्य म होने वाले शौनक के द्वादशवर्षीय यज्ञ के समय फिर पूरी कथा सुनाई और 'भारत' को 'महाभारत' बना दिया। वर्तमान महाभारत का प्रारम्भ यहा से उग्रश्रवा और शौनक यज्ञ मे एकत्र ऋषियो के सम्वाद के रूप मे होता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि महाभारत कम से कम तीन हाथो की रचना है। महाभारत स्वय कहता है कि मूल ग्रथ मे कृष्णद्वैपायन व्यास

1—History of Indian Literature by weber p 184

ने २४ हजार श्लोको मे रचना की थी। अन्यत्र उग्रश्रवा कहते हैं कि वे ८८ सौ श्लोक वाला भारत जानते हैं। फिर आगे ही यह भी कहा गया है कि व्यास ने ऐसे महाकाव्य की रचना की थी जिसमे तीस लाख श्लोक देवताओ के लिए, १५ लाख पितरो के लिए, १४ लाख गधर्वो के लिए और एक लाख छन्द मनुष्यो के लिए थे (महा० १-१-११, ८१, १०१)। इससे स्पष्ट है कि महाभारत जिस रूप मे आज प्राप्त है वैसा पहले नहीं था। इस सम्बध मे चिन्तामणि विनायक वैद्य का मत है कि 'इससे यही अनुमान होता है कि महाभारत के रचयिता एक से अधिक होगे। महाभारत के ही वर्णनानुसार ये रचयिता तीन थे—व्यास, वैशम्पायन और सौति। भारतीय युद्ध के बाद व्यास ने 'जय' नामक इतिहास की रचना की इसमे सन्देह नहीं कि जो प्रश्नोत्तर वैशम्पायन और जनमेजय के बीच हुए होगे वे व्यास जी के मूल ग्रथ से कुछ अधिक अवश्य होगे। इसी प्रकार सौति तथा शौनक के बीच जो प्रश्नोत्तर हुए होगे वे वैशम्पायन के ग्रथ से कुछ अधिक अवश्य होगे। साराश, व्यास जी के ग्रथ को वैशम्पायन ने बढाया और वैशम्पायन के ग्रथ को सौति ने बढाकर एक लाख श्लोको का कर दिया।'[1]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि महाभारत एक से अधिक हाथो की रचना है अथात् मूल महाभारत को व्यास ने स्वय लिखा हो या लोक प्रचलित आख्यानो का उसमे सग्रह किया हो पर बाद मे उसका विस्तार विभिन्न लोगो द्वारा किया गया। यह ठीक ठीक कहना सभव नहीं है कि व्यास जी के मूल ग्रन्थ 'जय' मे कितने श्लोक थे। वेबर और मैकडानल का अनुमान है कि उसम ८८ सौ श्लोक थे जैसा महाभारत मे वैशम्पायन ने कहा है। श्री वैद्य इस मत को नहीं मानते। उनका कहना है कि वैशम्पायन के 'भारत' मे २४ हजार श्लोक रहे होगे और बाद मे उग्रश्रवा ने शेष ७६ हजार श्लोक अतीत के पुरुषो की मनोरजक कथाओ का वर्णन करने के लिए बढाया होगा और उसी समय इसका नाम 'महाभारत' पडा होगा[2]। इस प्रकार हम देखते हैं कि महाभारत एक विकसन शील महाकाव्य है। उसकी श्लोक सख्या के समान ही उसकी कथावस्तु और अवान्तर कथाओ का भी विकास और विस्तार धीरे धीरे हुआ है। पहले अध्याय मे महाकाव्य का उद्भव और विकास दिखाते हुए कहा जा चुका है

१—महाभारत मीमासा—हिन्दी अनुवाद, ले० चिन्तामणि विनायक वैद्य, अनुवादक पण्डित माधवराव सप्रे, पूना, सन् १९२०, पृ० ५-६।

२—वही, पृष्ठ ८-९

कि किस तरह सूत, मागध, वैतालिक, बन्दीजन आदि ने इतिहास पुराण और आख्यानो का सरक्षण किया और इस तरह लोकगाथाओ, लोककथाओ और अनुश्रुतियों या निज घरी कथाओं के योग से आख्यान गीतो (बैलड्स) ने महाकाव्य का रूप धारण कर लिया। महाभारत के सम्बन्ध मे भी विद्वानो का यही मत है कि उसका विकास सूत मागधो की परम्परा मे ही हुआ है। उसकी मूल कथा कौरव पाण्डव युद्ध की है जो सभवत वैदिक कुरु पाचालयुद्ध का परिवर्तित रूप है। इस सम्बन्ध मे भी, कि कौरव पाण्डव एक ही कुल के थे या भिन्न जातियों या कुलो के, विद्वानों ने तरह तरह के अनुमान किये हैं। जो भी हो, पर इतना सत्य है कि महाभारत की कथा का यथावत रूप वैदिक साहित्य म नही मिलता, यद्यपि उसके अनेक पात्रों की चर्चा जगह जगह आयी है। इससे यह सिद्ध होता है कि महाभारत यदि इतिहास है तो उसका सरक्षण वैदिक ब्राह्मणों की परम्परा म नहीं, बल्कि क्षत्रिय परम्परा मे और उन्ही के द्वारा सरक्षित सूत मागधादि द्वारा हुआ। इस प्रकार इसमे सन्देह नहीं रह जाता कि मौखिक रूप से गान होने या व्यासो द्वारा वाचन और विवर्धन होने के फलस्वरूप ही आज महाभारत इस विशाल आकार को प्राप्त कर शत साहस्री सहिता बन सका है। उसकी मूल कथा के आस पास सैकडों उपाख्यान और अतीत का इतिहास जुडने तथा उसमे धार्मिक और दार्शनिक वर्णनों की आवश्यकता होने का भी यही रहस्य है। यही कारण है कि विण्टरनित्स महाभारत को एक ग्रन्थ नही, बल्कि एक पूरा साहित्य मानते हैं[१]। उनके अनुसार महाभारत का मूल रूप ईसापूर्व चौथी शताब्दी के पहले नहीं रहा होगा और उसका वर्तमान रूप चौथी शताब्दी मे निर्मित हो चुका था[२]। इस तरह वर्तमान महाभारत करीब आठ सौ या हजार वर्षों के लम्बे काल के भीतर विकसित हुआ महाकाव्य है।

रामायण—महाभारत की तरह रामायण का कर्ता भी एक ही कवि नही है यद्यपि उसम काव्य कौशल और अन्विति महाभारत की अपेक्षा बहुत अधिक

१— It is only in a very restricted sense that we may speak of the Mahabharat as an epic and a poem Indeed in a certain sence the Mahabharat is not one poetic production but rather a whole literature —History of Indian Literature, part I, by M Winternitz Calcutta English translation, 1927, p 317

२—वही पृष्ठ ४६४।—

है। इसीलिए वह अधिकाश मे एक हाथ की रचना प्रतीत होती है। महाभारत इतिहास है, रामायण काव्य। रामायण मे अलकृत काव्य के लक्षण है। उसमे 'अमुक उवाच' कहकर कुछ नहीं लिखा गया। महाभारत मे ऐसा है। महा भारत की शैली विकसित होकर पुराण बनी, रामायण की अल्कृत काव्य। इसीलिए रामायण आदि काव्य है और उसका लेखक आदि कवि। रामायण के कर्ता वाल्मीकि माने जाते हैं और रामायण के प्रारम्भ मे ही उनके काव्यारम्भ करने की प्रेरणा–क्रौंच वध, नारद द्वारा राम–कथा वर्णन, ब्रह्मा का वरदान आदि का वर्णन किया गया है। यह अधिकाश विद्वानो का मत है कि वर्तमान रामायण के आदिकाण्ड और उत्तरकाण्ड बाद के जोडे हुए हैं, अत वाल्मीकि की यह जीवन कथा विश्वसनीय नही हो सकती। वस्तुत व्यास के समान वाल्मीकि का होना भी सदिग्ध ही है क्योकि प्राचीन वैदिक साहित्य मे न तो रामकथा का उल्लेख मिलता है न वाल्मीकि का। कुछ विद्वानो का अनुमान है कि वैदिक काल के बाद कोशल प्रान्त मे रामकथा सम्बधी आख्यान काव्य की उत्पत्ति हुई यद्यपि उसका निश्चित रचना काल निर्धारित करना अत्यत कठिन है। कामिल बुल्के ने अपनी खोज-पुस्तक 'रामकथा' मे ई० पूर्व छठी शती को उसकी रचना का काल माना है[1]। जिस तरह महाभारत की मूलकथा कुरु वश के आश्रय मे उत्तर पश्चिम भारत मे विकसित हुई उसी तरह रामकथा भी इक्ष्वाकु वश वालों के आश्रय मे कोशल प्रदेश या मध्यदेश मे विकसित हुई। राम के इक्ष्वाकुवशीय होने के कारण इस वश के सूत मागधो ने रामायण की मूल कथा सम्बधी आख्यान गीत का प्रारम्भ किया होगा जिसे बाद मे वाल्मीकि नामक किसी ऋषि ने काव्य का रूप प्रदान किया। महाभारत के द्रोणपर्व और शान्तिपर्व का रामोपाख्यान वाल्मीकि के पूर्ववर्ती रामआख्यान पर आधारित प्रतीत होता है। ई० पूर्व चौथी शताब्दी मे रामकथा प्रचलित थी, इसका प्रमाण पालि त्रिपिटक म रामकथा का होना है। त्रिपिटक की राम सम्बन्धी गाथायें वाल्मीकि रामायण की कथावस्तु से बहुत भिन्न हैं और इसी कारण वेबर और दिनेशचन्द्र सेन वाल्मीकि रामायण को बौद्ध रामकथा के आधार पर निर्मित मानते हैं। पर यह बात सही नहीं है, क्योकि दोनो मे बहुत अधिक भिन्नता है। सबसे बडी बात तो यह है कि रामायण मे एक स्थान को छोड कर, जो क्षेपक मान लिया गया है, बुद्ध या बौद्ध धर्म की चर्चा कहीं नही है। अत यही मानना तर्क सगत है कि वाल्मीकि रामायण की रचना के

१—राम कथा (उत्पत्ति और विकास), लेखक कामिल बुल्के, प्रयाग, १९५०, पृष्ठ १३५।

पूर्व रामकथा की उत्पत्ति हो चुकी थी और वह आख्यान गीत के रूप मे लोक मे प्रचलित थी। नाराशसी गाथा या इतिहास पुराण के रूप मे रामकथा का प्रचार पहले ही से था और उन्ही गाथाओ को बौद्ध ग्रन्थो ने भी अपनाया और रामायण महाभारत ने भी। इसका प्रमाण महाभारत के हरिवंश का यह श्लोक है —

गाथा अप्यत्र गायति ये पुराणविदो जना
रामे निबद्धतत्वार्था माहात्म्य तस्य धीमत ॥ (हरि० ४१–१४९)

इसके अनुसार पुराणविद् लोग राम की गाथा को गाते थे। इन गाथाओं का सकलन वाल्मीकि के पूर्व संभवत भार्गव च्यवन ऋषि ने किया था, जिसका उल्लेख महाभारत मे हुआ है[1]। वैसे वाल्मीकि को भी भार्गव कहा गया है पर अश्वघोष ने बुद्धचरित मे कहा है कि महर्षि च्यवन जिस राम काव्य की रचना म सफल नहीं हो सके उसे पहले पहल वाल्मीकि ने पूण किया[2]। पर बाद म सभवत च्यवन और वाल्मीकि को एक मे मिला दिया गया या वाल्मीकि को च्यवन का पुत्र मान लिया गया[3]। इस प्रकार वाल्मीकि की स्थिति, काल और उनकी मूल रचना का कोई निश्चित प्रमाण नही है। फिर भी अनुश्रुति के अनुसार वाल्मीकि को रामायण का कर्ता मानने मे कोई आपत्ति इसलिए नहीं है कि इस ग्रथ मे काव्य गुण और अभिव्यक्ति पर्याप्त मात्रा मे है। पर इतना तो निश्चित है कि रामायण आज जिस रूप मे प्राप्त है वह पूरी की पूरी वाल्मीकि कृत नहीं है। अधिकाश विद्वानों का मत हैं कि रामायण मे भी महाभारत की तरह कालान्तर मे गायको द्वारा श्लोको की वृद्धि हुई है और प्रारभ मे इसमे अयोध्या काण्ड से युद्ध काण्ड तक की ही कथा थी। बौद्ध ग्रथ 'अभिधम महाविभाषा' मे, जो चीनी भाषा मे अनूदित रूप म सुरक्षित है, रामायण का उल्लेख है। उसके अनुसार रामायण मे बारह हजार श्लोक थे। इसके अतिरिक्त कल्पनामडितिका (तीसरी शताब्दी) ओर सद्धम स्मृत्युपाख्यान (पहली शती) मे भी रामायण का उल्लेख है। इससे यह सिद्ध है कि पहली

१—क श्लोकस्चाय पुरा गीतो भार्गवेन महात्मना।
आख्याते रामचरिते नृपति प्रति भारत। (शान्तिपर्व–५६)
ख भृगोर्महर्षे पुत्रोऽच्च्यवनो नाम भूभार्गव। (६।१२२।१)
२—वाल्मीकिरादौ च ससर्ज पद्य
जग्रन्थ यन्न च्यवनो महर्षि। (बुद्धचरित १–४३)
३—देखिये कृत्तिवास रामायण—प्रारम्भ में रत्नाकर की कथा।

शताब्दी तक वाल्मीकि रामायण निर्मित हो चुकी थी और अभिधम महाविभाषा के रचना काल मे उसका कलेवर वर्तमान रामायण के आधे से भी कम विस्तृत था।

उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि रामायण भी महाभारत की तरह ही विकसनशील महाकाव्य है और उसकी रचना म एक से अधिक व्यक्तियो का हाथ रहा है। जमन विद्वान डा० रूबन का मत है कि मूल रामायण क्षत्रियो की सम्पत्ति थी, वह एक क्षत्रिय वीर काव्य था, बाद म ब्राह्मणों ने उसे धार्मिक रूप प्रदान कर दिया और उसम अवतारवाद और आदर्शवाद की बातें भर दी। इस तरह ब्राह्मण प्रभाव से रामायण को वर्तमान रूप प्राप्त हुआ[१]। इस मत म सत्य का अश है, पर अधिक सच बात तो यह है कि रामायण के विकास का प्रधान कारण उसका कुशीलवो द्वारा गाया जाना है। सभवत ३०० ई० पू० के आसपास वाल्मीकि ने आदि रामायण की रचना की। रामायण स्वय इसका प्रमाण है कि वाल्मीकि ने इसकी रचना करके कुश और लव को सिखाया। कुश लव उसे लोक के बीच गाते थे तथा उन्होने राम को भी उसे गा कर सुनाया[१]। रघुवश म भी कुश लव द्वारा रामायण-गान की चर्चा है[२]। यह कथा कुशीलवो द्वारा अपना महत्व बढाने के लिए गढी गयी प्रतीत होती है पर इससे इतना तो प्रमाणित होता ही है कि वाल्मीकि रामायण का गान होता था अर्थात् उसका मौखिक रूप म प्रचार था। रामायण के बारे म परम्परा से यह माना जाता है कि वह पढने और गाने मे समान रूप से मधुर है —"पाठ्य गेय च मुधा प्रमाणस्त्रिभिरन्वितम्।" कुशीलव जाति का उल्लेख अनेक जगह मिलता है। ये लोग रामायण को कण्ठस्थ करके जगह जगह गाकर जीविकोपार्जन करते थे। पहले अध्याय म कहा जा चुका है कि चारण भाट आदि किस तरह लोक रुचि को ध्यान म रख कर किसी रचना म वृद्धि कर दिया करते हैं। कुशीलवो ने भी रामायण को इसी प्रकार वर्तमान

१—कृत्स्न रामायण काव्य गायता परया मुदा।
ऋषिवाटेषु पुण्येषु ब्राह्मणावसथेषु च।
रथ्यासु राजमार्गेषु पार्थिवानागृहेषु च।
(वा० रामायण—उत्तरकाण्ड, ९३)।

२—वृत्त रामस्य वाल्मीके कृतिस्तौ किन्नरस्वनौ।
किं तपेन मनोहर्तुं मनं स्याता न शृण्वताम्॥ रघुवश

रूप दिया होगा, यह अनुमान सत्य के अधिक निकट है। याकोबी ने भी 'डास रामायण' मे यही मत व्यक्त किया है[१]। पर वर्तमान रामायण के आदि और उत्तर काण्डो पर ब्राह्मण प्रभाव भी पडा है, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

इस प्रकार महाभारत और रामायण दोनो ही, कथा और कलेवर वृद्धि की दृष्टि से तथा मौखिक परम्परा मे विकसित होने के कारण, विकसनशील महाकाव्य सिद्ध होते हैं।

२—वीर युग की रचनाये और वीरता की भावना

विकसनशील महाकाव्य की दूसरी विशेषता यह है कि वे वीर युग म उद्भूत होते हैं जिससे उनकी मूल भावना वीरता की रहती है। पहले अध्याय मे महाकाव्य का उद्भव और विकास दिखाते हुए कहा जा चुका है कि भारत म गौतम बुद्ध के पूव के काल को प्रारम्भिक वीर-युग और उसके बाद गुप्त काल तक की अवधि को विकसित वीर युग माना जा सकता है। ऊपर कहा जा चुका है कि महाभारत की मूल कथा गौतम बुद्ध के पूव उत्तर वेदिक काल मे ही उत्पन्न हो चुकी थी और चौथी शताब्दी तक उसको वर्तमान रूप प्राप्त हो गया था। इस तरह महाभारत का उदय भारतीय इतिहास क प्रारम्भिक वीर युग मे हुआ जिस समय क्षत्रियत्व और बाहुबल का समाज मे अत्यधिक सम्मान था। उसका विकास भी क्षत्रिय आश्रित सूत मागध या ऋषियो की परम्परा मे हुआ था। अत मूल 'भारत' निश्चयरूप से वीर आख्यान था। विण्टरनित्स का अनुमान है कि प्रारम्भ म उसका विकास कुरुवश के राजाओं के सूतो द्वारा होता रहा और उसमे प्राचीन कुरु पाचाल युद्ध का वर्णन था पर बाद में पाण्डव वश के राजाओ का अधिकार हो जाने पर उसका रूप पाण्डवों के पक्षपात से पूण हो गया[२]। फिर यह आख्यान इतना लोक प्रचलित हुआ कि ब्राह्मणो ने पोराणिक ऐतिहासिक तथा आख्यान गाथा सम्बन्धी साहित्य पर भी अपने धम के प्रचार या जीविकोपार्जन क उद्देश्य से अधिकार करना आवश्यक समझा और धीरे धीरे पाण्डवा को धार्मिक और कौरवों को अत्याचारी चित्रित कर दिया गया। इस तरह महाभारत अन्ततोगत्वा ब्राह्मण विचारधारा का प्रमुख ग्रथ, यहाँ तक कि पचम वेद माना जाने लगा। परिणामस्वरूप उसकी प्रारम्भिक अन्विति नष्ट हो गयी। फिर भी उसमे वीरता की भावना बहुत कुछ सुरक्षित रह गयी है। जहाँ तक उसकी मूल कथा का सम्बन्ध

१—डास रामायण, ले० हरमन याकोबी, पृ० ६२।

२—हिस्ट्री आफ इंडियन लिटरेचर, भाग १, विंटरनित्स, पृ० ४५५।

है वह निस्सन्देह एक वीर काव्य है, धार्मिक काव्य नही। उसका मूल रूप 'जय' तो विशुद्ध रूप से वीर काव्य रहा होगा जैसा उसके नाम से ही प्रकट है[1]। इसके उपाख्यानों मे धार्मिक या भक्ति की भावना अधिक है, अत स्पष्ट ही वे बाद के जोडे हैं। वर्तमान महाभारत का उद्देश्य वैष्णव भक्ति और कर्म मार्ग का उपदेश देना हो गया है और उसमे ध्वन्यालोककार के अनुसार शान्त रस प्रधान है, वीर रस गौण या अगरूप है[2]। पर मूल ग्रथ जय और भारत मे वीर रस ही प्रधान रहा होगा क्योकि स्पष्ट ही उन पर वैष्णव विचार धारा का नहीं बल्कि क्षत्रियोचित वीर-भावना का प्रभाव था। इसमे कोई सदेह नही कि महाभारत के ही कथनानुसार जो इसमे नहीं है वह अन्यत्र भी नहीं है (९-१८), वह स्वय विशाल साहित्य है। पर इस सत्य से भी इन्कार नही किया जा सकता कि वर्तमान महाभारत मे भी सर्वप्रधान वस्तु महायुद्ध और उसका भयकर परिणाम तथा पाण्डवो की विजय ही है। अत वीर रस का ऐसा विशाल महाकाव्य अन्य कोई नहीं है। वीर युग की जो भी विशेषतायें होती हैं वे सभी इसमे पाई जाती हैं। वस्तुत महाभारत अनेक प्रकार के धार्मिक घटाटोप द्वारा कलेवर वृद्धि के बाद भी भारत के प्रारम्भिक वीर युग का समग्र और सच्चा चित्र उपस्थित करता है।

रामायण उत्तरकालीन विकसित वीर युग का काव्य है—उस युग मे समाज बर्बरयुगीन समाज व्यवस्था से पर्याप्त आगे बढ चुका था और साम्राज्य स्थापित हो गये थे तथा धर्म की मर्यादा स्थिर हो चुकी थी। पर वीरता का स्थान अब भी उतना ही महत्वपूर्ण था। वीर युग मे बाहुबल अर्थात् शारीरिक शक्ति और वैयक्तिक वीरता का ही सर्वाधिक महत्व होता है और जिसमे ये गुण होते हैं वही सेनापति, नायक और राजा बनता है। महाभारत की भाँति रामायण मे भी वीरता का यह स्वरूप दिखाई पडता है। प्रारम्भिक वीर युग मे वैयक्तिक वीरता और विजय की कामना के अतिरिक्त नैतिकता का अन्य मूल्य नही होता, महाभारत मे यह बात दिखाई पडती है। पर विकसित वीर युग मे धार्मिक और

१—क नारायण नमस्कृत्य नर चैव नरोत्तमम्।
देवी सरस्वती चैव ततो जयमुदीरयेत्॥ महाभारत

ख जयनामेतिहासोऽयम्। महाभारत

२—महाभारतेऽपि शास्त्रकाव्यरूपच्छायान्वयिनि वृष्णिपाण्डव विरसाव सानवैमनस्यदायिनी समाप्तिमुपनिबध्नता महामुनिना वैराग्यजनन तात्पर्यं प्राधान्येन स्वप्रबन्धस्य दर्शयता मोक्षलक्षण पुरुषार्थ शान्तो रसश्च मुख्यतया सूचित॥ ध्वन्यालोक—चतुर्थ उद्योत।

सामाजिक नैतिकता वैयक्तिक उद्दाम वीरता की भावना को नियन्त्रित करने लगती है। रामायण मे समाज का यही विकसित रूप दिखाई पडता है और पात्रो के चरित्र भी इस तरह नियन्त्रित और सयमित वीरता की भावना से ओत प्रोत हैं। इसीलिए रामायण का विकास मूल भारत के बाद का प्रतीत होता है। महाभारत मे भीमसेन द्वारा दु शासन का रक्त पीना सम्भव है, हिडिम्बा आदि से विवाह सम्भव है, अर्जुन का अनेक प्रकार का प्रेम व्यापार सम्भव है, कृष्ण का छल कपटमय व्यवहार सम्भव है पर रामायण म यह सब सम्भव नही है। वहाँ तो धोबी के व्यग पर राम सीता को वनवास दे सकते हैं, रावण के आश्रय म रहने के कारण सीता की अग्नि परीक्षा ली जाती है और कहीं भी अनैतिक ढग से युद्ध नही लडा जाता। रामायण म नैतिकता और धर्म भावना की अधिकता का यह अर्थ नहीं कि उसमे वीर भावना की कमी है। रामायण का प्रधान घटना राम रावण युद्ध ही है, उसम राम अपने वैयक्तिक बाहुबल से तथा लक्ष्मण और वानरादि की सहायता से युद्ध जीतते हैं। पर राम की वीरता धर्म भावना से ओतप्रोत है। महाभारत के पात्रा का वीरता ऐसी नही हैं। राम वैयक्तिक हित के साथ आर्य साम्राज्य के विस्तार के लिए भी लडते हैं, महाभारत का शक्ति प्रदर्शन वैयक्तिक स्वार्थो के लिए ही है। इस प्रकार यद्यपि महाभारत और रामायण दोनों ही वीर युग का पूर्ण प्रतिनिधित्व करते हैं, दोनो ही म विकसनशील महाकाव्यो के अनुरूप वीरता की भावना ही प्रधान है पर दोनो के विकास काल मे भेद होने के कारण दृष्टिकोण का भेद भी है। वैसे धार्मिक और उपदेशात्मक बातो, घटनाओ और कथाओं को दोना मे खूब जोडा गया है और दोना को धार्मिक रूप प्रदान करने और अवतार-वाद तथा भक्ति का प्रचारक बनाने का प्रयत्न बाद के लोगो ने खूब किया पर इससे इन दोनो महाकाव्यो की मूल भावना पर पर्दा नहीं पड सका है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर का मत है कि 'रामायण मे भी युद्ध व्यापार यथेष्ट है, राम का बाहुबल भी सामान्य नही है, तथापि रामायण मे जो रस सर्वापेक्षा प्रधान है वह वीर रस नही है। उसमे बाहुबल की विजय दुन्दुभी नही बजी है। युद्ध घटना उसके वर्णन का मुख्य विषय नही है।' मनुष्य के चूडान्त आदर्श की स्थापना के लिए ही कवि ने इस महाकाव्य की रचना की है और उस दिन से आज तक मनुष्य के उस आदर्श चरित्र वर्णन का पाठ भारतवासी अत्यन्त आग्रह और परम आदर के साथ करते आ रहे हैं।' (प्राचीन साहित्य, पृ० ८-९) रवि बाबू का निष्कर्ष तो सर्वथा सत्य है कि रामायण मे आदर्श की स्थापना हुई है पर इससे उसके वीर काव्य होने मे कमी कहाँ पडती है? आदर्शवादी

काव्य होने पर भी उसका प्रधान रस वीर ही है, हाँ, क्षेपकों और बाद के बढ़ाये अंशों (आदि और उत्तर काण्ड) को ही अधिक महत्व दिया जाय तो बात दूसरी है। अत रवि बाबू का यह मत विवादास्पद है कि 'रामायण मे बाहुबल को नहीं, जिगीषा को नहीं, राष्ट्र-गौरव को नहीं, केवल शान्त रसास्पद गृहस्थधर्म को ही, करुणा के अश्रुजल से अभिषिक्त कर, महान शौर्य वीर्य के ऊपर प्रतिष्ठित किया गया है। (प्राचीन साहित्य, पृ० ७) वस्तुत उसमे गृहस्थ धर्म के आदर्श की स्थापना के साथ साथ बाहुबल और राष्ट्र गौरव को ही अधिक महत्व दिया गया है और इसी कारण रामायण जातीय महाकाव्य माना जाता है।

महाभारत और रामायण मे इस मात्रा तक विकास हुआ है कि उनके मूल रूप और वर्तमान रूप म कोई समानता नही रह गयी है। हम जब उन्हे वीर-काव्य कहते हैं तो हमारा तात्पर्य उनके मूल रूप से है जिनका आभास मात्र इनके वर्तमान रूपों मे मिलता है। वतमान महाभारत और रामायण मे वीरगाथा तथा धामिक गाथा के तत्त्व मिले जुले हैं पर दोनों तत्त्वों को पहचानना कठिन नही है और वीरगाथात्मक तत्त्वो को पहचान कर उनमे रामायण महाभारत का मूल रूप खोजा जा सकता है। शाडविक ने अपनी पुस्तक 'ग्रोथ आफ लिटरेचर' म वीरगाथात्मक तत्त्वो और अन्य प्रकार क तत्त्वो मे प्रधान अन्तर यह माना है कि सामान्यत वीर गाथाये क्षत्रिय या राजन्य वर्ग के पात्रो का आधार ग्रहण करके निमित होती हैं और धामिक कथाओं के नायक बहुधा ब्राह्मण होते हैं। किन्तु क्षत्रिय नायक यदि दया, त्याग, तपस्या आदि का पथ ग्रहण करता है तो उस कथा को वीरगाथा तो नही ही माना जायगा, उसे वीरयुग के बाद का ब्राह्मण स्रोतो से उद्भूत माना जायगा[1]। इस दृष्टि से महाभारत और रामायण की बहुत सी उपकथाये ब्राह्मण स्रोतो या प्रभाव से आयी प्रतीत होती हैं, अत उनके

1— It may be remarked here that the contrast between heroic and non heroic elements is as a rule very clearly marked in early Indian literature In general heroic stories are concerned with persons of the kshattriya or princely caste non heroic stories primarily with Brahmans References to the other castes are rare But stories of Princes whose fame is due to piety and asceticism rather than to prowess or who come to grief through impiety must be regarded as non heroic They are doubtless of Brahmanic origin'

Growth of Literature—part II by Chadwick p 466

कारण इन महाकाव्यो की वीर भावना को गौण नही माना जा सकता। दोनो ग्रन्थो मे अवतारवाद की स्थापना भी बाद की जोडा प्रतीत होती है और मूल कथा से उसका सम्बन्ध भी सीधा नही है। महाभारत म आविस्कारिक कथा के नायक पाण्डव मानव हैं, यद्यपि उन्हें देवता का अश या देवता से उत्पन्न बताने का प्रयत्न ब्राह्मण प्रभाव को प्रकट करता है। कृष्ण म अवतार का आरोप भागवत या पाचरात्र प्रभाव व्यक्त करता है। उसी तरह रामायण के राम देवता नही मानव ही हैं। इसके सबध मे रवीन्द्रनाथ ठाकुर का यह कहना सर्वथा सही है कि 'देवता की अवतार लाला या आलम्बन करक यह काव्य बनाया गया हो सो भी नहीं है। कवि वाल्मीकि के निकट राम अवतार नही थे मनुष्य ही थ, इस बात को पण्डित मण्डली मण्डित करेगी। मनुष्य होने से ही राम चरित्र इतना महत्वपूर्ण है (प्राचीन साहित्य, पृ० ५)। स्वय रामायण म राम को नरचन्द्रमा कहा गया है[1]। इस प्रकार महाभारत और रामायण का मूल उद्देश्य वीरता प्रदर्शन द्वारा मनोरजन करना, इतिहास बताना और वीरता का आदर्श उपस्थित करना है न कि धर्म, भक्ति या ज्ञान का उपदेश देना।

चरित्र चित्रण—वीरता की भावना और शारीरिक शक्ति तथा वैयक्तिक वीरता के सर्वाधिक महत्व के कारण ही महान वीर ही वीर युग का महान व्यक्तित्व होता है और वैयक्तिक वीरता को ही सबसे बडा गुण माना जाता है। महाभारत उज्ज्वल चरित्रो का वन इसी अर्थ म है कि उसके चरित्रो म सभी महान शक्ति और अदम्य उत्साह तथा साहस के प्रतीक हैं। वे डरना तो जानते ही नहीं, कभी हिम्मत हारते हुए भी नहीं दिखाई पडते। 'युद्धदेहि' का क्षत्रियोचित आदर्श ही सर्वदा उनक समुख रहता है। यही कारण है कि महाभारत के पढने के बाद पहला विचार तो पाठक के मन मे यही उठता है कि यह अर्जुन, कर्ण, भीम, भीष्म, द्रोण, दुर्योधन आदि वीरो की वैयक्तिक वीरता की कहानी है, भारतीय सस्कृति, वैष्णव धर्म, या जातीय राष्ट्रीय भावना के विचार बाद मे उठते हैं।[2] इसके साथ ही वीर युग का

१—देवष्वपि न पश्यामि कश्चिदेभिर्गुणैर्युतम्।
श्रूयता तु गुणैरेभिर्यो युक्तो नरचन्द्रमा ॥ रामायण—आदिपर्व

2 Here we must emphasize what is apparent on a first reading of Mahabharat, that it is a Story of heroism of Arjun and Karna of Bhima and Bhisma and the question of patriotism or tribal supremacy never strikes us Numerous princes come to help the heroes on either side and one feels that it is

नैतिक मानदण्ड भी धार्मिक या सामाजिक न होकर वैयक्तिक होता है। महाभारत मे वीरयुग की यही वैयक्तिक नैतिकता दिखलाई पडता है और सभी वीर अपनी विजय के लिये जो भी करते हे, सब नैतिक माना जाता है। कृष्ण जैसे व्यक्ति को छल कपट का सहारा लेना पडता है, द्रोपदा चीर हरण भी दुर्योधन की सभा म द्रोण और भीष्म के सामने हा होता है। इस तरह वीरता तथा अधिकार ही नैतिकता का मान स्थिर करते हैं। महाभारत के चरित्रो मे प्रारम्भिक वीर युग की सभी विशेषताये दिखलाइ पडती हे।

रामायण के चरित्र कुछ दृष्टियो से महाभारत के चरित्रो से भिन्न कोटि के हैं। कारण यह हे कि महाभारत के चरित्र प्रारम्भिक वीर युग का प्रतिनिधित्व करते हैं और रामायण के चरित्र विकसित वीर युग का। विकसित वीर युग म यद्यपि वीरता की भावना का महत्व तो पूर्ववत् रहता है पर धर्म और नैतिकता का एक विशेष मानदण्ड स्थापित हो गया रहता है जो वीरो के आचरण का सयमन करता है। अत रामायण के चरित्र वीर होते हुए भी गृहस्थ धर्म के लिये आदर्श चरित्र हैं। महाभारत के चरित्रो की भाँति उनमे भी अपरिमित शारीरिक शक्ति है और अपने बाहुबल, आत्मिक बल और साहस तथा अनुपम निर्भयता से वे वीर युग के ही प्रतीत होते हैं पर उनम क्रूरता, द्यूतक्रीडा, परस्त्री हरण, बहुविवाह या बहुस्त्रीरति, अनैतिक युद्ध आदि बातें नहीं दिखाई देतीं। उन्हे सामाजिक नियमों का नियत्रण मान्य है और वे दया दाक्षिण्य, त्याग तपस्या, क्षमाशीलता, न्यायप्रियता और सात्विक प्रेम आदि मानवीय मूल्यो मे विश्वास करनेवाले ही नहीं है बल्कि उसका आदर्श भी उपस्थित करते हैं, व्यक्तिगत भूमिका से ऊपर उठकर परिवार, समाज और राष्ट्र की भूमिका म अपने चरित्र की ऊँचाइ स्थापित करते हैं। अत प्रो० सिद्धान्त का यह मत बिलकुल सही है कि वाल्मीकि परवता विकसित युग के कवि हैं और उन्होने प्रारम्भिक वीर युग की निजन्धरी कथाओ से अपने पात्र चुनकर उन्हे अपने युग के चारित्रिक साँचे मे ढाल दिया है[1]।

always the personal factor which determines these alliances' The Heroic Age of India, by Prof N K Sidhant London 1929 p 76

1 —' Even though the Ramayan does not have the dida ctic overgrowth of the Mahabharat it seems the product of an age of polish and culture quite distinct from the barbarism'

कथानक—सभी विकसनशील महाकाव्यो म कथानक का सघटन बहुत ही शिथिल होता है। उनमे कथानक का प्रधान व्यापार युद्ध होता है और प्रधान कथा के साथ उसके चरित्रो का जीवन व्यापार ओर बहुधा उनकी वशावली भी उसमें दे दी गइ रहती है। परिणामस्वरूप विकसनशील महाकाव्या म अवान्तर या प्रासगिक कथाओ की अधिकता होती है, फिर भी उनका प्रधान कार्य बहुत थोडे समय का होता है। साहसिक कार्या तथा अतिप्राकृत और अतिमानवीय तत्त्वो की बहुलता के साथ ही साथ उनम बहुत दिना तक विकसित होते रहने के कारण अनपेक्षित धार्मिक उपदेश, नैतिक शिक्षा सबधी कथायें, प्राचीन ज्ञान भण्डार, वशानुक्रम आदि पौराणिक, शास्त्रीय ओर धर्मशास्त्रीय विषय भी जुड जाते हैं। महाभारत मे कथानक सबधी ये विशेषतायें बहुत अधिक पाई जाती हैं, रामायण म उससे कम हैं। महाभारत की अपेक्षा रामायण एक हाथ की रचना अधिक है, इस कारण महाभारत का कथानक जितना शिथिल ओर विपुल है उतना रामायण का नही। महाभारत की मूलकथा कौरव पाण्डव युद्ध की है और कुरुवश के पूर्व पुरुषो मे शान्तनु ओर भीष्म तक की कथा उसम आइ है। इस प्रधान कथा से इतर अवान्तर कथायें प्रसगवशात आइ हैं और अधिकाश बाद की जोडी प्रतीत होती हैं। पाण्डवो के वशजो म जनमेजय तक की कथा है, बाद की नही। रामायण मे आधिकारिक कथा अधिक सघटित है और उसमे महाभारत की तुलना म अवान्तर कथायें बहुत कम हैं। उसम भी पूर्व पुरुषो का सक्षेप म वर्णन है पर वशजो का नही है। दोनो ही महाकाव्या म प्रधान घटना बहुत कम समय की है, महाभारत युद्ध की अठारह दिन की ओर लका युद्ध की दस दिन की। पर यूरोपीय विकसनशील महाकाव्या के विपरीत इन दोना महाकाव्या म नायको के सम्पूर्ण जीवन की कथा मिलती है। हो सकता है यह बाद के कवियो गायकों द्वारा जोडी गइ हो। विकसनशील महाकाव्या मे घटना प्रवाह ही प्रधान

of the h roic age The personality of the poet is well defined, he is a creature of flesh and blood not an abstraction like vyas He has tried to reproduce the atmosphere of the heroic past, he has taken his characters from the heroic legend and attempted to make them act according to heroic standards But his heroes are animated with the ideas and sentiments of his own age and these do not at all harmonize with deeds of blood they perform Ibid—p 89 90

वस्तु होती है और रामायण महाभारत दोनो ही मे हम यह बात पाते हैं। अलङ्कृत महाकाव्यो की तरह उनमे घटना को छोडकर वस्तु व्यापार वर्णन को ही प्रधानता नहीं दी गई है। उनके कलेवर की वृद्धि का कारण तो वे अवान्तर कथाये हैं जो इन ग्रन्थो को इतिहास की श्रेणी मे प्रतिष्ठित करती हैं। महाभारत की अनेक अवान्तर कथाये तो 'महाकाव्य के भीतर महाकाव्य' कही जाती हैं। साथ ही इन दोनो ग्रन्थो मे, विशेषकर महाभारत मे, प्राचीन ज्ञान भाण्डार, वैदिक और औपनिषदिक उपदेश तथा पाचरात्र भागवत मत को भी सराक्षत और प्रचारित करने का प्रयत्न किया गया है, जो निश्चय ही मूल कवि की देन नही है। दोनो ही महाकाव्यो मे अतिप्राकृत तत्त्व, जैसे देवता, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस आदि के अतिमानवीय कार्यो का वर्णन है और उनके पात्र प्राय असम्भव दीखने वाले अतिप्राकृत कार्य करते हुये दिखलाई पडते हैं।

उद्देश्य—इस प्रकार महाभारत यदि एक ओर महान वीर काव्य है तो दूसरी ओर विशाल भारतीय सस्कृति का कोश या धम ग्रन्थ भी है। ब्राह्मण परम्परा मे विकसित होकर धम ग्रन्थ बन जाने के कारण उसका उद्देश्य धर्मसिद्धि और मोक्ष की प्राप्ति है और इसीलिये ध्वन्यालोककार ने उसमें शान्त रस की ही प्रधानता मानी है[1]। किन्तु यदि उसकी मूलकथा और वीरोपाख्यानो को ही दृष्टि मे रखकर देखा जाय तो महाभारत का उद्देश्य धर्म का रक्षा नही बल्कि इतिहास की गौरवमयी परम्परा की रक्षा करना प्रतीत होता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि महाभारत क आदिरूप 'जय' काव्य का मूल उद्देश्य वीरता प्रदशन द्वारा मनोरजन तथा बाद मे वैशम्पायन ने जिस भारत काव्य या भारती कथा की रचना की उसका उद्देश्य क्षात्रधर्म की प्रतीष्ठा और इतिहास के गोरवमय पृष्ठो का सरक्षण रहा होगा। संहिता रूप म वतमान महाभारत के दो मुख्य उद्देश्य—इतिहास के गोरव की रक्षा आर धर्मसिद्धि—मालूम होते हैं। ये दोनो ही महत् उद्देश्य हैं जिनके कारण महाभारत दो हजार वर्षो से अपनी अखण्ड जीवनी शक्ति का परिचय देता हुआ भारताय जीवन का पथप्रदशक और लोकप्रिय बना हुआ है। विशाल बुद्धि व्यास का इसीलिये वन्दनीय माना जाता है कि उन्होने भारत कथा रूपी तैल से पूर्ण पात्र म ज्ञानमय प्रदाप को जलाया हे। महाभारत की शतसाहस्री सहिता इसीलिये व्यासदेव का ज्ञान प्रदीप है। वह परम ज्ञान का प्रकाश देती है।

रामायण मे महाभारत की अपेक्षा उद्देश्य की स्पष्टता है क्योंकि अधिकतर

१ 'ध्वन्यालोक—चतुर्थोद्योत श्लोक ५—कारिका।

रामायण के बहुत से अश, जिनकी शैली बहुत अधिक परिष्कृत है, बाद जोडे हुए हैं, फिर भी रामायण का वर्तमान रूप ईसवी पूर्व दूसरी शताब्दि के पहले ही निर्मित हो चुका था, अत उस समय तक अलकृत काव्य शैली का प्रारम्भ हो गया होगा। महाभारत की तुलना मे रामायण मे भाषा की एकरूपता और छ दो की निर्दोषता और पूर्णता को देखते हुए यह निस्सकोच कहा जा सकता है कि ईसापूर्व ४०० से २०० के बीच वाल्मीकि रामायण के विकास मे योग देने वालो ने ही अल्कृत महाकाव्य का प्रारभ किया था[2]। वस्तुत महाभारत जैसे विशुद्ध विकसनशील महाकाव्य और अश्वघोष, कालिदास, माघ भारवि आदि के विशुद्ध अलकृत महाकाव्यो के बीच की कडी रामायण है और इसीसे उसे इतिहास और काव्य दोनो कहा गया है। परवता महाकाव्यो के रूप शिल्प सबधी सभी तत्वो का पूर्वाभास रामायण मे मिल जाता है, अलकार प्रियता, रूपकों और उपमाओ की अधिकता, अचेतन वस्तुओ का चेतन वस्तुओ से तुलना की प्रवृत्ति, प्रकृति चित्रण की प्रचुरता, मानवीय रूप चित्रण और वस्तु व्यापार वर्णन की प्रवृत्ति आदि बाते जो परवता महाकाव्यो मे दोष की सीमा तक पहुँच गयी, रामायण मे अपने प्रारम्भिक रूप मे दिखाई पडती हैं। जिस प्रकार रूप शिल्प के क्षेत्र में परवता कवियों ने रामायण का अनुकरण किया उसी तरह विषय वस्तु के क्षेत्र में उ होने महाभारत स अधिकाधिक सामग्री ली कुमारसभव, शिशुपालवध, किराताजुनीय, नेषधचरित, सभी की कथावस्तु महाभारत से अथवा पुराणो से ली गयी है। महाभारत की शैली पुराणो की शैली के बहुत अधिक निकट है, यही कारण है कि परवता सस्कृत काव्यो मे वह शैली नही अपनाई गयी। राजतरगिणी जैसे इतिहास काव्यो और कथासरित्सागर जैसे रोमाचक काव्यो मे महाभारत की शैली अवश्य दृष्टिगोचर होती है पर वे काव्य नहीं माने जाते यद्यपि उन्होने स्वय अपने को महाकाव्य ही कहा है। पालि के महावश दीपवश और प्राकृत अपभ्रश के पउमचरिउ, महापुराण (त्रिसट्ठि महापुरिष गुणालकार) आदि ग्रथो मे महाभारत की शैली अपनाई गयी है

1 Ramavan the Adikavya is the first poem It is a Mahakavya answering in every detail to the description by retoricians The Mahakavyas are modelled upon Ramayan '

History of Classical Sanskrit Literature by Krishnamachariar Madras 1937, p 82

2 A History of Sanskrit Literature, by A B Keith London 1948, p 42 43

रामायण की नहीं और हि दी के अनेक काव्यो पर महाभारत की शैली का प्रभाव पडा है जिसके सनध मे बाद म विचार किया जायगा।

सस्कृत के महाकाव्य

अल्कृत महाकाव्यो की विशेषतायें—सस्कृत मे महाभारत और रामायण तो विकसनशील महाकाव्य हैं ओर शेप अल्कृत। अलकृत शब्द का प्रयोग यहाँ कलात्मक के अर्थ मे किया गया है जो अगरेजी के एपिक आफ आर्ट' का अनुवाद है पर कलात्मक शब्द यहाँ उपयुक्त नहीं है क्योकि कलात्मकता से अलकृति अधिक परपरा सिद्ध शब्द है। सस्कृत साहित्य पर विचार करने वाले पाश्चात्य विद्वानो ने महाभारत ओर रामायण को 'एपिक' कहा है और बाद के महाकाव्यो को दरबारी महाकाव्य (कोर्ट एपिक) या अलकृत महाकाव्य (आरनेट एपिक) कहा है। डा० एम० एन० दासगुप्त ने अपने सस्कृत साहित्य के इतिहास (खण्ड १) की भूमिका (पृष्ठ १४–१५) मे पाश्चात्यों के इस मन का खण्डन किया है कि काव्य शैली का अर्थ अलकृत शैली हाता है। उनका कहना है कि विण्टरनित्स का यह मत कि सस्कृन के 'काव्य' का अर्थ प्रयत्नसाध्य, चमत्कार प्रधान और अलकारो से बोझिल काव्य है, परवता ह्रासो मुख सामतयुगीन कवियो के काव्यो के लिए ही सही है, पूर्ववता कवियो—अश्वघोष और कालिदास—के काव्यो पर उसे लागू नहीं किया जा सकता, अत सस्कृत के समूचे काव्य साहित्य को अलकृत काव्य कह देना उचित नही है। डा० दासगुप्त के कथन का मन्तव्य यह है कि सस्कृत का काव्य साहित्य प्रारम्भ से ही आडम्बरपूण और रूप शिल्प प्रधान नही था, उसके प्रारम्भिक महाकाव्य रसात्मक हैं। किन्तु जिन्होने काव्य साहित्य को अलकृत साहित्य कहा है व भी इस बात को मानते हैं। अल्कृत (आर्नेट) शब्द से उनका तात्पर्य अगरेजी के 'एपिक आफ आट' या आटिफिशल से है जिसका अनुवाद कुछ लाग कलात्मक या अनुकृत महाकाव्य करते हे। मैकडानल ने महाभारत को लाक महाकाव्य (पापुलर एपिक) और रामायण को प्रथम अनुकृत महाकाव्य (आर्टिफिशल एपिक) माना है और ५ वीं से १२वी शताब्दी तक के महाकाव्यो को वास्तविक रूप म अनुकृत अथवा शाब्दिक अथ मे अलकृत महाकाव्य कहा है[1]। किन्तु

1— As the popular epic poetry of Mahabharat was the chief source of the puranas, so the Ramayan the earliest artificial epic was succeeded though after a long interval of

अनेक अन्य विद्वान रामायण को भी विकसनशील या लोक महाकाव्य मानते है, पर साथ ही यह भी स्वीकार करते हे कि वह अपेक्षाकृत एक हाथ की रचना अधिक है और उसमे काव्यशैली के सभी गुण प्रारम्भिक रूप मे विद्यमान हैं। अत रामायण विकसनशील और अलकृत महाकाव्यो के बीच की कडी है। जहाँ तक अनुकृति का प्रश्न है, सस्कृत, प्राकृत और अपभ्रश के महाकाव्यों को महाभारत और रामायण दोनो ने प्रभावित किया है, कुछ ने महाभारत की शैली का अनुकरण किया है और अधिकाश मे रामायण की शैली को अपना लिया गया है। अत महाभारत रामायण के बाद के लोकिक सस्कृत के महाकाव्यो को अनुकृत महाकाव्य भी कहा जा सकता है।

विकसनशील और अलकृत (अनुकृत) महाकाव्यो का अन्तर दूसरे अध्याय मे स्पष्ट कर दिया गया है। उसके अनुसार रामायण के बाद के सस्कृत महाकाव्य अलकृत महाकाव्य हैं, क्योकि —

१—वे सभी वीर युग के बाद सामत युग मे निर्मित हुए हैं।

२—वे शिष्ट समाज के बीच, दरबारी वातावरण मे या धार्मिक सम्प्रदायो मे लिखे और प्रचारित किये जाते रहे। मौखिक रूप मे उनका विकास नहीं हुआ।

३—उनके रचयिता विशिष्ट कवि थे। ये लोक महाकाव्यो की तरह सामान्य जनता के बीच या चारण भाटो की वश परम्परा मे विकसित नहीं हुए न उनके कर्ता होमर, व्यास, वाल्मीकि आदि की तरह निजन्धरी या पौराणिक व्यक्तित्व वाले कवि थे।

४—उनमे विकसनशील महाकाव्यो जैसी सादगी और सहज अलकरण प्रवृत्ति नहीं है। इसके विपीत उनमे कवि का यत्न साध्य कौशल और आयास सिद्ध अलकरण प्रदर्शन दिखाइ पडता है।

५—उनमे घटनाओं और अवान्तर कथाओं से कथा विस्तार नही किया गया है। इसके विपरीत उनमे कथानक बहुत लम्बा नही है और उसमे अन्विति और विकासक्रम भी दिखाई पडता है। इस प्रवृत्ति का सयत रूप तो विकासो मुख सामत युग के महाकाव्यो मे दिखाई पडता है जिनमे कथा वस्तु और रूप शिल्प तथा वस्तु व्यापार का वर्णन सतुलित रूप मे नियोजित है, पर परवर्ती ह्रासो मुख सामत युग के महाकाव्यो मे यह सतुलन बिगड गया, कथावस्तु बहुत क्षीण हो

time, by a number of kavyas ranging from the fifth to the twelvth century" A History of Sanskrit Literature

A A Macdonell—London, 1913, P 326

गयी तथा रूप शिल्प और वस्तु व्यापार का रूढ वर्णन ही प्रधान हो गया।

६—उनमें कवियो के पुस्तकीय ज्ञान ओर पाण्डित्य की झलक मिलती है। प्रारम्भिक अलकृत महाकाव्यो मे सहज काव्य प्रतिभा और शास्त्र ज्ञान का संतुलन उचित मात्रा मे है पर परवर्ती महाका यो मे कवियो के काव्याभ्यास की परिपाटी के फलस्वरूप वाग्वैदग्ध्य ओर पाण्डित्य प्रदर्शन ही प्रधान वस्तु हो गये हैं। वे जन साधारण के लिए बोधगम्य नहीं है। वे हृदय की अपक्षा बुद्धि की उपज हैं और उसी को अधिक तुष्ट भी करते हैं[1]।

७—उनके चरित्रों मे वीरता का वह रूप नहीं दिखाइ पडता जो विकसन शील महाकाव्यो के चरित्रो मे होता है। वेयक्तिक वीरता ओर शारारिक शक्ति की जगह उनके पात्रो मे मानसिक या बोद्धिक शक्ति, सैन्यबल पर आधारित वीरता, सामाजिक हित और राष्ट्र गोरव, धामिक प्रवृत्ति और प्रेम भावना आदि विकसित मानवीय गुणो का दर्शन होता है। किन्तु अलकृत महाकाव्या म सबसे अधिक प्रेम के विविध रूपो का चित्रण हुआ है आर शारीरिक सान्दर्य के चित्रण की ओर भी उनकी प्रवृत्ति बहुत अधिक दिखाइ पडती है।

८—सभी अलकृत महाकाव्यो मे कोई न कोइ उद्देश्य—चाहे वह महत् हो या लघु, प्रत्यक्ष हो या अप्रत्यक्ष कवियो द्वारा प्रयत्नपूर्वक नियोजित हुआ है। धार्मिक उपदेश, उच्च आदशो की प्रतिष्ठा, राष्ट्र गोरव की अभिव्यक्ति, राजा या आश्रयदाता को प्रसन्न करके धन यश की प्राप्ति अथवा सहृदय वग का मनो रजन करना, इस प्रकार क एक या एकाधिक उद्देश्यों को ध्यान मे रखकर इन महाकाव्यों की रचना हुई है।

अलकृत महाकाव्यो के रूप प्रकार—पिछले अध्याय म महाकाव्य के विविध रूपों के सबध मे विचार किया जा चुका है। उसके अनुसार सस्कृत म चार प्रकार के अलकृत महाकाव्य पाये जाते हैं। वे ये हैं—

१—शास्त्रीय महाकाव्य।

२—पौराणिक शैली के महाकाव्य।

1—'While in the old epic poetry form is subordinated to matter it is of primary importance in the kavyas, the matter becoming more and more merely a means for the display of tricks of style The later the author of a kavya the more he seeks to win admiration of his audience by the cleverness of his conceits and the ingenuity of his diction, appealing always to the head rather than the heart' Ibid—P 325

३—ऐतिहासिक शैली के महाकाव्य ।

४—रोमाचक या कथात्मक महाकाव्य ।

सस्कृत मे अधिकतर शास्त्रीय शैली के महाकाव्य ही लिखे गये हैं पर कुछ ऐसे महाकाव्य भी हैं जिनमे एकाधिक शैलियो का मिश्रण दिखाई पडता है जैसे किसी मे शास्त्रीय और पौराणिक शैली का मिश्रण है तो किसी मे शास्त्रीय और ऐतिहासिक शैली का या शास्त्रीय और रोमाचक शैली का। कोई ऐतिहासिक और रोमाचक दोनों शैलियों का उदाहरण है तो कोई पौराणिक और रोमाचक शैली का मिश्र रूप। सस्कृत के आलकारिको ने इस तरह का कोइ शैली विभाजन नहीं किया है और प्रबन्ध सम्बन्धी रूढियो के स्थूल लक्षणो के आधार पर ही महाकाव्य की परिभाषा बना दी है। पिछले अध्याय मे महाकाव्य की जो परिभाषा दी गयी है उसके अनुसार सस्कृत के बहुत से काव्य जो महाकाव्य रूप मे माने जाते रहे हे, वस्तुत महाकाव्य पद के अधिकारी नही हैं। फिर भी उन्हे यहाँ रूप प्रकार के विभाजन के अन्तर्गत लिया जा रहा है क्योकि उनसे महाकाव्य के रूप शिल्प के विकास के अध्ययन मे सहायता मिलती है।

शास्त्रीय महाकाव्य—काव्य का प्रारम्भ तो भारत मे वैदिक काल से ही हो गया था पर उसका स्वतन्त्र रूप वाल्मीकि के काव्य रामायण—मे ही दिखाइ पडता है। महाभारत यद्यपि इतिहास, पचम वेद और पुराण के रूप मे माना जाता रहा है पर आधुनिक विद्वान उसे भी महाकाव्य मानते हें। इस तरह भारत मे काव्यशैली का नैरन्तर्य यद्यपि वैदिक काल से आज तक दिखाई पडता है परन्तु लौकिक काव्य या अलकृत काव्य का स्वतन्त्र रूप वीरयुग के बाद सामत युग के प्रारम्भिक काल से मानना चाहिये। सन् इसवी के प्रारम्भ तक लौकिक सस्कृत की काव्य शैली परिष्कृत हो चुकी थी, उसका स्वरूप निश्चित हो चुका था और उसके लक्षण ओर आदर्श भी सर्वमान्य हो चुके थे। भरतमुनि का नाट्यशास्त्र, भास के नाटक ओर अश्वघाष के महाकाव्य इसके प्रमाण हैं। महाकाव्या की रचना मुख्यतया रामायण की शैली से प्रभावित होकर होती थी, अत कुछ शताब्दियों मे महाकाव्य के रूप शिल्प की एक ही पद्धति बार बार प्रयुक्त होने से रूढ होती गयी[1]। पाँचवी शताब्दी मे

१—'सन् ईस्वी के आरम्भ के समय निश्चित रूप से सस्कृत की काव्य शैली निखर चुकी थी, काव्य सबधी रूढ़ियाँ बन चुकी थी और कथानक में भी मोहन गुण और मादक प्रवृत्ति ले आने वाले काव्यगत अभिप्राय प्रतिष्ठित हो चुके थे।' सस्कृत के महाकाव्यो की परम्परा—आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, आलोचना, जुलाई १९५२, पृ० ९।

भामह तथा छठी शताब्दी मे दण्डी ने महाकाव्य के जो लक्षण दिये हैं उनसे उप-युक्त कथन की पुष्टि होती है। बाद मे आलकारिक आचार्यो ने महाकाव्य का रूप शिल्प सबधी नियमो के बन्धन म इस तरह जकड दिया कि स्वच्छन्द पद्धति से महा काव्य रचना का कार्य ब द सा हो गया। इस प्रकार के काव्य शास्त्र के नियमो की कसौटी पर जो महाकाव्य खरे उतरते हे, उन्हे शास्त्रीय महाकाव्य (क्लैसिकल एपिक) कहा जाता है। शास्त्रीय महाकाव्यो को तीन कोटियो म विभाजित किया जा सकता है —

१—रससिद्ध या रीतिमुक्त,

२—रूढिबद्ध या रीतिबद्ध,

३—शास्त्र काव्य या यमक काव्य

रससिद्ध शास्त्रीय महाकाव्य—पहले प्रकार के (रससिद्ध) महाकाव्य अश्वघोष और कालिदास के हैं। इन महाकाव्यो की रचना आलंकारिक आचार्यों के काव्यशास्त्रो की रचना के पूर्व ही हो चुकी थी। यद्यपि इनकी रचना रामायण की शैली म हुई थी पर किसी आचार्य के अलकार शास्त्र का अध्ययन करके काव्य सम्बन्धी सभी रूढिया और महाकाव्य के नियमो की खानापूरी इनम नहीं की गयी है। इनमे कवियो की सहज प्रतिभा और काव्य शक्ति का पूर्ण प्रस्फुटन हुआ है। पाण्डित्य और ज्ञान उनम ऊपर उतराता नहीं है बल्कि काव्य म घुल मिल कर एक हो गया है। इस तरह भामह की काव्य सम्बन्धी वह परिभाषा उन पर पूर्ण रूप से लागू होती है जिसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है। उनमे सादगी और ताजगी, कथा प्रवाह, जीवन के विविध अनुभवो की अभिव्यक्ति, मँजी हुई और प्रवाहमयी भाषा, महत्तर उद्देश्य, महान चरित्रों की अवतारणा, आदि बाते जो महाकाव्य को दीर्घजीवी और प्राणवान बनाने वाली होती हैं, समुचित रूप म पाई जाती हे।

अश्वघोष यद्यपि बौद्ध भिक्खु और महान् पण्डित थे पर उनके महाकाव्यो-बुद्धचरित और सौन्दरनन्द—में उनका कविरूप ही प्रधान है, यद्यपि सौन्दरनन्द मे उनका धर्म प्रचारक और दार्शनिक पक्ष अधिक प्रबल हो उठा है। उनकी शैली कालिदास जैसी परिष्कृत और परिस्फुट नही है किन्तु उसम नैसर्गिक ऊर्जस्विता और सौन्दर्य विद्यमान हैं। उनके वर्णन भी प्रसगोचित, स्वाभाविक और सतुलित हैं, परवर्ती महाकाव्यो की तरह अप्रासगिक, कृत्रिम और असतुलित नहीं। उनमे अलकृति भी है पर रामायण जैसी, परवर्ती महाकाव्यों जैसी नही। अश्वघोष का उद्देश्य महाकाव्य के माध्यम से जीवन के मोहक और अनुरजक पक्षों का वर्णन करके उनकी अस्थिरता और क्षणिकता दिखाते हुए उनसे मुक्त

होने का सदेश देना है। इस तरह उनके महाका य शान्तरस प्रधान हैं यद्यपि शृगार और मारविजय के प्रसग म वीर रस की व्यजना भी उ होने की है। फिर भी प्रधानतया उनकी दृष्टि वैराग्य परक है जिसके कारण वे जीवन के सु दर और आकर्षक पक्षो को समुचित महत्व नही दे सके हे। इसके विपरीत कालिदास ने जीवन के दोनों पक्षो–राग और विराग, भोग ओर त्याग–का सतु लित चित्र खींचा है। वस्तुत कालिदास समन्वय ओर सतुलन के कवि हे। उनका विचारक और दार्शनिक पक्ष जितना प्रबल है उससे कम प्रबल उनका सौन्दर्य प्रेमी और कलाकार रूप नही है, पर उन दोनो रूपों का परस्पर ऐसा रासाय निक सम्मिश्रग हुआ है कि कालिदास का व्यक्तित्व समूचे भारतीय साहित्य मे बिलकुल अलग दिखाई पडता है। उन्होने भाग और त्याग, आकर्षण ओर विकर्षण, शरीर और आत्मा का सहज समन्वय तो किया ही है, रूप शिल्प मे भो सादगी ओर अलकृति, सहजता और गभीरता, लघुता ओर विराटता, माधुर्य और ज्ञान गरिमा, सहज काव्य-प्रतिभा और पाण्डित्य या विदग्धता का आश्चर्यजनक समन्वय किया है। उनके महाकाव्यो म जीवन के विविध स्वरूपा का सहज उद्घाटन हुआ है, अत महाभारत रामायण की तरह तो नही, फिर भी समग्र जीवन का युग सापेक्ष्य चित्रण उनमे सस्कृत के अ य अलकृत कवियो से बहुत अधिक हुआ है। इतना होते हुए भी उनके महा काव्यो म अन्विति है, घटना प्रवाह है, अवान्तर कथाओं की कमी है और नाटकीय विकास क्रम है। रघुवश मे यह बात विशेष रूप से दिखाई पडती है। इतने बडे काल का फलक लेकर उस पर उन्होंने दिलीप से लेकर अग्निवर्ण तक के जीवन की प्रमुख घटनाओ के जो चित्र खीचे हे, वे नाटक के दृश्यों के समान एक के बाद एक, उद्घाटित होते चलते हैं, पाठक का मन उनमे दृश्य काव्य का आनन्द लेने लगता है। वस्तुव्यापारों के अप्रासगिक या असतुलित वर्णन के लिए रघुवश मे बिलकुल अवकाश नही था, पर कथा के मार्मिक स्थलो को पहचान कर उनका रसमय और रागात्मक वर्णन करने का अवसर कालिदास ने कही नही छोडा है। अपने दोनों महाकाव्यो मे कालिदास ने जिन महान आदशा की स्थापना की है, जिन महान युग व्यापी कथानकों को लिया है, जिन विराट चरित्रो की अवतारणा की है और जिस गरिमामयी उदात्त शैली की उद्भावना की है, वह संस्कृत साहित्य मे ही नहीं, विश्व साहित्य मे अद्वितीय है। ऐसी प्रतिभा के कवि किसी अकुश या परिपाटी मे बँध कर चलने वाले नहीं होते। महाकाव्य की जो रूढ़ियाँ आलकारिकों द्वारा निर्दिष्ट की गयी हैं वे बहुत पहले से प्रचलित रही होगी पर कालिदास ने उनसे स्वतत्र

होकर अपना पथ बनाया है। यहाँ तक कि रघुवश म उन्हाने पूरे रघुवश क इतिहास ही काव्य का विषय बना दिया है जिससे बाध्य हाकर विश्वनाथ कविराज को यह नियम बनाना पडा कि महाकाव्य के नायक एक वश के अनेक राजा भी हो सकते हैं। आरम्भिक आशीवचन, नमस्क्रिया और वस्तु निर्देश सबधी रूढि का पालन भी उन्होने कुमारसभव मे नही किया है।

इस प्रकार अश्वघोष और कालिदास के महाकाव्य रससिद्ध या रीतिमुक्त शास्त्रीय महाकाव्य हैं। सभव है, उनकी रचना के समय तक रीति ग्रथो की रचना न हुई हो, पर इतना निश्चित है कि उस समय तक महाकाव्य सबधी रूढियाँ निश्चित हो चुकी थी। इन दोनो महाकवियो ने रूढिया का पालन करने के लिए महाकाव्य नहीं लिखा बल्कि महाकाव्य लिख कर महाकाव्य सम्बन्धी नई रूढियो की नीव भी डाली। उनका ध्यान विषयवस्तु के प्रतिपादन और काव्य सौ दर्य के निदर्शन की ओर था, रीति निवाह की ओर नहीं। अत वे रीति मुक्त महाकवि हैं। इस परपरा का निर्वाह सातवीं शताब्दी के कवि कुमारदास के महाकाव्य 'जानकीहरण' और नवी शताब्दी के गोड कवि अभिन द के महाकाव्य रामचरित' मे भी हुआ है। यद्यपि ये कवि ह्रासोन्मुख सामत युग मे हुए पर अपनी स्वतत्र वृत्ति के कारण उन्होंने भारवि का आदर्श न अपना कर वाल्मीकि और कालिदास का पथ अपनाया। इनमे कुमारदास के 'जानकीहरण' पर कालिदास का इतना प्रभाव है कि जनश्रुति उन्ह कालिदास का मित्र बताती है। यह महाकाव्य सौकुमार्य, नैसर्गिकता और सरसता से परिपूण है। अभिन द के रामचरित पर वाल्मीकि की रामायण का प्रभाव स्पष्ट है।

रीतिबद्ध महाकाव्य—जैसा पहले कहा जा चुका है, छठी शताब्दी के बाद ह्रासो मुख सामत युग की प्रवृत्तियो ने साहित्य को बेतरह प्रभावित किया। उसी समय दण्डी ने अलकार ग्रथ 'काव्यादर्श' और कथा ग्रथ दशकुमारचरित की रचना की और बाणभट्ट ने कादम्बरी और हर्षचरित लिख कर साहित्य को अलकृति की चरम सीमा पर पहुँचा दिया। छठी शताब्दी से दसवीं शताब्दी तक यह प्रवृत्ति उत्तरोत्तर बढती गयी और उसका चरमोत्कर्ष श्रीहर्ष (१२ वी शती) के नैषधचरित मे दिखाई पडा। महाकाव्य के क्षेत्र म रीतिबद्धता का प्रथम उदाहरण भारवि का महाकाव्य किरातार्जुनीय है जो छठी शताब्दी का बताया जाता है। रीतिबद्धता की यह प्रवृत्ति दरबारों के वातावरण और सामती युग की देन थी। यह इसी से स्पष्ट है कि सातवीं शताब्दी मे कान्य कुब्ज के दरबारी कवि वाक्पतिराज के प्राकृत महाकाव्य 'गउडवहो' मे भी

अचानक उन्हें कथा की बात याद आती है तो कथा फिर लगडाती हुई आगे बढती है। शिशुपाल वध मे तो तीसरे सर्ग से लेकर तेरहवे सर्ग तक श्रीकृष्ण के अतुल वैभव, वन विहार, जलक्रीडा, मधुपान, प्रकृति की छटा आदि का विस्तृत वर्णन किया गया है ओर चौदहवे सर्ग मे भी कवि क्षीण कथा के सूत्र को फिर पकडता है। जिस प्रकार शास्त्रीय सगीत म शब्द या अथ महत्वहीन हो गया और स्वर के आलाप का चमत्कार ही मुख्य हो गया उसी तरह रीतिबद्ध शास्त्रीय महाकाव्यो मे उत्तरोत्तर कथानक गाण ओर वस्तु व्यापार वर्णन और अलंकृत प्रकृति चित्रण ही प्रधान होता गया। भारवि ओर माघ तक तो अर्थ गौरव का भी महत्व था यद्यपि उनमे अर्थ नारिकेल की गरी के समान श्लेष, यमक और चित्र काव्य आदि के दूरूह आवरण के भीतर छिपा है, परन्तु परवर्ती कवियों मे श्रीहर्ष को छाड कर अन्य किसी म न तो कथा प्रवाह है, न अर्थ गाम्भीर्य और न पाण्डित्य प्रदर्शन। उनम रस अलकारा, वर्णना ओर चमत्कार की प्रचुरता है। इस तरह किरातार्जुनीय, शिशुपाल वध ओर नेषध चरित कालिदासोत्तर महाकाव्यो की वृहत्रयी हैं। इन महाकाव्या में व्याकरण, राजनीति, कामशास्त्र, दर्शन, योगक्रिया आदि शास्त्रो का पाण्डित्य भी प्रदर्शित किया गया है, जो उस युग की प्रवृत्ति का द्योतक है। बाद के महाकाव्यों मे रत्नाकर का हरविजय पचास सर्गों का सबसे विशाल ग्रथ है पर उसम तीन चौथाई सर्गो मे नगर, ऋतु, शिव ताण्डव, पर्वत, कुसुमावचय, जलक्रीडा, सध्या, चन्द्रोदय, उषा, समुद्रोल्लास, प्रसाधन, विरहदशा, पानगोष्ठी, संभोग, चण्डी स्तोत्र, सैन्य प्रस्थान, चित्र युद्ध, दूत सवाद और अन्य अनावश्यक वर्णनों की अधिकता है। शिव स्वामी (नवी शती) के कप्फिणाभ्युदय और मखक (१२वीं शती) के श्रीकण्ठचरित मे भी इसी प्रकार के रीतिबद्ध ओर गतानुगतिक वर्णनों से महाकाव्य का ढाँचा खडा किया गया है। इस प्रकार संस्कृत महाकाव्य कालिदास के बाद ह्रासोन्मुख होकर रूढिपालन ओर चमत्कार प्रदर्शन का प्रयत्न मात्र रह गया[1]। अत ऐसे काव्यों को सच्चे अथ मे महाकाव्य नही माना जा सकता।

शास्त्र काव्य और बहु अर्थक महाकाव्य—अलकृत शैली द्वारा पाण्डित्य प्रदर्शन करने की प्रवृत्ति का दूसरा रूप शास्त्र काव्यो और बहु अर्थक काव्यों में मिलता है। छठी शताब्दी मे भट्टि नामक वैयाकरण कवि ने रावण वध या भट्टि काव्य की रचना की जिसमे राम कथा के वर्णन के साथ साथ व्याकरण

१—वही पृष्ठ १७५।

और अलकार के प्रयोग भी बताये गये है। यह काव्य इतना लोकप्रिय हुआ कि जावा और बाली तक मे इसका प्रचार हुआ और इसकी दर्जनों टीकाये लिखी गयी। वस्तुत यह काव्य के साथ व्याकरण शास्त्र का भी ग्रथ है इसी से इसे शास्त्र काव्य भी कहा जाता है। इस शैली के अनुकरण पर अनेक परवर्ती कवियों ने काव्य लिखे जिनमे १२वी शती मे हेमचन्द्र का कुमारपाल चरित या द्वाश्रय काव्य बहुत प्रसिद्ध है। उसमे हेमचन्द्र ने चालुक्य वश और कुमार पाल के जीवन वृत्त का २८ सर्गो मे वर्णन किया है जिनमे २० सर्ग सस्कृत मे और शेष ८ सर्ग प्राकृत भाषा मे लिखे गये है। इसमे भी भट्टि काव्य की तरह सस्कृत व्याकरण का प्रयोग तो बताया ही गया है, प्राकृत और अपभ्रश का व्याकरण भी लिखा गया है। भौमक या भूम के 'रावणाजुनीयम्' और दिवाकर के 'लक्षणादर्श' मे तो पाणिनि के सपूण अष्टाध्यायी का उदाहरण उपस्थित कर दिया गया है। भट्टि को छोड कर इस शैली के अन्य महा काव्यों मे काव्य गुण नहीं के बराबर है। अलकृत शैली का एक रूप शास्त्र-काव्यो के अतिरिक्त बहु अर्थक काव्या मे भी दिखाई पडता है जिनमे एक ही महाकाव्य म दो या दो से अधिक कथानकों को विविध अलकारों के सहारे ऐसा पिरोया गया है जिससे पाठक चमत्कृत हो उठे। वस्तुत चमत्कार उत्पन्न करना और पाण्डित्य प्रदर्शन करना ही उनका लक्ष्य है। दोहरे अर्थ वाले महा काव्यो मे धनजय का 'द्विसधान, सध्याकरनन्दी का 'रामचरित' विद्यामाधव का 'पार्वती रुक्मिणीय' हरिदत्त सूरि का' 'राघव नैषधीय' कविराज सूरि का 'राघव पाण्डवीय' प्रमुख हैं और तीन अर्थ वाले महाकाव्यों मे चूडामणि दीक्षित कृत 'राघव यादवपाण्डवीय और चिदम्बर सुमति का 'राघवपाण्डव यादवीय' हैं। इन सभी काव्यो मे वास्तविक महाकाव्य के लक्षण तो नहीं ही हैं, सच्चे काव्य के गुणो का भी अभाव है। वस्तुत वे ह्रासोन्मुख सामत युग के कला विलास और पाण्डित्य प्रदशन की ह्रासोन्मुखी प्रवृत्तियां के उदाहरण मात्र हैं। बहु अर्थक काव्य शैली का सबसे विकट रूप कुछ जैन काव्यो, जैसे मेघविजयगणि के सप्तसधान महाकाव्य और सोमप्रभाचार्य के शतार्थकाव्य, मे दिखाइ पडता है। पहले मे प्रत्येक श्लोक के सात अथ और दूसरे म सौ अर्थ निकलते हैं।

पौराणिक शैली के महाकाव्य—पहले दूसरे अध्याय मे बताया जा चुका है कि महाकाव्य और पुराण का उद्भव और विकास समानान्तर रूप से हुआ और प्रारभ मे दोनो का रूप एक में मिला हुआ था, महाभारत इसका उदाहरण है जो महाकाव्य और इतिहास पुराण दोनो ही है। वस्तुत महाकाव्य पुराणों के ही परिष्कृत, अलकृत और अन्वितियुक्त कलात्मक रूप हैं। अधिकाश परवर्ती

महाकाव्यों की कथावस्तु महाभारत रामायण और पुराणो से ही ली गयी है और आलकारिको ने भी महाकाव्य के कथानक का इतिहास पुराण और कथा से उद्भूत होना आवश्यक माना है। पुराणों मे भी कुछ ऐसे हैं जिनमे काव्यात्मकता पर्याप्त मात्रा मे वर्तमान है। श्रीमदभागवत ऐसा ही पुराण है। विन्टरनित्स का कहना है कि भाषा, शैली, छ द और कथा की अन्विति, सभी दृष्टियो से भागवत एक महत्वपूर्ण साहित्यिक रचना है[१]। इस पुराण ने रामायण-महाभारत की भाँति लोकप्रियता प्राप्त की है और परवर्ती भारतीय जीवन तथा साहि य को दूर तक प्रभावित किया है। इस तरह महाभारत और भागवत पुराण की शैली से प्रभावित होकर पौराणिक आख्यानो को जिन महाकाव्यो मे अपनाया गया है वे पौराणिक शैली के महाकाव्य हैं। जैनों ने महाभारत और हिन्दू पुराणो के अनुकरण मे अपने अलग पुराण बनाये और इन जैन पुराणो से प्रभावित होकर जैन कवियो ने पौराणिक महाकाव्यो की रचना की। पुराणो की शैली से तात्पर्य यह है कि उसम पौराणिक धार्मिक आख्यान होते हैं, कथानक मे अन्विति कम होती है, अवान्तर कथाओं और घटना वैविध्य की अधिकता होती है, अलौकिक और अप्राकृत तत्वों का अधिक उपयोग हुआ रहता है, कथा के भीतर कथा कहने और सवाद रूप मे कथा को उपस्थित करने की प्रवृत्ति होती है, साथ ही उपदेश देना या किसी मत विशेष का प्रचार करना उसका उद्देश्य होना है। सर्ग, प्रतिसर्ग, वश, मन्वन्तर और वशानुचरित, पुराणों के पाच विषय होते हैं। पौराणक शैली के महाकाव्यों मे भी इनमे से एकाधिक विषय अपनाये जाते हैं। पुराणो की तरह उनमे भी कथा कहना लक्ष्य हाता है अत उनकी शैलो मे सादगी, कभी कभी अनगढपन, अतिशयोक्ति और काव्यात्मक वर्णनों की अपेक्षा कृत कमी रहती है। निष्कर्ष यह कि पौराणिक शैली क महाकाव्य शास्त्रोय महाकाव्य और पुराणो के बीच की वस्तु हैं, उनमे दोनो के ही तत्व वतमान होते हैं।

इस शैली के महाकाव्य सस्कृत मे अधिक नही हैं, पर उनका अभाव भी नहीं है। १०वीं शताब्दी के बाद जब शास्त्रीय महाकाव्य का ह्रास होने लगा

१— 'Moreover it is the one purana which, more than any of others bears the stamp of a unified composition and deserves to be appreciated as a literary production on account of its language style and metre "

A History Of Indian Literature—Vol 1 by Winternitz, Calcutta, p, 556

तो शास्त्रीय शैली के अतिरिक्त पौराणिक, ऐतिहासिक और रोमाचक शैली वे महाकाव्य भी लिखे जाने लगे। ह्रासोन्मुख सामत युग तक आते आते सस्कृत केवल शिष्ट समाज की भाषा रह गयी थी, विद्वान लोग ही उसके काव्यो क आनन्द ले सकते थे। उस समय का समाज भी पौराणिक धर्मावलम्बी औ स्मृतियो धर्मशास्त्रो के नियमो से पूर्ण आबद्ध हो गया था। अत शास्त्रीय महाकाव्यो मे भी कथावस्तु अधिकतर इतिहास पुराण से ही ली गयी औ सामान्य जनता की रुचि से प्रभावित होकर पौराणिक और रोमाचक शैली वे महाकाव्यों की रचना प्रारम्भ हुई। जैनों ने प्राकृत और अपभ्रश भाषा मे जै पुराणो और पौराणिक चरित काव्यो की रचना भी इसी युग म प्रारम्भ की थी उनका प्रभाव भी सस्कृत के महाकाव्यो पर पडा। इस तरह सस्कृत मे पौराणिक निजन्धरी और लोकाश्रित कथाओ के पात्रो और घटनाओ को आधार बनाक महाकाव्य लिखे जाने लगे। ब्राह्मण धर्मावलम्बी कवियो ने हिन्दू पुराणों के आधा पर और जैन कवियो ने जैन पुराणो का आश्रय लेकर ऐसे महाकाव्यों की रचन की। पौराणिक, निजन्धरी और समसामयिक, तीनो प्रकार के नायको के जीवनवृत का अवलम्बन करके चरित काव्यो की रचना होने लगी। ये चरित काव्य पौराणिक, कथात्मक और ऐतिहासिक तीनो शैलियो मे लिखे गये है। पौराणिक चरितकाव्यो और महाकाव्यो के सम्बन्ध म विचार करने के पूर्व इतना कह देना आवश्यक है कि १०वी शताब्दी के आसपास महाकाव्य के शास्त्रीय नियम की अवहेलना की जाने लगी और महाभारत रामायण के बाद पुराण औ महाकाव्य की जो भिन्न शैलियाँ हो गयी थीं, इस युग मे दोनो फिर एक मे मिलने लगीं। चरित काव्य, पुराण, कथा आख्यायिका और शास्त्रीय महाकाव्यों क शैलियो के मिश्रण की प्रवृत्ति की देन है। जैनों द्वारा लिखे गये कुछ महाकाव्य एक साथ ही पौराणिक, कथात्मक और शास्त्रीय तीनो शैलियो क हैं, कुछ मे पौराणिक और शास्त्रीय शैलियों का मिश्रण हुआ और कुछ म शास्त्रीय और कथात्मक शैलियो का।

सस्कृत मे पौराणिक शैली के महाकाव्य १० वी शताब्दी के बाद विशे रूप मे मिलने लगते हैं। इसके पूर्व आठवी शताब्दी मे जिनसेन आदिपुराण और गुणभद्र ने उत्तरपुराण की रचना की थी और जटासिंह नन्दि ने 'वराग चरित' मे ३१ सर्गो म वराग की जैन पौराणिक कथा लिखी थी। ११वीं शताब्दी मे काश्मीर के अपर व्यास क्षेमेन्द्र ने रामायणमजरी, भारतमजरी और दशावतार चरित की रचना की। इन तीनो ग्रथो मे कवि ने सरल और अनलकृत शैली मे रामायण महाभारत और पुराणाश्रित दसअवतारो की कथा कही है। बारहवीं

शताब्दी मे क्षेमे द्र के समान ही बहुत अधिक लिखने वाले जेन आचार्य हेमचद्र ने 'त्रिषष्ठिशलाकापुरुषचरित' नामक विशाल ग्रथ की रचना की। हेमच द्र ने इस ग्रथ को महाकाव्य कहा है पर वस्तुत यह महाभारत के समान सस्कृत मे श्लोकबद्ध जेन पुराण है। उसमे जेना के चोबीस तीथकरों, बारह चक्र वर्तियों, नौ वासुदेवो, नौ बलदेवा और नौ प्रतिवासुदेवो की जीवन गाथा दस पर्वा मे वर्णित है, अतिम पव परिशिष्टपर्वन या स्थविरावला चरितपाराणिक-कथात्मक शैली का एक स्वतत्र महाकाव्य है। इस विशाल ग्रथ म पोराणिक शैली के साथ काव्यात्मकता की भी कमी नही है। स्थान स्थान पर उसम ऋतु वर्णन, प्रेम व्यापार का चित्रण तथा महाकाव्य के लिए मा य अन्य आवश्यक बाते मिलती हैं। उसम उपदेशात्मकता बहुत अधिक है, पर अवातर कथाओ, लोक तत्त्वों और सवाद शैली, नायको के जन्म ज मा तर की गाथा कहने की प्रवृत्ति आदि के कारण यह ग्रथ पौराणिक शैली का महाकाव्य माना जाता है। हरमन जाकोबी का कहना है कि महाभारत रामायण के समान जेन महाकाव्य के रूप मे इसकी रचना की गयी है[1]। बारहवा शताब्दी म ही देव प्रभसूरि ने पौराणिक शैली मे पाण्डवचरित नाम से १८ सगा म महाभारत की कथा लिखी। तेरहवी शताब्दी मे अमरचन्द्र सूरि ने बालभारत और वकट नाथ ने यादवाभ्युदय नामक बृहत् पौराणिक महाकाव्या को रचना की। इसी समय जयद्रथ (रजानक) ने ३२ सर्गों का हरचरित चिन्तामणि नामक पौरा णिक महाकाव्य लिखा जिसमे शिव स सम्बधित विविध पोराणिक कथाओ का बर्णन है। परवता काल मे कृष्णदास कविराज ने भागवत की शैली म गोविन्द लीलामृत और १७वीं शती मे नीलकण्ठ दीक्षित ने स्कन्द पुराण का प्रभाव लेकर शिव लीलार्णव नामक महाकाव्य लिखे। यशोधर की जेन कथा को लेकर भी कई 'यशोधर चरित' लिखे गये। १३वीं शती में अमरच द्र ने पणानन्द, हरिश्च द्र ने धमशर्माभ्युदय अभयदेव सूरि ने जयन्त विजय और वाग्भट्ट ने नेमिनिर्वाण, नामक महाकाव्यो की रचना की। इन तीनों महाकाव्यां म शास्त्रीय, पौराणिक और कथात्मक शैली का सुन्दर सम वय हुआ है।

१—Hemchandra on the other hand writing in San krit in avva style and fluent verses has produced an epic l poem of eat length (some 37, 000 verses) intended as it were for the ain substitude for the great epics of Brahmans

Sthaviravalicharita—Introduction—by Hermann Jacobi Ca utta, 1932 (Second Edition) p 24

ऐतिहासिक शैली के महाकाव्य—इतिहास, ऐतिहासिक महाकाव्य और ऐतिहासिक शैली के महाकाव्य, इन तीनो म अन्तर है। इतिहास तो अलग शास्त्र ही हैं। अरस्तू ने काव्य से उसका अ तर भलीभाँति समझाया है जिसके सम्बन्ध मे पिछले अध्याय मे विचार किया जा चुका है। ऐतिहासिक महाकाव्य वे हैं जिनका कथानक इतिहास से लिया गया है और जिनका घटनाक्रम भी इतिहास सम्मत होता है, पर जिनकी शैली शास्त्रीय महाकाव्य की ही होती है अर्थात् वस्तु व्यापार वर्णन, अलकृत शैली, पात्रो की विविध मनोदशाओ का रागात्मक चित्रण, काव्य रूढियो का निर्वाह आदि बातें उनमे होती हैं। ऐसे महाकाव्य शास्त्रीय महाकाव्य के अतगत ही आते है। पर ऐसे काव्य जिनका लक्ष्य इतिहास क्रम वा चरितनायक के जीवनवृत्त का सीधा वणन कर देना रहता है और साथ ही जिनमे काल्पनिक घटनाओ और पात्रों का मनमाना उपयोग भी किया जाता है, ऐतिहासिक शैली के महाकाव्य कहे जा सकते हैं। पौराणिक शैली की भाँति यह शैली भी काव्य और इतिहास के बीच की है। पुराण और इतिहास मे पहले कोइ अन्तर माना भी नही जाता था, अत पुराणो मे जैसे प्राचीन भारतीय इतिहास अशत सुरक्षित हैं उसी तरह ऐतिहासिक शैली के काव्यों मे भी इतिहास आशिक रूप मे ही प्राप्त होता है। वस्तुत पुनर्जन्म और कर्मफल के विश्वास के कारण वैयक्तिक कृतित्व को इस देश में महत्व नहीं दिया जाता था, इसलिए इतिहास लिखने की प्रवृत्ति यहाँ नही के बराबर थी। शिलालेखो की प्रशस्तियो मे ऐतिहासिक काव्य का पूर्वरूप दिखाई पडता है। सबसे पहला ऐतिहासिक काव्य बुद्धचरित है। समसामयिक राजाओं और व्यक्तियों को लेकर सबसे पहला ग्रन्थ बाण का हर्षचरित है। आठवीं नवी शताब्दी से समसामयिक राजाओं के नाम पर प्रशस्ति काव्य या चरित काव्यों की रचना होने लगी। इस तरह पौराणिक और निजन्धरी व्यक्तियो से चरित काव्यों की रचना शुरू हुई ओर समसामयिक राजाओ के जीवन के अतिशयोक्ति पूर्ण, सभावना पर आधारित, कल्पित कथाओ से युक्त वर्णन मे उनका पर्यवसान हुआ। अत समसामयिक व्यक्तियो के जीवन पर लिखे गये काव्यों मे ऐतिहासिकता बहुत कम है, ऐसे काव्य या तो शास्त्रीय महाकाव्य के रूप मे हैं या रोमाचक कथात्मक महाकाव्य के रूप मे अथवा ऐतिहासिक शैली के महाकाव्य के रूप मे। अतिम प्रकार के काव्यो मे ऐतिहासिक घटना क्रमावलम्बन, वश परम्परा वर्णन और नायक के कार्यो का वर्णन भी छन्दोबद्ध रूप मे यथातथ्य रीति से हुआ है। ऐसे काव्यो मे काव्यात्मकता और कथा प्रवाह कम है और महान उद्देश्य तथा कार्यान्विति की भी कमी है। अत ऐसे काव्य ऐतिहासिक

शैली के महाकाव्य कहे जा सकते हैं। इस शैली के महाकाव्यो की कुछ विशेषताये ये हैं —

१—इन महाकाव्यो की विषय वस्तु तो ऐतिहासिक होती है और उनम काव्यात्मकता भी होती है परन्तु ऐतिहासिक इतिवृत्त के भीतर चुनाव करने का अवसर न होने और साथ ही कवियो की दृष्टि ऐतिहासिक न होने के कारण इन काव्यो म ऐतिहासिक तथ्यों और अतिशयोक्तिपूर्ण तथा काल्पनिक घटनाओं और वश परम्परा का विचित्र मिश्रण दिखाई पडता है। इसी से वे न तो उत्कृष्ट कोटि के काव्य ही बन सके हैं न सच्चे इतिहास ही[1]।

२—जैसा कि बूलर ने विक्रमाकदेव चरित की भूमिका म कहा है, ये काव्य चाहे जितनी कल्पित घटनाओं और अनैतिहासिक बातो से भरे हों पर उनकी मुख्य घटनायें और चरित ऐतिहासिक होते हैं[2]।

३—उनमे घटनाओ की तिथि और उनके बीच के काल की निश्चित सीमा कम बताई गयी है या गलत बताई है।

४—उनमे प्रारम्भ मे निश्चित रूप से नायक के कुल की उत्पत्ति कथा और पूर्वजो की वशावली दी गयी रहती है यद्यपि वे अधिकतर मनगढन्त और किंवदन्ती या पौराणिक ढङ्ग की ही होती हैं।

५—ऐसे सभी महाकाव्यों मे कवियों ने अपने बारे मे तथा अपने पूर्व पुरुषो के बारे मे कुछ न कुछ अवश्य लिखा है। शास्त्रीय महाकाव्यों म यह

1—'But while the geneology beyond one or two generations is oft n amiably invented and exaggerated and glorification takes the place of sober statement of facts the laudatory accounts are generally composed by poets of modest power The result is neither good poetry nor good history"

History of Sanskrit Literature by Dr Das gupta—& Dr De—Calcutta 1947 p 246

2—'The importance of Charitas like Shriharshcharita and Vikramankdevacharita lies chiefly therein that however much a vitiated taste and a false conception of the duties of historiag rapher royal may lead their authors stray the main facts may be a cepted as historical"

Vikramankdevacharitam—Introduction by George Buhlar Bombay 1915 p 3

प्रवृत्ति नही मिलती। किसी किसी मे सामयिक परिस्थितियो और देश दशा का वर्णन भी मिलता है।

६—सबमे नायक के ज म, प्रेम, विवाह, राज्य प्राप्ति, युद्ध, विजय आदि का विस्तार के साथ वर्णन मिलता है।

७—इनमे नायक बहुत अच्छे और प्रतिनायक बहुत बुरे दिखाये गये रहते हैं। प्रशस्तिकाव्य होने के कारण उनकी यह प्रवृत्ति स्वाभाविक ही है। यद्यपि इतिहासकार की दृष्टि से यह अनुचित है। इसस नायकों के चरित्र की वैयक्तिक विशेषतायें प्रकट नही हो सकी हे। उनमे किसी महान आदर्श की स्थापना भी नहीं की गयी है। अत इन महाकाव्यो मे काव्यात्मकता होते हुए भी प्राणवत्ता और दार्घ जीवनी शक्ति नही है।

८—काव्यात्मकता लाने और रोमाचक गुण उत्पन्न करने की दृष्टि से इन काव्यो मे अलौकिक और अप्राकृत शक्तियों के कार्यो का भी वर्णन मिलता है, जो इतिहास की दृष्टि से असभव माना जाता है। ऐतिहासिक काव्यो के कवि सभावना पर अधिक बल देते हैं, इसी से अतिशयोक्तिपूर्ण बातो और कार्यों का वर्णन उनमे अधिक मिलता है। किसी किसी ऐतिहासिक काव्य मे महाकाव्य की कुछ रूढियाँ—जैसे ऋतु वर्णन, जलक्रीडा, वन-विहार, सयोग विप्रलभ शृगार आदि का वर्णन–भी खानापूरी करने के लिए अपनाई गयी हैं।

ऐतिहासिक कहे जाने वाले महाकाव्यों मे प्रथम पद्मगुप्त या परिमल का नवसाहसाक चरित कहा जाता है जा सन् १००५ में लिखा गया था। पर इस ग्रथ मे नायक के नाम के अतिरिक्त ऐतिहासिक तथ्य एक भी नही है और न वह ऐतिहासिक शैली मे ही लिखा गया है। वस्तुत वह विशुद्ध रोमाचक (कथात्मक) महाकाव्य है अत उसके सबध में बाद मे विचार किया जायगा। ऐतिहासिक शैली का महत्वपूर्ण महाकाव्य बिल्हण का विक्रमाकदेव चरित है जो ग्यारहवीं शती के उत्तरार्द्ध मे कवि के आश्रयदाता कल्याण के चालुक्य राजा त्रिभुवनमल्ल (विक्रमादित्य षष्ट) के जीवनवृत्त के सबध मे लिखा गया है। इसमे ऐतिहासिक शैली की उपयुक्त सभी विशेषतायें पाई जाती हैं, साथ ही इसका काव्य पक्ष भी बहुत पुष्ट है। कार्यान्विति, महती घटना और महान चरित्र का अभाव होत हुए भी इस काव्य मे अलकृत काव्य के सभी गुण वर्तमान हैं। परिमार्जित भाषा, अलकृत शैली और काव्य रूढियों के पालन की दृष्टि से यह काव्य भारवि माघ की शास्त्रीय परम्परा म ही माना जायगा, पर इतिवृत्तपरक और प्रशस्तिमूलक होने के कारण उसमे विराटता और प्राणवत्ता का अभाव है। वशावली वर्णन और नायक के अतिशयोक्तिपूण चरित्र

शैली के महाकाव्य कहे जा सकते हैं। इस शैली के महाकाव्यो की कुछ विशेषताये ये हैं —

१—इन महाकाव्यो की विषय वस्तु तो ऐतिहासिक होती है और उनमे काव्यात्मकता भी होती है परन्तु ऐतिहासिक इतिवृत्त के भीतर चुनाव करने का अवसर न होने और साथ ही कवियो की दृष्टि ऐतिहासिक न होने के कारण इन काव्यो म ऐतिहासिक तथ्यों और अतिशयोक्तिपूर्ण तथा काल्पनिक घटनाओं और वश परम्परा का विचित्र मिश्रण दिखाई पडता है। इसी से वे न तो उत्कृष्ट कोटि के काव्य ही बन सके हैं न सच्चे इतिहास ही[1]।

२—जैसा कि बूलर ने विक्रमाकदेव चरित की भूमिका मे कहा है, ये काव्य चाहे जितनी कल्पित घटनाओं और अनैतिहासिक बातो से भरे हो पर उनकी मुख्य घटनायें और चरित ऐतिहासिक होते हैं[2]।

३ —उनमे घटनाओ की तिथि और उनके बीच के काल की निश्चित सीमा कम बताई गयी है या गलत बताई है।

४—उनमे प्रारम्भ मे निश्चित रूप से नायक के कुल की उत्पत्ति कथा और पूर्वजो की वशावली दी गयी रहती है यद्यपि वे अधिकतर मनगढन्त और निज -धरी या पौराणिक ढङ्ग की ही होती हैं।

५—ऐसे सभी महाकाव्यो मे कवियो ने अपने बारे मे तथा अपने पूर्व पुरुषो के बारे मे कुछ न कुछ अवश्य लिखा है। शास्त्रीय महाकाव्यों मे यह

1—'But while the geneology beyond one or two generations is oft n amiably invented and exaggerated and glorification takes the place of sober statement of facts the laudatory accounts are generally composed by poets of modest power The result is neither good poetry nor good history '

History of Sanskrit Literature by Dr Das gupta—& Dr De—Calcutta 1947 p 246

2—'The importance of Charitas like Shriharshcharita and Vikramankdevacharita lies chiefly therein that however much a vitiated taste and a false conception of the duties of historiag rapher royal may lead their authors stray the main facts may be a cepted as historical"

Vikramankdevacharitam—Introduction by George Buhlar Bombay 1915 p 3

प्रवृत्ति नही मिलती। किसी किसी मे सामयिक परिस्थितियो और देश दशा का वर्णन भी मिलता है।

६—सबमे नायक के जन्म, प्रेम, विवाह, राज्य प्राप्ति, युद्ध, विजय आदि का विस्तार के साथ वर्णन मिलता है।

७—इनमे नायक बहुत अच्छे और प्रतिनायक बहुत बुरे दिखाये गये रहते हैं। प्रशस्तिकाव्य होने के कारण उनकी यह प्रवृत्ति स्वाभाविक ही है। यद्यपि इतिहासकार की दृष्टि से यह अनुचित है। इसस नायकों के चरित्र की वैयक्तिक विशेषतायें प्रकट नहीं हो सकी है। उनमे किसी महान आदर्श की स्थापना भी नहीं की गयी है। अत इन महाकाव्यो मे काव्यात्मकता होते हुए भी प्राणवत्ता और दीर्घ जीवनी शक्ति नही है।

८—काव्यात्मकता लाने और रोमाचक गुण उत्पन्न करने की दृष्टि से इन काव्यो मे अलौकिक और अप्राकृत शक्तियों के कार्यो का भी वर्णन मिलता है, जो इतिहास की दृष्टि से असभव माना जाता है। ऐतिहासिक काव्यों के कवि सभावना पर अधिक बल देते हैं, इसी से अतिशयोक्तिपूर्ण बातो और कार्यों का वर्णन उनमे अधिक मिलता है। किसी किसी ऐतिहासिक काव्य मे महाकाव्य की कुछ रूढियाँ—जैसे ऋतु वर्णन, जलक्रीडा, वन बिहार, सयोग विप्रलभ शृगार आदि का वर्णन—भी खानापूरी करने के लिए अपनाई गयी हैं।

ऐतिहासिक कहे जाने वाले महाकाव्यों मे प्रथम पद्मगुप्त या परिमल का नवसाहसाक चरित कहा जाता है जो सन् १००५ में लिखा गया था। पर इस ग्रथ मे नायक के नाम के अतिरिक्त ऐतिहासिक तथ्य एक भी नहीं है और न वह ऐतिहासिक शैली मे ही लिखा गया है। वस्तुत वह विशुद्ध रोमाचक (कथात्मक) महाकाव्य है अत उसके सबध मे बाद मे विचार किया जायगा। ऐतिहासिक शैली का महत्वपूर्ण महाकाव्य बिल्हण का विक्रमाकदेव चरित है जो ग्यारहवीं शती के उत्तरार्द्ध मे कवि के आश्रयदाता कल्याण के चालुक्य राजा त्रिभुवनमल्ल (विक्रमादित्य षष्ट) के जीवनवृत्त के सबध मे लिखा गया है। इसमे ऐतिहासिक शैली की उपयुक्त सभी विशेषतायें पाइ जाती हैं, साथ ही इसका काव्य पक्ष भी बहुत पुष्ट है। कार्यान्विति, महती घटना और महान चरित्र का अभाव होत हुए भी इस काव्य मे अलकृत काव्य के सभी गुण वर्तमान है। परिमार्जित भाषा, अलकृत शैली और काव्य रूढियों के पालन की दृष्टि से यह काव्य भारवि माघ की शास्त्रीय परम्परा म ही माना जायगा, पर इतिवृत्तपरक और प्रशस्तिमूलक होने के कारण उसमे विराटता और प्राणवत्ता का अभाव है। वशावली वर्णन और नायक के अतिशयोक्तिपूर्ण चरित्र

चित्रण, अलौकिक अतिप्राकृत कार्यो के समावेश आदि के कारण यह प्रमुखत ऐतिहासिक शैली का ही महाकाव्य है, शास्त्रीय शैली का नहीं। १२ वी शती मे लिखा गया कल्हण की राजतरंगिणी यद्यपि प्रधानतया इतिहास ग्रथ है पर उसमे लेखक का कविरूप स्थान स्थान पर इतना उभर कर आया है कि डा० दे प्रभृति विद्वान इसे इतिहास से अधिक काव्य ही मानते है[1]। कल्हण ने स्वय भी राजतरंगिणी को महाकाव्य ही कहा है, पर इसमे हजारों वर्षो का इतिहास सम्मिलित होने से कथा की अन्विति और महाकाव्योचित घटनाओं के चुनाव का अभाव है। यद्यपि पौराणिक और निजन्धरी तत्त्वों, देवी देवता, भूतप्रेत, राक्षस आदि अलौकिक अप्राकृत शक्तियो के कार्यो, शकुन शाप वरदान, जादू टोना, भाग्य, कर्मफल और पुनर्जन्म मे विश्वास तथा ऐसी अन्य बातों के कारण राजतरंगिणी की ऐतिहासिकता मे पूर्णरूप से विश्वास नही किया जा सकता फिर भी कल्हण ने समसामयिक और निकट भूत की घटनाओं को तटस्थ दृष्टि से देखा है। इस प्रकार इस ग्रथ मे ऐतिहासिक, पौराणिक और रोमाचक तीनो शैलियो का सम्मिश्रण हो गया है, यद्यपि प्रमुखता ऐतिहासिक शैली की है। महाकाव्य की व्यापक परिभाषा की दृष्टि से देखने पर महाभारत और रघुवश की तरह राजतरंगिणी को भी महाकाव्य माना जा सकता है पर महाभारत की तरह न तो वह विकसनशील महाकाव्य है न रघुवश की तरह अलकृत शास्त्रीय महाकाव्य बल्कि अपने ढग का ऐतिहासिक शैली का अकेला महाकाव्य है।

ऐतिहासिक चरित काव्यो मे सन्ध्याकरनन्दी के रामचरित का भी नाम लिया जाता है जिसकी चर्चा पहले की जा चुकी है, पर इसमे काव्यात्मकता और ऐतिहासिकता दोनो का अभाव होने से यह काव्य महत्वपूर्ण नही है। बारहवी सदी का हेमचन्द्र का कुमारपाल चरित भी 'रामचरित' की तरह ही द्वयर्थक काव्य है जिसमे कुमारपाल का जीवन वृत्त दिया गया है। इसमे ऐतिहासिक शैली तो अपनाई गयी है पर काव्यात्मकता का नितान्त अभाव है। गुजरात के राजा वीरधवल और विशालदेव के मत्री वस्तुपाल और तेजपाल के सम्बन्ध मे अरिसिंह ने 'सुकृत संकीर्तन' और बालचन्द्र सूरि ने वसन्त विलास नामक महाकाव्यो की रचना की। इनमे महाकाव्य के वस्तु व्यापार वर्णन की रूढियों का तो पालन हुआ है, पर उपदेशात्मक और इतिवृत्तात्मक वर्णनों के कारण महाकाव्य के गुण इसमे नहीं हैं। पन्द्रहवीं शताब्दी मे लिखित जयचन्द्र

1 A History of Sanskrit Literature, Dr S N Dasgupta & De P 359

सूरि का 'हम्मीर महाकाव्य' ऐतिहासिक शैली का महत्वपूर्ण महाकाव्य है क्योकि उसमे ऐतिहासिक शैली की सभी विशेषताये मिलती हैं। पन्द्रहवी शताब्दी मे जोनराज ने जयानक के 'पृथ्वीराज विजय' महाकाव्य की टीका लिखा है प० इस महाकाव्य की खण्डित प्रति मिलने से उसका रचना-काल अज्ञात है। प प्राप्त अश मे ऐतिहासिकता पर्याप्त मात्रा मे दिखाई पडती है।

रोमाचक महाकाव्य—जैसा पहले कहा जा चुका है, चरितकाव्य पौराणिक, ऐतिहासिक और रोमाचक तीनो शैलियो में लिखे गये हैं। यह भी कहा जा चुका है कि पौराणिक और ऐतिहासिक शैली के महाकाव्यो म कथा आख्यायिका के गुण भी पाये जाते हैं। वस्तुत सस्कृत के जितने चरितकाव्य हैं, चाहे वे जिस शैली मे लिखे गये हो, कथा आख्यायिका से बहुत प्रभावित हैं। किन्तु यह प्रभाव सबसे अधिक रोमाचक शैली के चरितकाव्यो पर दिखाई पडता है। अत यहाँ कथा, आख्यायिका और चरितकाव्य के सम्बन्ध के बारे मे विचार कर लेने की आवश्यकता है। चरितकाव्यो का मूल उद्देश्य मनोरजक शैली मे किसी पौराणिक पुरुष, देवता, ऐतिहासिक और निजन्धरी व्यक्तित्व या समसामयिक आश्रयदाता राजा का चरित्र चित्रित करके धर्म भावना का प्रसार करना या राजा को प्रसन्न करना या सहृदयो का मात्र मनोरजन करना प्रतीत होता है। अत यह स्पष्ट है कि उनमे शैली की वह गम्भीरता, उदात्तता और गरिमा नहीं हो सकती जो महत् उद्देश्य वाले शास्त्रीय महाकाव्यों मे होती है। यद्यपि महाकाव्य के लिए आवश्यक ऋतु, वन, पर्वत, नगर, मन्त्र दूत, युद्ध आदि वस्तु व्यापारों का वर्णन इनमें भी हुआ है, पर महच्चरित्र, गरिमामयी शैली, महदुद्देश्य और अदम्य जीवनी शक्ति के अभाव मे उन्हे उच्चकोटि का महाकाव्य क्या महाकाव्य भी नही माना जा सकता। फिर भी परम्परा से उन्हे महाकाव्य माना जाता रहा है और उन काव्यों ने स्वय भी अपने को महाकाव्य कहा है। किन्तु वस्तुत देखा जाय ता अधिकाश चरितकाव्य कथा आख्यायिका के अधिक निकट के हैं। उनमे स कुछ ही ऐसे हैं जो अलकृत महाकाव्य के रूप मे अधिक ख्याति प्राप्त कर सके हैं जैसे हरिश्चन्द्र का धर्मशर्माभ्युदय, मखक का श्रीकण्ठचरित, पद्मगुप्त का नवसाहसाकचरित, विल्हण का विक्रमाकदेव चरित आदि। शास्त्रीय महाकाव्यो की तरह चरितकाव्यों के मूल स्रोत भी रामायण महाभारत और अति प्रसिद्ध कथाकाव्य जैसे गुणाढ्य की बृहत्कथा ही है। शास्त्रीय महाकाव्य इतिहास कथोद्भूत होते हुए भी अपनी विशिष्ट कलात्मक शैली और शिष्ट नागर वातावरण के कारण अलग काव्य रूप बन गये किन्तु लोक के बीच पौराणिक, ऐतिहासिक, निजन्धरी

और कल्पित कथा आख्यान का प्रचलन निरन्तर बना रहा। संस्कृत पण्डितों और नागर जनो की भाषा थी अत लोक भाषाओ (प्राकृतो) मे ही इस तरह की कथाये सकलित और निर्मित होती रही। गुणाढ्य की बृहत्कथा इसका उदाहरण है। जब प्राकृत साहित्य बहुत समृद्ध और लोकप्रिय हो गया और राजदरबारो म उसकी प्रतिष्ठा होने लगी तो उसकी उपेक्षा करना सस्कृत के पण्डितो के लिए सभव न था, अत प्राकृत कथा साहित्य का प्रभाव सस्कृत पर पडा, उसम अल कृत शैली की गद्यबद्ध कथा आख्यायिकायें लिखी गयी। छठी शताब्दी म दण्डी, सुबन्धु और बाणभट्ट ने इस प्रकार की कथा आख्यायिकायें लिखी और भामह, दण्डी प्रभृत आचार्यो ने उनके लक्षण भी बताये। प्राकृत और अपभ्रश मे इस प्रकार के पद्यबद्ध कथा काव्य भी होते थे जिनकी ओर नवी शताब्दी के आल कारिक रुद्रट ने सकेत किया है[1]। इन काव्यों की शैली सस्कृत के शास्त्रीय महा काव्यो की शैली से भिन्न होती थी। धीरे धीरे उन काव्यो ने सस्कृत की महाकाव्य शैली को प्रभावित करना प्रारम्भ किया और नवीं शताब्दी तक सस्कृत मे भी प्राकृत अपभ्रश की तरह कथात्मक चरितकाव्य लिखे जाने लगे और उनकी गणना महाकाव्य के रूप मे होने लगी जैसा रुद्रट के बताये महाकाव्य के लक्षणो से स्पष्ट है।

इस प्रकार आठवीं नवीं शताब्दी के आसपास प्राकृत अपभ्रश के चरित काव्यों के प्रभाव के परिणामस्वरूप सस्कृत महाकाव्य में कथात्मक शैली का प्रवेश हुआ और कुछ नई रूढिया स्थिर हो गयीं जो शास्त्रीय, पौराणिक, ऐतिहासिक और कथात्मक सभी शैलियों के महाकाव्यों मे (नैषधचरित जैसे कुछ इने गिने महाकाव्यो को छोड कर) पाई जाती हैं और जिनको रुद्रट, हेमचन्द्र और विश्वनाथ ने महाकाव्य के लक्षण के रूप मे मान लिया है। दण्डी के अनुसार महाकाव्य के आदि मे नमस्क्रिया, आशीर्वचन और वस्तु निर्देश होना चाहिये, पर इस काल के महाकाव्यो के आदि मे मगलाचरण के अतिरिक्त गुरु वन्दना, पूर्ववर्ती कवियों की प्रशसा, साधु सज्जनो की प्रशसा और खलो की निन्दा, ग्रन्थ के सम्बन्ध में निवेदन और अपने सम्बन्ध में विनम्रता और सकोचपूर्ण कथन, नायक की नगरी का वर्णन, नागरिकों का वर्णन, नायक के वश का वर्णन आदि बाते भी पाई जाती हैं जो पूर्ववर्ती शास्त्रीय महा

१—कन्यालाभ फला वा सम्यग्विन्यस्त सकल शृगारम्

इति सस्कृतेन कुर्यात्कथामगद्येन चान्येन ॥

रुद्रट काव्यालकार, अध्याय १६, श्लोक २३।

का यो मे नहीं होतीं। महाकाव्य मे इन रूढियो का प्रवेश कथा आख्यायिका से हुआ है जैसा रुद्रट के कथा सम्बन्धी इस लक्षण से स्पष्ट है —

श्लोकैर्महाकथायामिष्टान्देवान्गुरून्नमस्कृत्य
सक्षेपेण निज कुलमभिदध्यात्स्वच कर्तृतया ॥

काव्यालकार, १६–२०।

रुद्रट ने महाकाव्य को उत्पाद्य और अनुत्पाद्य दो प्रकार का माना है और उत्पाद्य महाकाव्य के लक्षण मे कहा है —

तत्रोत्पाद्ये पूर्वं सन्नगरीवर्णन महाकाव्ये।
कुर्वीत् तदनु तस्या नायकवशप्रशसा च ॥

काव्यालकार, १६–७।

इस प्रकार रुद्रट द्वारा निर्दिष्ट कथा तथा उत्पाद्य महाकाव्य के जो लक्षण ऊपर दिये गये हैं वे सिद्ध करते हैं कि नवीं शताब्दी तक महाकाव्य मे कथा सम्बन्धी अनेक रूढिया अपना ली गयी थीं।

प्राकृत अपभ्रश के कथा काव्य के प्रभाव के फलस्वरूप सस्कृत महाकाव्य के केवल बाह्य और स्थूल लक्षणों मे ही परिवर्तन नहीं हुआ बल्कि उसका अत रात्मा भी बदली। शास्त्रीय शैली में पाण्डित्य प्रदर्शन, दुरूह अलकृति और वस्तु व्यापार वर्णन की जो रीतिबद्ध परिपाटी थी उसकी जगह लोकतत्वो से प्रभावित सरलता, स्वच्छन्दता और रोमाचकता का प्रादुर्भाव हुआ। यह आधुनिक ढग का रीतिवाद (क्लासिसिज्म) के विरुद्ध स्वच्छ दतावाद (रोमाण्टिसिज्म) का विद्रोह नहीं था बल्कि दोनों प्रवृत्तियाँ, जो पहले शिष्ट नागर साहित्य और लोक साहित्य मे समानान्तर रूप से चल रही थीं, इस युग मे शिष्ट साहित्य और लोक साहित्य मे भी साथ साथ चलने लगीं और धीरे धीरे दोनों का एकीकरण या सम्मिश्रण हो गया। इस प्रकार परवर्ती आचार्यो को इन लक्ष्य ग्रथों को देखकर बाध्य होकर रोमाचक चरितकाव्यों को भी महाकाव्य मानना पडा। वस्तुत रोमाचक महाकाव्य तो लोक साहित्य के रोमाचक काव्यो क विकसित रूप हैं। जैन कवियो न विशेष रूप से लोकाश्रित भावधारा ओर शैलियो को अपनाया। इसलिये सस्कृत के अधिकाश चरितकाव्य या रोमाचक शैली के महाकाव्य भी उन्होने ही लिखे हैं। कथात्मक शैली की विशेषताये निम्नलिखित हैं —

१—रोमाचक महाकाव्यों मे काव्य कौशल और विदग्धता का विलास अधिक नहीं होता न उनका बौद्धिक स्तर ही बहुत ऊँचा होता है। उनकी प्रवृत्ति सर लता, भावुकता और स्वच्छन्द कल्पना प्रवणता की ओर अधिक दिखाई पडती है।

२—कथा आख्यायिका की भाति उनमे रोमाचक, अतिशयोक्तिपूर्ण, तथा

कल्पना पर आधारित साहसिक कार्यो, जैसे दुष्कर यात्रा, युद्ध, भयकर दुर्घटना आदि, का वर्णन होता है।

३—उनम काल्पनिक और रोमाचक प्रेम व्यापारों की अधिकता होती है और वास्तविक वीरतापूर्ण कार्यों का अभाव होता है।

४—उनका कथानक जीवन्त और आकर्षक तो होता है पर शास्त्रीय महाकाव्यो जैसी अन्विति नही होती। वह असयमित जटिल और असतुलित होता है। कारण यह है कि उसमे अवान्तर और प्रासगिक कथाये भी होती हैं जो दो व्यक्तियो के सवाद के रूप मे बीच बीच मे आती रहती हैं। कथा के बीच कथा आने से मूल कथा का सूत्र बार बार टूट जाता है जिससे कथानक पेचीदा बन जाता है।

५—रोमाचक महाकाव्य का कथानक चाहे उत्पाद्य हो या अनुत्पाद्य उसमे जीवन की यथार्थता की कमी रहती है और कल्पना तथा सभावना के आधार पर कथा को आगे बढाया जाता है जिससे उसमे ऐतिहासिक व्यक्तित्व भी पौराणिक और निजधरी रूप धारण कर लेते हैं। इस तरह उसम आश्चर्यजनक चमत्कारपूर्ण, अविश्वसनीय और अलौकिक घटनाओ की भरमार रहती है।

६—उसमे लोक कथा और लोकगाथा के वे सभी तत्व जो विकसनशील महाकाव्यों, पौराणिक कथाओ ओर कथा आख्यायिका मे होते हैं, अपना लिये गये हैं। अत उनमे अलौकिक और अतिप्राकृत शक्तियो के कार्य, जादू टोना, मत्र तत्र की बातें, पशु पक्षियो की बात चीत, शकुन शाप, वरदान मे विश्वास, तथा ऐसी ही अन्य बातें बहुत अधिक हैं। ये बाते बार बार प्रयुक्त होने से कथानक सबधी रूढियाँ बन गयी हैं जिनके सबध मे दूसरे अध्याय में विस्तार के साथ विचार किया जा चुका है।

७—उसमे महदुद्देश्य, महती केन्द्रीय घटना और महच्चरित्र का अभाव होता है। उसके नायक न तो विकसनशील महाकाव्यो के नायकों की तरह सच्चे और वैयक्तिक वीरता के प्रतीक होते हैं, न शास्त्रीय महाकाव्यो के नायकों की भाँति सामाजिक शक्ति के प्रतीक और आदश धीर वीर व्यक्ति ही होते हैं। इसके विपरीत वे कवि की कल्पना की देन होते हैं अर्थात् उनकी वीरता और प्रेम दोनो ही अयथार्थ और सभावना पर आधारित होते हैं और उनका व्यक्तित्व बहुधा ऐकातिक, चमत्कारपूर्ण और सामाजिक जीवन से विच्छिन्न होता है।

सस्कृत म रोमाचक महाकाव्यो का प्रारभ प्रधानतया जैनो के पौराणिक काव्य ग्रथो और गुणाढ्य की बृहत्कथा के आधार पर लिखे गये ग्रथा से मानना

चाहिये। यद्यपि वे महाकाव्य नही बल्कि पुराण और कथा काव्य माने जाते हैं, किन्तु परवता रोमाचक काव्यो पर उसका प्रभाव बहुत अधिक है। आठवा शताब्दी मे जिनसन ने आदिपुराण और उनके शिष्य गुणभद्र ने उत्तरपुराण और जिनदत्त चरित की रचना की। आठवी नवीं शताब्दी मे बुद्ध स्वामी ने बृहत्कथाश्लोकसग्रह और गौटाभिनन्द ने कादम्बरी कथासार नामक पद्यबद्ध कथा ग्रथो की रचना की। फिर ग्यारहवी बारहवी शताब्दी मे एक ओर तो काश्मीर मे क्षेमद्र ने बृहत्कथा मजरी आर सोमदेव ने कथासरित्सागर नाम से गुणाढ्य की बृहत्कथा को काव्यात्मक रूप दिया, दूसरी ओर गुजरात म हेमच द्र ने त्रिषष्ठिशलाकापुरुष चरित नाम से जेनो के प्राकृत बद्ध पुराण कथाओ को सस्कृत म श्लोकबद्ध किया। इन पौराणिक ओर निजन्धरी कथाओं ने परवता महाकाव्या को विषयवस्तु आर रूप शिल्प को बहुत अधिक प्रभावित किया। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का मत है कि गुणाढ्य की बृहत्कथा मूल रूप म भी पद्य म ही लिखी गयी थी और वही से प्राकृत भाषा या लोकभाषा मे पद्यबद्ध कथाओ के लिखने की परपरा शुरू होती है। बृहत्कथा का महत्व आठवी नवी शताब्दी तक रामायण आर महाभारत के समान माना जाने लगा था अत उसके अनुकरण म संस्कृत मे रोमाचक महाकाव्य की परपरा शुरू हो जाना आश्चर्य की बात नही है। सोमदेव के कथासरित्सागर मे काव्यात्मकता अधिक है और उसे सस्कृत का प्रारभिक रोमाचक महाकाव्य कहा जा सकता है। ग्यारहवा शताब्दी के प्रारभ मे ही पद्मगुप्त का नवसाहसाक चरित लिखा गया जो सम सामयिक राजा के नाम पर लिखा गया प्रथम परिष्कृत और अलकृत शैली का रोमाचक महाकाव्य है। उसम रोमाचक महाकाव्य के ऊपर बताये सभी लक्षण मिलते हैं। १२ वी शताब्दी म वाग्भट्ट ने १५ सर्गों का नेमिनिवाण नामक महाकाव्य लिखा। उसके बाद १३ वीं शताब्दी से लेकर १५-१६ वी शताब्दी तक जैन कवियों ने चरित काव्यो की भरमार कर दी जिनमे से वीरनन्दी का चन्द्रप्रभ चरित (१३ वीं शती), सोमेश्वर कवि का सुरथोत्सव (१३ वी शता), भवदेव सूरि का पार्श्वनाथचरित (१३-१४ वी शती) और मुनिभद्रसूरि का शान्तिनाथ चरित प्रमुख रोमाचक महाकाव्य हैं। अभयदेव के जयन्त विजय और हरिश्चन्द्र के धमाशमाभ्युदय मे शास्त्रीय महाकाव्य की रूढिया अधिक मिलती हैं पर मूलत वे पौराणिक रोमाचक शैली के ही महाकाव्य हैं। १५ वी शती म श्रीवर ने फारसी कवि जामी के प्रेमाख्यानक काव्य युसुफ जुलेखा के आधार पर कथा कौतुक नामक काव्य का अनुवाद किया और रोमाचक प्रेम कथा को शैव कथा के रूप मे बदल दिया। १३ वीं शताब्दी के बाद जैन कवियो

ने अपभ्रश से अधिक सस्कृत मे लिखना प्रारभ किया और सैकडो चरित काव्य इस काल के बीच लिखे गये। इस प्रकार दसवी शताब्दी से सोलहवी शताब्दी तक सस्कृत म रोमाचक पद्यबद्ध कथा काव्यो की रचना बहुत हुई, उनम से यद्यपि सबने अपने को महाका य कहा है पर वस्तुत महाकाव्य पद के अधिकारी उनम से बहुत कम हैं, यदि महाकाव्य माना ही जाय तो वे रोमाचक शैली के महाका य (रोमाण्टिक एपिक) कहे जा सकते हैं। वस्तुत इस काल की लोक रुचि और सामाजिक स्थिति ऐसी थी जिसमे रोमाचक और कथात्मक प्रबन्धकाव्य की रचना अधिक सभव थी, शास्त्रीय महाकाव्या की उतनी नही। यही कारण है कि ११ वी से १६ वी शताब्दा तक सस्कृत मे ही नही अपभ्रश, और हिंदी मे ही पौराणिक, ऐतिहासिक और रोमाचक शैली के महाकाव्या की रचना हुई, शास्त्रीय शैली के महाकाव्यों की नहा।



पालि और प्राकृत के महाकाव्य

आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के उदय के पूर्व भारतीय साहित्य की सक्रियता सबसे अधिक सस्कृत भाषा के क्षेत्र म ही दिखलाई पडती है। यद्यपि पालि और प्राकृत मे भी साहित्य निमाण कम नही हुआ पर शुद्ध या रसात्मक साहित्य जितना सस्कृत मे निमित हुआ उतना पालि और प्राकृत मे नही। पालि गौतम के समय की बोलचाल की प्राकृत थी और क्रमश वह बौद्धों के धमग्रन्थो की भाषा बनकर रह गइ, जब कि व्यवहार की भाषा प्राकृत अपनी विविध बोलियो—मागधी, अर्द्धमागधी, सौरशेनी, महाराष्ट्री, पैशाची आदि—मे विकसित होकर आगे बढी। जैनो ने अर्द्धमागधी और महाराष्ट्री प्राकृत को अपनी धार्मिक भाषा बनाया। इस तरह बौद्धों के त्रिपिटक आदि ग्रथ पालि मे और जैनो के सूत्र या आगम ग्रन्थ प्राकृत मे मिलते हैं। पर जिस तरह रामायण के साथ सस्कृत मे अलकृत काव्य की परम्परा प्रारम्भ हुई, जो हजारो वर्ष तक अनवरत चलती रही, उस तरह की रसात्मक ओर अलकृत काव्य परम्परा पालि मे नहीं दिखाइ पडती। प्राकृत मे भी वह परवर्तीकाल मे प्रारम्भ हुई और बहुत ही क्षीण रूप मे तथा अधिकतर धार्मिक आवरण लेकर दसवीं शताब्दी के आसपास तक चलती रही और अपभ्रश साहित्य के उत्थान ने उसकी गति को सदा के लिये समाप्त कर दिया। इस तरह सस्कृत, पालि और प्राकृत साहित्य की धाराये समानान्तर रूप से ५०० ई० तक बहती रहीं, उसके बाद बौद्ध साहित्य भी सस्कृत मे ही निमित होने लगा और संस्कृत और प्राकृत ही मैदान मे रह गई। ७ वीं ९ वीं शताब्दी से तो जैन साहित्य भी अधिकतर सस्कृत और अपभ्रश मे लिखा जाने लगा और प्राकृत धम ग्रन्थों और विद्वानो की भाषा बनकर रह गइ।

चाहे जिस कारण हो पालि मे रसात्मक या शुद्ध साहित्य का निर्माण नहीं के बराबर हुआ या यदि हुआ भी हो तो आज वह प्राप्त नहीं है। सम्भवत पालि केवल धर्म की भाषा समझी जाती थी तभी अश्वघाष को अपने महाकाव्य सस्कृत मे लिखने की आवश्यकता पडी। कथाओं और ऐतिहासिक निजन्धरी आख्यानों की दृष्टि से पालि साहित्य की निश्चित रूप से महत्वपूर्ण देन है। जातक कथाओ मे कथा साहित्य का प्रारम्भिक रूप मिलता है और थेरथेरी गाथा तथा अट्ठकहा में कथा और निजन्धरी आख्यान के बीच दिखाई पडते

हैं। ५ वी शताब्दी मे अट्ठकहा के आधार पर ही सिंहल के इतिहास से सम्बन्धित दो ग्र थ दीपवंश और महावंश निर्मित हुए। विंटरनित्स ने इन्हें ऐतिहासिक महाकाव्य की सज्ञा दी है[१]। इनमे महावंश को राजतरंगिणी की तरह का ऐतिहासिक शैली का महाका य कहा जा सकता है। इसमे भाषा और छन्द की पूर्णता भी अलकृत काव्यों जैसी है।

प्राकृत के का य अधिकतर जैन कवियों द्वारा लिखे हुये हैं। जैनो द्वारा जो काव्य लिखे गये उनमे से अधिकाश चरितकाव्य हैं और इन सब पर पुराण और कथाशैली का गहरा प्रभाव है। जो जैनेतर काव्य हैं, उनमे उक्त शैली नहीं या बहुत कम दिखलाई पडती है। ऐसे दो ही महाकाव्य प्राप्त हैं, प्रवरसेन का सेतुब ध या रावण बहो और वाक्पतिराज का गउड बहो। ये दोनो ही शास्त्रीय शैली के महाकाव्य हैं। इस प्रकार प्राकृत मे प्रधानतया इन तीन शैलियों के महाकाव्य मिलते हैं —

१—पौराणिक शैली
२—रोमाचक शैली
३—शास्त्रीय शैली

पौराणिक शैली—प्राकृत का प्राचीनतम महाकाव्य विमलसूरि का 'पउम चरिय' है। विमलसूरि के काल के बारे म विद्वानों में मतभेद है। विंटरनित्स उन्ह पहली शताब्दी का और जैकोबी तीसरी शताब्दी ईसवी का मानते हैं, जब कि मुनिजिनविजय, केशवलाल ध्रुव, ए० सी० उपाध्याय आदि विद्वान उन्हे वाणभट्ट के बाद का मानते हैं। किंतु पउमचरिय की शैली और भाषा की प्राचीनता यह सिद्ध करती है कि यह काव्य तीसरी शताब्दी के बाद का नहीं है। इस सबध मे डा० जैकोबी का कहना है कि यह तीसरी शताब्दी में लिखा हुआ प्राकृत का प्राचीनतम महाकाव्य है जो वाल्मीकि रामायण की कथा का जैन रूपान्तर है, उसकी भाषा प्रार

१ The same Atthakathas are also the sources from which the historical and epic Pali poems of Cylon are derived, for the Pali chronicles of Cylon the Dipavamsa and the Mahavamsa cannot be termed actual histories but only historical poems As it has never been the Indian way to make clearly defined distinction between myth legend and history, histriography in India was never more than a branch of epic poetry" A History of Indian Literature Vol II by H Winternitz Calcutta 1933, p 208

भिक प्राकृत है और वह महाकाव्य का सरल शैली मे लिखा गया है। डा० जैकोबी ने इस आधार पर यह अनुमान किया है कि विमलसूरि के पहले भी प्राकृत मे अनेक लोक प्रचलित महाकाव्य थे और पउमचरिय उनम से एक है जो आज भी प्राप्त है[१]। पउमचरिय मे प्राचीन महाकाव्य परम्परा के अनुरूप आद्यन्त अनवरुद्ध कथा प्रवाह दिखलाई पडता है और वाल्मीकि रामायण की तरह ही अनलकृत किन्तु सश्लिष्ट वर्णन स्थान स्थान पर मिलते हैं जिसमे उसकी शैली आकर्षक और उदात्त हो गई है। इसमें पौराणिक शैली क महाकाव्यो के अनेक तत्व दिखलाई पडते हैं। कथा का प्रारम्भ सवाद रूप म होता है। पउपचरिय के अनुसार रामकथा पहले पहल महावीर स्वामी ने अपने शिष्यो—इन्दुभूति आदि—से कही थी, इन्दुभूति ने उसे अपने शिष्यो को बताया और वहा से वह कथा विभिन्न आचार्यों के पास पहुँची। पउमचरिय की कथा भी इन्दुभूति और उनके शिष्य श्रेणिक के सम्वाद के रूप कही गई है और बीच बीच मे पौराणिक शैली के अनुरूप प्रश्नोत्तर के रूप मे अनेक अवान्तर कथाये भी कही गई हैं। यद्यपि इसमे महाभारत और पुराणो की तरह जगह जगह उपदेशात्मक कथन भरे हुये हे किन्तु कुल मिलाकर यह पुराण से अधिक महाकाव्य ही है क्योंकि सर्ग, प्रति सर्ग, मन्वन्तर आदि का वणन इसम नहीं है। इसके विपरीत इसमें प्रारम्भ मे तीर्थंकरो की वन्दना, देश वर्णन, सम्वाद रूप मे कथा का वस्तु निर्देश और पहले अध्याय मे ही सभी अध्यायो का सार सक्षेप म दे दिया गया है। इस प्रकार यह वाल्मीकि रामायण के ढङ्ग का उसी की शैली मे लिखा गया प्राकृत महा काव्य है।

पौराणिक शैली के अन्य ग्रन्थ ८वी शताब्दी के बाद के लिखे हुये मिलते हैं। इनमे से अनेक हस्तलिखित रूप मे पाटण जैसलमेर आदि के जैन ग्रन्थागारो मे सुरक्षित हैं जिनमे से कुछ प्रमुख ये हैं। गुणपाल का जम्बूचरिय, लक्ष्मणदेव का णेमिणाहचरिय, सोमप्रभ का सुमतिनाथ चरित, देवचन्द्र सूरि का शान्तनाथ चरियम्, शीलाचार्य का महापुरिस चरिय, महेश्वर सूरि का 'पचमी कहा', वर्द्धमाना चार्य का आदिनाथ चरिय, देवप्रभसूरि का पार्श्वनाथ चरिय आर हरिभद्रसूरि का नेमिनाथ चरियम्। ये ग्रन्थ अभी प्रकाशित नही हुये हैं, अत इनक बारे मे निश्चित रूप से कुछ कह सकना कठिन है। फिर भी इनका जो सक्षिप्त विवरण प्रकाशित किया गया है उससे पता चलता है कि इनमे से अधिकाश या तो विशुद्ध धार्मिक कथायें या पौराणिक पुरुषा के चरित मात्र हैं जिन्हें जैन पुराण

१— Some ancient Prakrit Works by Dr Jacobi, Modern Review, December 1914

कहा जा सकता है। गुणचन्द्रमणि का महावीर चरिय (स० ११३९) प्राकृत का सबसे बडा चरित काव्य है किन्तु यह भी महाकाव्य से अधिक पुराण ही है।

प्राकृत के रोमाचक महाकाव्य—सस्कृत के रोमाचक महाकाव्यो पर विचार करते हुये कहा जा चुका है कि सस्कृत के अनेक जैन काव्य पौराणिक कथा वस्तु को लेकर निर्मित होते हुये भी पौराणिक नही बल्कि रोमाचक काव्य हैं क्योकि उनमे रोमाचक उत्पाद्य कथाओं के बहुत से तत्व पाये जाते हैं। प्राकृत मे भी इस प्रकार के रोमाचक काव्यो की कमी नही है। जैसा कि कहा जा चुका है रुद्रट की महाकथा और महाकाव्य की परिभाषा से पता चलता है कि कथाओ के अनेक तत्व महाकाव्यो मे भी गृहीत होने लगे थे और प्राकृत के महाकाव्यो और कथा काव्यो मे बहुत ही सूक्ष्म अ तर था। स्वय रुद्रट ने जो अन्तर बताये हैं वे बाहरी लक्षण से ही अधिक सबधित हैं, दोनो के बीच मौलिक अन्तर उन्होने यही बताया है कि महाकाव्य मे सभी रस होते हैं पर कथा मे श्रृगार ही प्रधान होता है और उसका लक्ष्य कन्याफल की प्राप्ति होता है जब कि महाकाव्य मे नायक का अभ्युदय लक्ष्य होता है। प्राकृत अपभ्रश मे तो महाकाव्य और कथा मे सस्कृत की तरह पद्य और गद्य का भेद भी नहीं रह गया जैसा कि रुद्रट के 'इति सस्कृतेन कुर्यात्कथा मगद्येन चान्येव' से पता चलता है। उसमे कथाये तो पहले ही से पद्यबद्ध होती थीं, बाद में पौराणिक और कल्पित काव्य भी कथा की शैली मे ही लिखे जाने लगे। परवता प्राकृत काव्यो को गुणाढ्य की लोकप्रिय 'वड्डकहा' ने इतना अधिक प्रभावित किया कि "पउमचरिय" की शैली भुला दी गई और पादलिप्त की तरङ्गवई और कौतूहल की लीलावई की शैली ही काव्यो म भी प्रमुख हो गई। महाकाव्य और कथा का भेद प्राकृत मे इस सीमा तक मिट गया कि आज एक ही काव्य को एक विद्वान महाकाव्य कहता है तो दूसरा कथा। उदाहरण के लिये कौतूहल की लालावती के दो सपादको मे से आचार्य मुनिजिनविजयजी उसे महाकाव्य मानते हैं तो दूसरे सपादक डा० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्याय उसे कथा कहते हैं[1]। मलयसुन्दरी कथा को भी विंटरनित्स ने रोमाचक महाकाव्य माना

1 (a) When in 1940 my beloved friend Dr Upadhyay expressed his desire to edit this poem I felt very happy and decided to present this "Prakrit Mahakavya with its Sanskrit commentry by an anonymous Jain author edited by him as a precious jewel in the necklace of our Granthmala"

Munijin vijaya—Lilavi General editor s preface Bombay, Sambat 2005, page 21

है जब कि रुद्रट की परिभाषा के अनुसार उसे महाकथा कहना चाहिये[1]। उसी तरह सस्कृत मे भवदेव सूरि का पार्श्वनाथ चरित, हरिश्चन्द्र का धम शर्माभ्युदय, वाग्भट्ट कृत नेमिनिवाण आदि ग्रन्थ पौराणिक महाकाव्य होते हुए भी रोमाचक महाका य माने गये हे। विटरनित्स ने अपभ्रश के कथात्मक काव्य 'भविषयत्त कहा' को भी रोमाचक महाका य ही माना है[2]। इस तरह हम देखते हैं कि प्राकृत में ऐसे का यो का प्रचलन था जिनमे शास्त्रीय महाकाव्यो और कथा आख्यायिका—दोनो की विशेषताओ का समिश्रण हुआ था। यही कारण है कि सस्कृत के आचायो की परिभाषा को दृढतापूर्वक स्वीकार करनेवाले ऐसे काव्यों को कथा आख्यायिका कहते हैं जब कि महाकाव्य के स्वरूप विकास को ध्यान मे रखकर उसकी व्यापक परिभाषा मानने वाले उ हे रोमाचक महाकाव्य मानते हैं।

किंतु रोमाचक महाकाव्य और रोमाचक कथा मे इतना अधिक अभेद होते हुये भी उनकी अन्तरात्मा और स्थापन पद्धति मे अन्तर होता है। दोनो मे प्रधान अ तर यह है कि रोमाचक महाकाव्य मे कथावस्तु रोमाचक होते हुये भी उसे प्रस्तुत करने का ढग महाकाव्य का होता है, अर्थात् उसमे कथानक की योजना नाटकीय शैली म होती है और घटनाओं का विस्तार न होकर वस्तु व्यापार, मनस्थिति, विविध सौन्दर्य आदि का सूक्ष्म और प्रचुर वर्णन होता है, तथा उसका लक्ष्य किसी महत् उद्देश्य की सिद्धि होता है मात्र मनोरजन नही। इसके विपरीत रोमाचक कथाओ मे कथानक असयमित, जटिल और विविध घटनाओ और अवान्तर कथाओ से भरा होता है और उसका उद्देश्य मात्र मनोरजन या किसी धामिक या नैतिक तथ्य का उदाहरण उपस्थित करना रहता है। उसमे पाठक की जिज्ञासा वृत्ति को बनाये रखने में वस्तु व्यापार आदि का सूक्ष्म और विस्तृत वर्णन अनावश्यक और बाधक समझा

(b) Rudrat s recognition of katha in verse in any language other than Sanskrit, one can easily b lieve pre uppos s Prakrit kathas of the proto type of Lilavati And it will be seen that this Lilavati admirably and suitably fulfills all the requirements of a katha as noted by Rudrat '

Dr A N Upadhyay—Lilavai Introduction, Bombay Sambat 2005 p 42

1 A History of Indian Literature, by M Winternitz Calcutta 1933 Vol 11 p 533

2—Ibid page 532

जाता है। रोमाचक महाका य और रोमाचक कथाओ मे अन्तर समझने के लिये उपर्युक्त बात को ध्यान मे रखना आवश्यक है।

प्राकृत म चरितकाव्यो के अतिरिक्त अनेक पद्यबद्ध कथाकाव्य भी लिखे गये हैं जिनमे से अधिकाश तो रोमाचक कथा मात्र हैं किन्तु कुछ को रोमाचक महाकाव्य भी कहा जा सकता है। १० वी शताब्दी के पूर्व लिखी गइ कथाओं मे पादलिप्त की 'तिलासवई कहा' (जिसका मूलरूप अब अप्राप्य है) उद्योतन की 'कुवलयमाला' और हरिभद्र की 'समराइच्च कहा' प्रमुख हे किन्तु इनमे से कोइ भा महाकाव्य नही है। दशवी शताब्दी से प्राकृत और अपभ्रश मे ऐसे कथात्मक काव्य लिखे जाने लगे जिनमे कथा ओर महाकाव्य दोनो के लक्षण मिलते हैं। ऐसे काव्यो म कौतूहल की 'लीलावती' (कोऊहल चिरइपा लीलावइ णाम पाइय कहा) विशेष महत्वपूर्ण है। यद्यपि यह ग्रथ परिच्छेद, सर्ग या उच्छ्वास म विभक्त नही है ओर कवि ने स्वय भी इसे कथा कहा है, किन्तु इसम महाकाव्य के कई तत्व पाये जाते है, अत लीलावइ को रोमाचक महाकाव्य कहा जा सकता है ओर इसी कारण मुनि जिनविजय जी ने इसे महाकाव्य कहा भी है। इसम कथा के प्राय सभी लक्षण मिलते हैं जैसे प्रारम्भ म देवताओ की स्तुति, सज्जन स्तुति और दुर्जन निन्दा, कविवश परिचय, कवि और उसकी पत्नी के बीच सवादरूप मे कथा का प्रारम्भ, प्रधान कथा के भीतर अनेक प्रासगिक कथाओ का होना, धाराप्रवाह कथा वणन आदि। किन्तु उसम महाकाव्य के भी ये लक्षण हैं—अलकृति, वस्तु व्यापार वर्णन, प्रेम की गभीरता और विजय की महत्ता स्थापित करने का महत् उद्देश्य, रसो और भाव सौन्दर्य की अभिव्यक्ति, उदात्त शैली। डा० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्याय ने इसा आधार पर 'इनसाइक्लोपीडिया आव लिटरेचर' म प्राकृत साहित्य के सम्बन्ध म लिखते हुये लीलावती को एक अलकृत रोमाचक काव्य कहा है[1]। यद्यपि लीलावती की भूमिका मे उन्होने उसे कथा माना है।

1— The Lılavatı' of Kutuhal earlier than Bhoja, is a Stylistic r mantic kavava with considerable racy narration It tells the love story of king satavahan and Lılavatı a princess of Sinhal Dwip The threads of the story are a bit complicated but the scenes are attractively stretched and the sentiments are erved with freshness and flavour ' Dr A N Upadhya Prakrit Literature (Encyclopaedia of Literature Vol I) P 489

रोमाचक महाकाव्य की यह शैली अधिकाश परवता महाकाव्यो मे—चाहे वे सस्कृत के हो या अपभ्रश के—दिखलाई पडती है। हिन्दी के प्रेमाख्यानक काव्यों मे भी यही शैली अपनाई गई है, अत इस शैली के महाकाव्यों की काव्यरूढियो के लक्षणो और कथानक रूढियो का विश्लेषण अपभ्रश के रोमाचक महाकाव्यों के सबध मे विचार करते समय किया जायगा। लीलावइ के अतिरिक्त प्राकृत मे महेश्वर सूरि का 'पचमी कहा' (११ वी सदी) धनेश्वर का सुरसुन्दरी चरिय (१०३८ ई०) वधमान का मनोरमाचरित (१०४३ इ०) महेन्द्रसूरि की नर्मदा सुन्दरी कथा (१२१६ ई०) गुणसमृद्धिमहत्तरा लिखित 'अजणा सुन्दरी चरिय' ओर किसी अज्ञात कवि का लिखा 'कालकाचार्य कथानक' आदि ग्रथ विशेष उल्लेखनीय हें। इनमे से मलयसुन्दरी कथा को हर्टल और विटरनित्स ने रोमाचक महाकाव्य माना है जिसम चमत्कारपूर्ण, काल्पनिक और मत्रतत्र सम्बन्धी घटनाओ से भरी हुई लोक प्रचलित कथा को लेकर जैन निजन्धरी आख्यान का निर्माण किया गया है। अन्य जैन निजन्धरी कथाओ की तरह इसम भी लोक कथाओ के अनेक 'अभिप्राय' प्रयुक्त हुये हे। धनेश्वर सूरि का सुरसुन्दरी चरिय भी १६ परिच्छेदो मे विभक्त वैसा ही लम्बा प्रेम कथानक हे, जिसम कथा के भीतर कथा रखने की शैली, धाराप्रवाह, घटना-वर्णन आर वस्तुव्यापार का समुचित वर्णन मिलता है अत इसे रोमाचक महाकाव्य कहा जा सकता है। जैन निजन्धरी कथाओ के आधार पर निर्मित ग्रथो मे सुमतिगणि का जिणदत्ताख्यान, महेश्वरसूरि का पचमी कहा, वर्धमान का मनोरमा चरित और किसी अज्ञात कवि का 'कालकाचार्य कथानक' कथा की शैली में लिखे हुये उल्लेखनीय पौराणिक काव्य हैं पर महत् उद्देश्य के अभाव, कथानक की जटिलता और वस्तुव्यापार वर्णन की कमी क कारण उन्हे महाकाव्य नही माना जा सकता।

प्राकृत के शास्त्रीय महाकाव्य—पहले कहा जा चुका है कि छठी शताब्दी तक सस्कृत की तरह प्राकृत भी बोलचाल की भाषा न रहकर शिष्ट साहित्य की भाषा हो गई। विभिन्न प्राकृतों मे महाराष्ट्री प्राकृत ही ऐसी है जिसमे बहुत बाद तक धार्मिक ग्रथो के अतिरिक्त गीतकाव्य, मुक्तक, नाटक, पौराणिक और रोमाचक आख्यान तथा विद्वत्तापूण महाकाव्या की रचना होती रही। इस तरह प्राकृत का साहित्य भी सस्कृत की तरह राज्याश्रित हो गया। परिणामस्वरूप प्राकृत में सस्कृत साहित्य की अधिकाश परपरागत रूढिया अपना ली गईं। परवर्तीकाल में राज्याश्रित कवियो के लिये प्राकृत मे लिखना पाण्डित्य का लक्षण अथवा फैशन माना जाने लगा और प्राकृत व्याकरण के अनुसार सस्कृत भाषा को बदलकर

कृत्रिम प्राकृत भाषा गढनेकी प्रवृत्ति बढ गई। इस तरह प्राकृत भाषा मे सस्कृत के भाव, विचार, काव्यरूढियों आदि को यथावत उठाकर प्राकृत साहित्य निर्मित होने लगा। इसका यह अथ नही कि सस्कृत ने ही प्राकृत को प्रभावित किया, प्राकृत साहित्य ने भी सस्कृत साहित्य को दूरतक प्रभावित किया जिसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है। कालिदास के समय तक नाटको मे प्राकृत छन्दों का प्रयोग यह सिद्ध करता है कि उस समय के सस्कृत कवि प्राकृत भाषा के भी अच्छे जानकार होते थे। दरबारी वातावरण ओर नागर सभ्यता मे पले हुये कवियो ने, चाहे वे सस्कृत के कवि हों या प्राकृत के, अलकृत काव्य शैली अपनाई। दशवीं शताब्दी मे अपभ्रश साहित्य के उत्कर्ष और आधुनिक भाषाओ के उदय के कारण प्राकृत का प्रचार समाप्तप्राय हो गया और साहित्यनिमाण का कार्य या तो सस्कृत में होने लगा या अपभ्रश और देश्य भाषाओं मे। धीरे धीरे प्राकृत काव्यों की उपेक्षा होने लगी। धर्माश्रित प्राकृत साहित्य की रक्षा जेन साधुआ और ग्रथागारो की कृपा से हो गई है किन्तु राज्याश्रित धर्मेतर प्राकृत साहित्य का, जो निश्चित रूप से अलकृत काव्य शैली में लिखा गया होगा, बहुलाश आज हम प्राप्त नहीं है। पादलिप्त की तरगवई, सर्वसेन का हरिविजय, वाक्पति का मधुपथविजय और आनन्दवधन का विसमवाणलीला और मारकण्डेय का विलासवईसट्टक आदि ग्रथों का आज नाम मात्र ही शेष रह गया है। शास्त्रीय प्राकृत महाकाव्यो में प्रवरसेन का सेतुबन्ध और वाक्पतिराज का गौडवहो यही दो प्राकृत ग्रथ आज बचे हुये हैं। इनकी शैली सस्कृत के शास्त्रीय महाकाव्यो के समान परिपक्व और मजी हुई ह जिससे पता चलता है कि इस प्रकार के और भी शास्त्रीय महाकाव्य अवश्य लिखे गये होंगे।

सस्कृत मे वाल्मीकि रामायण के बाद जिस तरह कालिदास के महाकाव्य शास्त्रीय शैली के मानदण्ड के रूप मे मान्य हैं, उसी प्रकार प्राकृत मे पउमचरिय के बाद प्रवरसेन का सेतुबन्ध या रावणवहो सर्वोत्कृष्ट शास्त्रीय महाकाव्य है। सेतुबन्ध पर कालिदास की काव्यशैली का प्रभाव स्पष्ट दिखलाई पडता है, यही कारण है कि कुछ लोग उसे कालिदास का लिखा हुआ बताते हैं। सेतुबन्ध सम्भवत पाचवी सदी के उत्तरार्द्ध अथवा छठीं के पूवार्द्ध मे लिखा गया था और उसका कवि या तो स्वय राजा था या राजदरबार मे रहनेवाला था, यही कारण है कि इस ग्रन्थ मे सामन्ती सस्कृति के प्रतीक शास्त्रीय महाकाव्य के सभी लक्षण पाये जाते हैं। इसम बालिबध के बाद राम द्वारा सेतु बाधने की कथा से लेकर रावण वध और सीता की प्राप्ति तक की कथा दी गई है। इसकी कथावस्तु बहुत सक्षिप्त है किन्तु प्राकृतिक दृश्य, युद्ध, विरह शोक आदि भावों के यथोचित

वर्णन द्वारा महाकाव्य १५ आश्वासको में समाप्त हुआ है। यद्यपि इसमें परवर्ती महाकाव्यों मे पाई जाने वाली सभी काव्यरूढियो का समावेश नहीं है किन्तु कालिदास के रघुवश और कुमारसम्भव के समान इसमे कथावस्तु और वस्तुव्यापार वर्णन का अत्यन्त सुन्दर सामञ्जस्य हुआ है। परवर्ती महाकाव्यो की तरह इसमें कवि ने कथा प्रवाह को छोडकर कई सर्ग वस्तु व्यापार वर्णन मे ही नही लगाये हैं। प्रौढ और प्रसाद गुण युक्त भाषा, उक्तिवैचित्र्य, अलकृत चित्रण, प्रासगिक वस्तु व्यापार वर्णन और प्रसाद गुण के कारण इसे रूढिमुक्त रससिद्ध शास्त्रीय महाकाव्य कहा जा सकता है।

वाक्पतिराज का गउडवहो सातवीं शताब्दी मे लिखा हुआ का य है। इसमे १२०८ गाथाये हैं और कथानक सर्ग, आश्वास आदि मे विभक्त नही है। यों भी इसमे कथावस्तु नहीं के ही बराबर है और अत्यन्त अलकृत वर्णनों, दूरारूढ कल्पनाओ, विद्वत्तापूर्ण सन्दर्भों तथा अनावश्यक वस्तुव्यापार वर्णन से काव्य का कलेवर स्फीत हो गया है। किन्तु इस काव्य की सबसे बडी विशेषता यह है कि इसमे ग्राम्य जीवन और दृश्यो का बहुत ही यथार्थ और जीवन्त चित्रण हुआ है। शास्त्रीय माहकाव्य के लक्षणो की दृष्टि से देखने पर इसमे अनेक त्रुटिया भी दिखलाई पडती हैं। कथा सर्गबद्ध नहीं है और प्रारम्भ में मङ्गलाचरण, पूर्व कवियो की प्रशसा, सज्जन प्रशसा, दुर्जन निन्दा, राजा की प्रशसा, काव्यालोचना, प्राकृतभाषा की प्रशसा आदि बाते ऐसी हैं जो विशेष रूप से कथा आख्यायिका मे ही विस्तार के साथ पाई जाती हैं। कथा आख्यायिका की तरह ही इसमें कथान्तर के रूप मे प्रलय वर्णन, आदि अप्रासगिक बाते तथा यशोवर्मन का देशान्तर भ्रमण और बीच बीच मे उनकी प्रशस्ति भी भरी हुई है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि वाक्पतिराज ने इस काव्य मे बाणभट्ट के हर्षचरित और प्राकृत के छन्दोबद्ध कथाकाव्यों की शैली का समन्वय किया है और साथ ही परम्पराबद्ध शास्त्रीय महाकाव्य की रूढियों का भी अप्रासगिक वस्तु व्यापार वर्णनों के रूप मे पालन किया है। अत इसे अलकृत काव्य शैली मे लिखा हुआ ऐतिहासिक चरित काव्य ही कहा जा सकता है। परम्परा से इसे महाका य माना जाता है किन्तु वस्तुत यह महाकाव्य पद का अधिकारी नहीं है, जैसे बाण का हर्षचरित यदि छन्दोबद्ध रूप मे होता तो भी महाकाव्य नही माना जाता।

अपभ्रंश के महाकाव्य

ईसा की दूसरी शताब्दी के बाद लोकभाषा प्राकृत अपभ्रंश के रूप मे बदलने लगी थी और जैसा डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने सिद्ध किया है, कालिदास के नाटकों मे प्राप्त अपभ्रंश की रचनाओ के आधार पर कहा जा सकता है कि चौथी शताब्दी के आसपास अपभ्रंश मे अच्छी रचना होने लगी थी[1]। प्रो० हीरालाल जैन का मत है कि 'छठी शताब्दी मे अपभ्रंश काव्य सस्कृत और प्राकृत काव्य की बराबरी मे आ बैठा था इसमे तो कुछ सदेह है ही नहीं'[2] इस मत की पुष्टि वलभी के धरसेन के शिलालेख (५५९ और ५६९ इ० के बीच) से होती है जिसम कहा गया है कि धरसेन के पिता गुहसेन सस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश तीनो भाषाओ मे प्रबन्ध रचना करते थे[3]। अपभ्रंश के प्राचीनतम उपलब्ध ग्रथ आठवीं शताब्दी के हैं जिनमे पर्याप्त काव्यगत और भाषागत प्रौढता दिखाइ पडती है। अपभ्रंश मे साहित्य निर्माण का यह क्रम यो तो १६ वीं शताब्दी तक चलता रहा पर उसका उत्कर्षकाल ८ वी से १३ वी शताब्दी तक ही था। आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओ के उदय के साथ अपभ्रंश मुख्य रूप से जैन धम की भाषा होकर रह गयी और उसमे साहित्य रचना उत्तरोत्तर कम होने लगी। श्री अगरचन्द नाहटा के मतानुसार श्वेताम्बर सप्रदाय के जैन १३ वीं १४ वी, शताब्दी के पश्चात् अपभ्रंश मे रचना करना छोड कर तत्कालीन लोक भाषाओ मे रचना करने लगे, दिगम्बर सप्रदाय के जैन विद्वानों ने १६ वीं शताब्दी तक भी अपभ्रंश भाषा को अपनाये रखा[4]।" रइधू आदि जैन कवियो के काव्य ग्रथ इसके प्रमाण हैं।

१—'इडो आर्यन ऐड हिन्दी' डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, कलकत्ता, पृ० ९९।

२—अपभ्रंश भाषा और साहित्य, प्रो० हीरालाल जेन, नागरीप्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ५०–अक ३–४, पृ० १०६।

३—बम्बई गजेटियर, भाग १, पृ० ९०।

४—वीरगाथा काल का जैन भाषा साहित्य, ले० अगरचन्द नाहटा, ना० प्र० पत्रिका वर्ष ५०, अक १–२, पृ० १०।

ऊपर हम देख चुके हैं कि छठी शताब्दी से १३ वीं शताब्दी तक सस्कृत और प्राकृत मे भी अपभ्रश के समानान्तर रूप से काव्य रचना होती रही और जैन कवि इन तीनो ही भाषाओ मे समान विद्वत्ता और लगन के साथ काव्य रचना करते रहे। अत इस अवधि के बीच सभी भाषाओ के साहित्य मे काव्यरूपा, रूप शिल्प के विविध तत्वो और भाव विचारों मे बहुत अधिक साहश्य दिखाई पडता है। इसका एक कारण एक भाषा की साहित्यिक परम्परा का दूसरी भाषा के साहित्य को प्रभावित करना तो है ही, पर इसके और भी कई कारण हैं जो अधिक महत्वपूर्ण हैं।

अपभ्रश महाकाव्यो की कोटियाँ—इस शताब्दी के प्रारभ तक अप भ्रश भाषा और उसके साहित्य के बारे म लोगो को बहुत कम ज्ञान था किन्तु पिछले २० २५ वर्षो के भीतर गुणे, दलाल, मुनि जिनविजय, प्रो० हीरालाल, पी० एल० वैद्य, ए० एन० उपाध्याय, प्रो० भायाणी प्रभृत विद्वानों ने सतत् खोज कर के बहुत से अपभ्रश ग्रथो का पता लगा लिया है और अनेक सपादित होकर प्रकाशित भी हो चुके है। किन्तु अपभ्रश का विशाल साहित्य भाण्डार अभी बहुत कुछ अज्ञात और अप्रकाशित है, जब तक सभी महत्वपूर्ण ग्रथ प्रकाशित नहीं हो जाते या कम से कम उनका अध्ययन नही कर लिया जाता तब तक समूचे अप भ्रश साहित्य के बारे मे जो भी विवेचना की जायगी वह अन्तिम नहीं होगी। अत ज्ञात और प्रकाशित ग्रथो को अपने अध्ययन का आधार बना कर यहाँ विचार किया जा रहा है। प्रारभ ही मे यह कह देना आवश्यक है कि विषय वस्तु और शैली के कुछ तत्वों की दृष्टि से उपलब्ध अपभ्रश काव्य प्राकृत काव्यों के समान ही हैं, अत प्राकृत महाकाव्यो के सम्बन्ध मे जो बाते कही गयी हैं, वे ही बहुत कुछ अपभ्रश के महाकाव्यों पर भी लागू होती हैं। अपभ्रश ने प्राकृत की काव्य परम्परा का पूणत निर्वाह किया और अलकृत शास्त्रीय महाकाव्यों को छोडकर उसकी अन्य सभी प्रवृत्तियों तथा काव्य रूपों को अपनाया है। पहले पहले हम कह आये हैं कि सस्कृत मे चार प्रकार—शास्त्रीय, पौराणिक, रोमाचक (रोमाण्टिक) और ऐतिहासिक शैली—के महाकाव्य हैं, और प्राकृत मे तीन ही शैलियों के काव्य अधिक हैं। ऐतिहासिक चरित काव्य 'गउडवहो' है पर उसकी शैली शास्त्रीय ही है अत उसे ऐतिहासिक शैली का नही माना गया है। अपभ्रंश में जो काव्य उपलब्ध हुए हैं उनमे केवल दो शैलियो के ही काव्य है —

१—पौराणिक शैली

२—रोमाचक शैली

पुराण, कथा और चरित काव्य—उपर्युक्त दोनो ही शैलियो के काव्यो को चरित काव्य कहा गया है। सस्कृत के चरित काव्य चारो ही शैलियो के मिलते हैं, प्राकृत मे तीन शैलियो क और अपभ्रश मे उपयुक्त दो शैलियो के। कहने का तात्पर्य यह कि चरित नाम से काव्य रचना की प्रथा उस समय इतनी लोकप्रिय हो गयी थी और जैन परम्परा म उसका इतना महत्व था कि उपलब्ध काव्यों मे से अधिकाश चरित नाम वाले हैं। किन्तु इस नाम के कारण भ्रम भी उत्पन्न हो सकता है क्योकि चरित नाम से बहुत से पुराण भी लिखे गये हे और पुराण नाम के अनेक काव्य ग्रथ नी हैं। उसी तरह 'कहा' या 'कथा' नामधारी कई ग्रथ वस्तुत रामाचक चरित काव्य या धमकथा हैं। पौराणिक काव्य और चरित काव्य के सबध मे धाहिल विरचित 'पउमसिरिचरिउ' की भूमिका मे प्रो० हरि वल्लभ भायाणी ने लिखा है 'कि स्वरूप की दृष्टि से अपभ्रश के पोराणिक काव्यों और चरित काव्यों मे बहुत अ तर नही है। पौराणिक काव्यो म विषय का निस्तार बहुत अधिक होने से सन्धियो की सख्या ५० से सवा सौ तक होती है जब कि चरित काव्यो मे विषय विस्तार मर्यादित होता है जिससे सन्धि सख्या अधिक नहीं होती। शेष बातों—जैसे सन्धि, कडवक, तुक, पक्तियुगल आदि दानो मे कोई भेद नहीं है। किन्तु सभी चरित काव्य कडवकबद्ध हो, यह बात भी नहीं है, हरिभद्रकृत 'णेमिणाह चरिउ' आद्यन्त रड्डा छ द म है[1]।'

किन्तु वस्तुत अपभ्रश मे पौराणिक और चरित काव्य का भेद करना ही गल्त है क्योकि उसमे प्राय सभी काव्य पौराणिक भी हैं और चरित काव्य भी हैं। उदाहरणार्थ स्वयम्भू क 'रिट्ठणेमिचरिउ' का नाम हरिवश पुराण भी है और पुष्पदत का महापुराण 'त्रिसट्ठिपुरिषगुणालकार' भी कहलाता है। भेद पुराण और काव्य में किया जा सकता है जैसा सस्कृत और प्राकृत के प्रसग म हमने किया है। उसी तरह कथा और काव्य का भेद भी अपभ्रश मे वैसा नहीं रह गया जैसा प्राकृत और सस्कृत मे था। अत यह कहना कि अपभ्रश मे 'प्रबन्ध काव्या के भी कई भेद हैं, कुछ तो चरित हैं, कुछ कथा और कुछ पुराण' निराधार है। वस्तुत अपभ्रश में ये तीनो परस्पर इतने घुलमिल गये हैं कि उन सब का सम्मिलित नाम चरित काव्य दे दिया गया है, अथात् प्रधानता उनमे काव्य की ही है पोराणिकता, ऐतिहासिकता या मात्र कथा वर्णन की नहीं। पुराण की परम्परा भी अपभ्रश म सस्कृत के हिन्दू पुराणो जैसी नहीं है। दिगम्बर जैन आगम के

१—धाहिल विरचित 'पउमसिरीचरिउ'—भूमिका (गुजराती), भूमिका लेखक श्री हरिवल्लभ भायाणी, विद्याभवन, बबई, २००५, पृ० १५।

प्रथमानुयोग मे तीर्थंकरों और अन्य महापुरुषो के जीवन चरित वर्णित है, उमी का परजता और विस्तृत रूप महापुराण है, इस तरह ये हि दू पुराणो के ढग के सर्ग, प्रतिसर्ग, वश, मन्व तरादि से युक्त पुराण नही है। जिनसेन ने अपने आदि पुराण मे कहा है कि 'यह ग्रथ महापुराण' इसलिए कहा गया है कि उसमे तीर्थंकरों, चक्रवर्तियो, बलदेवो, वासुदेवों और प्रति वासुदेवो प्रभृत प्राचान महापुरुषो का चरित वर्णित है और इसम महान उपदेश और श्रेयस्कर अनुशासन की बाते लिखी गयी हैं। अन्य लागो का कहना यह है कि पुराने कवियो की मूल रचना होने से यह पुराण कहलाता है[1]। कुछ जेनी इतिहास और पुराण मे यह भेद मानते हैं कि इतिहास एक पुरुष की कथा होता है और पुराण तिरसठ पुरुषों की जीवन कथा है[2]। किंतु सच तो यह है कि अपभ्रश मे जैन कविया ने पौराणिक कथावस्तु को भी काव्यात्मक रूप मे ही लिखा है। अत पुराण नाम से प्रचलित अधिकाश अपभ्रश ग्रथ काव्य ही माने जाने चाहिये, पुराण नही। अधिक से अधिक उन्हें पौराणिक शैली के प्रबन्ध या महाकाव्य कह सकते हैं। 'कथा' नाम देकर लिखे गये अपभ्रश काव्यों के सम्बन्ध मे भी यही बात लागू होती है। 'भविषयत कहा' जैसे कुछ ग्रथ कथात्मक होते हुए भी महाकाव्य ही माने जाते हैं कथा नही। सस्कृत प्राकृत का कथा आख्यायिका वाला काव्य रूप अपभ्रश मे नही के बराबर है। शुद्ध कथा रूप मे जो रचानाये प्राप्त हैं वे धर्म कथाये हैं, काव्य नही। चरित कथा और पुराण की तरह ही रासक, चर्चरी, फाग, लता, वेलि, रसायन, कौमुदी, सकीर्तन, प्रकाश, विलास, विजय, अभ्युदय आदि नाम देकर भी इस काल में प्रशस्तिमूलक प्रबन्ध काव्य लिखने की प्रथा प्रचलित हो गई थी जैसे अपभ्रश मे भरतबाहुबलिरास, स्थूलभद्ररास, सदेश रासक, कीर्तिलता और सस्कृत मे धर्मशर्माभ्युदय, पृथ्वीराज विजय, सुकृत सकीर्तन, कीर्ति कौमुदी आदि। अत नाम देखकर काव्य रूप का निर्णय नहीं किया जा सकता।

प्रमुख महाकाव्य—यद्यपि अपभ्रश के साहित्यिक उत्कर्ष का काल ८वीं शताब्दी से १२वीं शताब्दी तक का ही है किन्तु उसमे १६वी १७वा शताब्दी तक काव्य रचना होनी रही और छोटे बडे सभी प्रकार के प्रबन्ध काव्य लिखे जाते रहे।

१—महापुराण (सस्कृत), जिनसेन, पृ० २०-२३।

२—अइहास एक पुरुषाश्रिता कथा, पुराण त्रिषष्टि पुरुषाश्रिता कथा पुराणानि। पुष्पदन्त के महापुराण मे १ ९ ३ की टिप्पणी, श्री पी० एल० वैद्य द्वारा महापुराण भाग १ की भूमिका पृष्ठ ३२ में उद्धृत।

अपभ्रंश के प्राचीन कवि स्वयम्भु ने हरिवंश पुराण की उत्थानिका म लि है कि मुझे इ द्र से व्याकरण, भरत से रस, व्यास से विस्तरण, पिंगल से छन्द भामह और दण्डी से अलकार, बाण से घनघनाता हुआ शब्दाडम्बर, हरिसे (या हर्ष) तथा अन्य कवियों से कवित्व और चतुर्मुख से दुवइ और ध्रुव से जडा हुआ पद्धडिया छन्द मिला[1]। इससे पता चलता है कि स्वयम्भु भी पहले चतुर्मुख नाम के अपभ्रंश के महाकवि हो चुके थे जिन्होंने कडवकबद्ध प्रबन्ध रचना का प्रारभ किया था उसमे प्रसिद्धि प्राप्त की। प्रो० हीरालाल जै का अनुमान है कि 'चतुर्मुख, देव ने महाभारत की पूरी या खण्डरूप से रचन की थी[2]।' उनका कोई ग्रथ अभी तक प्राप्त नही हुआ है। अपभ्रंश के परवत कवि परम्परा से चतुर्मुख स्वयम्भु और पुष्पद त को सर्वप्रमुख स्थान देते रहे हैं। स्वयम्भु पुत्र त्रिभुवन स्वयम्भु ने चतुर्मुख के अतिरिक्त द ती और भद्र इन दो अन्य कवियो का भी उल्लेख किया है पर आज इनकी रचनायें भी उपलब्ध नहीं हैं। बाण ने हर्षचरित म भाषा कवि ईशान का उल्लेख किया है जो सभवत अपभ्रंश के ही कवि थे पर उनका भी नाम ही नाम प्राप्त है। इस तरह प्राप्त होने वाले महाकाव्यों म प्राचीनतम स्वयभु के पउमचरिउ और हरिवंश पुराण हैं। उसके बाद से १७ वी शताब्दी तक के ऐसे प्रमुख प्रबन्ध काव्या की, जि हे परम्परागत परिभाषा के अनुसार महाकाव्य माना जा सकता है, सूची नीचे दी जा रही है —

१—पउमचरिउ (रामायण)	स्वयम्भु	९० सधिया (१२ हजार श्लोक)	८ ९शताब्दी
२—रिट्ठणेमिचरिउ (हरिवंशपुराण)	स्वयम्भु	११२ सन्धिया (१८ हजार श्लोक)	८ ९वीं शताब्दी

१—'इन्देण समप्पिउ वायरणु। रस भरहें वासे वित्थरणु।
पिंगलेण छन्द पय पत्थारू। भम्मह दडणिहि अलकारु।
वाणेण समप्पिउ वणघणउ। ते अक्खर—डम्बर घण घणउ।
हरिसेणि पाणिउ णित्तणउ। अवरेहि मि कइहि कविचणउ।
छन्दणिय दुवइ धुवएहिं जडिय। चउमुहेण समप्पिय पद्धडिय॥'

हरिवंशपुराण।

२—अपभ्रंश भाषा और साहित्य—ले० प्रो० हीरालाल जैन, ना० प्र० पत्रिका-वर्ष ५० अक ३-४, पृ० १०९।

३—महापुराण (त्रिषष्ठिपुरिसगुणालकारु)	पुष्पदन्त	११२ सन्धिया (२० हजार श्लोक)	दसवी शताब्दी
४—भविसयत्तकहा	धनपाल	२२ सन्धिया	दसवीं शताब्दी
५—सुदसणचरिउ	नयनन्दि	१२ सन्धिया	दसवीं शताब्दी
६—हरिवशपुराण	धवल	१२२ सन्धिया	दसवीं शताब्दी
७—जम्बूसामिचरिउ	वीर कवि	११ सन्धिया	ग्यारहवी शताब्दी
८—पासुपुराणु	पद्मकीर्ति	१८ सन्धिया	ग्यारहवी शताब्दी
९—पासचरित	विबुधश्रीधर	१२ सन्धिया	बारहवीं शताब्दी
१०—णेमिणाहचरिउ	हरिभद्र सूरि		बारहवीं शताब्दी
११—विलासवईकहा	साधारण (सिद्धसेन)	११ सधिया	स० ११२३
१२—करकण्डुचरिउ	मुनि कनकामर	११संधिया	१२वी शताब्दी
१३—पज्जुण्ण कहा (प्रद्युम्नकुमार चरित) (रइधू १)	सिद्ध तथा सिंह	१५सन्धिया	१२वी शताब्दी
१४—जिणदत्तचरिउ	कवि लक्ष्मण	६ सन्धिया (४ हजार पद्य)	१३वी शताब्दी
१५—पाण्डवपुराण	भट्टारक यश कीति	११ सधिया	१५वीं शताब्दी
१६—च दप्पहचरिउ	,,	,,	,,
१७—बाहुबलिचरिउ	धनपाल	१८ सन्धिया	१५वीं शताब्दी
१८—सान्तिणाहचरिउ	शुभकीर्ति	१९ सन्धिया	सं० १५५१ के पूर्व
१९—मेहेसरचरिउ (मेघेश्वरचरित या आदिपुराण)	पंडित रइधू	१४ सन्धिया	१५वीं शताब्दी
२०—पद्मपुराण (बलभद्रपुराण)		,,	,,
२१—सिद्धचक्कमाहप्प (सिरिवालकहा श्रीपाल कथा)	पडित रइधू	१० सन्धिया	१५वीं शताब्दी
२२—सम्भवणाहचरिउ	तेजपाल	१० सन्धिया	१५वी शताब्दी
२३—णायकुमारचरिउ	माणिकराज	९ सन्धिया (२३ सौ पद्य)	१६वीं शताब्दी
२४—सान्तिणाहचरिउ	महीन्दु (महीचन्द्र)	१३ सन्धिया	१६वीं शताब्दी
२५—वड्ढमाणकव्वु (वर्धमान काव्य)	जयमित्र हल्ल	११ सन्धिया	,, ,,

इनके अतिरिक्त बहुत से और भी छोटे खण्डका य प्राप्त हुए हैं जि
प्रब ध कौशल और विषय वस्तु का वि यास उपर्युक्त काव्यो जैसा ही है
प्रवृत्तियों और विशेषताओ के विश्लेषण के लिए प्रसगानुसार उनके सबंध
भी विचार किया जायगा। उपर्युक्त काव्यो मे सबसे महत्वपूर्ण प्रारम्भ के बार
ग्रथ हैं और उनमे भी सर्वोत्कृष्ट स्वयम्भू ओर पुष्पदन्त के महाकाव्य ही हैं
इस प्रकार हम देखते हैं कि जिस तरह सस्कृत मे चोटी के महाकाव्य प्रारम्भि
कवियो व्यास, वाल्मीकि और कालिदास के हैं और प्राकृत मे प्रारम्भिक कवि
विमल सूरि का पउमचरिय है, उसी तरह अपभ्रश मे भी प्रारम्भिक कवियो
स्वयम्भू, पुष्पदन्त और धनपाल के काव्य सर्वाधिक मौलिक और महत्वपूण हैं
बाद के अपभ्रश कविया ने उन्ही का अनुकरण मात्र किया है। अत महा
काव्य की जो परिभाषा पिछले अध्याय मे निश्चित की गयी है उसके अनुसा
सच्चे महाकाव्य के रूप में अपभ्रश के तीन ग्रथ—पउमचरिउ, रिट्ठणेमिचरि
और महापुराण—ही दिखाई पडते हैं। अन्य काव्य उन्हीं की शैली और विषय
वस्तु को लेकर परम्पराभुक्त घिसी पिटी प्रबन्ध रूढियों और कथानक सम्बन्धी
अभिप्रायों के आधार पर निर्मित हुए हैं। सच्चे अर्थ मे महाकाव्य न होते
हुए भी वे इसलिए अत्यत महत्वपूर्ण हैं कि उ हाने हिन्दी के महाकाव्यो को
बहुत गहराई तक प्रभावित किया है। इसालिए यहाँ उन पर भी विचार
किया जायगा।

पौराणिक शैली के महाकाव्य—जैसा ऊपर कहा जा चुका है, अपभ्रश
मे पौराणिक और रोमाचक इन दो ही शैलियों क महाकाव्य है। उसमे शास्त्रीय और
ऐतिहासिक शैली के महाकाव्यो का अभाव है। उनमे भी पौराणिक शैली के
सबस अधिक हैं। सस्कृत और प्राकृत के महाकाव्यो की शैली पर विचार करते
हुए कहा जा चुका है कि पौराणिक विषय या कथावस्तु होने से ही कोई काव्य
पौराणिक शैली का नहीं हो जाता। प्राकृत और अपभ्रश दोनो मे पौराणिक
शैली के तत्त्व एक से हैं। अपभ्रश के पौराणिक शैली क महाकाव्यो पर एक
दृष्टि डाल लेने के बाद उन तत्त्वा पर विचार किया जायगा। वे महा
काव्य ये हैं —

१—पउमचरिउ, २—रिट्ठणेमिचरिउ, ३—महापुराण, ४—धवलकृत हरि
वस पुराण, ५—पासचरित, ६—पासपुराण, ७—णेमिणाहचरिउ, ८—जिण
दत्तचरिउ, ९—यश कीर्ति कृत हरिवसपुराण, १०—पाडवपुराण, ११—
वड्ढमाणकव्वु, १२—शुभकीर्ति का सन्तिणाहचरिउ, १३—महान्दु का
सा तणाहचरिउ, १४—मेहेसरचरिउ और १५—पद्मपुराण या बलभद्रपुराण।

ये पौराणिक काव्य तीन प्रकार के हैं —

१—रामायण और महाभारत का जैन रूपान्तर उपस्थित करने वाले।

२—तिरसठ शलाकापुरुषो का जीवनवृत्त एक साथ वर्णन करने वाले।

३—पौराणिक पुरुषो का अलग अलग जीवनचरित वर्णन करने वाले।

रामायण महाभारत सबधी अपभ्रश महाकाव्य—आठवी शताब्दी मे स्वयम्भू ने पउमचरिउ और रिट्ठणेमिचरिउ नाम के दो विपुलकाय महाकाव्य लिखे जिन्हे मद्मपुराण या रामायणुपुराणु और हरिवशपुराण भी कहा गया है। इसवी सन् की पहली शताब्दा तक जैनों ने अपने पुराणों को पूर्ण रूप से विकसित कर लिया था और राम, लक्ष्मण, कृष्ण, बलदेव आदि ब्राह्मणों के पौराणिक पुरुषो को भी उन्होने अपने शलाकापुरुषो मे शामिल कर लिया था। वस्तुत उन्हाने ब्राह्मण धर्म को पराजित करने के लिए उन्हीं के अस्त्रों को छीन लिया था और इस तरह ब्राह्मण विचारधारा के प्रतिनिधि काव्य-ग्रथ महाभारत और रामायण की कथाओं का भी कुछ उलट फेर कर जैन महाभारत और जैन रामायण का रूप दे दिया था। पहली शताब्दी के प्राकृत महाकवि विमलसूरि का 'पउमचरिय' इसी प्रकार का जैन रामायण है जिसम वाल्मीकि रामायण की शैला का बहुत अधिक प्रभाव दिखाई पडता है। उसके बाद राम कथा क जैन रूपान्तर सस्कृत आर अपभ्रश म भी काव्य और पुराण रूप मे हुए। जैन राम कथा सबधा ये ग्रथ उपलब्ध हैं —

कवि	ग्रथ	काल	भाषा
१—विमलसूरि	पउमचरिय	पहली शताब्दी	प्राकृत
२—रविषेण	पद्मचरित	सातवीं शताब्दी	सस्कृत
३—गुणभद्र	उत्तरपुराण (रामायण और हरिवश)	नवीं शताब्दी	सस्कृत
४—स्वयम्भूदेव	पउमचरिउ	नवी शताब्दी	अपभ्रश
५—पुष्पदन्त	महापुराण के भीतर (पउमचरिउ)	१०वीं शताब्दी	अपभ्रश
६—हेमचन्द्र	त्रिषष्ठिशलाका पुरुषचरित के भीतर (पद्मचरित)	१२वीं शताब्दी	सस्कृत
७—पण्डित रइधू	पद्मपुराण (बलभद्रपुराण)	१५वी शताब्दी	अपभ्रश

स्वयंभू का पउमचरिउ—उपर्युक्त सूची से स्पष्ट है कि विमलसूरि का 'पउमचरिय' आदि जैन रामायण है। इस महाकाव्य के सम्बन्ध मे पहले विचार किया जा चुका है। जैन पुराणो के अनुसार राम, लक्ष्मण और रावण क्रमश वासुदेवो, बलदेवों और प्रतिवासुदेवों मे आठवे हैं और उनकी कथा का जैन पुराणों मे एक निश्चित स्वरूप है जो विमलसूरि के 'पउमचरिय' मे दिखलाइ पडता है। रविषेण ने पद्मचरित म विमलसूरि का इस सीमा तक अनुसरण किया है कि वह पउमचरिउ का भाषान्तर प्रतीत होता है[1]। दोनो मे अन्तर यही है कि पउमचरिय मे दस हजार के करीब श्लोक हैं तो पद्मचरित मे उन्हे बढाकर १८ हजार कर दिया गया है। स्वयभू ने अपने 'पउमचरिउ' मे रविषेण के पद्मपुराण का अनुसरण किया है और प्रारभ के ही दूसरे कडवक मे इसे स्वय स्वीकार किया है 'पुणु रविशेणायरिय पसाएँ। बुद्धिए अवगाहिय कइराए।' इस तरह अप्रत्यक्ष रूप से विमलसूरि का भी आधार उ होने ग्रहण किया है। कि तु स्वयभू का उद्देश्य महाकाव्य लिखना था, रविषेण की तरह पुराण नही। इसीलिये स्वयभू ने पद्मचरित के उन अशो को नही अपनाया है जो अप्रासगिक, अनावश्यक और अत्यधिक धार्मिक उपदेशो से युक्त थे, साथ ही उन्होंने पद्मचरित मे आई अनेक अवान्तर या प्रासगिक कथाओ को भा कुछ ही पक्तियो म लिखकर छुट्टी ले ली है। सभी जेन रामायणा की तरह पउमचरिउ भी पौराणिक शैली का है, रघुवश आदि की तरह विशुद्ध काव्यात्मक शैली का नही। इसका उद्देश्य धार्मिक है अत जैन पुराणों मे स्वीकृत रामकथा मे अधिक परिवर्तन करने या कल्पना द्वारा नइ बाते जोडने की स्वतत्रता कवि ने नही दिखलाई है। इसमे विद्याधरकाण्ड, अयोध्याकाण्ड, सुन्दरकाण्ड, युद्धकाण्ड और उत्तरकाण्ड ये पाँच काण्ड हैं और कुल ९० सधिया और १२९६ कडवक हैं। किसी कारणवश यह महाकाव्य ८२ सन्धियों तक ही रुक गया था और बाद मे स्वयभू के पुत्र त्रिभुवन स्वयंभू ने इसमं ८ स धिया और जोडकर पूरा किया। श्री नाथूराम प्रेमी का तो अनुमान है कि स्वयभू की योजना के अनुसार रामकथा ८२ सन्धियो मे ही समाप्त हो गई थी और त्रिभुवन स्वयभू ने जो अश बढाये हैं वे पउमचरिउ की प्रधान कथा के लिये अनिवार्य और प्रासगिक नहीं है[2]। यद्यपि डा० भयाणी इससे सहमत नहीं हैं[2] कि तु प्रेमी जी के कथन मे कुछ सच्चाई अवश्य है क्योंकि स्वयंभू

१—स्वयम्भूदेव का 'पउमचरिउ' भूमिका (अग्रेजी), विद्याभवन, बबई, प्रथम सस्करण, पृ० ४७।

२—वही पृ० ४३ ४४।

का लक्ष्य महाकाव्य लिखना था, पुराण नहीं। त्रिभुवन ने इसे पुराण बनाने के लिये ८ और सधिया जोडकर सात अधिकारों वाली पुराण की परम्परागत शर्त पूरी की। यद्यपि धार्मिक उपदेश और विवरण सग्रह पउमचरिउ मे भी है किन्तु स्वयभू का मन कथा का मनोरजक और सु दर रूप मे वर्णन करने मे अधिक रमा है। रसात्मकता और सौन्दर्य उत्पन्न करने के लिये कवि ने विभिन्न मर्मस्पर्शी भावो के चित्रण, प्राकृतिक दृश्यो और घटनाओं के वर्णन तथा वस्तु व्यापार के सश्लिष्ट और प्रासगिक निरूपण मे पर्याप्त मौलिकता और धार्मिक रूढियों से ऊपर उठकर स्वतत्रता की प्रवृत्ति का परिचय दिया है[1]।

काव्य शैली की दृष्टि से स्वयभू का महाकाव्य विशेष महत्व का है क्योकि अपभ्रश और हिन्दी के मध्यकालीन प्रबन्धकाव्यो मे जो काव्यरूढिया और शैलीगत विशेषताये दिखलाई पडती हैं उनमे से कुछ तो सस्कृत प्राकृत से आयी पर अधिकाश का प्रारभ चतुमुख और स्वयभू ने किया। काव्यारभ मे देवता की स्तुति, विषयवस्तु का निर्देश, अपनी असमर्थता और दीनता का निवेदन पूर्वकवि–प्रशसा, सज्जन प्रशसा तथा दुर्जन निन्दा, देशवर्णन, नगरवर्णन के साथ ही साथ राजनीति, दण्डनीति, अर्थनीति आदि का विशद वर्णन और कहीं कही विभिन्न वस्तुओं की नामावली और परिगणना आदि बातें ऐसी हैं जो सस्कृत के परवर्ती काव्यों तथा प्राकृत और अपभ्रश के प्राय सभी काव्यो मे समान रूप से पाई जाती हैं और हिन्दी के प्रबन्धकाव्यो मे भी ये रूढिया उसी तरह अपना ली गई हैं। इनके सबध मे हिन्दी महाकाव्यो के प्रसग मे विशेष रूप से विचार किया जायगा।

हरिवश पुराण—स्वयभू का दूसरा महाकाव्य हरिवशपुराण या रिट्ठणेमिचरिउ महाभारत के हरिवश का जैन रूपान्तर है। अपभ्रश मे इस विषय पर बहुत से काव्य लिखे गये हैं। दसवीं शताब्दी के कवि धवल का 'हरिवंश पुराण' पुष्पदत के महापुराण के भीतर हरिवश की कथा और १५वी, १६वीं सदी के कवि प० रइधू कृत हरिवश पुराण या रिट्ठणेमिचरिउ इसके उदाहरण हैं। किन्तु महाभारत और हरिवश सबधी जैन काव्य ग्रथो मे स्वयभू का हरिवशपुराण ही सर्वोत्कृष्ट है। इसकी काव्य शैली और बाह्यरूप विन्यास 'पउमचरिउ' के समान ही है पर आकार मे यह बहुत बडा है। इसमें कुल ११२ सधिया, १९३७ कडवक और १८ हजार श्लोक या ग्रथाग्रथ हैं। ग्रथ का प्रारभ पउमचरिउ के ढग से ही देवस्तुति, पूर्वकवि प्रशसा, विनम्रता प्रदर्शन आदि के बाद श्रेणिक और गणधर के प्रश्नोत्तर रूप मे हुआ है। वस्तुव्यापार

१—पउमचरिउ-भूमिका (अग्रेजी), पृ० ४८ ४९।

वर्णन, प्रकृति चित्रण, जलक्रीडा आदि का वर्णन महाकाव्य की प्रचलित शैली मे किया गया है। कलात्मकता और कथावस्तु के सघटन की दृष्टि से भी रिट्ठणेमिचरिउ पउमचरिउ के समान ही उत्कृष्ट कोटि का महाकाव्य है।

पुष्पदन्त का महापुराण—सभी शलाकापुरुषों के जीवनचरित का एक साथ वर्णन करने वाले ग्रन्थ जैन साहित्य मे महापुराण कहलाते हैं। पुष्पदन्त का १० वीं सदी (९६५ ई०) मे लिखा तिसट्ठिमहापुरिसगुणालङ्कार, जो महापुराण भी कहा जाता है, इसी प्रकार का पौराणिक चरितकाव्य है जिसमे अन्य जैन महापुराणों की तरह तिरसठ शलाकापुरुषो का चरित वर्णित है और इसीलिये जैनधर्म के अनुसार यह एक पुराण है। किन्तु पुष्पदन्त प्रधान रूप से कवि थे, पौराणिक नहीं। अत यह हि दू पुराणो के ढग का पुराण नहीं है बल्कि महाभारत के ढग का महाकाव्य और इतिहास पुराण दोनो ही है। पुष्पदन्त के सामने महाभारत का आदर्श अवश्य था क्योंकि जिस तरह महाभारत अपने बारे मे कहता है कि 'यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्' उसी प्रकार पुष्पद त ने भी महापुराण म कहा है—

अत्र प्राकृत लक्षणानि सकला नीति स्थितिच्छन्दसा
मर्थालङ्कृतयो रसाश्च विविधास्तत्वार्थनिर्णातय ।
किं चान्यद्यदिहास्ति जैनचरिते नान्यत्र तद्विद्यते
द्वावेनौ भरतेशपुष्पदशनौ सिद्ध ययोराद्दशम् ॥ ५९ वीं सधि—प्रारभिकप्रशस्ति।

महाभारत तो इतना ही कहता है कि 'जो यहाँ है वही अन्यत्र भी है, जो यहाँ नहीं है, वह अन्यत्र भी नही मिलेगा', पर पुष्पदन्त इससे भी आगे बढकर कहते हैं कि 'इस जैन चरित में जो कुछ है वह अन्यत्र कहीं नहीं मिलेगा।' महाभारत मे प्रधान या प्रासगिक कथा एक होने से कुछ अन्विति तो है, पर महापुराण में ६३ पुरुषो का चरित होने से अन्विति नहीं है। डाक्टर पी० एल० वैद्य का कहना है कि 'महापुराण मे महाभारत और रामायण के समान अन्विति नही है, अत यदि महाकाव्य की परिभाषा का कडाई से पालन किया जाय तो महापुराण को महाकाव्य नहीं कहा जा सकता।'[1] किन्तु महाकाव्य की जो

1 "The Mahapuran therefore is a work on the Lives of sixtythree great men of the Jain faith, and thus occupies the same place of importance as the Mahabharat or the Ramayan in Hinduism The Mahapuran however lacks the unity of the Mahabharat or of the Ramayan and therefore cannot be called an epic in the strictest sense of the term"

परिभाषा हमने पिछले अध्याय मे मानी है, उसके अनुसार महापुराण महाकाव्य अवश्य है। दिगम्बर जैन समाज मे जिनसेन—गुणभद्र के संस्कृत महापुराण और पुष्पदन्त के अपभ्रंश महापुराण का वैसा ही सम्मान और प्रचार है जैसा हिन्दू समाज मे रामायण, महाभारत और तुलसी के रामचरित मानस का। इसके अतिरिक्त कवि ने शैली की दृष्टि से इसे महाकाव्य बनाने का ही प्रयत्न किया है और प्रत्येक सन्धि के अन्त मे पुष्पिका मे इसे महाकाव्य कहा भी है, जैसे महापुराणे तिसट्ठिमहापुरिस गुणालकारे महाकइ पुष्पदतविरइए महाभव्वमरहाणु मारणिए महाकव्वे।' यह सच है कि इसम रामायण महाभारत की तरह कथान्विति नहीं है पर रघुवश जैसी भावान्विति अवश्य है। अनेक आदर्श पुरुषों की समग्र जीवन गाथा वणन करने वाले काव्य भी महाकाव्य हो सकते हे, यदि उनमे उद्देश्य की महत्ता, शैली की उदात्तता और गरिमा तथा भाव सौन्दर्य और वस्तु व्यापार वर्णन आदि के द्वारा रस उत्पन्न करने की क्षमता हो। इस कसौटी पर कसने पर महापुराण एक उच्चकोटि का महाकाव्य सिद्ध होगा। साथ ही पूर्व कवि प्रशसा, विनम्रता प्रदर्शन तथा सज्जन प्रशसा, दुर्जन निन्दा आदि अनेक ऐसी काव्यरूढियो का भी इसमे उपयोग हुआ है जो अपभ्रंश और हिन्दी के चरित काव्यो मे सामान्यतया व्यवहृत होती आई हैं।

पौराणिक शैली के वैयक्तिक पुरुषो के चरित काव्य—अनेक धामिक पुरुषो का एक साथ जीवन चरित वर्णन करने वाले काव्यो के अतिरिक्त, अपभ्रंश मे अनेक ऐसे पौराणिक शैली के काव्य भी लिखे गये हैं जिनमे किसी एक ही धार्मिक पुरुष का चरित वर्णित है। ऐसे काव्यो की विशेषता यह है कि उनमे किसी पौराणिक या धामिक व्यक्ति की जीवन-कथा जैन परम्परा मे स्वीकृत ढग से कही जाती है, कवि अपनी कल्पना शक्ति से कथा के रूप मे अधिक परिवर्तन नहीं कर सकता और विषय प्रतिपादन का उद्देश्य बोध प्रधान, उपदेशात्मक या प्रचारात्मक होता है। साराश यह कि इस प्रकार के चरित काव्य काव्यात्मक धर्मकथा होते हैं और पुराणो या धमग्रन्थो के समान ही उनका आदर होने लगता है जेसा हिन्दी मे तुलसी के रामचरित मानस का होता है। ऐसे अपभ्रंश काव्यो मे विशेष उल्लेखनीय ये हैं। १—जम्बूस्वामीचरिउ (वीर कवि), २—पासचरित (विबुध श्रीधर), ३—पासुपुराण (पद्मकीर्ति), ४—णेमिणाह चरिउ (हरिभद्र), ५—सान्तिणाहचरिउ (शुभकीर्ति), ६—चदप्पहचरिउ (भट्टारक यश कीर्ति), ७—बाहुबलिचरिउ (धनपाल), ८—सम्भवणाह-

Introduction of the Mahapuran of Puspadant—Vol I by P L Vaidya Bombay, 1937

चरिउ (तेजपाल), ९—सान्तिणाहचरिउ (महीन्द्र), १०—वड्ढमाणकव्वु (जयमित्र हल्ल)।

इन काव्यो मे महाकाव्यत्व और प्राचीनता की दृष्टि से वीर कवि का जम्बूस्वामीचरिउ और हरिभद्र का णेमिणाहचरिउ ही विशेष महत्व के हैं। इन काव्यो मे णेमिणाहचरिउ का एक अश 'सनत्कुमारचरिउ' याकोबी द्वारा सपादित होकर प्रकाशित हो चुका है, शेष अन्य काव्य अभी प्रकाशित नहीं हुये हैं। जम्बूस्वामीचरिउ म अन्तिम केवली जम्बू स्वामी का जीवन चरित ११ सधियो मे वर्णित है[1]। कवि ने प्रत्येक सधि के अत मे पुष्पिका मे इसे शृगार वीर महाकाव्य कहा है। अय पौराणिक अपभ्रश महाकाव्यों की भाति इसका प्रारभ भी मगलाचरण, कथा निर्देश, सज्जन दुर्जन चर्चा, पूर्व कवि प्रशस्ति आदि के बाद श्रेणिक और वर्धमान के प्रश्नोत्तर के रूप मे हुआ है। इसम युद्ध और शृगारिक वर्णनो की प्रधानता है। इसीलिये कवि ने इसे शृगार वीर-महाकाव्य कहा है पर इसका समग्र प्रभाव वैराग्य भावना की पुष्टि करनेवाला ही है और इस तरह इसे शान्त रस का महाकाव्य मानना चाहिये। इसकी दूसरी विशेषता यह है कि इसमे धर्मकथा, महाकाव्य और रोमाचक कथा तीनो के गुणो का सुन्दर सामजस्य हुआ है। अपभ्रश के परवर्ती प्रबन्ध काव्यों मे युद्ध वर्णन और वीरता की प्रवृत्ति अधिक नहीं मिलती पर इस महाकाव्य मे इसकी समुचित योजना हुई है। यह अपभ्रश मे अपने ढग का निराला काव्य है क्योकि इसमे पौराणिक और रोमाचक दोनो शैलियाँ मिलनी हैं। हरिभद्र के णेमिणाहचरिउ को जैसलमेरीय भाण्डागारीय ग्रन्थाना सूची' मे प्राकृतापभ्रश भाषा निबद्ध कहा गया है पर याकोबी ने इसे अपभ्रश का ग्रथ कहा है। इसम २२वें तीर्थकर नेमिनाथ के नौ भवों का वर्णन है। णेमिणाह-चरिउ अपभ्रश के काव्या मे विशिष्ट और सर्वाधिक क्लिष्ट काव्य है। यह एक उत्कृष्ट काटि का महाकाव्य है क्योंकि यद्यपि इसमे जैन पुराणो द्वारा अनुमोदित कथा के स्वरूप मे परिवर्तन नहीं किया गया है पर अलकृत महाकाव्यों की शैली मे रोमाचक दृश्यो और प्राकृतिक वस्तुओ क वर्णन का पूर्ण प्रयत्न किया गया है[2]। यद्यपि इस महाकाव्य मे अलकृत शास्त्रीय महाकाव्यों की सभी रूढियों को

१—देखिये—(अ) अपभ्रश भाषा का जम्बूसामिचरित और महाकवि वीर लेखक पण्डित परमानन्द जैन शास्त्री, प्रेमी अभिनन्दन ग्रथ पृ० ४३९।

(ब) अपभ्रश का एक शृगार वीर काव्य, वीर कृत जम्बूस्वामी चरित, ले० श्री रामसिंह तोमर, अनेकान्त—अक्तूबर १९४८, पृ० ३९४।

2—There were also religious novels written entirely in ver

अपनाया गया है और शृगार तथा वीर रस की भी योजना हुइ है किंतु इसका समग्र प्रभाव वैराग्यमूलक है और इसमे शान्त रस की ही प्रधानता है।

पौराणिक महाकाव्यो की सामान्य विशेषताएँ—ऊपर जिन महाकाव्यो पर विचार किया गया है वे सभी जैन लेखको द्वारा लिखे जैन पौराणिक पुरुषो से सबधित ग्रथ हैं। हिन्दू पुराणो से सम्बन्धित और हिन्दू कवियो द्वारा अपभ्रश म पौराणिक महाकाव्य लिखे गये या नहीं, इस सम्बन्ध मे निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता। किन्तु इन जैन पौराणिक महाकाव्यो मे कुछ ऐसी सामान्य विशेषताएँ है जिनका प्रभाव परवता काल मे हिन्दा के पौराणिक महाकाव्यों—जैसे रामचरित मानस पर बहुत अधिक पडा है। अत या तो ८ वी शताब्दी से प द्रहवी शताब्दी तक लोक भाषाआ मे पोराणिक शैली के महाकाव्यों की विशेष रूढियाँ बन गयी थी जिन्हे तुलसीदास ने भी अपनाया है या इन्ही जैन पुराणो की शैली ही उन्होने अपना ली है। वे सामान्य विशेषताये ये हैं —

१—इन सबमे जैन पुराणो के शलाकापुरुषों का जीवनचरित लिखा गया है, सबके कथानक पुराण सम्मत हैं, उनमे कवियों ने कल्पना द्वारा परिवर्तन करने की स्वतत्रता नही दिखाई है।

२—सबमे चरित नायको और उनसे सम्बन्धित व्यक्तियो के विभिन्न जन्मों की कथा, प्रधान कथा के आवश्यक अग के रूप मे कही गयी है।

३—भावान्तर-वर्णन का कारण कर्मफल प्राप्ति मे अडिग आस्था है और उसका उद्देश्य जैन धर्म का उपदेश देना है। परिणामस्वरूप ये सभी महाकाव्य वैराग्यमूलक और शान्तरस पर्यवसायी हैं, क्योंकि उनमे नायकों का साधु हो जाना और निर्वाण प्राप्त करना अवश्य दिखाया गया है। जगह जगह जैन धर्म के सिद्धा तो का उपदेश भी मिलता है।

४—उन सबमे लोक विश्वासों और लोककथाओ पर आधारित रोमाचक, अलौकिक और अप्राकृत तत्त्वो का समावेश अवश्य हुआ है जैसे देवता, यक्ष, ग धर्व, विद्याधर आदि के अलौकिक कार्यो, मत्त गज से युद्ध, मुनियो का श्राप, आकाश मे उडना आदि का वर्णन।

५—सबका प्रारम्भ एक ही प्रकार से हुआ है, जैसे तीर्थकरो आदि की स्तुति, पूव कवियो और विद्वाना का स्मरण, सज्जन प्रशसा, दुर्जन निन्दा, काव्य रचना मे प्रेरणा और सहायता करने वालो की स्तुति, विनम्रता प्रदशन और काव्य विषय के

se A romantic epic of this kind is the Bhavisattkaha' in Apabhransh by a poet Dhanval (Sanskrit Dhanpal) History of Indian Literature Vol II—p 532

महत्व का वर्णन, मगध देश और राजगृह का वर्णन, श्रेणिक महाराज की प्रशसा, महावीर वर्धमान का राजगृह में समवसरण, श्रेणिक का उसमे जाना और उनसे प्रश्न करना। फिर वक्ता गणधर गौतम या वर्द्धमान और श्रोता श्रेणिक के प्रश्नोत्तर के रूप मे पूरी कथा कही जाती है।

६—यद्यपि ये सभी पौराणिक विषयो पर लिखे गये धार्मिक काव्य हैं पर इनमे शृङ्गार और युद्ध का वर्णन भी मिलता है। कथा के भीतर अवसर मिलते ही कवियों ने प्राकृतिक वस्तुओ—सध्या, प्रभात, चन्द्रमा, नदी, सागर, पर्वत आदि—का सुन्दर चित्रण किया है और स्त्रियो के शारीरिक सौन्दर्य, जलक्रीडा, सुरति आदि के वर्णन से भी परहेज नहीं किया है। रण प्रयाण, युद्ध, कुमार जन्म, विवाहोत्सव आदि के विशद वर्णन द्वारा उन्होंने समग्र जीवन का चित्र उपस्थित करने का भी प्रयत्न किया है। वस्तुत जैन कवियो ने वर्णन मे ही स्वतन्त्रता दिखाइ है, कथा मे बिलकुल नही।

रोमाचक शैली के महाकाव्य—रोमाचक काव्यों मे उल्लेखनीय ग्रथ ये हैं—१—भविसयत्तकहा (धनपाल), २—सुदसणचरिउ (नयनन्दि), ३—विलासवईकहा (साधारण कवि), ४—करकडुचरिउ (कनकामर), ५—पज्जुण्ण कहा (सिद्ध तथा सिंह), ६—जिणदत्तचरिउ (कवि लक्ष्मण), ७—णायकुमार चरिउ (माणिकराज), ८—सिद्धचक्कमाहप्प (रइधू)।

इनमे से 'भविसयत्त कहा' ही ऐसा ग्रथ है जिसे निश्चित रूप से महाकाव्य माना जा सकता है। दसवीं शताब्दी के कवि धनपाल ने श्रुतपचमीव्रत का माहात्म्य प्रकट करने के लिए दृष्टान्त रूप मे इस महाकाव्य की रचना की। हरिभद्र के प्राकृत कथा ग्रथ 'समराइच्चकहा' का प्रभाव इस काव्य पर स्पष्ट दिखलाई पडता है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि अपभ्रश मे कथा और काव्य का अन्तर नही रह गया था, अत यद्यपि धनपाल ने अपने ग्रथ को कथा ही कहा है, 'निसुणतह एह णिम्मल पुण्णपवित्त कह (१ ४)' पर इसकी शैली महाकाव्य की ही है। इसीलिए विण्टरनित्स ने इसे कथा के ढग का रोमाचक महाकाव्य (रोमाण्टिक एपिक) माना है[1]। इसमे प्रारभ मे जिन वदना के बाद प्रचलित रीति से विनम्रता का प्रदर्शन और सज्जन प्रसशा, दुर्जन निन्दा की गयी है, फिर सक्षेप मे कहा गया है कि यह कथा गणधर गौतम न श्रेणिक से श्रुतपचमी का महत्व पूछने पर कही थी। इसके बाद कुरुजगल देश, गजपुर नगर भूपाल नामक राजा और धनपाल नामक राजश्रेष्ठि के वर्णन के साथ सीधे

१—देखिये पृष्ठ २१९ टिप्पणी न० २

कथा का प्रारभ हो गया है। इस ग्रथ का पूर्वार्द्ध रोमाचक और साहसिक यात्रा वर्णनों और आश्चर्यजनक घटनाओं से भरा है और उत्तरार्द्ध मे युद्ध तथ पूर्व भवो का वर्णन है। इस तरह यह किसी लोक प्रचलित कथा का जैन रूपातर प्रतीत होता है। महेश्वरसूरि (१०वी शताब्दी) के प्राकृत ग्रथ 'पचम कहा' मे भी यह कथा आयी है। अत धनपाल के पहले से ही भविष्यदत्त क कथा का जैन रूपातर हो गया होगा। २२ सन्धियो मे कवि ने रोमाच दृश्यो, प्राकृतिक वस्तुओं, युद्ध और प्रेम की क्रियाओ का विशद चित्रण औ अलकृत वर्णन किया है जिससे इसके महाकाव्य मानने मे कोइ बाधा नही रह जाती है। पिछले अध्याय मे रोमाचक महाकाव्य की जो विशेषताएँ बताई गयी हैं वे सभी, विशेषकर अधिकाश कथानक रूढिया जैसे उजाड नगर का मिलना, गन्धर्व से भेट और उससे सहायता की प्राप्ति, निर्जन मे राजकुमारी से भेट और विवाह, आदि इसमे मिलती हैं।

दूसरा महत्वपूर्ण काव्य जिसे एक लघु रोमाचक महाकाव्य माना जा सकता है, मुनि कनकामर का करकडुचरिउ है। यह दस सधियो का सुदर और अन्य काव्यो की अपेक्षा सरल अपभ्रश काव्य है। इसमे बौद्धों और जैनों मे समान रूप से प्रत्येकबुद्ध के रूप मे मान्य करकण्डु महाराज का जीवन चरित वर्णित है। इसका प्रारभ भी प्रचलित रीति से हुआ है, पहले कडवक मे जिन वन्दना, दूसरे मे सरस्वती वन्दना, दुर्जन निन्दा, सज्जन प्रशसा, विनम्रता प्रकाशन और पूर्व कवियो का स्मरण, तीसरे मे अग देश का सुन्दर वर्णन और चौथे म चम्पानगरी के वर्णन के बाद धाडीवाहन राजा और पद्मावती के विवाह और करकण्डु के जन्म से कथा का प्रारभ हो गया है। इसम करकण्डु नरेश के युद्धों ओर विवाहों का वर्णन है। इसमे आठ अवान्तर कथाएँ कही गयी हैं और अलौकिक तथा अप्राकृत तत्त्वो और विविध कथानक रूढ़ियों, जैसे विद्याधर की सहायता, दोहद कामना, मुनि का शाप, पचदिव्याधिवास आदि, की योजना द्वारा कथा सूत्र को आगे बढाया गया है। करकण्डुचरिउ प्रधान तया एक प्रेमाख्यानक काव्य है जिसमे करकण्डु के मदनावली से विवाह, विद्याधर द्वारा मदनावलीहरण, सिहलयात्रा और सिहल की राजकन्या रतिवेगा से विवाह, लौटते समय समुद्र मे मच्छ का आक्रमण और विद्याधरी द्वारा करकण्डु का हरण, विद्याधरी से विवाह, रतिवेगा से मिलन, मदनावली से मिलन आदि की रोमाचक कथा कही गयी है। इसमे ९ अवान्तर कथाये हैं जो दो व्यक्तियों के बीच वार्तालापरूप मे कही गयी हैं। इन अवान्तर कथाओं में भी अनेक कथानक रूढ़िया मिलती हैं जिससे स्पष्ट है कि ये तत्कालीन लोक-

प्रचलित कथाओ से ली गयी हैं। अन्तिम कुछ सन्धियो मे करकण्डु तथा अन्य लोगा के भवान्तर की कथा मुनिराज शीलगुप्त द्वारा कहवाई गयी हैं और अन्त मे करकण्डु के मुनि होने तथा केवल ज्ञान और मोक्ष प्राप्त करने की कथा कही गयी है। इस प्रकार करकण्डु चरिउ पचकल्याण विधान का फल दिखाने के लिए लिखा गया है किन्तु इसमे धर्मकथा और प्रेमाख्यानक काव्य का सुन्दर सामजस्य हुआ है और वणन सौन्दर्य तथा कथा प्रवाह का भी समुचित योग हुआ है। हिन्दी के मध्यकालीन प्रेमाख्यानक काव्य—विशेष रूप से पद्मावत भविसयत्तकहा और करकण्डुचरिउ से बहुत मिलते जुलते हैं, अत यह स्पष्ट है कि प्रेमाख्यानक काव्य की परम्परा हिंदी मे अपभ्रश के प्रबन्ध काव्यों से ही आयी है।

अन्य काव्यों मे नयनन्दि का १२ सन्धियो वाला सुदसणचरिउ विचारणीय है, जिसमे पचनमस्कार मत्र का फल बताने के लिए सेठ सुदशन का चरित वर्णन किया गया है। पचनमस्कार मत्र की आराधना के फलस्वरूप एक सामान्य गोपाल गगा मे डूब कर मरने के बाद चम्पापुर मे सेठ ऋषभदास के पुत्र के रूप मे कामदेव का कमनीय रूप लेकर उत्पन्न होता है। उसके रूप की चारों ओर चर्चा फैल जाती है और चम्पापुर के राजा धाडीबाहन की रानी उस पर आसक्त होती, उसे अपने जाल मे फसाने का प्रयत्न करती और असफल होती है, फिर राजा से कह कर उस पर सतीत्वहरण करने का अपराध लगा कर फासी की सजा दिलवाती है पर अन्त मे एक देव द्वारा उसकी रक्षा होती है और राजा देव से युद्ध मे हार कर सुदर्शन को अपना राज्य देना चाहता है पर सुदशन दिगम्बर दीक्षा लेकर तपस्या द्वारा मुक्ति प्राप्त करता है। इस प्रकार यह काव्य भी भवान्तर से सबधित धार्मिकतापरक और शान्तरसपर्यवसायी है। बीच बीच मे प्रकृति चित्रण तथा नायिका भेद और वेश भूषा आदि का सुन्दर वणन हुआ है। पात्रो के चरित का मनोवैज्ञानिक चित्रण इस काव्य की विशेषता है। ग्रथ अभी अप्रकाशित है। पण्डित परमानन्द जैन शास्त्री ने इसे महाकाव्य कहा है[1] पर धार्मिक और उपदेशात्मक अधिक होने से इसे धम कथात्मक काव्य मानना ही अधिक समीचीन है।

प्राकृत की 'लीलावइ कहा' के ढग का काव्य अपभ्रश मे साधारण कवि कृति 'विलासवई कहा' है जो अभी अप्रकाशित है और जिसकी दो प्रतियाँ जैसलमेर के बडे भाण्डार मे हैं।[2] यह ग्यारह सन्धियो का काव्य है और जैसा

१—अनेकान्त—मार्च—१९५०, पृ० ३१३।

२—जैसलमीर भाण्डागरीय ग्रथना सूची—पृ० १४ और १८।

कवि ने स्वय अन्तिम प्रशस्ति मे कहा है, यह हरिभद्र की 'समराइच्च कहा' के पचम भव वर्णन का अपभ्रश मे काव्यात्मक रूपान्तर है और इसमे ३६२० श्लोक या छन्द हैं।[1] कवि ने स्वय इसे बार बार कथा ही कहा है और वस्तुत यह काव्यात्मक शैली मे होते हुए भी धार्मिक कथा ही है, महाकाव्य नहीं। उसी तरह 'नागकुमार' के जीवन से सम्बधित दो काव्य हैं, १—पुष्पदन्त का णायकुमारचरिउ और २—मणिक्कराज का नागकुमारचरित। दोनो ही में नौ नौ सन्धियाँ हैं और एक ही कथा कही गयी है। नागकुमार की कथा जैनो मे बहुत प्रसिद्ध है, इसका नायक नागकुमार चौबीस कामदेवो मे से एक है। पूर्वजन्म मे श्रुतिपचमीव्रत रखने के कारण वह कामदेव के अवतार के रूप मे पैदा हुआ। उसने अपने सौन्दर्य, वीरता और विद्याबल से अनेक युद्धो को जीता और सैकडो राजकुमारियो से विवाह किया। इस प्रकार यह अत्य त रोमाचक कथा है जिसमे साहसिक यात्राओ, अनेक युद्धो, अलौकिक और अतिमानव कार्यो और परम्परागत कथानक रूढियो का बाहुल्य है। अन्त मे नागकुमार के पूर्व भव का वर्णन और दिगम्बर मुनि बनकर मुक्ति पाने की कथा है। वस्तुत यह महाकाव्य नहीं बल्कि रोमाचक खण्डकाव्य है जिसमें धर्मकथा, रोमाञ्चक कथा और काव्य तीनो की विशेषताओ का सुन्दर सामञ्जस्य हुआ है। पुष्पदन्त ने अपने काव्य को प्रत्येक सन्धि के अन्त मे पुष्पिका में महाकाव्य (महाकइ पुप्फयत विरइये महाकव्वे) कहा है और इसका प्रारम्भ भी काव्य की प्रचलित रूढियों के अनुसार ही किया है। पर इसमे पुष्पदन्त ने प्रारम्भ मे तीर्थकरों आदि की नहीं बल्कि सरस्वती की वन्दना की है तथा आत्मनिवेदन, सज्जन दुर्जन चिन्ता और मगध वर्णन के बाद श्रेणिक और महाबीर के सवाद रूप मे कथा कही गयी है। सिंह कवि (बारहवीं शताब्दी) का १५ सन्धियों का काव्य 'पज्जुण्ण कहा' भी इसी प्रकार का कथात्मक काव्य है जिसमे श्रीकृष्ण के पुत्र और कामदेव के अवतार प्रद्युम्न का चरित वर्णन किया गया है[2]।

१—समराइच्च कहा ओ उद्धरिया सुइ सन्धिवश्रेण।
कोउहलेण एसापसण्ण वयणा विलासवई॥
एसा य गणिजन्ती पारणणुट्ठुभेण छदेण।
सपुण्णइ जावा छतीस सयाई वीसाई॥
'विलासवई कहा' अन्तिम प्रशस्ति।

२—अपभ्रश भाषा और साहित्य, नागरीप्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ५०, अङ्क ३४, पृ० ११७।

रोमाचक काव्यों की सामान्य विशेषतायें—कुछ बाते ऐसी हैं जो इन सभी रोमाचक काव्यो मे समान रूप से पाई जाती हैं, उ हें अपभ्रश के रोमाचक काव्यो (महाकाव्य या खण्डकाव्य) की सामान्य विशेषताये कह सकते हे। वे ये हैं—

१—इन सबम धार्मिक्ता और ऐहिकता का मेल कराया गया है। इनम से कुछ धामिक पुरुषो या कामदेव के अवतारो के जीवन चरित हैं और कुछ व्रतों और म त्रो का फल दिखाने के लिए दृष्टा त रूप मे लिखे गये हैं। नायकों के पूर्वभव वर्णन, बीच बीच मे जैन मन्दिरों मे पूजा पाठ और मुनियो के उपदेश तथा अन्त में किसी भी बात से प्रभावित होकर ससार त्याग कर तपस्या करना और निर्वाण प्राप्त करना, ये बाते पौराणिक महाकाव्यों के समान रोमाचक काव्यो मे भी अनिवार्य रूप से पाई जाती हैं। कि तु इनमे शेष बातें बिलकुल सासारिक ढग की होती हैं। वस्तुत ये कथाएँ प्रचलित लोककथाओ लोकगाथाओं के आधार पर लिखी गया हैं जिनमे कवियों ने कुछ धामिक बाते जोड कर उन्हे कथात्मक काव्य या चरित काव्य बनाने का प्रयत्न किया है।

२—इन सबमे युद्ध और प्रेम का वर्णन पौराणिक शैली के काव्यों की अपेक्षा अधिक है। यह नहीं कहा जा सकता कि ये सभी प्रेमाख्यानक काव्य हैं, किन्तु यह निस्स देह कहा जा सकता है कि वीरगाथात्मक काव्यों की भाति इनमे युद्ध और प्रेम को बहुत अधिक महत्व दिया गया है। यह लोकगाथाओं और वीरगातो की प्रवृत्ति है जिनके चक्र से विकसनशील महाकाव्यों का विकास हुआ। यह पिछले अध्याय में कहा जा चुका है कि विकसनशील महाकाव्यों मे रोमाचक तत्त्व बहुत अधिक हाते हैं जिनके अनुकरण या आधार पर बाद मे कथा—आख्यायिका और रोमाचक महाकाव्यों का निर्माण होता है। आठवीं से पद्रहवीं सोलहवीं शताब्दी तक की सभी भाषाओं के साहित्य मे इस तरह के काव्य लिखे गये। जैनो ने धार्मिक आवरण मे रोमाचक काव्य लिखे और दरबारी कवियों और चारण भाटो ने राजाओ की प्रशस्ति के लिए रास, विजय, चरित, विलास आदि नामों से ऐतिहासिक शैली के वीरगाथात्मक और रोमाचक काव्य लिखे।

३—इन काव्यों मे काल्पनाश्रित और अतिशयोक्तिपूर्ण बाते अधिक हैं, यद्यपि उनका आधार यथार्थ जीवन है। पुष्पदन्त के णायकुमारचरिउ मे नागकुमार कई सौ राजकुमारियो से विवाह करता है जिसका यथार्थ आधार यह है कि साम ती वीर युग म साम त युद्ध मे विजित राजाओ की कुमारियों से विवाह करते थे, इस तरह वे बहुत से विवाह कर सकते थे। उसमे यत्नों की अ[illegible]

का आधार भी यही है कि तत्कालीन राजा अनावश्यक रूप से भी युद्ध किया करते थे। वस्तुत सभावना के बल पर ही उनमे अतिशयोक्ति पूर्ण और कल्पनाश्रित घटनाओ की योजना हुई है।

४—सबमे साहसिक कार्यो, जैसे बीहड यात्रायें, उजाड नगर या भयकर वन मे अकेले जाना, मत्त गज से युद्ध, उग्र अश्व को वश मे कर यक्ष ग धर्व विद्याधरादि से युद्ध, समुद्र यात्रा और जहाज का टूटना, आदि का वर्णन मिलता है। इससे कथा में रोमाचक गुण बढ जाता है और पाठक की जिज्ञासा वृत्ति की तृप्ति होती है। यह कथा आख्यायिका का गुण है जिसे इन काव्यों मे अपना लिया गया है।

५—इन सभी काव्यों मे कथानक के सघटन मे अलौकिक और अति प्राकृत शक्तियो तथा अतिमानव कार्यों का बहुत सहारा लिया गया है। यद्यपि ये तत्व पौराणिक काव्यो मे भी हैं, पर रोमाचक काव्यो मे इनकी अधिकता है। देवता, राक्षस, गन्धर्व, यक्ष, विद्याधर, नाग आदि इन काव्यों में मानव के सहायक और विरोधी दोनों रूपों म दिखाई पडत हैं। मुनि का शाप या वरदान, किसी गुह्य विद्या की सहायता से दूर देश मे पहुँच जाना, मत्त गज को परास्त करना, समूची सेना को युद्ध में बात की बात मे परास्त कर देना आदि अति मानव कार्यों की योजना सभी काव्यों में मिलती है।

६—पौराणिक काव्यों की भाँति इनका कथानक भी बहुत ही उलझा या जटिल है क्योंकि इनमे कथा के भीतर कथायें बहुत हैं। अवा तर कथाओं और भवान्तरों का वर्णन इन काव्यो की एक सामा य विशेषता है। किसी पर कोई आपत्ति पडती है तो दूसरा व्यक्ति उसे सान्त्वना देने के लिए उसी प्रकार की कोई कथा दृष्टान्त रूप मे सुनाता है। करकण्डु चरिउ की अवान्तर कथायें उसी प्रकार की हैं। पूर्व ज मो के कर्मो का फल दिखा कर आचारिक धार्मिक उपदेश देने के लिए भवा तर की कथाओ का वर्णन किया गया है। इस तरह की कथायें गणधर, गौतम, वर्धमान, महावीर या कोई अन्य मुनि सुनता है या कोइ पूर्व ज म की बातो को याद रखने वाला व्यक्ति कहता है। भविसयत्त कहा मे विमलबुद्धि, करकण्डचरिउ म शीलगुप्त और णायकुमारचरिउ मे विद्याधर भवा न्तर की बातें बताते हैं।

७—ये सभी काव्य पौराणिक काव्यो के समान ही शा तरस-पर्यवसायी हैं क्योंकि सबका अन्त निर्वेद, सन्यास और मुक्ति दिखा कर हुआ है।

८—इन सबमे भारतीय कथा और प्रबन्ध साहित्य की चिराचरित कथानक सबंधी रूढियो या अभिप्रायों का भरपूर प्रयाग हुआ है जिससे कथा को आगे

बढ़ाने या उसकी धारा को मोडने मे कवि को सहायता मिली है। इन कथानक रूढियो का प्रथम अध्याय मे विचार किया जा चुका है। अपभ्रंश के रोमाचक काव्यों मे विशेषकर ये रूढियाँ प्रयुक्त हुई हैं —

१—उजाड नगर का मिलना और कुमारी दर्शन तथा उससे विवाह (भविसयत्त कहा) २—प्रथम दर्शन, गुणश्रवण या चित्रदर्शन से प्रेम (भविसयत्त कहा, सुदसणचरिउ, करकण्डुचरिउ, णायकुमारचरिउ), ३—द्वीपान्तर, विशेष कर सिंहलद्वीप की यात्रा और समुद्र मे जहाज टूटना या अन्य बाधायें (भविसयत्तकहा—करकण्डुचरिउ) ४—दोहद कामना (करकण्डुचरिउ) ५—पञ्चदि याधिवास (करकण्डुचरिउ), ६—शत्रु सतापित सरदार की सहायता और युद्ध मोल लेना (णायकुमारचरिउ, करकण्डुचरिउ) ७—मुनि का शाप (करकण्डुचरिउ) ८—पूर्व ज म की याद, कई ज मा मे साथ पैदा होकर शत्रुता निभाना या पूर्व जन्म के उपकार का बदला चुकाना या पति पत्नी होना (जसहरचरिउ, भविसयत्तकहा, करकण्डुचरिउ, णायकुमारचरिउ आदि), ९—दुश्चरित्रा या धोखेबाज पत्नी (करकण्डुचरिउ, जसहरचरिउ, सुदसणचरिउ, भविसयत्तकहा), १०—रूप परिवर्तन (करकण्डुचरिउ, भविसयत्तकहा आदि)।

अपभ्रंश काव्यों की बाह्य प्रबध रूढिया—पिछले अध्याय मे महाकाव्य की परिभाषा के प्रसग मे कहा जा चुका है कि महाकाव्य की कुछ आभ्यन्तर विशेषताएँ होती हैं जिनके कारण कोई का य महाकाव्य पद का अधिकारी होता है। पर प्राचीन भारतीय आलकारिको ने अधिकतर बाह्य प्रबन्ध रूढियों को ही महाकाव्य का प्रधान लक्षण मान लिया था। अपभ्रंश के महाकाव्यो की भी कुछ विशेष प्रबन्ध रूढिया स्थिर हो गयी थी जिनका पालन प्राय सभी महाकाव्यो मे किया गया है। हिन्दी के महाकाव्यों मे भी उ हें अपनाया गया है, अत उन पर कुछ विचार कर लेना आवश्यक है। वे रूढिया ये हैं —

१—अपभ्रंश के सभी महाकाव्य सन्धियो मे विभक्त हैं। स्वयम्भू के दोनो महाकाव्य काण्डो मे भी विभक्त हैं और सन्धिया भी रखी गयी हैं। इन पर महाभारत और रामायण का प्रभाव होने से ही ऐसा हुआ है, पर अन्य सभी केवल सधियों मे विभाजित हैं। ये सधिया कडवकबद्ध हैं। विश्वनाथ कविराज ने भ्रमवश कह दिया है कि अपभ्रंश महाकाव्यों मे सर्गों की जगह कडवक होते हैं। वस्तुत कडवक तो पदों (स्टैन्जाज) के समान है और १५ से ३० कडवको की एक सन्धि होती है। कुछ छ दों के बाद घत्ता जोड कर कडवक बनाये जाते हैं। प्राकृत मे 'गउडवहो' और 'लीलावई कहा' आदि कुछ काव्य

सगों या आश्वासों मे विभक्त नहीं हैं पर अपभ्रश मे ऐसा अन्य कोई महाकाव्य नही है।

२—रामचरितमानस, पद्मावत आदि प्रबधकाव्यो मे कुछ चौपाइया रख कर दोहा या कभी कभी हरिगीतिका छन्द रखा गया है और यह विधान ग्रथ मे आद्यन्त मिलता है। इस रूढि का पूर्वरूप अपभ्रश के प्राय सभी प्रबध काव्यो मे कडवक योजना के रूप मे मिलता है। केवल 'णेमिणाहचरिउ' 'सुदसणचरिउ' और 'सदेशरासक' इसके अपवाद हैं। णेमिणाहचरिउ आद्यन्त रड्डा छन्द मे है और सुदसणचरिउ हिंदी के काव्य रामचद्रिका की तरह विविध प्रकार के छन्दों से विभूषित है। सदेशरासक भी कडवकबद्ध नहीं है। पुष्पदन्त के काव्यो मे नाना छन्दो का प्रयोग हुआ है पर वे कडवकबद्ध हैं, धाराप्रवाह नहीं। यद्यपि अपभ्रश का प्रिय छन्द दूहा या दोहा है पर प्रबन्ध काव्यो मे अधिकतर पद्धडिया, अडिल्ल, रड्डा तथा अन्य कई प्रकार के मात्रिक छन्दों का प्रयोग हुआ है। इसम प्रधानता पद्धडिया की है जो चौपाई से मिलती जुलती है। कडवक के अन्त म घत्ता, दोहा, सोरठा या कुछ अन्य छन्दों का प्रयोग हुआ है और ये सभी घत्ता कहे गये हैं। कभी कभी कडवक के प्रारभ मे हेला दुवई आदि छन्द रखने की प्रवृत्ति भी दिखाई पडती है। अपभ्रश के छन्दो की सबसे बडी विशेषता या नवीनता जो सस्कृत प्राकृत म नही मिलती, यह है कि वे अधिकतर तुकान्त और कभी कभी अन्तर तुकों से युक्त भी हैं और उनम गेय गुण भी है। सभवत लोकगीतो के छन्दो से प्रभावित होकर या उन्हीं को अपनाने की प्रवृत्ति के कारण तुकान्त छन्दों का प्रचलन हुआ जो पहले पहल अपभ्रश भाषा में ही मिलते हैं। उसके बाद तो सभी आधुनिक आर्यभाषाओ के छन्दो मे यह बात देखने को मिलती है।

३—सस्कृत के प्रारभिक महाकाव्यो मे कुछ मे तो बिना मगलाचरण या वस्तु निर्देश आदि के ही काव्यारभ हो गया है और कुछ मे ये बाते सक्षेप रूप मे मिलती हैं। पर परवर्ती महाकाव्यो मे मगलाचरण, काव्य लिखने का कारण, विषयवस्तु की महत्ता, कवि का विनम्रता प्रदर्शन, पूर्वकवियो की प्रशस्ति, नायक के देश और नगर का वर्णन आदि बातो को लिखने की प्रथा प्रचलित हो गयी थी। रुद्रट ने इनका निर्देश किया है। यह प्राकृत ओर अपभ्रश के काव्यो की निजी विशेषता है और उसी परपरा को हिन्दी के महाकाव्यो मे भी अपनाया गया है।

४—अधिकाश अपभ्रश काव्यो मे कथा का प्रारभ दो व्यक्तियों के प्रश्नोत्तर या सवाद के रूप मे हुआ है। कहा जा चुका है कि अपभ्रश महाकाव्यो पर कथा शैली का प्रभाव अधिक है। भामह ने काव्यालकार मे कथा का जो लक्षण बनाया है उसके अनुसार कथा दो व्यक्तियो के बीच बातचीत के रूप मे कही

जाती है और आख्यायिका म नायक स्वय अपनी कथा कहता है। इन काव्या पर सस्कृत की कथा का प्रभाव था या वे प्राकृत और लोकभाषा के कथात्मक काव्या के अनुकरण पर लिखे जाने लगे, इसका निश्चय करना कठिन है पर भामह के कथन से इतना स्पष्ट है कि कथा या कथात्मक काव्य प्राय दो व्यक्तियो के सवाद के रूप म प्रारभ होते हैं। प्राकृत और अपभ्रश के सभी पौराणिक काव्य महाराज श्रेणिक और महावीर या गणधर गोतम के प्रश्नोत्तर के रूप मे शुरू हुए हैं। रोमाचक काव्यो में भविसयत कहा और जसहरचरिउ आदि का प्रारभ उसी तरह हुआ है। रामायण, महाभारत और बृहत्कथा म भी कथा कहने की यही शैली अपनाई गयी है और हिन्दी मे पृथ्वीराजरासो तथा रामचरितमानस मे भी प्रश्नोत्तर और सवाद के रूप मे कथा कहने की वही पुरानी परपरा अपनाई गयी है। पशु पक्षियो की बातचीत के रूप मे भी अनेक अवा तर कथाएँ कही गयी हैं। कीतिलता भृग भृगी की बातचीत के रूप में है और पद्मावत मे हीरामन शुक पद्मावती की बाते बताता है।

५—सस्कृत मे महाकाव्यों के लिए यह आवश्यक माना गया था कि उनकी कथा इतिहास पुराण या कथा (बृहत्कथा) से ली गयी हो और नायक धीरोदात्त गुणों वाला महान आदर्श व्यक्ति हो जो देवता या सद्वश क्षत्रिय हो। प्राकृत अपभ्रश क महाकाव्यो मे प्राय कथा जैन पुराणो से ली गयी है। पर रोमाचक काव्यो मे कल्पना द्वारा उनमे बहुत सी बातें जोडी भी गयी हैं। इन काव्यो पर रुद्रट की महाकाव्य सबधी परिभाषा अधिक सही ढग से लागू होती है। नायक के सबध म इस काल के कवियो—विशेषकर जैन कवियों—ने उक्त नियम को नहीं माना है। उनके नायक किसी भी जाति के और किसी भी वर्ग या श्रेणी के हो सकते हैं। रोमाचक का यो के नायक बहुधा वणिक् हैं, वे प्रारभ से ही आदर्श व्यक्ति नहीं हैं। वे सभी प्रकार के अच्छे बुरे कार्य करते दिखाये गये है पर अन्त मे सत्कर्मो और तपश्चर्या के बल से या किसी विशेष व्रत या मत्र की आराधना से वे मुक्ति प्राप्त करके आदर्श उपस्थित करते हैं। इस प्रकार सस्कृत के प्रारभिक महाकाव्यो और प्राकृत अपभ्रश के महाकाव्यों का यह मौलिक अतर है। महती घटना और महच्चरित्र को अपभ्रश कवियो ने यथार्थवादी मापदण्ड से नापा है और यह माना है कि कोई जन्मजात आदर्श चरित्रवाला नहीं होता बल्कि पूर्वजन्मों के कर्मो के कारण और वर्तमान भव के अच्छे कार्यों द्वारा ही उसका चरित्र आदर्श बनता है, चाहे वह व्यक्ति किसी भी जाति, वर्ण या वर्ग का क्यो न हो।

चौथा अध्याय

हिन्दी महाकाव्य का उदय और उसका परिवेश

अबतक हमने भारतीय महाकाव्य के उद्भव और विकास के सम्बन्ध में कुछ विस्तार के साथ इसलिये विचार किया है कि यह स्पष्ट रूप से देखा जा सके कि हिन्दी के महाका यो के रूप निर्माण मे पूर्ववता महाकाव्यो के किन तत्वों का विशेष रूप से ग्रहण हुआ है, साथ ही यह भी स्पष्ट हो सके कि इनकी अपनी विशेषताये क्या हैं जिनके कारण पूर्ववर्ती महाकाव्यों की परम्परा मे होते हुये भी ये उनकी अनुकृति मात्र नहीं हैं।

हिन्दी साहित्य का उद्भव और विकास भारतीय इतिहास के मध्ययुग और आधुनिक युग मे हुआ है। सारे ससार के इतिहास मे मध्ययुग सातवीं-आठवीं शताब्दी से माना जाता है और भारतीय इतिहास के मध्ययुग का प्रारम्भ भी उसी समय (हर्षवर्धन के बाद) हुआ। हिन्दी भाषा और साहित्य के ठीक पूव का या उसका पुरातन रूप अपभ्रश है जिसे चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, राहुल साकृत्यायन आदि विद्वानो ने पुरानी हिन्दी कहा है। उसका साहित्य भी सातवीं आठवी शताब्दी से ही मिलने लगता है। किन्तु हिन्दी साहित्य के इतिहास ग्रन्थों ने मोटे तौर पर ग्यारहवीं से चौदहवी शताब्दी तक के काल को हिन्दी साहित्य का आदिकाल माना है। पिछले अध्याय मे कहा जा चुका है कि अपभ्रश साहित्य के उत्कर्ष का काल (८०० से १२०० ई०) भी यही है। भारतीय इतिहास के मध्ययुग को इतिहासकारों ने पूर्वमध्ययुग (६५० से १२०० ई०) मध्यवर्ती मध्ययुग (१२०० से १७०० इ०) और उत्तर मध्ययुग (१७०० से १८५० ई०) इन तीन कालो म विभाजित किया है।

इस तरह आधुनिक काल के पूर्व के हिन्दी साहित्य का विकास उपर्युक्त तीनों कालों मे हुआ है। इस सम्बन्ध मे ध्यान देने की बात यह है कि इतिहास का पूर्वमध्यकाल, जिसम अपभ्रश साहित्य का विकास और उत्कर्ष तथा हिन्दी भाषा आर साहित्य का उदय हुआ, प्रत्येक दृष्टि से उथल पुथल और सक्रान्ति का काल है। इस काल मे प्राचीन भारत एक नये साँचे मे ढलने का उपक्रम कर रहा था। इस युग मे सस्कृत, प्राकृत और अपभ्रश मे तो प्रचुर साहित्य का निमाण हुआ ही, साथ ही प्राय सभी आधुनिक भारतीय भाषाओं का उदय भी हुआ और उनम साहित्य की रचना भी प्रारम्भ हो गयी।

पिछले अध्याय मे कहा जा चुका है कि सातवीं आठवीं शताब्दी के बाद साहित्य दो धाराओं मे विभक्त हो गया था। एक धारा सामती सभ्यता के शिष्ट नागरिक और दरबारी सरक्षण मे पुष्ट हो कर प्रवाहित हुई जिसमे अलकृत, उक्ति चमत्कारपूर्ण, रूढिपालन के आग्रह से युक्त महाकाव्यों की रचना हुई। सस्कृत और प्राकृत के अलकृत महाकाव्य इसी प्रकार के थे। दूसरी धारा लोकजीवन और स्वतत्र धार्मिक वातावरण के बीच बहती रही। सस्कृत और प्राकृत के ऐतिहासिक, रोमाचक और पौराणिक शैली के महाकाव्य तथा अपभ्रश के प्राय सभी महाकाव्य इसी लोकाश्रित धमाश्रित साहित्य धारा की देन हैं। दसवीं शताब्दी के बाद धीरे धीरे सस्कृत के आडम्बरपूर्ण महाकाव्यो का वातावरण साधारण जीवन से इतनी दूर हो गया कि फिर लोकप्रिय होने के लिए सस्कृत महाकाव्य को विवश हो कर लोकाश्रित कथाकाव्या की शैली अपनानी पडी। इस तरह हिन्दी साहित्य के आदि काल मे सस्कृत, प्राकृत और अपभ्रश म अधिकतर ऐतिहासिक, पौराणिक और रोमाचक शैली के महाकाव्य लिखे जाते रहे जिनमे परस्पर लोक तत्वो, कथानक रूढियो और काव्य रूढियो की अद्भुत समानता दिखाई देती है। ऐसे ही सक्रान्तिशील वातावरण और परिवर्तनशील साहित्यिक पृष्ठ भूमि मे हिन्दी महाकाव्य का उदय हुआ।

अपभ्रश के जिन काव्यो पर पिछले अध्याय मे विचार किया गया है, वस्तुत वे हिन्दी महाकाव्य के पूर्ववता रूप हें क्योंकि हिन्दी महाकाव्य अधिकाश बातो मे उन्ही से मिलते जुलते हैं। वस्तुत हिन्दी साहित्य के आदि और मध्य युग की प्रवृत्तियो का बीज दसवी शताब्दी के पूर्व के सस्कृत, प्राकृत और विशेष रूप से अपभ्रश के साहित्य मे ही दिखलाई पडता है। जैसा कि आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है, "वस्तुत छन्द, काव्यरूप, काव्यगत रूढियों और वक्तव्य वस्तु की दृष्टि से दसवी से चौदहवी शताब्दी तक का लोकभाषा का साहित्य परिनिष्ठित अपभ्रश मे प्राप्त साहित्य का ही बढाव है यद्यपि उसकी भाषा उक्त अपभ्रश से थोडी भिन्न है[1]।" द्विवेदी जी के इस कथन का यह अर्थ नहीं है कि हिन्दी साहित्य ने सस्कृत और प्राकृत साहित्य से कुछ ग्रहण ही नही किया है। हिन्दी साहित्य, विशेषकर हिन्दी महाकाव्य, पर रामायण महाभारत, बृहत्कथा और परवर्ती सस्कृत प्राकृत की काव्यशैली का

१—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी—हिन्दी साहित्य (उद्भव और विकास) प्रथम सस्करण १९५२ पृ० ४३।

बहुत प्रभाव पडा है, पर वह प्रभाव मात्र है। हि दी महाकाव्य का विकास वस्तुत अपभ्रंश काव्य की ओर से हुआ है। उदाहरण के लिये पृथ्वीराजरासो पर महाभारत और प्राकृत अपभ्रंश के पौराणिक और रोमाचक शैली के महा-काव्यों का सम्मिलित प्रभाव दिखलाई पडता है। साथ ही यहाँ यह भी ध्यान मे रखना है कि केवल १० वी से १४ वीं शताब्दी तक के काव्यों पर ही अपभ्रंश के काव्यों का प्रभाव नहीं है बल्कि १४ वी शताब्दी के बाद लिखे जाने वाले पौराणिक और रोमाचक शैली के प्रब ध काव्यो पर भी अपभ्रंश के पौराणिक और रोमाचक चरितकाव्यो का सीधा प्रभाव दिखलाई पडता है। अपने को 'कथा' और 'चरित' कहने वाले हिन्दी के प्राय सभी प्रबन्ध काव्य सीधे अपभ्रंश के चरितकाव्यो की परम्परा म आते हैं। अपभ्रंश के चरित काव्यो की प्राय सभी विशेषतायें इनमे भी उसी प्रकार दिखलाई पडती हैं। अत इन चरितकाव्यो की विशेषताओं पर सक्षेप मे विचार कर लेना आवश्यक है। ये विशेषताये निम्नलिखित हैं—

(क) चरितकाव्यो मे प्रबन्ध काव्य और कथा आख्यायिका तथा धर्मकथा आदि के लक्षणों का सम वय हुआ है। यही कारण है कि प्राय सभी चरित काव्य अपने को 'चरित' और 'कथा' दोनों कहते हैं। वस्तुत इन काव्यों मे कथा और चरित शब्दो का एक ही अर्थ मे प्रयोग हुआ है और दोनो का अभिप्राय प्रबन्ध का य से ही है, पौराणिक कथा या साहित्यिक कथा आख्या-यिका से नहीं। स्वयभु ने अपने 'पउमचरिउ' को प्रारम्भ मे ही 'रामकहा' कहा है[1]। धनपाल ने तो अपने काव्य का नाम ही 'भविसयत्तकहा' रखा है और उसे 'णिम्मल पुण्ण पवित्त कह' माना है[2]। इसी तरह पुष्पदत ने 'जसहर चरिउ' को और धाहिल ने 'पउमसिरिचरिउ' को 'धर्मकथा' की सज्ञा दी है[3]। इस तरह यद्यपि इन का यों के नाम के साथ प्राय चरित शब्द जुडा है पर ये अपने को कथा या धम कथानक कहते हैं। किन्तु उनके ऐसा कहने

१—वद्धमाण मुह कुहर विणिग्गय। रामकहा णइ एह कमागय।
पउमचरिउ १ २।

२—णिसुणन्तह एह णिम्मल पुण्ण पवित्त कह।—भविसयत्तकहा १ ४।

३—(क)–कह धम्म णिवद्धी का वि कहमि। कहियाइ जाइ सिव सोक्खु लहमि।—जसहरचरिउ १ १।

(ख)–णिसुणह साहमि कव्व रसायणु। धम्म कहायणु बहुगुण भायणु।
पउमसिरिचरिउ १ १।

पिछले अध्याय मे कहा जा चुका है कि सातवीं आठवीं शताब्दी के बाद साहित्य दो धाराओं मे विभक्त हो गया था। एक धारा सामती सभ्यता के शिष्ट नागरिक और दरबारी सरक्षण मे पुष्ट हो कर प्रवाहित हुई जिसमे अलकृत, उक्ति चमत्कारपूर्ण, रूढिपालन के आग्रह से युक्त महाकाव्यो की रचना हुइ। सस्कृत और प्राकृत के अलकृत महाकाव्य इसी प्रकार के थे। दूसरी धारा लोकजीवन और स्वतत्र धार्मिक वातावरण के बीच बहती रही। सस्कृत और प्राकृत के ऐतिहासिक, रोमाचक और पौराणिक शैली के महाकाव्य तथा अपभ्रश के प्राय सभी महाकाव्य इसी लोकाश्रित धर्माश्रित साहित्य धारा की देन हैं। दसवीं शताब्दी के बाद धीरे धीरे सस्कृत के आडम्बरपूर्ण महाकाव्यो का वातावरण साधारण जीवन से इतनी दूर हो गया कि फिर लोकप्रिय होने के लिए सस्कृत महाकाव्य को विवश हो कर लोकाश्रित कथाकाव्यो की शैली अपनानी पडी। इस तरह हिन्दी साहित्य के आदि काल म सस्कृत, प्राकृत और अपभ्रश म अधिकतर ऐतिहासिक, पौराणिक और रोमाचक शैली के महाकाव्य लिखे जाते रहे जिनमे परस्पर लोक तत्वो, कथानक रूढियो और काव्य रूढियो की अद्भुत समानता दिखाई देती है। ऐसे ही सक्रान्तिशील वातावरण और परिवर्तनशील साहित्यिक पृष्ठ भूमि मे हिन्दी महाकाव्य का उदय हुआ।

अपभ्रश के जिन काव्यों पर पिछले अध्याय से विचार किया गया है, वस्तुत वे हिन्दी महाकाव्य के पूर्ववर्ती रूप हैं क्योंकि हिन्दी महाकाव्य अधिकाश बातो मे उन्ही से मिलते जुलते हैं। वस्तुत हिन्दी साहित्य के आदि और मध्य युग की प्रवृत्तियो का बीज दसवी शताब्दी के पूर्व के सस्कृत, प्राकृत और विशेष रूप से अपभ्रश के साहित्य मे ही दिखलाई पडता है। जेसा कि आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है, "वस्तुत छन्द, काव्यरूप, काव्यगत रूढियों और वक्तव्य वस्तु की दृष्टि से दसवी से चौदहवी शताब्दी तक का लोकभाषा का साहित्य परिनिष्ठित अपभ्रश मे प्राप्त साहित्य का ही बढाव है यद्यपि उसकी भाषा उक्त अपभ्रश से थोडी भिन्न है[1]।" द्विवेदी जी के इस कथन का यह अर्थ नहीं है कि हिन्दी साहित्य ने सस्कृत और प्राकृत साहित्य से कुछ ग्रहण ही नही किया है। हिन्दी साहित्य, विशेषकर हिन्दी महाकाव्य, पर रामायण महाभारत, बृहत्कथा और परवर्ती सस्कृत प्राकृत की काव्यशैली का

१—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी–हिन्दी साहित्य (उद्भव और विकास) प्रथम सस्करण १९५२ पृ० ४३।

बहुत प्रभाव पड़ा है, पर वह प्रभाव मात्र है। हिंदी महाकाव्य का विकास वस्तुत अपभ्रंश काव्य की ओर से हुआ है। उदाहरण के लिये पृथ्वीराजरासो पर महाभारत और प्राकृत अपभ्रंश के पौराणिक और रोमाचक शैली के महाकाव्यों का सम्मिलित प्रभाव दिखलाई पड़ता है। साथ ही यहाँ यह भी ध्यान मे रखना है कि केवल १० वी से १४ वीं शताब्दी तक के काव्यों पर ही अपभ्रंश के काव्यो का प्रभाव नहीं है बल्कि १४ वीं शताब्दी के बाद लिखे जाने वाले पौराणिक और रोमाचक शैली के प्रबंध काव्यो पर भी अपभ्रंश के पौराणिक और रोमाचक चरितकाव्यो का सीधा प्रभाव दिखलाई पड़ता है। अपने को 'कथा' और 'चरित' कहने वाले हिन्दी के प्राय सभी प्रबन्ध काव्य सीधे अपभ्रंश के चरितकाव्यो की परम्परा म आते हैं। अपभ्रंश के चरित काव्यो की प्राय सभी विशेषतायें इनमे भी उसी प्रकार दिखलाई पड़ती हैं। अत इन चरितकाव्यो की विशेषताओं पर सक्षेप मे विचार कर लेना आवश्यक है। ये विशेषताये निम्नलिखित हैं—

(क) चरितकाव्यों मे प्रबन्ध काव्य और कथा आख्यायिका तथा धर्मकथा आदि के लक्षणो का समन्वय हुआ है। यही कारण है कि प्राय सभी चरित काव्य अपने को 'चरित' और 'कथा' दोनों कहते हैं। वस्तुत इन काव्यो मे कथा और चरित शब्दो का एक ही अर्थ मे प्रयोग हुआ है और दोनो का अभिप्राय प्रबन्ध काव्य से ही है, पौराणिक कथा या साहित्यिक कथा आख्यायिका से नहीं। स्वयभु ने अपने 'पउमचरिउ' को प्रारम्भ मे ही 'रामकहा' कहा है[1]। धनपाल ने तो अपने काव्य का नाम ही 'भविसयत्तकहा' रखा है और उसे 'णिम्मल पुण्ण पवित्त कह' माना है[2]। इसी तरह पुष्पदत ने 'जसहर चरिउ' को और धाहिल ने 'पउमसिरिचरिउ' को 'धर्मकथा' की सज्ञा दी है[3]। इस तरह यद्यपि इन काव्यो के नाम के साथ प्राय चरित शब्द जुड़ा है पर ये अपने को कथा या धर्म कथानक कहते हैं। किन्तु उनके ऐसा कहने

१—वद्धमाण मुह कुहर विणिग्गय। रामकहा णइ एह कमागय। पउमचरिउ १ २।

२—णिसुणन्तह एह णिम्मल पुण्ण पवित्त कह।—भविसयत्तकहा १ ४।

३—(क)—कह धम्म णिबद्धी का वि कहमि। कहियाइ जाइ सिव सोक्खु लहमि।—जसहरचरिउ १ १।

(ख)—णिसुणह साहमि कन्न रसायणु। धम्म कहायणु बहुगुण भायणु। पउमसिरिचरिउ १ १।

से ही उ हे कथा आख्यायिका या पुराण नहीं माना जा सकता। हिन्दी मे विद्यापति की कीतिलता, चन्द कृत पृथ्वीराजरासो और रामचरितमानस मे भी एक ओर जहाँ इन ग्र थों के नायकों का 'चरित' कहने की बात कही गई है वहीं दूसरी ओर 'पुरिस कहाणी' (कीर्तिलता) 'कथ इक पूछो तोहि' (रासो) और 'राम कथा' (मानस) कहकर इनके कवियो ने इनके 'कथा' होने की भी सूचना दे दी है।

(ख) पौराणिक शैली के काव्यों मे वक्ता और श्रोता के सम्वाद के रूप मे कथा कहने की प्रथा पहले ही से चली आ रही थी। लोककथाओ मे प्राय कोई कथा पशुपक्षियों की बातचीत के रूप मे कही जाती थी। प्राकृत की 'लीलावई कहा' मे कपि और उसकी पत्नी की बातचीत के रूप मे कथा कही गई है। अपभ्रश के प्राय सभी चरितकाव्यो मे किसी न किसी प्रकार के वक्ता श्रोता की योजना अवश्य हुई है। इस रूढि को आदिकाल के कुछ प्रबन्ध काव्या मे भी अपनाया गया है और बाद मे रामचरितमानस मे भी यह शैली अपनाइ गई। सवाद शैली मे निम्नलिखित रूपों मे कथा कही गई है—

१—धर्मगुरुओं पौराणिकों तथा भक्त ऋषियों और श्रावकों श्रोताओ के बीच प्रश्नोत्तर के रूप मे।

२— शुक शुकी, भृग भृगी, तोता मैना या पक्षी और मानव की बातचीत के रूप में। पृथ्वीराजरासो और कीर्तिलता मे शुक शुकी और भृग भृगी के सवाद के रूप मे पूरी कथा कही गई है।

३—कवि और कवि पत्नी की बातचीत के रूप मे (पृथ्वीराज रासो)।

(ग) प्राय सभी चरितकाव्यो मे उन अलौकिक, अतिप्राकृत और अति मानवीय शक्तियो, कार्यो और वस्तुओ का समावेश हुआ है जो पौराणिकता और लोकविश्वासों की देन हैं और लोककथाओ, पौराणिक आख्यानों तथा कथा आख्यायिका मे जिनकी भारमार होती है। इस तरह देवी देवता, राक्षस, गन्धर्व असुर, नाग, भूत प्रेत, मुनि, अतिबलशाली तथा मत्र तंत्र मे निष्णात व्यक्ति, मानव भाषा जानने वाले पशु पक्षी अथवा अलौकिक शक्ति वाले गरुड, भरुण्ड आदि पक्षी कथा में मानव की सहायता करते या उनसे युद्ध करते हैं। अलौकिक जन्म, शाप वरदान, स्वप्न, शकुन, मत्र तत्र, जादू टोना तथा दैवी विपात्तयो का भी इन चरितकाव्यों मे बहुत अधिक उपयोग हुआ है। इन्हीं से सम्बधित अनेक कथानक रूढियाँ बन गई थीं जो लोककथाओ, कथा आख्यायिकाओं, पौराणिक कथाओ और चरितकाव्यों मे समानरूप से मिलती

हैं। पृथ्वीराजरासो, पद्मावत आदि मे इस प्रकार के अलौकिक और अति प्राकृत तत्त्वों की भरमार है।

(घ) सभी चरितकाव्यो मे साहसिक कार्यो और रोमाचक तत्त्वों की अधिकता हैं, जैसे भयकर यात्रा, यात्रा मे मार्ग भूलना या जहाज डूबना, राक्षस, गन्धर्व, यक्ष, अप्सरा आदि से भेंट, उजाड नगर का मिलना, सरोवर तट पर अथवा वाटिका, मन्दिर या आश्रम मे नायक नायिका का प्रथम दर्शन, भरुण्ड या गन्धर्व द्वारा नायक नायिका का एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचाया जाना, पाताल लोक या सात सागर पार या द्वीपान्तर की यात्रा, युद्ध और विवाह, प्रेम मे वियोग और मिलन के लिये कठिन प्रयत्न, लक्ष्मी या राज्य प्राप्ति का शकुन या स्वप्न मे सूचना, पचदिव्याधिवास आदि। लोककथा और कथा आख्यायिका आदि मे इनकी अधिकता होती है और उसी दिशा से ये चरितकाव्यो म आई हुइ हैं। पृथ्वीराजरासो, पद्मावत, अथवा अन्य प्रेमाख्यानक प्रबन्ध काव्यो म भी इस प्रकार के साहसिक आर रोमाचक कार्यों और घटनाओं की अधिकता है। 'रासो' और पद्मावत मे तो इनमें से प्राय सभी का उपयोग हुआ है।

(ड) चरितकाव्यो की शैली जीवन चरित की शैली है जिसमे या तो ऐतिहासिक ढग से पूर्वज, माता पिता और वश का वर्णन रहता है या पौराणिक ढग से पूर्व जन्मो का वृतान्त होता है। उनमे चरित नायक के जीवन की सम्पूर्ण कथा सक्षेप रूप मे कहने की प्रवृति दिखलाई पडती है, अत उनमे नायको के जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त तक की अथवा कई भवान्तरों की कथा मिलती है। शास्त्रीय महाकाव्यो की तरह उनमे महत्वपूर्ण और कलात्मकता उत्पन्न करने वाली घटनाओं का चुनाव नही होता है और न उनमे शास्त्रीय महाकाव्यों के समान कथा भाग की कमी तथा वर्णनात्मक अशों की अधिकता ही होती है। वस्तुत ये काव्य कथात्मक अधिक और वर्णनात्मक कम हैं क्योंकि चरित वर्णन उनका प्रमुख उद्देश्य है। उनमे वर्णनात्मक अश कम नहीं होते पर चरितकाव्यो का कवि प्राय कथा छोडकर ऋतुवर्णन आर वस्तुवणन म ज्यादे देर तक नही उलझता। इसी कारण ये काव्य शास्त्रीय महाकाव्यो की अपेक्षा अधिक स्वाभाविक, सरल और लोकोन्मुख हैं।

(च) प्राय चरितकाव्यो म प्रेम, वीरता और वैराग्य की भावनाओ का समन्वय हुआ है। सब मे कोई न कोई प्रेम कथा अवश्य है और उसका स्थान गौण नहीं महत्वपूर्ण है। पौराणिक कथानक मे भी इन काव्यो मे प्रेमाख्यानक रग भरने का प्रयत्न किया गया है। उदाहरणार्थ वीर कवि के जम्बू

स्वामी चरित मे अंतिम केवली जम्बूस्वामी के जीवन को शृंगार और वीररस समन्वित बनाया गया है। प्राय सब मे प्रेम का प्रारम्भ समान रूप से स्वप्न दर्शन, गुणश्रवण, चित्रदर्शन या प्रथमदर्शन द्वारा हुआ है और उसका अन्त विवाह मे हुआ है। विवाह के पहले या उपरान्त नायक नायिका के मार्ग मे अनेक विघ्न बाधाये भी आती हैं, युद्ध होता है अथवा समुद्र यात्रा के समय जहाज डूब जाता है या कोई प्रतिनायक बाधा उपस्थित करता है। परन्तु अन्त मे उनका मिलन होता है। किसी किसी काव्य मे खल नायक या भ्रष्ट नायिका भी आयी है जो छल कपट से अपरपक्ष को सत्यमार्ग से हटाकर पाप पथ मे गिराना चाहती है। हिन्दी के आदि और मध्यकालीन प्रबन्ध काव्यो मे भी प्रेम, वीरता और वैराग्य की भावनाओं का समन्वय दिखलाई पडता है, यह अवश्य है कि युग की प्रमुख चेतना के अनुरूप प्रधानता इनमे से किसी एक की ही है।

(छ) इन चरितकाव्यो मे शास्त्रीय महाकाव्यो की प्रबन्धरूढियो का दृढतापूर्वक पालन नही किया गया है। प्रारम्भिक शास्त्रीय महाकाव्यो मे सक्षेप मे स्तुति और वस्तुनिर्देश के बाद सीधे कथा शुरू हो जाती है। किन्तु परवर्ती महाकाव्यो मे सज्जन प्रशसा, दुर्जन निन्दा और पूर्वकवि प्रशसा की पद्धति भी रूढ बन गई। चरितकाव्यो मे इन रूढियो के अतिरिक्त कुछ नई रूढियाँ भी आ गई हैं जैसे कवि का विनम्रता प्रदर्शन, सस्कृत मे काव्य न लिखकर भाषा (लोकभाषा) मे काव्य लिखने के लिये सफाई देना, राजा या अपने आश्रयदाता की प्रशसा, काव्य लिखने का कारण और उसके रचनाकाल का निर्देश, अपने और अपने पूर्वजो अथवा अपने गुरुओ के बारे मे लिखना आदि। इनमे से अनेक रूढियाँ परवर्ती शास्त्रीय महाकाव्यो मे भी मिलती हैं जिससे पता चलता है कि यह ह्रासोन्मुख सामन्ती समाज के कवियो की सामान्य प्रवृत्ति है। पूर्ववर्ती महाकाव्यो मे कवियो ने अपना परिचय कही नहीं दिया है। आदिकालीन हिन्दी प्रबन्ध काव्यो मे भी प्रस्तावना सम्बन्धी ये रूढियाँ अपना ली गई हैं। सदेशरासक, कीर्तिलता, पृथ्वीराजरासो आदि मे लम्बी लम्बी प्रस्तावनायें हैं। परवर्ती प्रबन्ध काव्यों मे भी इस रूढि का बहुत अधिक व्यवहार हुआ है।

अपभ्रंश और हिन्दी के प्रबन्ध काव्यो मे प्रयुक्त इन रूढियो के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा इस बात को और अधिक स्पष्टता के साथ समझा जा सकता है। कुछ उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं—

सज्जन-दुर्जन चर्चा —

इहु सज्जणलोयहु विणउ सिट्ठु। जो सुहि मज्झत्थु विसिट्ठु इट्ठु ॥
जो पुणु खलु खुड्डु अइट्ठ सगु। सो कि अब्भत्थिउ देइ अगु।
परच्छिद्दसएहि वावारु जासु। गुणवन्तु कहि मि कि कोवि तासु।
णउ सक्कइ देखिवि परहो रिद्धि। णउ सहइ सउरिसहँ गुणपसिद्धि।

भविष्यतकहा १—३

रामचरितमानस मे तुलसीदास ने भी खलो की बन्दना करते हुये इसी से मिलती जुलती बात कही है—

बहुरि बन्दि खलगन सतिभाए। जे बिनु काज दाहिनेहु बाएँ।
परहित हानि लाभ जिन्ह केरे। उजरे हरष विषाद बसेरे।

× × ×

जे परदोष लखहि सहसाखी। परहित घृत जिन्हके मन माखी।
बन्दो खल जस सेष सरोषा। सहस बदन बरने पर दोषा।
पुनि प्रनवो पृथुराज समाना। पर अघ सुनै सहसदस काना।
उमिहहि सज्जन मोर ढिठाई। सुनिहहिं बाल बचन मन लाई।

पूर्वकवि प्रशसा—महापुराण (१–९) मे पुष्पदन्त ने जिस तरह अकलक, कपिल, कणाद, व्यास, पतजलि, भारवि, भास, कालिदास, चतुर्मुख, स्वयभु और श्रीहष की प्रशसा की है उसी तरह रासो मे (१–१०) च द ने व्यास, शुकदेव, श्रीहष, कालिदास, दडमाली और जयदेव की अभ्यथना की है और अपने को पूर्व कवियों का उच्छिष्ट कथन करने वाला कहकर अपनी लघुता का प्रदर्शन किया है।

गुर सब्व कब्वी लहू चन्द कब्वी। जिनै दर्सिय देवि सा अगहब्बी।
कबी किति्त कित्ती उकत्ती सुदिक्खी। तिनैकी उचिष्टी कबी चन्द भक्खी।

(१–१०)

यह उक्ति पुष्पदत के इस कथन से कितनी मिलती जुलती है—

णउ हउ होमि वियक्खणु ण मुणामि लक्खुणु छदु देसिण वियाणामि।
जा विरहय जयवदहि आसि मुणिदहि सा कह केम समाणमि।

महापुराण (१–८)

आत्महीनता प्रकाशन—अपने काव्य को पूर्वकवियों का उच्छिष्ट तथा अपने को काव्य प्रतिभा या काव्य ज्ञान से हीन कहने की प्रवृत्ति अपभ्रश और

हिन्दी के महाकाव्यो मे समान रूप से पाई जाती है। सस्कृत में कालिदास आदि ने विनम्रता प्रदर्शन के लिए एकाध पक्ति मे इस प्रकार की बात कह दी थी किन्तु अपभ्रश और हिन्दी मे तो यह विनम्रता प्रदर्शन की प्रवृत्ति इतनी बढ गई कि उसने व्यापक रूढि का रूप धारण कर लिया और महाकाव्यों के रचयिताओं तक ने अपने को काव्य ज्ञान, छन्द, रस, अलकार आदि के ज्ञान से रहित कह डाला। 'पउमचरिउ' के रचयिता स्वयम्भु और तुलसी जैसे कवि अपने को काव्य ज्ञान से अनभिज्ञ कहते हैं—

बुहयण सयभु पइ विणतावइ। मइ सरिसउ अण्णु णाहि कुकइ।
वायरणु कयावि ण जाणियउ। णउ वित्ति सुत्तु वक्खाणियउ।
णउ पच्चाहारहो तत्ति किय। णउ सन्धिहे उप्परि बुद्धि थिय।
णउ णिसुअउ सत्त विहत्तियउ। छविहउ समास पवुत्तियउ।

× × ×

णउ बूझिउ पिगल पत्थारू। णउ भम्मह दण्डि अलकारू। आदि
—पउमचरिउ (१-३)

इसी प्रकार तुलसी अपने को 'कवित विवेक' से हीन तथा अपने काव्य को सब गुणों से रहित तो कहते ही हैं, साथ ही स्वय को कवि भी नहीं मानते—

कवित विवेक एक नहि मोरे। सत्य कहौं लिखि कागद कोरे।
कवि न होउँ नहि चतुर प्रवीनू। सकल कला सब विद्या हीनू।

आत्महीनता प्रकाशन की इस रूढि से परिचित न होने के कारण ही कुछ लोग तुलसी को धार्मिक या पौराणिक सिद्ध करने के लिए इन उक्तियों को बडे विश्वास के साथ आधार बनाते हैं।

लोकभाषा मे काव्य लिखने के लिये सफाई—किन्तु पूर्वकवियो ने सब कुछ लिख दिया है तो क्या नये कवि कुछ लिखें ही नहीं? इस सम्बन्ध में अब्दुल रहमान और चन्दबरदाई की उक्तियाँ बिल्कुल समान है। सन्देशरासक मे ११ छन्दों (प्रथम प्रक्रम—छन्द ७ से १७) मे जिस तरह कवि अपने को लघु मानता हुआ भी काव्य रचना करने का अधिकारी सिद्ध करता है, उसी तरह रासो (१—छन्द ४२ से ५०) मे भी किया गया है, यहाँ तक कि दोनों की उक्तियाँ कही कहीं बिल्कुल एक ही हैं—

जइ भरह भाव छदे णच्चइ णवरग चगिमा तरुणी।
ता किं गाम गहिल्ली ताली सद्दे ण णच्चइ।
—सन्देशरासक १—१५।

सत्त खने आवास महिलानं मह सह नूपुरया।
सतफल वज्जुन पयसा पव्वरिय नैव चालन्ति।
—रासो १—४८।

इसी प्रकार स्वयभु 'पउमचरिउ' मे लिखते हैं कि पिंगल आदि तो नही जानता लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि अपना व्यवसाय (कविकम) छोड दूँ। सस्कृत प्राकृत मे नही तो लोक भाषा मे तो काव्य (रड्डाबद्ध कव्वु) की रचना करूँगा।

ववसाउ तो वि णउ परिहरमि। वरि रड्डावद्धु कव्व करमि।
(१–३–९)

तुलसी 'भाषा भनिति भोरि मति मोरी' कहने के बाद भी अपने लोक भाषा काव्य का महत्व इन शब्दों मे व्यक्त करते है—

भनिति भदेस वस्तु भल बरनी। रामकथा जग मगल करनी।

रामकथा के महत्व के कारण उनके काव्य को भी महत्व प्राप्त होगा, इसी विश्वास से वे लोकभाषा मे काव्य की रचना कर रहे हैं—

जदपि कवित रस एकौ नाही। रामप्रताप प्रगट एहि माही।
सोइ भरोस मोरे मन आवा। केहि न सुसग बड़प्पनु पावा।

(ज) पुराणों के प्रभावस्वरूप ओर धामिक प्रवृत्ति की प्रबलता के कारण स्तुति, मंगल विनय, विनती आदि नामों से अनेक छोटे छोटे जेन पौराणिक काव्य तो लिखे ही गये, प्रबन्धकाव्यों के भीतर भी इस काव्य रूप को समाविष्ट कर लिया गया। जैनों द्वारा लिखे अपभ्रश के चरित काव्यों मे इस तरह के स्तोत्र, विनय आदि के छन्द हैं, मगलाचारण मे तो विनय, स्तोत्र आदि पहले से ही लिखे जाते थे। परवर्ती प्रबन्ध काव्यों के भीतर कोई भी अवसर उपस्थित होने पर इस तरह स्तोत्र ओर विनय लिखने की प्रवृत्ति इन्ही आदिकालीन लघु स्तोत्र काव्यो के प्रभाव का परिणाम है। पृथ्वीराजरासो मे प्रारम्भ मे सभी देवताओ की वन्दना, बाद मे दशावतार चरित, विनय मगल आदि मे यह रूढि दिखलाई पडती है। रामचरितमानस मे भी जगह जगह स्तुति वन्दना तथा अन्य धार्मिक प्रसगो की बहुत अधिक योजना हुई है।

(झ) अपभ्रश के चरितकाव्यो की छद योजना सस्कृत और प्राकृत से भिन्न प्रकार की है। अधिकाश चरितकाव्य कडवकबद्ध शैली मे है। विश्वनाथ कविराज ने लिखा है कि अपभ्रश काव्यों में सर्ग की जगह 'कडवक' हाते हैं किन्तु वस्तुत कडवक सर्ग नही हैं। सर्गों की जगह तो अपभ्रश काव्यों में सन्धियाँ होती हैं। कडवक वस्तुत सधियों के खण्ड या उपसन्धि हैं अथवा

उसे गेय पदो के समान निश्चित सख्या मे एक प्रकार के कुछ छ दो का गुच्छ कहा जा सकता है जैसे गेय पद अथवा अग्रजी म स्टेजा होता है। चरित काव्य प्राय गेय काव्य हैं और उनमे से अधिकाश का धामिक दृष्टि से गान या पाठ होता था। इसलिये उसम कडवक या पद की शैली का अपनाया जाना स्वाभाविक है। चरित काव्यो मे मात्रिक छ दो का ही अधिक प्रयोग हुआ है, वर्णवृत्तो का कम। मात्रिक छन्दों म पज्झटिका, अडिल्ल, रड्डा, दुवई, घत्ता, वदनक, दोहा, सोरठा, पाराणक, षटपदी आदि छ दो का प्रयोग हुआ है। सन्धियों के प्रारम्भ मे कोई भी छन्द ध्रुवक के रूप मे होता है, उसके बाद प्रत्येक कडवक मे एक छ द की ६,८ या १० पक्तियाँ होती हैं। ये छन्द तुकान्त पक्ति युगल रूप मे होते हैं। कडवक के अन्त मे एक घत्ता होता है जो कई प्रकार के छदो का होता है कि तु प्राय दो पक्तियो का ही होता है। कभी कभी घत्ता की जगह चार चरणा या छ चरणो वाले छ द होते हैं। इस तरह कडवकबद्ध शैली अपभ्रश के चरितकाव्य की निजी विशेषता है जिसका अनुकरण रासो, रामचरितमानस तथा हि दी के प्रेमाख्यानक तथा अन्य चरितकाव्या में किया गया है। चरितकाव्यो मे घत्ता के रूप मे षटपदी जाति के अनेक छ दो का प्रयोग द्विपदी के रूप म हुआ है जिनम प्रथम द्वितीय, चतुर्थ पचम तथा तीसरे ओर छठे चरण समतुकान्त हैं। हिन्दी म 'रामचरितमानस मे घत्ता के दोहे के बाद हरगीतिका आदि छ दो का प्रयोग इसी शैली का प्रभाव है। चरितकाव्यो मे णेमिणाहचरिउ आद्य त रड्डा छन्द मे है, कडवकबद्ध रूप मे नही और वीर कवि का जम्बूस्वामीचरित विविध प्रकार के छ दो से युक्त है। ये काव्य छ द योजना की दृष्टि से अपभ्रश के चरित काव्यों के अपवाद माने जायेगे।

युग का प्रभाव—किन्तु जैसा शुरू मे कहा गया है, साहित्यिक परम्परा के रूप मे अपभ्रश की अधिकाश विशेषताओ और प्रबन्धरूढियों को स्वीकार करते हुये भी मध्ययुग मे लिखे गये हिन्दी के प्रबन्ध काव्यों—विशेषरूप से महाकाव्यो—की कुछ अपनी निश्चित विशेषताये भी हैं जो इन्हे अपभ्रश के प्रब धकाव्या और महाकाव्यो से भिन्न श्रेणी का सिद्ध करती हैं। कम से कम महाकाव्य के सम्ब ध मे तो इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि पूर्ववर्ती परम्परा की अनुकृति मात्र से कोई भी काव्य महाकाव्य पद का अधिकारी नही हो सकता और न उसका कवि ही महाकवि कहा जा सकता है। प्रतिभाशाली कवि पर उसके युग का प्रभाव निश्चित रूप से पडता है और उस युग की मूल चेतना की अभिव्यक्ति उसके काव्य मे किसी न किसी रूप म

अवश्य होती है। कहने का अभिप्राय यह कि युग चेतना का महाकाव्य के रूप निमाण मे बहुत अधिक हाथ होता है। वैसे तो साहित्य के सभी रूपों पर तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक परिस्थितियो का किसी न किसी रूप मे और किसी न किसी सीमा तक प्रभाव पडता है किन्तु महाकाव्य पर यह प्रभाव अधिक स्पष्ट प्रत्यक्ष और गहरा होता है। यही कारण है कि प्रत्येक युग के महाकाव्य मे पूर्ववर्ती युगों की साहित्यिक परम्परा का ग्रहण होते हुये भी अपने युग की नई साहित्यिक और सास्कृतिक परम्परा तथा नये जीवन मूल्यो की छाप अधिक स्पष्ट और गहरे रूप में दिखलाई पडती है। अत हिन्दी महाकाव्यों की विशेषताओ और उनकी मूल प्रवृत्तियों को समझने के लिये उनके साहित्यिक और सामाजिक परिवेश को समझना आवश्यक है।

वीर युग और वीरता की भावना—पहले अध्याय मे विस्तार के साथ इस बात पर विचार किया जा चुका है कि प्रारम्भिक वीरयुग मे महाकाव्य लोक की सम्पत्ति होता था और मौखिक रूप मे गाथा चक्रों से आगे बढकर वह महाकाव्य का रूप धारण कर लेता था। किन्तु विकासोन्मुख सामन्त युग या विकसित वीरयुग मे विकसनशील महाकाव्य के अनुकरण पर विशिष्ट कवियो द्वारा विशेष रूप से शिष्ट नागर वातावरण मे अलकृत काव्यों की रचना होने लगी। इस युग मे दरबारो में प डतों, विद्वानों और वाणी विदग्ध कवियो का सम्मान होने लगा और सूत मागध वैतालिक वन्दीजन आदि का स्थान सामान्य कर्मचारियों के समान हीन कोटि का रह गया। यह भी कहा जा चुका है कि किसी समाज मे वीरयुग एक ही बार नही, एक से अधिक बार भी आ सकता है। प्रथम बार वह प्रारम्भिक वीरयुग होता है, दूसरी बार सामती वीरयुग और तीसरी बार राष्ट्रीय या क्रान्तिवादी वीरयुग। यह उत्साह के स्वरूप और उसकी परिस्थितिजन्य मूल चेतना से पहचाना जा सकता है कि वह उत्साह भावना किस प्रकार के वीरयुग की देन है। प्रारम्भिक वीरयुग बबर युग की समाधि पर निर्मित नवीन सामाजिक व्यवस्था की देन है जिसमे व्यक्ति का वाहुबल ही अधिकार, शक्ति और नैतिकता का मानदण्ड होता है। सामती वीरयुग मे केन्द्राय राज्यसत्ता के नष्ट हो जाने पर पडोसी राजाओं में राज्य और राजकन्या के हरण के लिये या मात्र प्रतिशोध की भावना से अकारण लडाइयों होती हैं। वीरता इस युग मे सामन्ती वातावरण और विशिष्ट कुल या वंश के भीतर ही सीमित होकर रह जाती है जब कि प्रारम्भिक वीरयुग मे वह समूचे समाज की सामान्य भावना होती थी। प्रारम्भिक वीरयुग मे वीर पहले वीर होता था और अन्य कुछ बाद में, पर सामन्ती वीरयुग मे वह राजा

या सामन्त पहले था, वीर बाद मे। तात्पर्य यह कि साम ती वीरयुग म वीरता की प्रवृत्ति के साथ साथ राज्यादि के लिए स्वार्थ की प्रवृत्ति का भी प्रमुख स्थान था। राष्ट्रीय या क्रान्तिवादी वीरयुग पूँजीवादी साम्राज्यवादी शोषण के विरुद्ध होने वाले राष्ट्रीय आन्दोलनों और राजनीतिक क्रान्तिया के समय आता है। इस प्रकार की वीरता की भावना बिल्कुल आधुनिक काल की वस्तु है। इन तीनो ही वीरयुगों मे परिवेश और ऐतिहासिक सास्कृतिक पीठिका की भिन्नता के कारण वीर भावना का स्वरूप भी भिन्न भिन्न प्रकार का होता है। प्रारम्भिक वीरयुग और उसमे विकसित महाकाव्यों–महाभारत और रामायण—के सम्बन्ध से पिछले अध्याय मे विचार किया जा चुका है और यह भी कहा जा चुका है कि उसके बाद हर्षवर्द्धन तक का काल विकासोन्मुख साम त युग या केन्द्रीय राज्यसत्ता का युग था जिसमे समग्र राष्ट्र की एक जातीय भावना तत्कालीन साहित्यकला मे अभिव्यक्त हुई है। हर्षवर्द्धन के बाद सामन्तवाद ह्रासो मुख हो गया, केन्द्रीय राज्य सत्ता नष्ट हो गई और सारा देश विभिन्न प्रा तीय राज्यो म बट गया जिनकी सीमा सदा अनिश्चित रहती थी। इस प्रकार सातवीं शताब्दी से ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गई जिनमे दूसरे प्रकार का वीरयुग अर्थात् सामन्ती वीरयुग का प्रादुर्भाव होता है। हिन्दी साहित्य का बीज इसी युग मे पड गया था।

सामन्ती वीरयुग—सामन्ती वीरयुग भारतीय इतिहास का पूर्वमध्य युग है। इसमे पुष्यभूति साम्राज्य के पतन के बाद सारा उत्तरीभारत प्रान्तीय राज्यों में बट गया। उसी तरह दक्षिण मे चालुक्य साम्राज्य के ह्रास के बाद दक्षिण भारत भी छोटे छोटे राज्यों मे बट गया। इस काल मे भारत मे राजपूतों की शक्ति का उदय और अरब मे इस्लाम का प्रादुर्भाव, एक ही समय हुआ, और इन दोनों शक्तियो की मुठभेड से आठवीं से चौदहवीं शताब्दी तक के काल म भारतीय इतिहास मे फिर दूसरी बार वीरयुग का उदय हुआ। साम ती वीर युग की परिस्थितियाँ तो यहाँ केन्द्रीय राज्य शक्तियो के अभाव मे अपने आप उत्पन्न हो गई थी पर अरब, तुर्क आदि विदेशी मुसलिम आक्रमणकारियों की शक्ति का प्रतिरोध करते रहने के कारण इस वीरता की भावना का पोषण और परिवर्द्धन हुआ। इस तरह साम ती वीरयुग के दो काल–पूर्ववर्ती और परवर्ती दिखाइ पडते हैं। पूर्ववर्ती वीरयुग ६५० ई० से १००० ई० तक का है और परवर्ती १००० ई० से १४०० ई० तक का। पूर्ववर्ती वीरयुग मे भारतीय राजा और सामन्त आपस मे ही लडते भिडते रहे और परवर्ती काल मे उन्हे मुसलमानो की बाहरी शक्ति का भी मुकाबला करना पडा। सामन्ती वीरयुग का

उत्कृष्ट रूप परवताकाल अथात् १००० ई० से १४०० ई० का है और हिन्दी साहित्य का आदिकाल भी यही है।

भारतीय इतिहास मे ६५० ई० से १००० ई० तक का काल भारतीय राजाओं के परस्पर युद्धों और प्रतिद्वन्दिता का काल है और १००० ई० के बाद की कई शताब्दियो तक का काल राजपूतो और मुसलमानों के सतत सघर्ष का काल है। ऐसी अराजकतापूर्ण और अनिश्चित राजनातिक परिस्थिति का स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि देश की समष्टिगत एकता की भावना, जो गुप्तकाल मे सास्कृतिक राष्ट्रीयता के रूप मे व्यक्त हुई थी, इस काल में नष्ट हो गई। गुप्तकाल मे गणतत्रो के प्रभाव स्वरूप सामान्य जनता मे राजनीतिक चेतना बनी रहती थी और प्रजा राजकाज मे दिलचस्पी लेती थी, परन्तु इस काल मे उत्तराधिकार के नियम और राजवशो की स्थिति अनिश्चित होने के कारण व्यक्तिगत शक्ति और बाहुबल का बोलबाला हो गया जिससे राजा स्वेच्छाचारी और निरकुश होने लगे, वीरता और युद्ध कौशल में जो श्रेष्ठ होता था उसके आगे सबको झुकना पडता था। फलस्वरूप राजकाज मे प्रजा का कोई हाथ या दिलचस्पी नही रह गई। स्वतत्रता, राष्ट्रीयता और देशभक्ति की भावना का लोप हो गया और सामान्य जनता परावलम्बन, राज्य के प्रति उदासीनता और चाटुकारिता आदि का सहारा लेने लगी। इस काल मे एक राज्य के भीतर कई प्रान्तीय शासक होते थे जो वस्तुत अधीन सामन्त होते थे और उनकी प्रजा उन्हीं के प्रति भक्ति रखती थी। ये साम त, अवसर मिलते ही स्वतन्त्र होकर अपना राज्यविस्तार करने लग जाते थे। इन राजाओं और सामन्तों की राजधानियाँ कला कौशल और साहित्यिक सक्रियता का के द्र होती थीं क्योंकि व युद्धप्रिय वीर ही नहीं, साहित्य प्रेमी और कला विलासी भी होते थे। उनके दरबारो मे वीरों, विद्वानों, कवियो और कलाकारों को सम्मान और आश्रय मिलता था और उनका कृतियो को सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया जाता था। इस काल के राजा सामन्त ही नही, उनके मत्री या नगर के सेठ भी साहित्य कला का प्रोत्साहन और सरक्षण करते थे। इस तरह उच्चवर्गीय साहित्य कला शिष्ट नागर सामाज की वस्तु बनकर सामान्य-जनता के जावन से दूर हट गयी थी।

पूर्वमध्य काल भारतीय सस्कृति और समाज के लिए भी एक सक्रान्ति और परिवर्तन का काल था। इस समय ब्राह्मण धर्म का एक नई शाक्त के रूप मे पुनरुत्थान हुआ जिसके फलस्वरूप बौद्ध धर्म तो विलुप्तप्राय ही हो गया, जैन धम भी धीरे धारे कुछ विशेष स्थानों मे ही सिमट कर रह गया। इस काल की

प्रारम्भिक शताब्दियों मे ब्राह्मण धर्म बहुत ही उदार और लचीला था, उसमे अ य जातियों के लोगों को आसानी से खपा लया जाता था। वण व्यवस्था भी अधिक सकीर्ण नही थी। विभिन्न जातियो के लोग बाहुबल का प्रदशन करके और ब्राह्मग धर्म को स्वीकार करके राजपूत बन जाते थे। शकराचार्य ने बौद्ध धर्म के उच्च सिद्धान्तों को अपने धर्म और दर्शन मे आत्मसात कर लिया और वदिक धम की जगह धारे धीरे पौराणिक हि दू धर्म का उदय हुआ। दसवीं शताब्दी के बाद स्मृतियो और धर्मशास्त्रो का नियत्रण फिर कडा होता गया, राजा मे देवत्व की स्थापना की गयी और ब्राह्मण मत्रियो या पुरोहितों की सहायता राज्य शासन के लिए आवश्यक वस्तु हो गयी। इस तरह अन्ततोगत्वा साम ततत्र धर्म की सहायता से भारतीय शासन और समाज व्यवस्था में पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित हो गया। परिणामस्वरूप विचार और दर्शन के क्षेत्र मे इस काल मे कोई भी नवीन चेतना और उदभावना नहीं दिखाई पडती। इसक विपरीत गतानुगतिकता, पिष्टपेषण, टीका वार्तिक आदि द्वारा पूर्व सिद्धान्तों की व्याख्या, चिराचरित रूढयो के पालन का आग्रह आदि बाते दसवी शताब्दी के बा८ के सामाजिक जीवन का प्रमुख लक्षण बन गयीं। मुसलमानों के आगमन के बाद सामाजिक रूढियो ओर जाति व्यवस्था के नियमो का ओर भी कडाई से पालन किया जाने लगा। सातवीं शताब्दी से ही बौद्ध धर्म पतनान्मुख होकर वज्रयान और तत्र मार्ग के रूप मे बदलने लगा। हिन्दू धम भी भक्ति की विविध धाराओ और सम्प्रदायो मे विभक्त हो गया जिनमे वैष्णव, शैव ओर शाक्त प्रधान थे। शैव सम्प्रदाय मे पाशुपत, कापालिक, अघोरपथ और नाथपथ के विविध रूप इसी काल मे दिखाई पडने लगे। दक्षिण मे ग्यारहवीं शताब्दी मे वैष्णव सन्त और दार्शनिक रामानुजाचार्य का प्रादुभाव हुआ जि होने विशिष्टाद्वैत दर्शन और भक्ति मार्ग का प्रवर्तन किया। काश्मीर मे नव्य शैव या शैवागम दर्शन तथा कर्णाटक और महाराष्ट्र में लिंगायत मार्ग चले। जेन धम ने भी इस काल मे हिन्दू धर्म के समान ही अवतारवाद और भक्ति का आश्रय लेकर तथा कर्मकाण्ड वाले संकीर्ण पौराणिक रास्ते को अपना कर अपने को रूढिवादी और अधविश्वासी बना लिया। फिर भी उसमे अहिंसा और सामाजिक न्याय की भावना प्रबल थी और ब्राह्मण तथा बौद्ध धमा की तरह उसमे समाज विरोधी गुह्य साधना और वामाचार का प्रवेश नही हुआ। इससे उसे मध्यवर्गीय जनता मे सम्मान मिलता रहा। जनता ने जैन धर्म को अधिक प्रश्रय नहीं दिया। फिर भी जैनधर्म को उच्च वर्ग—विशेष रूप से मत्रियों, श्रेष्ठियो और वणिक् वर्ग—का आश्रय मिलता रहा। गुजरात और दक्षिण मे कुछ राजाओं से भी जैन

धर्म को आश्रय और प्रोत्साहन मिला, किन्तु इस काल के राजाओ ने प्रधानतया ब्राह्मण धम को ही प्रोत्साहन दिया।

पूर्व मध्यकाल की राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियो के उप युंक्त विवेचन से हम निम्नलिखित निष्कर्ष पर पहुँचते है—

१—भारतीय इतिहास के पूर्वमध्यकाल का पूर्वार्द्ध ह्रासोन्मुख साम त युग था और उत्तरार्द्ध साम ती वीरता का युग, जिसम वैयक्तिक शक्ति प्रदर्शन और बाहुबल का सबसे अधिक महत्व था, राष्ट्रीय एकता की भावना का नही।

२—वीरता की भावना के बाद इस काल की दूसरी प्रमुख प्रवृत्ति धम की थी। इस युग के पूवार्द्ध मे उसका रूप लचीला ओर शक्तिमान था किन्तु उत्तरार्द्ध मे वह सकीर्ण और रूढिवादी बन गया।

३—इस काल की तीसरी प्रधान प्रवृत्ति सामती विलास और शृङ्गारिकता की थी। राजा के निरकुश ओर स्वेच्छाचारी हो जाने पर तथा बाहुबल को ही नैतिकता का मापदण्ड स्वीकृत कर लेने पर राजाओ के अनेक विवाह करने की बात मे सन्देह करने का अवसर नहीं रह जाता है। इस काल मे किसी राजकन्या के सौन्दर्य की प्रशसा सुन कर उसके लिए युद्ध छेड देना आसान बात थी।

४—इस काल की साहित्यिक क्रियाशीलता और कला प्रेम की प्रवृत्ति भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। इस समय साहित्य की रचना या तो राज दरबारो मे रहने वाले कवियो द्वारा हुई या राजाओ के स्तुतिगायक और वशावली रक्षक चारण भाटो द्वारा अथवा धर्म भावना से प्रेरित कवियों द्वारा जो या तो मठो मन्दिरों मे धार्मिक सम्प्रदायो के आश्रय मे रहते थे या सेठा और राजाओं के मत्रियो के आश्रय में। सामान्य जनता द्वारा रचित या प्रचारित साहित्य भी इस काल मे अवश्य रहा पर उसका अत्यन्त परिवर्तित परिवर्द्धित रूप ही मौखिक परम्परा मे सुरक्षित रहकर आज उपलब्ध है।

सामन्ती वीरयुग का साहित्य—

दसवीं से चौदहवी शताब्दी के बीच हिन्दी भाषाभाषी क्षेत्रों तथा उसके चतुर्दिक प्रदेशों मे लोकभाषाओ से अधिक सस्कृत, प्राकृत और अपभ्रश भाषाओं मे रचना होती थी। १००० ई० के बाद का लोकभाषाओं मे रचित साहित्य भाषा की दृष्टि से अपभ्रश से इतना निकट है कि उसे परवर्ती अपभ्रश या अवहट्ठ भी कहा जाता है। वस्तुत इस काल मे अपभ्रश भाषा परिनिष्ठित होकर सस्कृत प्राकृत की तरह ही रूढ साहित्य भाषा बन गई और लोकभाषा उससे दूर रहकर स्वछन्द गति से आगे बढने लगी।

तत्कालीन राजदरबारो मे सामान्यतया इन सभी भाषाओ मे साहित्य रचना करने वालो का सम्मान होता था पर संस्कृत के विद्वानो और कवियो की अब भी सर्वाधिक पूछ थी। इस समूचे काल मे संस्कृत देश की संस्कृति और राजनीति की भाषा थी और धर्मग्रन्थ तथा अन्य विषयो के ग्रन्थ प्रधान रूप से संस्कृत मे ही लिखे जाते थे। राजकाय कागज पत्र, प्रशस्ति, दानपत्र आदि भी प्रमुखत संस्कृत मे ही लिखे जाते थे। साहित्य और शास्त्र की जो धारा संस्कृत मे गुप्तकाल मे प्रारम्भ हुई थी वह इस काल मे अजस्र रूप से और अधिक वेग के साथ प्रवाहित होती रही, यद्यपि उसका रूप बहुत कुछ परिवर्तित हो गया था। इस काल के राजदरबारो के आश्रय मे रहकर ही भवभूति, वाक्पतिराज, राजशेखर, क्षेमेन्द्र, कल्हण, बिल्हण, मंखक, पद्मगुप्त, भट्टनारायण, श्रीहर्ष, हेमचन्द्र, सन्ध्याकर नन्दि, जयानक कृष्णमिश्र आदि ने संस्कृत और प्राकृत मे अपने काव्य, नाटक तथा शास्त्र ग्रन्थो की रचना की। इस काल के कुछ राजा भी संस्कृत और अपभ्रंश के अच्छे लेखक थे जिनमे वाक्पतिराज मुंज भोज, बीसल देव (विग्रह राज) का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इतना होते हुए भी संस्कृत और प्राकृत का सम्बन्ध जनजीवन से विच्छिन्न हो गया था, वे राजदरबारो और पण्डितो की भाषायें हो गयीं थी। उनमे या तो चमत्कार प्रदर्शन और आडम्बरपूर्ण वर्णनो का प्राधान्य होता था या राजाओ की प्रशस्ति और अतिशयोक्तिपूर्ण गुणगान होता था। बाणभट्ट के हर्षचरित से आश्रयदाता राजाओ के नाम पर चरितकाव्य लिखने की जो परिपाटी चली उसने इस काल मे अधिक जोर पकडा। वाक्पतिराज का गउडवहो पद्मगुप्त (परिमल) का नवसाहसाङ्क चरित, बिल्हण का विक्रमांकदेवचरित हेमचन्द्र का कुमारपाल चरित, सन्ध्याकर नन्दि का 'रामचरित,' सोमेश्वर की कीर्ति कौमुदी, अरिसिंह का सुकृतसंकीर्तन, जयसिंह सूरि का वस्तुपालचरित, जयसिंह का हम्मीरमदमर्दन, जयानक का पृथ्वीराजविजय, नयचन्द्र सूरि का हम्मीरमहाकाव्य, आनन्द भट्ट का बल्लालचरित, सोमदेव का ललित विग्रहराज नाटक, गंगाधर पण्डित का मण्डलीक महाकाव्य, और विद्यापति का कीर्तिलता तथा कीर्तिपताका आदि काव्य और नाटक ग्रन्थ इसी सामन्ती प्रशस्ति गान की प्रवृत्ति के परिणाम हैं। इन ग्रन्थो के सम्बन्ध मे पिछले अध्याय मे विचार किया जा चुका है और यह भी कहा जा चुका है कि सामन्त काल मे साहित्य का सम्मान करने मे राजा सामन्तो का उद्देश्य केवल साहित्य को प्रोत्साहित करना ही नही बल्कि अपनी कीर्ति को स्थायी बनाना भी था। कवियो की भी यही धारणा बन गयी थी राजाओ का यशोगान करके उन्हे अमर बना देना ही उनके काव्य का लक्ष्य है। इसी आशय से बिल्हण ने

विक्रमाङ्कदेव चरित के प्रथम सर्ग म लिखा है कि राजाओ को कवियो पर कोप नहीं, उनका आदर करना चाहिये क्योकि यह एकमात्र वाल्मीकि के काव्य का ही फल था कि रावण का यश तो सकुचित हो गया और राम आज भी यशस्वी समझे जाते है[1] । इस तरह साम ती वार युग मे साहित्य भी धीरे धीरे सामन्तों के यश विस्तार और वैभव प्रदर्शन का एक प्रमुख साधन बन गया ।

यश गान और प्रशस्ति की यह प्रवृत्ति सस्कृत और प्राकृत के कवियो तक ही सीमित नही थी । अपभ्रश और लोक भाषा के कवियों मे भी यह वर्तमान थी । यह युग की प्रमुख प्रवृत्ति थी । ऊपर कहा जा चुका है कि इस युग में व्यापक राष्ट्रीय एकता की भावना और सास्कृतिक समग्रता की प्रवृत्ति लुप्त हो चली थी और उनकी जगह चाटुकारिता, स्वाथपरता, वशगत या एकदेशीय स्वातन्त्र्य प्रेम ने ले लिया था । इसका तात्पर्य यह नहीं है कि इस काल मे वीरता की भावना भी नष्ट हो गयी थी । इसके विपरीत इस युग मे वीरता की भावना और भी प्रबल हो उठी थी । राजनीतिक परिस्थितियाँ ऐसी थीं जिनमे सामन्तों और राजाओ को युद्ध करने और मरने मारने के लिए हर घडी तैयार रहना पडता था । राजपूतो की जाति एक तरह से पेशेवर लडाकू जाति बन गयी थी । राजपूत बच्चों को प्रारम्भ से ही निर्भाकता और आन पर मर मिटने की शिक्षा दी जाती थी । इस तरह युद्ध करना राजाओ सामन्तो ओर राज्याश्रित सरदारा-सैनिकों का स्वभाव ही नहीं बन गया था, यह उनके अस्तित्व के लिए एक अनिवार्य कर्तव्य भी हो गया था । ऐसी स्थिति मे उन्हे प्रोत्साहित करने, वार भावना उत्पन्न करने ओर यश अमर करने वाले कवियो की भो आवश्यकता थी । राहुल साकृत्यायन ने इस सम्बन्ध म लिखा है—

"हमारी इन पाच सदियो मे साम्त वस्तुत निर्भय वीर होते थे, उनकी देश विजयो के बारे मे कवि अतिशयोक्ति भले ही कर सकता है, लेकिन शरार पर तीरो और तल्वारो के घावो के चिन्हो के बारे म अतिरजना की जरूरत नही थी । ऐसे समाज के लिए वीर रस की कवितायें बिल्कुल स्वाभाविक हैं ।"

हिन्दी काव्यधारा—अवतरणिका पृ० २९ ।

इस तरह सामन्ती वीर युग की प्रमुख प्रवृत्ति वीरता की थी और इसी के परिणामस्वरूप सभी भाषाओ में प्रशस्तिमूलक ऐतिहासिक, अर्द्धऐतिहासिक और

१—"लकापते सकुचित यशो यद् यत्कीर्तिपात्र रघुराजपुत्र ।
स सर्व एवादिकवे प्रभावो न कोपनीया कवय क्षितीन्द्रै ॥
विक्रमाकदेव चरित १–२७ ।

कथात्मक (रोमाचक) वीर काव्यो की रचना हुई । सस्कृत की अलकृत काव्य-परम्परा मे वीररस के लिए अधिक अवकाश नहीं था । अत इस काल मे प्रशस्तिमूलक सस्कृत महाकाव्यो या प्रबन्धकाव्यों म ऐतिहासिक इतिवृत्त, अतिशयोक्तिपूर्ण रोमाचकता, अतिरजित विषयवस्तु वर्णन और काव्यगत चमत्कार और सौन्दर्य जितना अधिक था, उतना वीरता का झनझनाता वणन और उत्तेजक वातावरण का उत्साह और उल्लास पूर्ण चित्रण नहीं था । इस आवश्यकता की पूति अवहट्ठ और लोकभाषाओ के काव्य द्वारा ही हो सकती थी । कारण यह था कि एक तो राजाओ, सरदारों और सैनिको की ये अपनी भाषाये थीं, दूसरे इन भाषाओ के कवि रणक्षेत्र मे भी उनका साथ देते, उन्हे प्रोत्साहित करते और स्वय लडते मरते थे । लोकभाषा के कवियों क सिर पर न तो पाण्डित्य और रूढिबद्ध परम्परा का बोझ था, न कृत्रिम भाषा शैली का साधन। वे अपनी सहज वीरतापरक भावनाओ और साक्षात अनुभूत तथ्यो का सरल, बोधगम्य और जीवन्त भाषा मे वर्णन करते और आवश्यकता क अनुरूप उद्बोधनपूर्ण शैली और लोक प्रचलित वीररसोपयुक्त छन्दो द्वारा वीरो को प्रोत्साहित करते थे । अतिशयोक्तिपूण प्रशस्ति उनके काव्यो मे भी होती थी, पर उनका काव्य यथार्थ जावन से उतना दूर नहीं होता था जितने सस्कृत के काव्य ।

चारण भाटो का उदय —

इसका परिणाम यह हुआ कि पूर्वमध्यकाल के उत्तरार्द्ध मे राजदरबारों म लोकभाषा के कवियों का प्रवेश ही नहीं हुआ, उनका सम्मान भी बढने लगा । यह देखकर सस्कृत के पडित कवियों ने भी लोकभाषाओ में काव्य-रचना प्रारम्भ की । कुछ तो बहुभाषा ज्ञान का प्रदर्शन करने के लिए और कुछ लोकभाषा के कवियो की प्रतिद्वन्दिता मे टिके रहने के लिए इस ओर झुके । सस्कृत के विद्वानो और कवियों को लोकभाषा के कवियो—विशेष कर चारण भाटो—का आदर होते देख कर ईर्ष्या भी अवश्य हुई होगी जैसा मुरारी कवि के इस पद्य से स्पष्ट प्रतीत होता है—

चर्चाभिश्चारणाना क्षितिरमण परा प्राप्य समोदलीला
मा कीर्ते सौविदल्लानवगणय कविप्राभवाणीविलासान् ।
गीत ख्यात न नाम्ना किमपिरघुपतेरद्य यावत्प्रासादा-
द्वाल्मीकेरेव धात्रीं धवलपति यशोमुद्रया रामभद्र [1] ।

---

[1] हरिकवि कृत सुभाषित हारावलि—(सुभाषित सग्रह)
पीटर्सन—दूसरी रिपोर्ट पृ० ५७–६४ ।

इसमे कवि ने राजा से निवेदन किया है कि हे राजन! चारणो की चर्चा से प्रसन्न होकर आप कवियो (सस्कृत प्राकृत के कवियो) की कविता का अनादर मत कीजिये क्योकि कवि ही यशरूपी नायिका के रखवाले या उसे लाकर राजाओ से मिलाने वाले होते हैं। रामचन्द्र के यश की छाप पृथ्वी पर आदि कवि वाल्मीकि के काव्य के कारण ही बनी हुई है, किसी चारण के गीत या ख्यात के कारण नही।

मुरारी कवि का काल निश्चित रूप से ज्ञात नही है। चन्द्रधर शर्मा गुलेरी का अनुमान है कि यह अनर्घराघव नाटक के कर्ता मुरारी कवि भी हो सकते हैं जो आठवीं नवी शताब्दी मे हुए थे। यदि यह अनुमान सच हो तो यह मानना पडेगा कि आठवीं नवीं शताब्दी से ही चारण-भाट लोकभाषाओ म प्रशस्तिमूलक काव्य रचना करके राजदरबारो मे सम्मान पाने लगे थे। सातवीं शताब्दी से ही सामन्ती वीरयुग प्रारम्भ हो गया था, अत दो सौ वर्षो मे युद्ध गीतो के गायक चारणो भाटो का होना कोई असम्भव या आश्चर्य की बात नहीं है। ग्यारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ मे मुज और भोज के दरबार मे तो लोक भाषा तथा जनसाधारण के बीच के कवियो का सम्मान होने ही लगा था। जयानक कवि के पृथ्वीराजविजय के अनुसार पृथ्वीराज के दरबार मे पृथ्वी भट्ट नाम का एक कवि था। पृथ्वीराज रासो मे चन्द वरदाई को भट्ट या भाट तो कहा ही गया है, गोरी के राजकवि माधोभट्ट की भी विस्तृत चर्चा हुई है। इस तरह इसमे कोई सन्देह नहीं रह जाता कि सातवीं से बारहवीं शताब्दी के बीच चारण भाटों का उदय हो चुका था जो तत्कालीन लोक भाषाओं मे प्रशस्तिमूलक काव्य रचना करते थे। बाद की शताब्दियों से तो चारणों भाटों का इतिहास और उनकी रचनाये भी मिलने लगती हैं। इन चारण भाटो का काव्य वस्तुत सस्कृत प्राकृत के प्रशस्तिमूलक ऐतिहासिक चरित काव्यो की परम्परा का ही बढाव या विकास है। उनकी फुटकल रचनाओं, व गीतों, ख्यातो ओर रासो नामक चरित काव्यो मे सामन्ती वीर युग की सभी प्रवृत्तियाँ दिखाई पडती हैं। भाषा की नवीनता, उल्लसित भावो की जीवन्तता, तीव्र तथा उत्कट वीर भावना की अभिव्यक्ति और सशक्त शृगारिकता ओर प्रेम भावना के चित्रण के कारण उनकी कविता सचमुच ही वीर-गाथा कही जाने योग्य है। उसे झूठा प्रशसा, चाटुकारिता या स्वार्थपूर्ति का साधन बता कर टाल देना उसके साथ अन्याय करना होगा।

इस प्रकार हिन्दी साहित्य के आदिकाल मे साहित्य की भाषा और भावनाओं मे परिवर्तन के साथ नये प्रकार के कवियो का भी उदय हुआ।

दरबारा मे विदवान ब्राह्मण कवियो की जगह अब चारण भाट रहने लगे। परम्परा से भी यह बात मानी जाती है जैसा इस प्रसिद्ध छन्द से स्पष्ट है —

ब्राह्मण के मुख की कविता कछु भाट लई कछु चारण लीन्हीं।

पिछले अध्याय मे सस्कृत, प्राकृत आर अपभ्रश के महाकाव्यो पर विचार करते हुये कहा जा चुका है कि उनम विशुद्ध वीरकाव्य तो कोई नहीं है किन्तु प्रशस्तिमूलक ऐतिहासिक और रोमाचक शैली के महाकाव्य अवश्य हैं। हिन्दी मे आकर हम एक नई दुनिया मे पहुँच जाते हैं जहाँ प्रशस्तिमूलक काव्यों की चार श्रेणियाँ दिखलाई पडती हैं। वे ये हैं १—प्रशस्तिमूलक वीरकाव्य २—ऐतिहासिक वणनात्मक काव्य ३—प्रशस्तिमूलक रोमाचक शृगार या प्रेम का काव्य ४—प्रशस्तिमूलक धामिक काव्य। इनके अतिरिक्त ५—विशुद्ध पौराणिक और धामिक काव्य और ६—निजन्धरी तथा काल्पनिक रोमाचक काव्य भी सस्कृत, प्राकृत और अपभ्रश के कथात्मक और पौराणिक काव्य की परम्परा के विकास के रूप मे मिलते हैं।

आदिकाल के प्रशस्तिमूलक प्रबन्धकाव्यो मे ये ग्रन्थ आते है —

१ प्रशस्तिमूलक वर्णनात्मक ऐतिहासिक काव्य —कीतिलता

२ प्रशस्तिमूलक रोमाचक प्रेम काव्य —वीसलदेव रासो

३ प्रशस्तिमूलक धामिक काव्य —क सघसमरारास ख कुमारपाल प्रतिबोध

४ प्रशस्तिमूलक वीरकाव्य —

क पृथ्वीराजरासो

ख आल्हखड

ग रणमलछन्द

घ विजयपालरासो

इनके अतिरिक्त इस काल के दो प्रकार के प्रबन्धकाव्य और मिलते हैं। वे ये हैं

१ निजन्धरी और कल्पित रोमाचक प्रेमाख्यान —क ढोलामारू रा दूहा ख सदेशरासक, सदेवत्त सावलिंगा की कथा, नलदमयती, विद्याविलास आदि लोक कथाये।

२ धामिक पौराणिक लघु चरितकाव्य —क स्थूलभद्द रासु ख भरतेश्वर बाहुबलिरास ग जम्बूस्वामीचरिउ आदि।

प्रशस्तिमूलक वर्णनात्मक ऐतिहासिक काव्य तथा रोमाचक प्रेम काव्य

कीतिलता बिल्कुल उसी तरह का ऐतिहासिक चरितकाव्य है जिस तरह के विक्रमाकदेवचरित, पृथ्वीराजविजय सुकृतसकीर्तन आदि हैं। इसमे राजा

कीर्तिसिंह की उदारता, गुणग्राहकता, शौर्य आदि का वर्णन है पर यह वीर काव्य नहीं है। ऐतिहासिक तथा कल्पनामूलक रोमाचक प्रेमकाव्यो के अन्तर्गत वीसलदेवरासो को लिया जा सकता है। सस्कृत मे पद्मगुप्त का नवसाहसाक चरित इसी प्रकार का काव्य है जिसमे परमारो की वशावली और नवसाहसाक के नाम आदि कुछ बातो को छोड़कर कोई भी बात ऐतिहासिक नही है। कहा जा चुका है कि इस तरह के काव्यो पर कथा आख्यायिका और सम्भवत जैन रोमाचक पौराणिक काव्यों का बहुत अधिक प्रभाव है। इनम इतिहास तो बहुत कम या नहीं के बराबर होता है, कल्पित घटनाओ का रोमाचक वर्णन या विविध मानसिक दशाओ की मार्मिक अभिव्यक्ति अधिक होती है। वीसलदेवरासो भी इसी प्रकार का ऐतिहासिक काव्य है, यद्यपि इस ग्रथ के रचनाकाल के सम्बन्ध म काफी विवाद है। कुछ लोग वीसलदेव द्वितीय, कुछ तृतीय और कुछ चतुर्थ के समय मे इस काव्य का रचा जाना मानते हैं किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से वीसलदेवरासो का नायक विग्रहराज तृतीय हो सकता है क्योकि वह भोज (१०१० से १०५५ ई०) का समकालीन था। डा० गौरीशकर हीराचद ओझा ने भी इसी वीसलदेव को वीसलदेवरासो का नायक माना है। यह ठीक भी है क्योकि बिजोलिया वाले प्रशस्ति लेख मे वीसलदेव की रानी का नाम राजदेवी दिया है[1]। यदि डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी का मत माना जाय तो इसके कवि नरपति नाल्ह को विग्रहराज चतुर्थ का समकालीन और उसका नायक वीसलदेव तृतीय को माना जा सकता है। राजा लोग अपने पूर्वजो की कीर्ति की रक्षा के लिये भी काव्य लिखवाते रहे हैं। वीसलदेवरासो मे भी नवसाहसाकचरित के समान ऐतिहासिक घटनाओ, युद्ध, विजय आदि का वर्णन नहीं है, बल्कि वीसलदेव और भोज की पुत्री राजमती के विवाह, प्रेम, विरह आदि का ही विस्तृत ओर रोमाचक वर्णन इसम विशेषरूप से किया गया है। इसमे विरह की विविध अवस्थाओ, मनोदशाओ और बारहमासा आदि का बहुत स्वाभाविक वर्णन हुआ है। इस काव्य मे वर्णित बारहमासा को यदि नेमिनाथचउपई और नेमिनाथ बारहमासा के बारहमासो से मिलाकर देखा जाय तो प्रतीत होता है कि ऋतु वर्णन की जगह बारहमासा लिखने की प्रथा हिन्दी की बिल्कुल अपनी विशेषता है जो लोकजीवन से गृहीत है। बाद में तो जायसी आदि प्रेमाख्यानक कवियो ने इसे खूब अपनाया। वीसलदेव रासो को चाहे प्रशस्तिमूलक माना जाय या लोकगाथा, पर उसका महत्व

१ श्री चण्डोवृनिपेतिराणकधर श्री सिंहलोवत्सल स्तदभ्राताय ततोपि विसलनृप श्री राजदेवी प्रिय ।

इसलिये है कि ऐतिहासिक नायक को लेकर लिखा गया वह हिन्दी का प्रथम प्रेमाख्यानक काव्य है।

प्रशस्तिमूलक धार्मिक काव्य—

सामती वीरयुग म राजाओ, मत्रियो और सेठ साम तो म धामिक भावना प्रबल थी आर वे धामिक सम्प्रदायो, साधुओ और धम गुरुओ का सरक्षण भी करते थे। चालुक्य राजा कुमारपाल (जिसके बारे म कहा जाता है कि हेमच द्र सूरि की प्रेरणा से जैन हो गया था) क समय म जैन धम और साहित्य का बहुत उत्कष हुआ था। उसके मत्री वस्तुपाल और तेजपाल भी जैन थे, वे जैनधर्म के सरक्षक आर जैन तीथो के उद्धारक थे। उसी तरह मान्यखेट के कई राष्ट्रकूट राजा भी जैनधम क पोषक थे। अपभ्रश के महाकवि पुष्पदत राष्ट्रकूट कृष्ण के मत्री भरत और नन्द क आश्रित थे। म यदेश के राजा अधिकतर शैव थे, चौहानो के कुलदेवता श्री हर्ष महादेव और गुहिलोतो के एकलिंग थे। चन्देल, गहडवार और परमार भी शैवधर्म के पोषक थे। चदि के कल्चुरी राजा परम शैव से और उनक राज्य मे पाशुपत मत के कालामुख सम्प्रदाय का बहुत प्रचार था। पूर्व म गोड देश के पाल राजा बाद्धधम क सहजयान सप्रदाय के सरक्षक थे। पूवा बगाल के सेन राजा वैदिक मतानुयायी और ब्राह्मण धम के पक्के पोषक थे। इस प्रकार समस्त भारत म विविध धामिक मतमतान्तर और सप्रदाय बिखरे थे और राजाओ द्वारा उन्हे प्रोत्साहन मिलता था। जो राजा, सेठ या मत्री विशेष धार्मिक थे उनकी प्रशस्ति मे धार्मिक काव्य भी रचे गये। कुमारपाल के लिये शिक्षा या उपदेश के रूप मे जैन साधु सोमप्रभ सूरि ने कुमारपाल प्रतिबोध की रचना की जिसका एक अश परवता अपभ्रश या पुरानी हिन्दी म लिखा गया है। गुजरात मे जैनधम का अधिक जोर था, अत वहाँ के मत्रियो—वस्तुपाल, तेजपाल—के धार्मिक कार्यो का उल्लेख करते हुए प्रशस्तिकाव्य लिखे गये। जैन तीर्थ रेवन्तगिरि के उद्धारकर्ता समरसेठ के सम्बन्ध में अम्बदेव सूरि ने पुरानी हिन्दी मे सघमसरारासु लिखा। यह 'रास' या नृत्य गीत के रूप मे गाने के लिये लिखा गया था जैसा कवि ने इस लघु प्रब धकाव्य के प्रारम्भ मे ही कहा है

लेउ देवालउमाहि वइठहु ए सघपति सघ साहिउ
लहरि लागइ आगासि प्रवहणु ए जाइ विमाण जिमि
जलवट नाटक जोइ नवरग ए रास लवुडारस।

रास नामक काव्य रूप का प्रचार इस काल में खूब हो गया था पर उस समय तक रास नामक काव्यरूप केवल चरितकाव्यों के लिये ही सीमित नहीं था,

धार्मिक उपदेश सम्बन्धी काव्यो के नाम भी रास होते थे। इस सम्बन्ध मे अगले अध्याय मे विशेषरूप से विचार किया जायगा। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि धार्मिक राजाओं, मन्त्रियो और सेठों की प्रशस्ति मे इस काल म धार्मिक काव्य लिखने की प्रथा थी और उनके सम्बन्ध मे या तो प्रशस्ति ग्रथ लिखे जाते थे या धामिक कवि अपने काव्य ग्रन्थो मे प्रारम्भ या अन्त में उनकी प्रशसा करते हुये लिख देते थे कि उन्ही की प्रेरणा से यह काव्य लिखा जा रहा है। धीरे धीरे लौकिक प्रबन्ध काव्यो में भी धार्मिक रग आधक आने लगा और भक्तिकाल मे लौकिक काव्य या 'पुरिस कहानी' लिखने की प्रथा बहुत कम हो गई।

प्रशस्तिमूलक वीरकाव्य—

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, हिन्दी साहित्य का आदिकाल सामन्ती वीर युग था। उसके पीछे प्रारम्भिक वीरयुग (महाभारत रामायण काल) विकासोन्मुख साम तयुग (सस्कृत काव्य काल) और ह्रासोन्मुख साम त युग (हर्षोत्तर काल) की सुदीध सास्कृतिक, सामाजिक और साहित्यिक परम्परा थी और सामने अचिन्त्य कठिनाइयाँ, खतरे और अनिश्चित भविष्य था। ऐसा काल सक्रान्ति या परिवर्तन का काल होता है जिसमे एक ओर पुराने सस्कार सामाजिक जीवन को अधिकाधिक जकडने का प्रयत्न करते हैं तो दूसरी ओर स्वच्छन्द जीवनी शक्ति और नवीन मार्गों पर चलने की तीव्र मनोवृत्ति उसे आकषित करती है। पिछले अ याय मे दिखाया जा चुका है कि किस प्रकार इस युग म शिष्ट साहित्य, जो अधिकतर सस्कृत भाषा मे निमित हुआ, रूढबद्ध और आडम्बरपूर्ण हो गया था। इसके विपरीत लोक प्रवृत्तियों और शासक वर्ग की वीरता और प्रेम की मनोवृत्तियो की अभिव्यक्ति लोकभाषाओ अपभ्रश–अवहट्ठ और पुरानी हिन्दी—मे होने लगी। इस धारा के साहित्य मे जीव तता और विद्रोह की भावना थी। चारण भाटो तथा वीर राजाओं साम तो के आश्रित अ य लोकोन्मुख कवियो मे रूढिवद्धता, गतानुगतिकता ओर आडम्बर वृत्ति उतनी नही थी जितनी सहजता, वीरोल्लास, अनगढपन और सादगी। भाषा, छन्द, शैली और भाव धारा सब मे इस धारा की कविता लोकाश्रित अधिक थी, परम्पराश्रित कम। अपभ्रश भाषा के कवियो ने लोकजीवन और लोकविश्वासो से सामग्री लेकर, धार्मिक दृष्टि से ही सही, जो साहित्यिक परम्परा स्थापित कर दी थी, हिन्दी के प्राचीनतम काव्य मे उसका पयाप्त उपयोग किया गया। फिर भी प्रशास्तमूलक वीरकाव्य की रचना हिन्दी की निजी विशेषता है। अपभ्रश के दोहा–साहित्य मे वीर शृङ्गार काव्य अवश्य अधिक मिलता है पर वह भी सातवी शताब्दी के बाद का ही है जब कि वीरयुग का बीजवपन हो गया था। प्रशस्तिमूलक वीर काव्य मे कवियों

ने, राजाओ का अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशस्तिगान ही नहीं गाया है, उन्हें साहस, उत्साह, शक्ति और वीरोचित कार्यो के लिए प्रेरणा भी दी है। उनका यह काव्य राजा सामन्तो मे ही नही, सामान्य जनता मे भी वीरता की भावना और उमग जाग्रत करता रहा है। यह इसी से स्पष्ट है कि पृथ्वीराजरासो राजस्थान मे और आल्हखड समस्त मध्यदेश मे कई सौ वर्षो से इतने लोकप्रिय रहे हैं।

इसमे तो कोई सन्देह नही कि इस युग मे भी वीरता, प्रेम, और धर्म भावना इन तीन प्रमुख प्रवृत्तियो मे वीरता की प्रवृत्ति ही प्रमुख थी और वह वीरता सामन्त वर्ग, विशेषकर निरकुश राजपूत वीरो, मे विशेष रूप से थी। अत सामन्ती प्रेम और श्रृङ्गार का प्रवृत्ति भा उस वीरभावना के आवश्यक अग के रूप मे लगी लिपटी थी। यह युग प्रारम्भिक वीरयुग जैसा नहीं था जिसमे वैयक्तिक शौर्य प्रदर्शन के लिये या आत्माभिमान पर ठेस लगने से ही द्वन्दयुद्ध हो जाता था। इस युग मे अपने राज्य की रक्षा या दूसरे का राज्य छीनने के लिए अथवा कन्या हरण और धन लूटने के लिए युद्ध होते थे। पराजित राजा का नगर, धन धान्य और राज्य लूटे जाने का तो इतिहास साक्षी है, एक राजा के अनेक विवाहों के भी प्रमाण मिलते हैं। कवियो ने सम्भावना पर जोर दिया है और राजकन्या का रूप गुण सुन कर नायको द्वारा उस कन्या के हरण या उसके पिता से युद्ध का विधान भी अपने काव्यो मे किया है। यूरोप मे आठवीं शताब्दी से चौदहवीं शताब्दी तक का जो सामन्ती वीरयुग था उसमे भी वीर काव्य की यही प्रवृत्ति दिखाई पडती है। वस्तुत सामन्ती वीरयुग की विशेषता है कि उसमें लोक जीवन और लौकिक काव्य मे वीरता और प्रेम की प्रवृत्तियाँ अनिवार्य रूप से साथ साथ रहती हैं। अत इस युग की स्फुट कविताओ मे उद्दाम प्रेम और प्रचण्ड वीरता तथा दर्प का चित्रण तो हुआ ही है, जैसा हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण तथा प्रबन्ध चिन्तामणि आदि ग्रथो के दोहो मे दिखाई पडता है, साथ ही प्रबन्धात्मक वीर काव्यो मे भी वीरता और श्रृङ्गारिकता की साथ साथ अभिव्यक्ति हुई है। ये दोनो परस्पर विरोधी नहीं बल्कि पूरक प्रवृत्तियों के रूप में दिखाई पडते हैं और इसीसे इस काल के काव्य में शास्त्रीयता और पाण्डित्य प्रदर्शन की जगह रोमाचक स्वच्छन्दता का दर्शन होता है। साथ ही धार्मिक प्रवृत्ति के कारण पौराणकता से भी उनका पल्ला नहीं छूटा है। इस तरह इस काल के प्रबन्ध काव्यों मे ऐतिहासिक, रोमाचक और पौराणिक तीनों ही शैलियों का मिश्रण दिखाई पडता है।

१०००ई० स १४०० ई० के बीच के लम्बे काल मे प्रशस्तिमूलक प्रबन्धात्मक वीर काव्य बहुत लिखे गये होगे। उस काल की प्रवृत्ति और परिस्थिति को

देखते हुए यह अनुमान करना स्वाभाविक है। पर दुर्भाग्य वश उस काल की रचनाये–विशेष रूप से राज्याश्रित लौकिक काव्य–सुरक्षित नही रह सकी, अत आज उनमे से बहुत कम उपलब्ध हैं। आचार्य रामच द्र शुक्ल ने उस काल की प्रवृत्ति को ही ध्यान मे रखकर कुछ सदिग्ध और अधिकतर नाम मात्र ही से ज्ञात प्रबन्धात्मक वीर काव्यो के आधार पर उस काल का नाम वीरगाथा काल रख दिया था। बाद मे डा० रामकुमार वर्मा ने अपने 'हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास' मे इस काल को चारण काल और राहुल साकृत्यायन ने 'हिन्दी काव्यधारा' मे इसे सिद्ध साम त युग कहा। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इस काल मे लिखित माने जाने वाले वीरगाथा काव्यों के सम्बन्ध मे अबतक के शोधो का उपयोग करते हुए कहा है कि 'यह स्पष्ट है कि जिन ग्रन्थो के आधार पर इस काल का नाम वीरगाथाकाल रखा गया है उनमे से कुछ 'नोटिस' मात्र से बहुत अधिक महत्वपूर्ण नहीं, और कुछ या तो पीछे की रचनाये हैं या पहले की रचनाओ के विकृत रूप हैं[1]। द्विवेदी जी का यह मत कि इस युग का नाम 'वीरगाथाकाल' उपयुक्त नहीं है, सही होने पर भी इस काल के माने जाने वाले काव्यो का महत्व नहीं कम हो जाता और न 'नोटिस' रूप मे ज्ञात ग्रन्थों की खोज का कार्य ही समाप्त कर देने की आवश्यकता है। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, 'प्राकृतपैंगलम' मे प्राप्त प्रशस्ति मूलक वीररस के छन्दों को देखकर यह अवश्य प्रतीत होता है कि ये किन्हीं प्रबन्ध काव्यों के अश हैं। शारगधर का 'हम्मीररासो' और भट्ट केदार मधुकर कवि के जयचन्द्र प्रकाश और जयमयक जसचन्द्रिका नामक काव्य आज उपलब्ध नहीं हैं पर हम्मीररासो के परम्परा से प्रसिद्ध होने और अन्य दो ग्रन्थो का 'राठौडा री ख्यात' नामक प्राचीन ग्रन्थ मे उल्लेख होने के कारण यह अनुमान करना स्वाभाविक है कि सम्भवत प्राकृतपैंगलम् के उपर्युक्त छन्द इन्ही काव्यो से लिए गये हो। पर इसका कोई प्रमाण न होने से यह अनुमान मात्र है। अत आदिकाल के प्रब धात्मक वीर काव्यो की परम्परा पर विचार करते समय इनका कोई महत्व नहीं है। खुम्माणरासो के बारे मे तो अब निश्चित सा हो गया है कि वह सत्रहवी शताब्दी के दौलतविजय नामक जैन साधु द्वारा महाराज संग्राम सिंह द्वितीय के समय मे लिखा गया काव्य है और सिसौदिया राजाओ की वशगत उपाधि 'खुम्माण' होने के कारण इस वशावली जैसे काव्य का नाम खुमाररासो पडा है। प० मोतीलाल मेनारिया के अनुसार

१ डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी–हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ० १६, १७ स०–१९५२।

यह मेवाड का काव्यमय इतिहास है जिसे पूर्ववर्ती ग्रन्थ राणारासो से भिन्न रखने के लिये उसी अर्थ का व्यजक खुमाणरासो नाम दिया गया और इसके कवि दौलतविजय नामक साधु थे जिन्होने स० १७६७ से १७९० के बीच कभी इसकी रचना की[1]। अत 'खुमाण रासो' आदिकाल के भीतर विचारणीय नहीं है। इस प्रकार इस काल के प्राप्त होने वाले प्रशस्तिमूलक वीर काव्य केवल ये हैं

१ पृथ्वीराजरासो
२ आल्हखड
३ रणमल्लछन्द
४ विजयपालरासो

इनमे से पृथ्वीराजरासो और आल्हखड विकसनशील महाकाव्य हैं, अत उनके सबध मे अगले अध्याय मे विचार किया जायगा। शेष दोनो लघु काव्य हे ओर लिखित रूप मे पहले से ही उनका रूप स्थिर हो चुका है। रणमल्लछन्द चौदहवीं शताब्दी के अतिम भाग म १३९७ ई० के आसपास श्रीधर नामक कवि का लिखा है। इसम गुजरात के ईडर के राठौड राणा रणमल्ल के पाटण के सूबेदार जफर खाँ के साथ युद्ध और उनकी विजय का बहुत ही ओजपूर्ण शैली मे तत्कालीन काव्य भाषा डिगल मे वर्णन किया गया है। काव्य आद्यन्त वीररस से ओतप्रोत है और तत्कालीन वीर काव्य की प्रवृत्ति का पूर्ण प्रतिनिधित्व करता है। गुजरात के विद्वान मौ० सैयद अबूजफर नदवी ने इस काव्य का ऐतिहासिक दृष्टि से मूल्याकन करते हुए इसकी ऐतिहासिकता सिद्ध की है[2]। अत भाषा और वीर भावना की अभिव्यक्ति की तत्कालान प्रवृत्ति का परिचय देने वाला यह एकमात्र असन्दिग्ध ग्रन्थ हैं। दूसरा ग्रन्थ नल्लसिंह भाट का विजयपालरासो है जिसका रचना काल मिश्रबन्धुओ ने १२९८ ई० माना है पर यह भाषा की दृष्टि से ओर भा परवता काल का प्रतीत हाता है। इसकी कथा ग्यारहवीं शताब्दी की है जिसमे करोली के यदुवशी राजा विजयपाल के पग के साथ युद्ध का वर्णन है। ऐतिहासिक दृष्टि से इसमें भी अतिशयोक्तिपूर्ण कथन है पर वीररस की इसमें अच्छी योजना हुई है। ग्रन्थ का कुछ हा अश प्राप्त हुआ है। इस ग्रथ के सम्बन्ध मे डा० हजारी प्रसाद

१ प० मोतीलाल मेनारिया—'खुमाणरासो'—नागरी प्रचारिणी पत्रिका—पृ० ५०,५६—स० २००९—वर्ष ५७।

२ मौलाना सैयद अबूजफर नदवी—'रणमल्ल छन्दनी ऐतिहासिक समालोचना'—गुजराती प्रकाशक, गुजरात वर्नाक्यूलर सोसायटी, अहमदाबाद

द्विवेदी का कहना है कि 'इसकी भाषा और शैली पर विचार करने से मालूम होता है कि इसकी रचना बहुत बाद मे हुई होगी'[1]।

रोमाचक प्रेमाख्यानक काव्य —

सस्कृत, प्राकृत और अपभ्रश के रोमाचक महाकाव्यो पर पिछले अध्याय मे विचार करते हुए कहा जा चुका है कि इनमे लोककथा लोकगाथा की सभी प्रवृत्तियाँ अपना ली गयी हैं। इसका अर्थ यह है कि इस युग का साहित्य अधिकाधिक लोकोन्मुख होता गया। लोकभाषाओ मे रचित साहित्य मे इन प्रवृत्तियो का मिलना तो और भी स्वाभाविक है। बृहत्कथा से रोमाचक कथाओं की जो पद्धति प्रारम्भ हुई वह कथा आख्यायिकाओ और पौराणिक रोमाचक महाकाव्यों मे प्रशस्त रूप मे गृहीत हुई। अपभ्रश साहित्य मे इस काव्य धारा का और भी अधिक विस्तार हुआ। हिन्दी साहित्य के आदिकाल मे लोकभाषाओ मे इस प्रकार के काव्यो का अधिक प्रचलन अवश्य रहा होगा पर सरक्षण के अभाव तथा अधिकतर लिखित रूप मे न रहने के कारण उनका तत्कालीन रूप आज प्राप्त नहीं है। उस समय का लिखा एक रोमाचक प्रेमाख्यान काव्य 'सन्देश रासक' अवश्य उपलब्ध है। यद्यपि उसे पूर्णत हिन्दी का काव्य नहीं कहा जा सकता पर उसकी भाषा परिनिष्ठित या क्लासिकल अपभ्रश नही बल्कि पुरानी हिन्दी से मिलती जुलती बोधगम्य अपभ्रश भाषा है। उस काल मे जनता के बीच अनेक प्रेम कहानियाँ प्रचलित थी जिनका प्रभाव इस काव्य पर पडा है। जायसी ने पद्मावत मे जिस प्रकार कई पूर्व प्रचलित प्रेम कथाओं की परम्परा की चर्चा की है उसी तरह अब्दुल रहमान ने भी पथिक के मुख से अपने नगर मुलतान का वर्णन कराते हुए वहाँ की लोककथाओ और रासक, नाटक आदि मनोरजन के साधनों का वर्णन इस प्रकार किया है —

कह व ठाइ चउवेइहि वेउ पपासियइ
कह बहुरूवि णिबद्धउ रासउ भासियइ।
कह व ठाइ सुदयवच्छ कत्थ व नलचरिउ
कत्थ व विविह विणोइह भारहु उच्चरिउ।
कह व ठाइ आसीसिय चाइहि दयवरिहि
रामायणु अहिणवियअइ कत्थविकय वरिहि।

संदेशरासक ४३,४४।

(कहीं चारो वेद जानने वाले पाठ कर रहे हैं। कहीं अनेक रूप धारण करने वाले बहुरूपिये या बहुरूप धारण करने वाले अभिनेताओं द्वारा रासक

1 डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, 'हिन्दी साहित्य', पृ० ५५, आगरा १९५२

पाठ हो रहा है, कही सदयवत्स और नल की कथा कही जा रही है, कही विविध विनोद के साथ महाभारत की कथा हो रही है और कही त्यागी विद्वान रामायण का कथा कहते है)

इससे प्रकट है कि अब्दुल रहमान के समय मे (द्विवेदी जी के मत से ग्यारहवीं शताब्दी—मुनि जिन विजय जी के मत से १२ वी का अन्त, तेरहवीं का आदि) रामायण महाभारत के समान नल चरित और सदयवत्स की कथा आदि प्रेमाख्यानक लोककथा लोकगाथाओ का भी प्रचार था। अत उन कथाओ को नवोदित लोकभाषा साहित्य मे अवश्य अपनाया गया होगा जैसा अपभ्रंश के काव्यो मे किया गया था और परवर्ती हिन्दी के प्रेमाख्यानक काव्यो म बाद में किया गया। उस काल के रोमाचक प्रेमाख्यानक काव्य या तो लोक कठ मे सुरक्षित रहकर भाषा और कथानक म नितान्त परिवर्तित रूप मे आज उपलब्ध हैं या सरक्षण के अभाव मे नष्ट हो गये हैं। बाबू सत्यजीवन वर्मा ने इस सम्बन्ध म लिखा है, "यह निश्चय पूर्वक कहा जा सकता है कि विक्रमीय १४ वीं शताब्दी मे कुछ छोटे मोटे आख्यानो का प्रचार अवश्य था जिनका पीछे से लोप हो गया।" लिखित रूप में अपहट्ठ काव्य सन्देश रासक ही प्राप्त है। तत्कालीन लोकभाषा के दो प्रेमाख्यानक काव्य आज प्राप्त हैं जो सोलहवीं सत्रहवीं शताब्दी मे बदले हुए रूप मे लिपिबद्ध किये गये। इस तरह इस काल के जो प्रेमाख्यानक काव्य आज किसी न किसी रूप मे हमे प्राप्त हैं, वे ये हैं —

१ सन्देशरासक
२ ढोला मारू रा दूहा
३ नेमिनाथ चउपई
४ तत्कालीन लोक कथाये जैसे

सदयवत्स-सावलिंगा (सारगा सदावृक्ष या उदयवत्स की कथा)।

ये सभी भिन्न प्रकार के काव्य हैं। 'सन्देशरासक' ग्राम्य अपभ्रंश भाषा मे पूर्ववर्ती साहित्यिक परम्परा और भावधारा को अपना कर लिखा गया मेघदूत के ढग का सन्देश काव्य है। उसम कथावस्तु नहीं के बराबर है, भावनाओ का सौन्दर्य, रूप और नखशिखवर्णन, ऋतु वर्णन तथा विरह की विविध मनोदशाओ का चित्रण इसकी विशेषता है और इस दृष्टि से यह वर्णनात्मक आख्यानक काव्य नहीं, भावनात्मक खडकाव्य है जिसमे मेघदूत के समान गीतात्मक प्रबन्धत्व है। स देशरासक पूर्ववर्ती शास्त्रीय काव्य परम्परा

और तत्कालीन लोक प्रचलित प्रेमाख्यानक काव्य परम्परा के बीच की कडी है। आख्यानक काव्य से अधिक वह स्वच्छ द प्रेम काव्य है जिसमे अलकार और वर्णनविधि तो परम्परागत तथा रूढ हैं पर प्रेम की विदग्धता अत्यन्त स्वाभाविक और लोकभाव भूमि पर आधारित है। परवता सूफी प्रेमाख्यानक काव्यो की विरह वेदना का प्रारम्भिक रूप सन्देशरासक मे दिखाई पडता है। पद्मावत मे नागमती का वियोग वर्णन सन्देशरासक के विरह वर्णन से तुलनीय है।

ढोलामारू रा दूहा—सन्देशरासक एक नागर कवि की यत्नसाध्य कृति है किन्तु उसकी भाव धारा उन प्रेमाख्यानक लोकगाथाओ की ही है जिनकी चर्चा (सदयवत्सचारत का) अब्दुल रहमान ने की है। पिछले अध्याय मे कहा जा चुका है कि कथा आख्यायिका तथा परवता रोमाचक काव्य लोककथाओ लोकगाथाओ के आधार पर निर्मित हुए। लोककथा लोकगाथा के रूप निमाण, विकास और शिष्ट साहित्य पर उनके प्रभाव के सम्बन्ध मे पहले अध्याय मे विचार किया जा चुका है, यहाँ उसे दुहराने की आवश्यकता नही है। लोकगाथाये या तो लोक कवियों द्वारा कथा के रूप मे गान के लिए निमित होती हैं और मौखिक रूप मे कालक्रम से रूप बदलती रहती हैं या किसी विशेष कवि का काव्य अपनी चरम लोकप्रियता के कारण लोक कठ मे बस कर लोकगाथा का रूप धारण कर लेता है। प्रारम्भिक वीर युग मे इन्ही गाथाओ के चक्र से महाकाव्य बन जाते थे। विकासोन्मुख सामन्त युग और अन्य परवर्ती युगो मे कुछ लोकोन्मुख कवि इन्ही लोकगाथाओ की कथावस्तु और भावधारा को लेकर आख्यानक काव्यो की रचना करने लगते हैं। हि दी मे लोरिकायन, राजा भरथरी, कुँअरसिह, विजयमल, सारगासदावृक्ष आदि प्रथम प्रकार की लोकगाथाये हैं जो युग युग के लोक कवियो की सामूहिक रचना है। दूसरे प्रकार की लोकगाथाये आल्हखड, ढोलामारू रा दूहा आदि है जो प्रारम्भ मे विशिष्ट कवियो द्वारा निर्मित हुई पर लोकप्रिय होकर लोक कठ मे बस गई और अपना मूल रूप खो बैठीं। तीसरे प्रकार के काव्य लोककथाओ के आधार पर उनके साहित्यिक रूपान्तर के रूप मे रचे गये हैं। हिन्दी के अधिकतर प्रेमाख्यानक काव्य ऐसे ही हैं। कथावस्तु की दृष्टि से प्रेमाख्यानक काव्य चार प्रकार के होत हैं।

१ जिनमे कथावस्तु अत्य त अल्प या क्षीण होती है, भावात्मकता और वस्तुवर्णन ही अधिक होता है।

२ जिनमे कथावस्तु तो होती है पर वह बिल्कुल काल्पनिक या उत्पाद्य

होती है, कवि आधुनिक उपन्यासो के ढग पर कथानक का ढाचा स्वय खडा करता है।

३ जिनमे कथावस्तु लोककथाओ लोकगाथाओं से ग्रहण की जाती है, कवि उनका रूपा तर मात्र करता है।

४ जिनम कथावस्तु का कुछ अश इतिहास या पुराण की घटनाओं और व्यक्तियो से सम्बद्ध होता है पर शेष बाते कवि या तो स्वय कल्पित कर लेता है या लोक प्रचलित कल्पित या निजन्धरी कथाओ से ग्रहण करके अर्द्ध ऐतिहासिक अर्द्धपौराणिक काव्य की रचना करता है।

विवेच्य काल के प्रेमाख्यानक काव्यो म पहले प्रकार का काव्य रा देश—रामक है, दूसरे प्रकार का काव्य एक भी नही है, तीसरे प्रकार के काव्य सदयवत्स, सावलिंगा, च दाबन आदि है, और चौथे प्रकार के काव्य बीसलदेव रासो, ढोला मारू रा दूहा और नेमिनाथ चउपई है।

'ढोलामारू रा दूहा' और बीसलदेवरासो, दोनो म ही कथानक बहुत कम है, पर तु दोनो म प्रधान अतर यह है बीसलदेवरासो की कथा वर्णनात्मक ढग से धाराप्रवाह एक ही छ द मे कही गयी है और ढोलामारू रा दूहा मुक्त प्रब ध काव्य है अथात् उसके दोहे अलग अलग भी काव्य-सौन्दर्य और उक्ति चमत्कार की दृष्टि से स्वतत्र प्रतीत होते हैं, परन्तु एक साथ मिलकर वे प्रबन्ध काव्य का रूप धारण कर लेते हैं। ढोलामारू की कथा सदियों से राजस्थान की प्रिय लोकगाथा रही है ये और ढाढी जाति ने इसके विकास मे सर्वाधिक योग दिया है। प्रारम्भ मे यह सामूहिक लोकगीत रहा होगा पर बाद मे चारण भाट ढोली ढाढी दमामी आदि पेशेवर गाने वालों ने इसे विकसित विवर्द्धित किया आर ढोली ढाली जाति के लोग आज भी इसे विकृत रूप मे गा गा कर जीविकोपार्जन करते हैं। अत वर्तमान समय मे यह विकसनशील रोमाचक काव्य का रूप धारण कर चुका है। यह ग्रन्थ सम्पादित होकर प्रकाशित हो चुका है और इसके सम्पादको का अनुमान है कि इसकी रचना मूल रूप में दोहों मे स० १४५० के पहले किसी समय ढोली ढाढी जाति के किसी कवि द्वारा हुई होगी क्योंकि कथा का मूल आधार ऐतिहासिक है और उसका नायक सवत् १००० ई० के आसपास का ऐतिहासिक व्यक्ति है। सोलहवीं शताब्दी तक ढोलामारू काव्य के दोहे छिन्न भिन्न होने लगे थे अत कुशललाभ नामक जैन कवि ने टूटे कथासूत्र को बीच बीच मे चौपाइयाँ रख कर जोडा और उस ग्रन्थ का नाम ढालामारू चउपई रखा। परन्तु दोहों वाली कथा भी अन्य स्थानों में प्रचलित रही यद्यपि भिन्न भिन्न स्थानों में उसके

भिन्न-भिन्न रूपा तर हो गये। इस तरह पजाब से लेकर गुजरात तक सारे पश्चिमी भारत मे यह प्रेम गाथा लोक प्रचलित रही है। अत ढोलामारू रा दूहा सच्चे अर्थ मे उत्कृष्ट लोकगाथा है। उसके निर्माण म कवि का विशेष कुशल हाथ अवश्य दिखलाई पडता है पर कई शताब्दियों के रूप परिवर्तन के बाद इसके मूल कवि ने समुदाय में अपने को खो दिया है। अत वतमान रूप मे प्राप्त ढोला मारू रा दूहा, सामुदायिक कृतित्व है, किसी एक कवि की रचना नही।

यद्यपि यह काव्य सन्देशरासक के समान ही प्रेमाख्यानक काव्य है पर दोनो मे भारी अ तर यह है कि रासक मे कथावस्तु अत्य त क्षीण है जबकि इस काव्य मे कथा क्षीण होते हुए भी द्रुत वेग से आगे बढती है। कथा क्षाण होने का तात्पर्य यह है कि सस्कृत, प्राकृत और अपभ्रश के रोमाचक काव्यों अथवा हिन्दी के परवर्ती प्रेमाख्यानक काव्यो की तरह इसका कथानक जटिल, घुमावदार और अत्यधिक घटना प्रधान नही है। इसकी कथा सरल है और स्वाभाविक ढग से आगे बढती है। फिर भी उसे आगे बढाने के लिए लोककथाओ और रोमाचक काव्यों की चिराचरित कथानक रूढियो का सहारा लिया गया है जैसे मालवणी द्वारा स्वप्न मे प्रियदर्शन, मालवणी का तोता से प्रिय के पास सन्देश भेजना, प्रियामिलन के बाद घर लौटते समय ढोला के मार्ग की बाधाएँ जैसे सर्पदश से प्रिया की मृत्यु, योगी योगिनी द्वारा मत्र तत्र से जावित किया जाना उमरा सूमरा, के द्वारा लौटते समय बाधा डालना आदि। प्रेमाख्यानक काव्यों मे सिंहल यात्रा या समुद्र यात्रा का वर्णन और मार्ग मे जहाज टूटने और काष्ठफलक के सहारे या किसा अलौकिक शक्ति की सहायता से प्राणरक्षा और अन्त म प्रेमी-युगल के मिलन का विधान बहुधा रहता है। ढोलामारू की कथा का पजाब मे जो रूपान्तर मिलता है उसमे सचमुच ही मालवणी को सिहल द्वीप स्थित पिंगल नगर की राजकन्या बताया गया है और ढोला को वहाँ की यात्रा करनी पडी है। इस तरह किसी न किसी रूप मे इस कथा मे सिंहल यात्रा की रूढि भी आ गयी है। विरह वर्णन, ऋतुवर्णन ओर नखशिख वर्णन प्रेमाख्यानक काव्यों की प्रधान काव्यरूढि हैं। वह भी इस काव्य म सयमित रूप में वर्तमान है। वैसे इसमे विषयवस्तु का इतना विस्तृत वर्णन कहीं नही है जिससे कथा-प्रवाह, भावव्यजना और रसात्मकता मे बाधा उपस्थित हो। स देशरासक की सन्देश भेजने की पद्धति, जो प्रेमाख्यानक काव्या मे रूढि के रूप मे स्वीकृत हो गयी, इस काव्य मे खूब अपनायी गयी है। ढाढी, तोता, सोदागर और चारण इसमें सन्देश पहुँचाने का काम करते हैं। इस प्रकार इस काव्य मे लोकगाथाओ और उनके अनुकरण या आधार पर रचित प्रेमाख्यानक काव्यों

की अनेक रूढियो और प्रवृत्तियो का समावेश हुआ है। इन रूढियो के अतिरिक्त प्रेम की जैसा मार्मिक व्यजना और विरह की मनोदशाओ का जैसा सरल और हृदयस्पर्शी चित्रण इस काव्य मे हुआ है वैसा इसके पूर्व के सस्कृत प्राकृत अपभ्रश के काव्य मे बहुत कम दिखाई पडता है, हिन्दी के परवर्ती प्रेमाख्यानक काव्यो मे वह अवश्य मिलता है। इस दृष्टि से भी हिन्दी के आदिकालीन काव्य मे ढोलामारू रा दूहा का महत्वपूर्ण स्थान है।

नेमिनाथ चउपई—बारहमासा काव्य

आदिकाल मे प्रबन्ध काव्य का एक ऐसा रूप विशेष प्रचलित हुआ जिसमे इतिहास पुराण के व्यक्तियों के जीवन से सम्बन्धित किसी विशेष मार्मिक स्थल या घटना वर्णन के प्रसग मे विविध प्रकार की मनोदशाओं और हृदय की अनुभूतियो की विवृत अभिव्यजना रसात्मक पद्धति से हुई है। ये अत्यन्त लघु भावात्मक प्रबन्ध हैं और तत्कालीन लोक प्रचलित छन्दो और काव्यरूपो जैसे चउपई, रासा या रासो, फाग, चर्चरी, सन्धि, बारहमासा, चरित आदि नामो से लिखे गये हैं। इन्हें भाव प्रबन्ध कहा जा सकता है। इनमे से कुछ भाव प्रबन्ध प्रेमाख्यानक है जैसे विनयचन्द सूरि का नेमिनाथचउपई, एक अज्ञात कवि का नेमिनाथ बारहमासा, समधर का नेमिनाथ फागु, राजशेखर सूरि का नेमिनाथ फागु आदि। नेमिनाथ की पौराणिक कथा मे प्रेम की विविध भावनाओ की अभिव्यक्ति के लिये अधिक स्थान है, इसीलिए जैन कवियो ने धर्म-भावना से प्रेरित हो कर भी युग की शृगारिक प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति इन काव्यो मे की है। नेमिनाथ का विवाह उग्रसेन की पुत्री राजुल देवी से होने वाला था। सारी तैयारी हो चुकी थी, नेमिनाथ विवाह करने जा रहे थे कि बहुत से पशु पक्षी रास्ते मे दिखाई पडे। यह ज्ञात होने पर कि वे व्याह में मास भोज के लिए मारे जायेंगे, नेमिनाथ को विराग हो गया। वे ससुर के तोरण द्वार से ही लौट कर रेवत गिरि पर तप करने चले गये। राजुल देवी (राजमती) को इससे अत्यधिक दुख हुआ और वह भी जैन विहार मे चली गयी। जैन पुराणों मे इस घटना का उल्लेख भर कर दिया गया है। पुष्पदन्त ने परित्यक्ता राजुल देवी की मानसिक दशा का वर्णन महापुराण के ९९ वीं सन्धि के दूसरे कडवक मे कुछ पक्तियो मे किया है। किन्तु परवर्ती जैन कवियो ने इस मार्मिक स्थल को शृगार और वैराग्य के वर्णन के लिए सर्वाधिक उपयुक्त समझ कर बहुत से भाव प्रबन्ध लिखे। नेमिनाथचउपइ उनमे सर्वश्रेष्ठ है। ४० छदो के इस लघु काव्य की रचना विनयचन्द्र सूरि ने स० १३२५ मे की थी। प्रेम और शृगार की भावव्यजना का विषय कृष्णाश्रयी शाखा के

कवियो के लिए कृष्ण और राधा अथवा गोपियो का मिलन विरह रहा। उसी तरह जैन कवियो ने कृष्ण के चचेरे भाई नेमिनाथ और राजुल के विवाह और विरह के प्रसग को लेकर उक्त भावनाओ की मार्मिक व्यजना की है। गौतम और यशोधरा की कथा से भी यह कथा अधिक मार्मिक है क्योकि इसमे राजमती ने नेमिनाथ को देखा भी नही था, फिर भी वह पति रूप म उन्हे स्वीकृत कर चुकी थी। नेमिनाथचउपई मे प्रकृति का चित्रण उद्दीपन रूप मे हुआ है पर राजमती के हृदय की व्याकुलता और विरह व्यथा की व्यजना उद्दीपन वर्णनों और अलकारो से कही भी दबने नहीं पाइ है। स्वाभाविक और लोकगृहीत उपमानो के कारण काव्य बडा सुन्दर और आकर्षक बन पडा है। राजमती सखियो से कहती है —

> श्रावणि सरवणि कडुए मेहु। गज्जइ विरहि रिझिज्जइ देहु।
> विज्ज झबक्कइ रक्खसि जेंव। नेमिहि विणु सहि सहियवि केवि।

इसके उत्तर म सखी कहती है —

> सखी भणइ सामिणि मति झूरि। दुज्जण तण मनवछित पूरि।
> गयउ नेमि तउ विनठउ काइ। अछइ अनेरावरह सयाइ।

और इसके जवाब मे राजमती कहती है —

> बोलइ राजुल तउ इह वयणु। नत्थि नेमि वर सम रमणु।
> धरइ तेजु गहगण सविताउ। गणणि न उग्गइ दिणवर जाउ।

इसी प्रकार सरस प्रश्नोत्तरों मे यह लघु भाव प्रबन्ध समाप्त हुआ है। इस काव्य की विशेषता यही है कि इसमे बारहमासे के रूप मे और प्रश्नोत्तर शैली मे विरह की विविध दशाओं का वर्णन किया गया है। सन्देशरासक भी विप्रलम्भ श्रृंगार का ही काव्य है पर सन्देशरूप मे है और उसमे ऋतुवर्णन है, बारह मासों का वर्णन नही। अत प्रश्नोत्तर शैली और 'बारहमासा' काव्यरूप की दृष्टि से नेमिनाथचउपई का महत्व बहुत अधिक है। बीसलदेवरासो, नेमिनाथ-चउपई और उपयुक्त अज्ञात कवि के नेमिनाथ बारहमासा द्वारा आदिकाल मे बारहमासा के रूप मे विरह वणन की जो पद्धति प्रारम्भ हुई वह परवर्ती प्रबन्ध काव्यों मे खूब अपनाई गई। पद्मावत मे नागमती का वियोग वणन बारहमासे के रूप मे ही है।

लोककथाओ के साहित्यिक रूपान्तर

लोककथाओ का साहित्यिक रूपान्तर अपभ्रश मे बहुत हुआ है। ऐसे काव्य पौराणिक या काल्पनिक रोमाचकथा वाले हाते थे जिनके सम्बन्ध

मे पिछले अ याय मे विचार किया जा चुका है। पुष्पदन्त का णायकुमार-चरिउ और धनपाल का 'भविसयत्त कहा' ऐसे ही पौराणिक प्रेमाख्यानक काव्य हैं। दसवी शताब्दी के मूलराज सोलकी के समकालीन मुनि श्रीचन्द्र का कथा-कोष भी छोटी छोटी रोचक कथाओ का सकलन है। तेरहवी शताब्दी का लक्खण का 'अणुव्रय रयण पईव' भी व्रत निरूपण के निमित्त लोककथाओ के आधार पर निमित कथात्मक काव्य है। तात्पर्य यह कि अपभ्रश और परवर्ती अवहट्ट मे लोककथाओं के आधार पर कथात्मक काव्यो की खूब रचना होती थी जिनमे प्रेमाख्यानक काव्य भी होते थे। चौदहवीं शताब्दी के अ त और पन्द्रहवीं के प्रारम्भ मे उन लोक कथाओ का लोकभाषाओं मे भी साहित्यिक रूपा तर होने लगा। श्री अगरचन्द नाहटा के अनुसार स० १४८५ मे हीरानन्द सूरि रचित 'विद्याविलास-रास' लोक भाषा म रचित सर्वप्रथम लोक-कथा है[१]। किन्तु यदि मुल्ला दाउद के 'नूरुक चन्दा की प्रेम कथा' (चन्दावन) को प्रामाणिक माना जाय तो चौदहवी शताब्दी मे ही सूफी ढग के काल्पनिक प्रेमाख्यानक काव्य का प्रारम्भ मानना पडेगा और चन्दावन को ही इस प्रकार का प्रथम काव्य कहना पडेगा। 'नूरुक चन्दा की प्रेम कथा' का रूप क्या है, यह ज्ञात नहीं है क्योंकि उपलब्ध ग्रन्थ न तो प्रकाशित है न किसी अधिकारी विद्वान् ने देखकर उसकी परीक्षा ही की है। पर इसमे कोई सन्देह नही कि इस नाम का प्रेमाख्यानक काव्य जहाँगीर के समय मे वर्तमान था और इस काव्य का उल्लेख करते हुये जहाँगीरकालीन इतिहासकार अलबदाऊनी ने अपने 'मुन्तखुबत तवारीख' मे लिखा है कि 'मुल्ला दाऊद ने चन्दावन नामक एक हिन्दी मसनवी मे नूरुक और चन्दा की प्रेम कहानी बडी सजीव शैली मे जूनाशाह के सम्मान मे सन् १३७० के आसपास लिखी थी और वह काव्य हिन्दुस्तानी गायकों भाटो के गीतो जैसा था जिसे गाने से जहाँगीर के समय में जनता बहुत प्रभावित होती थी[२]।' अलबदाऊनी के इस कथन से प्रतीत होता है कि वह मूलत कोई लोककथा थी, जिसे अलाउद्दीन खिलजी के समय मे वजीर जूनाशाह के सम्मान मे मुल्ला दाऊद नामक कवि ने छन्दोबद्ध किया। अत चन्दावन को भी लोककथा पर आधारित प्रेमकथा ही मानना चाहिये।

१ अगरचन्द नाहटा,—'लोककथा सबन्धी जैन साहित्य'—ना० प्र० पत्रिका वर्ष ५२ से २००४ पृ० ७।

२ डा० कमल कुलश्रेष्ठ के 'हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य' नामक पुस्तक के ९० से उद्धृत।

पौराणिक-धार्मिक प्रबन्ध काव्य

पिछले अध्याय मे सस्कृत प्राकृत अपभ्रश के जिन पौराणिक शैली के धार्मिक काव्यों पर विचार किया गया है उनमे से बहुत से दसवीं शताब्दी के बाद के हैं और अधिकतर जैन कवियो के लिखे हुए हैं। इन काव्यों मे लोक परक बुद्धि का दर्शन तो अवश्य होता है किन्तु धार्मिक रूढिप्रियता और गतानुगतिकता उनमे इतनी अधिक है कि साहित्य का स्वतंत्र स्वरूप उनमे निखर नही सका है। यह भी कहा जा चुका है कि शुभकीर्ति, यशःकीर्ति, नयचन्द, रइधू आदि जैन कवि सालहवी शताब्दी तक, जब कि लोकभाषाओं—हिन्दी, गुजराती, मराठी, बगला आदि—मे सशक्त और प्रौढ साहित्य की रचना हो रही थी, धार्मिक भावना की प्रधानता के कारण अपभ्रश म ही प्रबन्ध काव्य लिखते रहे। तुलसीदास के सामने भी रामचरितमानस लिखते समय यह सकोच अवश्य था कि लोकभाषा मे पौराणिक धार्मिक काव्य लिखने पर पडित वर्ग असन्तुष्ट होगा या उनका आदर नही करेगा। जब सोलहवी सत्रहवीं शताब्दी मे यह स्थिति थी तो पन्द्रहवीं शताब्दी के पूर्व तो पौराणिक धामिक विषयो को लेकर हिन्दी मे काव्य रचना करने वाला या तो विद्रोही स्वभाव का कवि हो सकता था या धर्म प्रचार के उद्देश्य को दृष्टि मे रखकर ही ऐसा किया जा सकता था। नाथपथी और सिद्ध विद्रोही थे। उन्होने तत्कालीन लोकभाषाओं मे निभय होकर काव्य रचना की। पर उन्होने प्रबन्ध काव्य नही लिखे। विद्यापति ने अवश्य लोकभाषा मे भक्तिपरक काव्य लिखा पर पौराणिक धार्मिक मनोवृत्ति उनके काव्य मे कही नहीं झलकी। वे स्पष्टत लौकिक और शृगारिक भावना के कवि हैं। जैन कवियो मे धार्मिक रूढि प्रियता अधिक थी, अत उन्हाने सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रश को ही अधिकतर अपनाया। पर उनमे से कुछ ने १२ वीं शताब्दी के बाद लोकभाषा मे धार्मिक काव्यो की रचना की। उन्होने स्तुतिपरक, माहात्म्यमूलक, ऐतिहासिक, पौराणिक और प्रेमाख्यानक सभी प्रकार के काव्य लिखे पर उन सब मे उनका धम प्रचारक या भक्त रूप ही प्रधान था। उदाहरण के लिए इस काल के जैन लोकभाषा काव्यो मे रासो, फाग चर्चरी, गीत आदि की अधिकता इसलिए है कि मन्दिरों मे व्याख्यान के अवसर पर इन लोकप्रचलित काव्यरूपो मे धामिक प्रवचन या गान होने से श्रावको और सामान्य जनता मे जैन धम का प्रचार होता था। जैन गुरुओ और मुनियो की कीर्ति के प्रचार के लिए गुर्वावली और गुरुओं की प्रशस्ति के काव्य लिखे गये। अत साहित्यिक दृष्टि से इन काव्यों का अधिक मूल्य नहीं है। ये अधिकतर लघु काव्य भी इसीलिए हैं कि आसानी से उनका

प्रचार और गान हो सके। किन्तु हिन्दी के परवर्ती धार्मिक पौराणिक प्रबन्ध काव्यों और महाकाव्यों का आदि रूप इन्हीं लघु काव्यों को ही मानना चाहिये क्योंकि उनमें कई तो लघु प्रबन्ध हैं ही, शेष काव्यरूपों को परवर्ती प्रबन्ध काव्यों, विशेष कर महाकाव्यों, में समेट लिया गया है। देवताओं का स्तवन पृथ्वीराजरासो और रामचरितमानस में जगह जगह मिलेगा। उन अंशों को यदि ग्रन्थ से निकाल भी दिया जाय तो काव्य के प्रबन्धत्व और सौन्दर्य में कोई कमी नहीं आवेगी। वस्तुतः तुलसी आदि कवियों ने उन्हें इसलिए रखा है कि पौराणिक शैली और धार्मिक विषय के वे अनिवार्य अंग हैं।

लोकभाषा हिन्दी में रचित तत्कालीन जैन प्रबन्ध काव्यों में जैन महापुरुषों और धार्मिक गुरुओं की जीवनी ही प्रधान रूप से निबद्ध है। उनमें भरतेश्वर बाहुबलि रास, सुभद्रा रास, स्थूलिभद्द रास, चंदनबाला रास, शालिभद्र रास पंच पांडव फाग, जम्बूसामि रासा, मलयरेहारास, शालिभद्रमुनि का रास नेमिनाथ रास जिनचन्द्र सूरि वर्णना रास आदि प्रधान हैं। ये सभी लघु प्रबन्ध या लघु चरित काव्य हैं। श्री अगरचन्द नाहटा के निबंध 'वीरगाथा काल का जैन भाषा साहित्य' और श्री कामताप्रसाद जैन के 'हिन्दी जैन साहित्य के संक्षिप्त इतिहास' में इन ग्रन्थों की सूचना और परिचय दिया गया है, और प्राचीन गुर्जर काव्य संग्रह और 'भारतीयविद्या' में उनमें से कुछ ग्रन्थ पूरे प्रकाशित भी हुए हैं। इनसे यह ज्ञात होता है कि उस काल में लोकभाषा में लम्बे पौराणिक धार्मिक काव्य लिखने की प्रथा नहीं प्रारम्भ हुई थी। ये सभी बीस से लेकर सौ सवा सौ छन्दों के भीतर के काव्य हैं। अतः प्रबन्ध काव्य के सभी गुणों को उनमें खोजना व्यर्थ है। हिन्दी साहित्य के आदि काल में रचे जाने के कारण ये काव्य परवर्ती प्रौढ़ एवं बृहत् प्रबंध काव्यों के अग्रदूत के रूप में अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं और यहाँ वे इसी कारण विवेच्य भी समझे गये।

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि लोकभाषा साहित्य में प्रबन्ध काव्यों की अधिकता नहीं है। जो हैं भी वे प्रायः लघु प्रबन्ध काव्य हैं। उनमें ऐतिहासिक, पौराणिक और रोमांचक, इन तीनों शैलियों के काव्य हैं। वे सभी कथानक की दृष्टि से प्रारम्भिक अवस्था में हैं अर्थात् उनमें प्रबन्धकौशल का अभाव है। इसका कारण यह था कि कभी पुण्य लाभ और धर्म प्रचार, कभी जीविकोपार्जन और यश लाभ और कभी कोरा मनोरंजन उन कवियों का उद्देश्य होता था। अलंकृत पद योजना, भाव लालित्य, वर्णन सौन्दर्य और प्रबन्धकौशल द्वारा अपने काव्य को कल्पान्तरस्थायी बनाने की ओर उनका ध्यान कम था। उनके प्रबंध काव्यों में कथानक का क्रमिक विकास नहीं दिखाई पड़ता अर्थात्

कथानक मे आदि, मध्य और अ त की यत्नसाध्य सतुलित योजना कम हुई है। प्रबन्ध कौशल की कमी के कारण कथानक का कोइ अग अति स्फीत हो गया है तो कोइ अति उपेक्षित। वस्तुत प्रब ध पटुता अलकृत प्रब ध काव्यो म ही अधिक होती है। इस काल के काव्य या तो विकसनशील प्रेमाख्यानक और वीर काव्य हैं या प्रशस्तिमूलक वर्णनात्मक प्रब ध काव्य या इतिवृत्तात्मक पौराणिक लघु काव्य अथवा भावात्मक लघु प्रबन्ध काव्य। अत उनम इन काव्य शैलिया के पूववर्ती प्रबन्ध काव्यो की बहुत सी रूढियाँ अपनाई गयी हैं। परन्तु साथ ही उनम अनेक नई काव्यरूढियाँ भी आविष्कृत की गयी हैं। उदाहरणार्थ इस काल म लोकभाषा (परवर्ती अपभ्रश, हिन्दी, गुजराती आदि) म निम्नलिखित काव्य रूपो और उनके नामा का प्रारम्भ हुआ —

(१) लोक प्रचलित छ दो क नाम पर आधारित —चउपइ, दूहा आदि, जैसे नमिनाथ चउपइ, ढोलामारू रा दूहा।

(२) लोक प्रचलित नृत्य गीतो क नाम पर आधारित—चच्चरी (चाँचर), रासक या रास आदि,

(३) लोक प्रचलित ऋतु काव्य—बारहमासा, फाग, धमाल, चौमासा आदि।

(४) स्तुति और मगल वाचक—स्तुति, मगल, विनती या विनय आदि।

(५) प्रशस्ति व्यजक नाम—बेलि, विजय, चद्रिका, पताका, लता, विलास, विनोद आदि

(६) सख्या वाचक नाम—दशक, बीसी, पच्चीसी, बत्तीसी, चालीसा आदि।

(७) बारहखडी या वर्णमाला काव्य—कक्क (शालभद्र कक्क) मातृका (दूहा मातृका) आदि

इन काव्यरूपो का हिन्दी महाकाव्य के रूप विकास म महत्वपूर्ण योग रहा है क्योकि उनकी शैलियो और काव्य रूढियो को परवर्ती काल के प्रबन्ध काव्यो मे बहुत कुछ अपना लिया गया। इस सम्ब ध म विशेष रूप से अगले अध्याय मे यथास्थान विचार किया जायगा।

अब तक हिन्दी साहित्य के आदिकाल के काव्यो और प्रमुख प्रवृत्तियों पर विस्तार से विचार करने का उद्देश्य यह था कि हम इन काव्यरूपो और प्रमुख प्रवृत्तियो की पृष्ठभूमि म हिन्दी महाकाव्य के विकास के प्रारम्भिक स्वरूप को ठीक ठीक समझ सके, क्योकि जैसा शुरू मे कहा गया है, किसी युग के महाकाव्य मे पूर्ववर्ती साहित्यिक परम्परा के साथ ही उस युग की नई साहित्यिक और सास्कृतिक परम्परा तथा नये जीवन मूल्यों का सबसे अधिक प्रभाव पडता है। अब तक के विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि

इस समय की राजनीतिक, सास्कृतिक और सामाजिक परिस्थितियाँ सक्रातिशील थी। ऐसा युग नवोदित लोकभाषाओ के अलकृत महाकाव्य का युग नही होता। अलकृत काव्य के लिये सुव्यस्थित और विकसित भाषा तथा उसकी सुदीर्घ साहित्यिक परम्परा की आवश्यकता तो होती ही है, साथ ही यह भी आवश्यक होता है कि महाका य क निर्माण के लिए उपयुक्त परिस्थितिया भी वर्तमान हो। वे परिस्थितिया हैं, राजनीतिक स्थिरता और शातिपूर्ण शासन, सुदृढ सामाजिक नियमन और उच्च आदशो से पूर्ण जीवन विधि, राष्ट्रीय या जातीय इकाई की भावना और अतीत की सास्कृतिक परम्परा से सतुलित सम्ब ध। आदिकाल मे इस प्रकार की परिस्थितिया वर्तमान नही थी। सस्कृत मे महाकाव्य रचना अवश्य हुई क्योकि उसमे उस परम्परा के आधार पर महाकाव्य लिखे जा सकते थे, पर लोकभाषाओ का अभी उदय हो रहा था। अत उनका रूप व्यवस्थित नहीं था, न उनकी कोई दीर्घ साहित्यिक परम्परा थी। इस काल मे सस्कृत प्राकृत अपभ्रश मे अलकृत साहित्य लिखा जा रहा था पर वह अपनी ह्रासो मुख अवस्था मे था। लोकभाषाओ का साहित्य उन ह्रासोमुख प्रवृत्तियो को स्वीकार करके अपना स्वतत्र रूप नही निमित कर सकता था। उनमे साहित्य निर्माण का जो प्रारम्भिक प्रयत्न हुआ उसमे सस्कृत प्राकृत-अपभ्रश की ह्रासो मुख प्रवृत्तियो को पूणत नही ग्रहण किया गया बल्कि लोक प्रचलित काव्यरूपो, परम्पराओ और विश्वासो को अधिक अपनाया गया। हिन्दी साहित्य का निमाण चौदहवी शताब्दी के बाद जिस धूमधाम और वेग से प्रारम्भ हुआ उसकी भूमिका आदिकाल के चार सौ वषा म ही तैयार हुई थी। महाकाव्य की भूमिका के रूप मे विभिन्न प्रकार के लघु प्रबन्ध काव्यो की रचना का इस समय प्रारम्भ हो गया था जिनके द्वारा महाकाव्य का रूपतत्त्व निमित हुआ। बाद के महाकाव्यो मे इन प्रबन्धकाव्यो की प्राय अधिकाश विशेषताओं को समेट लिया गया।

इस काल की परिस्थितियो और साहित्यिक प्रवृत्तिया के विवेचन से यह भी स्पष्ट है कि यद्यपि वारता, धर्म और शृगारिकता, ये तीनो ही प्रवृत्तियाँ इस काल के काव्य की प्रेरक शक्तिया थीं पर इनमे भी वीरता की प्रवृत्ति ही सर्वप्रमुख प्रेरक शक्ति थी और शृगार उसका पूरक था। राजाओ, सामन्तों और सैनिक वर्ग की जातियो मे वीरता जीवन की आवश्यकता थी, उसके बिना उनका अस्तित्व नही टिक सकता था। किन्तु सामान्य जनता भी वीरता की भावना को महत्व देती थी। उसके हृदय मे वीरपूजा की भावना बलवती थी यद्यपि रति की आदिम मनोवृत्ति का उसके हृदय मे सबसे अधिक

स्थान था। इस तरह वीर काव्य का क्षेत्र सामन्ती वातावरण और राजदरबार था तथा शृगारिक प्रेमाख्यानक काव्य का क्षेत्र लोक हृदय। धार्मिक काव्य सम्प्रदायों, साधुओं और भक्तों श्रावकों तक ही परिमित था, उसका क्षेत्र व्यापक नहीं था।

सामन्ती वीरयुग होने के कारण इस काल मे लोकभाषाओ मे शृगार मिश्रित वीर गाथा अथवा शुद्ध शृगारिक लोकगाथाओ के महाकाव्य रूप में विकसित होने का अधिक अवसर था। सामन्तवर्ग मे वैयक्तिक वीरता की उत्कट भावना और उसके लिये अधिक से अधिक त्याग बलिदान करने का प्रबल उत्साह और आदर्श वर्तमान था। सामान्य जनता के हृदय मे भी वीर पुरुषो के लिये सम्मान और वीरपूजा की भावना होने के कारण युद्ध भूमि मे वैयक्तिक रूप से शारीरिक शक्ति और युद्ध कौशल का प्रदर्शन करने वाला तथा मृत्युपर्यन्त असाधारण साहस, उत्साह और निर्भयता के साथ घोर कठिनाइयां और दुर्दान्त शत्रुओ से जूझता रहने वाला वीर पुरुष लोक हृदय मे सहज ही स्थान पा जाता था। उसकी वीरता और साहस की ख्याति दूर दूर के देशो मे अतिरजित होकर पहुँचती थी और इस तरह उसके सम्बन्ध मे नाना प्रकार की कल्पित कथायें गढ ली जाती थीं। इस प्रकार के वीर पुरुष मरणोपरान्त थोडे ही दिनो मे निजन्धरी व्यक्तियो के समान बन कर अपनी ऐतिहासिकता बहुत कुछ खो देते थे। सामन्ती वीरयुग के पूर्व के कालों मे महाभारत के पात्र कृष्ण, पाण्डव तथा परवर्ती पार्श्वनाथ, बुद्ध, महावीर, उदयन, विक्रमादित्य, सातवाहन प्रभृत महात्मा और धीर वीर पुरुष जिस तरह अपनी ऐतिहासिकता खो कर लोक ओर शिष्ट साहित्य म निजन्धरी व्यक्तित्व बन गये थे, उसी तरह इस काल मे गोरखनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ, भरथरी, गोपीचन्द, भोज, वीसलदेव, पृथ्वीराज, आल्हा, ऊदल प्रभृत ऐतिहासिक पुरुषो के तप त्याग, वीरता और आध्यात्मिक तथा शारीरिक शक्ति की ख्याति इतनी अधिक फैली और उनके सम्बन्ध मे इतनी अधिक कहानिया प्रचलित हुईं कि वे अपनी ऐतिहासिकता खो बैठे, कालक्रम का सम्बन्ध उनसे सम्बन्धित घटनाओ के लिए अनिवार्य नही रहा। वे नाना प्रकार की दन्तकथाओ, लोकगाथाओ और चारण भाट ढाढी आदि पेशेवर कवि गायकों के प्रबन्ध काव्यों के नायक बने जिनम उन्हे निजन्धरी व्यक्तियो की ऊँचाई तक पहुँचा दिया गया। चौदहवीं शताब्दी के अन्त तक लोक कठ मे तथा चारण, भाट आदि कवियो की वशपरम्परा मे लिखित या मौखिक रूप मे इस प्रकार के विकसनशील काव्यों का, जिनके नायक सामन्ती वीरयुग के ऐतिहासिक

व्यक्ति थे, प्रारम्भिक रूप निर्मित हो चुका था और सोलहवा सत्रहवी शताब्दी तक उनमे से कुछ ने विकसनशील साहित्यिक महाकाव्य अथवा विकसनशील लोकमहाकाव्य का रूप धारण कर लिया। इस तरह सामन्ती वीरयुग हिन्दी के विकसनशील महाकाव्यो के उदय का काल था, अलकृत महाकाव्यो का नहीं। ऐसे विकसनशील महाकाव्य दो हैं और दोनो दो प्रकार के हे। पृथ्वीराज रासो चारण भाटो की वशगत काव्य परम्परा म और राजदरबारो के वातावरण मे विकसित हुआ है और आल्हखड को उत्तर पश्चिम और मध्य भारत म जनता के गायको और कविया ने गा गाकर विकसित किया है। तात्पर्य यह कि पृथ्वीराजरासो महाभारत के ढग का विकसनशील साहित्यिक महाकाव्य है और आल्हखड विकसनशील लोकमहाकाव्य। पृथ्वीराजरासो का विकास बहुत पहले रुक गया और अब उसका रूप स्थिर हो चुका है जब कि आल्ह खड का विकास अब भी जारी है क्योंकि वह आज भी गाव गाव मे गाया जाता है। हिन्दी महाकाव्य के निर्माण की दृष्टि से आदिकाल के बाद का युग (पूर्वमध्ययुग) विशेष उपयुक्त था क्योकि उस समय तक हिन्दी की एक साहित्यिक परम्परा बन चुकी थी। आदिकाल मे जो काव्यरूप अपनी प्रारम्भिक अवस्था मे थे, इस काल म उनका पूर्ण विकास हुआ और उनकी प्रमुख प्रवृत्तियों और विशेषताओ के आधार पर उनका स्वरूप भी स्थिर हो गया। जैसा कि ऊपर कहा गया है, अलकृत महाकाव्य के लिये सुदृढ साहित्यिक-परम्परा और विकसित समृद्ध भाषा के साथ ही साथ राजनीतिक स्थिरता और शान्तिपूर्ण सुदृढ शासन की भी आवश्यकता होती है। भक्तिकाल मे आकर आदिकालीन सक्रांतिशील राजनीतिक स्थिति नहीं रह गई थी। इस समय तक सुदृढ ओर विस्तृत राज्य बन चुके थे। बाद मे मुगल काल मे तो बहुत बडे बडे साम्राज्य स्थापित हुये। फलस्वरूप राजनीतिक स्थिति की अनिश्चितता इस समय तक समाप्त हो गई थी। राजनीतिक स्थिरता, सुदृढ शासन और विस्तृत साम्राज्य के कारण पूर्वमध्यकाल मे राष्ट्रीय एकता की भावना के साथ ही सास्कृतिक चेतना के विकास का भी पूर्ण अवसर था। इस उपयुक्त राजनीतिक स्थिति के परिणामस्वरूप इस काल की कला और साहित्य मे मानव पूर्णता के महान आदर्शों की प्रतिष्ठा हुई। भक्ति के व्यापक आन्दोलन के रूप मे यह काल सास्कृतिक पुनर्जागरण का भी काल था जिसमे भारतीय सस्कृति के विकसनशील तत्त्वो को युग के अनुरूप नये रूपो मे ढालने का प्रयत्न किया गया। भक्ति आन्दोलन के मूल म निहित आध्यात्मिक मानवतावादी आदर्शवाद की, मानव पूर्णता के आदर्श और मानव जीवन के चरम

लक्ष्य के रूप म, प्रतिष्ठा की गई। इस तरह इस काल के सांस्कृतिक व्यक्तियों ने समाज को मानवतावादी आदर्श के महत् उद्देश्य से अनुप्राणित करने के साथ ही साथ मानव की सांस्कृतिक चेतना को पूर्ण उदबुद्ध करने का भी प्रयत्न किया। अत लोक कल्याण की भावना और मानव जीवन को नये आदर्शो के आधार पर नये रूप मे ढालने के महत् उद्देश्य को लेकर लिखे जाने वाले काव्यो मे कुछ का महाकाव्य की ऊँचाई तक पहुँच जाना बिल्कुल स्वाभाविक था। रामचरितमानस और पद्मावत इसी प्रकार के काव्य हैं।

यद्यपि इस काल के साहित्य का मूल प्रेरणा स्रोत धर्म था किन्तु उसमे अपभ्रंश के जैन कवियो के पौराणिक धार्मिक काव्यो की तरह की साम्प्रदायिकता या सकीर्णता नही थी। धार्मिक भावना से प्रेरित होते हुये भी इस काल के कवियो का उद्देश्य अपने काव्य के माध्यम से किसी धर्म या सप्रदाय विशेष का प्रचार करना नही था। यद्यपि ये कवि किसी न किसी धार्मिक सप्रदाय से सम्बद्ध थे किन्तु उन्होने अपने काव्य नायको को अपने मत या सप्रदाय मे दीक्षित कराने की आवश्यकता नहीं समझी। उनकी दृष्टि मानव कल्याण की भावना से युक्त होने के कारण पूर्ववर्ती कवियो की अपेक्षा अधिक व्यापक थी। यही कारण है कि विभिन्न मतों को मानते हुये भी सभी कवियो ने विभिन्न मत मतान्तरो के समन्वय पर किसी न किसी रूप मे जोर दिया। उनका लक्ष्य मुख्यरूप से बिना किसी भेदभाव के मानव मात्र को मुक्ति दिलाना था। साम्प्रदायिक एकता की भावना इसी व्यापक दृष्टिकोण का परिणाम है। यहाँ यह ध्यान मे रखना होगा कि इन कवियो की धर्म भावना ज्ञान या बुद्धि जन्य तर्क पर आधारित नही थी, उसका सीधा सम्बन्ध हृदय से था। यही कारण है कि आनन्द-विह्वलता, भावावेश और प्रेमोल्लास का जो रूप इस काल के भक्त कवियों मे दिखलाई पडता है वह पूर्ववर्ती महाकाव्यो मे कही नहीं मिलता।

काव्यकौशल की दृष्टि से इस काल के प्रबन्ध काव्यो, विशेषरूप से महाकाव्यों, मे आदिकालीन काव्यो के अनगढपन और सादगी के स्थान पर सुनियोजित और यत्नसाध्य अलकार दिखलाई पडते हैं, किन्तु इस अलकृति मे दरबारी कवियो की तरह चमत्कार और पाडित्य प्रदर्शन की प्रवृत्ति नहीं है। प्रबन्धकौशल, भाषा, अलकार, छन्द सभी मे परिष्कृत रुचि के साथ ही स्वाभाविक अलकरण की प्रवृत्ति दिखलाई पडती है।

हिन्दी साहित्य का उत्तरमध्य काल फिर महाकाव्य निर्माण के लिये अनुर्वर सिद्ध हुआ। इस काल मे प्रबन्ध काव्यों की रचना की ओर कवियों का ध्यान यों भी कम गया, और जो प्रबन्ध काव्य लिखे भी गये उनमे से किसी मे भी महा-

काव्यत्व नहा आ मका। इसका मुख्य कारण यह है कि इस काल के कवियो ने राधा कृष्ण का नाम लेकर अपने को भक्त कवियों की सूची मे तो अवश्य बनाये रखा किन्तु पूर्वमध्य काल के कवियो—तुलसी, जायसी, सूर आदि—की तरह प्रेरणा देने वाला वह महत् उद्देश्य उनके सम्मुख नहीं था। दरबारी वातावरण मे काव्य ज्ञान प्रदशन द्वारा अधिक से अधिक सम्मान और धन प्राप्त करने के लिये इस काल के कवियो मे काव्यशास्त्रों के आधार पर अलकार, रस, छन्द तथा नायिका भेद के विस्तृत निरूपण द्वारा पाडित्य प्रदर्शन और चमत्कार प्रियता की प्रवृत्ति इतनी अधिक बढ गइ कि लोक जीवन को प्रभावित करने वाले किसी महत् उद्देश्य को लेकर काव्य रचना के लक्ष्य की ओर उनका ध्यान ही नहीं गया। काव्यकौशल की दृष्टि से बधे बधाये शब्दो में एक ही प्रकार के वर्णनों, उपमाओ तथा गतानुगतिकता और पिष्टपेषण की प्रवृत्ति के कारण काव्य गत सौन्दय और स्वाभाविकता अपने आप समाप्त हो गई। लोक जीवन से दूर होने क कारण इस काल के काव्यों मे व्यापक युग जीवन का चित्र उपस्थित करने वाले महकाव्य का न लिखा जाना स्वाभाविक है।

उत्तरमध्य काल के बाद आधुनिक युग मे पुन नयी सामाजिक और राज नातिक परिस्थति मे पाश्चात्य सभ्यता और साहित्य के प्रभाव से नये ढग के महाकाव्यों की रचना प्रारम्भ हुइ। आधुनिक शिक्षा तथा विज्ञान की उत्तरो त्तर प्रगति ने प्राचीन काल से चली आतो हुई अनेक मान्यताओ और प्राचीन जीवन मूल्यो के सम्मुख प्रश्नवाचक चिह्न लगा दिया। आधुनिक वैज्ञानिक खोजो के प्रकाश म पुराने विश्वासों, आचारों तथा सस्काररूप मे बद्धमूल पुरानी धारणाओ और मान्यताओ की मनुष्य ने पुन जाच और नये ढग से व्याख्या की। १९०० इ० के आसपास इस देश मे भी सामतवाद के स्थान पर नवीन पूजीवादी समाज व्यवस्था का प्रारम्भ हुआ। इस नवीन समाज व्यवस्था ने पुराने सामन्ती मूल्यों के स्थान पर नये मूल्यो की स्थापना की और व्यक्ति ने अपने को सामन्ती बन्धनो से मुक्त करने के लिये विद्रोह प्रारम्भ कर दिया। पूँजीवादी स्वतन्त्रता, समानता और बन्धुत्व के आदर्श ने व्यक्ति को हर दिशा मे प्रगति करने के लिये पूर्ण स्वतन्त्रता और अवकाश प्रदान किया। व्यक्ति स्वातन्य के बढते हुये आन्दोलन ने इस काल के साहित्य और सस्कृति को भी एक नयी दिशा की ओर प्रेरित किया जिसमे यक्तिवाद के साथ ही साथ आत्मगत अनुभूतियों और व्यक्तिगत चि तन प्रणाली का सवाधिक महत्व स्वीकार किया गया। परिणामस्वरूप काव्य मे भी व्यक्तिगत चिन्तन के साथ ही आत्मानुभूति और अन्तर्वृत्ति निरूपण की प्रवृत्ति ने जोर पकडा। बाह्य वस्तुओं और बाह्य सौन्दर्य के यथातथ्यात्मक वर्णन के

स्थान पर कवियो ने आन्तरिक सौ दर्य का चित्रण अधिक किया। दूसरे शब्दों मे कह सकते हैं कि वस्तु-सत्य के स्थान पर भाव-सत्य के चित्रण की ओर अधिक ध्यान दिया गया। प्राचीन पौराणिक विश्वासो और आख्यानों को भी यदि काव्य मे ग्रहण किया गया तो या तो उनकी युगानुरूप बौद्धिक व्याख्या की गई या उनमे भाव सत्य ढूढने का प्रयास किया गया। वैयक्तिक अनुभूतियो और भाव सत्य निरूपण पर अधिक बल देने के कारण इस काल मे प्रगीत मुक्तक ही अधिक ,लिखे गये और जो प्रबन्ध काव्य लिखे गये उनमे भी प्राय प्रगीतात्मक भावव्यजना को ही अधिक अपनाया गया है। यहाँ यह यान मे रखना आवश्यक है कि इस काल मे लिखे गये प्रबन्ध काव्यों मे जहाँ एक ओर सस्कृत साहित्य के प्रबन्ध काव्यो और महाकाव्यो का आदश कवियो ने अपने सामने रखा, वहीं दूसरी ओर पाश्चात्य साहित्य के प्रभाव के कारण पश्चिम के नये ढग के महाकाव्यों से भी उन्होने पर्याप्त प्रेरणा ली। अत इस काल के प्रबन्ध काव्यो मे कुछ मे जहाँ भारतीय महाकाव्य परम्परा के यथावत पालन की प्रवृत्ति दिखलाई पडती है, वही कुछ मे पाश्चात्य और भारतीय महाकाव्यो के विभिन्न रूप तत्त्वो और विशेषताओ के समन्वय की प्रवृत्ति भी लक्षित होती है। इन दोनो प्रकार के प्रबन्ध काव्यो मे कितने वास्तविक अर्थ मे महाकाव्य पद के अधिकारी हैं, इस सम्बन्ध मे हम अगले अ यायों मे विस्तार से विचार करेंगे।

प्रथम अ याय से अबतक महाकाव्य के उद्भव और विकास, महाकाव्य के स्वरूप, भारतीय महाकाव्य के स्वरूप विकास और हिन्दी महाकाव्य के उदय और उसके परिवेश पर विचार कर लेने के बाद अब हम इस स्थिति मे पहुँच गये हैं कि भारतीय महाकाव्य के रूप विकास का एक मानचित्र निश्चित करके हिन्दी के महाकाव्यो का उस विकास क्रम मे स्थान और उनकी प्रवृत्तियो की दिशा ढूढ सके। वैदिक काल से लेकर अब तक महाकाव्य के मूल स्रोतों, प्रारम्भिक रूपों तथा परवर्ती महाकाव्यो के रूप विकास का मान चित्र अगले पृष्ठ मे दिया जा रहा है।



युग	लोकभाषा के काव्य	साहित्य भाषा	विकसनशील महाकाव्य	
			आदि काव्य	इतिहास काव्य
पूर्व वैदिक युग	लोककथा लोकगाथा	वैदिक संस्कृत		
उत्तर वैदिक युग [आरण्यक काल]	लोककथा लोकगाथा	लौकिक संस्कृत का पूर्व रूप		
प्रारम्भिक वीर युग या महाकाव्य युग (Epic age) [विकसनशील महाकाव्यों का काल]	लोककथा लोकगाथा	लौकिक संस्कृत	आदि काव्य (रामायण)	इतिहास काव्य (महाभारत)
विकासोन्मुख सामन्त युग [अलंकृत काव्य काल]	प्राकृत में लोककथा लोकगाथा	अलंकृत लौकिक संस्कृत	शास्त्रीय शैली के अलंकृत महाकाव्य (बुद्ध चरित्, रघुवंश आदि)	ऐतिहासिक शैली के अलंकृत महाकाव्य
		पाली प्राकृत	सेतुबन्ध	दीपवंश महावंश
ह्रासोन्मुख सामन्त युग [ह्रासोन्मुख काव्य काल]	अपभ्रंश और अवहट्ट में लोक कथा, लोक गाथा	संस्कृत प्राकृत अपभ्रंश	किरातार्जुनीय, शिशुपाल बध आदि × ×	राजतरंगिणी, रामचरित गोडवहो ×
सामन्ती वीरयुग [हिंदी साहित्य का आदि काल]	लोकभाषा हिंदी में विकसनशील गाथा १ पृथ्वीराज रासो २ परमालरासो	संस्कृत प्राकृत अपभ्रंश हिन्दी	नैषधचरित आदि × × ×	विक्रमांकदेव चरित कुमारपाल चरित, हम्मीर महाकाव्य, पृथ्वी राजविजय आदि × × ×
७—पुनरुत्थान युग [पूर्व मध्ययुग या भक्ति काल]	हिन्दी की बोलियों में लोककथा लोकगाथा	हिन्दी	×	×
—रीति युग उत्तर मध्यकाल]	,,	हिन्दी	×	×
—आधुनिक युग	,,	हिन्दी	आधुनिक मनोवैज्ञानिक शैली	

और विकास क्रम का मानचित्र (२३९)

शिष्ट आख्यानक साहित्य के रूप

आख्यानक गीत, गाथा नाराशंसी, दान स्तुति

इतिहास पुराण, आख्यानों या गाथाओं के चक्र

पुराण			कथा	
प्राचीनतम वैदिक, बौद्ध और जैन पुराण		पौराणिक कथाएँ	अर्द्ध ऐतिहासिक निज धर्मी कथाएँ (कल्पना और इतिहास का मिश्रण)	कल्पित रोमांचक या नैतिक कथाएँ
इतिहास पुराण	पौराणिक शैली के अलंकृत महाकाव्य ×	पौराणिक और रोमांचक धर्म कथाएँ	रोमांचक शैली के अलंकृत महाकाव्य	कथा आख्यायिका
	× पउमचरिय (विमल सूरि)		× × ×	
	महापुराण, वराग चरित		लीलावईकहा विलासवईकहा भविसयत्तकहा	
	महापुराण, पउम चरिउ, रिट्ठणेमि चरिउ आदि			
	धर्मशर्माभ्युदय, नेमि निर्वाणत्रिषष्टि शलाकापुरुष चरित आदि । —महावीर चरिय, आदिनाथचरिय, आदि —णेमिणाह चरिय ×		नवसाहसांकचरित × करकंडुचरिउ ×	
	रामचरित मानस		पद्मावत	
	×		×	
	×		×	

पाँचवाँ अध्याय

विकसनशील महाकाव्य—पृथ्वीराजरासो

पहले कहा जा चुका है कि विकसनशील महाकाव्य तीन प्रकार के होते हैं —

१—लोक कण्ठ मे व्याप्त गाथाचक्र बढते बढते लोक महाकाव्य या पौराणिक बृहत् आख्यान का रूप धारण कर लेते हैं और जब उनका ऐसा रूप हो जाता है तो विशिष्ट कवि उन्हे सुव्यवस्थित रूप देकर अपने या किसी पूर्ववर्ती निजन्धरी कवि द्वारा लिखित होने का प्रचार कर देते हैं।

२—कोई कवि किसी प्रसिद्ध ऐतिहासिक नायक का चरित्र लघु या बृहत् काव्य के रूप मे निबद्ध करता है, पर वह नायक इतना लोकप्रिय होता है कि कालान्तर मे निजन्धरी व्यक्तित्व बन जाता है। अत उसका काव्य कवि पेशा वाली जातियों की सामूहिक सम्पत्ति बन जाता है और वे लोग मौखिक रूप मे या लिख कर क्षेपक के रूप मे बराबर नई नई कथायें, घटनाये, वर्णन आदि जोडते जाते और मूल काव्य को, कथानक, भाषा और शैली की दृष्टि से बिलकुल नवीन रूप प्रदान कर देते हैं।

३—तीसरे प्रकार के विकसनशील महाकाव्य पहले और दूसरे प्रकार के बीच की श्रेणी के होते हैं अथात् उनका मूल कवि कोई न कोई अवश्य होता है। ये काव्य गेय रूप मे होते हैं जिससे कालान्तर मे वे लोक कण्ठ में व्याप्त हो जाते हैं और फिर तो उन काव्यो पर उनके कवियों का कोई अधिकार नही रह जाता। जनता के कवि और गायक वशानुवश उसे मनमाने ढग से गाते और बढाते रहते हैं। ऐसे महाकाव्य लोक महाकाव्य (फोक एपिक) कहे जाते हैं।

हिदी मे पृथ्वीराजरासो दूसरे प्रकार का और आल्हखण्ड तीसरे प्रकार का विकसनशील महाकाव्य है। पृथ्वीराजरासो का कर्ता पृथ्वीराज का दरबारी कवि चन्द नामक भट्ट (भाट) बताया जाता है। पृथ्वीराज अपने शौर्य और पराक्रम के कारण तथा विदेशी मुसलिम आक्रमणो से डट कर मुकाबिला करने के कारण अपनी मृत्यु के उपरात कुछ सौ वर्षो के भीतर ही एक जातीय या राष्ट्रीय वीर

पुरुष तथा निज धरी व्यक्तित्व के रूप मे मान्य हो गया और उसके सबध मे लिखा हुआ चन्द का का य 'पृथ्वीराजरासो' भी धीरे धीरे चारणों भाटों की सपत्ति बन गया। वे विभिन्न राजदरबारो मे उसका गान अथवा पाठ कर जीविकोपार्जन करने लगे। वे इसमे नई नई घटनाओ और कथाओं का वर्णन भी बराबर जोडते और मूल ग्रथ की भाषा और स्वरूप मे यथेच्छ परिवर्तन करते रहे। इसका परिणाम यह हुआ कि सोलहवीं शताब्दी तक पृथ्वीराजरासो ने एक बहुत बडे काव्य का रूप धारण कर लिया। यह काव्य विविध स्थानों मे विविध रूपो मे चारणो और भाटो के बीच बिखरा हुआ था और सत्रहवीं शताब्दी के प्रारभ म राणा अमरसिह के समय मे उसका सग्रह करने का प्रयत्न किया गया। वर्तमान समय मे रासो की जितनी भी प्रतियाँ प्राप्त ह उनम से सभवत कोइ भी मूल ग्रथ नही है, सभी मूल ग्रथ क परवता परिवद्धित और परिवर्तित रूपान्तर हैं। इस प्रकार पृथ्वीराज रासो, जो आज विविध रूपान्तरो मे उपलब्ध है, एक हाथ की रचना नहीं है। उसमे कइ शताब्दियों के अनेक कवियों की प्रतिमा ओर लेखनी का योग है।

रासो के चार रूपान्तर—

रासो के सबध मे अब तक यह विवाद चल रहा है कि वह बारहवीं शताब्दी का काव्य है अथवा सोलहवी सत्रहवी शताब्दी का बना जाली ग्रथ है। विकसनशील महाकाव्यो की प्रवृत्तियो और विशेषताओ की तरफ ध्यान न देने के कारण ही विद्वानो ने अपने अपने पक्ष का जोरदार ढग से समर्थन किया है और उमे बिलकुल जाली अथवा पूर्ण मौलिक सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। किनु सच बात यह ह कि वतमान 'रासो' न तो जाली है न मौलिक। यदि रासो जाली है तो महाभारत, रामायण, इलियड, ओडेसी आदि सभी विकसनशील महाकाव्य जाली हैं। अत जिस तरह महाभारत, इलियड आदि ग्रथो के जाली या मौलिक होने का प्रश्न नही उठाया जाता, बल्कि उन्हे उसी रूप मे स्वीकृत किया जाता है जिस रूप मे वे हमे पूर्व-परम्परा से प्राप्त हुए हैं, उसी तरह रासो को भी उसके वर्तमान रूप मे स्वीकृत कर लेने की आवश्यकता है। किंतु इसमे एक बहुत बडी बाधा है। महाभारत और रामायण के पूवा, पश्चिमी और दक्षिणी आदि कई रूपान्तर होते हुए भी उनके विभिन्न रूपान्तरों मे आकार सबधी ऐसी अनेकरूपता नहीं दिखाई देती जैसी रासो की विविध हस्तलिखित प्रतियों मे दिखाई पडती है। रासो की जितनी

भी हस्तलिखित प्रतियाँ आज उपलब्ध हैं उनमे चार रूपान्तर दिखलाई पडते हैं[1] —

बृहत् रूपान्तर—इसमे ६४ से ६९ समय (सर्ग), १३ से १७ हजार तक पद्य और अनुष्टुप छ द की ३२ मात्रा के हिसाब से ३० से ३६ हजार तक श्लोक या ग्रथाग्रथ है। इस रूपा तर की प्रतिया यूरोप मे तथा बम्बई, कलकत्ता, आगरा, काशी, बीकानेर आदि स्थानो मे विद्यमान हैं।

२—मध्यम रूपान्तर—इसमे समयो की सख्या ४० से ४७ तक है और ९ से १२ हजार तक श्लोक हैं। इस रूपा तर की प्रतिया बीकानेर, अबोहर, लाहौर, पूना और कलकत्ता मे हैं।

३—लघु रूपान्तर—इसम लगभग उन्नीस समय, २ हजार पद्य और ३५ सौ श्लोक हैं। इसकी प्रतिया बीकानेर और लाहौर मे हैं।

४—लघुतम रूपान्तर—यह लघु रूपा तर के आधे के बराबर, लगभग १३ सौ श्लोक परिमाण वाला है और इसमे समयों का विभाजन नहीं हैं। इसकी एक ही प्रति उपलब्ध है जो बीकानेर के श्री अगरच द नाहटा के पास है।

अब प्रश्न यह है कि इन चारों रूपान्तरो मे से किसे प्रामाणिक माना जाय जिसके आधार पर रासो का साहित्यिक मूल्याकन और उसके महाकाव्यत्व का निर्णय किया जा सके। श्री मूलराज जैन का कहना है कि 'मध्यम वाचना में लघु वाचना का सारा विषय कुछ विस्तृत रूप मे मिलता है और इसके अतिरिक्त कई अन्य घटनाओ का वर्णन भी मिलता है जैसे अग्निकुण्ड से चौहान वश की उत्पत्ति, पद्मावती, हसावती, शशिव्रता आदि अनेक राजकुमारियों से पृथ्वीराज का विवाह, उसके विविध युद्ध, पृथ्वीराज और शहाबुद्दीन म अनेक युद्धों का होना और हर बार शहाबुद्दीन का बदी होना, भीम द्वारा सोमेश्वर का बध, आदि। रासो की बृहत् वाचना मे लघु वाचना का विषय विशेष

1—यह विवरण निम्नलिखित लेखो के आधार पर उपस्थित किया गया है —

(क) पृथ्वीराजरासो की विविध वाचनाये—लेखक श्री मूलराज जैन, एम० ए०, एल०–एल० बी०—प्रेमी अभनन्दन ग्रन्थ, पृ० १३०–३९।

(ख) पृथ्वीराजरासो और उसकी हस्तलिखित प्रतियाँ—ले० श्री अगरचन्द नाहटा, राजस्थानी—भाग ३, अक २, अक्तूबर, १९३९, पृ० ११।

(ग) पृथ्वीराजरासो का रचना काल—ले० श्री अगरचन्द नाहटा—विशाल भारत, भाग ३८, अक ६, दिसबर १९४६, पृ० ३९५।

विस्तार से मिलता है और इसके अतिरिक्त इसमे मध्यम वाचना की घटनाओ के साथ अन्य अनेक घटनाओ का समावेश भी है।' (प्रेमी अभिनन्दन ग्रंथ, पृ० १३१) । इस प्रकार श्री जैन ने यह निष्कर्ष निकाला है कि लघु रूपान्तर से मध्यम और बृहत् रूपान्तरों का विकास हुआ है, अत रासो की उपलब्ध वाचनाओ मे से लघु वाचना शेष दोनो की अपेक्षा अधिक प्रामाणिक तथा प्राचीन है। इस सम्बन्ध में मेरा विचार यह है कि रासो की जितनी हस्त लिखित प्रतियाँ उपलब्ध हैं उन सबको सामने रख कर जब तक उसका वैज्ञानिक ढग से सपादन नहीं किया जाता तब तक मूल या प्रामाणिक रूपान्तर का निर्णय नहीं हो सकता। डा० माताप्रसाद गुप्त ने भी इस सम्बन्ध में यही मत व्यक्त किया है[1] ।

रासो की विभिन्न रूपान्तरो वाली अनेक प्रतियाँ भिन्न भिन्न स्थानो से प्राप्त हुई हैं। इनके अतिरिक्त बहुत सी हस्तलिखित प्रतियाँ राजस्थान के विभिन्न स्थानों म बिखरी हुई हैं जिनकी खोज अभी नही की जा सकी है। इस ग्रथ की इतनी हस्तलिखित प्रतियाँ प्राप्त हैं, यही इस बात का प्रमाण है कि रासो पिछली कुछ शताब्दियों मे अत्यत लोकप्रिय, जातीय महाकाव्य रहा है और विभिन्न स्थानों मे मौखिक परम्परा मे विकसित होने के कारण इसके लघुतम लघु, मध्यम और बृहत् रूपान्तर हो गये हैं। इस सम्बन्ध मे श्री अगरचन्द नाहटा ने अपना मत व्यक्त करते हुये लिखा है कि रासो की सत्रहवीं शताब्दी की लिखित प्रतियाँ लघु रूपान्तर वाली हैं, अठारहवीं शताब्दी की लिखित मध्यम रूपान्तरवाली और उन्नीसवीं शताब्दी की लिखित बृहत् रूपान्तर वाली हैं[2]। इस तरह उन्होंने यह कहना चाहा है कि सत्रहवीं शताब्दी का लघु रूपान्तर अधिक प्रामाणिक है। वे लिखते हैं, "पाठकों को विस्मय होगा कि जहाँ नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'रासो' ६९ समय, १६३०६ छन्द एव लगभग १ लाख श्लोक प्रमाण वाला है वहाँ हमे उपलब्ध प्रतियों मे से तीन प्रतियो मे तो रासो का प्रमाण केवल ३५ सौ श्लोक के करीब ही है। इसी से आप अनुमान लगा सकते हैं कि तिल का ताड कैसे हो गया। हमारे सग्रह की प्रति मे ४६ समय, ३३०९ छन्द और ११ हजार के करीब ग्रथाग्रथ

१—सक्षिप्त पृथ्वीराज रासो की आलोचना—ले० डा० माताप्रसाद गुप्त—आलोचना, जुलाई १९५३ ।

२—पृथ्वीराजरासो और उसकी हस्तलिखित प्रतियाँ—ले० श्री अगरचन्द नाहटा—राजस्थानी, भाग ३, अक २—अक्तूबर १९३९, पृ० ११ ।

भी हस्तलिखित प्रतियाँ आज उपलब्ध हैं उनमे चार रूपान्तर दिखलाई पडते हैं[१] —

बृहत् रूपान्तर—इसमे ६४ से ६९ समय (सर्ग), १३ से १७ हजार तक पद्य और अनुष्टुप छद की ३२ मात्रा के हिसाब से ३० से ३६ हजार तक श्लोक या ग्रथाग्रथ है। इस रूपातर की प्रतिया यूरोप मे तथा बम्बई, कलकत्ता, आगरा, काशी, बीकानेर आदि स्थानो मे विद्यमान हैं।

२—मध्यम रूपान्तर—इसमे समयो की सख्या ४० से ४७ तक है और ९ से १२ हजार तक श्लोक हैं। इस रूपान्तर की प्रतिया बीकानेर, अबोहर, लाहौर, पूना और कलकत्ता मे हैं।

३—लघु रूपान्तर—इसम लगभग उन्नीस समय, २ हजार पद्य और ३५ सौ श्लोक हैं। इसकी प्रतिया बीकानेर और लाहौर में हैं।

४—लघुतम रूपान्तर—यह लघु रूपातर के आधे के बराबर, लगभग १३ सौ श्लोक परिमाण वाला है और इसमे समयो का विभाजन नही हैं। इसकी एक ही प्रति उपलब्ध है जो बीकानेर के श्री अगरचद नाहटा के पास है।

अब प्रश्न यह है कि इन चारों रूपान्तरो मे से किसे प्रामाणिक माना जाय जिसके आधार पर रासो का साहित्यिक मूल्याकन और उसके महाकाव्यत्व का निर्णय किया जा सके। श्री मूलराज जैन का कहना है कि 'मध्यम वाचना में लघु वाचना का सारा विषय कुछ विस्तृत रूप मे मिलता है और इसके अतिरिक्त कई अन्य घटनाओ का वर्णन भी मिलता है जैसे अग्निकुण्ड से चौहान वश की उत्पत्ति, पद्मावती, हसावती, शशिव्रता आदि अनेक राजकुमारियो से पृथ्वीराज का विवाह, उसके विविध युद्ध, पृथ्वीराज और शहाबुद्दीन मे अनेक युद्धो का होना और हर बार शहाबुद्दीन का बदी होना, भीम द्वारा सोमेश्वर का बध, आदि। रासो की बृहत् वाचना मे लघु वाचना का विषय विशेष

१—यह विवरण निम्नलिखित लेखो के आधार पर उपस्थित किया गया है —

(क) पृथ्वीराजरासो की विविध वाचनाये—लेखक श्री मूलराज जैन, एम० ए०, एल०-एल० बी०—प्रेमी अभनन्दन ग्रन्थ, पृ० १३०—३९।

(ख) पृथ्वीराजरासो और उसकी हस्तलिखित प्रतियाँ—ले० श्री अगरचन्द नाहटा, राजस्थानी—भाग ३, अक २, अक्तूबर, १९३९, पृ० ११।

(ग) पृथ्वीराजरासो का रचना काल—ले० श्री अगरचन्द नाहटा—विशाल भारत, भाग ३८, अक ६, दिसबर १९४६, पृ० ३९५।

विस्तार से मिल्ता है और इसके अतिरिक्त इसमे मध्यम वाचना की घटनाओ के साथ अन्य अनेक घटनाओ का समावेश भी है।' (प्रेमी अभिनन्दन ग्रंथ, पृ० १३१)। इस प्रकार श्री जैन ने यह निष्कष निकाला है कि लघु रूपान्तर से मध्यम और बृहत् रूपान्तरो का विकास हुआ है, अत रासो की उपलब्ध वाचनाओ मे से लघु वाचना शेष दोनो की अपेक्षा अधिक प्रामाणिक तथा प्राचीन हैं। इस सम्बन्ध मे मेरा विचार यह है कि रासो की जितनी हस्त लिखित प्रतियाँ उपलब्ध हैं उन सबको सामने रख कर जब तक उसका वैज्ञानिक ढग से सपादन नहीं किया जाता तब तक मूल या प्रामाणिक रूपान्तर का निर्णय नहीं हो सकता। डा० माताप्रसाद गुप्त ने भी इस सम्बन्ध में यही मत व्यक्त किया है[1]।

रासो की विभिन्न रूपान्तरो वाली अनेक प्रतियाँ भिन्न भिन्न स्थानो से प्राप्त हुई हैं। इनके अतिरिक्त बहुत सी हस्तलिखित प्रतियाँ राजस्थान के विभिन्न स्थानों मे बिखरी हुई हैं जिनकी खोज अभी नहीं की जा सकी है। इस ग्रंथ की इतनी हस्तलिखित प्रतियाँ प्राप्त हैं, यही इस बात का प्रमाण है कि रासो पिछली कुछ शताब्दियों मे अत्यत लोकप्रिय, जातीय महाकाव्य रहा है और विभिन्न स्थानों मे मौखिक परम्परा मे विकसित होने के कारण इसके लघुतम लघु, मध्यम और बृहत् रूपान्तर हो गये हैं। इस सम्बन्ध मे श्री अगरचन्द नाहटा ने अपना मत व्यक्त करते हुये लिखा है कि रासो की सत्रहवीं शताब्दी की लिखित प्रतियाँ लघु रूपान्तर वाली हैं, अठारहवीं शताब्दी की लिखित मध्यम रूपान्तरवाली और उन्नीसवी शताब्दी की लिखित बृहत् रूपान्तर वाली हैं[2]। इस तरह उन्होंने यह कहना चाहा है कि सत्रहवीं शताब्दी का लघु रूपान्तर अधिक प्रामाणिक है। वे लिखते हैं, "पाठको को विस्मय होगा कि जहाँ नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'रासो' ६९ समय, १६३०६ छन्द एव लगभग १ लाख श्लोक प्रमाण वाला है वहाँ हमे उपलब्ध प्रतियों मे से तीन प्रतियों मे तो रासो का प्रमाण केवल ३५ सौ श्लाक के करीब ही है। इसी से आप अनुमान लगा सकते हैं कि तिल का ताड कैसे हो गया। हमारे सग्रह की प्रति मे ४६ समय, ३३०९ छन्द और ११ हजार के करीब ग्रथाग्रथ

१—सक्षिप्त पृथ्वीराज रासो की आलोचना—ले० डा० माताप्रसाद गुप्त—आलोचना, जुलाई १९५३।

२—पृथ्वीराजरासो और उसकी हस्तलिखित प्रतियाँ—ले० श्री अगरचन्द नाहटा—राजस्थानी, भाग ३, अंक २—अक्तूबर १९३९, पृ० ११।

हैं। बीकानेर के ज्ञान भडार की प्रति मे समय सख्या ४२ ४३, छ द सख्या २६४७ और श्लोक प्रमाण साढे ११ हजार के करीब है। इस प्रकार हम इस निष्कष पर पहुँचते हैं कि उपलब्ध प्रतियों मे ही परस्पर आकाश पाताल का सा अन्तर है।"[1] नाहटा जी की तथा ज्ञान भडार की कई प्रतियाँ अठारहवी शताब्दी की लिखी हुई हैं और मध्यम रूपान्तर वाली हैं। बृहत् रूपान्तर वाली प्रतियो म से जिस प्रति के आधार पर नागरीप्रचारिणी सभा वाला सस्करण प्रकाशित हुआ है उसका लेखन काल स्व० श्री मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या और बाबू श्यामसुन्दर दास ने स० १६४२ माना है किन्तु श्री नरोत्तमदास स्वामी और श्री मोतीलाल मेनारिया ने अठारहवी शताब्दी विक्रम का उत्तरार्द्ध माना है[2]। यदि प्रकाशित रासो की आदर्श प्रति को अठारहवीं शताब्दी की लिखी हुइ मान ले तो भी नाहटा जी का यह मत सही नहीं प्रतीत होता कि रासो का बृहत् रूपा तर उन्नीसवी शताब्दी मे हुआ। श्री नाहटा जी को मुनि विनयसागर जी से रासो की जो दो खण्डित प्रतियाँ प्राप्त हुई है उनम से कण्वज खण्ड वाली प्रति मे, जो सवत् १७७७ की लिखी है, निम्नलिखित दो दोहे दिये हुए हैं[3]।

सम्वत सिव पैतीस मे, अष्टम रवि उजियाल।
चन्द विरदय कवियणह, ग्रथ सु रच्यो विसाल॥
सवा लक्ख सख्या सकल, अधिक अपूरव वत्त।
वेद मुक्त पुराण मय, वरणि वार्ता सत्थ॥

इससे यह स्पष्ट है कि सवत् १७७७ तक रासो विशाल ग्रथ के रूप मे माना जाता था और यह धारणा भी बन गयी थी कि उसका परिमाण सवा लाख श्लोक का था। यद्यपि बृहत् रूपान्तर की कोई भी ऐसी प्रति नहीं है जिसका ३० से ३६ हजार श्लोक से अधिक का परिमाण हो किन्तु कई शताब्दियो से परम्परागत रूप से यह प्रवाद प्रचलित रहा है कि रासो मे एक लाख के करीब श्लोक हैं। किसी भी बडे ग्रथ मे श्लोक सख्या जब २५ ३० हजार से ऊपर चली जाती है तो उसे लक्ष श्लोक सख्या वाला मान लेने की स्वाभाविक प्रवृत्ति

१—वही, पृ० १० ११।

२—प० मोतीलाल मेनारिया—राजस्थानी भाषा और साहित्य—प्रयाग, सवत् २००६—पृ० ९६।

३—पृथ्वीराजरासो का विस्तार—ले० अगरचन्द नाहटा—आलोचना—वर्ष ३, अक ४, जुलाई १९५४, पृ० ८२ ८३।

बहुत दिनो से चली आती है। रासो के सबध म भी यह धारणा बहुत दिनों से प्रचलित रही है जिससे प्रमाणित होता है कि सोलहवी सत्रहवी शताब्दी मे ही वह एक विशाल महाकाव्य का रूप प्राप्त कर चुका था। अत उस काल की तथा उसके बाद की लिखी हुइ जो लघु और मध्यम रूपा तर वाली प्रतियाँ प्राप्त होती हैं उन्हे, केवल इसलिये कि वे आकार में अपेक्षाकृत छोटी हैं, प्रामाणिक या मूल रासो नही माना जा सकता, क्योंकि यह भी सभव है कि रासो का बृहत् रूपान्तर निर्मित हो जाने के बाद लेखको ने अपनी सुविधा के लिये उसका सशोधन और सक्षेपीकरण करके लघु और मध्यम रूपान्तर वाली प्रतियो को लिखा हो। लघु और मध्यम रूपान्तरो म जितने भी समय और रूपक मिलते हैं करीब करीब वे सभी बृहत् रूपान्तर वाली प्रतियों मे भी हे। इसका अथ यह है कि या तो लघु रूपान्तर वाला रासो ही पूववता है जिसमे परिवर्द्धन करके कही मध्यम और कही बृहत् रूपान्तरो का विकास ओर प्रचार हुआ अथवा बृहत् रूपान्तर ही पूववता है ओर लघुतम, लघु तथा मध्यम रूपान्तर उसके सक्षिप्त और सशोधित रूप हैं। इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हें कि पृथ्वीराजरासो से सबधित इस विवाद से कोई लाभ नही है कि वह मालिक है अथवा जाली। साथ ही उसके इतने रूपा तरों ओर परिवर्द्धित रूपो मे से मूल रासो का ढूँढ निकालना भी कठिन ही नहा, असभव प्रतीत होता है। अधिक से अधिक सम्पादन करके उसका प्रामाणिक पाठाद्धार किया जा सकता है। इस सबध मे 'पुरातनप्रबध सग्रह' का प्रस्तावना मे मुनि जिन-विजय जी का निम्नलिखित कथन उल्लेख्य है —

"इसमे कोइ शक नहीं है कि पृथ्वीराजरासो नाम का जो महाकाव्य वर्तमान मे उपलब्ध है उसका बहुत बडा भाग पीछे से बना हुआ है। उसका यह बनावटी हिस्सा इतना अधिक और विस्तृत है और उसम मूल रचना का अश इतना अल्प और वह भी इतनी विकृत दशा मे है कि साधारण विद्वानो को तो उसके बारे म किसी प्रकार की कल्पना करना भी कठिन है। मालूम पडता है कि मूल रचना का बहुत कुछ भाग नष्ट हो गया है ओर जो कुछ अवशेष रहा है वह भाषा की दृष्टि से इतना भ्रष्ट हो गया है कि उसको खोज निकालना साधारण कार्य नहा है। मन भर बनावटी मोती के ढेर मे से मुट्ठी भर सच्चे मोतियों को खोज निकालना जैसा दुष्कर कार्य है वैसा ही इस सवा लाख श्लोक प्रमाण वाले बनावटी पद्यों के विशाल पुज मे से चद कवि के बनाये हुए हजार पाँच सौ अस्तव्यस्त पद्यों को ढूँढ निकालना कठिन कार्य है। मालूम पडता है कि चन्द कवि की मूल कृति बहुत ही लोकप्रिय हुई और

इसलिये ज्यो ज्यों समय बीतता गया त्यों त्यो उसमे पीछे से चारण और भाट लोग अनेकानेक नये नये पद्य बना कर मिलाते गये और उसका कलेवर बढाते गये। कण्ठानुकण्ठ प्रचार होते रहने के कारण पद्यो की भाषा मे भी बहुत कुछ परिवर्तन होता गया। उसका परिणाम यह हुआ कि आज हमे चन्द की उस मूल रचना का अस्तित्व ही विलुप्त सा हो गया मालूम दे रहा है।"[1]

मुनि जी के इस कथन से स्पष्ट है कि पृथ्वीराजरासो एक विकसनशील महाकाव्य है जिसमे चन्द कृत मूल रासो खो सा गया है। फिर भी मुनि जी ने उसी भूमिका मे यह आशा प्रकट की है कि "यदि कोई पुरातन भाषाविद् विचक्षण विद्वान यथेष्ट साधन सामग्री के साथ पूरा परिश्रम करे तो इस कूडे-करकट के बडे ढेर मे से चन्द कवि के उन रत्न रूप असली पद्यो को खोजकर निकाल सकता है और इस तरह हिंदी भाषा के नष्ट भ्रष्ट इस महाकाव्य का प्रामाणिक पाठोद्वार कर सकता है। नागरीप्रचारिणी सभा का कर्तव्य है कि जिस तरह पूना का भाण्डारकर रिसर्च इस्टीच्यूट महाभारत की सशोधित आवृत्ति तैयार कर प्रकाशित कर रहा है उसी तरह वह भी हिंदी भाषा के महाभारत समझे जाने वाले इस पृथ्वीराजरासो की एक सपूर्ण सशोधित आवृत्ति प्रकाशित करने का पुण्य कार्य करे।"[2] मुनि जी ने स्वय इसे कठिन कार्य माना है और कहा है कि वर्तमान रासो मे चन्द की मूल रचना का अस्तित्व विलुप्त सा हो गया है, अत उनका फिर यह कहना विरोधाभास जैसा है कि चन्द के मूल ग्रथ के हजार पाँच सौ छ द जो असली मोती की तरह हैं कूडे की ढेरी से निकाले जा सकते हैं। मेरे विचार से तो अब यह असभव काय है क्योंकि क्षेपकयुक्त काव्यो और विकसनशील काव्यो मे अन्तर होता है। क्षेपकयुक्त काव्यो मे तो मूल छन्दों को क्षेपको से, चाहे वे कितने भी अधिक क्यो न हों, अलग किया जा सकता है, किन्तु विकसनशील काव्यों मे ऐसा करना संभव नहीं होता। क्षेपक वाले काव्यो का रूपान्तर अधिक नहीं होता, अत अनेक पाठो को मिला कर मूल पाठ का पता लगाया जा सकता है जैसा हिंदी मे पद्मावत और रामचरितमानस के सपादन मे किया गया है। परन्तु रासो के रूपातर उसके मौखिक परम्परा मे विकसित होने के कारण हुए हैं जिससे उसके मूल पाठ का रूप खोजने से भी नहीं मिल सकता है। उसका उद्धार तो तभी संभव है जब चन्द के मूल ग्रथ की कोई प्रति उसी तरह प्राप्त हो जाय जैसे

१—पुरातनप्रबन्ध सग्रह—प्रास्ताविक वक्तव्य—पृ० ९ १० ।
२—वही, पृ० १० ।

मुनि जी को उसके चार छप्पय प्राप्त हो गये हैं। जब तक ऐसा नहीं होता तब तक वतमान रासो के बृहत् रूपान्तर का वैज्ञानिक ढग से पाठ सशोधन और सपादन करके उसका परिष्कृत और शुद्ध रूप निर्धारित करने के अतिरिक्त और कोइ रास्ता नहीं है। यदि रासो सचमुच हिन्दी का महाभारत जैसा विकसनशील महाकाव्य है तो अब उसके मूलरूप को ढूढने के प्रयत्न की भी इतनी ही उपयोगिता हो सकती है कि बारहवी तेरहवी शताब्दी की देश्य भाषा और तत्कालीन काव्यरूपो पर प्रकाश पड सके, अन्यथा विकसित रूप मे उपलब्ध रासो ने तो महाकाव्य रूप मे अपनी उपयोगिता और महत्व को सिद्ध कर दिया है और हिन्दी साहित्य के लिए उसकी उतनी ही देन कम नही है।

ग्रियर्सन और सी० वी० वैद्य का मत—पहले के विद्वानो मे सर जाज ग्रियर्सन और सी० वी० वैद्य ने भी पृथ्वीराजरासो को महाभारत के ढग का विकसनशील महाकाव्य ही माना है। ग्रियर्सन ने लिखा है कि "यह विशाल काव्य, जिसमे एक लाख छन्द बताये जाते हैं, यदि प्रामाणिक है तो इसे भारत के इस भूभाग (राजस्थान) का तत्कालीन चारणी इतिहास समझना चाहिये। वतमान रासो की प्रामाणिकता मे इधर हाल मे गम्भीर सन्देह प्रकट किया गया है और सत्य सभवत यह है कि सस्कृत महाभारत की तरह रासो के मूल पाठ पर भी मनमाने क्षेपकों का इतना अधिक बोझ लाद दिया गया है कि अब मूल छन्दो को परवता क्षेपको से अलग करना असम्भव है।[1]" ग्रियर्सन महोदय मूल रासो के सम्बन्ध में अभी अपना मत स्थित नही कर सके थे पर सी० वी० वैद्य ने तो स्पष्ट शब्दो मे रासो को विकसनशील महाकाव्य कहते हुए उसकी तुलना महाभारत से की है। उनका मत यह है —

"हमारे मत से कई महत्वपूर्ण बातो मे, विशेषतया मौलिकता और प्राचीनता के सम्बन्ध मे, रासो का महाभारत से बहुत कुछ सादृश्य है। ऐसे विवाद मे परस्पर विरोधी दो मतों के बीच मे सत्य निहित रहना है। हमारी समझ मे इस

1— His huge poem said to contain 100,000 stanzas, is if it be genuine a bardic chronicle of his master s deeds and a contemporary history of this part of India The authenticity of the work, as we have it now has of late years been seriou sly doubted and the truth probably is that like the San krit Mahabharat the text is so encumbered by spurious additions that it is impossible to separate the original from its accre tions" Sir George Grierson—Imperial Gazetteer of India Vol II p 427

इसलिये ज्यो ज्यों समय बीतता गया त्यों त्यो उसमे पीछे से चारण और भाट लोग अनेकानेक नये नये पद्य बना कर मिलाते गये और उसका कलेवर बढाते गये। कण्ठानुकण्ठ प्रचार होते रहने के कारण पद्यो की भाषा मे भी बहुत कुछ परिवर्तन होता गया। उसका परिणाम यह हुआ कि आज हमे चन्द की उस मूल रचना का अस्तित्व ही विलुप्त सा हो गया मालूम दे रहा है।"[1]

मुनि जी के इस कथन से स्पष्ट है कि पृथ्वीराजरासो एक विकसनशील महाकाव्य है जिसमे चन्द कृत मूल रासो खो सा गया है। फिर भी मुनि जी ने उसी भूमिका मे यह आशा प्रकट की है कि "यदि कोई पुरातन भाषाविद् विचक्षण विद्वान यथेष्ट साधन सामग्री के साथ पूरा परिश्रम करे तो इस कूडे-करकट के बडे ढेर मे से चन्द कवि के उन रत्न रूप असली पद्यो को खोजकर निकाल सकता है और इस तरह हिंदी भाषा के नष्ट भ्रष्ट इस महाकाव्य का प्रामाणिक पाठोद्धार कर सकता है। नागरीप्रचारिणी सभा का कर्तव्य है कि जिस तरह पूना का भाण्डारकर रिसर्च इस्टीच्यूट महाभारत की सशोधित आवृत्ति तैयार कर प्रकाशित कर रहा है उसी तरह वह भी हिंदी भाषा के महाभारत समझे जाने वाले इस पृथ्वीराजरासो की एक संपूर्ण सशोधित आवृत्ति प्रकाशित करने का पुण्य कार्य करे।"[2] मुनि जी ने स्वय इसे कठिन कार्य माना है और कहा है कि वर्तमान रासो मे चन्द की मूल रचना का अस्तित्व विलुप्त सा हो गया है, अत उनका फिर यह कहना विरोधाभास जैसा है कि चन्द के मूल ग्रथ के हजार पॉच सौ छ द जो असली मोती की तरह हैं कूडे की ढेरी से निकाले जा सकते हैं। मेरे विचार से तो अब यह असभव काय है क्योंकि क्षेपकयुक्त काव्यों और विकसनशील काव्यो मे अन्तर होता है। क्षेपकयुक्त काव्यों मे तो मूल छन्दो को क्षेपको से, चाहे वे कितने भी अधिक क्यो न हों, अलग किया जा सकता है, किन्तु विकसनशील काव्यों मे ऐसा करना संभव नहीं होता। क्षेपक वाले काव्यो का रूपान्तर अधिक नहीं होता, अत अनेक पाठो को मिला कर मूल पाठ का पता लगाया जा सकता है जैसा हिंदी मे पद्मावत और रामचरितमानस के सपादन मे किया गया है। परन्तु रासो के रूपातर उसके मौखिक परम्परा मे विकसित होने के कारण हुए हैं जिससे उसके मूल पाठ का रूप खोजने से भी नही मिल सकता है। उसका उद्धार तो तभी सभव है जब चन्द के मूल ग्रथ की कोई प्रति उसी तरह प्राप्त हो जाय जैसे

१—पुरातनप्रबन्ध सग्रह—प्रास्ताविक वक्तव्य—पृ० ९ १०।
२—वही, पृ० १०।

मुनि जी को उसके चार छप्पय प्राप्त हो गये हैं। जब तक ऐसा नहीं होता तब तक वर्तमान रासो के बृहत् रूपान्तर का वैज्ञानिक ढंग से पाठ संशोधन और संपादन करके उसका परिष्कृत और शुद्ध रूप निर्धारित करने के अतिरिक्त और कोई रास्ता नहीं है। यदि रासो सचमुच हिन्दी का महाभारत जैसा विकसनशील महाकाव्य है तो अब उसके मूलरूप को ढूंढने के प्रयत्न की भी इतनी ही उपयोगिता हो सकती है कि बारहवीं तेरहवीं शताब्दी की दृश्य भाषा और तत्कालीन काव्यरूपों पर प्रकाश पड़ सके, अन्यथा विकसित रूप में उपलब्ध रासो ने तो महाकाव्य रूप में अपनी उपयोगिता और महत्व को सिद्ध कर दिया है और हिन्दी साहित्य के लिए उसकी उतनी ही देन कम नहीं है।

ग्रियर्सन और सी० वी० वैद्य का मत—पहले के विद्वानों में सर जार्ज ग्रियर्सन और सी० वी० वैद्य ने भी पृथ्वीराजरासो को महाभारत के ढंग का विकसनशील महाकाव्य ही माना है। ग्रियर्सन ने लिखा है कि "यह विशाल काव्य, जिसमें एक लाख छन्द बताये जाते हैं, यदि प्रामाणिक है तो इसे भारत के इस भूभाग (राजस्थान) का तत्कालीन चारणी इतिहास समझना चाहिये। वर्तमान रासो की प्रामाणिकता में इधर हाल में गम्भीर सन्देह प्रकट किया गया है और सत्य संभवतः यह है कि संस्कृत महाभारत की तरह रासो के मूल पाठ पर भी मनमाने क्षेपकों का इतना अधिक बोझ लाद दिया गया है कि अब मूल छन्दों को परवर्ता क्षेपकों से अलग करना असम्भव है।[1]" ग्रियर्सन महोदय मूल रासो के सम्बन्ध में अभी अपना मत स्थिर नहीं कर सके थे पर सी० वी० वैद्य ने तो स्पष्ट शब्दों में रासो को विकसनशील महाकाव्य कहते हुए उसकी तुलना महाभारत से की है। उनका मत यह है —

"हमारे मत से कई महत्वपूर्ण बातों में, विशेषतया मौलिकता और प्राचीनता के सम्बन्ध में, रासो का महाभारत से बहुत कुछ सादृश्य है। ऐसे विवाद में परस्पर विरोधी दो मतों के बीच में सत्य निहित रहता है। हमारी समझ में इस

1— His huge poem said to contain 100 000 stanzas is if it be genuine a bardic chronicle of his master s deeds and a contemporary history of this part of India The authenticity of the work as we have it now has of late years been seriously doubted, and the truth probably is that like the Sanskrit Mahabharat the text is so encumbered by spurious additions that it is impossible to separate the original from its accretions " Sir George Grierson—Imperial Gazetteer of India Vol II p 427

महाकाव्य का मूल भाग प्रामाणिक, मूल लेखक की कृति और प्राचीन है, परन्तु कम से कम दो बार इसमें पीछे से कई बातें बढाई गई हैं। हिन्दी महाभारत मीमांसा में जैसा हमने लिखा है कि वर्तमान उपलब्ध महाभारत व्यास के मूल महाभारत का दुबारा सौति द्वारा परिवर्द्धित रूप है (पहली बार वैशम्पायन ने मूल महाभारत को बढाया था) उसी तरह मूल रासो चन्द ने रचा, फिर उसके पुत्र ने उसे कुछ बढा लिया और सोलहवीं या सत्रहवीं सदी के लगभग किसी अज्ञात कवि ने उसमें अपनी रचना भी मिला दी है। बहुत सी महत्त्व की बातों में दोनों महाकाव्यों में बहुत कुछ साम्य है।"[1] इस तरह वैद्य महोदय रासो को मूल रूप में तो प्राचीन मानते हैं पर उनके मत से उसका अधिकांश भाग परवर्ती काल में विकसित और विवर्द्धित है। इसके लिए उनका यह आग्रह कहां नहीं है कि प्रक्षिप्त भागों को निकाल कर फेंक दिया जाय और मूल रासो का ही प्रचार प्रसार किया जाय। रामायण और महाभारत के प्रक्षिप्त अंशों का अनुमान से पता लग जाता है पर उन्हें निकाल नहीं दिया जाता। उसी तरह रासो में प्रक्षिप्त और परवर्ती अंश कौन से हैं, इसकी खोज तो अवश्य होनी चाहिये पर मूल रासो को खोज कर उसी का प्रचार प्रसार करना और उसके उस रूप की जो अब तक के विकास और विवर्द्धन की प्रक्रिया द्वारा निर्मित है, अवहेलना और उपेक्षा करना हिन्दी साहित्य और हमारी जातीय भावना का बहुत बडा अहित करना होगा। विकसनशील महाकाव्यों में इस तरह काट छांट और अंग भंग संसार के साहित्य में कहीं भी देखने में नहीं आता।

रासो की प्राचीनता—रासो के सम्बन्ध में अब तक जितनी खोज हो चुकी है उससे इतना तो सिद्ध हो गया है कि वह पूरा सोलहवीं सत्रहवीं शताब्दी में लिखा गया जाली ग्रन्थ नहीं है। रायबहादुर गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने उसे १६०० ई० के आस पास का लिखा माना है और इसके लिए तर्क यह दिया है कि वि० सं० १५१७ में महाराणा कुम्भकर्ण ने कुम्भलगढ में कुम्भस्वामी के मन्दिर में जो लम्बा प्रशस्ति लेख खुदवाया था उसमें मेवाड के तब तक के राजाओं का बहुत कुछ वृत्तान्त दिया है पर समर सिंह के पृथ्वीराज की बहिन पृथा से विवाह करने या पृथ्वीराज शहाबुद्दीन की लडाई में

[1] —हिन्दू भारत का उत्कर्ष या राजपूतों का प्रारम्भिक इतिहास—ले० श्री चिंतामणि विनायक वैद्य, (मूल अंगरेजी ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद) काशी, सं० १९८६।

मारे जाने का कोई वर्णन नहीं है। परन्तु वि० स० १७३२ म महाराणा राजसिंह के बनवाये राजसमुद्र को नौचौकी बाध पर खुदे राजप्रशस्ति नामक महाकाव्य म न केवल उक्त घटना का उल्लेख है बल्कि यह भी कहा गया है कि "भाषारासापुस्तकेऽस्य युद्धस्योक्तोऽस्ति विस्तर" अर्थात् उन घटनाओं का वर्णन अत्यन्त विस्तार से लोकभाषा के रासो नामक काव्य मे किया गया है। इस तरह ओझा जी ने यह निष्कर्ष निकाला है कि पृथ्वीराजरासो की रचना स० १५१७ और स० १७३२ के बीच किसी समय हुई होगी और १६४२ की रासो की हस्तलिखित प्रति मिल चुकी है अत उसकी रचना १६०० के आस पास हुई होगी।[1] उसके बाद प० मोतीलाल मेनारिया ने इससे दो कदम आगे बढकर यह घोषणा की कि पृथ्वीराजरासो की रचना स० १६०० के आसपास नहीं बल्कि स० १७०० के आसपास हुई क्योंकि रासो का उल्लेख राजप्रशस्ति से पूर्व और कहीं भी नही मिलता और जिस १६४२ वाली प्रति के लिपि काल के कारण ओझा जी ने रासो का रचना काल स० १६०० माना है, वह प्रति वस्तुत १८७९ म लिखी गयी थी, अत "वास्तव मे न तो रासो की सबसे प्राचीन प्रति स० १६४२ की लिखी हुई है और न रासो का निमाण काल स० १६०० के आसपास है। स० १७०९ और स० १७३२ के बीच किसी समय यह रचा गया है[2]।" ओझा जी और मेनारिया जी के पूर्व भी श्यामल दान, मुरारिदान, डा० बूलर आदि विद्वानों ने ऐतिहासिक आधार पर रासो को अप्रामाणिक माना था। इस मत का खण्डन करते हुए स्व० पण्डया जी, श्याम सुन्दरदास, मिश्रबन्धु आदि विद्वानो ने उसे प्रामाणिक स्वीकार किया था। श्री दशरथ शर्मा, मीनाराम रगा, नरोत्तमस्वामी, अगरचन्द नाहटा, मथुराप्रसाद दीक्षित, मूलराज जैन, कविराज मोहन सिंह आदि विद्वान अन्वेषकों ने भी पूर्व पक्ष के तर्कों का अपने अपने ढङ्ग से उत्तर दिया है और अधिकतर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि रासो की अप्रामाणिकता के सम्बन्ध में जितने आक्षेप किये जाते हैं वे सभी उसके बृहत् रूपान्तर के कारण हैं जिसका प्रकाशित रूप नागरीप्रचारिणी सभा वाला सस्करण है। वस्तुत रासो का मूल रूप उसके मध्यम, लघु या लघुतम प्रतियां वाला ही है और उनमे वे अप्रामाणिक बातें

१—पृथ्वीराजरासो का निर्माण काल—ले० रा० ब० गौरीशकर हीराचन्द ओझा—कोशोत्सव स्मारक सग्रह—पृ० ६१–६२।

२—पृथ्वीराजरासो का निर्माण काल, ले० प० मोतीलाल मेनारिया–विशाल भारत, अक्तूबर, १९४६, भाग ३८, अक ४।

या अशुद्धियाँ नहीं है जिनके कारण रासो को जाली कहा जाता है। इस तरह लघु या लघुतम रूपान्तरों के असली रासो होने का दावा किया जाने लगा है। परन्तु डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार "इतिहास की जिन गलतियों से बचने के लिए बडे रासो को अप्रामाणिक और छोटे रासो को प्रामाणिक बताया जाता है उनमे से कुछ न कुछ छोटी प्रतियो मे भी रह ही जाती हैं। वस्तुत कई भिन्न भिन्न उद्धारको ने चन्द का उद्धार किया था। सभी सस्करण परवर्ती हैं, सबमे क्षेपक की सभावना बनी हुई है। ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने पर एक भी प्रति प्रामाणिक नहीं ठहरती है।"[1] यही विचार इस सम्बन्ध मे डा० उदयनारायण तिवारी ने भी अपनी 'वीर काव्य' पुस्तक मे प्रकट किया है। उनका कहना है कि "प्रस्तुत प्रतियों मे भी यह कहना कि अमुक प्रति लघुतम होने से प्रामाणिक है, युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होता। सम्भव है सकलन-कर्त्ता ने जान बूझ कर कुछ अश छोड दिया हो ऐसे सस्करण मे स्वाभाविक रूप से ऐतिहासिक अशुद्धियो की संख्या भी कम रहेगी। जितनी ही अधिक घटनाओं का समावेश किया जायगा उतनी ही अशुद्धियों का बढना स्वाभाविक है। अत अशुद्धियों का अभाव देख कर ही उसे प्रामाणिक सिद्ध करने के लोभ मे पडना भ्रम है।"[2]

इस तरह अब अधिकाधिक विद्वान, भले ही वे रासो के मूलरूप को ही खोज लेने का प्रयत्न कर रहे हो, यह मानने लगे हैं कि चन्द पृथ्वीराज का समकालीन कवि अवश्य था जिसने पृथ्वीराज के सबध मे कोई काव्य लिखा था और वही काव्य बढते बढते आज वर्तमान बृहत् रूपान्तर वाले रासो के रूप मे बदल गया है। इस मत को सबसे अधिक बल मुनि जिनविजय द्वारा प्राप्त उन चार छन्दों से मिला है जो उन्हे पुरातन प्रबन्ध संग्रह के कुछ प्रबन्धों मे मिले हैं। उसी आधार पर मुनि जी ने रासो की प्राचीनता के सबध मे अपना मत व्यक्त करते हुए लिखा है कि "चन्द कवि रचित पृथ्वीराजरासो नामक हिन्दी के सुप्रसिद्ध महाकाव्य के कर्तृत्व और काल के विषय में जो कुछ पुराविद् विद्वानो का यह मत है कि वह ग्रथ समूचा ही बनावटी है और सतरहवीं सदी के आसपास मे बना हुआ है, यह मत सर्वथा सत्य नहीं है। इस सग्रह (पुरातन प्रबन्ध सग्रह) के उक्त प्रकरणों मे जो ३-४ प्राकृत भाषा के पद्य (पृ० ८६-

१—हिन्दी साहित्य का आदिकाल—ले० डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, प्रथम सस्करण—पृ० ५१।

२—वीर काव्य-ले० डा० उदयनारायण तिवारी प्रयाग, स० २००५, पृ० १११।

८८–८९) उद्धृत किये हुए मिलते है, उनका पता हमने उक्त रासो मे लगाया है और इन चार पद्यो मे से तीन पद्य यद्यपि विकृत रूप मे, लेकिन शब्दश, उसमे हमे मिल गये है। इससे यह प्रमाणित होता है कि च द कवि निश्चित तया एक ऐतिहासिक पुरुष था और वह दिल्लीश्वर हिन्दू सम्राट पृथ्वीराज का समकालीन और उसका समानित एव राजकवि था। उसी ने पृथ्वीराज के कीर्तिकलाप का वर्णन करने के लिए देश्य प्राकृत भाषा मे एक काव्य की रचना की थी जो पृथ्वीराजरासो के नाम से प्रसिद्ध हुआ।"[1] इसी से मिलता जुलता विचार डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भी व्यक्त किया है। वे कहते हैं कि "अब यह मान लेने मे किसी को आपत्ति नही है कि रासो एकदम जाली पुस्तक नही है। उसमे बहुत अधिक प्रक्षेप होने से उसका रूप विकृत जरूर हो गया है पर इस विशाल ग्रथ मे कुछ सार भी अवश्य है[2]।" इस प्रकार उपर्युक्त दोनों विद्वान चन्दवरदाई के पृथ्वीराज का समकालीन होने और उसके द्वारा पृथ्वीराज से सबधित कोई काव्य लिखे जाने की बात मे विश्वास करते हैं। चन्दवरदाई का अस्तित्व और पृथ्वीराजरासो तथा उसकी वर्ण्य वस्तु की प्राचीनता सिद्ध करने के लिये निम्नलिखित प्रमाण दिये जा सकते है —

१—पृथ्वीराजविजय नामक सस्कृत के महाकाव्य मे, जो जयानक नामक काश्मीरी कवि का लिखा बताया जाता है और जिसमे केवल बारह सर्ग ही बचे हुए प्राप्त हुए हैं, पृथ्वीराज का जीवन चरित लिखा गया है। इस ग्रन्थ का रचनाकाल स० १२४६ के आस पास माना गया है। इस काव्य मे कवि ने लिखा है कि काश्मीर का एक कवि (सभवत जयानक स्वय) पृथ्वीराज के दरबार मे गया। वहाँ राजा के मन्त्री ने राजकवि और राजा के मित्र तथा सामन्त पृथ्वीभट्ट से उसे मिलाया। पृथ्वीभट्ट ने उस कवि को राजदरबार म रख लिया। यह घटना सम्भवत पृथ्वीराज की मृत्यु के एक दो वर्ष पूर्व की है। पृथ्वीराजविजय महाकाव्य अजमेर में नही, काश्मीर मे कुछ वर्षों के बाद पूरा हुआ होगा। उसमे बारहवे सर्ग मे पृथ्वीराज को राम का अवतार कहा गया है और तिलोत्तमा के गगा तटवता किसी स्थान पर राजकुमारी रूप मे अवतार लेने की बात कही गयी है, इसके बाद प्रति खण्डित है। सभवत वह राज

१—पुरातन प्रबध सग्रह—सपादक, मुनि जिनविजय, प्रास्ताविक वक्तव्य पृ० ८–९।

२—हिन्दी साहित्य का आदिकाल—प्रथम सस्करण ले० डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ५०।

या अशुद्धियाँ नहीं है जिनके कारण रासो को जाली कहा जाता है। इस तरह लघु या लघुतम रूपान्तरों के असली रासो होने का दावा किया जाने लगा है। परन्तु डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार "इतिहास की जिन गलतियो से बचने के लिए बडे रासो को अप्रामाणिक और छोटे रासो को प्रामाणिक बताया जाता है उनमे से कुछ न कुछ छोटी प्रतियो मे भी रह ही जाती हैं। वस्तुत कई भिन्न भिन्न उद्धारको ने चन्द का उद्धार किया था। सभी सस्करण परवर्ती हैं, सबमे क्षेपक की सभावना बनी हुई है। ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने पर एक भी प्रति प्रामाणिक नहीं ठहरती है।"[1] यही विचार इस सम्बन्ध में डा० उदयनारायण तिवारी ने भी अपनी 'वीर काव्य' पुस्तक मे प्रकट किया है। उनका कहना है कि "प्रस्तुत प्रतियों मे भी यह कहना कि अमुक प्रति लघुतम होने से प्रामाणिक है, युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होता। सम्भव है सकलन-कर्त्ता ने जान बूझ कर कुछ अश छोड दिया हो ऐसे सस्करण मे स्वाभाविक रूप से ऐतिहासिक अशुद्धियो की सख्या भी कम रहेगी। जितनी ही अधिक घटनाओ का समावेश किया जायगा उतनी ही अशुद्धियों का बढना स्वाभाविक है। अत अशुद्धियों का अभाव देख कर ही उसे प्रामाणिक सिद्ध करने के लोभ मे पडना भ्रम है।"[2]

इस तरह अब अधिकाधिक विद्वान, भले ही वे रासो के मूलरूप को ही खोज लेने का प्रयत्न कर रहे हो, यह मानने लगे हैं कि चन्द पृथ्वीराज का समकालीन कवि अवश्य था जिसने पृथ्वीराज के सबध में कोई काव्य लिखा था और वही काव्य बढते बढते आज वर्तमान बृहत् रूपान्तर वाले रासो के रूप में बदल गया है। इस मत को सबसे अधिक बल मुनि जिनविजय द्वारा प्राप्त उन चार छन्दों से मिला है जो उन्हे पुरातन प्रबन्ध संग्रह के कुछ प्रबन्धों मे मिले हैं। उसी आधार पर मुनि जी ने रासो की प्राचीनता के सबंध मे अपना मत व्यक्त करते हुए लिखा है कि "चन्द कवि रचित पृथ्वीराजरासो नामक हिन्दी के सुप्रसिद्ध महाकाव्य के कर्तृत्व और काल के विषय में जो कुछ पुराविद् विद्वानों का यह मत है कि वह ग्रथ समूचा ही बनावटी है और सतरहवीं सदी के आसपास मे बना हुआ है, यह मत सर्वथा सत्य नहीं है। इस सग्रह (पुरातन प्रबन्ध सग्रह) के उक्त प्रकरणों मे जो ३-४ प्राकृत भाषा के पद्य (पृ० ८६-

१—हिन्दी साहित्य का आदिकाल—ले० डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, प्रथम सस्करण—पृ० ५१।

२—वीर काव्य—ले० डा० उदयनारायण तिवारी प्रयाग, स० २००५, पृ० १११।

८८–८९) उद्धृत किये हुए मिलते है, उनका पता हमने उक्त रासो में लगाया है और इन चार पद्यों मे से तीन पद्य यद्यपि विकृत रूप मे, लेकिन शब्दश, उसमें हमें मिल गये है। इससे यह प्रमाणित होता है कि च द कवि निश्चित तया एक ऐतिहासिक पुरुष था और वह दिल्लीश्वर हिन्दू सम्राट पृथ्वीराज का समकालीन और उसका समानित एव राजकवि था। उसी ने पृथ्वीराज के कीर्तिकलाप का वर्णन करने के लिए देश्य प्राकृत भाषा मे एक काव्य की रचना की थी जो पृथ्वीराजरासो के नाम से प्रसिद्ध हुआ।"[1] इसी से मिलता जुलता विचार डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भी व्यक्त किया है। वे कहते हैं कि "अब यह मान लेने मे किसी को आपत्ति नही है कि रासो एकदम जाली पुस्तक नहीं है। उसम बहुत अधिक प्रक्षेप होने से उसका रूप विकृत जरूर हो गया है पर इस विशाल ग्रथ मे कुछ सार भी अवश्य है[2]।" इस प्रकार उपर्युक्त दोनों विद्वान चन्दवरदाई के पृथ्वीराज का समकालीन होने और उसके द्वारा पृथ्वीराज से सबधित कोई काव्य लिखे जाने की बात मे विश्वास करते हैं। चन्दवरदाई का अस्तित्व और पृथ्वीराजरासो तथा उसकी वर्ण्य वस्तु की प्राचीनता सिद्ध करने के लिये निम्नलिखित प्रमाण दिये जा सकते है —

१—पृथ्वीराजविजय नामक सस्कृत के महाकाव्य मे, जो जयानक नामक काश्मीरी कवि का लिखा बताया जाता है और जिसमे केवल बारह सर्ग ही बचे हुए प्राप्त हुए हैं, पृथ्वीराज का जीवन चरित लिखा गया है। इस ग्रन्थ का रचनाकाल स० १२४६ के आस पास माना गया है। इस काव्य मे कवि ने लिखा है कि काश्मीर का एक कवि (सभवत जयानक स्वय) पृथ्वीराज के दरबार मे गया। वहाँ राजा के मन्त्री ने राजकवि और राजा के मित्र तथा सामन्त पृथ्वीभट्ट से उसे मिलाया। पृथ्वीभट्ट ने उस कवि को राजदरबार मे रख लिया। यह घटना सम्भवत पृथ्वीराज की मृत्यु के एक दो वर्ष पूर्व की है। पृथ्वीराजविजय महाकाव्य अजमेर में नहीं, काश्मीर मे कुछ वर्षों के बाद पूरा हुआ होगा। उसमे बारहवें सर्ग मे पृथ्वीराज को राम का अवतार कहा गया है और तिलोत्तमा के गगा तटवता किसी स्थान पर राजकुमारी रूप मे अवतार लेने की बात कही गयी है, इसके बाद प्रति खण्डित है। सभवत वह राज

१—पुरातन प्रबध सग्रह—सपादक, मुनि जिनविजय, प्रास्ताविक वक्तव्य पृ० ८–९।

२—हिन्दी साहित्य का आदिकाल—प्रथम सस्करण ले० डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ५०।

कुमारी जयचन्द की कन्या सयोगिता है और इस महाकाव्य मे कवि ने आगे उसी के साथ पृथ्वीराज के विवाह और फिर शहाबुद्दीन के साथ पृथ्वीराज के युद्ध का वर्णन किया होगा। इस प्रकार, यदि यह अनुमान सही हो तो पृथ्वीराज विजय की तिलोत्तमा ओर पृथ्वीराजरासो की सयोगिता एक ही हैं, दोनो ही मे नायिका अप्सरा का अवतार है। इसके अतिरिक्त पृथ्वीभट्ट नाम के जिस प्रमुख राजदरबारी कवि और उसकी विद्वत्ता का वर्णन जयानक ने किया है वह सम्भवत चन्दभट्ट ही है जिसे रासो मे भी पृथ्वीराज के दरबार मे और साम तो के बीच सवप्रमुख स्थान दिया गया है।

२—पृथ्वीराजरासो की कई बातो की पुष्टि प्रबन्धकोश, प्रबन्धचिन्तामणि और पुरातन प्रबन्ध सग्रह के कुछ प्रबन्धो से भी होती है। स० १३६१ म रचित मेरुतुग के प्रबन्ध चिन्तामणि के तुङ्गसुभट प्रबन्ध म शहाबुद्दीन से पृथ्वीराज के २२ बार युद्ध होने की बात कही गयी है[1]। स० १४०५ मे राजशेखर सूरि रचित प्रबन्धकोश के वस्तुपाल प्रबन्ध मे लिखा है कि पृथ्वीराज ने शहाबुद्दीन को २० बार पकड कर फिर मुक्त कर दिया था पर अन्त मे गोरी द्वारा पकड लिया गया और मारा गया[2]। 'पुरातन प्रबन्ध सग्रह' के पृथ्वीराज और जयचन्द प्रबन्ध मे तो पृथ्वीराज और चन्द की जो कथा दी हुई है उसका आधार हो उस काल मे प्रचलित पृथ्वीराजरासो प्रतीत होता है। कारण यह है कि उसमे कथा वस्तु तो पृथ्वीराजरासो से कुछ कुछ मिलती ही है, साथ ही उसी मे वे चार छप्पय भी हैं जिनमे से दो मे बरदाइ का और दो म जल्ह कवि का नाम आया है और इनमे से तीन वर्तमान रासो म मिल गये हैं। ये छप्पय अपभ्रश भाषा में हैं[3]। 'पुरातन प्रबन्धसग्रह' के उपयुक्त प्रबन्ध जिन सग्रह प्रतियो से लिये गये हैं उनमे से पी सज्ञक प्रति को स०१५२८ मे मुनि गुणवर्धन से लिपिबद्ध किया था और जिस प्राचीन प्रबन्ध सग्रह से उन्होंने उतारा था वह नाना कथानक प्रधान प्रबन्धावली स० १२९० मे जिनभद्र द्वारा

१—प्रबन्ध चिन्तामणि—तुगसुभट प्रबन्ध—सम्पादक, श्री मुनि जिन विजयशातिनिकेतन, सन् १९३३ पृ० ११६।

२—"विंशतिवार बद्ध रुद्ध सहावदीन सुरत्राण मोक्ता पृथ्वीराजो णिबद्ध।" प्रबन्ध कोश (वस्तुपाल प्रबन्ध)—सम्पादक मुनि जिनविजय पृ० १७।

३—'पुरातन प्रबन्ध सग्रह' स० मुनि जिनविजय—कलकत्ता १९३६ ई० पृ० ८६, ८८।

रची गयी थी[1]। इससे यह सिद्ध होता है कि १२९० तक पृथ्वीराज और चन्द कृत पृथ्वीराजरासो की ख्याति इतनी फैल गयी थी कि उसका कथानक और छन्द प्रबन्ध सग्रहो मे भी उद्धृत होने लगे थे। यदि उक्त प्रबन्धो को स० १२९० का रचित न भी माना जाय तो भी स० १५२८ तक, जब कि पी० सज्ञक सग्रह लिपिबद्ध हुआ जहाँ से मुनि जी ने ये प्रबन्ध लिये हैं, पृथ्वीराज रासो के प्रसिद्ध होने में कोई सदेह नहीं है। इन प्रबन्धो से तीन बाते स्पष्ट हो जाती हैं, एक तो यह कि पृथ्वीराजरासो की रचना चन्द भट्ट और जल्ह कवि दोनो कवियो द्वारा हुई है, दूसरी यह कि चन्दभट्ट या चद बलद्दिय पृथ्वीराज का खास व्यक्ति और उसका दरबारी कवि या द्वारभट्ट था, तीसरी यह कि स० १२९० तक पृथ्वीराज और शहाबुद्दीन के बीच सात लडाइयाँ होने की अनुश्रुति प्रचलित हो चुकी थी और स० १४०५ म राजशेखर सूरि के समय तक यह अनुश्रुति २० २२ लडाइयो वाली हो गयी थी। इस तरह ज्यो ज्यों पृथ्वीराज सबधी अनुश्रुतियाँ बढती गयी होगी त्यो त्यो चन्द कृत पृथवीराजरासो का भी चरण भाट आदि कवियो द्वारा विकास होता गया होगा।

३—प० मोतीलाल मेनारिया का कहना है कि स० १७०० के पूर्व की लिखी गई रासो की कोई प्रति नहीं मिली है। मेनारिया जी के कथनानुसार रासो की सबसे पुरानी प्रति उदयपुर के राजकीय पुस्तकालय, सरस्वती भडार की है जो स० १७६० की लिखी हुई है[2]। इसके उत्तर मे नाहटा जी ने विशाल भारत मे "पृथ्वीराज रासो का रचना काल" शीषक लेख मे लिखा है कि 'तदनन्तर तीन और प्रतियों का पता चला है जिनमे से एक के उद्धारकर्ता कछवाहा चद्रसिंह निर्णीत हो चुके हैं, जिनके सस्करण का समय स० १६४०

१ (पी) सज्ञक सग्रहस्य अन्तिमोल्लेख —

सिरिवत्थुपालनंदणमतीसर जयतसिहभणणत्थ।
नागिन्दगच्छमडणउदयप्पहसूरिसीसेण ॥
जिणभद्देण य विक्कमकालाउ नवइ अहिय बारसए।
नाणा कहाणपहाणा एस पवन्धावली रईआ ॥

सम्वत् १५२८ वर्षे मार्गसिर १४ सोमे श्री कोरण्टगच्छे श्रीसावदेवसूरीणा शिष्येण मुनिगुणवद्धनेन लिपीकृत । मु० उदयराज योग्यम् । श्री ।"—वही, पृ० १३६ ।

२—पृथ्वीराजरासो का निर्माण काल—ले० श्री मोतीलाल मेनारिया—विशाल भारत, भाग ३८, अक ४,—पृ० २३७ (जुलाई १९४६) ।

५० के लगभग निश्चित हुआ है। सुप्रसिद्ध जैन मन्त्रीश्वर कमचन्द के पुत्रो के लिए रासो की प्रति १७ वी शताब्दी म लिखी गयी है जिसका रचना (लिपि) काल स० १७६९ है। अत वह (च द्रसिंह वाला प्रति) उसके पूव की अवश्य लिखी है। श्री मातीचन्द्र जी खजाँची के सग्रह का स० १६६८ वाली प्रति से प्रेस कापी, पाठा तर टिप्पण कर शीघ्रातिशीघ्र प्रकाशित करने की भरसक चेष्टा हो रही है।"[1] नाहटा जी ने उपर्युक्त प्रतियों के लिपिकाल की जो सूचना दी है उससे इस बात मे कोई सदेह नहीं रह जाता कि सत्रहवीं शताब्दी के मध्य तक रासो के कई रूपान्तर हो गये थे और वह दूर दूर तक इस प्रकार बिखर गया था कि लोगों को उसके उद्धार करने की आवश्यकता प्रतीत हुई थी। नाहटा जी का कहना है कि स० १७६० के पहले की लिखित रासो की १० प्रतियाँ उन्हे प्राप्त हो चुकी हैं[2]। यदि उनका यह दावा सही है तो यह मानना पडेगा की सत्रहवी शताब्दी मे रासो का पूरा प्रचार हो चुका था। अपने मत के समथन मे उन्होने कहा है कि "हमें उपलब्ध प्रतियों मे तो बीकानेर राज्य पुस्तकालय की दो प्रतिया ही सबसे प्राचीन प्रतियाँ हैं जिनका लेखन समय स० १६७० के करीब है और बीकानेर के राजकीय पुस्तकालय की प्राचीन तीन प्रतियाँ मूल दो आदर्शों की प्रतिलिपि प्रतीत होती हैं सभव है उसकी मूल प्रति प्राचीन होने से उसमें पाठ नष्ट हो गया है, अत उस मूल प्रति को उससे कम से कम सौ वर्ष पुरानी भो मान ली (लिया) जाय तो भी रासो का सकलन स० १५७० से पूर्व का ही हो जाना विशेष सभव है[3]।" इस प्रकार नाहटा जी के अन्वेषणो के आधार पर कहा जा सकता है कि विक्रम की सोलहवीं शताब्दी तक रासो के मूल रूप का पर्याप्त विकास ओर प्रचार हो चुका था।

४—सोलहवीं शताब्दी में अकबर के समय तक रासो मे वर्णित घटनाये ऐतिहासिक मानी जाने लगी थीं और सामान्य विश्वास की वस्तु हो गयी थीं। इसका पता दो ग्रथो से चलता है। सस्कृत के सुजनचरित महाकाव्य और अबुलफजल के 'आइनेअकबरी' में रासो की अनेक घटनाओ की उद्धरणी उप

१— पृथ्वीराजरासो का रचना काल—ले० अगरचन्द नाहटा—विशाल भारत, भाग ३८, अक ६—पृ० ३९५, दिसम्बर १९४६।

२—वही पृ० ३९६।

३—पृथ्वीराजरासो और उसकी हस्तलिखित प्रतियाँ—ले० अगरचन्द नाहटा—राजस्थानी भाग ३, अक २, पृ० १३, १७।

स्थित की गयी है। ये घटनायें प्राचीन मुसलमानी इतिहास ग्रथो—'तबकाते नासिरी' और 'ताज उल मा आसीर'—म तथा चौदहवी पन्द्रहवी शताब्दी के हम्मीर महाकाव्य और राजकीय प्रशस्ति लेखो मे नही मिलती। उदाहरणार्थ 'तबकाते नासिरी' मे दिल्ली के राजा का नाम गोवि दराज था। फरिश्ता ने लिखा है कि पिथौरा का भाई चामुण्ड राय उस समय दिल्ली का राजा था और ताज उल मा आसीर मे लिखा है कि शहाबुदीन ने स० १२४८ (५८७ हि०) मे पृथ्वीराज पर चढाई करके उसे परास्त किया और उसे अधीनस्थ बना कर छोड दिया था, पर जब सुना कि पृथ्वीराज उसके विरुद्ध षडयन्त्र कर रहा है तो उसने उसका शिरोच्छेदन करवा दिया[1]। यद्यपि उक्त मुसलमानी तवारीखो की सभी बाते विश्वसनीय नही है क्यो कि उनम अतिशय साप्रदायिक और हिन्दू विरोधी दृष्टि से घटनाओ का वर्णन किया गया है, परन्तु यदि उनमे सचाई हो तो भी १६ वीं शताब्दी तक अबुलफजल जैसे विद्वान ने उन पर विश्वास न करके रासो के ढग पर पृथ्वीराज की कथा लिखी है। ओझा जी प्रभृति विद्वानो ने पृथ्वीराज और जयचन्द के वैमनस्य, सयोगिता स्वयम्वर, उसके हरण और दोनों राजाओं के युद्ध को बिलकुल अनैतिहासिक और काल्पनिक बताया है क्योंकि उपर्युक्त मुसलमानी इतिहास ग्रथों में ये बातें नहीं आयी हैं किन्तु आइनेअकबरी मे अबुलफजल ने जयचन्द के यज्ञ, यज्ञ द्वार पर पृथ्वीराज की स्वर्ण मूर्ति रखा जाना, राजकुमारी का हरण, पृथ्वीराज के सामन्तो का शौर्य आदि बातों का तथा चन्द भाट का उल्लेख किया है[2]। उसी काल मे कवि चन्द्रशेखर ने स० १६३४ मे बूदी नरेश एव अकबर के मनसबदार सुर्जन हाडा के लिए ३२ सर्गों का सुर्जनचरित महाकाव्य लिखा था। उसमे सातवें सर्ग मे रासो की तरह ही ब्रह्मा के यज्ञकुड से चाहमान या चहुआन की उत्पत्ति की बात लिखी है। उसके बाद दसवे सर्ग मे पृथ्वीराज का उल्लेख है और कान्यकुब्जेश्वर की कन्या के साथ पृथ्वीराज के प्रेम, पृथ्वीराज और चन्द कवि के कन्नौजगमन, गगातट पर पृथ्वीराज और सयोगिता के मिलन तथा सयोगिता हरण और युद्ध आदि की घटनाये ठीक उसी तरह वर्णित हैं जैसी पृथ्वीराजरासो या आइनेअकबरी मे कही गयी है। उसके बाद १२८ वे श्लोक

१—वीर काव्य—ले० डा० उदयनारायण तिवारी—प्रयाग स० २००५, पृ० १३१।

२—आइनेअकबरी—ले० अबुलफजल (गैरेट का अंग्रेजी अनुवाद)—भाग २, पृ० ३००–३०१।

से पृथ्वीराज की दिग्विजय का वणन है जिसमे पृथ्वीराज ने म्लेच्छराज शहाबुद्दीन को इक्कीस बार पराजित कर उसे पकड कर छोड दिया है ओर अ त मे शहाबुद्दीन पृथ्वीराज को पकड कर गजनी ले जाता, उसे नेत्रहीन कर देता है तथा च द कवि गजनी जाता एव उसकी प्रेरणा से पृथ्वीराज शब्दवेधी बाण से शहाबुद्दीन की हत्या करता है[१]। इस तरह सुजनचरित मे वर्णित घटनाये बीकानेर फोर्ट लाइब्रेरी के रासो की प्रति की घटनाओ से मेल खाती है। पृथ्वीराज और जयचन्द के बैर की बात तथा पृथ्वीराज की मृत्यु के बाद जयच द द्वारा घर घर घी के दीप जलवाने की घटना का उल्लेख 'पुरातन प्रबन्धसग्रह' के जयचन्द-प्रबन्ध म हुआ है और प्रबन्ध चिन्तामणि के तुगसुभट प्रब ध मे शहाबुद्दीन से पृथ्वीराज के २२ युद्धो का उल्लेख भी हुआ है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि प्रबन्ध चि तामणि की रचना स० १६६१ मे हुई थी ओर 'पुरातन प्रब-ध सग्रह' के उपयुक्त प्रब-ध स० १२९० के लिखे हैं। इस तरह तेरहवीं शताब्दी से सुर्जनचरित के निमाण काल तक, यह अनुश्रुति प्रचलित थी कि पृथ्वीराज और जयच-द मे दुश्मनी थी और पृथ्वीराज आर शहाबुद्दीन के बीच अनेक युद्ध हुए थे। यह निश्चय करना अत्यत कठिन है कि उपर्युक्त ग्रन्थों में वर्णित घटनायें मूल पृथ्वीराजरासो से ली गयी थी या लोक प्रचलित अनुश्रुतियो से। मेरा अनुमान है कि पृथ्वीराज की मृत्यु के बाद सौ वर्ष के भीतर ही उस महान वीर के सम्ब ध मे नाना प्रकार की अनैतिहासिक और अर्द्धऐतिहासिक अनूश्रुतियाँ और किवदतियाँ प्रचलित हो गयीं और उन्ही के आधार पर पृथ्वीराजरासो के कथानक और घटना क्रम का विकास होता गया और उन्ही मूल स्रोतो से प्रबन्ध सग्रहो और बाद मे सुर्जनचरित और आइनेअकबरी मे भी पृथ्वीराज से सम्बधित बातें ग्रहण की गई। उनमे ऐतिहासिकता है या नहीं, यह बिलकुल अलग प्रश्न है। पर यदि वे बातें अनैतिहासिक भी हो तो भी उनके आधार पर पृथ्वीराजरासो को परवता और जाली नहीं कहा जा सकता। निष्कर्ष यह कि तेरहवी और सोलहवीं शताब्दी के बीच पृथ्वीराज रासो के वर्तमान रहने की पूरी सम्भावना प्रतीत होती है क्योकि उसमें वर्णित घटनायें प्रबन्ध-चिन्तामणि, पुरातन प्रबन्धसगह, प्रबन्ध कोश, सुर्जनचरित महाकाव्य और आइनेअकबरी की तत्सम्बन्धी घटनाओं से मिलती जुलती हैं। इस सम्बन्ध में डा० दशरथ शमा का मन है कि स० १५२८ से पूव रासो की कोई प्रति वर्त-

१—सुर्जनचरित महाकाव्य (निबन्ध), ले० डा० दशरथ शर्मा, नागरी प्रचारिण पत्रिका—वर्ष ४६, पृ० २०५, स० १९९८।

मान थी जिसके कुछ छन्द 'पुरातन प्रबन्ध सग्रह' म उद्धृत किये गये हैं। साथ ही उनका यह भी कहना है कि सुर्जनचरित म तत्कालीन प्रचलित पृथ्वीराज-रासो का साराश ले लिया गया है।[1]

५—प० मोतीलाल मेनारिया जैसे कुछ लोगो का यह भी कहना है कि चन्द नाम का कवि पृथ्वीराज का समसामयिक तो अवश्य था पर उसने कोई रासो नहीं लिखा था बल्कि 'रणमल्लछन्द' या 'पाब जी रा छन्द' के तरह का पृथ्वीराज से सबधित कोई लघु काव्य या कुछ फुटकल छन्द लिखे थे।[2] यह क्लिष्ट कल्पना इन विद्वानो को इसलिए करनी पडी है कि रासो को जाली सिद्ध किया जाय क्योंकि वे चन्द को काल्पनिक व्यक्तित्व नही सिद्ध कर सके। पृथ्वीराजविजय का पृथ्वीभट्ट और पुरातन प्रबन्ध सग्रह का द्वारभट्ट और चन्द बलद्दिय चन्द के अस्तित्व के प्रमाण हैं। अत उन्होने पृथ्वीराजरासो को ही परवता और जाली कह कर सतोष किया है। परन्तु यदि चन्द के वशधर नागोर के नानूराम का यह दावा सही है कि उनके पास की दो प्रतियो में से एक स० १४५५ मे लिपिबद्ध की गयी थी तो रासो का विक्रम की पद्रहवीं शताब्दी मे होना भी स्वत सिद्ध हो जाता है। प्रो० रमाकान्त त्रिपाठी ने उन दोनो प्रतियो को स्वय देखा था और उनका कहना है कि उनम से "एक प्रति, कागज स्याही तथा अक्षरो को देखते हुए काफी पुरानी ज्ञात होती है।"[3] उनके कथनानुसार उस प्रति की अन्तिम पुष्पिका इस प्रकार है —

स० १४५५ वर्षे शरद् ऋतौ आश्विन मासे शुक्लपक्षे उद्यात घटी १६ चतुर्था दिवसे लिखित। श्री षरतरगच्छाधिराजे पडित श्रीरूप जी लिखित। चेल श्री सोभा जी रा। कपासन मध्ये लिपिकृत।

इस प्रति के सबध मे विद्वानो को शका है। श्री अगरचन्द नाहटा ने इस सबध मे लिखा है कि "बिना प्रति के स्वय देखे हमे तो इसकी भाषा और लेखन प्रशस्ति पर विश्वास नही होता कि यह प्रति ठीक स० १४५५ की लिखी हुई

१—वीर काव्य—(डा० दशरथ शर्मा के मत पर विचार)—ले० डा० उदय नारायण तिवारी, पृ० ४५।

२—पृथ्वीराजरासो का निर्माण काल—ले० प० मोतीलाल मेनारिया—विशाल भारत, भाग ३८, पृ० २३६, अक्टूबर १९४६।

३—महाकवि चन्द के वशधर—ले० प्रो० रमाकान्त त्रिपाठी, एम० ए०—चाद (मारवाड़ी अक)—पृ० १४९।

से पृथ्वीराज की दिग्विजय का वर्णन है जिसमे पृथ्वीराज ने म्लेच्छराज शहाबुद्दीन को इक्कीस बार पराजित कर उसे पकड कर छोड दिया है ओर अ त मे शहाबुद्दीन पृथ्वीराज को पकड कर गजनी ले जाता, उसे नेत्रहीन कर देता है तथा च द कवि गजनी जाता एव उसकी प्रेरणा से पृथ्वीराज शब्दवेधी बाण से शहाबुद्दीन की हत्या करता है[1]। इस तरह सुर्जनचरित मे वर्णित घटनाये बीकानेर फोर्ट लाइब्रेरी के रासो की प्रति की घटनाओ से मेल खाती हैं। पृथ्वीराज और जयच द के बैर की बात तथा पृथ्वीराज की मृत्यु के बाद जयच द द्वारा घर घर घी के दीप जलवाने की घटना का उल्लेख 'पुरातन प्रबन्धसग्रह' के जयचन्द प्रबन्ध मे हुआ है और प्रबन्ध चि तामणि के तुगसुभट प्रब ध मे शहाबुद्दीन से पृथ्वीराज के २२ युद्धो का उल्लेख भी हुआ है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि प्रब ध चिन्तामणि की रचना स० १६६१ मे हुई थी और 'पुरातन प्रब ध सग्रह' के उपर्युक्त प्रब ध स० १२९० के लिखे हैं। इस तरह तरहवीं शताब्दी से सुजनचरित के निमाण काल तक, यह अनुश्रुति प्रचलित थी कि पृथ्वीराज और जयचन्द मे दुश्मनी थी और पृथ्वीराज आर शहाबुद्दोन के बीच अनेक युद्ध हुए थे। यह निश्चय करना अत्यत कठिन है कि उपर्युक्त ग्रन्थों में वर्णित घटनायें मूल पृथ्वीराजरासो से ली गयी थीं या लोक प्रचलित अनुश्रुतियो से। मेरा अनुमान है कि पृथ्वीराज की मृत्यु के बाद सौ वर्ष के भीतर हो उस महान वीर के सम्बन्ध मे नाना प्रकार की अनैतिहासिक और अर्द्धऐतिहासिक अनूश्रुतियाँ और किवदतियाँ प्रचलित हो गयीं और उन्ही के आधार पर पृथ्वीराजरासो क कथानक और घटना क्रम का विकास होता गया और उन्ही मूल स्रोतो से प्रबन्ध सग्रहो और बाद मे सुर्जनचरित और आइनेअकबरी मे भी पृथ्वीराज से सम्ब धित बातें ग्रहण की गई। उनमे ऐतिहासिकता है या नहीं, यह बिलकुल अलग प्रश्न है। पर यदि वे बाते अनैतिहासिक भी हों तो भी उनके आधार पर पृथ्वीराजरासो को परवर्ती और जाली नहीं कहा जा सकता। निष्कर्ष यह कि तेरहवीं और सोलहवीं शताब्दी के बीच पृथ्वीराज रासो के वर्तमान रहने की पूरी सम्भावना प्रतीत होती है क्योकि उसमे वर्णित घटनायें प्रबन्ध-चिन्तामणि, पुरातन प्रब धसगह, प्रबन्ध कोश, सुर्जनचरित महाकाव्य और आइनेअकबरी की तत्सम्बन्धी घटनाओं से मिलती जुलती हैं। इस सम्बन्ध मे डा० दशरथ शमा का मन है कि स० १५२८ से पूव रासो की कोइ प्रति वर्त-

१—सुर्जनचरित महाकाव्य (निबन्ध), ले० डा० दशरथ शर्मा, नागरी प्रचारिण पत्रिका—वर्ष ४६, पृ० २०५, स० १९९८।

मान थी जिसके कुछ छन्द 'पुरातन प्रबन्ध सग्रह' म उद्धृत किये गये हैं। साथ ही उनका यह भी कहना है कि सुर्जनचरित मे तत्कालीन प्रचलित पृथ्वीराज-रासो का साराश ले लिया गया है।[1]

५—प० मोतीलाल मेनारिया जैसे कुछ लोगो का यह भी कहना है कि चन्द नाम का कवि पृथ्वीराज का समसामयिक तो अवश्य था पर उसने कोई रासो नहीं लिखा था बल्कि 'रणमल्लछन्द' या 'पाबू जी रा छन्द' के तरह का पृथ्वीराज से सबधित कोई लघु काव्य या कुछ फुटकल छन्द लिखे थे।[2] यह क्लिष्ट कल्पना इन विद्वानो को इसलिए करनी पडी है कि रासो को जाली सिद्ध किया जाय क्योंकि वे चन्द को काल्पनिक व्यक्तित्व नही सिद्ध कर सके। पृथ्वीराजविजय का पृथ्वीभट्ट और पुरातन प्रबन्ध सग्रह का द्वारभट्ट और चन्द बलद्दिय चन्द के अस्तित्व के प्रमाण है। अत उन्होने पृथ्वीराजरासो को ही परवता और जाली कह कर सतोष किया है। परन्तु यदि चन्द के वशधर नागोर के नानूराम का यह दावा सही है कि उनके पास की दो प्रतियो में से एक स० १४५५ मे लिपिबद्ध की गयी थी तो रासो का विक्रम की पद्रहवीं शताब्दी मे होना भी स्वत सिद्ध हो जाता है। प्रो० रमाकान्त त्रिपाठी ने उन दोनो प्रतियो को स्वय देखा था और उनका कहना है कि उनमे से "एक प्रति, कागज स्याही तथा अक्षरो को देखते हुए काफी पुरानी ज्ञात होती है।"[3] उनके कथनानुसार उस प्रति की अन्तिम पुष्पिका इस प्रकार है —

स० १४५५ वर्षे शरद् ऋतौ आश्विन मासे शुक्लपक्षे उद्यात घटी १६ चतुर्था दिवसे लिखित। श्री षरतरगच्छाधिराजे पडित श्रारूप जी लिखित। चेल श्री सोभा जी रा। कपासन मध्ये लिपिकृत।

इस प्रति के सबध मे विद्वानों को शका है। श्री अगरचन्द नाहटा ने इस सबध मे लिखा है कि "बिना प्रति के स्वय देखे हमे तो इसकी भाषा और लेखन प्रशस्ति पर विश्वास नही होता कि यह प्रति ठीक स० १४५५ की लिखी हुई

१—वीर काव्य—(डा० दशरथ शर्मा के मत पर विचार)—ले० डा० उदय नारायण तिवारी, पृ० ४५।

२—पृथ्वीराजरासो का निर्माण काल—ले० प० मोतीलाल मेनारिया—विशाल भारत, भाग ३८, पृ० २३६, अक्टूबर १९४६।

३—महाकवि चन्द के वशधर—ले० प्रो० रमाकान्त त्रिपाठी, एम० ए०—चाद (मारवाड़ी अक)—पृ० १४९।

है[1]। इसी तरह डा० उदयनारायण तिवारी ने भी नानूराम वाली प्रति की प्राचीनता के सबध मे लिखा है, "जब तक यह प्रति प्रकाश मे न आये और विद्वान उसकी प्राचीनता के सबध मे एकमत न हो जायँ तब तक उसे सवत् १४५५ म लिपिबद्ध होना कैसे माना जा सकता है ?[2]" किन्तु इस सबध मे यह भी तो कहा जा सकता है कि जब तक इस प्रति की जाँच करके उसे अर्वाचीन नही सिद्ध कर दिया जाता तब तक प्रो० रमाकात त्रिपाठी की बातो पर अविश्वास करने का क्या आधार है ? इधर नानूराम वाली प्रति से भी पहले की लिखी हुइ एक प्राचीन प्रति का पता चला है। नवम्बर सन् १९४६ के 'विशाल भारत' मे प्रसिद्ध जैन पुरातत्त्वान्वेषक मुनि कान्तिसागर जी ने लिखा है कि उन्हे रासो की एक १२५ पत्रो वाली अत्यत प्राचीन प्रति मिली है जिसका लिपिकाल स० १४०३ है। मुनि जी के मतानुसार आज तक रासो की उपलब्ध सब प्रतियो मे यह प्रति अत्यत प्राचीन और प्रामाणिक है। प्रस्तुत प्रति की पुष्पिका इस प्रकार है —"विक्रम स० १४०३ कार्तिक शुक्ल पचम्या तुगलक फिरोजशाह विजय राज्ये दिल्या मध्ये लिपिकृत वाचक महिमराजेन श्रीमाल कुलोत्पन्न श्री ठक्कुर फेरू पुत्र हेमपाल वाचनाथ। शुभ भूयात्।" मुनि जी ने लिखा है कि यह प्रति सचित्र है और इसमे रासो की घटनाओ से सबधित ४५ तिरगे चित्र हैं, इस प्रति मे चन्द्रशेखर रचित सुर्जनचरित काव्य भी उल्लिखित है और सपूर्ण रासो छप्पय छन्द मे गुम्फित है[3]। आश्चर्य है कि मुनि जी के इस लेख के प्रकाशन के उपरान्त अब तक किसी अधिकारी विद्वान ने उनकी प्रति को देखकर उसके बारे मे अपना मन्तव्य क्यों नहीं प्रकाशित किया। मुझे इस प्रति के विषय मे सदेह इस कारण हो रहा है कि इसके साथ सुर्जन-चरित महाकाव्य स० १४०३ मे कैसे लिखा जा सकता था जब कि उसकी रचना ही सवत् १६३४ मे हुइ। साथ ही सपूर्ण रासो छप्पय छन्द में होने की बात भी कल्पनातीत ही है। अत इस प्रति को देखकर इसका अध्ययन किये बिना इसे नोटिस मात्र माना जा सकता है। किन्तु यदि मुनि कान्तिसागर जी

१—पृथ्वीराजरासो और उसकी हस्तलिखित प्रतियाँ—ले० श्री अगरचन्द नाहटा-राजस्थानी, भाग ३, अक २, अक्तूबर १९३९, पृ० ४५।

२—वीर काव्य—ले० डा० उदयनारायण तिवारी—प्रयाग, स० २००५, पृ० ११०।

३—पृथ्वीराजरासो की सर्वप्राचीन प्रति—ले० मुनि कान्तिसागर—विशाल भारत—नवम्बर सन् १९०६, पृ० ३३१।

के पास सचमुच कोई ऐसी प्रति हो तो इसमे कोई सन्देह नहीं कि रासो की प्राचीनता और मौलिकता के बारे म किसी को कोई सन्देह नही रह जायगा।

६—अकबर के राज्यकाल मे सूरदास जी ने 'साहित्य लहरी' की रचना की थी। उसमे उन्होंने अपने को च द का वशज कहा है ओर उस पद की टीका मे किसी अन्य कवि ने लिखा है —

प्रथम ही पृथु यज्ञ ते भे प्रकट अद्भुत रूप।
ब्रह्म राव विचार ब्रह्मा राखु नाम अनूप॥
पान पय देवी दियो सिव आदि सुर सुख पाय।
कह्यो दुर्गा पुत्र तेरो भयो अति अधिकाय॥
पारि पॉयन सुरन के सुर सहित अस्तुति कीन।
तासु बस प्रसस मे भो चन्द चारु नवीन।
भूप पृथ्वीराज दीन्हो तिन्हे ज्वाला देस॥

महामहोपाध्याय प० हरप्रसाद शास्त्री का नानूराम ब्रह्मभट्ट ने चन्द के वशजों की जो वशावली बताई थी वह साहित्य लहरी वाली वशावली से करीब करीब मिल जाती है। उपयुक्त उद्धरण मे भाटो को पृथु यज्ञ से उत्पन्न बताया गया है। भाट सूत मागधो की वश परम्परा मे आते हैं जिनकी उत्पत्ति पुराण-महाभारत मनुस्मृति आदि मे पृथु के ब्रह्म यज्ञ से बतायी गयी है। इस तरह चन्द ब्रह्मराव के कुल मे उत्पन्न ब्रह्मभट्ट थे। इसी कारण 'पुरातन प्रबन्धसग्रह' मे च द को द्वारभट्ट और रासो मे बार बार भाट, भट्ट, भट और वीर भट्ट कहा गया है। अतएव चन्द वरदाई भट्ट जाति के थे और पृथ्वीराज क दरबारा कवि थे, यह बात साहित्य लहरी और 'चन्द छन्द वर्णन की महिमा' दोनो ग्रन्थों से प्रमाणित होती है। डा० ब्रजेश्वर वमा के अनुसार यदि साहित्य लहरी को महाराज जसवन्त सिंह (स० १६८३–१७३५) के समय म किसी भाट का लिखा भो मान ले तो भी हमारे उपर्युक्त निष्कर्ष मे कोइ अन्तर नहीं पडता। भविष्य पुराण मे भी सूरदास का चन्द भट्ट का वशज होना लिखा है —

सूरदास इतिज्ञेय कृष्णलीलाकर कवि।
शम्भुनै चन्द्र भट्टस्य कुले जातो हरिप्रिय॥१॥

उपर्युक्त श्लोक को यदि परवता क्षेपक मान लिया जाय तो भी यह प्रक्षेप सूरदास जी की प्रसिद्धि के बाद १६०० स० के आसपास हुआ होगा, अत यह सिद्ध है कि १६०२ वि० स० के आसपास चन्द भट्ट का नाम प्रख्यात

१—भविष्यपुराण—प्रतिसर्ग पर्व, अध्याय २२, श्लोक ३०

था और सूर उसके वशज माने जाते थे ।[1]

७—भाषा, छन्द, काव्यरूप और कथानकरूढियो की दृष्टि से भी रासो मे प्राचीनता के पर्याप्त लक्षण दिखाई पडते हैं । पिछले अध्याय मे सामन्ती वीर युग के काव्यरूपों, छ द, भाषा आदि के सम्बन्ध मे विस्तार के साथ विचार किया जा चुका है । उनको दृष्टि मे रखकर पृथ्वीराजरासो का अध्ययन करने पर पता चलता है उसमे प्राचीनता के तत्व अवाचीन आवरण के भीतर छिपे हुए हैं । उनके बारे मे आगे विशेषरूप से विचार किया जायगा । यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि भाषा, छन्द, काव्यरूप और कथानकरूढियो की दृष्टि से विचार करने पर इस बारे मे कोई स देह नही रह जाता कि मूल रासो की रचना विक्रम की तेरहवीं शताब्दी मे अवश्य हुई होगी । बीकानेर के प्रोफेसर मीनाराम रगा ने इस सम्बन्ध मे लिखा है कि 'आधुनिक अ वेषण ने रासो की प्रामाणिकता का प्रतिपादन करने के साथ इसकी भाषा की प्राचीनता से सम्बद्ध भ्रमात्मक विचारो का भी निराकरण कर दिया है । सभी अधिकारी व्यक्ति मूल रासो की भाषा अपभ्रश मानते हैं ।[2] पिछले अध्याय मे हमने जिन रासो ग्रन्थों की चर्चा की है उनकी भाषा भी देश्य मिश्रित अपभ्रश या परवता अपभ्रश है । अत उन्ही की परम्परा मे पृथ्वीराजरासो को मान लेने पर उसकी मूल भाषा परवर्ती अपभ्रश मानना पडेगा । डा० दशरथ शर्मा और प्रो० मीनाराम रगा ने 'रासो की भाषा' के सम्बन्ध में एक लेख में रासो की साठ पक्तियों का अपभ्रश में रूपा तर भी किया है और लिखा है कि रासो के लघु रूपातरो मे भाषा अधिकाधिक अपभ्रश के निकट पहुँचने लगती है । कई स्थल तो ऐसे हैं कि सामान्य परिवर्तन करते ही भाषा अपभ्रश हो जाती है[3] । चूँकि इस तरह की अपभ्रशाभास वाली देशी भाषा मे तेरहवी चौदहवीं शताब्दी मे ही काव्य लिखे जाते रहे, बाद मे या तो विशुद्ध अपभ्रश प्राकृत म लिखे जाने लगे या सस्कृत गर्भित हि दी में, अत मूल पृथ्वीराजरासो भी उक्त काल की ही रचना है, परवर्ती नही । इसी तरह रासो मे गाहा या गाथा छन्दो की अधिकता उसकी प्राचीनता सिद्ध करती है । अपभ्रश तक में गाथा छन्द का प्रयोग होता रहा, पर हिन्दी मे उसका प्रयोग प्राय बन्द ही हो गया ।

१—महाकवि चन्द अने पृथ्वीराजरासो (गुजराती)—ले० श्री गोवर्धन शर्मा, बम्बई, १९४७, पृ० ५९ ।

२—वही–(भूमिका)–भूमिका लेखक—प्रो० श्री मीनाराम रगा, एम० ए० ।

३—पृथ्वीराजरासो की भाषा–ले० डा० दशरथ शर्मा और प्रो० मीनाराम रगा–राजस्थान भारती, भाग १—अक ४—सन् १९४७—पृ० ४९ ।

२—रासो के विकास की अवस्थायें और उसका उद्धार-काल

ऊपर के प्रमाणो के आधार पर यह कहा जा सकता है कि पृथ्वीराज के दरबार मे चन्द भट्ट नाम का कोई कवि था जिसने अपने आश्रयदाता की प्रशस्ति मे कोई काव्य लिखा था। उस काव्य का नाम पृथ्वीराजरासो था या और कुछ, इसके बारे मे निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। 'पृथ्वीराज रासो' नाम का सत्रहवीं शताब्दी से पहले का कोई प्रमाण नहीं मिलता। सत्रहवीं शताब्दी की रासो की जो हस्तलिखित प्रतियाँ प्राप्त हुई हैं उनमे तो पृथ्वीराजरासो नाम मिलता ही है, स० १७०५ मे लिखित दलपति मिश्र के 'जसवन्त उद्योग' नामक ऐतिहासिक काव्य मे भी पृथ्वीराजरासो नामक विस्तृत कथा वाले ग्रन्थ का नामोल्लेख इस प्रकार हुआ है[1] —

> रासौ पृथ्वीराज को तहा बहुत विस्तारु।
> मै वरण्यो सछेप ही सकल कथा को सारु॥१३॥

इससे स्पष्ट है कि स० १७०५ तक पृथ्वीराजरासो का विस्तार बहुत अधिक हो गया था। नौचौकी बाध के जिस राजप्रशस्ति काव्य का उल्लेख ऊपर किया गया है, उसकी रचना स० १७१८–१७३२ मे हुई थी। उसमे भी पृथ्वीराजरासो के विस्तृत होने की ही बात लिखी है,—"भाषारासा पुस्तकेऽस्य युद्धस्योक्तोऽस्ति विस्तर।" यद्यपि प० मोतीलाल मेनारिया ने इसी काल को पृथ्वीराजरासो का रचना काल माना है पर अन्यत्र उन्होने स्वय ही विरोधी बात भी कही है। "राजस्थान मे हिन्दी ग्रन्थों की खोज" नामक पुस्तक मे पृ० ५६ पर रासो की प्रति न० १ का परिचय देते हुए उन्होने लिखा है, "प्रति मे कहीं भी इसके लेखन काल का निर्देश नही है लेकिन प्रति है यह बहुत पुरानी। अनुमानत ३००–३५० वष की पुरानी होगी। इसकी वर्तमान अवस्था, कागज, स्याही, लिखावट इत्यादि को देख कर कोई इसे ५—१० वष ओर पहले की लिखी हुई बतलाये तो इसकी भी गुजाइश है।" अत मेनारिया जी के कथनानुसार ही यह प्रति, जिसमें कुल ६१ समय हैं, स० १६५० के आसपास की लिखी प्रतीत होती हैं अर्थात् सत्रहवीं शताब्दी के मध्य मे रासो का बृहत् रूपान्तर हो चुका था। अत यह मानना पडेगा कि उसका सकलन समर सिह द्वितीय नहीं बल्कि प्रथम के समय (स० १७९३) मे ही हुआ। सत्रहवीं शताब्दी की लिखित रासो की कई मध्यम, लघु और लघुतम रूपान्नर वाली प्रतियाँ भी प्राप्त

१—पृथ्वीराजरासो का रचना काल—ले० श्री अगरचन्द नाहटा–विशालभारत, भाग ३८, अक ६—पृ० २९६—दिसम्बर १९४६।

हुई हैं जिससे उपर्युक्त कथन की पुष्टि होती है। तुलना के लिए उनके लिपि काल की सरणी नीचे दी जा रही है —

प्रति	रूपान्तर	समय और श्लोक	लिपिकाल
१—नाहटा जी वाली प्रति	लघुतम रूपा तर	(समय नही है) श्लोक १३००	स० १६६७
२—बीकानेर फोर्ट लाइब्रेरी की प्रति (करमच द के पुत्रो द्वारा उद्धृत)	लघु रूपा तर	१९ समय ४००४ श्लोक	स० १६५७
३—कछवाहा चन्द्र सिह द्वारा उद्धृत रूपा तर	लघु रूपान्तर	१९ समय ३५०० श्लोक	स० १६४० ५०
४—मथुरा प्रसाद दीक्षित की ओरियण्टल कालेज लाहौर वाली प्रति	मध्यम रूपा तर	४६ समय ७००० श्लोक	स० १६९५ के आसपास
५—उदयपुर सरस्वती भण्डारवाली प्राचीनतम प्रति (राणा अमर सिंह प्रथम के समय की।)	बृहत् रूपान्तर	३०,००० के करीब श्लाक	स० १६५३ ७६ के आसपास

इस प्रकार हम देखते हैं कि विक्रमीय सत्रहवी शताब्दी मे रासो का अत्यधिक प्रचार था और इसी काल मे उसके लघुनम, लघु मध्यम और बृहत् चारो रूपान्तर हो गये थे। इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि पृथ्वराज की मृत्यु के बाद तेरहवीं से सतरहवी शताब्दी के बीच करीब चार सौ वषा तक पृथ्वीराजरासो का निरन्तर विकास होता रहा। पर विकास का क्रम बृहत् रूपा तर वाली प्रतियो के लिख जाने के बाद भी रुका नही। सत्रहवीं शताब्दी मे तो रासो केवल विस्तृत ग्रथ माना जाता था पर अठारहवी शताब्दी म उसकी श्लोक सख्या एक लाख के करीब मानी जाने लगी। स० १७७७ में गुजराती कवि प्रेमानन्द के पुत्र वल्लभ ने 'कु तीप्रसन्नारयान' नामक ग्रथ लिखा। उसमे पृथ्वीराजरासो के सबध मे लिखा है कि वह महाभारत के प्रमाण का (एक लाख छन्दो वाला) ग्रथ है[1] —

१—पृथ्वीराजरासो की हस्तलिखित प्रतियाँ, और पृथ्वीराजरासो का रचना काल—ले० श्री अगरचन्द नाहटा।

भारत समु प्रमाण, रासा न तमासा भालो
कर्या भारत वेत्रण आरत उवेखिये।
पृथ्वीश प्रशसा कथी मानशेनु मोधु तेमा
प्रेमानन्द की कविता सविता शी पेखिये
ब्राह्मण थी भाट थया वशज विधिना आती
कवीश्वर ना पिता थी चन्द मन्द देखिये।

करोली के यादव राजा गोपाल सिंह के समय म स० १८०० के क़रीब चन्द क वशधर कवि जदुनाथ ने भी अपने 'वृत्तविलास' नामक ग्रथ मे रासो को एक लाख पाँच हजार श्लोको वाला कहा है[1] —

एक लाख रासो कियो सहस पच परिमाण।
पृथ्वीराज नृप को सुजसु जाहर सकल जहान ॥

कर्नल टाड ने भी अपने ग्रथ 'एनल्स एण्ड एण्टिक्विटीज आफ राजस्थान' म अठारहवीं शताब्दी मे राजस्थान म प्रचलित प्रवाद के आधार पर रासो का श्लोक परिमाण १ लाख बताया है[2]। नाहटा जी के पास की मुनि विनयसागर से प्राप्त कण्वज खण्ड वाली प्रति में भी रासो मे सवा लाख श्लोक होने की बात कही गयी है जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। इस प्रकार १७ वी शताब्दी के बाद सामान्यतया यह विश्वास किया जाने लगा था कि रासो महाभारत के समान 'शत साहस्री' ग्रथ है। सभा द्वारा प्रकाशित 'पृथ्वीराज रासो' ग्रथ वस्तुत ६८ वे समय मे ही समाप्त हो जाता है, क्योकि शहाबुद्दीन, पृथ्वीराज और चन्द की मृत्यु उसी 'समयो' मे दिखाई गयी है और उसके अन्त मे ग्रथ की समाप्ति के सूचक छन्द भी आ गये है। अत उसके बाद का महोबा समय स्पष्ट ही बाद का जोडा हुआ है क्याकि उसकी कथा अन्तिम लडाई के पहले की है। सत्रहवी शताब्दी की उदयपुर की बृहत् रूपा तर वाली प्रति मे केवल ६१ समय हैं और महोबा समय उसम नही है। बाद की भी अधिकाश प्रतिया म महोबा समय का न मिलना यह सिद्ध करता है कि यह परवता रचना है।

रासो के विकास की पाँच अवस्थाये

रासो के विकास के सबध म विचार करने पर पता चलता है कि उसको विकास की पाँच अवस्थाओ (स्टेजेज) से होकर गुजरना पडा है —

१—कोशोत्सव स्मारक सग्रह—पृ० ६४।
२—वाल्यूम प्रथम, पृ० २५४।

पहली अवस्था—इसम च दबरदाई ने मूल रासो लिखा। पहले कहा जा चुका है कि पृथ्वीराज के दरबारी कवि और मित्र च दबरदाई ने कोइ प्रशस्ति काव्य अवश्य लिखा था जिसकी भाषा देश्य मिश्रित अपभ्रश थी। पृथ्वीराज की पराजय और मृत्यु के बाद सभवत वह ग्रथ अधूरा रह गया था क्योकि च द स्वय पृथ्वीराज के साथ ही मारा गया था। अत मूल रासो की रचना स० १२५० के कुछ पूव हुई होगी। च द के वशधर नानूराम ने महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री को बताया था कि च द ने तीन चार हजार श्लोक सख्या मे अपना काव्य लिखा था। यद्यपि इस कथन की सत्यता का कोई प्रमाण उन्होने नहीं दिया पर इसमे कोई सदेह नही कि मूल रासो बहुत छोटा रहा होगा। वैसे तो लघुतम, लघु और मध्यम रूपान्तर, तीनो के अलग अलग मूल रासो होने का दावा सवश्री अगरच द नाहटा, डा० दशरथ शर्मा, मूलराज जैन, मोनाराम रगा, मथुराप्रसाद दीक्षित, कविराव मोहन सिंह प्रभृति विद्वानो ने किया है पर उन सबके दावे अनुमानाश्रित ही है। उनके पास इसका कोइ ठोस प्रमाण नही है कि मूल रासो उनके पास वाला ही है। ये रूपा तर बृहत् रूपान्तर के सक्षिप्त रूप भी हो सकते हैं।

दूसरी अवस्था—इसमे कवि चन्द के पुत्र जल्हण या जल्ह द्वारा पृथ्वीराज और शहाबुद्दीन के सघष की अवशिष्ट कथा पूरी की गयी। रासो के ६७वे समय मे कहा गया है कि पृथ्वीराज के कैद होने के बाद देवी का आशीर्वाद पाकर च द ने ७५ दिन (या साढे साठ दिन ?) मे सात हजार रूपको वाले पृथ्वीराज रासो नामक पुस्तक की रचना की।

उभै मास दिन अद्धवर किय रासो चहुआन।
रसना भट्ट सुचन्द की बोलि उमा परमान॥
सहस सत्त रूपक सरस गुन सुन्दर बहु वित्त।
ले पुस्तक कवि चन्द को दिय माता बहु रित्त॥ ६७, ४९ ५०

उसके बाद फिर उसने अपने पुत्र को रासो का गुन दिया—

फिरिय आप जोगिनि पुरह रासो गुन दे पुत्त।
पुच्छि त्रीय परिवार सब कहौ तो साधो मुत्ति॥ ६७–४१

और अन्त मे अपने दस पुत्रो मे सबसे योग्य जल्हण को, जो चन्द के काव्य रूपी सागर को पार करने के लिए जहाज के समान था, रासो देकर उससे पूरी कथा बता दी और सम्भवत जो अश पूरा नही हुआ था उसकी योजना भी बता दी, इसके बाद राजा की मुक्ति के लिए गजनी की ओर चल पडा—

जल्हन जिहाज गुन साज कवि चन्द छन्द सागर तिरन।
अप्यौं सुहित्त रासो सरस चल्यौ अप्प राजन सरन। ६७-८३
दहति पुत्र कवि चन्द के सुन्दर रूप सुजान।
इक जल्ह गुन बावरो गुन समन्द ससि मान।
आदि अन्त लगि वृत्त मन ब्रन्नि गुनी गुनराज।
पुस्तक जल्हन हथ्थ दै चलि गज्जन नृप काज॥

-६७-८४, ८५

इस प्रकार पृथ्वीराजरासो मे इस बात का स्पष्ट निर्देश कर दिया गया है कि उसके अन्तिम दो (६७ और ६८) समय चन्द के पुत्र जल्हन के लिखे हुए हैं। किन्तु यह बात विश्वसनीय नहीं प्रतीत होती कि उसके पहले के सभी ६६ समय चन्द के ही लिखे है क्योकि एक तो पृथ्वीराज के कैद और नेत्रहीन होने की खबर सुनने के बाद चन्द के लिए यह सम्भव नहीं था कि वह ७५ दिन तक पुस्तक लिखने के लिए पृथ्वीराज को भुलाये रहता, दूसरे ७९ दिन मे ही इतना विशालकाय और गम्भीर भावो वाला ग्रथ लिखना बहुत कठिन है। अत यहा अधिक स्वाभाविक प्रतीत होता है कि चद ने पृथ्वीराज की प्रशस्ति मे पहले ही मूल रासो की रचना कर ली होगी और बडी लडाई के बाद घर आकर उसने बडी लडाई वाला प्रसग, जिसे उसने वीरभद्र से सुना था, लिखा होगा। जब जल्हन के हाथ मे मूल रासो आया होगा तो उसने अपनी बुद्धि और विद्वत्ता का उपयोग करते हुए ग्रथ का सस्कार परिष्कार किया होगा, समय समय पर लिखे गये छन्दों को एक सूत्र मे मिलाने के लिए उसमे बहुत कुछ जोडा होगा। इस तरह रासो के उन अशों मे भी जो उसमे चन्द के लिखे कहे गये हैं, जल्हन का लिखा अश बहुत अधिक होना चाहिये। चन्द की दैवी शक्तियों, चमत्कारपूर्ण कार्यो और अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशसा के जितने भी वर्णन रासो मे हैं वे चन्द के लिखे नहीं हो सकते। जल्हन के बाद के कवियो को भी चन्द की इतनी प्रशसा करने की आवश्यकता क्यों होती? अत ये सभी अश जल्हण ने पृथ्वीराज के साथ अपने पिता की कीर्ति को अमर करने के लिए लिखे होगे। इस सबध मे श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य का यह मत सर्वथा सही प्रतीत होता है कि महाभारत म व्यास ने जिस प्रकार दैवी शक्तियाँ अपने साथ नहीं जोड लीं, उसी प्रकार सभवत चन्द ने भी अपने साथ (वरदाई, इस विशेषण से व्यक्त होने वाली) नही जोडी होंगी। दैवी शक्तियो का आरोप उस पर उसके पुत्र अथवा दुबारा उस काव्य का सस्कार करने वाले कवि ने

किया है[१]। आचार्य रामच द्र शुक्ल ने अपने इतिहास मे लिखा है कि "नानूराम भाट का कहना है कि च द ने तीन या चार हजार श्लोक सख्या मे रासो की रचना की थी किन्तु उसके पीछे उनके लडके ने अन्तिम दस समयो को लिखकर उस ग्रन्थ को पूरा किया।"[२] पता नही शुक्ल जी को नानूराम का उक्त कथन किस स्रोत से प्राप्त हुआ पर यह भ्रमपूर्ण कथन प्रतीत होता है। अन्तिम दो समय तो जल्हन के लिखे अवश्य है पर अडसठ समयो मे अन्तिम सभी दस समय, जिसमे कनवज्ज समय भी है, जल्हन के लिखे नही हो सकते क्योकि रासो का सार भाग या मूल रासो कनवज्ज समय म जरूर है। पूरे रासो मे जल्हन के लिखे दस समयो का होना अधिक सम्भव है। महामहोपा याय हरप्रसाद शास्त्री ने चारण का य के प्रारम्भिक खोज विवरण मे जल्हन के बारे मे यह लिखा है कि "चन्द का पुत्र झल्ल एक गुणज्ञ कवि था। कहते हैं कि उसने अपने पिता द्वारा लिखित पृथ्वीराजरासो मे बहुत कुछ जोडा है। कहा जाता है कि अपनी माँ का नाम चलाने के लिए चन्द और उसकी स्त्री विषयक वातालाप उसी के जोडे हुए हैं, जो छपे रासो मे दिये गये हैं[३]।" इस बात मे सत्य की संभावना अधिक है क्यांकि रासो की कथा मूलत शुक शुकी सवाद के रूप म ही कही गयी होगी। कथा कहने की यह परम्परा पहले से प्रचलित रही है। कौतूहल की लीलावईकहा मे पति पत्नी के सवाद के रूप मे कथा अवश्य कही गयी है पर वह काल्पनिक कथा है, ऐतिहासिक काव्य नही। इस प्रकार यह अनुमान सत्य के बहुत अधिक निकट है कि रासो के विकास की दूसरी अवस्था मे चन्द के पुत्र जल्हन ने मूल रासो मे बहुत कुछ परिवर्द्धन परिवतन किया। यह कार्य च द की मृत्यु के ५० वष के भीतर ही अर्थात् स० १३०० तक हो गया होगा। स० १२९० के 'पुरातन प्रबन्ध सग्रह' वाले प्रबन्धो मे जो चार छप्पय मिले हैं उनमे एक 'जल्ह' का लिखा है। इससे उपर्युक्त कथन की सत्यता प्रमाणित हो जाती है।

१—हिन्दू भारत का उत्कर्ष—ले० चि० वि० वैद्य—हिन्दी अनुवाद—काशी स० १९८६ पृ० २७।

२—हिन्दी साहित्य का इतिहास—ले० आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—आठवा सस्करण, पृ० ४७।

3—Preliminary Report on the Operation in Search of Manuscripts of Bardic Chronicles—by Harprasad Shastri Royal Asiatic Society of Bengal 1913 P 29

तीसरी अवस्था—विकास की इस तीसरी अवस्था म पृथ्वीराज चौहान की ख्याति के साथ पृथ्वीराजरासो की लोकप्रियता भी बढती गयी। परिणाम स्वरूप यह काव्य चन्द की वश परम्परा के भाटो की ही नही, समूचे राजस्थान के चारण भाट ढाढी आदि पेशेवर कवि गायक जातियो की सपत्ति और जीविका का साधन बन गया। यह अवस्था स० १३०० से १६५० तक रही जब तक कि उसका सकलन या उद्धार करने के प्रयत्न नहीं होने लगे। हरप्रसाद शास्त्री ने यह भी कहा है कि 'झल्ह के वशजो का अकबर के समय तक जोड करते रहना कहा जाता है।'[१] पिछले अध्याय मे कहा जा चुका है कि चारण भाट आदि जातियाँ प्राचीन सूत मागध बन्दीजन की परम्परा में हैं और उन्ही की तरह इन जातियो के कवि भी दरबारो मे रह कर राजाओं की प्रशस्ति गाया करते थे। सामन्ती वीरयुग मे चारण भाटो का दरबारो में सम्मान होने लगा क्याकि वे केवल कवि और विरुद गायक ही नहीं होते थे, वे वशावली लिख कर सुरक्षित रखते तथा दौत्य और मत्रणा का कार्य भी करते थे। साथ ही वे राजाओ के साथ युद्ध भूमि मे जाकर लडते और उनमे निरन्तर वीर भावना भरते रहते थे। अत पृथ्वीराजरासो मे चन्द वरदाई के सम्बन्ध मे इस प्रकार की जितनी बातें कही गयी हैं वे अस्वाभाविक नहीं हैं। बाद की शताब्दियों मे भी राजस्थान के विभिन्न राजाओ के दरबारो मे चारण भाटों का बहुत अधिक सम्मान था, वे स्वतन्त्र रचना करने के साथ ही वीरगाथा के रूप म पृथ्वीराजरासो का गान या पाठ राजाओ के सामने किया करते थे। इस तरह विकास की तीसरी अवस्था मे चारण भाट आदि पेशेवर जातियों के कवियों द्वारा रासो का रूप परिवर्तन दो प्रकार से हुआ —

(१) गाने वाले कवियो द्वारा आशु काव्य प्रतिभा से मूल रासो मे परिवर्तन परिवर्द्धन हुआ।

(२) चन्द की वश परम्परा के भाटो तथा अन्य चारण भाटो ने अपने राजाओ का सम्मान बढाने के लिए उनके पूर्वजो को भी पृथ्वीराजरासो म लाना आवश्यक समझा, अत वे लिखित रूप में भी मूल रासो मे कुछ न कुछ जोडते रहे।

गेय रूप मे रासो का विकास —

राजस्थान मे पृथ्वीराजरासो गाया जाता था, उसमे सन्देह की गुजाइश नहीं है। राजस्थानी क प्रसिद्ध विद्वान और रासो के विशेषज्ञ डा० दशरथ शर्मा और प्रो० मीनाराम रगा ने लिखा है कि 'रासो सदैव जनप्रिय श्रव्य काव्य

१—वही–पृ० वही।

रहा है। ज्यो ज्यो समय व्यतीत होता गया त्यों त्यो इसमे नवीन कृतियाँ प्रविष्ट होती गयीं, पुराने छन्दो का रूप परिवर्तित या विकृत हो गया। नवीन छन्द प्राय उसी बोली मे आ गये जो प्रक्षेपकर्ता के जीवन मे व्यवहृत हो रही थी।'[१] इस तरह गेय रूप मे प्रचलित रहने के कारण रासो की भाषा और वर्ण्य वस्तु मे परिवर्तन हुआ है। राजस्थान मे साहित्यिक कृतियो के चारण भाट ढाढी आदि लोगो द्वारा गाये जाने की प्रथा अभी कुछ दिनों पूव तक रही है। 'राजस्थान म हिन्दी की हस्तलिखित पुस्तको की खोज' नामक पुस्तक की अग्रेजी भूमिका मे प्रसिद्ध विद्वान् श्री हरविलास शारदा ने लिखा है कि "राजपूताना मे पाश्चात्य शिक्षा की जड जमने के पूर्व डिगल भाषा मे रचित साहित्य का सार्वभौम रूप से गायन और पाठ हुआ करता था और उसे सुनकर जनता मे वीरता और साहस की भावना हिलोरें लेने लगती थी। राजस्थान मे वीरो के वीरतापूर्ण कार्यो और जीवनचरित को गाये जाते सुनकर वहाँ के राजपूत ही नही, छतीसो जातियो की जनता प्रोत्साहित और क्रियाशील होती थी। इस वीर भूमि के गाँव गाँव और नगर नगर मे चारण भाट, ढाढी तथा अन्य लोग वीरो की गाथाओं का गान करते थे और उनके सम्बन्ध मे दोहे और कहानियाँ सुनाया करते थे।"[२] इससे स्पष्ट है कि पृथ्वीराजरासो भी अवश्य गाकर सुनाया जाता रहा होगा। फ्रान्सीसी विद्वान गासा द तासी ने अपने 'हिन्दुस्तानी साहित्य के इतिहास' मे लिखा है कि 'श्री एम० एम० फैलन को अजमेर मे एक दिन एक अपढ ऊँटवाहा मिला। उसने कण्ठस्थ किये हुए चन्द की रचना के दीर्घ अश सुनाये जिन्हे अ य भारतीयो को गाते सुनकर उसने याद किया था। एक निरक्षर निम्न श्रेणी के व्यक्ति ने इस प्रसिद्ध राजपूत काव्य के छ द पूर्ण उत्साह और जोश के साथ गाये, यह इसका प्रतिपादक है कि अस्त्र शस्त्रों के शौर्य की वह गाथा, जिसका रगमच रजवाडा था, अभी भी जनता की स्मृति में थी[३]।'

१—पृथ्वीराजरासो की भाषा—ले० डा० दशरथ शर्मा और प्रो० मीनाराम रगा—राजस्थान भारती—भाग १-अक ४, पृ० ४९, सन् १९४७।

२—राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थो की खोज, (प्रथम भाग)-लेखक प० मोतीलाल मेनारिया (दीवान बहादुर हरविलास शारदा की अग्रेजी भूमिका) प्रथम सस्सकरण, पृ० २

३—इस्तवार द ला लितरात्यूर ऐन्दुई ए ऐन्दुस्तानी—द्वितीय सस्करण, प्रथम भाग, पेरिस, पृ० ३८५। (श्री विपिन विहारी त्रिवेदी के 'चन्द वरदायी और उनका काव्य' ग्रन्थ के पृ० ३५३ से उद्धृत)।

यहाँ रासो के तत्सम्बन्धी अन्तस्साक्ष्य पर विचार कर लेने पर यह स्पष्ट हो जायगा कि मूल पृथ्वीराजरासो भी गेय ही रहा होगा। आदि पर्व (प्रथम समय) के ४०वें छन्द से प्रतीत होता है कि रासो का सस्वर पाठ या गान होता रहा होगा —

चरन नीम अच्छर सुरग पाट लहु गुरु विधि मडिय।
सुर विकास जारी सु मुष्ष उक्तिरस गौरव निछडिय ॥ १-४०

उसी तरह ६८वे समय मे उपसहार भी कहा गया है कि रासो को कैसे गाना और सुनना चाहिये —

मंत्र सकति या मझ धूप अष्यत उष्षेवय।
सुनै श्रवन गुन एह दान श्रद्धा करि देवय।
एक चित्त करि भाव भाव या मझ्झह पावय।
अरथहीन ब्रनहीन हीन छन्दह नन गावय ॥
पिंगल प्रमान बहु भाँति जुति, रस रूपक नव नव सरस।
वरदाय माय रसना रसिक परचि प्रीति पावे सुरस ॥ ६८-२४२

ये दोनो छन्द चाहे परवर्ती क्षेपक ही क्यों न हो पर वे इस बात पर प्रकाश डालते हे कि पृथ्वीराजरासो का दरबारो मे तथा जनता मे गान होता था और धार्मिक ग्रथ के रूप मे उसका पाठ करके श्रोताओं को भी सुनाया जाता था। पिछले अध्याय मे कहा जा चुका है कि सामन्ती वीरयुग मे रासक या रासो नामक काव्यरूप का प्रचार था। ये अधिकतर लघु काव्य होते थे। धार्मिक अवसरो, उत्सवों और मन्दिरों मे जैन साधुओं और कवियों ने लिखे रासकाव्यो का नृत्य के साथ ताली बजा कर गान किया जाता था। जिनदत्त सूरि के उपदेशरसायनरास मे छत्तीसवे छन्द मे कहा गया है कि रात्रि मे रास गान के समय ताली नहीं बजानी चाहिये क्योंकि जीव हिंसा का भय रहता है और दिन मे स्त्रियो को पुरुषों के साथ लकुट (लगुडा) रास मे भाग नहीं लेना चाहिये क्योकि उससे चोट लगने का भय रहता है —

ताला रासु वि दिंति न रयणिहि।
दिवसि वि लउडारसु सहुँ पुरिसिहि।

श्री अगरचन्द नाहटा का कहना है कि जैन मन्दिरो मे ये दोनो रास चौदहवीं शती तक खेले जाते थे[1]। स० १३२७ मे रचित 'सप्तक्षेत्री रास' के

[1] प्राचीन भाषा काव्यो की विविध सज्ञायें—ले० श्री अगरचन्द नाहटा—ना० प्र० पत्रिका—वर्ष ५८, अक ४, स० २०१०—पृ० ४२०।

रहा है। ज्यो ज्यो समय व्यतीत होता गया त्यों त्यो इसमे नवीन कृतियाँ प्रविष्ट होती गयीं, पुराने छन्दो का रूप परिवर्तित या विकृत हो गया। नवीन छन्द प्राय उसी बोली मे आ गये जो प्रक्षेपकर्ता के जीवन मे व्यवहृत हो रही थी।'[1] इस तरह गेय रूप मे प्रचलित रहने के कारण रासो की भाषा और वर्ण्य वस्तु मे परिवर्तन हुआ है। राजस्थान मे साहित्यिक कृतियों के चारण भाट ढाढी आदि लोगो द्वारा गाये जाने की प्रथा अभी कुछ दिनों पूर्व तक रही है। 'राजस्थान म हिन्दी की हस्तलिखित पुस्तको की खोज' नामक पुस्तक की अंग्रेजी भूमिका मे प्रसिद्ध विद्वान् श्री हरविलास शारदा ने लिखा है कि "राजपूताना मे पाश्चात्य शिक्षा की जड जमने के पूर्व डिंगल भाषा मे रचित साहित्य का सार्वभौम रूप से गायन और पाठ हुआ करता था और उसे सुनकर जनता मे वीरता और साहस की भावना हिलोरें लेने लगती थी। राजस्थान मे वीरो के वीरतापूर्ण कार्यो और जीवनचरित को गाये जाते सुनकर वहाँ के राजपूत ही नही, छतीसो जातियो की जनता प्रोत्साहित और क्रियाशील होती थी। इस वीर भूमि के गाँव गाँव और नगर नगर मे चारण भाट, ढाढी तथा अन्य लोग वीरों की गाथाओं का गान करते थे और उनके सम्बन्ध म दोहे और कहानियाँ सुनाया करते थे।"[2] इससे स्पष्ट है कि पृथ्वीराजरासो भी अवश्य गाकर सुनाया जाता रहा होगा। फ्रान्सीसी विद्वान गासा द तासी ने अपने 'हिन्दुस्तानी साहित्य के इतिहास' मे लिखा है कि 'श्री एम० एम० फैलन को अजमेर मे एक दिन एक अपढ ऊँटवाहा मिला। उसने कण्ठस्थ किये हुए चन्द की रचना के दीघ अश सुनाये जिन्हे अन्य भारतीयो को गाते सुनकर उसने याद किया था। एक निरक्षर निम्न श्रेणी के व्यक्ति ने इस प्रसिद्ध राजपूत काव्य के छद पूर्ण उत्साह और जोश के साथ गाये, यह इसका प्रतिपादक है कि अस्त्र शस्त्रों के शौर्य की वह गाथा, जिसका रगमच रजवाडा था, अभी भी जनता की स्मृति में थी[3]।'

१—पृथ्वीराजरासो की भाषा—ले० डा० दशरथ शर्मा और प्रो० मीनाराम रगा—राजस्थान भारती—भाग १–अक ४, पृ० ४९, सन् १९४७।

२—राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज, (प्रथम भाग)–लेखक प० मोतीलाल मेनारिया (दीवान बहादुर हरविलास शारदा की अंग्रेजी भूमिका) प्रथम सस्सकरण, पृ० २

३—इस्तवार द ला लितरात्यूर ऐन्दुई ए ऐन्दुस्तानी—द्वितीय सस्करण, प्रथम भाग, पेरिस, पृ० ३८५। (श्री विपिन विहारी त्रिवेदी के 'चन्द वरदायी और उनका काव्य' ग्रन्थ के पृ० ३५३ से उद्घृत)।

यहाँ रासो के तत्सम्बन्धी अन्तस्साक्ष्य पर विचार कर लेने पर यह स्पष्ट हो जायगा कि मूल पृथ्वीराजरासो भी गेय ही रहा होगा। आदि पर्व (प्रथम समय) के ४०वें छन्द से प्रतीत होता है कि रासो का सस्वर पाठ या गान होता रहा होगा —

चरन नीम अच्छर सुरग पाट लहु गुरु विधि मडिय।
सुर विकास जारी सु मुष्ष उक्तिरस गौरव निछडिय॥ १-४०

उसी तरह ६८वे समय मे उपसहार भी कहा गया है कि रासो को कैसे गाना और सुनना चाहिये —

छत्र सकति या मझ धूप अष्पत उष्षेवय।
सुनै श्रवन गुन एह दान श्रद्धा करि देवय।
एक चित्त करि भाव भाव या मझ्झह पावय।
अरथहीन ब्रनहीन हीन छन्दह नन गावय॥
पिंगल प्रमान बहु भाँति जुति, रस रूपक नव नव सरस।
वरदाय माय रसना रसिक परचि प्रीति पावे सुरस॥ ६८-२४२

ये दोनो छन्द चाहे परवर्ती क्षेपक ही क्यो न हो पर वे इस बात पर प्रकाश डालते हैं कि पृथ्वीराजरासो का दरबारो मे तथा जनता मे गान होता था और धार्मिक ग्रथ के रूप मे उसका पाठ करके श्रोताओं को भी सुनाया जाता था। पिछले अध्याय मे कहा जा चुका है कि सामन्ती वीरयुग मे रासक या रासो नामक काव्यरूप का प्रचार था। ये अधिकतर लघु काव्य होते थे। धार्मिक अवसरों, उत्सवों और मन्दिरों मे जैन साधुओं और कवियों के लिखे रासकाव्यों का नृत्य के साथ ताली बजा कर गान किया जाता था। जिनदत्त सूरि के उपदेशरसायनरास मे छत्तीसवे छन्द मे कहा गया है कि रात्रि मे रास गान के समय ताली नहीं बजानी चाहिये क्योंकि जीव हिंसा का भय रहता है और दिन मे स्त्रियो को पुरुषों के साथ लकुट (लगुडा) रास मे भाग नहीं लेना चाहिये क्योंकि उससे चोट लगने का भय रहता है —

ताला रासु वि दिन्ति न रयणिहि।
दिवसि वि लउडारसु सहुँ पुरिसिहि।

श्री अगरचन्द नाहटा का कहना है कि जैन मन्दिरो मे ये दोनो रास चौदहवी शती तक खेले जाते थे[1]। स० १३२७ मे रचित 'सप्तक्षेत्री रास' के

१ प्राचीन भाषा काव्यो की विविध सज्ञायें—ले० श्री अगरचन्द नाहटा—ना० प्र० पत्रिका—वर्ष ५८, अक ४, स० २०१०—पृ० ४२०।

रहा है। ज्यो ज्यो समय व्यतीत होता गया त्यों त्यो इसमे नवीन कृतियों प्रविष्ट होती गयीं, पुराने छन्दो का रूप परिवर्तित या विकृत हो गया। नवीन छन्द प्राय उसी बोली मे आ गये जो प्रक्षेपकर्ता के जीवन मे व्यवहृत हो रही थी।'[1] इस तरह गेय रूप म प्रचलित रहने के कारण रासो की भाषा और वर्ण्य वस्तु मे परिवर्तन हुआ है। राजस्थान मे साहित्यिक कृतियों के चारण भाट ढाढी आदि लोगो द्वारा गाये जाने की प्रथा अभी कुछ दिनों पूव तक रही है। 'राजस्थान म हिन्दी की हस्तलिखित पुस्तको की खोज' नामक पुस्तक की अंग्रेजी भूमिका मे प्रसिद्ध विद्वान् श्री हरविलास शारदा ने लिखा है कि "राजपूताना मे पाश्चात्य शिक्षा की जड जमने के पूर्व डिंगल भाषा मे रचित साहित्य का सार्वभौम रूप से गायन और पाठ हुआ करता था ओर उसे सुनकर जनता मे वीरता और साहस की भावना हिलोरें लेने लगती थी। राजस्थान म वीरो के वीरतापूर्ण कार्यो और जीवनचरित को गाये जाते सुनकर वहाँ के राजपूत ही नही, छतीसो जातियो की जनता प्रोत्साहित और क्रियाशील होती थी। इस वीर भूमि के गाँव गाँव और नगर नगर मे चारण भाट, ढाढी तथा अन्य लोग वीरों की गाथाओं का गान करते थे और उनके सम्बन्ध मे दोहे और कहानियाँ सुनाया करते थे।"[2] इससे स्पष्ट है कि पृथ्वीराजरासो भी अवश्य गाकर सुनाया जाता रहा होगा। फ्रान्सीसी विद्वान गार्सा द तासी ने अपने 'हिन्दुस्तानी साहित्य के इतिहास' मे लिखा है कि 'श्री एम० एम० फैलन को अजमेर मे एक दिन एक अपढ ऊँटवाहा मिला। उसने कण्ठस्थ किये हुए चन्द की रचना के दीघ अश सुनाये जिन्हें अन्य भारतीयो को गाते सुनकर उसने याद किया था। एक निरक्षर निम्न श्रेणी के व्यक्ति ने इस प्रसिद्ध राजपूत काव्य के छद पूर्ण उत्साह और जोश के साथ गाये, यह इसका प्रतिपादक है कि अस्त्र शस्त्रों के शौर्य की वह गाथा, जिसका रगमच रजवाडा था, अभी भी जनता की स्मृति में थी[3]।'

१—पृथ्वीराजरासो की भाषा—ले० डा० दशरथ शर्मा और प्रो० मीनाराम रगा—राजस्थान भारती—भाग १–अक ४, पृ० ४९, सन् १९४७।

२—राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थो की खोज, (प्रथम भाग)–लेखक प० मोतीलाल मेनारिया (दीवान बहादुर हरविलास शारदा की अंग्रेजी भूमिका) प्रथम सस्सकरण, पृ० २

३—इस्तवार द ला लितरात्यूर ऐन्दुई ए ऐन्दुस्तानी—द्वितीय सस्करण, प्रथम भाग, पेरिस, पृ० ३८५। (श्री विपिन विहारी त्रिवेदी के 'चन्द वरदायी और उनका काव्य' ग्रन्थ के पृ० ३५३ से उद्धृत)।

यहाँ रासो के तत्सम्बन्धी अन्तस्साक्ष्य पर विचार कर लेने पर यह स्पष्ट हो जायगा कि मूल पृथ्वीराजरासो भी गेय ही रहा होगा। आदि पर्व (प्रथम समय) के ४०वें छन्द से प्रतीत होता है कि रासो का सस्वर पाठ या गान होता रहा होगा —

चरन नीम अच्छर सुरग पाट लहु गुरु विधि मडिय।
सुर विकास जारी सु मुष्ष उक्तिरस गौरव निठडिय॥ १-४०

उसी तरह ६८वे समय मे उपसहार भी कहा गया है कि रासो को कैसे गाना और सुनना चाहिये —

मत्र सकति या मझ धूप अष्यत उष्षेवय।
सुनै श्रवन गुन एह दान श्रद्धा करि देवय।
एक चित्त करि भाव भाव या मझ्झह पावय।
अरथहीन त्रनहीन हीन छन्दह नन गावय॥
पिंगल प्रमान बहु भाँति जुति, रस रूपक नव नव सरस।
वरदाय माय रसना रसिक परचि प्रीति पावे सुरस॥ ६८-२४२

ये दोनो छन्द चाहे परवर्ती क्षेपक ही क्यों न हो पर वे इस बात पर प्रकाश डालते है कि पृथ्वीराजरासो का दरबारों मे तथा जनता मे गान होता था और धार्मिक ग्रथ के रूप में उसका पाठ करके श्रोताओं को भी सुनाया जाता था। पिछले अध्याय मे कहा जा चुका है कि सामन्ती वीरयुग मे रासक या रासो नामक काव्यरूप का प्रचार था। ये अधिकतर लघु काव्य होते थे। धार्मिक अवसरों, उत्सवों और मन्दिरों मे जैन साधुओं और कवियों ने लिखे रासकाव्यों का नृत्य के साथ ताली बजा कर गान किया जाता था। जिनदत्त सूरि के उपदेशरसायनरास मे छत्तीसवे छन्द मे कहा गया है कि रात्रि मे रास गान के समय ताली नहीं बजानी चाहिये क्योंकि जीव हिंसा का भय रहता है और दिन मे स्त्रियो को पुरुषो के साथ लकुट (लगुडा) रास मे भाग नहीं लेना चाहिये क्योकि उससे चोट लगने का भय रहता है —

ताला रासु वि दिन्ति न रयणिहि।
दिवसि वि लउडारसु सहुँ पुरिसिहि।

श्री अगरचन्द नाहटा का कहना है कि जैन मन्दिरो मे ये दोनो रास चौदहवीं शती तक खेले जाते थे[1]। स० १३२७ में रचित 'सप्तक्षेत्री रास' के

१ प्राचीन भाषा काव्यो की विविध सज्ञायें—ले० श्री अगरचन्द नाहटा—ना० प्र० पत्रिका—वर्ष ५८, अक ४, स० २०१०—पृ० ४२०।

निम्नलिखित उद्धरण से स्पष्ट हो जाता है कि जैन मन्दिरो में श्रमणों और श्रावकों की उपस्थिति मे ताला रास और लकुटा रास का आयोजन होता था जिसमे ललित वाणी, मधुर शब्द, ताल छद और वाद्य के साथ 'जिन' का गुणगान किया जाता था[१]।'

वइसइ सहूइ श्रमण सघ सावय गुणवन्ता।
जोयइ इच्छवु जिनह भुवणि मनि हरख धरन्ता।
तीछे ताला रास पडइ बहु भाट पढता।
अन्नइ लकुटारास जोइइ खेला नाचता। ४८
सविहू सरीखा सिणगार सवि तेवउ तेवडा।
नाचइ धामीय रभरे तउ भावहि रूडा।
सुललित वाणी मधुर सादि जिण गुण गायन्ता।
ताल मानु छन्द गीत मेलु बाजित्र बाजन्ता॥ ४९

इस लोक प्रचलित गीतिनाट्य 'रास' को भारतीय नाट्यशास्त्र में रासक नाम से उपरूपक मान लिया गया है। वाग्भट्ट के काव्यानुशासन के अनुसार रासक एक मसृणोद्धत गेय रूपक है जिसमे अनेक नर्तकिया तथा अनेक प्रकार के ताल और लय होते हैं और ६४ तक के युग्मक (युगल) होते हैं।[२] उपर्युक्त प्रमाणो के आधार पर कहा जा सकता है कि प्रारभ मे रासक या रास लोक प्रचलित गीति नृत्य था, बाद मे शिष्ट साहित्य मे उसे रासक नामक मसृणोद्धत गेय उपरूपक मान लिया था, पर लोक प्रचलित गीतिनाट्य वाला रूप चलता रहा। बाद मे जैन साधुओ और कवियो ने अपने धर्म प्रचार के लिए रासक या रास नाम से लघु काव्य लिखे जिनका मदिरों मे और उत्सवो के अवसर पर नृत्य के साथ गान होता था। आगे चल कर नृत्य तो उसमें से बिलकुल निकल गया और गान रह गया। इस प्रकार रास, रासअ (रासउ), रासा या रासो शब्द ग्यारहवीं शताब्दी के बाद लघु गेय काव्य के लिए प्रयुक्त होने लगा। पृथ्वीराजरासो के निर्माण के समय रासो नामक काव्यरूप प्रबन्ध काव्य की सामा म चला आया था पर उसका गेयता से सबध विच्छेद नही हुआ था। इस तर्क के आधार पर भी यह सिद्ध

१—'प्राचीन गुर्जर काव्य सग्रह'—(सप्तक्षेत्रिरासु) पृ० ५२।

२—अनेकनर्तकीयोज्य चित्रताललयान्वितम्।
आचतु षष्टियुगलाद्रासकं मसृणोद्धतम्॥
—वाग्भट्ट—काव्यानुशासन की वृत्ति।

होता है कि परवता शताब्दियो मे चारणो भाटो द्वारा पृथ्वीराजरासो गाया जाता रहा होगा। इस प्रकार सैकडो वर्षो तक गाये जाते रहने के कारण मूल रासो की भाषा तो बदलती ही रही, साथ ही गायक अपनी आशु काव्य प्रतिभा के प्रदर्शन के लिए अथवा अपने आश्रय दाता की प्रसन्नता ओर उसक पूर्वजो के कीति सरक्षण के लिए, श्रोताओं की रुचि पहचान कर, उनके मनोनुकूल धार्मिक और मनोरजक तत्वो वाले उपाख्यानो और छन्दो को उसम बराबर जोडते रहे। इसमें कोई आश्चर्य की बात नही है क्योकि महाभारत, रामायण और पुराणो का विकास भी अधिकतर इसी तरह हुआ है। सभी विकसनशील काव्यो का विकास इसी तरह होता रहा है। गायन प्रक्रिया के साथ ही रासो मे लिखित रूप मे भी विकास होता रहा। चारण भाटो का काम इन शताब्दियों मे राजाओ की वशावली ओर 'पीढीयावली' को छन्दोबद्ध करना और सुनाना या सुरक्षित रखना भी होता था। वे 'ख्यात' और 'बात' लिखते थे और इसके साथ ही प्राचीन ख्यातों या ऐतिहासिक समझे जाने वालों काव्यों के जानकार भी होते थे। यद्यपि पन्द्रहवीं सोलहवीं शताब्दी म भारत की केन्द्रीय राज्यसत्ता मुसलमानो के हाथ मे चली गयी पर उस समय भी राजस्थान के रजापूतों ने अन्तिम रूप से पराजय नहीं स्वीकार की। उनमे से कुछ की मुसल्मान राजाओ से अन्त तक लडाई होती रही। इस भावना को पृथ्वीराज के जीवन चरित से बहुत शक्ति मिलती थी। अत सभी राजवश अपना महत्व बढाने और पूर्वजों की कीर्ति के अधिकाधिक प्रचार के लिए यह आवश्यक समझते थे कि पृथ्वीराज से उनके पूर्वजों का सबन्ध भी किसी न किसी रूप में स्थापित हो। अत उनके चारण भाट बिना ऐतिहासिक पूर्वापर सम्बन्ध का ध्यान रखे उनके पूर्वजो को किसी न किसी युद्ध म पृथ्वीराज का सहायक, सामन्त या सम्बन्धी बना कर रासो मे घुसाते गये। परिणाम यह हुआ कि रासो नाना युद्धो और राजाओं की नामावली की सहिता बन गया और बारहवीं तेरहवी शताब्दिी के राजस्थान के राजपूतों का इतिहास माना जाने लगा। राजपूतो की अग्नि कुण्ड से उत्पत्ति और ३६ राजपूत जातियो का वर्णन सम्भवत इसी काल मे रासो म जोडा हुआ प्रक्षिप्त अश है। कर्नल टाड ने भी रासो को एक इतिहास ग्रथ के रूप मे मान कर उसके आधार पर "राजस्थान का इतिहास" लिखा है। वे लिखते हैं —

"चन्द का ग्रथ उसके समय का स्वाभाविक इतिहास है। इसमे ६९ भाग (समयो) तथा एक लाख पद हैं जिनमे पृथ्वीराज के पराक्रम का वर्णन है, किन्तु इसके साथ ही साथ इसम प्रत्येक उच्च राजपूत वश के पूर्व पुरुषा का

उल्लेख भी मिलता है। यही कारण है कि राजपूत नामधारी प्रत्येक वश के सग्रहालय में यह ग्रथ सुरक्षित मिलता है[1]।"

कर्नल टाड ने राजस्थान का इतना अधिक भ्रमण किया था और उनका राजस्थान सबधी ज्ञान इतना अधिक था कि उनकी इस बात पर अविश्वास नही किया जा सकता कि राजपूतों के प्रत्येक वश के सग्रहालय म रासो सुरक्षित मिलता है। जिस वश के राजा ने रासो को लिपि बद्ध कराया होगा उसके पूर्वजो का वर्णन लिपिकार या उस राजा के राजकवि ने उसमे अवश्य जोडा होगा। यही कारण है कि रासो के इतने रूपान्तर मिलते हैं। इस सबध मे श्री अगरचन्द नाहटा का यह कथन उचित प्रतीत होता है कि "यह तो सवसमत बात है कि रासो मे कई प्रकार की भाषा एव शैली के पद्य प्रक्षेपित मिलते हैं जिनसे स्पष्ट है कि वर्तमान रासो की रचना मे कई व्यक्तियो का हाथ है। पर वे कौन कौन थे और कब हुए, यह कहना असभव है क्योंकि यह बहुत लोकप्रिय काव्य ग्रथ है। जिसके पास गया उसी ने ही उसका कुछ न कुछ भाषा सबधी रूपान्तर एव कुछ पद्य अपनी ओर से नये मिला कर उसके प्रभाव मे वृद्धि की ही है[2]।" इससे स्पष्ट है कि ज्यों ज्यों पृथ्वीराजरासो की लोकप्रियता बढती गयी त्यो त्यों उसका विस्तार और विकास भी होता गया। पर विकास की इस तीसरी अवस्था मे उसका कितना परिवर्द्धन हुआ, इसका ठीक ठीक परिमाण बताना असभव है। फिर भी इस दिशा मे कुछ सकेत किया जा सकता है। उदाहरणाथ —

(१) इतिहासकारो का कहना है कि पृथ्वीराज और शहाबुद्दीन के बीच केवल दो ही युद्ध हुए। पर प्रबधचिन्तामणि (स० १३६१) और प्रबन्ध कोश (स० १५०९) मे पृथ्वीराज और शहाबुद्दीन के बीच २० २२ युद्धो का उल्लेख हैं। अत रासो मे पृथ्वीराज और शहाबुद्दीन के अन्य युद्धो का वर्णन स० १२९० और स० १५०० के बीच जोडा हुआ प्रतीत होता है।

(२) उसी तरह पृथ्वीराजविजय (स० १२५०) और हम्मीर महाकाव्य (स० १४६०) मे चौहानों की जो वशावली दी गयी है और पृथ्वीराज के सबध मे जो लिखा गया है, उसमे और सुर्जनचरित (स० १६२५) की पृथ्वीराज सबधी बातो मे बहुत अ तर दिखलाई पडता है। डा० दशरथ शमा का अनुमान

१—मूल अग्रेजी में टाड राजस्थान, भाग १, पृ० २५४। डा० उदय नारायण तिवारी के वीर काव्य (पृ० ९३) उद्धत।

२—पृथ्वीराजरासो और उसकी हस्तलिखित प्रतियाँ—नाहटा—राजस्थानी।

है कि सुर्जनचरित म तत्कालीन प्रचलित रासो की बातो का सस्कृत रूपान्तर किया गया है। अत यह कहा जा सकता है कि स० १४६० और स० १६३५ के बीच रासा का विकास बहुत अधिक हो गया था।

(३) रासो म पृथ्वीराज की बहन पृथा का रावल समर सिंह से विवाह, मेवात के मुगल राजा मुद्गल राय से सोमेश्वर और पृथ्वीराज के युद्ध तथा समर सिह के ज्येष्ठ पुत्र कुम्भा का दक्षिण मे बीदर के मुसलमान बादशाह के पास जाने की बात लिखी है। बीदर स० १४८७ म बहमनी वश के बादशाहो की राजधानी बना। उसी तरह मुगल भारत म तैमूरलग के साथ पहले पहल स० १४५५ मे आये। महाराणा कुभकर्ण ने स० १५१७ म कुमलगढ के किले में कुभ स्वामी के मदिर मे जो शिलालेख खुदवाया उसम समरसिंह और पृथा के ब्याह तथा शहाबुद्दीन के साथ युद्ध म समरसिह के मारे जाने का वृत्तान्त नही है। किन्तु चन्द्रसिह कछवाहा द्वारा उद्धार किये गये और राणा अमरसिह प्रथम के समय म सकलित रासो का बृहत् रूपान्तर वाली प्रतियों मे ये बाते है। अत ये घटनाये रासो म स० १४५५, १४८७, और १५१७ के बाद और सं० १६५० के पूर्व जोडी गयी होंगी। अत वर्तमान बृहत् रूपान्तर वाले रासो की अनेक अनैतिहासिक घटनाये इस तृतीय अवस्था मे चारण भाट आदि दरबारी कवियो द्वारा जोडी गयी प्रतीत होता हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि राजदरबारो मे सम्मान पाने के कारण ही रासो का इतना विस्तार हुआ। रासो के कई छन्दो मे इसका स्पष्ट उल्लेख भी हुआ है कि जो कवि राजसभा मे सबको प्रसन्न करने योग्य उत्तम भाषण करने की योग्यता और बुद्धिमानों मे आदर चाहे वह रासो को पढे —

तर्क वितर्क उतर्क सॅजुत्तिय। राज सभा सुभ भासन भत्तिय।
कवि आदर सादर बुध चाहो। पढि करि गुन रासो निर्बाहो।
—१–४१

चौथी अवस्था—रासो को विकास की चौथी अवस्था वह था जिसम उसका उद्धार या सकलन करने के विविध प्रयत्न किये गये और इस प्रकार उसके विविध रूपान्तरो को लिपिबद्ध किया गया। यह अवस्था स० १६०० से स० १७६० के बीच की थी। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास म लिखा है कि "पीछे से और लोग इसम अपनी रुचि अथवा आवश्यकता के अनुसार जोड तोड करते रहे। अत मे अकबर के समय म इसने इस प्रकार से परिवर्तित रूप धारण किया। अकबर ने इस प्रसिद्ध ग्रथ को सुना था। उसके इस प्रकार उत्साह प्रदर्शन पर, कहते ह कि, उस समय रासो नामक

अनेक ग्रथों की रचना की गयी।"[1] यह पहले ही कहा जा चुका है कि रासो का उद्धार और सकलन कछवाहा चन्द्रसिंह, मत्री करमचन्द के पुत्र और राणा अमरसिंह ने अलग अलग कराया था। प्रकाशित रासो मे उपसहार वाले छन्दो में एक छ द इस प्रकार है जो रासो की अधिकाश प्रतियो मे मिलता है —

प्रथम वेद उद्धार बभ मच्छह तन किन्नो।
दुतिय वीर बाराह धरनि उद्धरि जस लिन्नो।
कौनारक नभदेस धरम उद्धरि सुर सष्षिय।
कूरम सूर नरेस हिन्द हद उद्धरि रष्षिय।
रघुनाथचरित हनुमन्त कृत भूप भोज उद्धरिय जिम।
पृथिराज सुजस कवि चन्द कृत चन्द नन्द उद्धरिय इम॥
—६८-२२१

इसका पहले यह अर्थ समझा जाता था कि चन्द के पुत्र जल्हन ने इस ग्रथ का उद्धार किया। रासो की कुछ लघु रूपान्तर वाली प्रतियो मे उपर्युक्त छन्द कुछ भिन्न रूप म मिलता है जिसकी अन्तिम पक्ति यह है[2] —

पृथ्वीराज सुजसु कवि चन्द कृत चन्द्र सिह उद्धरिय तिम।

इससे स्पष्ट है कि रासो का उद्धारकर्ता अर्थात् धन व्यय करने उसको सकलित और लिपिबद्ध कराने वाला कोई चन्द्रसिंह नामक व्यक्ति था। 'मुहणोत नैणसी री ख्यात' के आधार पर कुछ विद्वानो ने उसे महाराजा मान सिंह का भतीजा च द्रसिह कछवाहा माना है जिसका समय नाहटा जी के अनुसार स० १६४०-५० है[3]। इस प्रकार रासो के प्रथम उद्धारकता तो ये ही चन्द्रसिंह कछवाहा प्रतीत होते हैं। च द्रसिह वाली प्रति की प्रतिलिपि कुछ दशकों के बाद सुप्रसिद्ध जैन मन्त्रीश्वर करमचन्द के पुत्रा के लिए स० १६७९ मे की गयी। उक्त छन्द लघु रूपान्तर वाली बीकानेर राजकीय पुस्तकालय की दो प्रतियों में मिलता है। उनकी अन्तिम पुष्पिका यो है —

मन्त्रीश्वर मडन तिलक वच्छा वश भर भाण।
करमचन्द सुत करमवड भागचन्द सब जाण॥ १॥

१—हिन्दी साहित्य का इतिहास—ले० रामचन्द्र शुक्ल, आठवाँ सस्करण, पृ० ४७।

२—पृथ्वीराज रासो का रचना-काल—श्रीअगरचन्द नाहटा, विशाल भारत, दिसबर १९४६, पृ० ३९५।

३—वीर काव्य—डा० उदयनारायण तिवारी—प्रथम सस्करण, पृ० ११४।

तसु कारण लिखियो सही पृथ्वीराज चरित्र।
पठता सुख सपति सकल मन सुख होवे मित्र ॥ २ ॥

× × ×

महाराज नृपसूर सुव कूरमचन्द उदार।
रासो पृथ्वीराज को राख्यो लगि ससार ॥

इन पद्यो से पता चलता है कूरमचन्द और उसके पुत्रों ने भी रासो के सरक्षण और लिपिबद्ध करने के लिए बहुत प्रयत्न किया था। ये छन्द बीकानेर के लघु रूपान्तर वाली प्रतियो मे 'प्रथम वेद उद्धरिय ' वाले छ द के साथ भी हैं। इससे यह पता चलता है कि चन्द्रसिंह कछवाहा ने रासो का जो सकलन कराया था उसी को 'कूरमच द' और उसके पुत्रो ने लिपिबद्ध कराया था, अत वे रासो के उद्धारक तो नहीं, रक्षक अवश्य कहे जा सकते हैं। इसी काल मे उदयपुर के सीसोदिया राजाओ म राणा अमरसिंह प्रथम (स० १६५३–७६) राणा राजसिह (स० १७१८–३२) और राणा अमर सिंह द्वितीय (स० १७५५–६७) ने रासो के सकलन, उद्धार ओर लिपिबद्ध कराने का कार्य किया। नौचौकी बाँध के 'राजप्रशस्ति महाकाव्य' मे कहा गया है कि पृथ्वीराजरासो विशाल काव्य है। इससे प० मोतीलाल मेनारिया ने यह अनुमान किया है कि "राजप्रशस्ति के लिए इतिहास सामग्री एकत्र करवाने मे महाराणा राजसिह ने बहुत व्यय किया था ओर बहुत दूर दूर तक खोज करवाइ थी। फलस्वरूप प्राचीन ग्रथो आदि के रूप मे इतिहास विषयक प्रचुर सामग्री प्रकाश मे आई और राजरत्नाकर, राजप्रकाश आदि सस्कृत हिन्दी के कई ग्रथ उसी समय नये भी लिखे गये। इसी समय चन्द का कोई वशज अथवा उसकी जाति का कोइ दूसरा व्यक्ति रासो लिखकर सामने लाया प्रतीत होता है। यदि यह व्यक्ति रासो को अपने नाम से प्रचारित करता तो लोग उसे प्राचीन इतिहास के लिए अनुपयोगी समझते। अत च द रचित बतला कर उसने इस सारे झगडे का अन्त कर दिया।"[1]

पहले कहा जा चुका है कि मेनारिया जी का यह निष्कष तर्कहीन है कि रासो नामक जाली ग्रथ की रचना राजप्रशस्ति के लेखन काल मे हुई। किन्तु उनके कथन म इतना सत्य अवश्य ह कि राजसिह क समय म इतिहास विषयक खोज के सिलसिले म पृथ्वीराजरासो का पुनस्सकलन अवश्य हुआ होगा, तभी

१—पृथ्वीराजरासो का निर्माण काल—ले० श्री मोतीलाल मेनारिया, विशाल भारत, अक्टूबर १९४६, पृ० २३७।

तो राजप्रशस्ति मे उसे विस्तृत काव्य कहा गया है। उदयपुर की बृहत् रूपान्तर वाली स० १६६७ की प्रति से यह स्वत प्रमाणित है कि राजसिंह के पूर्व भी रासो का सकलन अवश्य हुआ था। उदयपुर वाली प्रतियो मे ये दो छन्द पुष्पिका के बाद मिलते है —

मिली पक्ज गन उदधि करद कागद कातरनी।
कोटि कवी कजलह, क्मल काटकते करनी॥
इहि तिथि सख्या गुनित कहे कक्का कवियॉने।
इह श्रम लेखनहार, भेद भेदै सोइ जाने॥
इन कष्ट ग्रथ पूरन करय जन बड या दुखना लहय।
पालिये जतन पुस्तक पवित्र लिखि लेखक विनती करय॥ १॥
गुन मनियन रस पोइ चन्द कवियन कहॅ दिद्धिय।
छन्द गुनी ते तुट्टि, मन्द कवि भिनभिन किद्धिय॥
देस देस बिष्षरिय मेल गुन पार न पावय।
उद्दम करि मेलवत आस बिन आलय आनय॥
चित्रकोट रान अमरेस न्रप हित श्रीमुख आयस दयौ।
गुन बीन बीन करुना उदधि लखि रासो उद्दिम कियौ॥ २॥

इन छन्दो के सबध मे प्रकाशित रासो की उपसहारिणी टिप्पणी म पड्या जी ने लिखा है कि 'किसी कक्का नाम पुरुष ने मेवाड राज्य के आधीन बडे श्री अमरसिंह जी (चित्रकोटरान अमरेस नृप) के आज्ञानुसार उक्त पुस्तक लिखी थी। इन महाराणा जी का राज्य समय कविराज जी के अनुसार स० १६५३ से १६७६ तक का है।'[1] मेनारिया जी ने इसे गलत माना है। उनके अनुसार 'ये छन्द उदयपुर वाली उस प्रति क हे जिसकी अन्तिम पुष्पिका मे लिखा है कि स० १७६० मे महाराणा अमरसिंह के राज्य काल मे भट्ट गोवर्धन के पुत्र रूपजी ने उस प्रति को लिखा था।'[2] अत उपर्युक्त दोनो छप्पय भी स० १७६० के ही लिखे हैं और पहले छप्पय का अर्थ करने पर यही तिथि निकलती है। श्री अगरचन्द नाहटा के अनुसार स० १८५९ तथा अन्य तिथियो की लिखी प्रतियो मे भी उपर्युक्त छन्द पाये जाते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि स० १७६० वाली प्रति के लेखक रूपजी ने उपर्युक्त छन्द नही लिखे बल्कि कक्का नामक किसी अन्य कवि के ही वे छन्द हैं, अथवा पहला

१—पृथ्वीराजरासो—प्रकाशक—नागरीप्रचारिणी सभा, काशी, प्रथम सस्करण—पृ० १७८।

२—पृथ्वीराजरासो का निर्माण काल—विशाल भारत, अक्टूबर, १९४६, पृ० २३७।

कक्का कवि का और दूसरा किसी अन्य कवि का है। इन दोनो ने अलग अलग रासो का सकलन करके एक एक छप्पय लिख दिया होगा। अत ये दोनो छप्पय स० १७६० के पूव लिखे गये, और परवता सभी प्रतियो म पुष्पिका के साथ वे छन्द भी लिख दिये गये हैं। बहुत सभव है कि ये दोनो छप्पय क्रमश अमरसिंह प्रथम और राजसिह के समय के लिखे हो। अस्तु, ये छन्द चाहे स० १६५३ मे लिखे गये हों, चाहे स० १७१८–३२ के बीच या स० १७६० मे, पर उनसे इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि च द का बहुमूल्य काव्य मन्द कवियो के हाथ में पडकर देश देश मे विकलाग होकर बिखरा हुआ था और स० १६५३ और स० १७६० के बीच कक्का या अन्य किसी कवि ने उद्यम कर के उन्हें इकट्ठा किया, उसकी कथा के अगो को जोडा और अप्रत्याशित रूप से रासो का उद्धार करके पुस्तकालय मे रखा। दूसरा छन्द स्पष्ट कहता है कि रासो चित्तौड के राणा अमरसिह के समय में सकलित हुआ। अब वे अमरसिह प्रथम थे या द्वितीय, इससे हमे विशेष मतलब नहीं है।

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि स० १६०० से स० १७६० तक का काल रासो के विकास की चौथी अवस्था का काल है जिसमे उसके सकलन, उद्धार और लेखन के लिए अलग अलग प्रयत्न हुए।

पॉचवीं अवस्था—सं० १७६० तक रासो के चारों रूपान्तर हो गये थे और अलग अलग उनकी प्रतियाँ भी लिखी जाती रहीं। इस काल के बाद रासो को एक लाख छन्दो का ग्रथ माना जाने लगा और अनेक लोगों ने उसे अधिकाधिक बढा कर महाभारत के समान बृहदाकार बनाने का प्रयत्न किया। किन्तु इस काल के प्रक्षेप मान्य नहीं हुए क्योकि तब तक रासो के बृहत् रूपान्तर की अनेक प्रतिलिपियाँ हो जाने के कारण उसका रूप स्थिर हो चुका था। महोबा समयो इसी काल की रचना प्रतीत होता है। इसलिए उसे प्रकाशित रासो मे भी बाद मे स्थान मिला है। शिक्षा का अधिक प्रचार हो जाने, पुरातत्त्व सबधी खोज का कार्य शुरू हो जाने और छपाई की सुविधाये मिल जाने के बाद विकसनशील महाकाव्यों का विकास रुक जाता है। पृथ्वी राजरासो के सबध मे भी यही बात हुई है। कनल टाड द्वारा रासो का गुणगान और आशिक अनुवाद करने के बाद पढे लिखे लोगों मे रासो के प्रति उत्सुकता उत्पन्न हुई, उसकी प्रतियाँ कराई गयी, प्रकाशन हुआ और इस तरह अब उसका विकास रुक गया है। किन्तु विकास की अन्तिम अवस्था मे पहुँच कर रासो महाकाव्य के पद का पूर्ण रूप से अधिकारी भी हो गया है।

रासो और महाभारत की तुलना

प्रकाशित रासो के उपसहार भाग के एक छन्द मे कवि ने यह दावा किया है कि रामायण महाभारत जैसे सात आठ ग्रथों मे रासो की भी गणना करनी चाहिये[1]। राजस्थान मे राजपूत राजवशो के बीच महाभारत के बाद रासो को ही स्थान मिलता रहा है, इस बात को देखते हुए उक्त दावा अतिशयोक्तिपूर्ण नही प्रतीत होता। इस सम्बन्ध मे श्री चि० वि० वैद्य ने लिखा है, "हमारे मत से कई महत्वपूर्ण बातो मे, विशेषतया मालिकता और प्राचीनता के सम्बन्ध म, रासो का महाभारत से बहुत कुछ साहश्य है। राजपूत लोग महाभारत के बाद रासो का ही आदर करते हैं। क्षत्रियो के लिए अत्यन्त प्रिय भीषण युद्ध के आधार पर महाभारत की रचना हुई है। अर्वाचीन क्षत्रियो ने स्वातन्त्र्य रक्षाथ पृथ्वीराज क नेतृत्व मे मुसलमानो के साथ जो तुमुल युद्ध किया, वही रासो का आधार है। इसमे स देह नहीं कि इस काव्य का परिवर्द्धन करने का प्रयत्न करते हुए जान बूझ कर महाभारत का अनुकरण किया गया है।"[2] अपने मत के समथन म श्री वैद्य ने अनेक प्रमाण दिये हैं जो विचारणीय हैं। यह बात बिलकुल सही है कि महाभारत और रासो मे कई बातो मे साहश्य है ओर कई स्थलो पर तो रासोकार ने महाभारत को आदर्श मान कर उसका उल्लेख भी किया गया है। प्रथम समयो के ८७वे छन्द मे कहा गया है कि जो पराशर के पुत्र व्यास के १८ पर्व और सवा लाख छ द वाले महाभारत के तत्त्व को जानने वाला होगा वही रासो का तत्त्वज्ञान समझ सकता है —

पारासर जो पुत्र विहासह । सतवती ग्रम्भ गुर भासह।
प्रब्ब अठार सवा लष लष्षै। तौ भारत गुर तत्त विसष्षै ॥

इसके बाद ही रासो के महत्व का उसी तरह वर्णन किया गया है जैसे महाभारत

१—रामाइन भारत्थ ग्रन्थ अठ दसै प्रमान ।
सुनत सिद्धि घर रिद्धि होय रासौ सनमान ॥
अठसठ तीरथ न्हाय गाय गुन गोविन्द गान।
ता सम वरि श्रोतान लिषत बाँचत विधि जान ॥
गगा सनान दिन प्रति लहय जे नरिन्द रासो सुनय।
डाकिनिय भूत बेताल छल रोग सोग दोषन कुनय ॥

पृथ्वीराजरासो—६८—२४२

२—हिन्दू भारत का उत्कर्ष, (हिन्दी अनुवाद)—ले० चिन्तामणि विनायक वैद्य—काशी, स० १९८६, पृ० २७—२८।

मे ग्रथ का माहात्म्य दिखाया गया है। फिर एक दोहे मे रासो के 'अधिकारी' का वर्णन करने के बाद निम्नलिखित दोहा आया है —

सत सहस नष सिष सरस सकल आदि मुनि दिष्ष।
घट बढ मत कोऊ पढौ मोहि दूसन न वसिष्ष॥

इस दोहे का अर्थ प० मथुरा प्रसाद दीक्षित ने यह किया है कि 'आद्योपान्त रस युक्त सात हजार रासो है, आरभ से मनोहर है। यदि यूनाधिक मात्रा म कोइ पढे तो मुझे दोष न देना।' अ य लोगो ने आदि मुनि का अर्थ यह लिखा है कि चन्द ने किसी गुरु की तरफ सकेत किया है। पर ये सभी अर्थ खींच-तान कर लाये प्रतीत होते हैं क्याकि प० मथुराप्रसाद दीक्षित वाली प्रति मे अनुष्टुप छ द के हिमाब से ९ हजार के कराब श्लोक होते हैं पर उन्होने मत का अर्थ मात्रा मान कर आर्या छ द के हिसाब से गणना करके सात हजार श्लोक माने हें। यह दोहा उन रूपान्तरो मे भी मिलता है जिनमे ३०-३५ हजार श्लोक हैं। अत मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि इस दोहे का दूसरा ही अथ है। इस दोहे के ठीक पहले जो छ द हैं वे महाभारत का प्रभाव स्पष्ट रूप से व्यक्त करते हैं —

आसा महीव कव्वी नव नव कित्तीय सग्रह ग्रथ।
सागर सरिस तरगी बोहथ्थ उक्तिय चलय॥ १-७९
काव्य समुद्र कवि चन्द कृत मुगति समप्पन ग्यान।
राजनीति बोहिथ सुफल पार उतारन यान॥ १-८०
उक्ति धर्म विशालस्य राजनीति नव रस।
षट्भाषा पुराण च कुरान कथित मया॥ १-८३
तर्क वितर्क उतर्क सु जतिय। राज सभा सुभ भासन जुत्तिय।
कवि आदर सादर बुध चाहो। पाढ करि गुन रासो निर्वाहो॥ १-८५

इन छ दा मे रासो को पृथ्वीराज की कीत का सग्रह ग्रथ कहा गया है अर्थात् वह महाभारत की तरह सहिता है। चन्द के काव्य को समुद्र कहा गया है जिसे राजनीति के ज्ञान रूपी जहाज से पार किया जा सकता है अर्थात् महाभारत की तरह रासो भी राजनीतिप्रधान (इतिहास) ग्रथ है, साथ ही उसमे उक्ति, विशाल धर्म, षट्भाषाओ का ज्ञान, पुराण ओर इस्लाम धर्म की बातें भी हैं। इसका तात्पर्य यह कि उसमे सब कुछ है जैसे महाभारत मे सब कुछ है और उसमे जो नहीं है वह सारे भारत मे नही है (यन्न भारते तन्न भारते)। रासो महाभारत की तरह ही राजसभा मे आदर दिलाने वाला है और सवा लाख श्लोक वाले महाभारत को जानने वाला ही इसे समझ सकता

हैं। रासो की उपमा रासो स्वय है और देव नर नाग इसकी प्रशसा करते हैं क्योकि इसमे भूत भविष्यत् यानी त्रिकाल की बाते हैं, जो इसे अच्छे गुरु से पढ़ता है उसके पास कुमति नही आती है।

इन छन्दो के बाद उसी प्रसग मे सहज भाव से 'सत सहस' वाला दोहा कहा गया है। अत इसम 'सत सहस' का अथ शतसाहस्री सहिता—महाभारत—के समान, एक लाख छ द है न कि सात हजार। आदि मुनि से कवि का सकेत व्यास या वाल्मीकि की ओर है। पडित मथुराप्रसाद दीक्षित वाली प्रति मे 'सत्त सहस' 'आदि शुभ' 'मत्तह' पाठान्तर है जिससे कोई स्पष्ट अर्थ नहीं निकलता। अत सभी छ द परवता (सोलहवी सत्रहवी शताब्दी के जोडे हुए) प्रतीत होते हैं जब कि जान बूझ कर रासो को महाभारत की तरह विशाल धार्मिक और राजनीतिक ग्रथ—शत साहस्री सहिता—बनाने के प्रयत्न हो रहे थे।

श्री चि० वि० वैद्य ने महाभारत और रासो मे साम्य के कुछ उदाहरण दिये हैं[1]। वस्तुत ये बातें थोडे बहुत अन्तर के साथ सभी विकसनशील महा काव्यो मे पाइ जाती हैं। वे उदाहरण सक्षेप में नीचे दिये जा रहे हैं।

१—महाभारत की तरह रासो भी एक हाथ की रचना नहीं है। वर्तमान महाभारत जिस तरह पहली बार वैशम्पायन द्वारा और दूसरी बार सौति उग्रश्रवा द्वारा परिवर्द्धित होकर वर्तमान रूप म आया उसी तरह रासो मे कम से कम दो बार परिवर्द्धन हुआ है, पहली बार चन्द के पुत्र जल्हन ने और दूसरी बार सोलहवीं या सत्रहवीं शताब्दी मे किन्हीं अज्ञात कविया ने उसमे अपनी रचना मिला दी है। वैशम्पायन ने जिस प्रकार जनमेजय को भारत सुनाया, उसी तरह चन्द भी अपना काव्य अपनी स्त्री तथा पुत्र को सुना कर गजनी गया और सौति ने जिस तरह शौनक आदि ऋषियो को महाभारत सुनाया था उसी तरह सोलहवीं सत्रहवीं शताब्दी मे चारण भाट आदि कवि राजाओं को रासो सुनाते थे जेसे गग भाट ने अकबर को सुनाया था।

(२) विकसनशील महाकाव्यों के कवि अधिकतर अपने काव्य मे पात्र के रूप में दिखाई पडते हैं। इलियड, रामायण, महाभारत आदि के कवि अपने महाकाव्यों के पात्र भी हैं। महाभारत का कवि अलौकिक दिव्य शक्तियो से युक्त दिखाया गया है। अवश्य ही व्यास ने अपने बारे म इस तरह की बातें नहीं लिखी होंगी। वैशम्पायन या उग्रश्रवा ने उनको अलौकिक शक्तियों से युक्त

१—हिन्दू भारत का उत्कर्ष (हिन्दी अनुवाद)—ले० चिन्तामणि विनायक वैद्य—काशी स० १९८६, पृ० २७ २८।

बनाकर उन्हें महाभारत मे अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान दे दिया है। उसी तरह रासो मे चन्द को भी अलौकिक शक्तियो से युक्त दिखाया गया है और उसके महाकाव्य मे पृथ्वीराज के बाद उसी का सबसे अधिक महत्व का स्थान है। उसे इस प्रकार की शक्ति से युक्त तथा महत्वपूर्ण बनाने वाले जल्हन और अन्य परवर्ती क्षेपककार हैं।

(३) महाभारत मे १८ पर्व हैं, प्रत्येक पर्व मे अनेक आख्यान हैं और कुल मिलाकर सवा लाख छन्द हैं जिसमे परिशिष्ट पर्व हरिवंश भी समिलित हैं। रासो मे ६९ समय हैं क्योकि उसम समय या प्रस्तावो के भीतर आख्यान नहीं हैं। पहले समय का नाम प्रकाशित रासो मे आदि पव दिया है जो महाभारत का अनुकरण है। बृहत् रूपान्तर वाले प्रकाशित रासो मे कुल ३६ हजार के करीब श्लोक हैं यद्यपि प्रवाद यही रहा है कि उसमे १ लाख के करीब छन्द हैं। इसका कारण यह है कि भारतवासियो की प्राचीन समय से यही धारणा रही है कि जो ग्रन्थ एक लाख छन्दो का हो वही महाग्रन्थ कहलाने योग्य होता है। अत रासो को 'शत सहस्री सहिता' बनाने की महत्वाकाक्षा 'सत सहस' वाले दोहे मे प्रारम्भ मे ही प्रकट की गयी है।

(४) सभी विकसनशील महाकाव्यो में आधिकारिक कथा के अतिरिक्त प्रासगिक या उपकथाओं की अधिकता होती है। महाभारत मे कुछ उपकथाएँ तो बिलकुल स्वतन्त्र प्रतीत होती हैं जिन्हे 'महाकाव्य के भीतर महा काव्य' कहा जाता है। उसी तरह रासो मे अनेक उपकथाएँ हैं जिनके कारण ग्रथ का बहुत विस्तार हो गया है। इन उपकथाओं में कुछ तो बिल्कुल स्वतन्त्र जैसी हैं जैसे होली और दीपावली की कथा, हुसेन कथा आदि।

(५) विकसनशील महाकाव्य अधिकतर वीर काव्य होते हैं और उनमे युद्धों का बाहुल्य होता है। इलियड, बियोवूल्फ और महाभारत मे यह बात देखी जाती है। किन्तु महाभारत मे भारतीयुद्ध के अतिरिक्त भी अनेकानेक युद्धो का वर्णन हुआ है। उसी तरह रासो भी प्रधानतया युद्धों का काव्य है। उसमे प्रधान तो जयचद और शहाबुद्दीन के साथ पृथ्वीराज के दो युद्ध ही हैं पर इनके अतिरिक्त भी पचासों युद्धों का सविस्तर और हृदयस्पर्शी वर्णन हुआ है।

(६) रासो मे महाभारत के समान ही शास्त्रीय ज्ञान भाण्डार, वंशोत्पत्ति, राजनीतिशास्त्र आदि का वर्णन बहुत अधिक हुआ है। इस सम्बन्ध मे आगे विशेष रूप से विचार किया जायगा।

(७) महाभारत मे जिस तरह स्थान स्थान पर कूट श्लोक या पहेली जैसे वाक्य मिल्ते हैं उसी तरह रासो मे भी कूट कवितायें रचने का प्रयत्न किया गया है। श्री वैद्य के शब्दों मे रासो मे 'महाभारत की तरह कूट कवितायें सख्या सूचक अको पर ही रची गयी हैं। उदाहरणार्थ इस काव्य मे समय सूचक सब उल्लेख आनन्द विक्रम शक के हैं। यह शक, सम्भव है, उस समय प्रचार मे था अथवा कवि ने ही यह प्रचलित किया था।"[1]

(८) महाभारत मे जिस तरह उदयन के सम्बन्ध मे भविष्य कथन बाद का जोडा हुआ है उसी तरह रासो म भी चित्तौड पर मुसल्मानो के अधिकार होने की भविष्यवाणा इस प्रकार की गयी है —

सोरेसे सत्तोत्तरे विक्रम साक बरीत।
दिल्लीश्वर चित्तोडये लेवेंगे बलजीत॥

यह भविष्य कथन सत्रहवी शताब्दी मे किसी कवि का जोडा प्रतीत होता है।

(९) जिस तरह महाभारत मे कहीं कहीं बीच बीच मे गद्य भी मिल जाता है उसी तरह रासो मे भी कहीं कहीं बचनिकाएँ मिलती हैं जो तुकान्त गद्य हैं। लोकगाथाओ मे पद्यों के बीच मे कथा गद्य मे भी कही जाती है। उसी प्रथा का अवशेष साहित्यिक विकसनशील महाकाव्यों मे पद्यो के बीच के ये गद्याश हैं। महाभारत म पुराणों की शैली मे बोलनेवाले पात्रो का नाम पद्य से अलग लिखा मिलता है। रासो की प्रकाशित प्रतियो मे पद्यों के ऊपर बोलने वाले का नाम और उनके कथन का साराश दे दिया गया है जो महाभारत की उक्त पद्धति का विकृत रूप मालूम पडता है।

(१०) महाभारत को जिस तरह इतिहास, पुराण और काव्य तीनो माना जाता है, क्याकि उसमे तीनो की शैलियो का समिश्रण हुआ है, उसी तरह रासो में भी पौराणिक, ऐतिहासिक और शास्त्रीय तीनो ही काव्य शैलियों का मिश्रण हुआ है। इसीसे रासो इतिहास और महाकाव्य दोनो ही माना जाता रहा है, साथ ही उसमे पौराणिक बातो की भी अधिकता है।

सामती वीरयुग का प्रतिनिधि महाकाव्य—ऊपर पृथ्वीराजरासो की महाभारत से जो समानता दिखाई गयी है उसका यह तात्पर्य नही है कि रासो

१ हिन्दू भारत का उत्कर्ष (हिन्दी अनुवाद)—ले० चिन्तामणि विनायक वैद्य—काशी स० १९८६, पृ० २७–२८

का महत्व महाभारत के बराबर का है। महाभारत भारतीय सस्कृति का प्रतीक है। वस्तुत वह एक ग्रथ नहीं बल्कि सहस्रो वर्षो का समग्र साहित्य है। अत यह तो स्पष्ट है कि रासो मे वह व्यापकता और विराटता नहीं हो सकती जो महाभारत मे है। किन्तु इन दोनों महाकाव्यो म जो भी सादृश्य और वैभिन्न दिखाई पडता है वह उन काव्यों के विकास के युगो मे साम्य या वैषम्य के कारण है। पहले अध्याय में कहा जा चुका है कि भारत मे वीरयुग पहली बार वैदिक काल के बाद आया था जिसमे महाभारत और रामायण जैसे विकसनशील महाकाव्य विकसित हुए। दूसरी बार वीरयुग दसवी शताब्दी के बाद मुसल्मानी आक्रमणों के बाद आया जिसमे पृथ्वीराजरासो और आल्हखण्ड जैसे विकसनशील महाकाव्य विकसित हुए। यह दूसरी बार वाला वीरयुग सामन्ती वीरयुग था जिसके बारे म पिछले अध्याय मे विचार किया जा चुका है और प्रारभिक वीरयुग से उसकी तुलना की जा चुकी है। महाभारत और पृथ्वीराजरासो दोनो ही अपने अपने युग का पूर्ण प्रतिनिधित्व करते हैं। महाभारत मे प्रधान प्रेरणा शक्ति अदम्य और निर्भय वीरता की प्रवृत्ति है और धार्मिक पौराणिक ऊहापोह उसम बाद का मिलाया हुआ है। किन्तु रासो म सामन्ती वीरयुग के अनुरूप वीरता और श्रृङ्गार दोनों ही प्रवृत्तियाँ प्रेरणा शक्ति के रूप मे दिखाई पडती हैं। यद्यपि धार्मिकता की प्रवृत्ति भी साम ता वीरयुग मे पर्याप्त बलवती थी किन्तु रासो मे वह जिस मात्रा मे दिखलाई पडती है वह निश्चित रूप से बाद की जोडी हुई है। इस तरह परिवर्तित परिस्थितियो के अनुरूप रासो मे वीरता और श्रृङ्गारिकता परस्पर पूरक रूप मे दिखलाई पडती हैं जब कि महाभारत मे श्रृगारिकता और विलासिता के लिए कोई स्थान नहीं है। केन्द्रीय राज्यसत्ता के अभाव मे इस युग मे छोटे छोटे राजा और साम त व्यक्तिगत स्वार्थो के लिए लडा करते थे। यह प्रवृत्ति रासो मे पूर्ण रूप से प्रतिबिम्बित हुई है। यद्यपि महाभारत और रासो दोनो ही मे वैयक्तिक वीरता के प्रदर्शन मे वीरता की भावना निहित है, किन्तु महाभारत के वीर आत्मसमान की रक्षा, यश और ख्याति तथा परोपकार के लिए अपनी शारीरिक शक्ति और शौर्य का उपयोग करते और उसके लिये प्रत्येक क्षण मरने मारने के लिए तैयार रहते हैं। पर रासो के राजा और सामन्त व्यक्तिगत स्वार्थ, स्वामिभक्ति, कन्या हरण, लूट और राज्यविस्तार के लिए युद्ध करते हैं। रासो के पात्रो मे भी स्वाभिमान की मात्रा कम नहीं है पर कहीं कहीं वह राजपूत युग के अनुरूप बुद्धिहीनतापूर्ण और अनावश्यक प्रतीत होता है, वह स्वाभिमान न रह कर झूठी शान का रूप धारण कर लेता है। महाभारत मे प्रारभिक वीरयुग के अनुरूप वीरों की प्रवृत्ति अपने शत्रुओं के प्रति

अत्यधिक क्रूरता प्रदर्शन करने या सीधे बध कर देने को दिखाई पडती है, क्षमा के लिए वहाँ स्थान नही है। किन्तु रासो में उतनी क्रूरता नहीं दिखाई पडती। क्रूरता की जो भी बाते होती हैं, युद्ध भूमि मे ही दिखाई पडती हे। अन्य समय क्षमा दान देना या शरणागत के लिए दूसरो से शत्रुता मोल लेना इस युग मे वीरता की प्रवृत्ति का ही एक अग था जो रासो म आद्यन्त दिखाई पडता है। इस प्रकार रासो में वारयुग की सभी प्रवृत्तियो की अभिव्यक्ति हुई है। अत वह अपने युग जीवन का पूर्ण प्रतिनिधित्व करता है।

पृथ्वीराजरासो का महाकाव्यत्व और महत्व

१—महदुद्देश्य, महत्प्रेरणा और महती काव्यप्रतिभा

आलकारिको द्वारा निर्दिष्ट लक्षणो के अनुसार तो ऐसे अनगिनत प्रबन्ध काव्य महाकाव्य की कोटि मे आ सकते हैं जिनका न कोई महान उद्देश्य होता है और न जिनमे महती काव्यप्रतिभा और अदम्य प्रेरणाशक्ति के ही दर्शन होते हैं। कि तु ऐसे सभी काव्य न तो महाकाव्य होते हैं और न युगो की प्रवहमान धारा म वे महाकाव्य रूप में विशाल शिलाखण्ड की तरह अपना अडिग स्थान ही बना पाते हैं। हिन्दी साहित्य के आदिकाल मे निमित अथवा विकसित काव्यों म पृथ्वीराजरासो का स्थान इसी कारण अन्यतम है कि वह आज भी काल धारा में अडिग चट्टान की तरह खडा है अर्थात् उसमे महाकाव्य के स्थायी तत्त्व वर्तमान हैं। इन स्थायी तत्त्वो मे सर्वप्रमुख स्थान महान उद्देश्य और महती प्रेरणा का है। यहाँ यही देखना है कि रासो का उद्देश्य और उसकी मूल प्रेरणा क्या है और उसम कवि की प्रतिभा का क्या रूप दिखाइ पडता है।

पिछले अध्याय मे कहा जा चुका है कि सामन्ती वीरयुग की प्रमुख प्रेरणा शक्ति वीरता की थी और शृगार तथा धम की भावनाये उसके पूरक के रूप मे थीं। साम ती वीरयुग का पूर्ण प्रतिनिधित्व करने वाला काव्य होने के कारण रासो मे वीरता की भावना की प्रमुखता है और शृगार और धर्म की भावनाये उसकी सहायिका के रूप मे हैं। रासो हिन्दी का वास्तविक वीरकाव्य है क्योंकि सामन्ती वीरयुग उसमे अपने सपूर्ण गुणो और दुर्गुणो के साथ अभिव्यक्त हुआ है। इसमें तो सदेह नही है कि मूल रासो प्रशस्तिमूलक काव्य रहा होगा जिसमे चन्द वरदाई ने अपने आश्रयदाता पृथ्वीराज के कीर्तिकलाप का वर्णन किया होगा, किन्तु काला तर मे विकसित हो जाने के बाद रासो का जो वर्तमान रूप दिखाई पडता है उसका उद्देश्य पृथ्वीराज चौहान का यश वर्णन करना मात्र

नहीं है। वर्तमान रासो एक जातीय महाकाव्य है जिसमे बारहवी तेरहवीं शताब्दी मे भारतीयो के विदेशी आक्रमणकारियो से अनवरत सघष और अन्तिम युद्ध मे उनकी पराजय की कथा अत्यत ओजस्वी ढग से कही गयी है। इस काव्य की प्रमुख प्रेरणा शक्ति प्रचण्ड वीरता की प्रवृत्ति है जो उसम आदि से अन्त तक प्राण शक्ति के रूप मे व्याप्त है। रासो मे वीर रस का पूर्ण परिपाक हुआ है किन्तु वीर रस का आस्वाद कराना ही उसका उद्देश्य नही है और न केवल इसी गुण के कारण कोई काव्य महाकाव्य माना जा सकता है। रासो का उद्देश्य रस की पूण निष्पत्ति कराना अथवा इतिहास की घटनाओ का विवरण उपस्थित करना नहीं है। वस्तुत उसका उद्देश्य इन सबसे बहुत ऊचा और महान है। वह उद्देश्य है जातीय जीवन मे प्राण सचार करना, उसमे स्वातत्र्य और बलिदान का मत्र फूँकना और बाहुबल पर आधारित जावन मूल्यो का स्थापना करना। रासो का नायक यद्यपि अन्तिम युद्ध मे विजयी नही होता, और पृथ्वीराज, च द तथा गोरी की मृत्यु के बाद ६८वे समय म दिल्ली, अजमेर और कान्यकुब्ज पर अथात् प्राय समूचे उत्तरी भारत पर विदेशी और विधमा आक्रमणकारिया का अधिकार हो जाता है किन्तु इससे इस महाकाव्य के उद्देश्य पर आँच नहीं आती और न उससे निराशा और जीवन के प्रति अनास्था की भावना का ही उदय होता है। इससे स्पष्ट है कि पृथ्वीराज और शहाबुद्दीन गोरी के युद्ध को निमित्त बनाकर पृथ्वीराजरासो मे भारतीय स्वातत्र्य का ही सिंहनाद किया गया है। वस्तुत स्वतन्त्रता की बलिवेदी पर हँसते हँसते बलि हो जाने और देश जाति तथा अपने व्यक्तित्व के गौरव और प्रतिष्ठा के लिए प्रतिक्षण मरने-मिटने के लिए तैयार रहने का अमर सदेश देना ही इस महा काव्य का महत् उद्देश्य है। यह सदेश रासो के समन्वित प्रभाव मे तो निहित है ही, उसके अधिकाश छन्दों मे भी उसकी प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति हुई है। इस तरह रासो का उद्देश्य महान है और उसकी महती प्रेरणा शक्ति, जो उसमे आद्यन्त व्याप्त है, उस उद्देश्य की सिद्धि मे, उसे सफल बनाने म, प्रारम्भ से अन्त तक योग देती हुई दिखाई पडती है। किसी महाकाव्य मे महत् उद्देश्य और महती प्रेरणा शक्ति की प्रतिष्ठा तभी होती है जब उसके कवि की चेतना विराट् और काव्य प्रतिभा सशक्त होती है। वर्तमान रासो का कवि कोई एक व्यक्ति नही, बल्कि वह समूचा युग समाज है जिसके कधो पर भारतीय स्वातत्र्य की रक्षा का उत्तरदायित्व सैकडो वर्षों तक रहा, जो भारतीय सस्कृति और हिन्दू धम का प्रहरी था। दूसरे शब्दो मे रासो का विकास राजस्थान की वीर भूमि मे वीर राजपूतो की जातीय परम्परा के बीच हुआ है। अत वर्तमान

रामो को दो चार या दस बीस कवियो और क्षेपककारों की कृति न मानकर उस वीर भूमि और जातीय परम्परा की कृति मानना चाहिये जिसकी विराट् चेतना के दीप स्तम्भ राणाप्रताप, अमरसिह राठौर, गुरुगोविन्द सिह, शिवाजी आद स्वतन्त्रता के बलिदानी वीर थे। इस प्रकार पृथ्वीराजरासो युग व्यापी विराट् चेतना और स्वातन्त्र्य प्रेम की अटूट परम्परा की देन है, न कि केवल पृथ्वीराज के दरबारी कवि चन्द वरदाई की कृति। इस दृष्टि से देखने पर रासो को 'भट्ट भणन्त' कह कर या उसे जाली सिद्ध करके उसकी हँसी उडाना अनुचित ही नही, राष्ट्रीयता और जातीय परम्परा का अपमान करना है। रासो इतिहास नहीं, काव्य है जो सामन्ती वीरयुग ही नहीं, परवता कुछ शताब्दियो की सामाजिक भाव भूमि और अदम्य जीवनावस्था का यथार्थ प्रतिबिम्ब उपस्थित करता है। जिन महाकाव्यो का उद्देश्य महान नही होता ओर जिनमे कोई अदम्य प्रेरणा शक्ति नहीं होती, वे अनेक युगो की अवधि को अपनी सीमा मे समेट कर उनका प्रतिनिधित्व नही कर सकते। पहले कहा जा चुका है कि राजस्थान मे महाभारत के बाद रासो को ही महत्त्व मिलता रहा है। इससे यही सिद्ध होता है कि इस महाकाव्य का उद्देश्य महान है, उसकी प्रेरणा शक्ति महती है और उसके कवि की काव्यप्रतिभा भी विराट् चेतना वाली है।

२—गुरुत्व, गाम्भीर्य और महत्त्व

रासो विशालकाय काव्य है किन्तु उसके आकार की विशालता उसके महाकाव्यत्व का कारण नही है। उसमे गुरुत्व गाम्भार्य और महत्त्व के वे लक्षण हैं जिनके कारण ही कोई काव्य महाका य की सज्ञा पाने का अधिकारी हाता है। विकसनशील महाकाव्य होने के कारण उसमें रघुवश, किरातार्जुनीय और शिशुपाल वध आदि शास्त्रीय महाकाव्यों जैसा अर्थ गोरव और विचारो भावों का गाम्भीर्य भले ही न हो किन्तु प्राचीन ज्ञान भाण्डार सम्बन्धी उन विषयों की, जिनका उल्लेख पहले किया जा चुका है, योजना हुइ है जिमसे उसमे पयाप्त गुरुत्व और गाम्भीर्य दिखलायी पडता है। ये गुण किसी का य मे ज्ञान विज्ञान के विषयों की शुष्क व्यारया ओर विवेचना द्वारा नहीं उत्पन्न होते, बल्कि वे उस विशाल चित्रपट (कनवास) की अपेक्षा रखते हैं जिम पर महाकाव्य के व्यापक दृश्य चित्र अकित हाते हैं। गम्भीर विचारो और ज्ञान विज्ञान की बातों को पृष्ठभूमि बना कर उस चित्रपट पर युग-जावन का जा विशाल चित्र अकित किया जाता है उमी मे गुरुत्व, गाम्भीर्य और महत्व की प्रतिष्ठा होती है। रासो म युग जीवन के विविध दृश्यो का विशाल

चित्र अकित हुआ है। राजनीति, नीतिशास्त्र, धर्मशास्त्र, योग दर्शन, अध्यात्म विद्या आदि के वर्णनात्मक अश उसकी पृष्ठभूमि या पार्श्वदृश्य के रूप मे दिखाई पडते हैं और उनके कारण उसमे गुरुत्व आर गाम्भीर्य का समावेश पर्याप्त मात्रा मे हुआ है। यह सही है कि यह महाकाव्य प्रधानतया वर्णनात्मक है और उसमे बहुत से अश ऐसे हैं जिनमे न तो विचारोत्तेजना की सामग्री है न गभीर भावनाओं की अभिव्यक्ति, किन्तु उसमे अनेक स्थल ऐसे हैं जहाँ जीवन के गभीर पक्षों और आभ्यन्तर तथ्यो का उद्घाटन हुआ है। शास्त्रीय महाकाव्यो के यत्नसाध्य गाम्भीय और गुरुत्व मे कृत्रिमता होती है, पर रासो मे जो गाम्भीर्य है वह अलकृत और रीतिबिद्ध सौन्दर्य की अभ्यस्त आँखों को नहीं दिखलाइ पड सकता क्योंकि वह सहज और अप्रत्यक्ष है।

पृथ्वीराजरासो मे कथानक की चुस्ती अथवा आदर्श चरित्रों की योजना भी नही है। इस कारण उसमे अलकृत महाकाव्यो जैसी उत्कृष्टता और चमक दमक का अभाव है, फिर भी उसमे अकुतोभय वीरत्व, अपरिमित उत्साह और अदम्य साहस के नानाविध कार्यों की आदि से अन्त तक योजना हुई है और क्रियाशील, सघर्षशील और जीवनानुरक्त मानव को उसमे इतना महत्व दिया गया है कि गुरुत्व गाम्भीर्य और महानता की प्रतिष्ठा स्वत हो गयी है। यह मानी हुई बात है कि रासो मे निहित गाम्भीर्य और गुरुत्व की माप आधुनिक जीवन मूल्यों के अनुसार नहीं हो सकती, उसका मापदण्ड तो सामन्ती वीर-युग के जीवन मूल्य ही हो सकते हैं। विपत्तियों के बीच साहस और निर्भयता का प्रदर्शन करने वाला वीर पुरुष ही उस काल के जीवन मूल्य के अनुसार महान या योग्यतम व्यक्ति माना जाता था, इसके अतिरिक्त वहाँ नैतिकता का अन्य कोई मानदण्ड नहीं था। इस दृष्टि से पृथ्वीराज महान नायक—उस युग का योग्यतम व्यक्ति था। उसकी उस योग्यता और महानता के प्रमाण रासो में स्थान स्थान पर मिलते है। इस प्रकार तत्कालीन जीवन मूल्यो की दृष्टि से देखने पर पृथ्वीराज का व्यक्तित्व एक विशाल स्तम्भ या पर्वत शिखर के समान अडिग तथा अकेला दिखाई पडता है। यह ऊँचाई और विशालता ही पृथ्वीराजरासो के गाम्भीर्य और गुरुत्व का कारण है।

३—महत्कार्य और समग्र युग जीवन का चित्रण

महाकाव्य म किसी विशेष युग के समग्र सामाजिक जीवन का चित्रण किसी एक व्यक्ति या अनेक व्यक्तियो की जीवन कथा के माध्यम से किया जाता है। किंतु उसकी कथा का कोई चरम बिन्दु अवश्य होता है जो उस महाकाव्य का महत्कार्य कहलाता है। रासो म पृथ्वीराज के ज म से लेकर मृत्यु तक की

जीवन कथा तो है ही, साथ ही उसमे उसके वंश की उत्पत्ति तथा पूर्वजो की जीवन कथा और अन्त मे उसके पुत्र के मुसलमानो से युद्ध और दिल्ली अजमेर पर मुसल्मानो के अधिकार की कथा भी दी गयी है। इस तरह उसके कथानक का काल बहुत लम्बा और कार्य क्षेत्र बहुत व्यापक है। बारहवीं तेरहवी शताब्दी मे उत्तरी भारत की जो राजनीतिक और सामाजिक परिस्थिति थी उसका स्पष्ट चित्रण रासो के नाना युद्धो, विवाहो और दौत्य, मत्रणा, मृगया यात्रा आदि कार्यो के रूप म हुआ है। उसमे अनेकानेक उपकथाओ की योजना हुई है किंतु मुख्य कथा पृथ्वीराज के जीवन की ह जो बडे विस्तार और व्यौरे से कही गयी है। इस प्रधान कथा का चरम बिन्दु पृथ्वीराज और शहाबुद्दीन का अतिम युद्ध है। यह युद्ध रासो ने अन्य युद्धो से सर्वथा भिन्न भूमिका मे रखा गया है। इस अतिम युद्ध के पूर्व पृथ्वीराज विलासी हो गया था, संयोगिता के महल से वह निकलता ही नही था। दिल्ली की प्रजा को कष्ट होने लागा, उसने पुरोहित गुरुराम से शिकायत की। इसी बीच शहाबुद्दीन के हमले की तैयारी की सूचना मिला। रावल समर सिंह दिल्ली आकर निगमबोध बाग मे ठहरे, किन्तु पृथ्वीराज को उनके आने को सूचना तक नही मिली। इस प्रकार पृथ्वी राज की आगामी पराजय की भूमिका यहीं शुरू हो जाती है। फिर जब चन्द वरदाई के कौशल से पृथ्वीराज महल से बाहर आता और समर सिह से मिलता है तो उसके बाद युद्ध संबधी मत्रणाये होती हैं, युद्ध की तैयारी होती है, सामतों को अलग अलग कार्य भार दिया जाता है, रण यात्रा और व्यूह रचना होती है। इस प्रकार रासो मे इस अन्तिम युद्ध की बहुत लम्बी चौडी भूमिका दी गयी है और उसका वर्णन कवि ने बहुत जम कर किया है। अत कवि ने स्वय इस युद्ध को महाकाव्य का चरम बिन्दु बनाना चाहा है। इस युद्ध मे पृथ्वीराज की पराजय हुई और वह बन्दी बना लिया गया। इतिहासकारों का तो कहना है कि पृथ्वीराज इसी युद्ध मे मारा गया किन्तु रासो का कवि पृथ्वी राज की पराजय और मृत्यु दोनों एक साथ रख कर महाकाव्य को दुखान्त नहीं बनाना चाहता था। अत पृथ्वीराज बन्दी बनाकर गजनी ले जाया जाता है, जहाँ चन्द वरदाई के संकेत से वह गोरी को मार कर तब मारता है। इस प्रकार रासो की कथा का अन्त एक प्रकार से यही हो जाता है किन्तु दिल्ली और कन्नौज पर मुसल्मानी अधिकार दिखाये बिना इतिहास की दृष्टि से कथा अधूरी रह जाती। अत रैनसिह और जयचन्द से मुसलमानो के युद्ध और उनकीमृत्यु की कथा भी आगे जोड दी गयी है। पाश्चात्य नाट्यशास्त्र के अनुसार कार्य की आवस्थाओं मे अन्तिम दो—चरम विन्दु (क्लाइमेक्स) और

दु खपूर्ण अ त या नायक का नाश (कैटास्ट्राफी) पृ वीराजरासो मे बहुत स्पष्ट रूप म दिखाई पडती है। भारतीय नाट्यशास्त्र की दृष्टि से कथानक म कार्य की पाँच अवस्थाओ म अतिम फलागम है जिसे अधिकारा (नायक) का अभ्युदय या विजय कहा जाता है। भारतीय महाकाव्य मे फलागम या महत्काय का ही महत्व है, उसम चरमविन्दु और फलागम एक म मिले होत हैं। उदाहरण के लिए रामायण म राम रावण युद्ध पाश्चात्य दृष्टि से विरोध का चरमविन्दु है पर भारतीय दृष्टि से रावण वध फलागम है। ये दोना घटनाएँ एक मे मिली हैं क्योकि राम रावण युद्ध की ही अन्तिम परिणति रावण वध और सीता की प्राप्ति है जो रामायण का फलागम है। इस प्रकार राम रावण युद्ध और रावण वध ही रामायण का महत्कार्य है। भारतीय नाट्यशास्त्र मे पॉच अर्थ प्रकृतियों म अन्तिम 'कार्य' है जिसका अर्थ है कि कथानक का जो प्रधान साध्य है और जिसकी सिद्धि के लिए कथा क विविध अगो, वर्णनों, उपकथाओ आदि का आयोजना होता है, वही अ तिम फल, कार्य या महत्कार्य होता है। इस दृष्टि से देखने पर पृथ्वीराजरासो म महत्कार्य अपने सपूर्ण रूप मे नही दिखाई पडता। यदि अन्तिम युद्ध मे पृथ्वीराज की विजय होती ओर शहाबुद्दीन मारा जाता तब तो उसमे महत्काय माना जाता किन्तु यहाँ तो पृथ्वीराज स्वय पराजित होकर बन्दी बना लिया जाता है और उसकी आँखे निकाल ली जाती हैं। भारतीय साहित्यशास्त्र के अनुसार नायक की पराजय और उसकी दुर्दशा दिखाना उचित नहीं है। अत रासो की कथा कुछ और बढाई गइ है और पृथ्वीराज द्वारा शहाबुद्दीन गोरी का वध कराया गया है। यहाँ रासो के महत्कार्य या फलागम का कुछ आभास मिलता है किन्तु दिल्ली और कन्नौज की पराजय दिखा कर कथा को फिर दुखान्त बना दिया गया है। अस्तु, पृथ्वीराजरासो की परीक्षा भारतीय साहित्यशास्त्र की दृष्टि से करने पर कुछ फल हाथ नहीं लगेगा। वस्तुत पाश्चात्य दु खान्त नाटको या महाकाव्यो की भाँति उसकी भी परीक्षा होनी चाहिये। इस प्रकार हम देखते हैं कि अतिम लडाई तो रासो की कथा का चरमविन्दु है और गोरी, च द पृथ्वीराज, जयचन्द, रैनसिह आदि की मृत्यु तथा उत्तरी भारत पर मुसलमानो का अधिकार उसका दुखपूर्ण अन्त है। ये घटनायें इतिहास के काल और स्थान क्रम की दृष्टि से भले ही ठीक न पडे किन्तु फिर भी वे भावरूप मे सत्य हैं। भारतीय इतिहास की यह बहुत बडी घटना या दुर्घटना है। रासो की समाप्ति इसी महती घटना के वर्णन से हुई है। मेरे विचार से महाकाव्य मे महत्कार्य का अर्थ कोई ऐसी घटना है जो किसी युग की या किसी महच्चरित्र के जीवन की सबसे महत्वपूर्ण घटना हो और

जो अपने युग को ही नही, आने वाली अनेक शताब्दियो को भी अत्यधिक प्रभावित करे। पृथ्वीराज और शहाबुद्दीन का अन्तिम युद्ध और उत्तरी भारत पर मुसल्मानो का अधिकार ऐसी ही महत्वपूर्ण घटना है जिसे इतिहास कभी भुला नही सकता और जो महाकाव्य का विषय बनने के लिए सर्वथा उपयुक्त है। अत यह निर्विवाद है कि रासो म महाकाव्योचित महत्काय की—चाहे महत्कार्य का जो भी अर्थ लिया जाय—उत्कृष्ट योजना हुई है।

इतनी महत्वपूर्ण घटना को चरमविन्दु बनाकर प्रबन्ध का ढॉचा निर्मित करने क लिए जिस व्यापक कार्य क्षेत्र और लम्बे कार्य काल की आवश्यकता है, वह रासो मे वर्तमान है। उसम पृथ्वीराज के चाचा बीसलदेव की जीवन कथा बडे विस्तार से दी गयी है, साथ ही पृथ्वीराज के अनेक समकालीन राजाओ और सामन्तो की जीवन कथा भी आंशिक रूप से वर्णित है। इस प्रकार म य एशिया से लेकर काशी और गया तक और देवगिरि से लेकर हासी तक का भूभाग रासो की कथा का कार्य क्षेत्र ह जिसम राजा, उनके सबधी, सामन्त, मत्री, पुरोहित, भाट और कवि, सैनिक, रानी, राजकुमारी, दासी, वश्या, ब्राह्मण ब्राह्मणी, नट नर्तक आदि सामन्ती युग की विविध सामाजिक हलचलों मे भाग लेने वाले सभी प्रकार के पात्र अपना अ ना कार्य करते दिखाइ पडते हैं। यही नही, तत्कालीन लोकविश्वासो के अनुरूप दिव्यादिव्य चरित्र—देवता, राक्षस, गन्धव, योगिनी, भैरव, वीर, भूत वैताल आदि—और शुक, हस आदि पक्षी भी कथा को आगे बढाने में योग देते हुए दिखाई पडते हैं। उसम जीवन के नाना वस्तु व्यापारो—युद्ध, विवाह यज्ञ, धम कर्म, ज म मरण, मृगया, व्रत त्योहार, तीथयात्रा, तर्क विवाद, मत्र तत्र की क्रियाए, भोग विलास, विरह मिलन, खेल तमाशा, आमोद प्रमोद, नाट्य सगीत, दौत्य मत्रणा आदि—का इतना अधिक आयोजन और वणन हुआ है कि रासो उस काल का राजनीतिक इतिहास नही तो सामाजिक इतिहास अवश्य बन गया है। उसमे साम ती वीरयुग की सभ्यता, रहन सहन, मान मर्यादा, खान-पान तथा अ य जीवन विधियो का इतना ब्योरेवार और सही वणन हुआ है कि यह महाकाव्य उपयुक्त वस्तु व्यापारो का काव्यात्मक कोश प्रतीत होता है। निष्कर्ष यह कि रासो का चित्रपट बहुत ही व्यापक है जिस पर उस काल का समग्र युग जीवन अपने सभी गुण दोषो क साथ यथार्थ रूप म चित्रित हुआ है। इस विशाल चित्र मे घटनाओ की ठेलमठेल, पात्रों का आना जाना, लडना-भिडना, मिलना बिछुडना, विविध वस्तुओ की प्रदर्शनी, सेनाओं की रण यात्रा, नगरो की सजावट, दरबारों की आनबान, अलौकिक व्यक्तियो और तन्त्र मत्र वेत्ताओ के चमत्कारपूर्ण कार्य आदि के नाना नाम रूपात्मक दृश्य अकित किये

गये हैं। इस प्रकार यह महाकाव्य जिस महत्कार्य के वर्णन मे प्रवृत्त हुआ है उसकी महानता के अनुरूप ही जीवन की व्यापकता और विविधता भी उसम दिखलाई पडती है।

वस्तु व्यापार वणन

विकमनशाल महाकाव्यो मे जीवन के बाह्य रूपो का चित्रण अधिक होता है, मन की विविध दशाओ और विभिन्न परिस्थितियो म अनुभूत सत्यो की अभिव्यक्ति उनमे अधिक नहीं होती है। वे प्राय घटना प्रधान और वर्णनात्मक होते ह। अत उनम प्रसगप्राप्त वस्तुओ और घटनाओ का विवृत और व्यौरेवार वर्णन अपने प्रारभिक रूप म मिलता है। वस्तु व्यापार वणन की परिपाटी अलकृत महाकाव्यो म इस सीमा तक अपनाई गयी कि वहाँ कुछ विशेष वस्तुओ और व्यापारो का वर्णन रूढि रूप मे स्वीकार कर लिया गया जैसे सस्कृत साहित्यशास्त्र के अनुसार महाकाव्य म सध्या, चन्द्रोदय, रजनी, प्रभात, सूर्योदय, नगर, वन, पवन, सागर, कुमारोदय, युद्ध, मत्रणा, जल क्रीडा, पान गोष्ठी, पुष्पावचय, मिलन विरह आदि का वर्णन आनवार्य माना गया और परवती काल म महाकाव्य का अर्थ यही समझा जाने लगा कि उसमे कथानक भले ही घटनाहीन और क्षाण हो पर वर्णनों की अधिकता अवश्य होनी चाहिये। विकसनशील महाकाव्य मे वर्णन की अधिकता अवश्य होती है पर वह घटनाओ और कथा प्रवाह के अनुपात मे अधिक नही होता। महाभारत के भीतर लम्बे लम्बे वर्णनात्मक अश हैं, जो स्वतत्र ग्रथ जैसे प्रतीत होते हैं जैसे भगवद्गीता, किंतु इतना होते हुए भी महाभारत वर्णनप्रधान नही, घटनाप्रधान ही है। पृथ्वाराजरासो मे भी वर्णनात्मकता बहुत अधिक है परन्तु उसमे घटनाओं और कथा प्रवाह का वेग इतना अधिक है कि ये वणनात्मक अश उसकी तुलना मे बहुत अधिक नही प्रतीत होते। जिस तरह महाभारत म 'यन्न भारते तन्न भारते' की उक्ति चरिताथ करने के लिए ज्ञान, भक्ति, योग, ज्योतिष, राजनीति, धमशास्त्र, युद्धास्त्र, हाथी, घोडा, सेना, प्राकृतिक दृश्य, नगर महल आदि सभी विषयो, व्यापारो और वस्तुओं का बहुत अधिक वर्णन हुआ है उसी तरह रासो मे भी इस प्रकार के वर्णनो की अधिकता है। रासोकार ने स्वय कहा है —

उक्ति धर्म विशालस्य, राजनीति नव रस
षट् भाषा पुराण च कुरान कथित मया।

अर्थात् इसमे सूक्तिया हैं, धर्मशास्त्र और पुराण की बाते हैं, राजनीतिशास्त्र का वर्णन है, नवो रसों की योजना है, इस्लाम धर्म की बातें हैं। यही

जो अपने युग को ही नही, आने वाली अनेक शताब्दियो को भी अत्यधिक प्रभावित करे। पृथ्वीराज और शहाबुद्दीन का अन्तिम युद्ध और उत्तरी भारत पर मुसल्मानो का अधिकार ऐसी ही महत्वपूर्ण घटना है जिसे इतिहास कभी भुला नही सकता और जो महाकाव्य का विषय बनने के लिए सर्वथा उपयुक्त है। अत यह निर्विवाद है कि रासो मे महाकाव्योचित महत्कार्य की—चाहे महत्कार्य का जो भी अर्थ लिया जाय—उत्कृष्ट योजना हुई है।

इतनी महत्वपूर्ण घटना को चरमबिन्दु बनाकर प्रबन्ध का ढाँचा निर्मित करने के लिए जिस व्यापक कार्य क्षेत्र और लम्बे कार्य काल की आवश्यकता है, वह रासो मे वर्तमान है। उसमे पृथ्वीराज के चाचा वीसलदेव की जीवन कथा बडे विस्तार से दी गयी है, साथ ही पृथ्वीराज के अनेक समकालीन राजाओ और सामन्तो का जीवन कथा भी आशिक रूप से वर्णित है। इस प्रकार मध्य एशिया से लेकर काशी और गया तक और देवगिरि से लेकर हासी तक का भूभाग रासो की कथा का कार्य क्षेत्र है जिसमे राजा, उनके सबधी, सामन्त, मत्री, पुरोहित, भाट और कवि, सैनिक, रानी, राजकुमारी, दासी, वेश्या, ब्राह्मण ब्राह्मणी, नट नर्तक आदि सामन्ती युग की विविध सामाजिक हलचलो मे भाग लेने वाले सभी प्रकार के पात्र अपना अपना कार्य करते दिखाई पडते हैं। यही नही, तत्कालीन लोकविश्वासो के अनुरूप दिव्यादिव्य चरित्र—देवता, राक्षस, गन्धर्व, योगिनी, भैरव, वीर, भूत वेताल आदि—और शुक, हस आदि पक्षी भी कथा को आगे बढाने में योग देते हुए दिखाई पडते हैं। उसमे जीवन के नाना वस्तु व्यापारो—युद्ध, विवाह यज्ञ, धर्म कर्म, जन्म मरण, मृगया, व्रत त्योहार, तीर्थयात्रा, तर्क विवाद, मत्र तत्र की क्रियाए, भोग विलास, विरह मिलन, खेल तमाशा, आमोद प्रमाद, नाट्य सगीत, दौत्य मत्रणा आदि—का इतना अधिक आयोजन और वर्णन हुआ है कि रासो उस काल का राजनीतिक इतिहास नही तो सामाजिक इतिहास अवश्य बन गया है। उसमे सामन्ती वीरयुग की सभ्यता, रहन सहन, मान मर्यादा, खान-पान तथा अन्य जीवन विधियो का इतना ब्योरेवार और सही वर्णन हुआ है कि यह महाकाव्य उपयुक्त वस्तु व्यापारो का काव्यात्मक कोश प्रतीत होता है। निष्कर्ष यह कि रासो का चित्रपट बहुत ही व्यापक है जिस पर उस काल का समग्र युग जीवन अपने सभी गुण दोषो के साथ यथार्थ रूप मे चित्रित हुआ है। इस विशाल चित्र मे घटनाओ की ठेलमठेल, पात्रों का आना जाना, लडना-भिडना, मिलना बिछुडना, विविध वस्तुओ की प्रदर्शनी, सेनाओ की रण यात्रा, नगरो की सजावट, दरबारों की आनबान, अलौकिक व्यक्तियो और तत्र मत्र वेत्ताओ के चमत्कारपूर्ण कार्य आदि के नाना नाम रूपात्मक दृश्य अकित किये

गये हैं। इस प्रकार यह महाकाव्य जिस महत्कार्य के वर्णन मे प्रवृत्त हुआ है उसकी महानता के अनुरूप ही जीवन की व्यापकता और विविधता भी उसमे दिखलाई पडती है।

वस्तु व्यापार वणन

विकमनशील महाकाव्यो मे जीवन के बाह्य रूपो का चित्रण अधिक होता है, मन की विविध दशाओ और विभिन्न परिस्थितियो म अनुभूत सत्यो की अभिव्यक्ति उनम अधिक नहीं होती है। वे प्राय घटना प्रधान और वर्णनात्मक होते हैं। अत उनम प्रसगप्राप्त वस्तुओ और घटनाओ का विवृत और ब्यौरेवार वणन अपने प्रारभिक रूप म मिलता है। वस्तु व्यापार वर्णन की परिपाटी अलकृत महाकाव्यो म इस सीमा तक अपनाई गयी कि वहाँ कुछ विशेष वस्तुओ और व्यापारो का वणन रूढि रूप म स्वीकार कर लिया गया जैसे सस्कृत साहित्यशास्त्र के अनुसार महाकाव्य म सध्या, चद्रोदय, रजनी, प्रभात, सूर्योदय, नगर, वन, पवन, सागर, कुमारोदय, युद्ध, मत्रणा, जल क्रीडा, पान-गोष्ठी, पुष्पावचय, मिलन विरह आदि का वर्णन अनिवार्य माना गया और परवर्ती काल म महाकाव्य का अर्थ यही समझा जाने लगा कि उसमे कथानक भले ही घटनाहीन और क्षीण हो पर वर्णनो की अधिकता अवश्य होनी चाहिये। विकसनशील महाकाव्य मे वर्णन की अधिकता अवश्य होती है पर वह घटनाओ और कथा प्रवाह के अनुपात म अधिक नही होता। महाभारत के भीतर लम्बे लम्बे वर्णनात्मक अश हैं, जो स्वतत्र ग्रथ जैसे प्रतीत होते हैं जैसे भगवद्गीता, किंतु इतना होते हुए भी महाभारत वर्णनप्रधान नही, घटनाप्रधान ही है। पृथ्वीराजरासो मे भी वर्णनात्मकता बहुत अधिक है परन्तु उसमे घटनाओं और कथा प्रवाह का वेग इतना अधिक है कि ये वर्णनात्मक अश उसकी तुलना मे बहुत अधिक नही प्रतीत होते। जिस तरह महाभारत म 'यन्न भारते तन्न भारते' की उक्ति चरितार्थ करने के लिए ज्ञान, भक्ति, योग, ज्योतिष, राजनीति, धर्मशास्त्र, युद्धास्त्र, हाथी, घोडा, सेना, प्राकृतिक दृश्य, नगर महल आदि सभी विषयो, व्यापारो और वस्तुओं का बहुत अधिक वर्णन हुआ है उसी तरह रासो मे भी इस प्रकार के वर्णनो की अधिकता है। रासोकार ने स्वय कहा है —

> उक्ति धर्म विशालस्य, राजनीति नव रस
> षट् भाषा पुराण च कुरान कथित मया।

अर्थात् इसमे सूक्तिया हैं, धर्मशास्त्र और पुराण की बाते हैं, राजनीति-शास्त्र का वर्णन है, नवो रसों की योजना है, इस्लाम धर्म की बातें हैं। यही

नही कला और ज्ञान विज्ञान की उस समय तक ज्ञात सभी बाते इसमे आ गयी हैं, यह दावा भी ग्रथ के अन्त मे किया गया है —

सूरत्त दान विग्यान मान। नाटक्क गेय विद्या विनान।
चातुरी भेद वचनह विलास। गति गरम नरम रस हास रास।
गति साम दान(दाम?)भर दण्ड भेद। सब काम धाम त्रिब्वान वेद।
बाचत कवित हारत गोप। बर बिनय विद्धि बुझ्झय सदोप।
विधि सस्त्र सार रिन वहन भार। गतिमान दान निरवान कार।
चौबरन धरम कारन विवेक। रस भाष भेय विग्यान नेक।
पौरान सकल कथ अथ्थ भाय। भारथ्थ अथ्थवे वन्नताय।
कलि काव्य रस्स प्राहास रग। बर्धानिय छन्द बुझ्झे सुजग।
विब्वेक दान विचार चार। गति बाम बाम रति रग भार।
नव सपत कला विचार वेद। विग्यान थान चौरासि भेद।
गति पच अरथ विग्यान मान। उप्पमा जेब मति अग थान।
रितु रस रसानि वेलास गत्ति। मतन सुमत आभास अत्ति।

× × ×

पित मात पत्ति परिचरह भेय। राजग राज राजत जेय।
परब्रह्म ध्यान उद्धार सार। विधि भगति विस्व तारन पार।
आधनुह वेद हय गय विनान। ग्रह गत्ति मत्ति जोतिग्ग थान।
कलि सार सार बुझ्झहि विचार। सभलहि भूप रासो सुधार।
(६८—छद २२३ से २३१)

तात्पर्य यह कि रासो मे ऐसा कुछ भी नही है जिसका वर्णन न हुआ हो। यद्यपि रासो का यह दावा बहुत कुछ अत्युक्तिपूर्ण है और महाभारत की तुलना मे रासो को रखना ही इस दावे का उद्देश्य है, किन्तु इसमे कोई सदेह नही कि रासो मे विविध विषयों, वस्तुओ और व्यापारो का बडा ही विवृत और कहीं कही अनावश्यक या अप्रासगिक वर्णन हुआ है। ये वर्णनात्मक अश अधिकतर विकसनशील महाकाव्य महाभारत के वर्णनों जैसे हैं। सस्कृत साहित्यशास्त्र मे महाकाव्य के लिए निर्दिष्ट वस्तुओं का रूढिपालन के रूप मे वणन उसमे अधिक नहीं हुआ है। सस्कृत के परवर्ती शास्त्रीय महाकाव्यो मे कवि मूल कथा को छोडकर कई सर्गो तक वन, पर्वत, प्रभात, संध्या, रजनी, चन्द्रमा, जलक्रीडा आदि का वर्णन करते चले जाते हैं, किन्तु रासो के वणन रूढि निवाह की दृष्टि से लिखे गये नहीं प्रतीत होते। वस्तुत मूल रासो वीरकाव्य रहा होगा और

उसमे युगानुरूप रोमाचक और पौराणिक तत्त्वो का भी समावेश रहा होगा, अन्य काव्येतर वस्तुओ का वणन उसमे बाद का जोडा हुआ है । महाभारत के सबध मे भी यह कहा जा चुका है कि वह मूलत वीरकाव्य था और धार्मिक तथा शास्त्रीय ज्ञानभाण्डार की बाते उसमे बाद की जोडी हुई हैं। रासो मे जिन वस्तु-व्यापारो का वर्णन हुआ है वे निम्नलिखित श्रेणिया म विभक्त हो सकते हैं —

अध्यात्म, राजनीति, धम, योगशास्त्र, कामशास्त्र, मत्र तत्र और शकुनशास्त्र, स्वप्न फल, मानवीय सौन्दर्य, नगर और देश, युद्धास्त्र, सैन्य सज्जा, युद्ध, विवाह, मत्रणा, मृगया, दौत्य, सगीत नृत्य नाट्य, वन उपवन विहार, यात्रा, पशु पक्षी और फूल वृक्ष आदि, खाद्य पदार्थ, तीर्थ व्रत माहात्म्य, पूजा उपासना, ऋतु वर्णन, यज्ञ याग, देवता मुनि, स्वर्ग, पनघट, गढ मण्डल, राज दरबार, और अन्त पुर, सामन्त, सयोग विप्रलम्भ शृगार, उपदेश और सदेश, सामाजिक और राजकीय रीति रिवाज शास्त्रार्थ और काव्य प्रतियोगिता, उद्यानगोष्ठी, वसन्तोत्सव, अदृष्ट वर्णन, प्रशस्ति और आशावाद ।

इससे स्पष्ट है कि वस्तु वणन मे रासो मे महाकाव्य के शास्त्रीय नियमों का अनुसरण नहीं किया गया है । सध्या, प्रभात, चद्रोदय और मध्याह्न का वर्णन तो उसमे कहीं स्वतत्र रूप से है ही नही, नदी पवत सागर का भी वर्णन नही हुआ है । प्राकृति चित्रण के रूप मे उसमे केवल षड्ऋतुवर्णन या वन और उद्यान का वर्णन ही मिलता है परन्तु वह भी सश्लिष्ट चित्रण नही बल्कि अपभ्रश काव्यो के ढग का रूढिबद्ध वर्णन है । युद्ध, मत्रणा, नगर आदि का वर्णन उसमे अवश्य जम कर हुआ है । यही नहीं, साम ती युग म दरबारी वातावरण की जो भी प्रमुख बाते और वस्तुएँ होती हैं उनका वर्णन भी रासो म बहुत विशद् रूप मे हुआ है । किन्तु इसमे भी वस्तु परिगणना की प्रवृत्ति ही रूढि के रूप मे दिखलाइ पडती है । यह प्रवृत्ति पूववता सस्कृत साहित्य मे उतनी नहीं थी जितनी परवता साहित्य मे ।

वस्तु व्यापार वर्णन की दृष्टि से रासो पर महाभारत का प्रभाव तो है ही, साथ ही उसमे तत्कालीन प्रचलित सस्कृत प्राकृत और विशेष रूप से अपभ्रश के चरित काव्यों की वर्णन विधि का, जिसके आधार पर रुद्रट ने अपनी महा काव्य सबधी परिभाषा बनायी थी, पूणरूप से अनुसरण किया गया है । इस प्रकार रासो पर वस्तु व्यापार वर्णन की दृष्टि से दो परपराओं का प्रभाव पडा है —

१—वीकसनशील महाकाव्य महाभारत की वर्णन परपरा ।

२—सस्कृत, प्राकृत और अपभ्रश के पौराणिक ओर रोमाचक शैली के चरित काव्यो की वणन परपरा ।

राजनीतिशास्त्र, योगशास्त्र, धमशास्त्र, शकुनशास्त्र, अध्यात्म विद्या आदि का शास्त्रीय वर्णन रासो म महाभारत के ढग से हुआ है। उदाहरण के लिए कनवज्ज समय (६१ वा समय–पृ० १५९०) मे पृथ्वीराज के द्वारा कैमास की जगह जेतराव के मत्री बनाने की बात आते ही कवि को मत्री के गुण बताने का अवसर हाथ लग गया, अत उस जगह राजनीतिशास्त्र का लम्बा वणन हुआ है। उसी तरह उसी 'समय' मे जयच द क दरबार मे चन्दवरदाइ आर जयच द के बीच राजनीति पर बहस होती हे। वैसे ता शकुन अपशकुन का घटनाओ का वर्णन रासा म जगह जगह हुआ है परन्तु ६१ वे समय (पृ० १६०१ २) मे पृथ्वीराज के पूछने पर चन्दवरदाइ शुभ अशुभ शकुन का २४ छन्दो म बहुत लम्बा और शास्त्रीय विवेचन करता है। माहात्म्य वणन ओर स्तोत्र पाठ लिखने की पद्धति तो महाभारत के बाद भी सभी पौराणिक ओर धार्मिक काव्यो मे मिलती है। रासो म भी इस वर्णन परिपाटी का अत्यधिक पालन हुआ है। तीर्थ व्रत, देवी देवता, मादर आदि की चचा जहाँ भी आयी है वही प्राय उस स्थान या देवता का माहात्म्य वर्णन ओर स्तवन मिलता है। इसी प्रकार योगशास्त्र के सबध म भी रासो मे कइ जगह चचा आयी है, कि तु ६७ वे समय के प्रारम्भ मे (छ द ५४ से ७१ तक) योगशास्त्र की बातो का विधिवत वर्णन हुआ है जिसे पढकर ऐसा प्रतीत होता है कि किसी परवर्ती योगमार्गी कवि ने अपने मत के प्रचार के लिए इसे इसमे जोड दिया है।

महाभारत की तरह रासो मे भी विविध शास्त्रीय और प्राचीन ज्ञान सबधी विषयों का भाण्डार भरा हुआ है। वशोत्पत्ति आर वशानुक्रम का वणन भी उसी के अतगत आता है। ससार भर क विकसनशील महाकाव्यो की यह प्रधान प्रवृत्ति है जिसके बारे म पहले अध्याय म विचार किया जा चुका है। विकसन शील महाकाव्य दो प्रकार के होते हैं—दरबारी वातावरण और पठित समाज म विकसित होने वाले और दूसरे लोककण्ठ मे बस कर विकसित होने वाले। प्राचीन ज्ञान और शास्त्र सबधी विषयों का ब्योरेवार ओर पाण्डित्यपूर्ण वणन और विवेचन पहले प्रकार के शिष्ट समाज मे विकसित महाकाव्यो मे ही मिलता है, दूसरे प्रकार के लोकमहाकाव्यो म नही। कारण यह है कि ज्यो ज्यों उनकी लोकप्रियता बढती जाती है और शिष्ट समाज मे उनका आदर होने

से विभिन्न स्थानो मे उनको लिखित रूप दिया जाने लगता है त्यो त्यो उनम अपने अपने स्वार्थ की दृष्टि से पडितवर्ग के लोग या पेशेवर कवि अपने श्रोताओ और पाठको की आवश्यकता और रुचि के अनुरूप पाडित्य और ज्ञान-धर्म की बाते भी जोडते जाते हैं। महाभारत और रासो दोना का आकार वर्द्धन और वर्णन विस्तार इसी प्रक्रिया द्वारा हुआ है।

पूववर्ती सस्कृत प्राकृत के महाकाव्यों मे प्रकृति का आलम्बन या उद्दीपन रूप म बहुत हा सश्लिष्ट ओर सागोपाग चित्रण हुआ करता था जिसका प्रारभ वाल्मीकि की रामायण से हुआ था। किन्तु परवर्ती काल के कवियो ने अधिकतर रूढिपालन के लिए और उद्दीपन रूप म प्रकृति का अलकृत चित्रण किया है ओर उसम भी बहुधा उनकी प्रवृत्ति प्राकृतिक वस्तुओ की परिगणना कराने अथवा उपमा, उत्प्रेक्षा अपह्नुति, रूपक, व्यतिरेक आदि अलकारो द्वारा चमत्कार उत्पन्न करने की रही है। रासो म यो भी प्रकृति चित्रण बहुत कम हुआ है और जो है वह भी उद्दीपन रूप म तथा रूढिपालन के लिए लिखा गया प्रतीत होता है। पर कही कही रासो का प्रकृति चित्रण अपनी नवीनता के कारण अत्यत चमत्कारपूर्ण हुआ है। 'शशिव्रता वर्णन प्रस्ताव' (२५ वा समय-पृ० ८२९ आर ८४९) म युद्ध वर्णन के बीच मे प्रभात वर्णन कुछ विचित्र सा लगता है किन्तु उस प्रभात को भी कवि युद्ध के रँग मे रग कर चमत्कार उत्पन्न कर देता है। उसक अनुसार प्रभात काल वीरो को दूसरे हा प्रकार का आनन्द देता है —

निसि गत बढ्ढे भान वर, भवर चक्कि अरु सूर।
मतहमत्त पयान गति, वर भारथ्थ अँकूर।
(२५-६७४)

इसी तरह ऋतुवर्णन के लिए भी कनवज्ज समय म निराला ही ढग अपनाया गया है। सदेशरासक म नायिका वियोगदशा म उद्दीपन रूप म छहो ऋतुओं का वर्णन करती है। नेमिनाथचउपई म राजमती की वियोगावस्था का चित्रण बारहमासा काव्य के रूप मे उद्दीपन की दृष्टि से हुआ है। किन्तु रासो मे षड्ऋतु-वर्णन उद्दीपन रूप म होते हुए भी सयोगावस्था और वियोगावस्था की मनोदशाओ का एक विचित्र सामजस्य उपस्थित करता है जो अन्यत्र बहुत कम मिलता है। पृथ्वीराज कन्नौज जाने के लिए बिदा मागने बारी बारी से छ रानियो के पास जाता है किन्तु प्रत्येक रानी एक ऋतु तक प्राकृतिक सौन्दर्य का वर्णन करके और वियोगावस्था मे उसी प्रकृति के कारण मिलने वाले दुख का भय दिखाकर राजा को भुलावा देकर रोक लेती है और इस तरह एक वर्ष तक

पृथ्वीराज की कन्नौज यात्रा रुकी रह जाती है। अन्त म पृथ्वीराज परेशान होकर चन्द से पूछता है —

पट रिति बारहमास गय फिरि आयो रु बसन्त।
सो रिति चन्द बताउ मोहि तिया न भावे कन्त।

षड्ऋतु और बारहमास का नाम इस दोहे म एक साथ लेकर कवि ने यह कहना चाहा है कि उसे बारहमासा काव्यरूप भी मालूम है। इस तरह रासो मे षड्ऋतु वर्णन का बिलकुल नया ढग निकाला गया है। यह वर्णन उद्दीपन रूप मे होते हुए भी सादगी और स्वाभाविकता से युक्त है और रासो के सबसे सुन्दर और मर्मस्पर्शी स्थलो मे से है।

परिगणना की प्रवृत्ति—पौराणिक और रोमाचक महाकाव्यो म कवि का ध्यान प्राकृतिक वस्तुओ तथा अन्य वस्तु व्यापारो की गणना कराने की ओर जितना अधिक दिखलाई पडता है, उतना सश्लिष्ट चित्रण की ओर नही। यह प्रवृत्ति सस्कृत के पूर्ववर्ती महाकाव्यो म नही मिलती और अपभ्रश के काव्यो म बहुत मिलती है। रासो मे इस प्रकार की वर्णन विधि की अधिकता है। जो भी विषय शुरू होता है, चाहे सामन्तो और दरबार का प्रसग हो या भोजन का, उद्यान का हो या पशु पक्षियो का, सबमे सबद्ध वस्तुओ का नाम बहुत ब्योरे के साथ गिनाया गया है। इसम काव्य कला की दृष्टि से भले ही दोष दिखलाई पडे किन्तु अनेक स्थलो म इस पद्धति के कारण तत्कालीन सामाजिक जीवन और सभ्यता पर अच्छा प्रकाश पडता है। उदाहरण के लिए विवाह वर्णन, भोजन सामग्री नाट्य सगीत नृत्य, सामन्त, राजमहल, उद्यान, प्रसाधन आदि के वर्णन से सामन्ती वीर युग की सभ्यता और दरबारी जीवन का यथार्थ परिचय मिल जाता है। अपभ्रश के चरित काव्यो मे भी ऐसे वर्णन बहुत मिलते हैं। स्वयम्भू के 'पउमचरिउ' मे उद्यान का वर्णन करते हुए कपूर, लवग, एला, ककोल, माधवी, बकुल, चम्पक, प्रियगु, कर्णिकार, श्रीखण्ड, नारगी, अश्वत्थ, पद्माक्ष, रुद्राक्ष, द्राक्षा, खजूर, जँभीरी, नीम, हरिताल आदि पचासो पेड पौधों और फल फूलों के नाम गिनाये गये हैं।[1] उसी तरह सदेशरासक मे भी (छन्द ५५ से ६४ तक) सैकडो

१—'रम्य महा ज च पुण्णाय णाएहि। कुसुमिय लया वेल्लि पल्लव णिहाएहि।
कप्पूर ककोल एला लवगेहि। महु माहवी माहुलिगी विडगेहि।
मरियल्ल जीरच्छ—कुकुम कुडगेहि। णव तिलय बवुलेहि चम्पय पियगेहि।
णारग णग्गोह आसत्थ रुक्खेहि। ककेलि पउयक्ख रुद्दक्ख दक्खेहि।
खज्जूरि जम्बीरि घण फणिस लिम्बेहि। हरियाल ढउएहि वहु पुत्त जीवेहि॥आदि।
पउमचरिउ—सन्धि २—कडवक १।

वनस्पतियो की परिगणना की गयी है। इसमे पता चलता है कि अपभ्रश काव्य मे परिगणना की रूढि का पयाप्त प्रचलन था और उसी का प्रभाव पृथ्वीराजरासो तथा हिन्दी के अन्य प्रब व काव्यो पर पडा है। रासो मे पेड पौधा का नाम अनेक स्थलो पर गिनाया गया है। इसका एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा —

विरष्ष बेलि डबर। सुरग पान अमर।
जु केसर कुमुकुम। मधुप्प बास त भ्रम।
अनार दाख पल्लव। सुछत्रपत्ति ढिल्लय।
श्रीखण्ड तड वासय। गुलाब फूल रासय।
जु चपक कदबय। खजूरि भूरि अबय।
सु अन्ननास जीरय। सतूनय जँभीरय।
अषोट सेव दामय। अबाल बेलि स्यामय।
जुश्रीफल नरगय। सबद स्वाद होतय।
(रासो—समयो ५९–छन्द ६ १०)

पशु पक्षियों की परिगणना जिस ढग से पुष्पदन्त के महापुराण (९–१९) और जसहरचरिउ (२–२७) म की गयी है वही ढग रासो मे भी जगह जगह अपनाया गया है। मृगया के प्रसग म तो ऐसे वर्णन मिलते ही हैं, भोजन के समय पास रखे जाने वाले जानवरों की सूची भी दी गया है —

कुर्कट वकुल करोच कपि हिरन हस सुक मोर।
असन करत नृप रषिष ढिग सूचक जहर चकोर॥
(रासो—६६–३२५)

इसी तरह भोजन की सामग्री तथा अन्य साज सामान का वणन भी रासो मे वैसा ही हुआ है जैसा धनपाल के भविसयत्तकहा (१२–३) मे। उन्ह परोसने के समय का वर्णन ठीक वैसा ही है जैसा जायसी के पद्मावत (चित्तौर खण्ड) मे मिलता है। एक उदाहरण दिया जा रहा है —

पूप अनूप परूसि पुरी सुष्ष पुरिमेलि।
ललित लूचई लै चलै ऊचरती विधि वेलि।

× × × ×

सुते वर घेवर पैसल पागि। लषे चख फेरि गई उर आगि।
जलेबिन जेब कहै कवि कौन। महामधु माठ मिठावन मौन।
(रासो —समय ६३—छन्द ७२–७४)

रासो के ६३वें समय मे चोष्य, लेह्य और चर्व्य पदार्थो का वर्णन करीब चालीस छन्दो मे बडे विस्तार से हुआ है। ६६ वें समय (छद ३२७) मे भी इसी प्रकार भोज्य पदार्थो का वर्णन हुआ है।

अपभ्रश के चरित काव्यो म नाट्य, नृत्य, सगीत और वाद्य यन्त्रो का वर्णन अनेक स्थलो पर मिलता है। विवाह, पुत्रोत्सव, राजदरबार, समवसरण आदि का अवसर उपस्थित होते ही अपभ्रश कवियो ने वाद्य यन्त्रो, राग रागिनियो और नृत्य मुद्राओ का नाम गिनाना प्रारभ कर दिया है। पुष्पदन्त ने महा पुराण की छठी सधि मे चार लम्बे कडवको (५ से ८ तक) म नाटक, सगीत, वाद्य आदि का पाडित्यपूर्ण और शास्त्रीय ढग से विवेचनात्मक वर्णन किया है। रासो म भी कई जगह नाटक, सगीत और नृत्य तथा वेश्याओ और गायकों का वर्णन हुआ है किन्तु ६१ वे समय म जयचन्द की सभा म नाटकादि के आयोजन का वर्णन बहुत विस्तार से हुआ है और उसकी तुलना महापुराण के उक्त वर्णन से करने से स्पष्ट हो जाता है कि दसवी शताब्दी के बाद काव्य म इस प्रकार का गणनाप्रधान वस्तु वर्णन प्रबन्ध काव्यो की वर्णन रूढि बन गया था। उपर्युक्त वस्तु व्यापारो के अतिरिक्त नगर, राजद्वार, महल, उत्सव आदि का वर्णन भी रासो म अपभ्रश काव्यों के समान ही हुआ है जिनके उदाहरण अधिक विस्तार के भय से यहा नही दिये जा रहे हैं।

युद्ध वर्णन—पृथ्वीराजरासो मे वर्णन की नवीनता और मौलिकता अवश्य दिखलाई पडती है यद्यपि उन विषयो का वर्णन उसम इतनी बार और इतना अधिक हुआ है कि उसका प्रभाव नष्ट हो जाता है। वे विषय हैं—युद्ध, मृगया, विवाह, मन्त्र तन्त्र की लडाई, सामन्तो की स्वामि भक्ति, राजनीतिक षड्यन्त्र, कवि भाटो और दूतो का दूतत्व और उनका स्वागत सत्कार आदि। पिछले अध्याय मे कहा जा चुका है कि सामन्ती वीरयुग मे युद्ध समाज के एक वर्ग के लिए जीवन की आवश्यकता था और कुछ लोगो के लिये तो वह व्यसन बन गया था। राष्ट्रीय सुरक्षा का उस काल मे अभाव था। परिणामस्वरूप आये दिन पडोसी राज्यो के बीच तथा विदेशी हमलावरो से युद्ध होते ही रहते थे। लूटपाट भी होती थी। पृथ्वीराजरासो को पढने पर इतिहास के ये सभी भाव सत्य आँखों के सामने मूर्त हो जाते हैं। उसके युद्धो मे अधिकाश व्यसन युद्ध ही हैं। पृथ्वीराज विवाह के लिए या यो भी अकारण किसी पर आक्रमण कर देता था। उस पर भी किसी बात का बदला लेने के लिए आक्रमण होते थे। शहाबुद्दीन के आक्रमणों का तॉता कभी टूटता ही नही था और आश्चर्य यह कि वह बार बार पकड कर छोड दिया जाता था। उसके आक्रमण के

समय पृथ्वीराज के किसी न किसी सामन्त को, जो उसे पकडने का बीडा उठाता था, पकडने का अवसर दिया जाता था। परन्तु पकडा जाने पर भी हर बार सम्भवत उसे इसीलिए छोड भी दिया जाता था कि गोरी को आक्रमण करने और पृथ्वीराज के सामन्तो को उसे फिर पकडने का अवसर मिले। इस प्रकार रासो मे युद्ध आवश्यकता ही नही, सामन्तो राजाओ के व्यसन के रूप मे भी वर्णित हुआ है। उसमे इतने युद्धो का वर्णन हुआ है कि सबको एक साथ स्मरण भी नही रखा जा सकता। अत कवि के लिए भी असम्भव था कि किसी युद्ध का वर्णन पीछे जिस प्रकार हो चुका है, उसकी शब्दावली और ढङ्ग की पुनरावृत्ति को वह आगे न कर सके। रासो मे जो युद्धाधिक्य और वर्णनो मे पुनरुक्ति है वही उसका दोष है और साथ ही विकसनशील महाकाव्य के रूप मे वही उसकी विशेषता भी है। इन युद्ध वर्णनो पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होता है कि युद्धो का जैसा जीवत और यथार्थ वर्णन रासो मे हुआ है वैसा महाभारत को छोडकर पूर्ववर्ती भारतीय महाकाव्यो मे बहुत कम हुआ है। युद्ध वर्णन मे आक्रमण की तैयारी, युद्ध प्रयाण, व्यूह रचना, युद्धास्त्र, हाथी घोडा, युद्ध भूमि मे योद्धाओ और सैनिको का का स्थान निर्धारण, मार काट, कबन्ध नृत्य, योगिनी, काली, भूत प्रेत आदि का मुण्ड धारण, देवताओ द्वारा युद्ध देखना अथवा पुष्पवर्षा करना, अप्सराओं द्वारा वीरा को मृत्यूपरान्त वरण करना, युद्ध भूमि से घायलो को उठाना, सध्या को युद्ध बन्द कर देना आदि बातो का उल्लेख ब्यौरेवार किया गया है।

मृगया—रासो मे युद्ध वर्णन के बाद मृगया और विवाह वर्णन का ही स्थान है और ये वर्णन भी बहुत ही यथार्थ ढग से और जीवन्त हैं। पृथ्वीराज अपने सभी सामतो के साथ पूरी तैयारी करके शिकार खेलने जाता है। वन मे हँकावा होता है, बाजे बजते हैं, सभी सामन्त वहाँ अपनी वीरता दिखाते हैं और कन्ह जैसे वीर शेर का मस्तक हाथ से मसक देते हैं। रासो के अनुसार पृथ्वीराज के शिकार का कार्यक्रम लम्बे समय तक चलता था और उसी समय शहाबुद्दीन को आक्रमण करने का भी अवसर मिल जाता था। शिकार मे कभी कभी रानियाँ भी साथ जाती थी, डेरे पडते थे, ज्योनार और गोष्ठी होती थी (६३ वाँ समय), दरबार लगता था, मन्त्रणा होती थी, यहाँ तक कि शिकार के बहाने पृथ्वीराज पडोसी राज्यो की सीमा मे जाकर या तो विवाह करता था या उन पर आक्रमण कर देता था। पृथ्वीराज का इन्द्रावती से ब्याह और भीम चालुक्य पर आक्रमण इसी तरह हुआ था। इस प्रकार युद्ध की तरह

वीरता प्रदर्शन का अवसर प्रदान करने के कारण रासो मे मृगया को भी व्यसन का ही रूप दे दिया गया है।

विवाह और विलास का वर्णन—रासो के ६५ वे समय मे उसकी सभी रानियों का नाम गिनाया गया है जिनकी सख्या तेरह है। इन तेरह रानियो मे से केवल चार—इच्छिनी, दाहिमी, इद्रावती और हसावती—के विवाहोत्सव का सविस्तर वर्णन रासो मे हुआ है। इनके अतिरिक्त पृथ्वीराज की बहिन पृथाकुमारी के समर सिंह से व्याह का वर्णन भी पूरे एक सर्ग मे २१४ छन्दो म हुआ है। सयोगिता, पद्मावती और शशिव्रता के विवाह प्रेमाख्यानक ढग के हैं जिनम युद्ध करके कन्या का हरण हुआ है, अत हिन्दू धर्म की वैवाहिक रीति नीति का विस्तार के साथ वर्णन करने का वहाँ अवसर भी न था। रासो म विवाह दो प्रकार से हुए हैं —प्रेमाख्यानक ढग के विवाह, जिनमे नायक नायिका मे चित्रदर्शन, गुण श्रवण आदि द्वारा परस्पर पूर्वानुराग उत्पन्न होता है, स देशे भेजे जाते हैं और शिव मन्दिर मे या सरिता सरोवर के तट पर नायक से नायिका मिलती है, फिर नायक युद्ध करके उसका हरण कर ले जाता है। इस तरह के दो तीन ग धर्व विवाहो का वर्णन रासो म हुआ है जो कालिदास के शाकुन्तल का तथा अपभ्रश और परवता सस्कृत के पौराणिक रोमाचक चरित काव्यों का प्रभाव व्यक्त करता है। ऐसे विवाहो मे कथानक सम्बन्धी पूवप्रचलित रूढियो का खूब प्रयोग हुआ है। दूसरे ढग के वे विवाह हैं जिनमे कन्यापक्ष और वरपक्ष की राय से विवाह निश्चित होता है, पुरोहित लग्न लेकर जाते हे, तिलक चढता है और बारात जाती है। उन वर्णनों म बारात की अगवानी, जनवासा, मगलाचार, ज्योनार, विवाह मण्डप मे भाँवरी, सि दूरदान, दान दहेज, विदाई आदि का विवरण विस्तार के साथ दिया गया है। अपभ्रश के पूववर्ती चरित काव्या मे विवाह का वर्णन तो अवश्य हुआ है किन्तु इतना विवरण उनमे नहीं दिया गया है। दसवी, शताब्दी मे रचित दिव्यदृष्टि धाहिल के 'पउमसिरिचरिउ' नामक लघु प्रबन्ध काव्य में अवश्य विवाहोत्सव का वर्णन कई कडवको मे हुआ है जिनमे विवाह का लग्न शोधन, विवाह की तैयारी, मण्डप रचना, निमन्त्रण भेजना, चौक पूरना, स्त्रियो के गीत, द्वारचार और विवाह आदि का बहुत ही विशद और काव्यात्मक बर्णन हुआ है[1]।

1 पउमसिरिचरिउ—द्वितीयसन्धि—कडवक १६ से २२ तक—स० श्री मधुसूदन मोदी तथा हरिवल्लभ भायाणी। बम्बई स० २००५।

रासो मे इच्छिनी विवाह (१४ वा समय) और पृथा विवाह (२१ वा समय) का वर्णन पूरे एक एक अध्याय में हुआ है और इन्द्रावती, पुण्डीर दाहिमी (१६ वाँ समय) और हसावती (३६ वा समय) के विवाहो का वणन भी यद्यपि विस्तार से हुआ है परन्तु उनमे पूरे सर्ग नही लगे हैं। सबमे वर्णन विधि एक जैसी है, छोटी से छोटी बात को भी कवि बिना कहे नहीं छोडना चाहता। इस तरह के विवाह सबधी विस्तृत वर्णनो से रासो की काव्यात्मकता म तो काई वृद्धि नही हुई है, किन्तु उससे मध्यकालीन हिन्दू विवाह सम्ब धी रीति रिवाजो पर पूण प्रकाश पडता है। ये वर्णन यथार्थ भूमि पर आधारित होते हुए भी अतिशयोक्ति पूर्ण ह।

विलास वर्णन और तत्र मत्र की लडाई—इसी प्रकार रासो से प्रत्येक विवाह के बाद विलास का भी वर्णन किया गया है। विलास वर्णन की परपरा सस्कृत और अपभ्रश के प्रबन्ध काव्यो मे पहले से ही चली आ रही थी। रासो मे उसे ही अपनाया गया है। तत्र मत्र की लडाई का वर्णन भी उसमे बहुत अधिक हुआ है। 'भोला राय समय' मे भीम चालुक्य का मत्री अमरसिह सेवरा पृथ्वीराज के मत्री कैमास को एक स्त्री के वश मे करके चालुक्यराज का भक्त बना देता है और चन्द आकर अपने मत्र बल से उसे मुक्त करता है। उस समय के २८ छन्दों मे (छन्द २७७ से ३०५ तक) चन्दवरदाई और अमर-सिह सेवरा के बीच मत्र युद्ध का वर्णन हुआ है। उसी तरह 'दुर्गा केदार समय' (५८ वा समय) मे मन्त्र-प्रतियोगिता का विस्तृत वर्णन हुआ है जिसमे मन्त्र-बल से घट से ज्वाला उत्पन्न करना, चट्टान को चला देना और उसे द्रवित करके जल बना देना, पानी बरसा देना, छेदवाले घडे का जमुना तक जाना और जल भर कर लाना आदि अलौकिक और अद्भुत बातों का चमत्कारपूर्ण और रोमाचक वर्णन करीब ६३ छन्दों मे हुआ है। मत्र युद्ध की परपरा सामन्ती वीर-युग की है जब कि बौद्ध, जैन, शैव, शाक्त सभी मतो मे तान्त्रिकता का जोर बढ गया था। तत्रशास्त्र के आगम ग्रथ अधिकतर इसी काल मे बने। इस युग मे जैन और नाथ सप्रदायों का पश्चिमी भारत मे प्रभाव भी अधिक था। परवर्ती काल मे तान्त्रिको के चमत्कारो के सबन्ध मे नाना प्रकार की अनुश्रुतियाँ भी प्रचलित हो गयी थी। अत रासो मे चन्द को शाक्त, तान्त्रिक और जोगी के रूप मे दिखलाने का कार्य परवर्ती काल के कवियो का प्रतीत होता है क्योकि १५ वीं शताब्दी के बाद के प्रेमाख्यानक काव्यो मे ही इस तरह की तत्र मत्र और यौगिक क्रियाओ की बातें अधिक मिलती हैं। सामन्ती वीरयुग के अप

भ्रश के चरित काव्यों मे उनका वर्णन बहुत कम हुआ है । वहाँ अलौकिक और अतिप्राकृत्त कार्य प्राय राक्षस, विद्याधर, गन्धर्व आदि द्वारा ही किए जाते हैं ।

४—कथानक

विकसनशील महाकाव्य अलकृत महाकाव्यों की तुलना मे बहुधा विशाल काय होते हैं क्योकि उनका कथानक अलकृत महाकाव्यो की तरह सघटित और शृखलित नहा होता । इसका कारण यह है कि उनकी कथा मे विकास क्रम और घटना सकलन की कला का अभाव होता है । अलकृत महाकाव्य ऐसे उद्यान का तरह होत है जिसमे माली की रुचि और उसकी कैंची की कला दिखलाइ पडती है । किन्तु विकसनशील महाकाव्य ऐसे विशाल और सघन वन की तरह हाते हैं जिसम सभी प्रकार के पेड पौधे स्वतत्र रूप से विकसित होत हैं । इस तरह विकसनशील महाकाव्यो मे कसावट, अन्विति और समानुपात कम होना या बिल्कुल नहा होता है । पृथ्वीराजरासो का कथानक ऐसा ही है । उसम कथानक की वह नाटकीय अन्विति नही है जो अलकृत महाकाव्यो—कुमारसभव, शिशुपालवध आदि—मे है । वस्तुत रासो एक चरित काव्य है । चरित काव्यो मे नायक की वश परम्परा और उसके जन्म से लेकर मृत्यु तक के जावनवृत्त का वर्णन होता है । रासो मे भी अग्नि कुण्ड से चाहान वश तथा अ य क्षात्रय वशा की उत्पत्ति, अजमेर के चौहान राजाओ की वशावली, उनम से प्रधान राजाओ की कथा, पृथ्वीराज का जन्म, उसके विवाह, युद्ध, मृत्यु आदि का ब्योरेवार वणन हुआ है । अरस्तू ने लिखा है कि महाकाव्य मे नायक का जीवन चरित्र इतिहास के रूप मे नही लिखना चाहिये क्योकि इतिहास म एक ही समय म घाटत होने वाली अनेक घटनाओ का वर्णन होता है पर महाकाव्य म उन घटनाओं म से नायक क जीवन से सबधित घटनाओ को चुन कर उन्ही का वर्णन किया जाता है । रासो मे वर्णित अधिकाश घटनाओ का सबध पृथ्वीराज क जावन से है । वे घटनाए इतिहास-समत हैं या नहीं, यह अलग बात है । वह राजस्थान का तत्कालान इतिहास नहीं, बल्कि कवि कल्पना से उद्भूत और वंशानुवश विकसित महाकाव्य है । उसम एक ओर तो इतिहास की अनेकानेक घटनाआ को छोड दिया गया है, दूसरा ओर पृथ्वीराज के सबध मे अनेक काल्पनिक घटनाआ को जोड कर कथानक को बहुत स्फीत बना दिया गया है ।

रासो का कथानक शास्त्रीय महाकाव्यो की तरह नाटकीय सधियो से युक्त और सुसघटित नही है । उसकी कथा का आधार इतिहास है, अत कथानक अनुत्पाद्य है । किन्तु उसमे अवान्तर और प्रासगिक कथाओ की भरमार है जिनमे

से अधिकाश उत्पाद्य या काल्पनिक हैं अथवा लोककथाओ दतकथाओ पर आधारित हैं। नाटक की सधियो से युक्त सुसघटित कथानक वह होता है जिसमे पताका और प्रकरी आधिकारिक कथा का सहायिका के रूप म होती है, उनका फल आधिकारिक कथा के कार्य या फल की सिद्धि मे योग प्रदान करने वाला होता है। रासो मे यह बात कम दिखाई पडती है। उसकी अधिकाश अवातर कथाएँ अपने आप मे स्वतत्र हैं। वे आधिकारिक कथा को ठेल कर आगे बढाने म बहुत कम योग देनी हैं। अत यह तो स्पष्ट है कि रासो का कथानक बिखरा हुआ है और इसी कारण इस महाकाव्य का आकार इतना विशाल हो गया है। किन्तु यह बात रासो मे ह। नहा ससार के अधिकाश विकसनशील महाकाव्यो मे पाई जाती हैं। अरस्तू ने महाकाव्य के कथानक की यह विशेषता बताइ है कि उसमे विकास क्रम उतार चढाव और जीवन्तता होनी चाहिए। रासो के कथानक म शृखला अवश्य है किन्तु वह बीच बीच म अवान्तर कथाओं और अनावश्यक वर्णन वि तार के क रण टूटा हुइ सी प्रतीत होती है। यदि उसम पृथ्वीराज के जन्म, दिल्ली राज्य की प्राप्ति, इच्छिनी, शशिव्रता, दाहिमी, हसावती और सयोगिता से उसके विवाह, तथा भीम चालुक्य, जयचन्द और कुछ अन्य राजाओ से उसके युद्ध और अन्त म शहाबुद्दीन के साथ उसके दो चार युद्धो का वणन ही होता तो कथानक निश्चय ही सुसघटित होता और उसका विकास क्रम भा स्पष्ट दिखाई पडता। किन्तु उसमे इतने अधिक युद्धो, विवाहो, मृगया, यात्रा और अन्य प्रकार की घटनाओ तथा कथाओं का वर्णन हुआ है कि आधिकारिक कथा का सूत्र अनेक स्थलो में खो सा जाता है। फिर भी उसके कथानक मे विकासक्रम है जो कथा प्रवाह की मन्द गति के कारण स्पष्ट दिखाई नहीं पडता। यदि कथानक मे कुछ भी विकासक्रम और उतार चढाव न होता तो वह काव्य न होकर इतिहास-पुराण बन गया होता। विकासक्रम मे आदि, मध्य और अन्त होना चाहिए और कथा की धारा चारो ओर से सिमट कर एकान्मुख होकर अन्तिम महत्कार्य की ओर प्रवाहित होनी चाहिए। रासो मे पृथ्वीराज का जन्म, दिल्ली दान कथा, इच्छिनी विवाह, भीम क साथ शत्रुता का प्रारभ, हुसेन कथा आदि बाते कथानक के आदि भाग मे आती हैं। फिर पृथ्वीराज के कुछ युद्ध और मृगया का घटनाये, शशिव्रता विवाह, जयचन्द के साथ बैर, पद्मावती हरण, सयोगिता हरण आदि घटनाये उसके मध्य भाग मे आती हैं और अतिम लडाई तथा उसके बाद की घटनाये अन्त भाग म आती हैं। इस तरह यदि अवान्तर कथाओ आर विवृत वणनो को छोडकर देखा जाय तो रासो की कथा मे विकासक्रम और उतार चढाव दिखाई पडता है।

कि तु कथा प्रवाह का वेग क्षीण होने से ही रासो के कथानक का महत्व कम नहीं हो जाता। किसी एक कवि की कृति न होने के कारण उसमे यद्यपि कथानक की सुनिश्चित योजना और कलात्मक तथा समानुपातिक सघटन नहीं है और न घटनाओ का अपेक्षित चुनाव ही हुआ है, फिर भी उसमे सक्रियता और जीवन्तता बहुत अधिक है। उसके कथानक की तुलना किसी नदी की वेगपूर्ण धारा से नही बल्कि महानद की मद गतिवाली धारा से करनी चाहिए। रासोकार ने तो अपने का य को समुद्र कहा ही है —

काव्य समुद्र कवि चन्द कृत मुकत समप्पन ग्यान।
राजनीति बोहिथ सुफल पार उतारन यान॥

अत समुद मे जिस तरह जल धारा का प्रवाह किसी एक दिशा मे नहीं होता पर उसका आर पार और मझधार तो होता ही है, उसी तरह रासो में भी आदि, मध्य और अ त हैं। उसमे कथा की एक धारा का वेगयुक्त प्रवाह नही बल्कि नाना घटनाओं की उत्ताल जल तरगो का आवर्त विवर्त है, महानद की मद गति म जो प्रचण्ड शक्ति होती है और सागर की शत शत तरगो मे जो महाघोष आर अनवरुद्ध अनाहत धूमधाम होती है, वही शक्ति और धूमधाम रासो मे भी दिखाई पडती है। अत उसका कथानक शिथिल, असघटित और असतुलित होते हुए भी प्रचण्ड शक्तिवाला और अत्यत जीवन्त है। रासो विशुद्ध कथात्मक काव्य नही है। इसके विपरीत यह घटना प्रधान और वर्णनात्मक काव्य है। फलस्वरूप उसकी शक्ति कथा प्रवाह मे नही बल्कि घटनाओं, सघर्षों और वर्णनो ये निहित है। ये घटनायें एक दूसरे को इस तरह ठेल कर आगे बढाती हैं कि कथानक भी उन्ही के साथ अन्तिम कार्य की ओर स्वत बढता जाता है। महाकाव्य मे कथानक सुसघटित होने से कलात्मक सौष्ठव उत्पन्न होता है, किन्तु उस कलात्मक सौष्ठव के बिना भी महाकाव्य हो सकते हैं ओर होते हैं। अरस्तू ने इलियड का कथानक सरल और सुसघटित तथा ओडेसी का कथानक जटिल माना है। उसी तरह भारत मे रामायण का कथानक सरल, नियन्त्रित और शृखलित तथा महाभारत का विशृखलित और बिना डीलडौल का है। अगरेजी के विकसनशील महाकाव्य बियोवूल्फ का कथानक न तो सरल है न जटिल। जटिल कथानक पौराणिक और रोमाचक काव्यों मे होता है जिनमे एक कथा के भीतर दूसरी और दूसरी के भीतर तीसरी कथा पिरोयी रहती है। रासो का कथानक न तो इलियड और रामायण के समान सरल और शृखलित हैं और न ओडेसी तथा पौराणिक रोमांचक महाकाव्यो के समान जटिल। इसके विपरीत वह बियोवुल्फ के कथानक की भाति नाना प्रकार के साहसपूर्ण रोमाचक

कार्यो की हलचल और अवान्तर कथाओ के जगल के भीतर से गुजर कर विकसित हुआ है। उसमे महाभारत के कथानक की जटिलता तो नहा है पर उसकी विशृखलता अवश्य है। महाभारत के समान ही उसम भी कार्यान्विति का अभाव है पर सक्रियता की अधिकता है। कार्यान्विति शास्त्रीय महाकाव्यों मे ही अधिक होती है। विकसनशील महाकाव्यो तथा पौराणिक रोमाचकशैली से अत्यधिक प्रभावित होने के कारण रासो के कथानक मे कार्यान्विति का अभाव होना स्वाभाविक है।

रासो मे कथानक रूढिया—कथानक रूढियो की दृष्टि से भी रासो का कथानक अपभ्रश के चरित काव्यो के जैसा ही है। कथा सबंधी अभिप्राय मुख्यरूप से निजन्धरी विश्वासो और सम्भावना पर आधारित होते हैं। अत रासो जैसे ऐतिहासिक शैली के काव्य मे इन रूढियो के उपयोग से यह प्रमाणित होता है कि रासो का कवि इतिहास की घटनाओ के साथ कल्पना का मिश्रण आवश्यक समझता है और वह कथा मं चमत्कार और गति उत्पन्न करने के लिये ऐसी अनेक घटनाओ का उपयोग करता है जिनका नायक के जीवन मे घटित होना किसी प्रकार भी सम्भव नहीं था। तथ्य और कल्पना के मिश्रण की यह प्रवृत्ति रासो के पूर्ववता संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रश के ऐतिहासिक चरित काव्यों मे किस सीमा तक मिलती है, यह तीसरे अ याय मे दिखाया जा चुका है। रासो मे निजन्धरी कथाओ की जिन रूढियों का उपयोग हुआ है उनम से कुछ तो निजन्धरी विश्वासों पर आधारित हैं और कुछ कवि कल्पित हैं। कवि कल्पित का अर्थ यह नही है कि वे रासोकार की अपनी कल्पना की उपज हैं। कवि-कल्पित कथानक रूढियाँ वे हैं जिनका आधार निजन्धरी विश्वास न होकर किसी भी कवि की कल्पना होती है। बाद मे कथा विस्तार के लिये उपयोगी सिद्ध होने पर अनेक कवियो द्वारा बार बार प्रयुक्त होकर वे रूढि का रूप धारण कर लेती हैं।

निजन्धरी विश्वासो पर आधारित निम्नलिखित प्रमुख रूढियों का रासो मे उपयोग किया गया है —

१ —लिंग परिवर्तन—'कनवज्ज समय' मे अत्ताताई की कहानी मे इस रूढि का उपयोग हुआ है।

२—साकेतिक भाषा—कवि चन्द भीमराज चालुक्य से साकेतिक भाषा मे बात करता है। जाला, कुदाली, नसेनी, अकुश, त्रिशूल आदि वस्तुओ के सकेत से वह भीमराज को अपना अभिप्राय समझाता है।

३—पूर्वजन्म की स्मृति—रासो मे 'चन्द द्वारिका गमन' नामक बयाली सवे समय म चित्रकोट या चित्तौर गढ की कथा म 'पूवजन्म की स्मृति' नामक कथानक रूढि का व्यवहार हुआ है।

४—अतिप्राकृत दृश्य द्वारा लक्ष्मीप्राप्ति का शकुन—यह रूढि भारतीय शकुनशास्त्र और सामान्य लोकविश्वास पर आधारित है। रासो मे 'भूमि स्वप्न प्रस्ताव' नामक सत्रहवे समय मे पृथ्वीराज को एक विचित्र शकुन द्वारा भूमि और लक्ष्मीप्राप्ति की सूचना मिलती है। शकुन यह है कि वह सर्प के फन के ऊपर एक देवी (खजन पक्षी) को नृत्य करते देखता है।

५—सर्प, देव, यक्ष आदि द्वारा गडे धन की रक्षा—पृथ्वीराज को 'खट्टूवन' मे प्राप्त होने वाली सपत्ति सर्प और यक्ष द्वारा रक्षित होने के कारण सरलता से नही प्राप्त होता।

६—फलादि द्वारा सन्तानोत्पत्ति—अनगपाल की कन्या तथा उसकी सहेलियो का ढुढा राक्षस द्वारा प्राप्त फल से सतानोत्पत्ति होती है।

७—अतिप्राकृत जन्म—रासो मे पृथ्वीराज के पूर्वज माणिकराय की रानी के गर्भ से बालक के स्थान पर एक अण्डाकार अस्थिखण्ड की उत्पत्ति वर्णित है। उस अस्थिखण्ड का विवाह भी होता है और बाद मे उसी से सु दर वीर बालक की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार के अतिप्राकृत जन्म की कथाये महाभारत से ही चली आ रही हैं।

८—भविष्यसूचक स्वप्न—चन्द को प्राय सरस्वती द्वारा स्वप्न मे भूत भविष्य का बाते मालूम हाती रहती हैं। साथ ही दिल्ली दान नामक प्रस्ताव मे सिंह के प्रतीकात्मक स्वप्न द्वारा भी भविष्य की सूचना देकर कथा को बढाया गया है।

९—ऋषि मुनि का शाप—वीसलदेव को जानबूझ कर एक सती ब्राह्मणी का सतात्व नष्ट करन के कारण राक्षस हो जाने का शाप मिलता है और पृथ्वीराज को 'आखेटक श्राप प्रस्ताव' मे एक बाघम्बरधारी तपस्वी द्वारा अज्ञान में हुए अपराध के लिये अन्धे होने का शाप मिलता है।

१०—प्रेम मे स्पर्द्धा और यक्षिणी योगिनी की सहायता—इस रूढि का उपयोग रासो के आदि पर्व म यागिनी द्वारा वासलदेव के नपुसक बनाये जाने की कथा मे किया गया है।

११—मन्त्र तन्त्र की लडाई—मन्त्र तन्त्र के युद्ध का वणन रासो मे कई स्थानो पर मिलना है। चन्द स्वय म त्र तन्त्र का ज्ञाता है और भामदेव के मन्त्री अमरसिंह सेवरा तथा गजनी दरबार के भट्ट दुर्गाकदार के साथ उसके मन्त्र

युद्ध का वर्णन विस्तार के साथ दिया गया है। 'महोबा समय' मे आल्हा के साथ भी उसका मन्त्र युद्ध होता है।

कवि कल्पना पर आधारित जिन कथानक रूढियो का रासो मे व्यवहार हुआ है उनम से प्रमुख ये हैं —

१—शुक सम्बन्धी रूढि—इस रूढि का कथाओ म तीन रूपो मे उपयोग किया गया है :—(१) कहानी के श्रोता वक्ता के रूप मे, (२) कथा को गति देने वाले महत्वपूण पात्र या सन्देशवाहक के रूप मे, (३) कथा के रहस्यों को खोलने वाले अनपराद्ध भेदिया के रूप मे। रासो मे शुक शुकी इन तीनो ही रूपो म आये हैं। कहा का चुका है कि रासो की पूरी कथा शुक शुकी के सवाद के रूप मे कही गयी हैं। कथा के पात्र के रूप मे शुक शुकी का दो स्थानो पर उपयोग किया गया है—पद्मावती समय में, जहाँ नायक नायिका को परस्पर आकृष्ट कराने वाला शुक है, और 'शुक समय' में, जहाँ सारिका इच्छिनी की वियोग दशा की सूचना देकर सयोगिता के प्रेम में मग्न राजा को इच्छिनी की ओर आकृष्ट करती है। अपभ्रंश के चरित काव्य करकण्डुचरिउ मे भी इस रूढि का उपयोग हुआ है।

२—रूप गुण श्रवण ज य आकर्षण —इस रूढि का उपयोग रासो में अधिकाश विवाहो के प्रसग मे हुआ है।

३—नायिका का अप्सरा का अवतार होना—रासो मे सयोगिता अप्सरा का अवतार है।

इनके अतिरिक्त अन्य कवि कल्पित कथानक रूढियों में रासो में निम्नलिखित रूढियाँ भी यत्र तत्र बिखरी मिलती हैं —

४—सदेशवाहक हस कपोत।

५—भावी प्रिय या प्रिया का स्वप्न मे दर्शन।

६—प्रिय या प्रिया की प्राप्ति के लिए शिव पार्वती का पूजन।

७—पूजा के लिए मन्दिर मे गई कन्या का हरण।

८—बारहमासे के माध्यम से विरह वेदना का वर्णन।

९—उजाड नगर का मिलना।

१०—प्यास लगने पर जल की तलाश मे जाते समय किसी अद्भुत अकल्पित घटना का घटित होना।

११—वन मे मार्ग भूलना और किसी मुनि, देवता या राक्षस से भेट।

१२—कबन्ध-युद्ध।

५—महच्चरित्र

यह सिद्धान्त बहुत कुछ सर्वमान्य है कि महाकाव्य का नायक महान अथवा अत्यन्त महत्वपूर्ण अवश्य होना चाहिए। ससार के कई प्रसिद्ध महाकाव्यो मे यह बात देखी भी जाती है। भारतीय आलकारिको मे भामह, दण्डी और विश्वनाथ ने यह माना है कि महाकाव्य के नायक को महान, गुणान्वित, सदाश्रय और धीरोदात्त या चतुरोदात्त होना चाहिये। तात्पर्य यह कि वह चाहे दिव्य पुरुष हो या दिव्यादिव्य, किन्तु उसका चरित्र आदर्श होना चाहिये। इस तरह इन आचार्यों ने आदर्श व्यक्ति को ही महान व्यक्ति माना है और इस प्रकार महाकाव्य के नायक को 'आदर्श' चरित्र का एक 'टाइप' बना दिया है। इसके विपरीत रुद्रट ने 'आदर्श' या 'महान' शब्द के घेरे मे नायक को नही बाँधा है। उनके अनुसार महाकाव्य का नायक, शक्तित्रय (प्रभुशक्ति, मत्रशक्ति और उत्साहशक्ति) से युक्त, त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) मे लीन, समस्त प्रजा म अनुरक्त, विजिगीषु और सर्वगुणसमन्वित राजा होना चाहिये। स्पष्ट है कि ये गुण ससार के अन्य देशो के सभी महाकाव्यो के नायको मे नही मिल सकते। बियोवूल्फ और पैरेडाइज लास्ट के नायक धीरोदात्त और आदर्श पुरुष नहीं हे। अत कोई भी व्यक्ति, चाहे वह देवता, ब्राह्मण, क्षत्रिय और राजा हो या न हो, चाहे वह धीरोदात्त और सकल गुणसमन्वित आदर्श और महान पुरुष न भी हो, महाकाव्य का नायक बन सकता है यदि उसमे किसी महदुद्देश्य के लिए अपना सब कुछ बलिदान कर देने की क्षमता है। यदि वह अपनी इस क्षमता और शारीरिक मानसिक योग्यता के फलस्वरूप महाकाव्य का सबसे महत्वपूर्ण पात्र बन जाता है और कथा उसी का आश्रय लेकर आगे बढती है तो वही महाकाव्य का नायक कहलायेगा। फिर अरस्तू के अनुसार भी चाहे वह आदर्श चरित्र हो या यथार्थ हो अथवा परम्परागत ढग का हो, इससे उसके नायकत्व में कोई बाधा नहीं उपस्थित होती।

पृथ्वीराजरासो का नायक पृथ्वीराज है किन्तु क्या वह भारतीय आचार्यों के अनुसार महाकाव्योचित नायक है? वह महान योद्धा, क्षत्रिय, राजा और शक्तित्रय से युक्त है, त्रिवर्ग मे से अर्थ और काम मे लीन भी है, पर वह धर्म-साधक और प्रजानुरक्त नहीं है। अत क्या वह आदर्श और महान पुरुष है? यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि आदर्श और महान सापेक्ष्य शब्द हैं और प्रत्येक युग मे परिस्थिति के अनुसार आदर्श और महान की धारणा और कल्पना भी बदलती रहती है। पृथ्वीराज सामन्ती वीरयुग की दृष्टि से महान नायक है, इसमे सदेह नही किया जा सकता। उस युग का महान और योग्य-

तम व्यक्ति वही होता था जो बाहुबल मे सबसे आगे बढा होता था और अपनी आन, मर्यादा और ख्याति के लिए प्राणो की चिन्ता न करते हुए विपत्तियो के मुख मे घुस कर और शक्तिशाली शत्रुओं को पराजित करके विजय श्री को वरण करता था, जिसके लिए उसकी वीरता के अतिरिक्त नैतिकता का और कुछ अर्थ नहीं होता था। इस दृष्टि से पृथ्वीराज अपने युग का महान व्यक्ति अवश्य है और जब तक समाज मे सामन्ती वीरयुग की प्रवृत्तियाँ वर्तमान रही हैं तब तक वह समाज के लिए आदर्श पुरुष अवश्य बना रहा है या बना रहेगा। किन्तु यदि विकासोन्मुख साम त युग (साम्राज्य युग) और पूजीवाद युग के जीवन-मूल्यो की दृष्टि से देखा जाय तो पृथ्वीराज आदर्श या महान व्यक्ति नहीं प्रतीत होता। न तो उसमें राम जैसी मर्यादा, शील और लोक हित की भावना है न युधिष्ठिर जैसी धार्मिक और नैतिक आदर्शवादिता या गौतम बुद्ध जैसी समष्टि चेतना है। अत पूर्ववता या परवता युगो की नैतिक दृष्टि से पृथ्वीराज का चरित्र आदर्श या महान नही माना जा सकता। इसके विपरीत उसके कई कार्य अनैतिक, अधार्मिक और असामाजिक भी कहे जायगे —जैसे वेश्या के लिए रात मे छिप कर मत्री कैमास का वध करना, शृगारहार हाथी के लिए चामुडराय को कैद करना, भोग विलास की अतिशयता और सयोगिता के रूप जाल मे फस कर राजकाज तथा सगे सबधी सबको भुला देना, तेरह तेरह विवाह करना, राजकुमारियो का अपहरण करना आदि। पृथ्वीराजरासो को सामन्ती वीरयुग का प्रतिनिधि महाकाव्य बताते हुए पहले कहा जा चुका है कि उस युग में यदि कोई शारीरिक शक्ति म सर्वश्रेष्ठ था तो उसके भीतर अन्य चाहे जो भी बुराइयाँ हों सब क्षम्य समझी जाती थीं। इस दृष्टि से उपर्युक्त सभी बुराइयो के रहते हुए भी रासो के अनुसार पृथ्वीराज अपने युग के सवश्रेष्ठ पुरुषों मे से था। अत जिसका सारा जीवन युद्ध भूमि मे या शिकारगाहा मे शारीरिक शक्ति और बल पराक्रम का प्रदर्शन करते हुए वीरतापूवक बीता, जिसने शहाबुद्दीन जैसे विदेशी विधमा शत्रु को बीसो बार पराजित करके क्षमा दान दे दिया, जो अपने सामन्तो का अपना सखा और बन्धु मान कर उनके साथ सदैव उदारता का व्यवहार करता रहता था, वह निस्सदेह महाकाव्य का नायक बनने के उपयुक्त, महान व्यक्तित्व वाला आदश वीर था। रासा का जो महदुद्देश्य है, पृथ्वीराज उसको पूरा करने वाला और कथानक की तमाम घटनाआ और व्यापारा का केद्रबिन्दु है, अत उसकी भूमिका इस महाकाव्य मे सबसे अधिक महत्वपूर्ण है और वह अपनी भूमिका बडा योग्यता और सफलता से पूरी करता है। अतएव वह महच्चरित्र है और उसके आश्रय से ही पृथ्वीराजरासो महाकाव्य पद का अधिकारी बन सका है।

रासो मे पृथ्वीराज के अतिरिक्त अन्य चरित्र भी कम वीर नही हैं। जिस तरह महाभारत को उज्ज्वल चरित्रो का वन कहा जाता है उसी तरह पृथ्वीराज-रासो को भी वीर चरित्रों का वन कहा जा सकता है। जिस युग मे क्षात्र धम का आदर्श ही यह था 'बरिस अठारह छत्री जावे आगे जीवन को धिक्कार' और जिसमे वारा के लिए युद्ध भूमि म मरने का अर्थ सीधे स्वर्ग पहुँचना या अप्सराओ द्वारा वरण किया जाना होता था उसमे वीर पुरुषो की क्या कमी होगी? फलस्वरूप रासो मे एक से एक वीर राजा, सामन्त और सरदार हैं जो युद्ध को खेल तमाशा समझते हैं, जिनके लिए मरना मारना अत्यत साधारण बात है, यही नही युद्धभूमि मे लडते लडते सिर कट जाने पर भी जिनका कबन्ध लडता रहता है और बहुतो को मार कर तब गिरता है। इसी प्रकार शौय और पराक्रम के साथ साथ ये वीर अपनी शान, मयादा, ख्याति और स्वामिभक्ति के लिए भी कठिन से कठिन परीक्षा देने के लिए तैयार रहते हैं। उसमे कन्ह जैसे वार हैं जो अपने सामने किसी को मूँछ पर ताव देते देख उसका सर उतार लेते हैं किन्तु साथ ही स्वामिभक्त इतने कि इस घटना के बाद पृथ्वीराज की आज्ञा से हमेशा आँखो पर सोने की पट्टी बाँधे रहते हैं और जब युद्ध भूमि मे या शिकारगाह मे पट्टी खुलती है तो शेर का मस्तक हथेली से मसल देते हैं। उसी तरह चन्दवरदाई भी अपने आश्रयदाता के लिए अतिम समय तक सब कुछ करने को तैयार रहता है।

इतना होते हुए भी रासो मे वह चरित्र वैविध्य नही है जो महाभारत म दिखाई पडता है। एक तो यो भी पृथ्वीराज का चरित्र उसमे विशाल वट की तरह इतना छा गया है कि अन्य किसी भी चरित्र का सम्यक् विकास नही हो पाया है, दूसरे जो चरित्र कुछ उभरे हुए हैं वे भी अपने ढग के निराले व्यक्तित्व वाले नहीं हैं। प्राय सभी वीर और सामन्त मानो एक ही चारित्रिक साँचे मे ढले हुए हैं। महाभारत मे कोई महान धनुविद है तो कोई महान आचार्य, कोई नीतिज्ञ है तो कोई धमराज, कोई सारथ्य विद्या का पडित है तो कोई द्यूत विद्या का। इसी प्रकार उसमे सभी चरित्र अपने अपने ढग से स्वतत्र रूप से विकसित हुए हैं। रासो के चरित्रा मे ऐसी विविधता और निरालापन नही है। उसमे दो ही चार चरित्र ऐसे हैं जो अन्य चरित्रों से कुछ भिन्नता रखते हैं। उदाहरण के लिए रावल समर सिंह महान वीर होते हुए भी सफल नीतिज्ञ और धमशास्त्र के ज्ञाता हैं, वे युद्ध भूमि मे कृष्ण ओर भीष्म की तरह धम और नीतिशास्त्र के विषय म प्रवचन देते हैं। बडी लडाई के पहले होने वाली मत्रणा सभा मे भी वे अपनी राजनीतिकुशलता का परिचय देते है। इसी तरह

चन्दवरदाई भी रासो मे अपने ढग का अकेला चरित्र है। यद्यपि वह भी युद्ध भूमि मे अपना पराक्रम दिखाता है किन्तु दौत्य और मत्रणा क कार्य म वह दक्ष है और अपनी काव्य प्रतिभा से विरुदावली पढ कर शहाबुद्दीन जैसे व्यक्ति को अपने वश म कर लेता है। जयचन्द और भीम के दरबार मे जाकर वह जिस बुद्धिमता और नीतिज्ञता का परिचय देता है वह अन्य किसी चरित्र मे नही दिखाई पडतो। जब वह हाहुलीराय हम्मीर को पृथ्वीराज के पक्ष म मिलाने के लिए जाता है ता नीति और धम के विषय मे उससे बडी लम्बी बहस करता है। मत्र तत्र की गुह्य विद्या मे भी वह पडित है और अमरसिह सेवरा और भट्ट केदार जैसे मत्रविद्या मे कुशल लोगो को मत्र युद्ध म पराजित करता है। रासो मे स्त्री पात्रो मे किसी का भी व्यक्तित्व वैसा महत्वपूर्ण नहीं है जैसा महा भारत मे द्रौपदी, कुता, शकुन्तला, सावित्री, गान्धारी आदि और रामायण मे साता, कैकेयी, मन्दादरा, आदि का है। सामती वीरयुग की सस्कृति के अनुरूप रासो की सभी स्त्रियाँ भोग विलास के साधन के रूप मे हैं, अत सभी एक जेसी हैं। प्रेमिका के रूप म शशिव्रता, पद्मावती और सयोगिता का रूप कुछ निखरा अवश्य है किन्तु तभी तक जब तक कि वे पृथ्वीराज के महल मे नहीं पहुँच जातीं। वहाँ पहुँचने के बाद फिर उनकी चचा ही बन्द हो जाती है। फिर भी संयोगिता रासो की नायिका पतीत हाती है, पृथ्वाराज उसी म सबसे अधिक अनुरक्त है और उसीके कारण विलासिता मे डूबकर वह पराजित भी हाता है। इस प्रकार रासो मे चरित्रो की विविधता और व्यक्तित्व का वैचित्र्य बिलकुल नही दिखाई पडता।

विकसनशील महाकाव्यो मे बहुधा दिव्य और राक्षस चरित्र भी मानव के साथ उसके क्रियाकलाप मे भाग लेते हुए या उसके कार्यों को प्रभावित करते हुए देखे जाते हैं। रासो म शिव, इन्द्र, काली, राक्षस, ग धर्व, बावन वीर, भैरव, अप्सरा आदि अलौकिक अप्राकृत पात्र आये हैं और अलौकिक तथा अतिमानव शक्ति वाले ऋषि, मुनि आदि भी शाप या वरदान देकर मानव क भाग्य म उलटफेर करते दिखाइ पडते हैं। अरस्तू ने कहा है कि महाकाव्य म किसी पात्र को कोइ ऐसा कार्य नही करना चाहिए जो असम्भव हो, ओर असभव या अस्वाभाविक हो भी तो उसे इस ढग से उपस्थित करना चाहिये कि उसकी प्रतीति असभव जेसी न हो। रुद्रट ने भी यही बात कही है कि महाकाव्य म अलोकिक ओर अतिमानव कार्य मानवो को गन्धर्व, राक्षस, देवता आदि की सहायता से ही करते हुए दिखाना चाहिए। इस दृष्टि से देखने पर रासो को असभव और अतिमानव कायो की अधिकता के लिए

दोषी नही ठहराया जा सकता क्योकि उसम शाप या वरदान की सहायता से बहुत से कार्य होते हैं और अनेक घटनाये घटित होती हैं। अत इस दृष्टि से भी रासो के महाकाव्यत्व मे कोई बाधा नहीं पडती।

६—गरिमामयी उदात्त शैली

दूसरे अध्याय मे महाकाव्य की शैली और रूप शिल्प के सबध मे जो विचार व्यक्त किये जा चुके हैं उनकी कसौटी पर कसने पर भी रासो खरा उतरता है। उसकी शैली मे वह गरिमा और उदात्तता (ग्रेंजर एण्ड मैगनी फिसे स) है जिसके बिना कोई काव्य महाकाव्य नहीं माना जा सकता। शैली बाह्य से अधिक आन्तरिक वस्तु है, वह काव्य की आत्मा की कान्ति है। महाकाव्य मे उसकी स्थिति जितनी कवि की विराट् चेतना, महदुद्देश्य, नायक की महानता और उसके महत्कार्य और कथानक की जीवन्तता आदि बातो पर निर्भर करती है उतनी महाकाव्य के बाह्य या शारीरिक गुणो—अलकार, छन्द विधान भाषा आदि—के यत्नसाध्य कलात्मक सौष्ठव पर नहीं। रासो विकसनशील महाकाव्य है अत उसमे अलकृत महाकाव्यो जैसी साज-सज्जा, काट छाँट, बनाव सिंगार और चमक दमक नही है अर्थात् उसकी शैली मे कृत्रिम सौन्दर्य के प्रसाधन बहुत कम या नही के बराबर है। अलकारो की यत्नसाध्य योजना, भाषा की मँजावट और कसावट, उपयुक्त शब्दो का चयन और उक्ति वैचित्र्य आदि काव्य की पच्चीकारी और मीनाकारी, जो रीतिबद्ध (क्लासिकल) काव्यों मे होती है, उसमे नही है। फिर भी उसमे वह सहज ओज और कान्ति है जो महाकाव्य की आत्मा का प्रतिबिम्ब बाहर झलकाती है।

रासो का प्रतिपाद्य विषय पृथ्वीराज का शौर्य, पराक्रम, साहस और असीम उत्साह है। अत इन बातो के अनुरूप ही उसकी शैली मे ओज, उष्ण कान्ति और शक्ति है। उसमे रामायण, रघुवश, कुमारसम्भव आदि महाकाव्यो जैसा मार्दव, माधुर्य और सौकुमार्य नही है बल्कि महाभारत जैसी कठोरता (रगेडनेस) और तीक्ष्णता है। रासो मे भी सौन्दर्य है पर जगल के अनगढपन और सहजता का सौन्दर्य है, उद्यान का प्रयत्नसाध्य कृत्रिम सौन्दय नही, अर्थात् उसकी शैली म सादगी, सरलता और अनलकृति है। उसमे स्फीति और विस्तार है, थोडे म अधिक कहने, कम शब्दो मे अधिक अर्थ भरने की कला नहीं है। जिस तरह वीर पुरुष की दर्पस्फीत शिराओं मे उष्ण रक्त की तीव्र गति होती है, रासो की शैली म भी वैसी ही उष्णता और तीव्रता है जो पाठको को सहज ही अभिभूत कर लेती है। इस प्रकार शैली की वे सभी विशेषताएँ जो वीर

रस प्रधान विकसनशील महाकाव्यो—इलियड, बियोवूल्फ, साग आफ रोलैण्ड और महाभारत—मे पाई जाती हैं, रासो मे भी दिखलाई पडती हैं।

रासो के रूप विधान मे सौन्दर्य बोध का वह स्वरूप नही दिखाइ पडता जो सस्कृत रुचि और कलात्मक साधना से उत्पन्न होता है। कथा का सन्तुलित रूप गठन, घटनाओ का समानुपातिक चुनाव और वस्तु व्यापारो का प्रसगानुसार यथोचित वर्णन उसमे नही है जिससे उसका रूप बिना डील डौलवाला, सामञ्जस्यहीन और मैत्रीहीन (अनसिमेट्रिकल) है, किन्तु उसके इस अनगढ पन, विषमता और असामजस्य मे भी एक ऐसा ऊर्जस्वित और पौरुषयुक्त सौन्दर्य है जो अपनी उपमा आप ही है। उसमे हिमालय जैसा विषम और विराट् सौन्दर्य है, ताजमहल जैसा सुकोमल और गीतात्मक सौ दर्य नहीं। इस सौन्दर्य की अभिव्यक्ति उसकी गरिमामयी उदात्तशैली के द्वारा ही हुइ है।

ऊपर कहा जा चुका है कि रासो म यत्नसाध्य अलकारो की योजना नही हुई है। स्वाभाविक अलकार तो भाषा की शक्ति या उसके अवयव होते हैं और सामान्य बोलचाल मे भी उनका प्रयोग बराबर होता रहता है। पर काव्य की भाषा मे, चाहे वह लोककाव्य ही क्यों न हो, उनकी बहुलता होती है। उन्ही के कारण काव्य की भाषा और शैली सामान्य बोलचाल की भाषा शैली से भिन्न होती है। रासो मे जो अलकार मिलते हैं वे ऐसे ही स्वाभाविक अल कार हे जिनके कारण उसकी भाषा की अभिव्यजना शक्ति बढी है। उसमे ऐसे अलकार नहीं हैं जिनका लक्ष्य केवल चमत्कार उत्पन्न करना होता है। सहज अलकारो का भी जब बहुत अधिक और अनावश्यक प्रयोग होने लगता है तो वे भाषा मे शक्ति और सौन्दर्य बढाने की जगह उसके सहज प्रवाह मे बाधा उत्पन्न करने वाले हो जाते हैं। रासो म अनुप्रास, उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, उदाहरण आदि स्वाभाविक अलकार तो बहुत मिलते हैं किन्तु कहीं भी उनका एक साथ इतना अधिक प्रयोग नही हुआ है जिससे यह प्रतीत हो कि कवि अपनी कला चातुरी का जानबूझ कर प्रदर्शन कर रहा है। किरातार्जुनीय और शिशुपालवध मे कहीं कही अनुप्रास, यमक या श्लेष का धारा प्रवाह प्रयाग हुआ है। इस तरह को कृत्रिम अल्कृात रासो म नही दिखाई पडती। फिर भी रासो की सादगी और अनलकृति लोकमहाकाव्यो या प्रारभिक वीरयुग के विकसनशील महाकाव्यो जैसी नही है। सामन्ती वीरयुग के दरबारी वातावरण मे विकसित होने क कारण उसमे तत्कालीन साहित्य मे प्रयुक्त परपरागत अलकारो को ग्रहण किया गया है। इस कारण उसम उत्प्रेक्षाओं ओर सागरूपको की अधिकता है। विकसन शील महाकाव्यो म उपमाए बहुधा वन्य जन्तुओं और पशुओ से दी जाती हैं,

रासो म कई जगह युद्ध वर्णन मे वीरो के भिडन्त की उपमा वृषभों या सिहो के युद्ध से दी गयी है । इसके अतिरिक्त उसमे बहुत से उपमान ऐसे हैं जो बिल्कुल नये, सामान्य दैनन्दिन जीवन और आसपास के वातावरण से गृहीत हैं। रासो की वर्णन विधि म एक विशेषता यह भी दिखाई पडती है कि उसमे किसी बात पर अधिक जोर देने या उसे अधिक स्पष्ट करने के लिए किसी शब्द या वाक्य खण्ड की आवृत्ति कइ बार की गयी है। इसे कुछ आलकारिको ने अवृत्ति दीपक नाम दिया है और कुछ लोग इसे यमक और अनुप्रास के अतर्गत मानते हैं। पर वस्तुत इस प्रकार की आवृत्ति को भाषण कला (रेटारिक) का एक अग मानना चाहिए, उसे अलकार मानना स्वभावोक्ति को अलकार मानने जैसा ही है। अपभ्रश के काव्यो मे आवृत्ति की यह पद्धति बहुत अधिक दिखलाइ पडती है और इस परपरागत पद्धति का अनुसरण रासो मे तथा हिंदी के अ य परवर्ती काव्यो मे बहुत अधिक हुआ है। तुलना के लिए पउमसिरिचरिउ और रासो के एक एक छ द दिये जा रहे हैं —

सो धम्मु सारु जहि जीव-रक्ख। सो धम्मु सारु जहि नियम सक्ख ॥
सो धम्मु सारु जहि सच्च वाय। सो धम्मु सारु जहि नत्थि माय ॥
सो धम्मु न जहि पर दव्व हरणु। सो धम्मु न जहि पर पीड करणु ॥
सो धम्मु न जहि कामिणि पसगु। सो धम्मु न जहि चारित्त भगु ॥

पउमसिरिचरिउ—१—८

चिर जीवहु श्रोतान काम मन वछित पूरय।
चिर जीवहु श्रोतान दुष्प आपद भय चूरय।
चिर जीवहु श्रोतान पुत्र परिवार सहेनौ।
चिर जीवहु श्रोतान दान कवियजन देतौ।

रासो—६८—२४४

रासो की भाषा मे वह सौन्दर्य और परिष्कार नहीं है जो किसी बहुपठित, विद्वान कवि की भाषा मे उसकी सुष्ठु पद योजना, सुनियोजित शब्द चयन, शब्द शक्तियों के समुचित उपयोग और गुण रीति वृत्ति आदि के यथोचित व्यवहार से उत्पन्न होता है। उसकी भाषा मिश्रित है जिसमे सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रश और लोकभाषाओ—डिगल, पिंगल (ब्रजभाषा) पजाबी तथा विदेशी भाषाओ—अरबी, फारसी, तुर्की—के शब्दो और व्याकरण सबधी प्रयोगों का विचित्र समिलन हुआ है। अब तो यह बात अधिकाश विद्वानो को मान्य हो गयी है कि मूल रासो की भाषा अवहट्ट या प्राचीन राजस्थानी थी जिसका रूप सैकडों

वर्षों मे विकृत हो गया है और परवर्ती कवियो ने अपने काल मे प्रयुक्त भाषाओ के शब्दा और रूपों को उसमे मनमाने ढग से भरा है। अत रासो की भाषा मे एकरूपता और मॅजावट नही है जो उसकी शैली का बहुत बडा दोष है। फिर भी उसकी भाषा की एक बडी विशेषता यह है कि उसमे प्रसगानुकूल 'गुण' मिलते है। वीर रस के प्रसग में ओज गुण और शृगार के प्रसग मे माधुर्य गुण का समावेश उसकी शैली मे आकर्षण उत्पन्न करता है। रीति को दृष्टि से उसम लाटी शैली का प्राधान्य है क्योकि उसकी भाषा मे ल–ट–ड आदि कर्कश वणा का अत्यधिक प्रयोग हुआ है और इससे रासो की शैली उसके प्रतिपाद्य विषय के अनुरूप ओर वीर रस क लिए सर्वथा उपयुक्त बन गयी है। अनुस्वारो और सयुक्त वणो का अधिक प्रयोग अपभ्रश की परम्परा की देन है जो रासो ही नहीं, डिगल के परवर्ती काव्यो, यहाँ तक कि अवधी मे तुलसी के मानस मे भी दिखलाई पडता है। अत यह आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओ की एक विशेष शैली प्रतीत होती है जिसका मूल उत्स अपभ्रश मे है। अनुस्वारान्त और सयुक्तवर्ण बहुल शब्दों के अधिक प्रयोग के कारण भी रासो की शैली अधिक विषयानुकूल और रसानुरूप हो गयी है। इन सब बाता से रासो मे शैली की वह गरिमा, उदात्तता, और असाधारणता दिखाई पडती है जो विकसनशील महाकाव्यो म ही विशेष रूप से देखी जाती है।

रासो मे प्रबन्ध रूढियाॅ—सस्कृत के आलकारिको ने महाकाव्य के जो लक्षण बताये हैं उनमे से कुछ महाकाव्य के बाह्य रूप से सम्बन्धित हैं जो अधिकाश महाकाव्यों मे रूढि रूप मे मिलते है। उन लक्षणों का विवेचन पिछले अ यायो में प्रसगानुसार किया जा चुका है। उनके अतिरिक्त कुछ ऐसी भी प्रबन्ध रूढियाँ हें जो लक्षण ग्रन्थो मे तो नही दी गयी हैं किन्तु अनेक प्रबन्ध काव्यो मे मिलती हें। वे सभी ये हैं —

१—सगसम्बधी नियम, २—मगलाचरण और आशीवाद, ३—सम्वादरूप मे कथारम्भ, ४—वस्तुनिर्देश, भूमिका और विषयानुक्रमणिका, ५—दुर्जन निन्दा, सज्जन प्रशसा, ६—पूव कवि प्रशसा, ७—कवि का विनम्रता प्रकाश, ८—नायक की प्रशसा और उसके नगर का वर्णन, ९—नायक के वश की उत्पत्ति और पूवजों की वशावली, १०—ग्रथारम्भ और ग्रन्थान्त अथवा सर्गान्त मे रचना काल, स्थान, आश्रयदाता आदि का वर्णन, कवि का आत्मनिवेदन, या आत्मपरिचय, ११—नाममुद्रा, १२—ग्रन्थान्त मे ग्रन्थ का महत्व कथन, १३—छन्द सम्बन्धी रूढियाँ।

पृथ्वीराजरासो मे ये सभी रूढियाँ वर्तमान हैं। प्रारम्भिक वीरयुग के विकसनशील महाकाव्यो मे इनमे से अधिकाश रूढियाँ नही होती हैं। रासो मे वे इसलिए हैं कि यह काव्य सामन्ती वीरयुग के पठित समाज मे और अलकृत महाकाव्यो के प्रभाव मे विकसित हुआ है। अत उस युग मे सस्कृत, प्राकृत और अपभ्रश के महाकाव्यो, विशेषकर अपभ्रश के चरित काव्यो, मे जो प्रबन्ध रूढियाँ प्रचलित थीं उनको रासो ही नही परवता काल के अन्य महाकाव्यों मे भी बहुत कुछ अपना लिया गया है।

रासो अध्यायो म अवश्य विभक्त है जिनका नाम 'समय' या 'प्रस्ताव' रखा गया है पर कहा कही उनका 'पव' और 'खण्ड' नाम भी है, जैसे—आदि पव, कनवज्ज खण्ड, महोबा खण्ड आदि। 'पर्व' तो महाभारत का अनुकरण है और खण्ड' रामायण और स्वयभू के पउमचरिउ के काण्डो का समानाथा है अथवा परवता प्रेमारयानक काव्या के 'खण्ड' नाम का अनुकरण है। कुल समया की सख्या ६९ है जिसमे से कुछ बहुत बडे और कुछ बहुत छोटे हैं। 'विवाह समय' केवल दो पृष्ठो का है। सस्कृत मे हरविजय ५० सर्गो का है और प्राकृत के पउमचरिय मे ११८ अध्याय हैं। अपभ्रश के पउमचरिउ मे ९०, रिट्ठणेमिचरिउ मे ११२ और महापुराण मे १०२ सर्ग हैं। अत सख्या की दृष्टि से रासो मे ६९ समयो का होना कोई नई बात नहीं है। इन सर्गो मे से कुछ का अतिदीर्घ और कुछ का अतिस्वल्प होना यह सिद्ध करता है कि रासो एक हाथ की रचना नहीं है जिससे उसमे नाटक की सधियो के अनुरूप सर्गो के विधान और उनमे कथानक का समानुपातिक विभाजन नही हो सका है। रासो मे सर्गोपादेय कथा के अनुसार सर्गो का भी नाम रखा गया है जैसे 'शशिव्रता वर्णन नाम प्रस्ताव' या 'पगयज्ञ विध्वम समय'।

मगलाचरण के रूप मे आदिपर्व या प्रथम समय मे बहुत से छ द हैं जिनम सभी देवी देवताओ, जैसे आदिदेव, इन्द्र, सरस्वती, गणेश, शकर आदि की स्तुति की गयी है और धर्म, कर्म, मुक्ति का भी स्तवन हुआ है, साथ ही ईश्वर के ऐश्वर्य का वर्णन और पुराणो की अनुक्रमणिका आदि भी मगलाचरण के रूप मे ही रखे गये हैं। दूसरे समय—'दसम'—को भी मगलाचरण के ही अन्तर्गत मानना चाहिये। लघु रूपातर वाली प्रतियो मे 'दशावतार वर्णन' आदि पर्व में ही मिलता है। इस प्रकार धार्मिक पौराणिक ग्रन्थो के समान इसमे मगलाचरण वाला अश बहुत बडा है। जैनो द्वारा लिखे प्रबन्ध काव्यो म इसी प्रकार शलाकापुरुषो का स्तवन बहुत विस्तार के साथ लिखने की रूढि थी जो बाद में

रामचरितमानस मे भी मिलती है। आशीर्वचन रासो मे ग्रथान्त (६८–७४४) मे है जिसमे श्रोताओ और पाठको को कवि ने आशीर्वाद दिया है।

सवादरूप मे कथा लिखने की रूढि महाभारत, रामायण, पुराण तथा अपभ्रश के चरित काव्यो मे बहुत अधिक मिलती है। उनम वक्ता श्रोता के बीच प्रश्नोत्तर के रूप मे कथारभ होता है। रासो मे भी कथा का प्रारभ इसी रूप मे हुआ है। मगलाचरण और पूर्व कवि प्रशसा के बाद चन्द ने अपनी पत्नी की कुछ शकाओं का उत्तर दिया और शब्द ब्रह्म का स्मरण किया। इसके बाद कवि पत्नी ने पृथ्वीराज की कथा सुनने की इच्छा प्रकट की —

उच्चिष्ट चन्द छन्दह वयन सुनत सु जपिय नारि।
तनु पवित्र पावन कविय उकति अनूठ उधारि। (१–११)

× × × ×

अवतार भूप पृथिराज पहु राजसुख तिम सन लहहि।
वीराधिवीर सामन्त सब तिन सुगलह अच्छी कहहि॥ (१–१४)

इसके बाद चन्द ने चौहान वश का उत्पात्त तथा पृथ्वराज के जन्म और शिक्षा दीक्षा की कथा सुनाई। पहले समय के अन्त मे चन्द की स्त्री ने फिर प्रश्न किया —

समय इक निसि चन्द बाम वत्त वदि रस पाई।
दिल्ली ईस गुनेय किति कहो आदि अन्ताई॥ (१–७६१)

और फिर प्रथम अध्याय के अन्त तक पति पत्नी के बीच प्रश्नोत्तर होता है, किंतु इसके बाद ग्रथ की समाप्ति तक चन्द और उसकी पत्नी के बीच सवादरूप मे कथा कही जाने का उल्लेख नहीं मिलता। इससे यह प्रतीत होता है कि चद और उसकी पत्नी के सवाद के रूप मे लिखित प्रथम 'समयो' का अधिकाश परवता प्रक्षेप है और सभव है कि जल्हन ने अपनी माता को अमर बनाने की दृष्टि से यह सवाद योजना की हो। अनुमानत मूल रासो में कथा शुक शुकी के सवाद के रूप मे कही गयी होगी। प्रथम समय के बाद कई स्थलो पर शुक शुकी सवाद आया भी है —

सुकी कहै सुक सभरौ कहौ कथा पति प्रान।
पृथु भोरा भीमग पहु किय हुअ वैर वितान। (५–१)

इसी प्रकार बारहवे, चौदहवे, पचीसवे, सैंतीसवे पैतालीसवे और छियालिसवे समय मे शुक शुकी का सवाद आया है। कवि और उसकी पत्नी तथा शुक सारिका के बीच सवादरूप मे कथा कहने की प्रथा पहले से चली ही आ रही थी, रासो में उन दोनो प्रथाओं को अपना लिया गया। यह निश्चित

रूप से कहना अत्यत कठिन है कि मूल कथा मे शुक शुकी का सवाद था या कवि और उसकी पत्नी का। शुक शुकी के सवाद की अधिकता और चद और उसका पत्नी के सवाद की अस्वाभाविकता देखकर तो डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी का यह अनुमान सही प्रतीत होता है कि 'रासो के वर्तमान रूप को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि मूल रासो मे भी शुक और शुकी के सवाद की ऐसी ही योजना रही होगी।'[1]

वस्तु निर्देश और भूमिका मे कवि अपने प्रतिपाद्य विषय की व्याख्या करते हैं। रासो म आदि पर्व मे ७९ से ८४ और ७६१ से ७८३ तक के छदो मे कवि ने अपने प्रतिपाद्य विषय—पृथ्वीराज के चरित—का उल्लेख करते हुए रासो के गुण, महत्व, गूढ़त्व, श्लोक सख्या, तत्त्व ज्ञान और विषयानुक्रमणिका का ब्योरेवार वर्णन किया है। जिस तरह महाभारत मे प्रारभ मे ही पूरे ग्रथ की अनुक्रमणिका दी गयी है उसी तरह रासो मे भी पूरी कथा का सार ब्योरेवार तो नहीं किन्तु सक्षेप में ही पहले समय के तीन छदो (९२, ९३, ९४) मे दे दिया गया है। वस्तु निर्देश और भूमिका मे रासो ही नहीं हिन्दी के अ य महाकाव्यो मे भी अपभ्रश की परपरा का पूरा अनुसरण किया गया है। स्वयभू ने अपने काव्य रूपी कमल की विशेषता इस रूपक मे बताई है —

दीहर समासणाल सद्दल अत्थ केसरुग्घविय।
बुह महुयर पीय रस सयम्भु कव्वुप्पल जयउ॥
(पउमचरिउ प्रारभ छद २)

इसी तरह चद ने अपने काव्य को समुद्र कहा है —

काव्य समुद्र कवि चन्द कृत मुगति समप्पन ग्यान।
राजनीति बोहिथ सुफल पार उतारन यान। (रासो १ ८०)

जिस तरह स्वयम्भू ने प्रथम सन्धि के दूसरे कडवक मे राम कथा की तुलना नदी से की है और तुलसी ने सरोवर से, उसी तरह रासोकार ने भी रासो की कथा की तुलना एक ऐसे राजसी सरोवर से की है जिसके घाट पक्के हो और जिसका निर्माण स्वय विश्वकर्मा ने किया हो —

चरन नीम अच्छिर सुरङ्ग पाट लहु गुरु विधि मण्डिय।
सुर विकास जारी सु मुष्ष उक्ति रस गौरवन छण्डिय।
जुगति छोह विस्तारिय सीढियन घाट सु बद्दिय।
महि मण्डन मेधान यांहि मण्डन जस सद्दिय।
घन तक उतर्क वितर्क जति चित्र रग करि अनुसरिय।

१—हिन्दी साहित्य का आदिकाल,—पृ० ६१, पटना १९५२।

विश्वकर्म कवि निर्मइय रसिय सरस उच्चरिय ॥ (रासो १ ८४)

काव्य को पढने का अधिकारी कौन है, यह लिखने की परम्परा भी हिन्दी प्रबन्ध काव्यों मे अपभ्रश से होकर ही आयी है। सदेशरासक म प्रथम प्रक्रम के अतिम चार छन्दों (२०, २१, २२ और २३) मे अब्दुल रहमान ने यह बताया है कि उसका रासक पढने सुनने का अधिकारी कौन है। उसी परपरा म रासो का उक्तियाँ भी आती है —

कुमति मति दरसत तिहि विधि बिना न श्रब्बान
तिहि रासो तु पवित्त गुन सरसो ब्रन्न रसान। (१-८९)
अरथ ढकनि सहसा उघारे वनत्थि एकलया
मझ्झ मझ्झ प्रमान चतुर स्त्री हारय जेम। (१-९१)

आत्मलघुता वर्णन, सज्जन दुर्जन चिता ओर पूर्व कवि प्रशसा की रूढि का निर्वाह भी रासो मे अपभ्रश और परवता सस्कृत के काव्यों के अनुसार ही हुआ है। प्रारभ मे व्यास, शुक्देव, श्रीहष, कालिदास, दण्डमाली और जयदेव की अभ्यर्थना की गयी है और अपने को पूर्व कवियों का उच्छिष्ट कथन करने वाला कह कर अपनी लघुता का प्रदर्शन किया गया है —

गुर सब्ब कव्वी लहू चन्द कव्वी। जिने दर्सिय देवि सा अग हव्वी।
कवी कित्ति कित्ती उकत्ती सुदिक्खी। तिनै की उचिष्टी कवी चंद भक्खी।
(१-१०)

रासो मे सज्जन दुर्जन चिन्ता विषयक केवल दो दोहे (१-५१, ५२) हैं। नायक की प्रशसा और उसके पूर्वजो की वशावली और कीर्तिकथन ऐतिहासिक शैली के नवसाहसाकचरित, विक्रमाकदेवचरित, पृथ्वीराजविजय, हम्मीर महाकाव्य, सुर्जनचरित आदि चरित काव्यों मे विशद् रूप मे मिलता है। पौराणिक शैली के कुछ महाकाव्यो—जैसे प्रउमचरिउ—मे भी इस रूढि का पालन हुआ है। विकसनशील महाकाव्यों—महाभारत रामायण—मे भी वशानुक्रम और नायक का गुण वर्णन आदि मे ही मिलता है। रासो के प्रथम समय मे पृथ्वीराज के पूवजो का वर्णन, चौहानवश तथा क्षत्रियो के ३६ कुलो की उत्पत्ति और पृथ्वीराज के जन्म का वणन बडे विस्तार से हुआ है। किन्तु रुद्रट की परिभाषा के अनुसार प्रारम्भ मे नगरी वर्णन के नियम का पालन रासो म नही हुआ है।

रचना काल, आश्रयदाता का परिचय और ग्रथ रचना का कारण लिखने की प्रवृत्ति भी रासो के पूर्ववता अनेक सस्कृत, प्राकृत और अपभ्रशकाव्यों में दिखलाई पडती है। रासो मे रचना काल का उल्लेख तो नहीं है किन्तु

रूप से कहना अत्यत कठिन है कि मूल कथा मे शुक शुकी का सवाद था या कवि और उसकी पत्नी का। शुक शुकी के सवाद की अधिकता और चन्द और उसका पत्नी के सवाद की अस्वाभाविकता देखकर तो डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी का यह अनुमान सही प्रतीत होता है कि 'रासो के वर्तमान रूप को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि मूल रासो मे भी शुक और शुकी के सवाद की ऐसी ही योजना रही होगी।'[1]

वस्तु निदश और भूमिका मे कवि अपने प्रतिपाद्य विषय की व्याख्या करते हैं। रासो मे आदि पव मे ७९ से ८४ और ७६१ से ७८३ तक के छ दो मे कवि ने अपने प्रतिपाद्य विषय—पृथ्वीराज के चरित—का उल्लेख करते हुए रासो के गुण, महत्व, गूढत्व, श्लोक सख्या, तत्त्व ज्ञान और विषयानुक्रमणिका का ब्योरेवार वर्णन किया है। जिस तरह महाभारत म प्रारभ मे ही पूरे ग्रथ की अनुक्रमणिका दी गयी है उसी तरह रासो मे भी पूरी कथा का सार ब्योरेवार तो नहीं किन्तु सक्षेप में ही पहले समय के तीन छदो (९२, ९३, ९४) मे दे दिया गया है। वस्तु निदेश और भूमिका मे रासो ही नहीं हिन्दी के अ य महाकाव्यो मे भी अपभ्रश की परपरा का पूरा अनुसरण किया गया है। स्वयभू ने अपने काव्य रूपी कमल की विशेषता इस रूपक मे बताई है —

दीहर समासणाल सद्दल अत्थ केसरुग्घविय।
बुह महुयर पीय रस सयम्भु कव्वुप्पल जयउ॥

(पउमचरिउ प्रारभ छद २)

इसी तरह चन्द ने अपने काव्य को समुद्र कहा है —

काव्य समुद्र कवि चन्द कृत मुगति समप्पन ग्यान।
राजनीति वोहिथ सुफल पार उतारन यान। (रासो १ ८०)

जिस तरह स्वयम्भू ने प्रथम सन्धि के दूसरे कडवक मे राम कथा की तुलना नदी से की है और तुलसी ने सरोवर से, उसी तरह रासोकार ने भी रासो की कथा की तुलना एक ऐसे राजसी सरोवर से की है जिसके घाट पक्के हों और जिसका निर्माण स्वय विश्वकर्मा ने किया हो —

चरन नीम अच्छिर सुरङ्ग पाट लहु गुरु विधि मडिय।
सुर विकास जारी सु सुष्ष उक्ति रस गौरवन छडिय।
जुगति छोह विस्तारिय सीढियन घाट सु बद्दिय।
महि मण्डन मेधान याहि मण्डन जस सद्दिय।
घन तर्क उतर्क वितर्क जति चित्र रग करि अनुसरिय।

१—हिन्दी साहित्य का आदिकाल,—पृ० ६१, पटना १९५२।

विश्वकर्म कवि निर्मइय रसिय सरस उच्चरिय ॥ (रासो १ ८४)

का य को पढने का अधिकारी कौन है, यह लिखने की परम्परा भी हि दी प्रब ध काव्यों मे अपभ्रश से होकर ही आयी है। सदेशरासक म प्रथम प्रक्रम के अतिम चार छन्दों (२०, २१, २२ और २३) मे अब्दुल रहमान ने यह बताया है कि उसका रासक पढने सुनने का अधिकारी कौन है। उसी परपरा म रासो का उक्तियाँ भी आती हैं —

कुमति मति दरसत तिहि विधि बिना न श्रब्बान
तिहि रासो तु पवित्त गुन सरसो ब्रन्न रसान। (१-८९)
अरथ ढक्कनि सहसा उघारे वनत्थि एकलया
मझ्झ मझ्झ प्रमान चतुर खी हारय जेम। (१-९१)

आत्मलघुता वणन, सज्जन दुजन चि ता और पूर्व कवि प्रशसा की रूढि का निर्वाह भी रासो मे अपभ्रश और परवता सस्कृत के काव्यों के अनुसार ही हुआ है। प्रारभ मे व्यास, शुकदेव, श्रीहर्ष, कालिदास, दण्डमाली और जयदेव की अभ्यर्थना की गयी है और अपने को पूर्व कवियों का उच्छिष्ट कथन करने वाला कह कर अपनी लघुता का प्रदर्शन किया गया है —

गुर सब्ब कव्वी लहू चन्द कव्वी। जिने दर्सिय देवि सा अग हव्वी।
कवी कित्ति कित्ती उकत्ती सुदिक्खी। तिनै की उचिष्टी कवी चंद भक्खी।
(१-१०)

रासो मे सज्जन दुर्जन चिन्ता विषयक केवल दो दोहे (१-५१, ५२) हैं। नायक की प्रशसा और उसके पूवजों की वशावली और कीर्तिकथन ऐतिहासिक शैली के नवसाहसाकचरित, विक्रमाकदेवचरित, पृथ्वीराजविजय, हम्मीर महाकाव्य, सुर्जनचरित आदि चरित काव्यों मे विशद् रूप मे मिलता है। पौराणिक शैली के कुछ महाकाव्यो—जैसे पउमचरिउ—मे भी इस रूढि का पालन हुआ है। विकसनशील महाकाव्यों—महाभारत रामायण—मे भी वशानुक्रम और नायक का गुण वर्णन आदि मे ही मिलता है। रासो के प्रथम समय मे पृथ्वीराज के पूवजो का वर्णन, चौहानवश तथा क्षत्रियो के ३६ कुलो की उत्पत्ति और पृथ्वीराज के जन्म का वणन बडे विस्तार से हुआ है। कि तु रुद्रट की परिभाषा के अनुसार प्रारम्भ मे नगरी वर्णन के नियम का पालन रासो म नहीं हुआ है।

रचना काल, आश्रयदाता का परिचय और ग्रथ-रचना का कारण लिखने की प्रवृत्ति भी रासो के पूर्ववता अनेक सस्कृत, प्राकृत और अपभ्रशकाव्यों में दिखलाई पडती है। रासो मे रचना काल का उल्लेख तो नहीं है किन्तु

प्रसगवश यह अवश्य कहा गया है कि पृथ्वीराज के पकडे जाने के बाद दिल्ली लौट कर देवी के आशीवाद से च द ने ७१ दिनों म रासो की रचना की, परन्तु यहाँ भी तिथि नही दी गयी है। आश्रयदाता का उल्लेख तो कवि ने प्रथम समय मे ही किया है ओर कहा है कि मै चौहान पृथ्वीराज के अपने प्रति किये गये पूर्व उपकारो से उऋण होने के लिए इस काव्य की रचना कर रहा हूँ (१-७६८)। उसी तरह दूसरे समय के अन्त मे भी चौहान के प्रति अपनी कृतज्ञता का कथन कवि ने किया है (२-१८५-८६)।

प्राचीन काव्यो मे कविता के भीतर कवि का नाम रखने की प्रथा नहीं मिलती, उनमे सर्गो के अन्त मे वर्णित विषय और सर्ग का नाम तथा कवि का उसके विशेषणों के साथ नाम रहता था। परवर्ती काव्यो, विशेषकर अपभ्रश के काव्यो, मे कवि या तो अपनी कविता को चोरी से बचाने के लिए कोई विशेष शब्द, मुद्रा के रूप मे, प्रत्येक सर्ग के अन्तिम छन्द म रखता था या अपना नाम ही उसमे जोड देता था। इस तरह काव्यों मे सर्गान्त मे अक और नाममुद्रा देने की प्रथा थी। उदाहरणार्थ स्वयभू के पउमचरिउ में सर्गा त मे इस प्रकार के नाममुद्रायुक्त छ द मिलते हैं —विज्जाहर कीलए णिय णिय लीलए पुरईं 'सइभु' जन्ति थिय (२०-१२)। इसी तरह धाहिल ने सर्वत्र सर्गान्त मे अपना विशेषण दिव्यदृष्टि जोडा है[1]। पुष्पदत, कनकामर और धनपाल ने भी अपनी 'नाममुद्रा' का उपयोग सर्गान्त के छन्दो मे किया है[2]। रासो मे कुछ समयों के अ त मे तो कवि ने अपना नाम अवश्य दिया है जैसे—

१—सुपन सुफल दिल्ली कथा कही चन्द वरदाय।
अब आगे करि उच्चरो पिथ्थ अँकुर गुन चाय। (३-१८)
२—षट्ट सहस अरि पवग कवि चन्दह कह कित्यो। (४-३३)
३—जै जै जै कवि चन्द कहि चन्द सुर वष्षान। (१०-३६)

१—'जिणु दिव्वदिट्ठि मणि झायइ, कति पउत्थह पउमसिरि।
(पउमसिरिचरिउ—सधि ३—कडवक १०—छन्द १३६)

२—(१) भरह पुष्फदन्तुज्जलिय अण्ण ण तियमइ मइ गरुयारी।
(पुष्पदन्त—महापुराण २२-२१)

(२) सिरि पुष्फयत जिणवर वयणु मूढु लोउ णायण्णइ।
(पुष्पदन्त—जसहरचरिउ—१-४१)

(३) कणयामरसिवमाणिणि वरहि सो होइ णिरुत्तउ ताहे वरु।
(कनकामर—करकडुचरिउ—९-२४)

इसी प्रकार समय सख्या १२, १३, २५, २८ आदि के अन्तिम छन्दा मे चन्द या चन्द वरदाई 'नाम मुद्रा' आयो है। शेष समयो म से इच्छिनी विवाह आदि कुछ समयों मे अन्तिम छन्द से कुछ पहले के छ दा म नाम मुद्रा आयी है।

छन्द परिवर्तन—महाकाव्य का लक्षण बताते हुए आलकारिको ने कहा है कि एक सग मे एक ही छ द का प्रयोग होना चाहिए पर सर्गान्त मे भिन्न छन्द होना चाहिये। लेकिन विश्वनाथ कविराज ने यह भी कहा है कि किसी किसी महाकाव्य मे नाना छन्दो वाले सर्ग भी देखे जाते हैं तथा अपभ्रश के महाकाव्यो मे भी एक ही सर्ग म विविध छ दो का प्रयोग होता है। अपभ्रश के चरितकाव्य कडवकवद्ध होते है कि तु उनम भी छ द सबधी वैसी एकरूपता नही होती जैसी दोहा चौपाई वाले प्रेमाख्यानक काव्या—पद्मावत आदि—म है। रासो की रचना अपभ्रश काव्यो की परपरा के अनुसार अवश्य हुई है, पर छ दो के प्रयोग मे उसमे परवता अपभ्रश के लघु रासक काव्यो का अनुसरण किया गया है, जिनमे विशेष रूप से छप्पय, रासक या रासा, चउपई, चचरी आदि भिन्न भिन्न छ दो का प्रयोग मिलता है। रासो के पहले 'समय' के निम्न-लिखित दोहे के आधार पर पडित मथुराप्रसाद दीक्षित ने यह अनुमान किया है कि मूल रासो म इतने ही छन्द रहे होंगे —

छन्द प्रबन्ध कवित्त जति साटक गाह दुअत्थ।
लहु गुरु मडित खडि इहि पिगल अमर भरत्थ।

—असली पृथ्वीराज रासो (आदि पर्व २७)

इसका अथ प० मथुराप्रसाद दीक्षित ने यह किया है कि "छन्द अर्थात् एक ही छन्द के रसावला, पद्धरी, नाराच, लघुनाराच इत्यादि छ दो को, प्रबध पृथ्वाराज जी क चरित्र संगठन को, कवित्त—उत्प्रेक्षा, रूपकादि कवि कल्पना को, यति (जति) विराम तथा साटक वर्णवृत्त शार्दूल विक्रीडित आदि छन्दो को तथा गाथा, आयागीति उपगीति आदि तथा द्व्यर्थ श्लेषात्मक वर्णन को इस रासो मे स्थान है[1]।" किन्तु यह जबर्दस्ती किया हुआ अर्थ प्रतीत होता है। इसका सीधा अर्थ यही है कि रासो छन्दोबद्ध प्रबन्धकाव्य है जिसमे कवित्त (छप्पय) सट्टक, गाथा और दोहा ये चार छ द प्रधान हैं। परतु वतमान रासो मे करीब ७२ प्रकार के छ दो का प्रयोग हुआ है जिनमें ३२ मात्रावृत्त, ३० वर्णवृत्त, ६

१—असली पृथ्वीराजरासो (प्रथम समय)—सपादक और टीकाकार—प० मथुराप्रसाद दीक्षित, बनारस १९५२, पृ० १४।

मिश्रवृत्त के छन्द है और ४ वचनिका आदि फुटकर छन्द हैं[1]। अत इनमे से कितने मूल रासो के छन्द हैं और कितने परवता, इसका पता लगाना बहुत कठिन है। उपर्युक्त दोहे मे जिन छ दों का नाम लिया गया है उनम लिखे गये रासो के सभा पद्य मूल रासो के ही हैं, यह भी नहीं कहा जा सकता क्योकि दोहा और छप्पय अपभ्रश की तरह हिंदी के भी अति प्रिय छन्द हैं और परवता क्षेपक कारो ने उन छन्दों मे बड़ी आसानी से पद्य रचना करके रासो मे मिला दिया होगा। जो हो, हमारा उद्देश्य मूल रासो के छन्दो का पता लगाना नही है बल्कि यह देखना है कि अपभ्रश की महाकाव्य परपरा के अनुसार उसमे छन्दो का प्रयोग हुआ है या नही। उपर्युक्त दोहे म जिन छन्दो का नाम लिया गया है अपभ्रश के प्रब घ का यों मे उनका प्रयोग बहुत अधिक हुआ है। इनके अति रिक्त रासो मे प्रयुक्त अ य छन्द, गाथा, पद्धरी (पद्धडिया या पज्झटिका) अरिल्ल, रासा या रासक, सोरठा, दुमिला या दुर्मिल, रोला, कुडलिया, कवित्त या छप्पय, चौपाई, साटक, भुजगी, मातीदाम, त्रोटक, नाराच आदि भी अपभ्रश के कडवक बद्ध चरितका यो तथा रासक या रासा जैसे लघु प्रब धका०यो मे अत्यधिक ०यवहृत छ द रहे हैं। अत छ द प्रयोग की दृष्टि से भी रासो अपभ्रश की ही काव्य परम्परा म आता है। एक और दृष्टि से रासो की अपभ्रश के चरितकाव्यो से समानता दिखाई पडती है। सस्कृत के महाका०यो मे छन्दो का नाम नहीं दिया रहता है। कि तु अपभ्रश का०यो मे छन्दों का नाम बहुधा दिया रहता है। उनमे छन्द नाम या तो छन्द के बाहर लिखा रहता है या छ द क भीतर ही उसका उल्लेख किया जाता है, जेसे—

दुवई–चउविह गोउराइ चउदारइ णयरइ भूमि भूसणे।

महापुराण–५–२१–१

रासो मे भी इसी तरह छ दो के नाम उनके पहले दिये हुए है। शायद ही ऐसा कोई पद्य उसमे हो जिसके पहले छन्द का नाम न हो। अपभ्रश मे छन्द के भीतर उसका नाम देने को उदाहरण ये हैं—

भुजगो वुहारजणो णाम छन्दो चिर नन्दओ गिहवरो दाणइदो।

–भविसयत्त कहा–१२–३

दिवायर चन्दणिबारियधामु। सुछदइ गथिउ मोत्तियदामु।

–करकण्डु चरित्र–१–९–९

1—चन्द वरदायी और उनका काव्य, ले० डा० विपिनविहारी त्रिवेदी, प्रयाग १९५२, पृ० २१५–१७।

७—प्रभावान्विति और रसवत्ता

नाटकों के समान महाकाव्य में भी पाश्चात्य साहित्यशास्त्र के अनुसार तीव्र प्रभावान्विति और भारतीय साहित्यशास्त्र के अनुसार गभीर रसव्यजना आवश्यक मानी गयी है। यहाँ यह प्रश्न विचारणीय है कि रासो मे पाश्चात्य ढग की प्रभावान्विति है या भारतीय ढग की रसव्यजना। यह पहले ही कहा जा चुका है कि उसके कथानक मे नाटक जैसी काल और घटना की अन्विति नही है किंतु उसकी कथा मे विकास क्रम अवश्य दिखाई पडता है। रासो के कथानक मे पाश्चात्य ढग की कार्य की पाँचो अवस्थाये मिलती हैं। आदि पर्व से ६५ वे समय तक तो उसमे आरभ और विकास की अवस्थाये हैं जिनमें कथा बहुत ही मन्द गति से आगे बढती है, किन्तु ६६ वे समय मे उसकी गति बहुत तीव्र हो जाती है ओर कार्य की अन्तिम तीन अवस्थायें उसी में दिखलाई पडती हैं। वहाँ पृथ्वीराज और शहाबुद्दीन का युद्ध चरमबिन्दु है। पृथ्वीराज की पराजय से उसके नेत्रहीन बनाये जाने तक की कथा मे निगति की अवस्था है और चन्द और पृथ्वीराज की मृत्यु और दिल्ली कन्नौज पर मुस्लिम आधकार की कथा मे नाश या अवसान नामक कार्यावस्था दिखाई पडती है। इस तरह रासो पाश्चात्य ढग का दु खान्त महाकाव्य है जिसके फलस्वरूप उसम पाश्चात्य दु खान्त नाटकों जैसी तीव्र प्रभावान्विति है। उसका प्रभाव महाभारत के समान ही पाठकों के हृदय पर बडे वेग और तीव्रता से पडता है जिसमे गभीरता और स्थायित्व की मात्रा बहुत अधिक होती है। पाश्चात्य महाकाव्यो मे यथार्थ चित्रण अधिक होता है और उनके नायकों का बहुधा पराभव, पतन और नाश होता है किंतु हर दशा मे पाठकों की सहानुभूति उस पराजित नायक के प्रति ही होती है, विजयी प्रतिनायक के प्रति नहीं। उसमे पराजित नायक के प्रति सहानुभूति और सद्भावना उत्पन्न की जाती है और उसकी पराजय के लिए परिस्थितियो या अलौकिक शक्तियो को दोषी ठहराया जाता है। ऐसे नाटको या महाकाव्या का समग्र प्रभाव बहुत ही गहरा हाता है, उसमे अन्विति होती है जो पाठक के हृदय को झन्झार देती है और वह विरोधी परिस्थितियो के विरुद्ध विद्राह करन को उद्यत हो जाता है। रासो म भी इसी प्रकार की तीव्र प्रभावान्विति है। पाठक भारतीय राष्ट्र के प्रतीक पृथ्वीराज की पराजय और मृत्यु की घटना का वर्णन पढकर उसे तो सहानुभूति और श्रद्धा का पात्र मान लेता है और सामन्ती समाज की वस्तुओ, देशद्रोही व्यक्तियो और अनुदार तथा अनैतिक विदेशी आक्रमणकारियो के विरुद्ध विरोध और विद्रोह की भावना से भर उठता है। इस तरह रासा को पढकर निराशा और दुख की भावना नहीं

जाग्रत होता बल्कि कर्मण्यता, राष्ट्रीयता और आशावादिता का स्फुरण होता है। इसी का नाम प्रभावान्विति है। रासो मे वह तीव्र, गभीर और स्थायी रूप मे दिखलाई पडती है।

भारतीय साहित्यशास्त्र के अनुसार कार्य की पाँच अवस्थाये ये हैं, आरभ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम। रासो मे इनमें से अन्तिम दो नियताप्ति और फलागम नही हैं। कनवज्ज कथा (६१ वा समय) मे जयचन्द की पराजय के बाद ऐसा प्रतीत होता है कि पृथ्वीराज ने मानो दिग्विजय कर ली और किसी भी शत्रु को वह सहज ही पराजित कर सकता है, अत उसका अभ्युदय और उसके द्वारा फल की प्राप्ति—देशी विदेशी शत्रुओं का नाश और भारत मे सशक्त केंद्रीय राजसत्ता की स्थापना—अब निश्चित है। यह प्राप्त्याशा की अवस्था है। किन्तु अन्तिम युद्ध के पूव पृथ्वीराज की विलासिता और अनुत्तरदायित्व, हाहुली हम्मीर का पृथ्वीराज का साथ न देना, युद्ध मे पृथ्वीराज के साम तों का एक एक कर मारा जाना, ये घटनाये पूव सूचना देती हैं कि इस बार के युद्ध म पृथ्वीराज की पराजय होगी। अत यहाँ नियताप्ति की कायावस्था नहीं है क्योकि विजय की आशा कम होती जाती है। पृथ्वीराज की पराजय और उसको बन्दी बना कर गजनी ले जाये जाने और नेत्रहीन बनाये जाने की घटनाएँ अन्तिम रूप से सिद्ध कर देती हैं कि फलागम नहीं होगा। अन्त मे गोरी, पृथ्वीराज और चन्द तीनो की मृत्यु से शोक नामक स्थायी भाव का उदय होता है जो रैनसिंह और जयचन्द की मृत्यु और दिल्ली-कन्नौज के पराधीन बन जाने की घटनाओ से पुष्ट होकर पूर्ण रूप से करुण रस मे बदल जाता है। इस प्रकार रासो मे प्रारभ से वीर रस की जो धारा प्रवाहित हुई है वह अन्त मे जाकर करुण रस मे पर्यवसित हुइ है। अत स्थूल दृष्टि से देखने पर तो रासो को वीर रस का काव्य नही माना जा सकता क्योकि उसका अन्त करुण रस मे हुआ है। किन्तु यदि सूक्ष्म दृष्टि से समग्र प्रभाव को ध्यान मे रख कर देखा जाय तो वह वीर रस प्रधान महाकाव्य ही ज्ञात होता है। वीर रस ही पूरे महाकाव्य मे अगी रूप मे व्याप्त है और शृगार, करुण, शान्त आदि उसमे अग रूप मे स्थान स्थान पर दिखाई पडते हैं। अत अन्तिम कुछ दृश्यों के कारण उसम कुछ व्याघात भले ही पड जाय पर उसकी गहराई कम नही होती। यदि शास्त्रीय दृष्टि से उसे वीर रस का काव्य मानने मे आपत्ति हो तो भी इस सत्य को कोई अस्वीकार नही कर सकता कि वह वीर काव्य (हिरोइक एपिक) है जिसमे एक महान वीर की जन्म से मरण पर्यन्त की जीवन कथा लिखी गयी है। वीर के रूप मे रासो के नायक का जीवन आदर्श है। उसके

पराक्रम और युद्धो की कथा पाठको मे अदम्य उत्साह और साहस की भावना भरती है और वीर रस का सचार करती है। अत अपने समग्र प्रभाव के कारण रासो सभी रसो से युक्त होते हुए भी वीर रस प्रधान महाकाव्य ही माना जायगा। अपने वीर रसात्मक प्रभाव का उल्लेख रासो स्वय करता है जो उसमे वीर रस की प्रधानता का सबल प्रमाण है —

पृथीराज गुन सुनत होय आनन्द सकल मन।
पृथीराज गुन सुनत करय सग्राम स्यार रन।
पृथीराज गुन सुनत क्रपन कपटय ते खुल्लय।
पृथीराज गुन सुनत हरषि गुगौ सिर हुल्लय।
रासो रसाल नव रस सरस आजानौ जानप लहै।
निसटौ गरिष्ट साहस करे सुनहु सत्ति सरसति कहै ॥६८–२४०

८—जीवनी शक्ति और प्राणवत्ता

एक सवमान्य धारणा, जिसको मूलत स्वीकार करते हुए भी आचार्यो ने महाकाव्य के लक्षणो मे स्थान नही दिया है, यह है कि महाकाव्य मे अमरत्व का गुण होना चाहिये। अमर महाकाव्य वही होता है जो अपने युग की पूर्ण अभिव्यक्ति होता हुआ भी काल के कन्धो पर चढ कर युग युग की सीमाओ को पार करता जाता है। गणित मे तीन आयाम (डाइमेन्सन्स) लम्बाई, चौडाई और ऊँचाई या गहराई—तो पहले ही से मान्य थे, आइनस्टाइन ने चौथा आयाम भी सिद्ध कर दिया है। यह चौथा आयाम काल है। अमर महाकाव्य उसे मानना चाहिये जिसमे इन चारो आयामो का पूर्ण विस्तार हो। लबाई चौडाई देश या स्थान के उपलक्षण हैं। जिस महाकाव्य मे देश सबधी जितनी ही व्याप्ति होगी, जो स्थान, देश, जाति, धर्म, राष्ट्र और अन्य प्रकार की भौगोलिक और सामाजिक सीमाओ का अतिक्रमण करके जितने ही व्यापक क्षेत्र म प्रसिद्धि पायेगा उसमे अमरता के उतने ही अधिक तत्त्व होगे। उसी तरह काव्य म ऊँचाई और गहराई का अर्थ महत्व, गभीरता, गुरुत्व और विराटता है। जिस महाकाव्य की शैली जितनी ही अधिक गरिमामयी और उदात्त होगी, उसमे जितना अधिक गुरुत्व और गाम्भीर्य होगा, उसका नायक जितना महान होगा और उसमे जितने ही महान उद्देश्य और महत्कार्य की अभिव्यक्ति होगी, वह उतना ही अधिक देश काल की सीमाओ का अतिक्रमण करके अमरत्व का अधिकारी होगा। काल जितना ही निष्ठुर है, उतना ही न्यायी भी है। वह अपने कन्धों पर उन्हीं काव्यो का बोझ ढोना पसन्द करता है जिनमे उसके कन्धे पर चढने की क्षमता और शक्ति होती है। जिनमे ऐस

जीवन्तता और योग्यता का अभाव होता है उनको काल शव तुल्य समझ कर विस्मृति की अधेरी गुफाओ म दफना देता है। इस तरह अमर महाकाव्य देश और काल का सीमाओ को अस्वीकार करके अपनी जीवनी शक्ति ओर प्राणवत्ता के बल पर युग युग तक जीवित रहते और प्रत्येक युग को जीवन का सदेश, प्रेरणा ओर शक्ति प्रदान करते रहते हैं। अब यहाँ यह विचारणीय प्रश्न है कि क्या रासो मे वह अक्षुण्ग जीवनी शक्ति और सशक्त प्राणवत्ता है जिसके कारण उसे अमर महाकाव्य माना जाय।

रासो मे जीवनी शक्ति और प्राणवत्ता है, इसे तो उसके बडे से बडे विरोधी भी अस्वीकार नही कर सकते। यदि मूल रासो मे ही वह शक्ति न होनी तो उसे इतनी लाकप्रियता क्यो मिलती कि अनेकानेक कवि अपनी रचनाये उसमे जोडते जाते और फिर भी अपना नाम उसम न देते। वस्तुत रासो मे क्षेपको को हजम करने की वैसी ही शक्ति है जैसे गगा म अनगिनत नदी नालो का अच्छा बुरा जल ग्रहण कर आत्मसात कर लेने की शक्ति है। यही उसकी जीवनी शक्ति का प्रमाण है। विकसनशाल महाकाव्यों के विकास का प्रधान कारण उनकी जीवनी शक्ति ही है। अत रासोमे वह जीवनी शक्ति, सीमित मात्रा मे ही सही, है जो इल्यिड, ओडेसी, बियोवूल्फ, नेबुलिगनलाड, साग आव द रोलाँ और रामायण महाभारत म है। इालयड ओडेसी और रामायण महाभारत मानव इतिहास के आदि काल के समाज का चित्रण करते हुए भी इतने जोवन्त, सशक्त और प्राणवान हैं कि हजारो वषो की जीवनयात्रा मे उन्होंने काल को ही जीता है, स्वय काल से नहीं पराजित हुए हैं। फलत वे विश्व महाकाव्य हैं। वे मानवता के आदि पथ प्रदर्शक, प्रेरणास्रोत और जाज्वल्यमान प्रकाश स्तम्भ हैं जो आज भी काल सागर के तट पर अडिग खडे हैं, उनको चुनौता देनेवाला काई पॉचवाँ महाकाव्य आज तक सामने नहीं आया। अत उनकी अमरता की तुलना मे रासो को रखने का प्रश्न ही नहीं उठता। फिर भी उसमे वैसी सशक्तता और प्राणवत्ता है जो बारहवीं तेरहवी शताब्दी मे विकसित और रचित ससार के कुछ प्रसिद्ध महाकाव्यों—फारस के शाहनामा, इगलैंड के बियोवूल्फ, जमनी को नेबुलिंगननलीड, और फ्रास के साग आव द रोला आदि—मे है। ये सभी महाकाव्य सामन्ती वीरयुग की देन हैं और उनमे अपने अपने देश और युग का जीता जागता चित्र उपस्थित किया गया है। रासो भी उसी युग और उसी वातावरण का महाकाव्य है। इन सभी महाकाव्यो मे विषय वस्तु, रूप विधान और शैला की आश्चर्य जनक समता दिखाई पटती है। उसी तरह जीवनी शक्ति और प्राणवत्ता मे भी

इन सबमे बहुत कुछ समानता है। उपर्युक्त महाकाव्यो की तरह रासो भी वीर गाथात्मक काव्य है और उसमे भी ऐतिहासिक, पौराणिक ओर रोमाचक शैली का विचित्र सम्मिश्रण हुआ है जिसके फलस्वरूप उसम ऐतिहासिक तथ्यो के साथ, धम और श्रृगार की प्रवृत्तियो तथा आश्चर्य ओर रहस्य के तत्वो का समावेश हुआ है। सारे ससार म इन प्रवृत्तियो और तत्वो का म यकाल के सामाजिक जावन मे महत्वपूर्ण स्थान रहा है, अत प्रधानतया इन प्रवृत्तियों के कारण ही तेरहवा चौदहवा शतान्दी से लेकर १८वी शताब्दी तक रासो और उसी तरह के योरोपाय रामाचक पौराणिक महाकाव्यो को बहुत सम्मान प्राप्त होता रहा। समाज की प्रमुख प्रवृत्तियों की यथाथ अभिव्यक्ति करने के कारण ही उनकी जीवनी शक्ति का ह्रास नहीं हुआ।

रासो मे सामन्ता व्यक्तिवाद तो है, किन्तु सामन्ती वीरयुग का सामाजिक सगठन भी उसमे अपनी सम्पूर्ण शक्ति के साथ चित्रित हुआ है। यह सामाजिक शक्ति ओर वीरता की अदम्य भावना हो रासो की प्राणवत्ता है जो परवता युगों को भी शक्ति और प्रेरणा देती रही है। परवता युगो के लिए रासो म चित्रित पृथ्वीराज का चरित्र आदर्श वीर का चरित्र रहा आर समाज उससे प्रभाव और शक्ति ग्रहण करता रहा है। अग्रेजो के आने के बाद परिस्थितिया बहुत कुछ बदल गयी। किन्तु फिर भी जब तक मानव मे स्वाभिमान, देश प्रेम, मान मर्यादा और धम श्रृगार की भावनाये रहेंगी तब तक पृथ्वीराज का चरित्र उसे उत्साह और प्रेरणा प्रदान करता रहेगा और पृथ्वीराजरासो को पढ कर वह आनन्द प्राप्त करता रहेगा। रासो भारतीय राष्ट्र के स्वतन्त्रता के सघर्ष के प्रारभिक स्वरूप का काव्यात्मक इतिहास है, अत राष्ट्रीय चेतना के उत्तरोत्तर विकास और वृद्धि के साथ रासो का महत्व और सम्मान भी बढता ही जायगा। तिथियो, शिलालेखो और पुरानी पोथियों म लिखी बातो को इतिहास मानने वाले विद्वान भले ही उसे अनैतिहासिक ओर जाली कहते रहे, किन्तु भावात्मक सत्य मे विश्वास करने वाली सामा य जनता का हृदय रासो मे सदा से रसमग्न होता रहा है ओर आगे भी होता रहेगा। युग युग की उसी असख्य जनता के हृदय की भावुकता और विश्वासो की अक्षय शक्ति ही रासो की जीवनी शक्ति है। उसमे जब तक वह जावनी शक्ति बनी रहेगा, यह महाकाव्य अमर रहेगा।

छठाँ अध्याय

विकसनशील लोकमहाकाव्य—आल्हखण्ड

विकसनशील लोकमहाकाव्य लोकगाथाओ के चक्रो से विकसित होते हैं। लोकगाथाओ की उत्पत्ति, विकास और उनके चक्रो के निमाण के सम्बन्ध म प्रथम अध्याय मे विचार किया जा चुका है। हिन्दी भाषा भाषी क्षेत्रो मे वर्तमान समय मे लोक प्रचलित गाथाचक्रों मे आल्हा, लोरिकायन, राजा भरथरी, गोपीचन्द, विजयमल, सोरठी, विहुला बिसहरी, शोभनायक बनजारा और कुँवर सिंह विशेष प्रसिद्ध ह। इन गाथाओ के लिए गीत, पँवारा, गाथा आदि शब्दो का प्रयोग भी किया जाता है। ये गाथाये सैकडो वषो से हिन्दी भाषा भाषी क्षेत्रो मे कण्ठानुकण्ठ रक्षित और विकसित होती आ रही है। इनमे से ऐतिहासिक आधार या पृष्ठभूमि वाली गाथाएँ ये है —आल्हखण्ड, राजा गोपीचन्द, राजा भरथरी और कुँवर सिंह। ऐतिहासिक आधार से तात्पर्य यह है कि इनके पात्रो तथा स्थानो के नाम आदि तो ऐतिहासिक हैं पर घटनाएँ अधिकतर अनुश्रुतियो पर आधारित हैं। फिर भी सामान्य ग्रामीण जनता उ हे इतिहास के रूप मे ही सत्य मान कर उनसे शक्ति, प्रेरणा और उत्साह प्राप्त करती रहती है। इस दृष्टि से आल्हा या आल्हखण्ड सर्वाधिक प्रेरणादायक और शक्तिशाली गाथाचक्र है जिसके पात्रो और घटनाओं को उत्तर भारत की सामान्य जनता ऐतिहासिक सत्य के रूप मे सैकडो वषो से स्वीकार करती आयी है। उसमे अनक काल्प निक गाथाएँ मिलती रही हैं और आज उन सबका एक गाथाचक्र बन चुका है। उसका स्वरूप अब बहुत कुछ स्थिर हो गया है, अत उसे विकसनशील लोकमहाकाव्य भी कह सकते हैं।

पिछले अध्याय मे कहा जा चुका है कि विकसनशील महाकाव्य तीन प्रकार के होते हैं। हिन्दी मे ढोला मारू रा दूहा और आल्हखण्ड तीसरे प्रकार के विकसनशील काव्य हैं जो सम्भवत मूल रूप मे विशिष्ट कवियों द्वारा रचे गये थे, पर अपनी विशेषताओं और लोकप्रियता के कारण वे लोक सम्पत्ति बन गये। इनमे से आल्हखण्ड विकास की उस अवस्था मे पहुँच चुका है जिसे विसनशील लोकमहाकाव्य की सज्ञा दी जाती है। इस सम्बन्ध म ग्रियर्सन ने लिखा है कि 'वर्तमान समय मे अ य कोई महाकाव्य ऐसा नहीं है जो आल्हखण्ड के समान

लोकव्याप्त हो। यह महाकाव्य समस्त उत्तर भारत के पेशेवर अल्हैतो द्वारा गाया जाता है [1]।"

पहले कहा जा चुका है कि सामन्ती वीरयुग की प्रधान प्रवृत्ति वीरता की थी और राजा और सामन्त अपने दरबारो मे पेशेवर कवियो—चारण, भाट, ढाढी आदि—का रखते थे जो अपने आश्रयदाताओ की वीरता, दान, विवाह आदि से सम्बन्धित प्रशस्ति काव्य रचा करते थे। राजस्थान म राजकीय पुस्तकालयों मे प्रशस्ति काव्यो के अतिरिक्त अनगिनत ख्यात, बात और पीढियावली नामक ऐतिहासिक, अर्ध ऐतिहासिक ग्रथ मिलते हैं जो दरबारी कवियो द्वारा रचित हैं। ग्रियर्सन के अनुसार दरबारी वातावरण म रचित काव्यो और ख्यात बात आदि ग्रन्थो के रचयिता शिक्षित कवि होते थे जो काव्यशास्त्र और छदादि के परम्परागत नियमो से परिचित होते थे। अत उनकी कृतियाँ लिखित रूप म होती थी और अत्यन्त सावधानी से उनका सरक्षण होता था, जिसके फलस्वरूप उनमे से अनेक ग्रन्थो की हस्तलिखित प्रतियाँ आज भी उपलब्ध हैं। पृथ्वीराज रासो इसी प्रकार का दरबारी वातावरण में दरबारी कवि द्वारा लिखित काव्य है और राजदरबारो मे ही उसका सरक्षण और विकास हुआ है। अत वह विकसनशील होते हुए भी लोकमहाकाव्य नहीं है। किन्तु आल्हखण्ड रासो से भिन्न प्रकार का महाकाव्य है। इसकी कोई भी प्राचीन हस्तलिखित प्रति नही मिलती, न इस काव्य म उसके कर्ता के नाम का ही कहीं निर्देश हुआ है। इस काव्य मे शास्त्रीय महाकाव्य की रूढियों का पालन भी नहीं हुआ है और न उसमे दरबारी वातावरण मे रचित काव्यों जैसा अलकृत रूपविधान, प्रबन्धकौशल और काव्यसौष्ठव ही दिखलाई पडता है। ग्रियर्सन का कहना है कि "यह शिक्षित लोगो का नहीं, बल्कि अपढ पेशेवर अल्हैतो की सम्पत्ति है जो समूचे उत्तरी भारत मे दिल्ली से बिहार तक बिखरे मिलते हैं। इन लोगो का पेशा ही आल्हा गाकर जीविकोपार्जन करना है। इसी प्रकार पीढी दर पीढी आल्हखण्ड का विकास, सरक्षण और प्रचार होता आया है। परिणामस्वरूप स्थान भेद के अनुसार आल्हखण्ड के कई पाठ और रूपान्तर मिलते हैं और कालान्तर मे उसकी भाषा भी मूल काव्य की भाषा से बिलकुल बदली हुई

1— I do not suppose that any epic poem is at the present day so popular as that of Alha and Udal which is sung by itinerant bards all over northern India '

Linguistic Survey Of India—Vol IX,—part I by Sir George Grierson, p 495

दिखलाई पडती है[१] ।" इस प्रकार आल्हखण्ड ऐसा काव्य है जिसकी रचना मूल रूप मे सम्भवत तेरहवीं शताब्दी मे दरबारी वातावरण मे महोबा के राजा परमर्द्दिदेव के आश्रित भाट जगनिक द्वारा हुई थी जिसे अनुश्रुति परमर्द्दि या परमाल का भाजा बताती है[२] । इस काव्य के नायक आल्हा ऊदल इतने प्रसिद्ध हुए कि उनका व्यक्तित्व निजन्धरी बन गया और उनके पराक्रम का वर्णन करने वाला यह काव्य भी लोक कवियो और लोक गायको के कण्ठ मे बस कर विकसित होने लगा । धीरे धीरे उसने लोकगाथा का रूप धारण कर लिया । अपने विकास की अतिम अवस्था मे यह लोकगाथा ५२ लडाइयो का कथात्मक लोकमहाकाव्य बन गयी है ।

आल्हखण्ड का काव्य रूप

अनेक विद्वान आल्हखण्ड को लोकगाथा या वीरगीति (बैलेड) मानते हैं । डा० रामकुमार वमा इसे गीतिकाव्य कहते हुए लिखते हैं कि "जगनिक (स० १२३०) का यह वीररस प्रधान एक गीतिकाव्य माना जाता है[३] ।" गीतिकाव्य से डा० वर्मा का क्या अभिप्राय है, यह उ होंने स्पष्ट नहीं किया है । किन्तु गीतिकाव्य का अभिप्राय यदि अग्रेजी का लीरिक (प्रगीत मुक्तक) हो तो आल्हखण्ड गीतिकाव्य नहीं है क्योकि उसमे प्रबधत्व और विस्तार है । यदि गीतिकाव्य से उनका अभिप्राय अग्रेजी का बैलेड' हो तो उसे लोकगाथा कहना चाहिए । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल 'बैलेड' के लिए वीरगीत

1 It is the property, not of educated men but of illiterate minstrels who are found scattered over northern India from make it their professin to recite the Alha Khand and the language has changed as time elaps d '
The lay of Alha,—A saga of Rajput Chivalry as sung by minstrels of Norther India—Translated by W waterfield —Introduction by Sir G Grierson p 9—10

2 The very name of its author is unknown except for a tradition of little value that it was composed by Jagnaik sister s son of Parmal It now pr sents the singular appearance of a poem composed in the twelfth century ' Ibid p 9 10

३—हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—ले० डा० रामकुमार वर्मा, प्रयाग, सन् १९३८, पृ० १०३ ।

ाब्द का प्रयोग करते और आल्हखण्ड को अनेक वीरगीतों का समुच्चय मानते ि। इस सम्बन्ध मे उन्होंने लिखा है कि इन गीतो के समुच्चय को सर्वसाधारण आल्हखण्ड कहते हैं जिससे अनुमान हाता है कि आल्हा सम्बन्धी ये वीरगीत जगनिक के रचे उस बडे काव्य के एक खण्ड के अन्तर्गत थे जो चन्देलो की वीरता के वणन मे लिखा गया होगा[१]। वीरगीतो के समुच्चय से शुक्ल जी का अभिप्राय सभवत गाथाचक्र (बैलेड साइकिल) से है। बैलेड का हिन्दी अनुवाद 'वीरगीत' सही नहीं है। इसीलिए हमने सर्वत्र बैलेड के लिए 'लोक गाथा' और 'बैलेड साइकिल' के लिए 'गाथा चक्र' शब्द का व्यवहार किया है। इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका के अनुसार इगलैड मे बैलेड उस का यरूप का नाम है जिसमे सीधे सादे छन्दो मे कोई भी सीधी सरल कथा कही गयी हो[२]। प्रसिद्ध अग्रेज विद्वान डब्ल्यू० पी० केर के अनुमार बैलेड वह कथात्मक गेय काव्य है जो या तो लोक मे ही उत्पन्न और विकसित होता है या लोककाव्य के सामान्य रूप विधान को लेकर किसी विशिष्ट कवि द्वारा रचा जाता है, जिसमे गीतात्मकता और कथात्मकता दोनो ही होती है और जिसका प्रचार जन साधारण मे मौखिक रूप से एक पीढी से दूसरी पीढी मे होता रहता है[3]। इस दृष्टि से लोकगाथा का वीरगीत होना जरूरी नहीं है क्योंकि लोकगाथाएँ धार्मिक, उपदेशात्मक, प्रेमाख्यानक आदि अनेक प्रकार की होती हैं, वे सदा वीर भावना वाली ही नहीं होतीं। पहले अ याय मे हम लोकगाथा की जिन विशेषताओं पर विचार कर आये हैं उनके अनुसार आल्हखण्ड मे लोकगाथा के निम्नलिखित तत्त्व मिलते हैं —

१—हिन्दी साहित्य का इतिहास—ले० आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, आठवाँ सस्करण स० २००९, पृ० ५२।

2— In England the term has usually been applied to simple tale told in simple verse '
Encyclopaedia Britanica—11th Fdition (Ballad) p 264—65

3—' Ballad is here taken as meaning a lyrical narrative poem (all ballads are lyrical ballads) either popular in its origin or using the common form of popular poetry and fitted for oral circulation through the whole of a community It is not a narrative poem only it is narrative poem lyrical in form or a lyrical poem with a narrative body in it And it is a lyrical narrative not of a ambitious kind like pindar but simple and adopted for simple audiences and for oral tradition from one generation to another Form and style in poetry—W P Ker p 3 ।

१—आल्हखण्ड लोक के बीच मौखिक रूप मे समस्त उत्तरी भारत मे प्रचलित है। वह शिष्ट वर्ग द्वारा शिष्ट साहित्य के भीतर मान्य नही है परन्तु सामान्य जनता मे उसका बहुत आदर और महत्व है।

२—उसकी कोई प्राचीन हस्तलिखित प्रति नहीं मिलती और न उसका कोई निश्चित पाठ या रूप ही है। स्थान भेद से उसके अनेक रूपान्तर मिलते हैं।

३—वह गेय गाथा है। उसका ढोलक पर गान होता है।

४—उसम चमत्कार प्रदर्शन, पाण्डित्य प्रदर्शन और अलङ्कृति का अभाव है।

५—उसका प्रधान उद्देश्य मनोरजन है, धम प्रचार, नैतिक उपदेश, चरित्र सुधार, राष्ट्रीयता आदि उसके उद्देश्य रूप मे नही दिखाई पडते। फिर भी वीर भावना को जाग्रत और पुष्ट करना उसका अप्रत्यक्ष लक्ष्य अवश्य है।

६—अपने वर्तमान रूप मे वह एक हाथ की नही बल्कि पूरे समाज की रचना है। उसी तरह वह किसी एक काल की रचना नहीं है बल्कि सैकडो वर्षो म मौखिक रूप मे आशु काव्य प्रतिभा द्वारा उसका रूप विकसित हुआ है।

किन्तु जहाँ तक लोकगाथा के उपयुक्त अन्तिम लक्षण का सबध है, आल्ह खण्ड लोकगाथाओ का अपवाद प्रतीत होता है। कारण यह है कि उसके सबध मे यह अनुश्रुति चली आती है कि उसका रचयिता जगनिक नामक भाट था। इस सबध मे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है, "ऐसा प्रसिद्ध है कि कालिजर के राजा परमाल के यहाँ जगनिक नाम के एक भाट थे जिन्होने महोबे के दो देश प्रसिद्ध वीरो—आल्हा और ऊदल (उदयसिंह)—के वीर चरित का विस्तृत वर्णन एक वीरगीतात्मक काव्य के रूप मे लिखा था जो इतना सर्वप्रिय हुआ कि उसके वीरगीतो का प्रचार क्रमश सारे उत्तरीय भारत मे–विशेषत उन प्रदेशो मे जो कन्नौज साम्राज्य के अतर्गत थे, हो गया। जगनिक के काव्य का आज कहीं पता नही है। पर उसके आधार पर प्रचलित गीत हिन्दी भाषा भाषी प्रातो के गाँव गाँव मे सुनाई पडते हैं। ये गीत 'आल्हा' के नाम से प्रसिद्ध हैं और बर सात मे गाये जाते हैं।"[१] जार्ज ग्रियर्सन जगनिक को भाट नहीं, बल्कि परमाल का भाँजा बताते हैं[२]। ग्रियर्सन का यह मत आल्हखण्ड के साक्ष्य पर आधारित है, क्योकि उसमे जगनिक या जगनायक एक पात्र है जो परमाल का भाजा है

१—हिंदी साहित्य का इतिहास—आचाय रामचन्द्र शुक्ल आँठवाँ सस्करण, स० २००९, पृ० ५१।

२—द ले आव आल्हा—इन्ट्रोडक्शन बाई सर जार्ज ग्रियर्सन, पृ० ९।

और जो हरनागर नामक घोडे पर सवार होकर आल्हा को मनाने के लिए मल्हना देवी का सदेश लेकर कन्नौज जाता है—

हरनागर घोडे के ऊपर भैने चढा चन्देले क्यार।

(आल्हा का विवाह)

× × ×

यहै विचारत मल्हना रानी तुरतै बोलि लीन प्रतिहार।
तुरत बुलावा जगनायक का भैने जौन चन्देले क्यार ।।

(आल्हा मनावन)

आल्हखण्ड मे जगनिक या जगनायक पात्र के रूप मे तो अवश्य है, जैसे महाभारत मे व्यास, रामायण मे वाल्मीकि और रासो मे चन्द बरदाई हैं। किन्तु महाभारत, रामायण और रासो में व्यास, वाल्मीकि और चन्द उन उन ग्रथो के रचयिता भी कहे गये हैं। इसके विपरीत आल्हखण्ड मे कहीं भी यह उल्लेख नही है कि इस काव्य का रचयिता भी वही जगनायक या जगनिक है जो इस काव्य का पात्र है। अनुश्रुति के अनुसार आल्हखण्ड का पात्र जगनिक परमाल का भाट था, भाजा नहीं। रासो के 'महोबा समय' तथा परवता काव्य 'महोबा खण्ड' मे भी जगनिक को भाट ही कहा गया है—

गहरवार गोयन्द भाट जगनिक ढिग बुल्लिय।

—महोबा समय—छन्द १३७।

जगनक भट्ट अबै घर जावहु । नगर महोबा लगे अभावहु।

—महोबा समय—छन्द १८९।

सभवत यही सत्य भी है। सामन्ती वीरयुग मे राजाओ के दरबारी कवि चारण-भाट ही अधिक होते थे और वे युद्ध भूमि मे रण कौशल का प्रदर्शन करने के अतिरिक्त दौत्य कार्य भी करते थे। आल्हखण्ड में जगनिक ये दोनो कार्य करता है। सभवत उसकी वीरता को ध्यान मे रख कर ही परवता अल्हैतो ने उसका गौरव बढाने के लिए उसे परमाल का भाजा कह दिया। अत अनुश्रुति की बात ही अधिक सभव प्रतीत होती है। फिर भी इस सबध मे निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि आल्हखण्ड के मूल रूप का रचयिता जगनिक ही था और यदि जगनिक ही था तो उसका जीवनवृत्त ओर रचना काल क्या है? फिर भी आल्हखण्ड का रचयिता जगनिक माना जाता है, इतना यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि आल्हखण्ड लोकगाथात्मक काव्य होते हुए भी विशुद्ध लोकगाथा नहीं है क्योकि विशुद्ध लोकगाथा के कर्ता का बिलकुल पता नहीं होता। अत यह पूर्वकथित अनुमान अधिक उचित प्रतीत होता है कि आल्हखण्ड मूलत किसी

विशिष्ट कवि की रचना अवश्य है जो दरबारी वातावरण मे सम्भवत चन्देलो के प्रशस्ति काव्य के रूप म लिखा गया था, परन्तु बाद मे वह इतना लोकप्रिय हुआ कि अपना मूल रूप खोकर लोकगाथा बन गया। इस तरह वह अनेक युगो के अनगिनत आशु कविया और गायको की कृति है।

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि यद्यपि आल्हखण्ड मे लोकगाथा के अनेक तत्त्व हैं फिर भी वह लोकगाथा से आगे बढा हुआ काव्यरूप है। आचार्य शुक्ल जी के मतानुसार वह लोकगाथाओ का समुच्चय या चक्र है। किन्तु वस्तुत आल्हखण्ड लोकगाथा चक्र से भी आगे बढा हुआ विकसनशील लोकमहाकाव्य है। किसी लोकप्रिय गाथा के प्रमुख पात्रों के जीवन से सम्बन्धित अनेक गाथाएँ विकसित होकर परस्पर जुड जाती हैं तो उनके समिलित स्वरूप को गाथा चक्र कहा जाता है। उसी तरह कोई गाथाचक्र बहुत दिनो तक गाये जाते रहने से घिस घिसा कर जब ऐसा रूप धारण कर लेता है कि उसके कथानक म एकसूत्रता और अन्विति आ जाती है तो उसे लोकमहाकाव्य की सज्ञा दी जाती है। निरन्तर विकास करते रहने से ही गाथा का रूपान्तर गाथाचक्र मे और गाथाचक्र का रूपान्तर विकसनशाल लोकमहाकाव्य मे हो जाता है। इसी से डा० ग्रियर्सन ने सन् १८८५ मे ही अपने एक लेख मे आल्हखण्ड को लोकमहाकाव्य कहा था।[१]

आल्हखण्ड की प्राचीनता

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने जगनिक के मूल ग्रन्थ का नाम 'परमालरासो' माना है। किन्तु "परमालरासो" का उल्लेख प्राचीन साहित्य मे कही नहीं मिलता। "परमालरासो" के सम्बन्ध मे आचाय हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि "इस काल मे पृथ्वीराजरासो के समान ही जगनिक लिखित परमाल रासो नामक एक ग्रन्थ का नाम मिलता है। कहते हैं कि कालिंजर के राजा परमाल (परमर्द्दिदेव) के यहाँ जगनिक नाम के एक भाट थे, जिन्होने महोबे के दो देश प्रसिद्ध वीरो—आल्हा और ऊदल—के चरित्र का एक वीरकाव्य लिखा था[२]।" द्विवेदी जी ने 'आल्हा' या आल्हखण्ड के मूल रूप का नाम

1 Round the history of famous Bundelkhand heroes Alha and Uudal an enormous cycle of folk epics has collected" The song of Alha's Marriage—A Bhojpuri Epic—by G A Grierson in Indian Antiquary—August 1885 p 209

२—हिन्दी साहित्य—ले० डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, प्रथम सस्करण, १९५२ ई० पृ० ६५।

'परमालरासो' सम्भवत शुक्ल जी के उल्लेख के आधार पर ही स्वीकार किया है क्योंकि शुक्ल जी के हिन्दी साहित्य के इतिहास के अतिरिक्त अन्यत्र शायद आल्हखण्ड का 'परमालरासो' नाम नहीं मिलता। प० भगीरथप्रसाद दीक्षित और डा० उदयनारायण तिवारी ने 'वीरकाव्यसग्रह' की भूमिका मे लिखा है कि "पृथ्वीराजरासो मे एक महोबा खण्ड है। वह परमालरासो के नाम से भी प्रसिद्ध है। आल्हखण्ड की अपेक्षा परमालरासो मे जगनिक का अच्छा वर्णन है।[1]" इससे यह पता चलता है कि 'वीरकाव्यसग्रह' के सम्पादक द्वय आल्हखण्ड का नाम 'परमालरासो' सही नही मानते। उनके अनुसार रासो का 'महोबा समय' ही परमालरासो है। निष्कर्ष यह कि यह बात सर्वथा प्रमाण रहित है कि परमाल के दरबारी भाट जगनिक ने परमालरासो नामक किसी ग्रन्थ की रचना की थी। अत आल्हखण्ड के मूल रूप के रचना काल, नाम और स्वरूप आदि के सम्बन्ध मे विद्वानो के मत अनुमान पर ही आधारित हैं।

वस्तुत हमारे पास अनुश्रुति के अतिरिक्त यह मानने का कोई प्रामाणिक आधार नही है कि आल्हखण्ड की रचना विक्रमीय तेरहवीं शताब्दी के प्रारम्भ मे हुई। आल्हखण्ड मे परमाल और उसके सामन्त सरदारा—आल्हा, ऊदल, मलखान, ताल्हन आदि—का वर्णन होने से ही यह नही सिद्ध हो जाता कि यह काव्य परमाल के समय में या उसके आसपास ही लिखा गया होगा। आल्हखण्ड की प्राचीन हस्तलिखित प्रति न मिलने से यह जानने का कोई उपाय नहीं है कि उसका मूल रूप कैसा था और कब लिखा गया था। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का तो कहना है कि 'यदि यह ग्रथ साहित्यिक प्रबन्ध पद्धति पर लिखा गया होता तो कहीं न कहीं राजकीय पुस्तकालयों मे इसकी कोई प्रति रक्षित मिलती। पर यह गाने के लिए रचा गया था। इससे पडितों और विद्वानो के हाथ इसकी रक्षा की ओर नहीं बढे[2]।' इस सबध म मेरा निवेदन यह है कि आल्हखण्ड की प्राचोन हस्तलिखित प्रतिया भले ही न मिले और उसका उल्लेख और उद्धरण भी प्राचीन साहित्य मे भले ही उपलब्ध न हो, परन्तु यह ग्रथ अपने मूल रूप मे बहुत पहले का लिखा हुआ है, इसका पता स्वय आल्ह खण्ड के मूल स्वर और वीरयुगीन भावना से ही चल जाता है। वस्तुत आल्हखड

१—वीरकाव्यसग्रह, सपादक—प० भगीरथप्रसाद दीक्षित और प० उदय नारायण तिवारी, प्रयाग, स० १९९७, पृ० ३८–३९।

२—हिन्दी साहित्य का इतिहास—ले० आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, आठवाँ सस्करण, पृ० ५१।

उत्तर मध्य काल और आधुनिक काल की रचना किसी भी तरह हो नहीं सकता। उसमे व्यक्त भावनाय, उसके चरित्र और घटनाएँ स्वत इस बात का प्रमाण हैं कि उसकी रचना सामन्ती वीरयुग मे हुई होगी। उसमे सामन्ती वीर युग की सस्कृति और प्रवृत्तिया की अभिव्यक्ति किस रूप मे हुई है, इस सबध मे आगे विशेषरूप से विचार किया जायगा। यहाँ इतना ही कहना अभिप्रेत है कि आल्हखण्ड की रचना तेरहवीं शताब्दी के आसपास अवश्य हुई होगी और उसका मूल रूप लोकगाथा का नही बल्कि साहित्यिक प्रबन्धकाव्य का रहा होगा। हमारे इस मत का आधार निम्नलिखित बातें हैं —

१—आल्हखण्ड कई सौ वर्षों से लोकगाथा के रूप म समस्त हिन्दी भाषा-भाषी क्षेत्रो मे गाया जाता रहा है और रामायण महाभारत के बाद उन क्षेत्रों मे यही काव्य सबसे अधिक लोकप्रिय रहा है। सच पूछा जाय तो तुलसीकृत राम चरितमानस से भी अधिक उसका प्रचार सामान्य जनता मे रहा है और आज भी है। इसकी लोकप्रियता देखकर ही सवप्रथम फर्रुखाबाद के कलक्टर चार्ल्स ईलियट ने सन् १८६५ मे तीन चार आल्हा गाने वालो को बुलाकर उनकी स्मरण शक्ति के सहारे इसे लिपिबद्ध कराया और उन्ही की प्रेरणा से यह काव्य सर्वप्रथम फतेहगढ से श्री ठाकुरदास द्वारा मुद्रित और प्रकाशित हुआ। इसके पहले की आल्हखण्ड की कोई हस्तलिखित प्रति नहीं मिलती। उसी समय के आसपास ग्रियर्सन ने बिहार मे और विनसेण्ट स्मिथ ने बुन्देलखण्ड मे आल्हखण्ड के रूपान्तरो का सग्रह किया। ग्रियर्सन ने भोजपुरी प्रदेश मे गाये जाने वाले आल्हा के रूपान्तर का अध्ययन किया और उसके एक खण्ड का अग्रेजी गद्यानुवाद सन् १८८५ मे इडियन ऐण्टीक्वेरी मे प्रकाशित कराया[1]। चाल्स इलियट ने ही पश्चिमोत्तर प्रान्त (वर्तमान उत्तर प्रदेश) के एकाउण्टेण्ट जेनरल श्री डब्ल्यू वाटरफील्ड का ध्यान अपने आल्हखण्ड के सग्रह की ओर आकर्षित किया जिसके फल स्वरूप वाटरफील्ड ने उसके कुछ भागो का अग्रेजी के बैलेड छ द मे अनुवाद किया और १८७५–७६ ई० म कलकत्ता रिव्यू मे प्रकाशित कराया[2]। बाद मे सर जार्ज ग्रियर्सन ने इलियट द्वारा अनूदित आल्हखण्ड के भागों को अपनी भूमिका और शेष भागो के गद्यानुवाद के साथ सन् १९२३ मे आक्सफोर्ड से 'द ले आव आल्हा' नाम से प्रकाशित कराया। इस तरह आल्हखण्ड के सग्रह,

1 The song of Alaha s marriage—a Bhojpuri epic by G A Grierson Indian Antiquary—Vol XIV 1885 p 209 255

2 The nine lakh chain or the maro feud—by W waterfield Calcutta Review—Vol XII to XIII 1875—76

लेखन, प्रकाशन और अनुवाद का कार्य १९ वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे प्रारम्भ हुआ। उस समय (सन् १८६५) तक आल्हखण्ड म २३ लडाइयो का वर्णन था जिनकी सख्या अन्य छोटी लडाइयो को भी गिन लेने पर बढ कर ५२ हो जाती है। साराश यह कि आल्हखण्ड का वर्तमान रूप १९वी शताब्दी के मध्य भाग मे निर्मित हो चुका था और मुद्रण प्रकाशन होने के बाद तो उसका विकास बहुत कुछ रुक सा गया। यह काव्य इतने बडे भूभाग मे लाककण्ठ मे व्याप्त है कि यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि लोकगाथा रूप में इसका प्रचार, प्रसार और विकास कम से कम चार सौ वर्षो म हुआ होगा। इस आधार पर कहा जा सकता है कि सन् १८६५ के ४०० वर्ष पूर्व अर्थात् सन् १४०० ई० तक आल्हखण्ड के मूल रूप की रचना अवश्य हो चुकी हागी।

२—यद्यपि आज आल्हखण्ड प्रकाशित रूप मे बाजारो, मेला और सडको पर बिकता दिखाई पडता है किन्तु आज भी उसका मौखिक रूप मे ही प्रचार अधिक है। कोई भी अल्हैत प्रकाशित ग्रथ को सामने रख कर गान या पाठ नहीं करता। इससे यह तो स्वय सिद्ध है कि आल्हखण्ड सच्चे अर्थ मे लोकगाथाओ का चक्र है किन्तु कई कारणो से ऐसा प्रतीत होता है कि उसका यह रूप प्रारम्भ से ही नही था। इसीलिए यह पहले ही कहा जा चुका है कि शुक्ल जी का यह मत सही नहीं प्रतीत होता कि "जगनिक का यह काव्य गाने के लिए ही रचा गया था। इससे पडितो और विद्वाना के हाथ इसकी रक्षा की ओर नहीं बढे जनता ही के बीच इसकी गूज बनी रही, पर यह गूज मात्र है, मूल शब्द नहीं[1]।" उन्होंने लिखा है, "ये वीरगाथाए दो रूपो मे मिलती हैं, प्रबन्धकाव्य के साहित्यिक रूप मे और वीरगीतो (बैलेड्स) के रूप मे। साहित्यिक प्रबन्ध के रूप मे जो सबसे प्राचीन ग्रथ उपलब्ध है, वह है पृथ्वीराजरासो। वीरगीत के रूप मे हम सबसे पुरानी पुस्तक वीसलदेव रासो मिलती है जो रचना कई सौ वर्षों से लोगो मे बराबर गायी जाती रही हो, उसकी भाषा अपने मूल रूप मे नहीं रह सकती। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण आल्हा है जिसके गाने वाले प्राय समस्त उत्तरीय भारत मे पाये जाते हैं[2]।" इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि शुक्ल जी के मतानुसार लोकगाथाए भी लिखी जाती हैं और गाने के लिए लिखी जाती हैं अर्थात् लोग उन्हें पढ

१—हिन्दी साहित्य का इतिहास—ले० रामचन्द्र शुक्ल, आठवा सस्करण पृ० ५१।

२—वही, पृ० ३२।

कर रखते और फिर गाते हैं। वस्तुत ऐसी बात नही है। लोकगाथा का सदैव सामूहिक या सामाजिक रूप मे लोक कण्ठ मे विकास होता है, उसकी रचना नहीं होती। यदि शुक्ल जी यह मानते हैं कि जगनिक ने उसकी रचना तेरहवीं शताब्दी मे की तो उन्हे यह भी मानना होगा कि उसके मूल रूप की रचना साहित्यिक प्रबन्ध काव्य के रूप मे हुई होगी और यदि वे यह कहते हैं कि आल्हखण्ड लोकगाथा के रूप मे प्रारभ से ही विकसित हुआ तब उसे जगनिक का या किसी एक कवि का लिखा नहीं माना जा सकता। दोनों विरोधी बाते हैं जो एक ही साथ नहीं हो सकतीं।

पाश्चात्य देशों मे नृतत्त्वशास्त्र, समाजशास्त्र तथा साहित्य के विद्वानों ने लोकगाथाओ का सकलन, अध्ययन और विवेचन करके यह पता लगाया है कि लोकगाथाओं के तीन मूल स्रोत हैं —(१) प्राचीन पौराणिक, ऐतिहासिक और निजन्धरी आख्यान, (२) समसामयिक ऐतिहासिक घटना या महत्वपूर्ण पुरुष का निजन्धरी चरित, (३) कोई भी साहित्यिक प्रबन्ध काव्य जो बहुत लोकप्रिय हो। प्रथम दो स्रोतों से उद्भूत लोकगाथाओ का कोई कवि नहीं होता अर्थात् उनका विकास प्रारभ से ही समाज के सामूहिक योग द्वारा होता है किन्तु तीसरे प्रकार की लोकगाथाएँ प्रारभ मे साहित्यिक प्रबन्ध काव्य के रूप मे किसी कवि द्वारा रचित होती हैं। इगलैंड के प्रसिद्ध लोक गाथाविद् श्री कोर्टहोप का तो कहना है कि प्रत्येक लोकगाथा किसी न किसी पूर्ववर्ती प्रबन्ध काव्य (नैरेटिव पोइट्री) या गद्याख्यायिका (नैरेटिव प्रोज) से ली गयी या उसका रूपान्तर होती है।[१] अग्रेजी के प्रसिद्ध आलोचक और प्राचीन साहित्यवेत्ता प्रोफेसर डब्ल्यू० पी० केर इस मत को पूर्णतया नहीं स्वीकार करते। उनके मतानुसार बैलेड का विकास सामान्य जनता या लोक द्वारा होता है और इस काव्यरूप मे लोकतत्त्व की प्रधानता रहती है, अत किसी धार्मिक, पौराणिक, ऐतिहासिक या निजन्धरी घटना का लोक आख्यानक रूप गेय बन कर लोकगाथा के रूप मे विकसित हो जाता है। यही बात किसी समसामयिक वीर या प्रसिद्ध व्यक्ति के सबंध मे भी होती है। उसका जीवन चरित निजन्धरी ऊँचाई तक पहुँच कर सामूहिक प्रयत्न से लोकगाथा का रूप धारण कर लेता है। हिन्दी मे बिहुला विषहरी, गोपीचन्द, राजा भरथरी, लोरिकायन आदि लोकगाथायें उपर्युक्त दोनों श्रेणियों में आती हैं। इस प्रकार की गाथाएँ कभी कभी गाथाचक्र बनकर साहित्यिक प्रबन्धकाव्य या महाकाव्य का

१—फार्म एण्ड स्टाइल इन पोइट्री—बाई डबल्यू० पी० केर, पृ० ३३।

रूप धारण कर लेती हैं। श्री केर के मतानुसार श्री कोर्टहोप का उपर्युक्त कथन इसी अंश तक सही है कि पूर्ववर्ती साहित्यिक प्रबन्धकाव्यों और कथाआख्यायिका का भी लोकप्रियता के कारण कालान्तर मे लोकगाथा में रूपान्तर हो जाता है और उन मूल काव्यों का लोप हो जाता है। वे कहते हैं, "दूसरी और कुछ लोकगाथायें ऐसी होती हैं जो निश्चय ही आख्यानक साहित्य का रूपान्तर होती हैं। इनमे से कुछ तो स्मृति मे रखने योग्य होती हैं और कुछ इस योग्य नहीं होतीं। जो स्मरण शक्ति मे सुरक्षित रखने योग्य नहीं होती उन्हे लोकगाथा नही कहा जा सकता। जो स्मरणीय होती हैं वे ही लोकगाथा कही जाने योग्य हैं, वे आख्यानक काव्य मात्र नही होती। जब कोई ग्रंथ (प्रबन्धकाव्य) लोकगाथा मे रूपान्तरित हो जाता है तो उसका सर्वथा नवीन रूप हो जाता है और बहुधा यह नया रूप ऐसा होता है जिसकी उसके मूल काव्य से तुल्ना करना ही व्यर्थ होता है, केवल उनकी कथा और विषयवस्तु की तुलना की जा सकती है[1]।'

लोकगाथा के उपयुक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि किसी काव्य ग्रंथ का कालान्तर मे लोकगाथा बन जाना भी संभव है, यद्यपि अधिकतर लोकगाथाओं का स्वतंत्र विकास ही होता है। इसी सिद्धांत के आधार पर हमने ऊपर कहा है कि यद्यपि आल्हखण्ड आज एक गाथाचक्र या विकसनशील लोक महाकाव्य के रूप मे दिखाई पडता है किन्तु वह अन्य लोकगाथाओं से भिन्न कोटि का है। यह भिन्नता इसी बात मे है कि उसके कर्ता जगनिक कवि का नाम मिलता है और उसका मूल स्वर सामंती वीरयुग का है। इससे यह अनुमान होता है कि आल्हखण्ड सामन्ती वीरयुग मे रचित किसी पूर्ववर्ती प्रबन्धकाव्य का लोकगाथात्मक रूपान्तर है। उसके मूल रूप के लोकप्रिय होने मे कम से कम सौ दो सौ वर्ष अवश्य लगे होंगे अथात् रचना के कम से

1— There are some poems on the other hand which are certainly transformation of older narratives into something like ballad form some ballads are derived from older narrative literature, of these some are worth remembering and others not Those that are worth remembering are worth it as ballads and not as mere narrative poems when a book is turned into a ballad the result is something new and after something which it is futile to compare with its original except for the material in it —Ibid, P, 34,

कम दो सौ वर्ष बाद ही मूल काव्य आल्हखण्ड नामक लोकगाथा के रूप मे आया होगा। इस लोकगाथा का चक्र बनने और सुदूरवर्ती प्रान्तो मे उसका प्रचार प्रसार होने मे भी तीन चार सौ वर्ष अवश्य लगे होगे। इस तरह आल्हखण्ड के मूल रूप की, जो सभवत सामती दरबारी वातावरण मे निर्मित एक प्रबन्धकाव्य था, रचना का काल उसके सग्रह काल (सन् १८६५) से छ सौ वर्ष पूव अर्थात् तेरहवीं शताब्दो माना जा सकता है। अत शुक्ल जी का यह कथन तो सही है कि आल्हखण्ड के मूल रूप की रचना जगनिक या अन्य किसी कवि द्वारा वीरगाथा काव्य के रूप मे वीर काल या हिन्दी साहित्य के आदिकाल मे हुई थी, किन्तु उनका यह मत कि आल्हखण्ड प्रारभ से ही लोकगाथा के रूप मे रहा है, उपर्युक्त सिद्धान्त के अनुसार सही नही प्रतीत होता।

३—आल्हखण्ड की प्राचीनता का एक सबसे बडा प्रमाण यह है कि उसी का एक रूपान्तर पृथ्वीराजरासो का महोबा खण्ड है। पिछले अध्याय मे कहा जा चुका है कि रासो का बृहत् रूपान्तर सतरहवीं शताब्दी तक निर्मित हो चुका था। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी का भी यही मत है कि रासो का वतमान रूप अधिक से अधिक १७ वीं शताब्दी के मध्य मे ही प्राप्त हुआ होगा।[1] इस बृहत् रूपान्तर मे ही महोबा खण्ड प्राप्त होता है। अत यदि महोबाखण्ड आल्हखण्ड का ही साहित्यिक रूपातर हो और चन्द की रचना कह कर क्षेपककारों ने उसे पृथ्वाराजरासो मे मिला दिया हो तो यह निश्चित है कि रासो के बृहत् रूपान्तर के निमाण के समय अर्थात् १७ वी शताब्दी तक आल्हखण्ड का कोई न कोई रूप अवश्य निर्मित हो चुका था। किन्तु यह प्रश्न अवश्य विवादास्पद है कि रासो का महोबा समय जो निश्चिय ही बारहवी तेरहवीं शताब्दी का नहीं है, वस्तुत आल्हखण्ड का साहित्यिक रूपान्तर है या स्वय आल्हखड महोबा खण्ड का लोकगाथा मे रूपान्तर है अथवा दोनो ही का स्वतत्र रूप से रचना या विकास हुआ है। आल्हखण्ड के अनुवादक श्री वाटरफील्ड का मत है कि "निस्सदेह आल्हखण्ड, जैसा इसके नाम से ही पता चलता है, दिल्ली के राजा पृथ्वीराज के पराक्रम से सम्बन्धित १२ वीं शताब्दी के कवि चन्द बरदाई के महान् हिन्दी महाकाव्य पृथ्वीराज रासो का एक भाग (खण्ड) था। हिन्दी के विद्वानो को इस बात का निर्णय करना चाहिए कि आल्हखण्ड के मूल रूप का कितना अश वर्तमान गायकों (अल्हैतों) द्वारा

१—हिंदी साहित्य, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, आगरा, १९५२, पृ० ६०।

गाये जाने वाले आल्हखण्ड मे दिखाई पडता है[1]। सर जार्ज ग्रियर्सन वाटरफील्ड के इस मत को नही मानते। उनका कहना है कि 'मैने दोनो काव्यो को मिला कर देखा है और मै निश्चयपूर्वक कह सकता हूँ कि ये दोनो स्वतत्र काव्य ग्रन्थ हैं। चन्द के महोबा समय की कथा दिल्ली दरबार का पक्ष लेकर लिखी गयी है और आल्हखण्ड मे कन्नौज और महोबा का पक्ष लिया गया है[2]। इस तरह ग्रियर्सन यह मानते हैं कि न तो आल्हखण्ड महोबा समय का लोकगाथा में रूपान्तर है और न महोबा समय आल्हखण्ड का साहित्यिक रूपान्तर है, इसके विपरीत दोनों ही स्वतन्त्र रचनाएँ हैं। रासो के अधिकारी विद्वानो में बहुतो ने इस बात को स्वीकार किया है कि महोबा समय मूल रासो मे नहीं था, वह परवर्ती क्षेपक है जो चन्दवरदाई का नाम देकर १७ वी १८ वीं शताब्दी का लिखा प्रतीत होता है। उसमे आल्हा, ऊदल, जगनिक, परमाल आदि का विशद वर्णन और आल्हा ऊदल की वीरता की अधिक प्रशसा की गयी है। इससे यह लक्षित होता है कि या तो महोबा समय पर किसी ऐसे काव्य का बहुत प्रभाव है जिसमे आल्हा ऊदल की बहुत प्रशसा थी या वह चन्देलो के पक्ष मे लिखे गये उस काव्य का या आल्हा ऊदल से सम्बधित लोकगाथा का कथानक मे थोडे से परिवर्तनो के साथ, साहित्यिक रूपान्तर है। रासो मे अनेक लोकगाथाओ लोककथाओं और निजन्धरी आख्यानो के रूपान्तर अवान्तर और प्रासगिक कथाओ के रूप मे मिलते हैं। अत यह असम्भव नही हैं कि परमाल और पृथ्वीराज से युद्ध की ऐतिहासिक घटना से सम्बन्धित किसी बुन्देलखण्डी प्रबन्ध काव्य या उसके आधार पर निमित आल्हखण्ड नामक लोकगाथा का ही रूपान्तर करके महोबा समय की रचना हुई हो। यह कार्य १७ वीं शताब्दी तक हो गया होगा। अत आल्हखण्ड का मूलरूप १३ वी और १७ वी शताब्दी के बीच मे कभी निमित हुआ होगा। महोबा समय के रूप मे उसका रूपान्तर होने से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उस समय तक पश्चिमी उत्तर प्रदेश और राजस्थान तक उसकी ख्याति पहुँच गयी होगी अथवा प्रचार हो गया होगा। अत उसकी रचना उसके दो तीन सौ वर्ष पूर्व अवश्य हो चुकी होगी।

आल्हखण्ड की ऐतिहासिकता

यद्यपि आल्हखण्ड अपने वर्तमान रूप मे ऐतिहासिक काव्य नहीं है, पर सामान्य जनता उसे इतिहास के रूप मे ही स्वीकार करती है। उसके प्रधान

१—द ले आव आल्हा—विलियम वाटरफील्ड, इन्ट्रोडक्शन—आक्सफोर्ड, १९२३, पृ० ११। २—वही, पृष्ठ ११।

पात्रो में से कुछ तो ऐसे हैं जिनका इतिहास मे उल्लेख मिलता है, कुछ ऐसे हैं जिनके नाम से सबद्ध कुछ मदिर, भवन या स्थान आज तक उनकी याद दिलाते हैं और शेष पात्र बिल्कुल काल्पनिक हैं। ऐतिहासिक काव्यों के सबध में पिछले अध्यायो मे विस्तार के साथ विचार किया जा चुका है और कहा जा चुका है कि इस देश मे काव्य मे इतिहास और कल्पना का मिश्रण करने की प्रथा बहुत पहले से रही है। सामान्य जनता तो निजन्धरी और कल्पित पात्रो तथा घटनाओं को भी ऐतिहासिक सत्य मानती ही है, ऐतिहासिक शैली के काव्यो और ऐतिहासिक लोकगाथाओ मे इतिहास के साथ इस प्रकार कल्पना का मिश्रण होना बिलकुल स्वाभाविक है।

फिर भी आल्हखण्ड में ऐतिहासिकता का आभास अवश्य मिलता है। उसके तथ्य भले ही ऐतिहासिक न हों किन्तु उसका मूलाधार और पृष्ठभूमि अवश्य ऐतिहासिक हैं। यद्यपि आल्हखण्ड के नायक आल्हा और ऊदल हैं, पर उनके ऊपर महोबा के राजा परमाल या परमर्दि देव का ही शासन है, अत एक प्रकार से इस काव्य के सर्वप्रधान पात्र या पात्रों मे सवमान्य परमर्दिदेव ही हैं। दूसरे, प्रकारा तर से चन्देल वश और महोबा राज्य का गुणगान भी इसमें सबसे अधिक हुआ है। महोबा ऐतिहासिक स्थान है, सैकडों वर्षों तक वह बुन्देलखण्ड के चन्देलों की राजधानी था। अत महोबा को केन्द्रस्थल और परमर्दि को केंद्रीय पात्र मानकर निर्मित या विकसित काव्य का मूल आधार ऐतिहासिक है, इसमे सदेह नहीं किया जा सकता। इस काव्य मे बारहवीं शताब्दी के उत्तर भारत के तीन बडे राजाओं क पारस्परिक सबधो, मित्रता, विवाह, युद्ध आदि का प्रधान रूप से वणन हुआ हे। ये तीनो ही इतिहास प्रसिद्ध राजा थे। अजमेर और दिल्ली के पृथ्वीराज चौहान, काशी कन्नौज के जयचन्द गहरवार और महोबा कालिंजर के परमाल या परमर्दिदेव ऐतिहासिक पुरुष हैं। इनमे से जयचन्द का राज्य सबसे बडा और शक्तिशाली था। उसका राज्य पूर्व मे काशी और पश्चिम मे दिल्ली के पास तक था। अजमेर के चौहानों से जयचन्द का राज्य विस्तार के प्रश्न को लेकर वैमनस्य था। महोबे का चन्देल वश नवी से ग्यारहवी शताब्दी तक बहुत ही शक्ति सपन्न था। चदेल वश के अतिप्रसिद्ध राजा धगराज के बनारस से प्राप्त हुए लेख से ज्ञात होता है कि इस वश के आदि पुरुष नन्नुक ने सन् ८३१ मे जेजाकभुक्ति (बुन्देलखण्ड) से परिहारो को भगाकर अपना स्वतत्र राज्य स्थापित किया था[1]।

१—इण्डियन ऐण्टिक्वैरी—भाग १, पृ० १३९।

उसकी राजधानी खजुराहो थी। उसके बाद इस वश म राहिल (सवत् ८९० से ९१०) बहुत पराक्रमी राजा हुआ जिसने महोबा को अपनी राजधानी बनाया। महोबा के निकट राहिल्य सागर अब भी उसकी कीति के चिह्न के रूप म वर्तमान है। राहिल के पराक्रम का वर्णन रासो मे भी मिलता है। मदन वर्मा का पौत्र परमर्दि इसी चन्देल वश का राजा था। जिसने ११६५ से १२०३ इ० तक राज्य किया। यही परमर्दि या परमाल आल्ह खण्ड का केंद्रीय पात्र है।

परमर्दि के बारे मे इतिहास मे अधिक बाते नहीं मिलतीं, डा० ईश्वरीप्रसाद का कहना है कि 'परमर्दि के सिंहासन पर आते ही चन्देलों और दिल्ली के चौहानो में बड़े घोर और लम्बे युद्ध छिड गये और सन् ११८२ मे पृथ्वीराज ने उसे बिलकुल हरा दिया और उसके राज्यान्तर्गत सुदूरस्थ मदनपुर तक उसे खदेडता गया[1]।' आल्हखण्ड और महोबा समय के अनुसार तो परमाल इसी युद्ध क बाद मर गया था पर श्री विन्सेण्ट स्मिथ का कथन है कि परमाल चन्देल ११८२ के युद्ध मे पराजित अवश्य हुआ था लेकिन उस समय मारा नहीं गया था। २० वर्ष बाद सन् १२०३ मे कुतुबुद्दीन ऐबक ने जब कालिंजर पर हमला किया था तो परमाल ने उसका डट कर सामना किया और उसी समय मारा भी गया था और उसके मरने के बाद भी चन्देलो का छोटा सा राज्य बुन्देलखण्ड म बहुत दिनो तक रहा[2]। स्मिथ के मत से छपी प्रशस्तियो मे परमर्दि का नाम कही नहीं मिलता न उसके नाम का कोई सिक्का ही मिला है किन्तु कनिघम के अनुसार उसके सन् ११६७ और ११९३ के बीच के तीन लेख मिले हैं। कीलहार्न ने परमर्दि के नाम के सात लेख बताये हैं जो सन् ११६७ से १२०१ के बीच के लिखे हैं[3]। 'वीरकाव्यसग्रह' के सपादको के अनुसार परमाल के समय का एक लेख बटेश्वर के विष्णु मदिर मे भी मिला है जिसे उसके मत्री सलक्षण ने खुदवाया था[4]। प० गोरे लाल तिवारी ने लिखा है कि परमाल के समय के शिलालेख मदनपुर, अजयगढ, खजुराहो, और महोबा मे मिले हैं,

१—मध्ययुग का सक्षिप्त इतिहास—ले० डा० ईश्वरीप्रसाद, प्रयाग १९५२, पृ० २०—२१

२—हिस्ट्री आव बुन्देलखण्ड—बाई विन्सेण्ट स्मिथ, कलकत्ता रिव्यू, १८८१, पृ० २२।

३—हिन्दू भारत का अन्त—ले० सी०वी० वैद्य, स० १९८५ पृ० २८२।

४—वीरकाव्यसग्रह, भूमिका, सपादक—भगीरथप्रसाद दीक्षित और उदयनारायण तीवारी, पृ० ३७।

कालिंजर के नीलकण्ठ के मंदिर मे उनके नाम का एक शिलालेख है जिसमे ये पंक्तियाँ आती हैं[१]।

अद्य श्री परमर्द्दिपार्थिव यशो राशेस्त्रिकाशोदयाद्
वीजोच्छ्वासविदीर्ण दाडिममिव ब्रह्माण्डमालोक्यते।

मदनपुर मे पृथ्वीराज के सं० १२३९ के लिखवाये तीन लेख प्राप्त हुए हैं जिनसे यह प्रमाणत होता है कि सं० १२३९ मे उसका परमाल से युद्ध हुआ था[२]।

उपर्युक्त लेखो से यह सिद्ध होता है कि आल्हखण्ड के अन्तिम युद्ध की घटना जो इस काव्य की सबसे प्रमुख और महत्त्वपूर्ण घटना है, ऐतिहासिक सत्य है। किन्तु परमाल के जीवन के बारे मे इतिहास इससे कुछ अधिक नहीं बताता है। श्री चिन्तामणि वैद्य ने उपयुक्त लेखो के आधार पर यह लिखा है कि परमर्द्दि बडा दानी था और विद्वानो का बहुत समान करता था[३]। परमाल का वृत्तान्त इतिहास मे भले ही कम मिले किंतु लोक स्मृति मे उसके जीवनवृत्त की बहुत सी बातें सुरक्षित हैं। बुन्देलखण्ड की जनता चन्देलो मे सबसे अधिक परमाल को ही जानती है और यह जानकारी बहुत कुछ आल्हखण्ड से होती है। किन्तु परमाल का जो वृत्तान्त महोबा समय और आल्हखण्ड मे मिलता है वह वस्तुत निजन्धरी है, ऐतिहासिक नहीं। प्राचीन साहित्य मे भी कुछ जगहो पर परमर्द्दि का उल्लेख मिलता है। पुरातन प्रबन्धसग्रह के जयचन्द्र प्रबध मे एक कथा दी गयी है जिसमे लिखा है कि परमर्द्दि के 'कोपकालाग्निरुद्र' 'अवन्ध्यकोप प्रसाद' 'रायद्रह बोल' आदि अनेक विरुद धारण करने के कारण रुष्ट होकर जयचन्द ने उस पर आक्रमण कर दिया और वर्ष भर तक घेरा डाले पडा रहा। अन्त मे परमर्द्दि के महामात्य मल्लदेव के एक श्लोक के प्रभाव से जयचन्द के मत्री विद्याधर ने अपनी सेना पीछे हटा ली[४]। इसी प्रकार प्रबन्धचिन्तामणि मे भी जगद्देव क्षत्रिय की कथा में कहा गया है कि परमर्द्दिदेव वीरो का इतना समान करते थे कि उन्होने जगद्देव नामक एक वीर क्षत्रिय को दूसरे राजा के दरबार से बुलवा

१—बुन्देलखण्ड का सक्षिप्त इतिहास—ले० प० गोरेलाल तिवारी, काशी सं० १९९० पृ० ५२।

२— वही, पृ० ६८।

३—हिन्दू भारत का अन्त—ले० सी० वी० वैद्य, पृ० २८३।

४—पुरातन प्रबन्धसग्रह, जयचन्द-नृपवृत्तम, सपादक-मुनिजिनविजय, कलकत्ता १९३६, पृ० ९०।

कर सम्मान प्रदान किया और एक प्रात का अधिकारी बना दिया। जिस समय जगद्देव परमाल की सभा मे पहले पहल गया, वहाँ एक वेश्या नगी होकर पुष्प चयन नृत्य कर रही थी। जगद्देव को देखकर वह चादर ओढ कर बैठ गयी। कारण पूछे जाने पर उसने बताया कि 'ससार के एकमात्र पुरुष श्री जगद्देव अत्र यहाँ विद्यमान हैं, इसलिए उनके सामने बिना वस्त्र के नाचने मे लजाती हूँ। स्त्रियाँ स्त्रियों के सामने ही यथेष्ट चेष्टा कर सकती हैं।' इसी प्रबध मे कुछ बाते और भी कही गयी हैं—१—परमर्दि की रानी ने जगद्देव का अपना भाई मान लिया था, २—राजा परमर्दि जगत मे एक उदाहरणभूत परम ऐश्वर्य का अनुभव करता हुआ दिन रात अपने ओज का प्रकाश करने वाला छुरिका अभ्यास करता था और भोजन के अवसर पर नित्य एक रासोइये का सहार करने के कारण उसका विरुद कोपकालानल था, ३—उसका सपादलक्ष के राजा पृथ्वी राज के साथ युद्ध हुआ जिसमे हारने पर भाग कर वह अपना राजधानी मे चला गया। ४—परमाद्देव एक स्वतन्त्र साम्राज्य का अधिपति था आर कवि लोग उसकी प्रशसा मे कविता लिखते थे। उसने अनेक प्रकार की स्तुतियों से स्तूय मान होकर बहुत दिनों तक साम्राज्य सुख का अनुभव किया[१]।

उपर्युक्त कथाओ से स्पष्ट है कि प्रबन्धचिन्तामणि और पुरातन प्रबन्धसग्रह के प्रबन्धों के रचना काल तक परमर्दि के जीवन और कीति से सम्बन्धित बाते दूर दूर तक फैल चुकी थीं। प्रबन्धचिन्तामणि की रचना मेरुतुग ने स० १३६१ मे की थी और पुरातन प्रबन्धसग्रह मे जिस 'जी' (G) सज्ञक मूलप्रति से उक्त जगद्देव प्रबन्ध लिया गया है उसकी प्रतिलिपि फीरोजशाह के राज्यकाल मे स० १४०७ के बाद की गयी थी[२]। डा० बूल्हर, प्रो० पीटर्सन, प्रो० सी० एच० टानी और फाबर्स प्रभृत विद्वान प्रबन्धचिन्तामणि को ऐतिहासिक ग्रथ मानते थे। किन्तु वस्तुत प्रबन्धचिन्तामणि और पुरातन प्रबन्धसग्रह के प्रबन्धो की सभी बाते ऐतिहासिक नहीं हैं। उनमे सुनी सुनाई बातों का सग्रह ही अधिक है जैसा मेरुतुग ने स्वय अपनी अन्तिम प्रशस्ति म कहा है —

यथाश्रुत सकलित प्रबन्धैर्ग्रन्थो मया मन्दधियापि यत्नात्।
पात्सर्यमुत्साय सुधीभिरेष प्रज्ञोधुरैरुन्नतिमेव नेय

ग्रन्थकारस्य प्रशस्ति —३
(प्रबन्धचिन्तामणि—१२५)

१—प्रबन्धचिन्तामणि, सम्पादक—मुनि जिनविजय, शातिनिकेतन स० १९८९, पृ० ११४–१६

२—पुरातन प्रबन्धसग्रह—प्रास्ताविक वक्तव्य—सपादक मुनि जिनविजय, पृ० १८।

कालिंजर के नीलकण्ठ के मदिर मे उनके नाम का एक शिलालेख है जिसमे ये पक्तियाँ आती हैं[१]।

अद्य श्री परमर्द्दिपार्थिव यशो राशेर्त्रिकाशोदयाद्
वीजोच्छ्वासविदीर्ण दाडिममिव ब्रह्माण्डमालोक्यते।

मदनपुर म पृथ्वीराज के स० १२३९ के लिखवाये तीन लेख प्राप्त हुए हैं जिनसे यह प्रमाणत होता है कि स० १२३९ मे उसका परमाल से युद्ध हुआ था[२]।

उपर्युक्त लेखों से यह सिद्ध होता है कि आल्हखण्ड के अन्तिम युद्ध की घटना जो इस काव्य की सबसे प्रमुख और महत्त्वपूर्ण घटना है, ऐतिहासिक सत्य है। किन्तु परमाल के ज वन के बारे म इतिहास इससे कुछ अधिक नहीं बताता है। श्री चिन्तामणि वैद्य ने उपयुक्त लेखो के आधार पर यह लिखा है कि परमर्द्दि बडा दानी था और विद्वानो का बहुत समान करता था[३]। परमाल का वृत्तान्त इतिहास म भले ही कम मिले किंतु लोक स्मृति मे उसके जीवनवृत्त की बहुत सी बाते सुरक्षित हैं। बु देलखण्ड की जनता च देलो मे सबसे अधिक परमाल को ही जानती है और यह जानकारी बहुत कुछ आल्हखण्ड से होती है। किन्तु परमाल का जो वृत्तान्त महोबा समय और आल्हखण्ड मे मिलता है वह वस्तुत निजन्धरी है, ऐतिहासिक नही। प्राचीन साहित्य मे भी कुछ जगहो पर परमर्द्दि का उल्लेख मिलता है। पुरातन प्रबन्धसग्रह के जयच द्र प्रबध मे एक कथा दी गयी है जिसमे लिखा है कि परमर्द्दि के 'कोपकालाग्निरुद्र' 'अबन्यकोप प्रसाद' 'रायद्रह बोल' आदि अनेक विरुद धारण करने के कारण रुष्ट होकर जयचन्द ने उस पर आक्रमण कर दिया और वर्ष भर तक घेरा डाले पडा रहा। अन्त मे परमर्द्दि के महामात्य मल्लदेव के एक श्लोक के प्रभाव से जयचन्द के मत्री विद्याधर ने अपनी सेना पीछे हटा ली[४]। इसी प्रकार प्रब धचिन्तामणि मे भी जगद्देव क्षत्रिय की कथा मे कहा गया है कि परमर्द्दिदेव वीरो का इतना समान करते थे कि उन्होने जगद्देव नामक एक वीर क्षत्रिय को दूसरे राजा के दरबार से बुलवा

१—बुन्देलखण्ड का सक्षिप्त इतिहास—ले० प० गोरेलाल तिवारी, काशी स० १९९० पृ० ५२।

२— वही, पृ० ६८।

३—हिन्दू भारत का अन्त—ले० सी० बी० वैद्य, पृ० २८३।

४—पुरातन प्रबन्धसग्रह, जयचन्द–नृपवृत्तम, सपादक–मुनिजिनविजय, कलकत्ता १९३६, पृ० ९०।

कर सम्मान प्रदान किया और एक प्रात का अधिकारी बना दिया। जिस समय जगद्देव परमाल की सभा मे पहले पहल गया, वहाँ एक वेश्या नगी होकर पुष्प चयन नृत्य कर रही थी। जगद्देव को देखकर वह चादर ओढ कर बैठ गया। कारण पूछे जाने पर उसने बताया कि 'ससार के एकमात्र पुरुष श्री जगद्देव अब यहाँ विद्यमान हैं, इसलिए उनके सामने बिना वस्त्र के नाचने मे लजाती हूँ। स्त्रियाँ स्त्रियो के सामने ही यथेष्ट चेष्टा कर सकती हैं।' इसी प्रबध मे कुछ बाते और भी कही गयी हैं –१–परमर्द्दि की रानी ने जगद्देव का अपना भाई मान लिया था, २—राजा परमर्द्दि जगत मे एक उदाहरणभूत परम ऐश्वर्य का अनुभव करता हुआ दिन रात अपने ओज का प्रकाश करने वाला छुरिका अभ्यास करता था और भोजन के अवसर पर नित्य एक रासोइये का सहार करने के कारण उसका विरुद कोपकालानल था, ३—उसका सपादलक्ष के राजा पृथ्वीराज के साथ युद्ध हुआ जिसमे हारने पर भाग कर वह अपनी राजधानी मे चला गया। ४—परमाद्देव एक स्वतन्त्र साम्राज्य का अधिपति था और कवि लोग उसकी प्रशसा मे कविता लिखते थे। उसने अनेक प्रकार की स्तुतियो से स्तूयमान होकर बहुत दिनों तक साम्राज्य सुख का अनुभव किया[1]।

उपर्युक्त कथाओ से स्पष्ट है कि प्रबन्धचिन्तामणि और पुरातन प्रबन्धसग्रह के प्रबन्धों के रचना काल तक परमर्द्दि के जीवन और कीति से सम्बन्धित बाते दूर दूर तक फैल चुकी थीं। प्रबन्धचिन्तामणि की रचना मेरुतुग ने स० १३६१ में की थी और पुरातन प्रबन्धसग्रह मे जिस 'जी' (G) सज्ञक मूलप्रति से उक्त जगद्देव प्रबन्ध लिया गया है उसकी प्रतिलिपि फीरोजशाह के राज्यकाल मे स० १४०७ के बाद की गयी थी[2]। डा० बूल्हर, प्रो० पीटर्सन, प्रो० सी० एच० टानी और फाबर्स प्रभृत विद्वान प्रबन्धचिन्तामणि को ऐतिहासिक ग्रथ मानते थे। किन्तु वस्तुत प्रब धचिन्तामणि ओर पुरातन प्रबन्धसग्रह के प्रबन्धो की सभी बाते ऐतिहासिक नहीं हैं। उनमे सुनी सुनाई बातों का सग्रह ही अधिक है जैसा मेरुतुग ने स्वय अपनी अन्तिम प्रशस्ति म कहा है —

यथाश्रुत सकलित प्रबन्धैर्ग्रन्थो मया मन्दधियापि यत्नात्।
पात्सर्यमुत्साय सुधीभिरेष प्रज्ञोधुरैरुन्नतिमेव नेय

ग्रन्थकारस्य प्रशस्ति —३

(प्रबन्धचिन्तामणि—१२५)

१—प्रबन्धचिन्तामणि, सम्पादक—मुनि जिनविजय, शातिनिकेतन स० १९८९, पृ० ११४–१६

२—पुरातन प्रबन्धसग्रह–प्रास्ताविक वक्तव्य–सपादक मुनि जिनविजय, पृ० १८।

इसी तरह पुरातन प्रबन्ध सग्रह के 'जी' सज्ञक प्रबन्धो के सम्ब ध मे मुनि जिनविजय जी ने लिखा है, "यह एक प्रकार का पुरानी कथा वार्ता विषयक सक्षिप्त टिप्पणो का प्रकीर्ण सग्रह मात्र है जो किसी विद्वान ने अन्यान्य ग्रथों मे पढकर या अन्य जनो के मुख से सुन कर निज की स्मृति के लिए लिख लिया है[1]। इस तरह ये प्रबन्ध यद्यपि अनुश्रुति पर अधिक आधारित हैं पर उनमें बहुत सी बाते इतिहास समत अवश्य हैं। परमर्द्दिदेव से सबधित जो बातें उनमे कही गयी हैं उनमे भी ऐतिहासिकता अवश्य होनी चाहिए यद्यपि उनमे कुछ बाते अनुश्रुति मूलक ही अधिक है। उपर्युक्त विवेचन के फलस्वरूप हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है —

१—परमर्द्दि ऐतिहासिक व्यक्ति है जिसने दीर्घकाल तक शासन किया था।

२—वह जयचन्द का करदाता सामत नही बल्कि स्वतत्र साम्राज्य का अधिपति था। 'कोपकालाग्निरुद्र', 'अबन्ध्यकोपप्रसाद' आदि उसकी अनेक उपाधियाँ थीं।

३—जयचन्द ने उस पर एक बार आक्रमण किया था किन्तु बाद मे उनसे उसका मैत्री सबध स्थापित हो गया था।

४—वह सभवत अधिक वीर नही था, इसके विपरीत वह विलासी और कायर था, उसके दरबार मे वेश्यायें नग्न होकर नृत्य करती थीं।

५—वह वीरो का समान करता था और दूसरे राजाओ के वीर सामन्तों को बुला कर अपने यहाँ रखता था। सभवत इसका कारण यह था कि वह स्वय युद्ध से डरता ओर इसी लिए अपने सामन्त वीरो का ही भरोसा करता था।

६—वह काव्यप्रेमी था, उसका महामात्य मल्लदेव स्वय कवि था। कवि लोग उनकी प्रशसा मे प्रशस्ति काव्य लिखते थे और इस तरह काव्य-स्तुतियों से 'स्तूयमान' होकर उसने चिरकाल तक सुखपूवक शासन किया।

७—उसकी पत्नी भी शासन काय म अवश्य हाथ बँटाती थी और वीरो से वह स्वय भाई भतीजे का सा व्यवहार करती थी।

८—परमर्द्दि बहुत क्रोधी, क्रूर और ईर्ष्यालु था, जगद्देव से उसकी वीरता के कारण ईर्ष्या करता था और रसोइयों की सभवत विष दने के भय से हत्या करता था।

९—पृथ्वीराज से उसका युद्ध हुआ था जिसमे वह पराजित होकर भाग गया और अपना राजधानी कालिंजर म जाकर छिपा था।

१—पुरातन प्रबधसग्रह, प्रास्ताविक वक्तव्य, पृ० १९।

१०—शिलालेखो से इस बात की पुष्टि होती है कि पृथ्वीराज से उसका युद्ध सन् ११८२ मे हुआ था जिसमे वह पराजित हुआ था पर उसके बाद भी कालिंजर म वह शासन करता रहा और सन् १२०३ मे कालिंजर पर मुसलमानी आक्रमण के समय उसकी मृत्यु हुई थी।

आल्हखण्ड मे वर्णित घटनाओ और बातो को उपर्युक्त तथ्यों से मिलाकर देखने से पता चलता है कि आल्हखण्ड की बहुत सी बातें उपर्युक्त बातो से मिलती हैं। यदि प्रबन्धचिन्तामणि और पुरातन प्रबन्धसग्रह की बातो को ऐतिहासिक तथ्य माना जाय तो आल्हखण्ड की अनेक बाते ऐतिहासिक हैं। उपर्युक्त दोनो प्रबन्ध ग्रथो की रचना परमाल की मृत्यु के १०० १५० वष के भीतर ही हुई थी, अत उनमें अनुश्रुति होते हुए भी ऐतिहासिकता अधिक होनी चाहिए।

इतिहास और प्राचीन साहित्य के साक्ष्य के आधार पर तो आल्हखण्ड मे केवल उपर्युक्त बातें ही ऐतिहासिक मालूम पडती हैं। शेष बाते या तो परवर्ती काल की निजन्धरी कथाओ और अनुश्रुति की देन हैं या अल्हैतो की कल्पना की उपज हैं। वस्तुत इस काव्य को इतिहास की दृष्टि से देखना भी नहीं चाहिए क्योंकि जब इसका लिखित रूप कभी था ही नही तो इतिहास के तथ्यो का उसमे सुरक्षित रहना भी सभव नहीं था। यही कारण है कि उसम अनैतिहासिक तत्त्वो की भरमार है। इस सबध मे ग्रियर्सन का यह कथन सर्वथा सत्य है, "यह बात ध्यान मे रखने की है कि आल्हखण्ड मे जो कुछ भी कहा गया है वह इतिहास नही बल्कि निजन्धरी आख्यान हैं, और वह निजन्धरो आख्यान मात्र नहीं हैं बल्कि उसमे बहुधा परस्पर विरोधी बाते भी कही गयी हैं। उसमे प्रमुख पात्र तो ऐतिहासिक हैं किन्तु उनके साहस और पराक्रम के कार्य, जो आल्हखण्ड मे वणित हैं, ऐतिहासिक सत्य नहीं हैं[1]।" आल्हखण्ड मे अतिम युद्ध म परमाल के सभी सेनापति मार डाले जाते हैं, आल्हा और ऊदल कजरी बन म चले जाते है और परमाल अपना राज छोड कर गया की ओर भाग जाता है जहाँ उसकी मृत्यु हो जाती है। किन्तु इतिहास के अनुसार परमाल इस युद्ध क बाद भी जीवित रहा आर सन् १२०२ मे कालिंजर पर कुतुबुद्दीन के आक्रमण क समय उसकी मृत्यु हुई और उसके बाद उसका पुत्र त्रैलोक्य वमा कई वषो तक बुन्देलखण्ड मे राज्य करता रहा। सन् ११८२ और सन् १२०३ के बीच के परमर्दि के कई लेख भी मिले हैं

१—लिंग्विस्टिक सर्वे आव इडिया, भाग ९, पार्ट फर्स्ट—जार्ज ग्रियर्सन, पृ० ४९५।

जिनसे उसका जीवित रहना प्रमाणित होता है। इसी तरह इतिहास में परमर्दि की जो वंशावली मिलती है उससे आल्हखण्ड की वंशावली बिलकुल भिन्न है[१]। इस प्रकार आल्हखण्ड मे अधिकाश बाते ऐसी हैं जो इतिहास के विरुद्ध जाती हैं। उसके अनुसार परमर्दि की राजधानी पहले चन्देरी मे थी और महोबा का राजा वासुदेव नामक परिहार था जिसकी पुत्री मल्हना से विवाह करने के बाद उन्होने महोबा पर बलपूर्वक अधिकार कर लिया। किन्तु इतिहास के अनुसार चन्देलो की राजधानी चन्देरी मे कभी नही थी और महोबा परमाल के बहुत पहले से उनकी राजधानी थी, कीर्तिवर्मा, और मदनवर्मा के बनवाये अनेक तालाब और भवन वहाँ अब भी है। आल्हखण्ड के अनुसार परमाल का पुत्र ब्रह्मा था और उसका विवाह पृथ्वीराज की पुत्री बेला से हुआ था। इतिहास के अनुसार परमाल का पुत्र त्रैलोक्य वमा था, पृथ्वीराज के न कोई बेला नामक पुत्री थी और न उसका परमाल के पुत्र से विवाह ही हुआ था। आल्हखण्ड मे परमाल को सारे भारत की विजय करने वाला भी कहा गया है जो बिलकुल अनैतिहासिक बात है। इसी तरह उसम जयचन्द के पिता, भाई और भतीजे तथा पृथ्वीराज के पुत्रों के जो नाम दिये गये हैं वे इतिहास की दृष्टि से सही नहीं हैं। आल्हखण्ड मे जिन प्रमुख २३ युद्धो का वर्णन है उनमे से एक या दो को छोडकर शेष ऐतिहासिक नही हैं, वे सब मनगढन्त और लोक कल्पना की उपज हैं। उसमे वर्णित पात्रों और स्थानो मे कुछ तो ऐतिहासिक हैं किन्तु अन्य पात्र और स्थान कल्पित ही हैं। पात्रो मे परमाल, पृथ्वीराज और जयचन्द तो इतिहास प्रसिद्ध हैं किन्तु शेष मे से आल्हा, ऊदल, चौडा, मलखान, सुलखान, चौडा (चामुण्ड) जैसे कुछ पात्र इतिहास मे ज्ञात न होते हुए भी ऐतिहासिक प्रतीत होत हैं। कहा जाता है कि आल्हा का बनवाया हुआ शारदा देवी का मदिर मैहर से तीन मील पश्चिम एक पहाडी की चोटी पर आज भी वर्तमान हैं। यह बनाफर वश की इष्ट देवी कही जाती हैं। मदनपुर के एक मादर में एक शिलालेख है जिसमे आल्हा का उल्लेख है। वह लेख यह है —

ओ स० १२३५ श्रावण बदी १, विकारपथ के महाराज पुत्र श्री आल्हन देव आदित्य मास प्रतिदत्त ”

बटेश्वर के मदिर के लेख से सुलक्षण (सुलखान)[२] का होना भी सिद्ध

१—आल्हा (आल्हा की कथा) ले० चतुर्वेदी द्वारिका प्रसाद शर्मा, प्रयाग १९००, पृ० १।

२—पृथ्वीराजरासो और आल्हखण्ड–ले०गौरीशंकर द्विवेदी शेखर, सगम–प्रयाग,

होता है जो आल्हखण्ड मे मलखान का भाइ कहा गया है। इसी तरह चौडा, लाखनराना, जगनिक आदि कुछ पात्र अर्द्ध ऐतिहासिक व्यक्तित्व प्रतीत होते है। स्थानो म महोबा, कालिंजर, कन्नोज, दिल्ली, सिरसा, उरई, कालपी, जाजामऊ, बिठूर, चन्देरी, माडागढ, गोरखपुर, दसपुरवा, बनारस, आजमगढ आदि तो प्राचीन नगर अवश्य हैं किन्तु उनमे आल्हखण्ड की कोई ऐतिहासिक घटना घटित हुई या यो ही उनका नाम कथा मे जोड दिया गया है, निश्चित रूप से इस सबध मे कुछ नहीं कहा जा सकता। शेष स्थान जैसे नैनागढ, पथरीगढ, विरिया, गाँजर, बगाल का बूँदी आदि कल्पित हैं। बलख बुखारा और कामरू कमच्छा प्राचीन स्थान होते हुए भी मध्यदेश से इतनी दूरी पर स्थित हैं कि उनका आल्हखण्ड मे घटनास्थल बनना स्पष्ट ही कल्पना की देन है। वस्तुत बलख बुखारा और कामरू कमच्छा का नाम १५ वी शताब्दी के बाद के लोककथात्मक प्रेमाख्यानक काव्यो मे रूढिरूप मे गृहीत होने लगा जैसे अपभ्रंश काव्यों मे सिहल का नाम आता है। आल्हखण्ड मे सिंहल के साथ उपर्युक्त नामों का आना यह सिद्ध करता है ये कथाए १५ वी शताब्दी के बाद आल्हखण्ड मे जुडी हैं।

आल्हखण्ड के विकास की अवस्थाएँ

जैसा पहले कहा जा चुका है, मूल आल्हखण्ड की रचना परमाल या उसके वशज के किसी दरबारी कवि द्वारा—चाहे उसका नाम जगनिक हो या और कुछ—साहित्यिक प्रबन्धकाव्य के रूप मे सामन्ती वीरयुग मे ही हुई होगी। उसके बाद से उस काव्य को अपना वतमान रूप प्राप्त करने तक किन किन अवस्थाओ से होकर गुजरना पडा होगा, इसका पता लगाना अत्यत कठिन है। अनुमानत उसके विकास की ये चार अवस्थाये रही हैं —

१—**आल्हखण्ड का मूलरूप**— इस अवस्था मे इस काव्य का क्या रूप था, यह जानने का कोई उपाय नहीं है। यह अवश्य प्रमाणित किया जा चुका है कि जैसे रासो अपने मूल रूप मे एक लघु साहित्यिक प्रबन्धकाव्य था और धीरे धीरे उसने बृहत् आकार धारण कर लिया, आल्हखण्ड भी उसी तरह प्रारभ मे एक लघु काव्य रहा होगा। यह एक अनुमानित स्थापना है अत इसके सबध मे अधिक कुछ नहीं कहा जा सकता। यहाँ इतना ही कहना प्रर्याप्त है कि विकास की पहली अवस्था मे आल्हखण्ड बुन्देलखण्ड मे लोकप्रिय साहित्यिक प्रबन्धकाव्य रहा होगा, दरबारी चारण भाटो ने उसे पहले कण्ठस्थ किया होगा और बाद मे वह लोक मे मौखिक रूप मे प्रचलित हुआ होगा।

२—लोकगाथा मे रूपान्तर—विकास की दूसरी अवस्था मे आल्हखण्ड का साहित्यिक प्रबधकाव्य से लोकगाथा मे रूपान्तर हो गया। संभवत १४०० ई० के बाद जब उत्तर भारत मे राजपूत राजाओ की शक्ति क्षीण हो गयी और राजदरबारों मे साहित्य को सरक्षण मिलने का अवसर नहीं रह गया तो साहित्य धारा लोकोन्मुख हुई। फलत भक्त और सन्त कवियो का उदय हुआ और पूर्ववर्ती वीरगाथात्मक साहित्यिक रचनाओ मे जो अधिक शक्तिशाली थीं, उन्हें लोककण्ठ म आश्रय मिला। अत्यत अराजकतापूर्ण राजनीतिक परिस्थितिया वाले मध्यदेश मे आदिकालीन लोकभाषा के काव्यो का हस्तलिखित प्रतियो के न मिलने का यही रहस्य है। अत भक्तिकाल मे एक ओर तो भक्तिपरक काव्य की रचना लोकोन्मुख और धर्माश्रित कवियो द्वारा होती रही, दूसरी ओर सामान्य जनता अपनी वीरता की भावना की तुष्टि वीरभावना से युक्त लोक गाथाओ द्वारा करती रही। इस तरह १४०० ई० से १६०० ई० के बीच आल्हखण्ड अपने मूल साहित्यिक रूप से लोकगाथा म रूपान्तरित हुआ। यह स्थापना भी अनुमान पर ही आधारित है, इसका कोई प्राचीन उल्लेख नही मिलता कि उस काल मे लोकगाथा के रूप मे आल्हखण्ड का प्रचार था ही। आल्हखण्ड के कुछ पात्रों और घटनाओं का उल्लेख पुरातन प्रबधसग्रह और प्रबधचिन्तामणि मे हुआ है, इसी से अनुमान होता है कि लोकगाथा या अनुश्रुति रूप मे वे बातें उस काल मे प्रचलित थी जिन्हें उपर्युक्त प्रबन्धों मे ले लिया गया है।

यह कहना तो अत्यत कठिन है कि आल्हखण्ड का जो तत्कालीन प्रचलित रूप था, उसम वर्तमान आल्हखण्ड का कितना अश था, किन्तु इसमे कोई सदेह नहीं की वर्तमान आल्हखण्ड की बहुत सी कथाये और घटनाये उसमें नहीं रही होगी। उसमे पृथ्वीराज और परमाल के युद्ध की घटना का ही वर्णन रहा होगा। अत उसका आकार बडा नहीं होगा। ऐसा मानने के दो कारण हैं, एक तो यह कि वर्तमान आल्हखण्ड मे बहुत से ऐसे स्थानो और ऐसी बातों का वर्णन है जिनका अस्तित्व चोदहवीं पन्द्रहवी शताब्दी के पहले था ही नहीं। उदाहरणार्थ, माडौ के किले का निर्माण अलाउद्दीन खिलजी के समय मे हुआ था[१] और उसकी विशेष ख्याति १५ वीं शताब्दी मे माडू के नवाबों के समय मे हुई थी। अत माडोगढ की लडाइ की कथा सन् १३०० से १५०० ई० के बीच की जोडी हुई है। इसी तरह सैयद मीर ताल्हन को बनारस का

१—वीरकाव्यसग्रह, भूमिका, स० डा० उदयनारायण तिवारी और भगीरथप्रसाद दीक्षित, पृ० ४०।

रहने वाला मुगल कहा गया है। मुगल सबसे पहले तैमूरलंग के साथ १३९९ ई० मे भारत मे आये, और बनारस तक तो बाबर के आने के बाद हा पहुँचे होंगे। अत बनाफर वश के दस्सराज और मीर ताल्हन के झगडे और परमाल के यहाँ उनके नौकरी पाने की कथा भी १४०० से १५५० ई० के बीच या उससे भी बाद की जोडी प्रतीत होती है। आल्हखण्ड के प्रारभ मे ही सयोगिताहरण की कथा दी गयी है। यह कथा स्पष्ट ही १५ वीं-१६ वी शताब्दी की अनुश्रुति और पृथ्वीराजरासो की कथा से ली गयी प्रतीत होती है। उसी तरह आल्हा निकासी के बाद जयचन्द की ओर से आल्हा ऊदल के समस्त उत्तर पूर्वी भारत के राजाओ की विजय और विभिन्न युद्धों का जो वितृत वणन वर्तमान आल्हखण्ड में मिलता है, वह बहुत परवर्ती है क्योकि वह बिलकुल काल्पनिक है, ऐतिहासिकता उसमे रचमात्र भी नहीं है। इस प्रकार चौदहवी से सोलहवीं शताब्दी के बीच आल्हखण्ड का एक अर्द्धऐतिहासिक और निजन्धरी लोकगाथा क रूप मे विकास और समस्त उत्तर भारत म प्रचार हुआ, यह अनुमान निराधार नहीं प्रतीत होता।

३–विकास की तीसरी अवस्था–साहित्यिक रूपान्तर (१६०० से १८००ई०)

महोबा समयो—विकास की तासरी अवस्था मे आल्हखण्ड का लोकगाथा से फिर साहित्यिक प्रबन्धकाव्य म रूपान्तर हुआ। यह रूपान्तर पृथ्वीराजरासो का महोबा समयो और परमालरासो नाम से प्रचलित एक अन्य महोबाखण्ड है। इस संबध में पहले ही कहा जा चुका है कि महोबाखण्ड की रचना १७६० ई० तक हो चुकी थी क्योकि उसी बीच रासो की बृहत् वाचना का रूप निर्मित हुआ। अमरसिंह के समय मे जब रासो के बिखरे अशों का सग्रह किया जाने लगा तो राजस्थान के भाँटों मे आल्हखण्ड की विख्यात लोकगाथा के आधार पर पृथ्वीराज और परमाल के युद्ध का जो वर्णन मौखिक रूप से प्रचलित था उसे भी सग्रहीत कर लिया गया होगा। 'महोबा समय' के सबध मे पृथ्वीराज रासो के सपादक श्री मोहनलाल विष्णुलाल पड्या ने लिखा है, 'इस समय की घटना का सबध तो पृथ्वीराज के जीवनचरित से अवश्य है पर अनेक कवियों ने इस कथा के वर्णन मे अपनी कवित्वशक्ति दिखाई है पर नाम अपना न देकर चन्द वरदाई का ही दिया है। इसलिए इस 'समय' के चन्द की रचना होने में सदेह है। अतएव यह अन्त मे दिया जाता है[1]।' इसमे पड्या जी ने यह नहीं बताया है कि किस काल मे महोबा समय की रचना हुई पर इतना

१—पृथ्वीराजरासो (प्रकाशित तीसरा भाग)—सपादक, मोहनलाल विष्णुलाल पड्या आदि, नागरीप्रचारिणी सभा, सन् १९१२, पृ० २५०७।

उन्होने भ। माना है कि वह परवर्ता रचना है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि चार्ल्स इलियट आल्हखण्ड को महोबा समय का ही पूर्वा रूपान्तर मानते हैं और ग्रियर्सन दोनो को स्वतत्र रचना मानते हैं। परन्तु सच यही प्रतीत होता है कि महोबा समय ही आल्हखण्ड का साहित्यिक रूपान्तर है। इस कथन के समर्थन मे पट्या जी का यह कथन उल्लेख्य है, "महोबा युद्ध समय की घटना कदापि सादग्ध नही हो सकती, सदिग्ध है इस 'समय' की कविता। रासो के अन्य समयो से इस समय की कविता बिल्कुल भिन्न है। आल्हा ऊदल का पराक्रम और चदेलो की प्रभुता दिखाने के लिए इस समय पर किसी बुन्देलखण्डी कवि ने विशेष कृपा की है[1]।" इस कथन से हमारा इतना ही विरोध है कि यह किसी बुन्देलखण्डी कवि की नहीं बल्कि किसी राजस्थानी कवि की कृपा है। बु देलखण्डी कवि की कृपा होती तो महोबा समय मे पृथ्वीराज का पक्ष नही लिया गया होता और न उसका इतना पराक्रम ही दिखाया गया होता। अत वस्तुत किसी राजस्थानो चारण या भाँट द्वारा ही आल्हखण्ड की तत्कालीन लोकगाथा का पृथ्वीराज के पक्ष मे साहित्यिक रूपान्तर हुआ। मूल रासो म महोबा के युद्ध का उल्लेख मात्र था। इस सम्बन्ध मे श्री मूलराज जैन ने लिखा है, 'लघुवाचना मे महोबा वाली घटना का उल्लेख मात्र ही है, परन्तु बृहत् वाचना मे यह एक पूर्ण 'समय' लेती है और इसे कई खण्डों वाले ग्रथ का आकार मिला, जिसके रचयिता के रूप मे चन्द वरदाई का ही नाम लिया जाता है। सभव है कि इसमे च द का एक भी शब्द न हो क्योकि इसकी भाषा बहुत अर्वाचीन है[2]।' श्री जैन ने लघु वाचना से महोबा (कालिंजर) वाली घटना से सम्बन्धित जो छन्द उद्धृत किया है वह यह है —

आरन्नी अजमेरि घुम्मि धवनी कमडि मडोवर।
भोरा रा मुर मुड दड दवनो अग्गी उविष्ट कर ॥
रत्य भ थिर थभ सीस अहर नि जल जुष्ट कालिजर।
क्रिप्पान चहवान जान धनयो धर्नोपि गोरी धरा॥

—रासो–लघुवाचना–समय ६, पद्य ५९।

इससे इतना तो स्पष्ट है कि मूल पृथ्वीराजरासो मे पृथ्वीराज और परमाल के युद्ध का वर्णन विस्तार के साथ अलग 'समय' के रूप मे नहीं था,

१—पृथ्वीराजरासो (प्रकाशित तीसरा भाग) नागरी प्रचारिणी सभा, पाद टिप्पणी, पृ० ४५७।

२—पृथ्वीराजरासो की विविध वाचनाएँ—लेखक श्री मूलराज जैन, प्रेमी अभिनन्दन ग्र थ, पृ० १३२।

बाद मे जब बुन्देलखण्ड और अन्य प्रान्ता मे आल्हखण्ड का लोकगाथा के रूप मे या उक्त घटना का अनुश्रुति के रूप मे बहुत अधिक प्रचार हुआ तो रासो को कण्ठस्थ करने वाले चारण भाट कवियो ने अपनी ओर से उक्त युद्ध का विस्तार के साथ काव्यात्मक वर्णन लिख कर चन्द के नाम से प्रचलित कर दिया। प्रकाशित रासो मे ६९ वे समय के रूप मे जो 'महोबा समयो' दिया हुआ है उसके बारे म रासो के सम्पादको ने यह नहीं लिखा है कि उन्होंने उसे किस हस्तलिखित प्रति से लिया है। प० मोतीलाल मेनारिया के सम्पादकत्व मे प्रकाशित 'राजस्थान मे हिन्दी के हस्तलिखित ग्रथो की खोज' (प्रथम भाग) मे रासो की जिन ९ हस्तलिखित प्रतियों का विवरण दिया गया है, उनमे किसी म भी 'महोबा समयो' नही है, केवल प्रति न० ३ के विषय म लिखा है कि '१२१ वे पन्ने के दूसरे पृष्ठ पर 'पद्मावती विवाह सम्या' समाप्त होता है। इसक बाद ११ पन्ने (१२१–१३१) कोरे हैं। प्रति के अन्तिम पृष्ठ पर इसके प्रस्तावा की क्रमवार नामावली दी हुइ है। इसमे इन पन्नो पर महोबा सम्या का होना सूचित किया गया है। इससे स्पष्ट है कि ये पन्ने 'महोबा सम्यो' के लिए खाली रखे गये थे पर उक्त सम्या के उपलब्ध न होने से अथवा अन्य किसी कारण से उसका लिखना शेष रह गया है। उस प्रति मे भी उपरोक्त प्रति न० २ के क्रमानुसार ६९ प्रस्ताव हैं[1]।" इससे यह स्पष्ट है कि बृहत् रूपान्तर की भी सभी प्रतियो मे महोबासमय नहीं मिलता। उपर्युक्त प्रति न० ३ का लिपिकाल स० १८६१ है जिससे यह सिद्ध होता है कि स० १८६१ तक चारण भाटो के बीच 'महोबासमय' का भी प्रचार था और वह पृथ्वीराजरासो के अन्तर्गत ही माना जाता था किन्तु जिस आदर्श प्रति से उपर्युक्त प्रति की प्रतिलिपि हुई होगी उसम वह नही था। ओरियण्टल कालेज लाइब्रेरी, लाहौर मे भी महोबासमय की एक फुटकर प्रति है। चन्द के वंशधर श्री नानूराम जी के पास रासो की जो दो प्रतियाँ थी उन्हीं मे से एक से उन्होंने महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री को 'महोबासमय' लिखाया था[2]। इन सब विवरणों से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि यद्यपि महोबा के युद्ध की घटना ऐतिहासिक सत्य है किन्तु रासो की पुरानी प्रतियों में महोबा समय

१—राजस्थान मे हिन्दी के हस्तलिखित ग्रथो की खोज—स० मोतीलाल मेनारिया, उदयपुर, १९४२, पृ० ६१।

२—पृथ्वीराजरासो और उसकी हस्तलिखित प्रतियाँ—ले० श्री अगरचन्द नाहटा, राजस्थानी, अक्तूबर, १९३९, पृ० ४१।

का न मिलना और प्रकाशित रासो की भाषा का बहुत परवता होना यह सिद्ध करता है कि महोबासमय परवर्ता काल, समवत १७वी–१८वीं शताब्दी, की रचना है और चारण भाटो म ही उसका प्रचार था, रासो की हस्तलिखित प्रतियो म उसे बाद मे स० १८०० के आसपास स्थान मिलने लगा।

इस प्रकार महोबासमय सालहवी से अठारहवी शताब्दी के बीच मे विकसित आल्हखण्ड का लघु साहित्यिक रूपान्तर है। इसकी भाषा व्रजभाषाप्रधान है और इसम आल्हा ऊदल का उत्कर्ष पृथ्वीराज से अधिक नहीं दिखाया गया है, यद्यपि प्रधानतया उन्ही का वणन इस 'समय' मे हुआ है। इससे यह भी स्पष्ट है कि प्रकाशित रासो वाले 'महोबासमय' की रचना राजस्थान म पृथ्वीराज चौहान के पक्षधर कवि या कवियों द्वारा हुइ होगी क्योकि उसमे पृथ्वीराज के सम्मान पर आघात करने वाली काई बात नही कही गयी है। अत 'महोबा समय' आल्हखण्ड नामक लोकगाथा का या तो सक्षिप्त साहित्यिक रूप है या उसक रूपान्तर के समय आल्हखण्ड का अधिक विस्तार नही रहा होगा। ऐसा मानने का कारण यह है कि 'महोबासमय' मे केवल ८२८ ही छन्द हैं और कथानक मे आल्हखण्ड की कथा की मुख्य घटनाएँ—सिरसा की लडाई, आल्हा का रूठना और मनाया जाना, उसकी वापसी और फिर महोबा का अन्तिम युद्ध, परमाल का पलायन और आल्हा का कजरी वन मे चला जाना आदि—ही ली गयी हैं, अन्य युद्ध जो विवाहो और जयचन्द की कर वसूली से संबधित है, उसमे नहीं हे। अत वह आल्हखण्ड का लघु साहित्यिक रूपान्तर है। उसे आल्हखण्ड की पश्चिमी या राजस्थानी वाचना भी कह सकते हैं। ग्रियर्सन ने आल्हखड के तीन रूपान्तर माने है और 'महोबासमय' को उसकी पश्चिमी वाचना कहा है[1]।

बृहत् साहित्यिक रूपान्तर—परमालरासो (महोबाखण्ड)—काशी नागरीप्रचारिणी सभा से 'परमालरासो' नामक एक ग्रथ प्रकाशित हुआ है। उसकी भूमिका मे ग्रथ के सपादक बाबू श्यामसुन्दर दास ने लिखा है कि 'मैंने एशियाटिक सुसाइटी, बगाल क पुस्तकालय मे रक्षित हिन्दी की हस्तलिखित पुस्तको की जाँच की। इन सब प्रतियो की जाँच करते करते मुझे एक पुस्तक पृथ्वीराजरासो के नाम से मिली। यह दो जिल्दो म बधी हुई थी। एक जिल्द का नाम 'महोबाखण्ड' ओर दूसरी का 'कनवजखण्ड' था। दोनो खड सवत् १९२५ के लिखे हुए थे। पाछे से 'महोबाखण्ड' की एक प्रति छत्रपुर

1—The song of Alha s marriage—A Bhojpu i Epic, by G A Grierson Indian Antiquary August 1885 P 209

निवासी बाबू जगन्नाथप्रसाद जी से मुझे प्राप्त हुई। यह प्रति सम्वत् १८४९ (अंक वेद वसु इन्दु पुनि) का लिखा हुई है। दोनों के मिलान करने पर यह प्रगट हुआ कि दोनो एक ही मूल ग्रंथ की प्रतियाँ थी, यद्यपि कहीं कहीं पाठभेद था। दोनो ग्रंथों का नाम पृथ्वीराजरासो दिया हुआ था और कर्ता का नाम चन्द वरदाई था। परन्तु पृथ्वीराजरासो के नाम से जो ग्रंथ ६ खण्डों में काशी नागरीप्रचारिणी सभा ने प्रकाशित किया है उसमें और इसमें आकाश पाताल का अन्तर है। महोबाखण्ड में पृथ्वीराज चौहान और परमर्दि (परमाल) के बीच में जो भयानक युद्ध हुआ था उसका सविस्तर वर्णन है[1]।” इस ग्रंथ को उन्होंने 'परमालरासो' नाम से काशी नागरीप्रचारिणी सभा से प्रकाशित कराया। इस नाम के लिए उन्होंने यह तर्क दिया है, “यद्यपि इस ग्रंथ का नाम मूल प्रतियों में 'पृथ्वीराजरासो' दिया हुआ है, पर इस नाम से इसे प्रकाशित करना लोगों को भ्रम में डालना होता। अतएव मैंने इसे 'परमाल-रासो' यह नाम देने का साहस किया है[2]।' किन्तु जिस भ्रम को मिटाने के लिए बाबू साहब ने नाम बदला वह इस नाम से नये रूप में उत्पन्न हो जाता है। वस्तुतः इस ग्रंथ का नाम 'महोबाखण्ड' ही रहने देना उचित होता और यदि बदलना आवश्यक था तो 'आल्हारासो' नाम अधिक उचित था क्योंकि इसका नायक परमाल नहीं बल्कि आल्हा है और इस नाम से यह भी स्पष्ट हो जाता कि यह आल्हखण्ड का साहित्यिक रूपान्तर है। जिस तरह 'पृथ्वीराज रासो' नाम से चन्द के रासो का भ्रम हो सकता था, उसी तरह 'परमालरासो' से जगनिक के मूल ग्रंथ का भ्रम होता है। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने भी जगनिक के मूल ग्रंथ का नाम यही अनुमान किया है।

बाबू साहब ने अन्यत्र इस ग्रंथ के संबंध में बिलकुल सही कहा है कि “इसके प्रत्येक समय के अन्त में कर्ता की जगह चन्द वरदाई का नाम दिया है, पर विशेष जाँच करने पर यह ग्रंथ न तो पृथ्वीराजरासो ही ठहरा और न कर्ता चन्द वरदाई सिद्ध हुआ। जिस बात का वर्णन चन्द के वर्तमान क्षेपक पूर्ण रासो में एक दो समयों में आ गया है उसे इस प्रति में (ए० सो० वाली) दो बड़े बड़े खण्डों में समाप्त किया गया है और सारी कृति चन्द के सिर मढ़ दी गयी है[3]।” पहले कहा जा चुका है कि रासो के संपादकों ने यह नहीं

१—परमालरासो—भूमिका— श्यामसुंदरदास, काशी, पृ० १—२।
२—वही, पृ० ४।
३—खोज रिपोर्ट, ना० प्र० पत्रिका, भाग १, पृ० १४०।

बताया है कि उन्होने रासो की किस मूल प्रति से लेकर महोबा समय को प्रकाशित रासो मे दिया है और मूल प्रति का लिपिकाल क्या है ? पर उनका अनुमान है और वह सही प्रतीत होता है, कि वह १६ वी–१७ वी शताब्दी मे विकसित हुआ होगा। किन्तु परमालरासो नामक जिस 'महोबा खण्ड' पर यहाँ विचार किया जा रहा है, वह उक्त 'महोबासमय' के बहुत बाद की रचना है। 'महोबासमय' और 'महोबाखण्ड' दोनों को मिलाकर देखने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचत हैं कि दूसरा ग्रन्थ पहले ग्रथ का विकसित रूप या बृहत् रूपान्तर है और यह रूपान्तर राजस्थान मे नहीं बुन्देल खण्ड म हुआ था। इस के ये प्रमाण हैं —

१—महोबाखण्ड (परमालरासो) महोबासमय से कम से कम सौ वर्ष बाद की रचना है। यह मानने का कारण यह है कि प्राय समूचा 'महोबा समय' प्रकाशित परमालरासो नामक ग्रथ मे छिटफुट रूप से समाया हुआ है। यह भी नही कहा जा सकता कि क्षेपककारो ने जानबूझ कर अपने छन्द इसमे मिलाये हैं क्योंकि क्षेपक मूल ग्रथ से अधिक नही, कम ही होते हैं। किन्तु यहाँ तो उल्टी बात दिखाइ देती है। मूल 'महोबासमय' मे कुल ८२८ छन्द हैं, साथ ही उसमें एक समय या अध्याय मे ही पूरी कथा कह दी गयी है। इसके विपरीत महोबाखण्ड एक स्वतत्र प्रबन्ध काव्य है जिसमे ३६ खण्ड (अध्याय) हैं और उसकी छन्द सख्या कुल मिलाकर ५४१५ है। इन प्राय साढे पाँच हजार छन्दों मे महोबासमय के ८२८ छन्द इस तरह बिखरे हैं कि मुझे उन्हे खोजने मे बडी कठिनाई उठानी पडी। फिर भी विशेषता यह है कि मूल महोबासमय के बहुत थोडे छन्द इसमे छूटे हुए हैं। प्रारभ के दो खण्ड तो बिलकुल नये हैं जिनमे महोबासमय का एक भी छन्द नहीं हैं। इन खण्डों में दिल्लीकीली कथा तथा चन्देल वश की उत्पत्ति और वश विस्तार की कथा दी गयी है। महोबासमय मे इन बातों के लिए अवकाश नहीं था क्योंकि वह रासो के एक सर्ग या खण्ड के रूप मे विकसित हुआ था। तीसरे खड मे प्रधान कथा शुरू होती है। इसमे ११५ छन्द हैं जिनमे ५९ महोबा समय के हैं। इसी तरह महोबाखण्ड के प्रारभ के बारह सर्गों के २२३७ छन्दों मे 'महोबासमय' के प्रारभ के २०० छन्द आ गये हे। इन छन्दों के बीच बीच मे बहुत अधिक छन्द भर दिए गये हैं और उनम परस्पर कितनी अधिक दूरी हो गयो है, यह एक ही उदाहरण से स्पष्ट हो जायगा कि 'महोबासमय' का १५६ वाँ छन्द 'परमालरासो' (महोबाखण्ड) के पृष्ठ १२३ पर है तो छन्द १५७ १५८ पृष्ठ १३१ पर हैं और फिर सैकडों पृष्ठो के बाद २२९ वें पृष्ठ पर १५९ वाँ छन्द

है। इन दोनो ग्रथो के तुलनात्मक अध्ययन से दोना ही परिणाम निकल सकते हैं, १—या तो 'महोबासमय' महोबाखण्ड का सक्षिप्त सस्करण है २—अथवा 'महोबाखण्ड' महोबासमय का स्फीत और बृहत् सस्करण है। पहला निष्कर्ष इसलिए सही नहीं है कि महोबासमय १७ वी शताब्दी तक निर्मित हो चुका था और महोबाखण्ड, जैसा उसकी प्रतियों के लिपिकाल से मालूम पडता है, १८ वा १९ वी शताब्दी की रचना है। अत दूसरा निष्कर्ष ही अधिक तर्क पूर्ण है। 'महोबाखण्ड' मे 'महोबा समय' के छन्दो का बहुत अधिक पाठान्तर हो गया है। क्षेपककार इतना पाठान्तर नहीं करते। अत मौखिक परम्परा मे विकसित होने के कारण ही ऐसा हुआ है। मूल ग्रथ (महोबासमय) के छन्द कण्ठस्थ रूप मे होने के कारण पाठान्तरित होते गये और ज्यो ज्यों कथा बढती गया त्यो त्यो उन छन्दो के बीच की दूरी भी बढती गयी।

२—दूसरी बात इस ग्रथ म ध्यान देने की यह है कि इसका विकास राजस्थान मे नही बल्कि बुन्देलखण्ड मे हुआ प्रतीत होता है। महोबाखण्ड की जो प्रति बाबू साहब को छत्रपुर (बुन्देलखण्ड) से प्राप्त हुइ था वह स० १८४९ मे लिपिबद्ध हुई थी। बहुत सभव है कि बगाल की एशियाटिक सोसाइटी वाली स० १९२५ का लिखा 'महोबाखण्ड' और कनवज्जखण्ड' वाला प्रति भी बुन्देलखण्ड से ही प्राप्त हुइ हो क्योंकि बाबू साहब के अनुसार महोबाखण्ड की उपर्युक्त दोनों प्रतियाँ एक ही मूल ग्रथ की प्रतिलिपि थी। महोबाखण्ड की एक और प्रति श्री गौरीशकर द्विवेदी 'शकर' को बुन्देलखण्ड में ही प्राप्त हुई है जिसे लाला जानकीदास ने स० १९१८ मे टीकमगढ मे लिखा था।

उसे बुन्देलखण्ड म विकसित मानने का दूसरा कारण यह है कि उसम यद्यपि रासो की भाषा का अनुकरण किया गया है किन्तु बुन्देलखण्डी भाषा ही अधिक प्रयुक्त हुई है। यह बात उसकी बचनिकाओ के गद्य में और भी स्पष्ट दिखाइ पडती है। पद्याश की भाषा मिश्रित है। इसका कारण सभवत यह है कि महोबाखण्ड का विकास रासो की तरह चारण भाटा या उन्ही की तरह की कवि पेशा वाली किन्ही जातियो द्वारा हुआ प्रतीत होता है। उन्होंने रासो का अनुकरण करके भाषा म डिंगल का रग भरने का प्रयत्न किया है, साथ ही रासो के महोबासमय के ८२८ छन्दों के आधार पर ही इस ग्रथ को बढाया है। रासो के महोबासमय की भाषा यद्यपि व्रजभाषा प्रधान है फिर भी

१—पृथ्वीराजरासो और आल्हखण्ड—ले० श्री गौरीशकर द्विवेदी 'शकर', सगम साप्ताहिक, प्रयाग।

उसम पुरानापन है। महोबाखण्ड मे 'महोबासमय' के छद और उसके अनुकरण मे लिखे गये छन्द तो महोबासमय वाली भाषा मे हैं, शेष छन्दों की भाषा मे ब्रजभाषा और बुन्देलखण्डी का मिश्रण है। बुन्देलखण्ड ब्रजभाषा क्षेत्र के निकट ही है, अत वहाँ के कवियो की कविता मे परपरागत काव्य भाषा—ब्रजभाषा—का अधिक होना स्वाभाविक है। अत महोबाखण्ड की भाषा को ही ध्यान म रखकर बाबू श्यामसुदर दास ने उसे बुदेलखण्ड की रचना माना है। उन्होने लिखा है, "इस ग्रथ की भाषा भी प्राचीन नही है, जैसी की पृथ्वीराजरासो म अधिक अश मे प्राय मिलती है। फिर शब्दो की बनावट तथा उनके रूप इस बात का प्रमाण देते हैं कि यह अजमेर या दिल्ली में बना प्राचीन ग्रथ नहीं है। मेरा अनुमान है कि किसी बुदेलखण्डी कवि ने इस ग्रथ की रचना वैक्रमीय सत्रहवी या अठारहवी शताब्दी मे की है। उसने इस ग्रथ के लिखने मे आधार पृथ्वीराजरासो को माना हो और सभव है कि घटनाओ का विस्तारपूर्वक वर्णन किवदन्तियो के आधार पर किया हो या 'आल्हा' नामक ग्रथ क आधार पर अथवा जगनिक राय के लिखे किसी ग्रथ के आधार पर किया हो।"[1] इस तरह भाषा की दृष्टि से बाबू साहब का यह मत सही प्रतात होता है कि महोबाखण्ड १७ वी १८ वीं शताब्दी मे बुन्देलखण्ड मे लिखा गया होगा।

किन्तु बाबू साहब का यह अनुमान सही नही प्रतीत होता कि इस ग्रथ की रचना किसी एक कवि ने की है। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, महोबा खण्ड महोबासमय का चारण भाटो की मौखिक परपरा मे विकसित रूप प्रतीत होता है। मौखिक परपरा द्वारा यह विकास बुदेलखण्ड मे ही हुआ होगा, और १७ वी शताब्दी के बाद हुआ होगा। ऐसा मानने का कारण यह है कि महोबाखण्ड मे आल्हखण्ड की बहुत सी बाते आ गयी हैं। वस्तुत आल्हखण्ड अपढ सामान्य जनता मे प्रचलित रहा है और महोबासमय और महोबाखण्ड का विकास काव्य विशेषज्ञ जातियों—चारण भाटादि—के बीच लम्बे काल मे हुआ है। समूचे ग्रथ मे चदवरदाई का नाम बार बार कवि रूप मे आया है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाय तो कवि स्वय अपने नाम का प्रयोग इतना अधिक नही करता, चारण भाटो म यही परपरा थी कि पुरस्कार पाने के लिए अपनी रचना मे भी चन्द या अन्य प्रसिद्ध कवियों का नाम जोड देते थे। महोबाखण्ड मे भी यही बात हुई है। एक स्थान पर यह बात स्पष्ट कह भी दी गयी

१—परमालरासो, भूमिका,—सपादक—बाबू श्यामसुन्दरदास, पृ० ३।

है कि इम कथा को कविराज लोग गाते ह। उस छद का प्रारम्भ की दो पंक्तियाँ ये हैं —

सत सावत कर मथ्थ कथ्थ कविराजन गायव
सहस छत्त लगि वीर अग भूतल नहीं आयव।
—खण्ड ३६, छन्द १६।

बुन्देलखण्ड म १७वी–१८वी शताब्दी म दरबारी वातावरण म अनुश्रुति के रूप म चदेलो और बनाफरों की ज वशपरपरा प्रचलित थी, महोबाखण्ड के प्रारभ के दो खण्डो मे उसका पाया जाना यही प्रमाणित करता है कि इस काव्य का विकास बुन्देलखण्ड म ही हुआ होगा। आल्हखण्ड म यह वशपरपरा नही मिलती न वह रासो को महोबासमय मे ही है, अत यह दरबारी वातावरण की आनुश्रतिक परपरा की देन है। किन्तु बेला का विवाह, जयचन्द की ओर से आल्हा ऊदल के युद्ध, योगी रूप मे ऊदल का पृथ्वीराज की सेना से युद्ध, ताल्हन खाँ, लाखन सिंह, जगनिक, ब्रह्माजित के युद्ध और वध आदि की कथा आल्हखण्ड की कथा से मिलती हैं। इसी कारण यह अनुमान अधिक सही प्रतीत होता है कि १७ वीं १८ वीं शताब्दी में जब आल्हखण्ड की लोकगाथा मे बहुत सी कथाए जुड गयी तो चारणो भाटो ने भी रासो क महोबासमय का विस्तार करना शुरू किया और आल्हखण्ड का तब तक की प्रचलित कथाओ को उसम जोड लिया। वस्तुत महोबाखण्ड 'महोबासमय' का विकसित रूप है और उसके अतिम खण्ड के अन्तिम दोहे मे ग्रथ का नाम महोबासमय दिया भी है —

नौहू रस जाने कहे
पुन्य पुज अवगाह।
समय महोबा श्रमण करि
जो क्षत्रिय ध्रम चाहि॥ १९३

साथ ही वह आल्हखण्ड का १७ वी १८ वी शताब्दी का बृहत साहित्यिक रूपान्तर है योकि इसमे महोबासमय के प्राय सभी पद्य मिल जाते हैं, भाषा और छन्द भी उसी की तरह के हैं और आल्हखण्ड की बहुत सी कथाएँ और घटनायें भी इसमे प्राप्त हो जाती ह।

उपर्युक्त विवेचन के फलस्वरूप हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि स० १८४९ तक, जब कि आल्हखण्ड का बृहत् साहित्यिक रूपान्तर 'महोबाखण्ड' लिपिबद्ध हुआ, आल्हखण्ड के कथानक मे पर्याप्त विकास हो चुका था। महोबा समय को यदि आल्हखण्ड का पूर्ववर्ती साहित्यिक रूपान्तर मानकर उसका विकास

काल सतरहवीं शताब्दी स्वीकार करें तो अनुमान कर सकते हैं कि करीब डेढ सौ वर्षों (स० १७०० से १८४९) मे आल्हखण्ड लाकगाथा से गाथाचक्र बन गया होगा जिसका साहित्यिक रूपान्तर बुदेलखण्ड मे 'महोबाखण्ड' नाम से हुआ। इस प्रकार बुन्देलखण्डी 'महोबाखण्ड' का ही पूववर्ता रूप रासो का 'महोबासमय' और परवर्ता रूप वर्तमान आल्हखण्ड है। महोबा खण्ड की इन दोनो रूपा से तुलना करने पर कथानक सबधी निम्नलिखित भेद दिखलाई पडते हैं —

१—'महोबाखण्ड' म चन्देल वश और बनाफर वश की उत्पत्ति की कथा बडे विस्तार से दी गयी है पर यह वशावली महोबासमय और आल्ह खण्ड म नही है।

२—महोबाखण्ड की तीनो हस्तलिखित प्रतियो मे पृथ्वीराज और परमाल के युद्ध का सवत दिया है जो महोबा समय और आल्हखण्ड मे नही है[1]। प० गौरीशकर द्विवेदी वाली प्रति मे वह दोहा कुछ भिन्न प्रकार से है[2] पर दोनो ही सवता म १०० वर्ष जोडने से स० १२३९ निकल आता है[3]।

३—महोबाखण्ड का नायक आल्हा या आल्हन देव है। इसके विपरीत महोबासमय मे नायक पृथ्वीराज और आल्हखण्ड का नायक पूरा बनाफर वश है। कुछ लोग ऊदल को भी आल्हखण्ड का नायक मानते हैं क्योंकि महोबा खण्ड म आल्हा अतिमानवीय शक्तिवाला और अजेय वीर चित्रित किया गया है पर आल्हखण्ड मे वह सोच विचार कर कदम रखने वाला, धीरप्रशान्त वीर है और कभी कभी कायरता की सीमा तक भी पहुँच जाता है। पर ऊदल मे यह बात नही दिखाइ देती।

४—महोबाखण्ड की कथा का अन्त महोबासमय और आल्हखण्ड दोनों ही से भिन्न प्रकार का है। 'महोबासमय' मे आल्हा अत्ताताई द्वारा घायल होकर मूर्छित हो जाता है, पृथ्वीराज ब्रह्मा का सिर काट लेता है और चन्देल सेना भाग खडी होती है। होश मे आने पर आल्हा अत्ताताई का सिर काट लेता, चद से मन्त्र युद्ध करता और अन्त मे गोरखनाथ के कहने पर उनके साथ कजरी वन चला जाता है। उधर परमाल कालिंजर म किले का फाटक

१—परमाल रासो, खण्ड ३, दोहा ११२, पृ० ६०।

२—ग्यारह सौ चालीस इक जुद्ध अतुल भर होय।
कातिक सुदि बुध चौदसी सम्हर सम्हर सोय।

३—परमालरासो—भूमिका, बाबू श्यामसुन्दरदास।

ब्द कर छिप जाता है और चामुड राय वहाँ पहुँच कर भागते हुए परमाल को पकड कर पृथ्वाराज के पास ले जाता है। कालिजर और महावे का लूट होती है और पृथ्वीराज पज्जून राय को महोबे का थानापति बनाता और परमाल को बाँधकर दिल्ली ले जाता है। इस प्रकार का अन्त महोबासमय के नायक पृथ्वीराज के पक्ष के अनुकूल है। 'महोबाखण्ड' का अन्त परमाल के पक्ष मे है। उसमे ३४ वे खण्ड मे आल्हा पृथ्वीराज को घायल कर देता है। खबर फैल जाती है कि चौहान हार गये। कालिजर म खुशियाँ मनायी जाती ह। चन्द ओर आल्हा म मन्त्रयुद्ध होता है, आल्हा पृथ्वीराज और चन्द को मारने ही वाला है कि गोरखनाथ उन्हे न मारने की आकाशवाणी करते ह आर स्वय आकाश से उतर कर आल्हा को समझ बुझा कर 'कदलीवन' मे ले जाते हैं। यह खबर पाकर परमाल किले से भाग रहे थे कि माहिल ने सूचना दे दी और चामुड ने आकर उसे बाँध लिया। इसी बीच आल्हा के पुत्र इन्दल ने आकर परमाल को छुडाया। किन्तु महोबा पृथ्वीराज के अधिकार म चला गया। परमाल ने लज्जित होकर गजाधर के मदिर मे योगबल से प्राणत्याग कर दिया और रानी मल्हना सती हो गयी। अन्त मे इन्दल ने जयचन्द का सैन्य सहायता से पज्जून राय को महोबे से भगा कर परमाल के दूसरे पुत्र समरजीत को गद्दी पर बैठाया। इस प्रकार का अन्त दिखा कर 'महोबाखण्ड' म चदेल वश की मान रक्षा की गयी है। अत यह निश्चय ही बुन्देलखण्ड के चारण भाटो की प्रशस्ति भावना से प्रेरित रूपान्तर है। इसके विपरीत वर्तमान आल्हखण्ड का अन्त अत्यत दुखात्मक है। उसमे परमाल, पृथ्वीराज, आल्हा, इन्दल और चन्द को छोड कर अन्य सभी व्यक्ति मारे जाते हैं, कलियुग के भय से आल्हा और इन्दल कजरी वन चले जाते हैं, परमाल तेरह उपवास करके प्राण त्याग देते और मल्हना आदि रानियाँ सती हो जाती हैं। इस प्रकार आल्हखण्ड का अन्त महोबासमय और महोबाखण्ड दोनों ही से भिन्न प्रकार का है।

४—विकास की चौथी अवस्था—

इस अवस्था मे आल्हखण्ड लोकगाथा से एक बृहत् गाथाचक्र और फिर अर्द्ध विकसित लोकमहाकाव्य के रूप मे परिवर्तित हो गया। साथ ही इस अवस्था मे पहुँच कर स्थानभेद के अनुसार इस गाथाचक्र के अनेक रूपान्तर (वाचनायें) भी हो गये। चार्ल्स ईलियट ने फरुखाबाद म जब सन् १८६५ मे इसका सग्रह और लेखन कराया उस समय यह अपनी वर्तमान अवस्था प्राप्त कर चुका था। वर्तमान आल्हखण्ड मे प्रधानतया तेईस लडाइयो का वर्णन है और इसे ही असली आल्हखण्ड कहा जाता है। किन्तु इन प्रधान युद्धों से

सम्बद्ध अन्य छोटे छोटे युद्धो को जोड लेने पर युद्धो की सख्या बावन हो गयी है। तेईस युद्धो वाले आल्हखण्ड को असली आल्हा कहने की परपरा ही यह स्पष्ट कर देती है कि शेष उन्तीस युद्धो की कथा बाद की जोडी हुई है। आल्हा-ऊदल ने जयचन्द की ओर से जो लडाइयाँ कर वसूल करने के सिलसिले मे लडी, 'महोबाखण्ड' के दसवे अध्याय मे उनका सक्षेप मे वर्णन है। उसमे गाँजरगढ, सोनागढ, विजहट आदि के युद्धो का वर्णन एक ही साथ हुआ है। किंतु बावन लडइयो वाले आल्हखण्ड म उनका वर्णन अलग अलग किया गया है, साथ ही कामरूप, बगाल, कटक आदि की लडाइयाँ भी, जिनका महोबा खण्ड मे उल्लेख नहीं है, आल्हखण्ड मे मिलती हैं। इस तरह महोबाखण्ड के विकास के समय आल्हखण्ड का जो रूप रहा होगा, वह बाद के दो सौ वर्षों मे बहुत बदल गया है। महोबाखण्ड मे अध्यायो की जो सूची दी गयी है उससे पता चलता है कि उसमे मुख्यत इन युद्धो का वर्णन है १—सिरसा मे मलखान और पृथ्वीराज का युद्ध, २—यवनो के साथ आल्हा का युद्ध, ३—आल्हा की महिषवती के गोड राजा पर विजय, ४—आल्हा का कन्नौज जाते समय माहिल के नगर पर आक्रमण और जयचन्द की सेना स युद्ध, ५—जयचन्द की ओर से आल्हा-ऊदल का गाँजर, सोंपागढ, विजहट, कुडहर और बगाल का युद्ध, ६—कीरतसागर पर कजरी के समय की लडाइ आर आल्हा ऊदल का योगी वेश मे आकर युद्ध करना, ७—अन्तिम युद्ध और पृथ्वीराज की विजय।

महोबाखण्ड मे ये सभी युद्ध राज्य विस्तार या कर वसूल करने के निमित्त लडे गये हैं। आल्हखण्ड मे इन सात युद्धो की जगह पहले तेइस और बाद में बावन युद्धो की योजना हो गइ ओर युद्धो का कारण भी अधिकतर विवाह ओर सती होने की घटनाये थी। यही नही, उसमे परमाल के मल्हना से विवाह और पृथ्वीराज के सयोगिता से विवाह और तत्सबधी युद्धो का वर्णन भी जोड दिया गया। इस तरह आल्हखण्ड मे जिन असली २३ युद्धो का वर्णन है, वे सर जार्ज ग्रियर्सन और ईलियट के अनूदित 'आल्हा गीत' के अनुसार ये हैं —
१—'महोबे की पहली लडाई (परमाल का महोबे मे विवाह), २—सयोगिता स्वयवर, ३—महोबे की दूसरी लडाई, ४—माडौगढ की लडाई, ५—आल्हा का विवाह (नैनागढ की लडाई), ६—सिरसा की पहली लडाइ, ७—मलखान का व्याह (पथरीगढ जूनागढ की लडाई), ८—चन्द्रावली की चौथी (बौरी गढ की लडाई), ९—ब्रह्मा का बेला से विवाह (दिल्ली की लडाइ), १०—ऊदल का विवाह (नरवरगढ की लडाई), ११—इन्दल का हरण और व्याह

(बल्ख बुखारे की लडाई), १२—ऊदल हरण (सोनमा और नटी का युद्ध और आल्हा निकासी), १३—लाखन सिंह का विवाह (बूदी कामरूप की लडाइ) १४—गाँजर की लडाई, १५—सिरसा की दूसरी लडाई, १६—कीरत सागर पर भुजरियों की लडाई, १७—आल्हा मनौआ, १८—बेतवा नदी की लडाई, १९—बेला के गोने की लडाई, २०—बेला के गोने की दूसरी लडाइ, २१—बेला और ताहर की लडाई, २२—चन्दन बाग और चन्दन खम्भ की लडाई, २३—बेला के सती होने का लडाई।

यदि महोबाखड और वर्तमान आल्हखण्ड के कथानको का तुलना का जाय तो दोनो मे बहुत अन्तर दिखाई पडता है। इस अन्तर का कारण यही है कि महोबाखड को लिपिवद्ध किये जाने के बाद से आल्हखण्ड के लिपिबद्ध किये जाने तक और उसके बाद भी आल्हखण्ड म निरन्तर विकास होता रहा। यही उसकी चतुर्थ अवस्था का विकास है। महोबाखण्ड म सयोगिता स्वयवर और परमाल के विवाह तथा महोबे की पहली लडाई की कथा नहीं है पर वर्तमान आल्हखण्ड इ ही से प्रारभ होता है। आल्हखण्ड म वर्णित निम्न लिखित बातें महोबाखण्ड के कथानक मे नहीं है जो निश्चित रूप से महोबा खण्ड के विकास के बाद आल्हखण्ड मे जुडी होगी —सयोगिता स्वयवर, परमाल का विवाह, दस्सराज वच्छराज का तालहन के साथ कन्नौज जाते हुए महोबा मे रुकना, नौलखाहार के लिए करिया का महोबे पर आक्रमण, बनाफरो और तालहन द्वारा महाबे की रक्षा और उनका चन्देलो की सेवा मे रहना, दस्सराज वच्छराज का विवाह, आल्हा ऊदल आदि का जन्म, महोबे पर करिया का दूसरा आक्रमण, दसपुरवा की लूट और दस्सराज वच्छराज का मारा जाना, सिरसा की पहली लडाई, माडोगढ, पथरीगढ, नैनागढ आदि के अधिकाश युद्ध, बेला के सती होने से सबधित युद्ध। परमाल और पृथ्वीराज के बीच वैमनस्य होने का कारण दोनों ग्रथों मे भिन्न रूप मे दिया हुआ है। महोबा खण्ड मे वह कारण पृथ्वीराज के घायल सैनिको का परमाल द्वारा मरवाया जाना है और आल्हखण्ड मे आल्हा के घोडों और हाथी का पृथ्वीराज द्वारा मागना और आल्हा का न देना है। दोनो का अन्त भिन्न भिन्न है, यह पहले ही कहा जा चुका है। शेष बातें बहुत कुछ एक जैसी हैं। महोबाखण्ड की कथा मे प्रबन्धत्व के गुण अधिक हैं क्योंकि वह आल्हखण्ड का साहित्यिक रूपातर है। साहित्यिक प्रबन्धकाव्यो की भाति उसमे प्रारभ मे देवताओ की स्तुति और पूर्व कवियों की प्रशसा की गयी है और उसके बाद ही पृथ्वीराजरासो की महाभारत से तुलना करते हुए उसे एक लाख श्लोक प्रमाण वाला ग्रथ बताया गया

है[१]। फिर परपरागत पौराणिक शैली मे अनगपाल और व्यास के सवाद के रूप में भूमिका मे दिल्लीकिल्ली कथा और चदेल वश की उत्पत्ति की कथा कही गयी है। इसम प्रधान या आधिकारिक कथा का प्रारभ तीसरे खण्ड (आल्हन सबोधखण्ड) से होता है। इसके बाद कथानक के बीच मे पौराणिक काव्यो की भाँति अनेक अवान्तर और प्रासगिक कथाएँ रखी गयी हैं जैसे राजा रूप ब्रह्म आख्यान वर्णन, आखेटक शाप, शिव भविष्य-कथन, आल्हा वरदान आदि। ये सब कथाएँ वर्तमान आल्हखण्ड मे नही है। महोबाखण्ड मे आधिकारिक कथा को कई अध्यायो या खण्डो मे बाँटा गया है और सभी खण्डो मे एक ही कथा शृखलित रूप मे चलती है। उसमे वर्णनात्मकता अधिक होने से किसी छोटी घटना या प्रसग को लेकर भी एक अलग खण्ड बन गया है जेसे जगनिक राय बधखण्ड, परमाल पलायनखण्ड, अन्त पुर मत्रायणखण्ड आदि। इसी पद्धति से कथानक लम्बा न होते हुए भी महोबाखण्ड एक बृहत्काय प्रबन्धकाव्य बन गया है। आल्हखण्ड मे कथात्मकता अधिक है, वर्णनात्मकता कम और उसमे कथानक भी बहुत लम्बा है, किन्तु प्रबन्धत्व का अभाव है क्योकि उसका प्रत्येक अध्याय स्वतत्र सा लगता है, यद्यपि प्रधान पात्र सब म एक ही हैं।

आल्हखण्ड के कथानक मे अर्वाचीनता—इन भेदो को देखकर यह स्पष्ट हो जाता है कि १८ वीं शताब्दी तक या तो आल्हखण्ड नामक लोकगाथा का कथानक अधिक लम्बा, बिखरा और खडित नहीं था क्योकि उसके साहित्यिक रूपा तर महोबा खण्ड मे प्रबन्धत्व के ये गुण दिखाई पडते है, अथवा उसका स्वरूप यदि वर्तमान आल्हखण्ड के ही ढग का था तो महोबाखण्ड उसका यथावत् साहित्यिक रूपा तर नहीं है। यहाँ यह बात ध्यान देने की है कि साहित्यिक रूपान्तर होने की प्रक्रिया मे प्रबन्धत्व का अधिक आ जाना आवश्यक है। आल्हखण्ड गाया जाता रहा है, अत उसमें एक बार मे गाने लायक कथावस्तु को एक एक लडाई मे बाँधा गया है। उसमे लडाई ही वस्तुत सर्ग या अध्याय का पर्यायवाची शब्द है और कहीं उसे लडाई, कहीं मार और कही गाथा या गाथ कहा जाता है। दूसरी बात जो दोनों काव्यो की तुलना से स्पष्ट होती है, यह है कि 'महोबाखण्ड' का समग्र प्रभाव वैसा ही पडता है

१—भारत किय भुवलोक मह गनतिय लक्ष प्रमान।

चाहुबान जस चद कवि, किन्हिय ताहि समान। (दिब्बव ताहि प्रमान पाठातर)—परमालरासो—खण्ड १—छन्द ४।

जैसा आल्हखण्ड का, अर्थात् दोनो का मूल स्वर एक ही है। महोबाखण्ड का मुख्य कथा आल्हखण्ड म प्राय पूरी का पूरी आ गयी है, इससे यह पता चलता है कि महाबाखण्ड तत्कालीन प्रचलित आल्हखण्ड का रूपान्तर अवश्य है। दानो के कथानक मे इतना अन्तर इसलिए आ गया है कि तब मे अब तक आल्हखण्ड निरन्तर विकसित होता आया है। महोबाखण्ड के रचनाकाल म प्रचलित आल्हखण्ड मे भी इतना अधिक विकास हो गया था कि इतिहास की बाते बहुत कुछ भुला दी गयी थीं। महोबासमय म लाखन सी ओर ताल्न सी जयचन्द के दो सरदार हैं जो आल्हा ऊदल के साथ परमाल की ओर से लडने आते हैं, पर 'महोबाखण्ड' मे वही ताल्न सी ताल्हन सैयद बन गया है जो अनेक मुसल्मान सैनिको के साथ जयचन्द की सेवा मे रहता है। वर्तमान आल्हखण्ड मे वही ताल्हन सैयद बनारस का रहने वाला मियाँ ताल्हन बन गया है जिसके नौ पुत्र हैं। विकास की इस प्रगति के सबध म वाटरफील्ड ने अपने अनुवाद की भूमिका म लिखा है कि 'जो हिन्दी क विद्वान हैं उन्हे इस बात का निर्णय करना चाहिये कि वर्तमान आल्हखण्ड मे मूल आल्हखण्ड का कितना अश अवशिष्ट है क्योंकि गायक कवियो ने धारे धारे उसकी भाषा को बदल कर आधुनिक बना दिया है और अपनी ओर से उसम बहुत सी बाते बढा दी हैं। यदि इस काव्य की तुल्ना होमर के इलियड आडेसी से की जाय तो शायद इस बात पर प्रकाश पडे कि पिसिस्ट्रेटस के समय तक होमर के मूल काव्यों में गाने वालों ने कितना अश जोड दिया था। किन्तु यूनानी भाषा आर छन्द दोनों ऐसे थे कि उनमे रचित काव्य मे अधिक परिवर्तन होना सभव नहीं था। इसके विपरीत हिन्दी म व्याकरण सरल और छन्द और तुक के नियम शिथिल होने के कारण स्पेनिश लोकगाथाओ की तरह भाषा और शब्दों के परिवर्तन की सभावना अधिक है। यही कारण है कि उक्त यूनानी काव्यों मे इतना अधिक परिवर्तन नही हुआ है जितना आल्हखण्ड की गाथा मे। यहाँ तो मुसल्मानो के आक्रमण के पूर्व ही मुसल्मान सामन्त-सरदार और सैनिक इन राजाओं की ओर से युद्ध मे लडते हुए दिखाये गये हैं। यही नहीं बल्कि आल्हखण्ड में युद्धों में तलवार, तीर, भाला आदि के साथ साथ तोप, बन्दूक और पिस्तौल आदि अति आधुनिक हथियारो का प्रयोग भी दिखाया गया है। और वर्तमान शताब्दी (उन्नीसवीं शताब्दी) में सेना मे प्रयुक्त होने वाले अफसरों के पद और सफरमैना (सैपर्स माइनर्स) जैसे शब्द भी घुसा दिये गये हैं[1]।' इससे स्पष्ट है कि आल्हखण्ड की भाषा, शब्दावली तथा कथानक

1 The lay of Alha, Introduction, by W Waterfield, p 11

म उन्नीसवा शताब्दी तक निरन्तर परिवर्तन होता रहा है। यदि छपे हुए आल्हखण्ड को पढने के बाद अल्हैतो से आल्हा सुना जाय तो मालूम होगा कि उसमे आज भी कुछ न कुछ परिवतन आर विकास होता जा रहा है। उसके विभिन्न रूपान्तरो को मिलाकर देखने से भी यह बात स्पष्ट हो जाती है। उदाहरणार्थ खडी बोली वाले रूपान्तर म सात आठ कथाएँ मिलती हैं जो अन्य रूपातरो म नहीं हैं और सभवत इस युग मे जोडी हुइ हे।

वर्तमान आल्हखण्ड के विविध रूपान्तर

विगत कुछ शताब्दयो म आल्हखण्ड का इतना प्रचार हुआ है कि आज वह हिन्दी के अतर्गत माना जाने वाली सभी बोलिया मे रूपान्तरित होकर गाया जाता है। ग्रियर्सन ने मोटे तौर पर उसके दो रूपान्तर (रिसेन्सन्स) माने हैं १—हिन्दी या पश्चिमी रूपान्तर, २—बिहारी या पूर्वा रूपान्तर[1]। उनके अनुसार पश्चिमी रूपान्तर के तीन पाठ या वाचना (वर्शन्स) हैं १—महोबासमय और महोबा खण्ड जो भ्रमवश चदकृत माने जाते हैं, २—आधुनिक हिन्दी वाला पाठ जिसे सबसे पहले चौधरी घासीराम ने सपादित करके ज्ञानसागर प्रेस मेरठ से छपवाया था, ३—कन्नौजी पाठ—जिसका सग्रह ईलियट ने फरुखाबाद मे कराया था और जो सर्वप्रथम फतेहगढ से प्रकाशित हुआ था और जिसका अग्रेजी अनुवाद वाटरफील्ड ने किया था। पूर्वा रूपान्तर का एक पाठ भोजपुरी भाषा मे है जिसके एक भाग का सग्रह और अनुवाद स्वय ग्रियर्सन ने किया था और भूमिका के साथ इडियन ऐण्टिक्वेरी के चौदहवें खण्ड (अगस्त सन् १८८५) मे छपवाया था। आल्हखण्ड का एक बुन्देली पाठ भी है जिसके कुछ अशो का सग्रह विसेण्ट स्मिथ ने कराया था और जिसका एक अश ग्रियसन ने 'लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इडिया' (खण्ड ९, भाग १) मे छपाया है। सभवत ग्रियसन को इस बात का पता नहीं था कि आल्हखण्ड का एक खडीबोली वाला रूपान्तर भी है। इस तरह उसके तीन रूपान्तर हो जाते हैं —१—पश्चिमी, २—मध्यवर्ती, ३—पूर्वा। पश्चिमी रूपान्तर खडीबोली म और राजस्थानी मिश्रित ब्रज मे है जो 'महोबासमय' मे दिखलाई पडता है। मध्यवर्ती रूपान्तर के कई पाठ हे जेसे कन्नौजी, बुन्देली, बैसवारी, अवधी। पूर्वा रूपान्तर भोजपुरी और मगही दोनो बोलियों मे है। इनमे से कवल भोजपुरी पाठ का ग्रियर्सन को पता था। इन तीनो रूपान्तरों मे

1 The song of Alha s Marriage A Bhojpuri Epic—edited & translated by G A Grierson, Indian Antiquary Vol XIV August 1885, p 209

युद्धो की सख्या, कथानक के विकास और विस्तार तथा पात्रा और स्थानो के नामो म एक दूसरे से भि नता दिखाई पडती है। म यवता रूपा तर विभिन्न बोलिया म पाठभेद होते हुए भी कथानक आदि म सवत्र एक सा है। किन्तु खडीबोली और भोजपुरी रूपान्तर उससे बहुत भिन्न हैं। भोजपुरी रूपान्तर में कथानक छोटे हैं तो खडीबोली म बहुत लम्बे। भोजपुरी म लडाइयो की सख्या भी अधिक नही है किन्तु खडी बोली वाले रूपान्तर म अनेक नये विवाहो और युद्धो की कथा गढ ली गइ है[1]। पूर्वा और म यवता रूपा तरो का भेद इसीसे स्पष्ट हो जायगा कि आल्हा के विवाह की कथा मे दोना रूपान्तरो में नैनागढ के राजा के नाम भिन्न भिन्न हैं। म यवता रूपान्तर म उसका नाम नैपाली है और सोना उसकी पुत्री तथा जोगा, भोगा और विजय उसके पुत्र हैं। पूवा रूपा तर मे राजा का नाम इन्दरमन है और सोना उसकी बहन है। पूर्वी रूपान्तर मे इन्दरमन ने सोना से विवाह के लिए गये पचासो राजाओं को कैद कर रखा है। मध्यवता रूपान्तर मे सोना के सदेश पर ऊदल आल्हा का विवाह करने जाता है, पूवा रूपा तर मे वह बिना बुलाये और पहले अकले जाता है। मध्यवर्ती रूपान्तर के अनुसार नेपाली राजा के पास अमर ढोल था, पूर्वी रूपान्तर मे अमर ढोल की चचा ही नही है, पूवा रूपा तर मे सोना स्वय अपने भाइ से लडती और उसका सिर काट लेती है, मध्यवता रूपा तर मे यह बात नहीं है। इसी प्रकार का थोडा बहुत अन्तर मध्यवता और पश्चिमी रूपान्तरों मे भी मिलता है।

आल्हखण्ड का महाकाव्यत्व

आल्हखण्ड के सबध मे अब तक जो विचार किया गया है उससे यह स्पष्ट है कि वह एक विकसनशील लोकमहाकाव्य है क्योकि उसकी मूल कथा मे अनेकानेक अर्द्धऐतिहासिक और कल्पित कथायें जुडती रही हैं जिसके फलस्वरूप वह गाथा से गाथाचक्र और फिर गाथाचक्र से विकसित होता हुआ लोकमहाकाव्य के रूप म बदल गया है। उसे लोकमहाकाव्य कहने का कारण यह है कि विकसनशील होते हुए भी महाभारत, रामायण और पृथ्वीराजरासो जैसा महाकाव्य नहीं है। महाभारत, रासो आदि साहित्यिक विकसनशील काव्य हैं क्योकि उनका विकास शिष्ट शिक्षित वर्गों के बीच हुआ है और आल्हखण्ड अशिक्षित और सामान्य जनता के बीच विकसित हुआ है। अनेक कारणो से आल्हखण्ड समूचे समाज द्वारा कभी मान्य नहीं हुआ। शिष्ट नागरिक समाज

1—आल्हखण्ड, प्रकाशक—मटरूलाल अत्तार, बाजार शाहवासा, मेरठ,।

उसे ग्रामीण काव्य मान कर उसकी उपेक्षा करता रहा। फलत आल्हखण्ड अशिक्षित ग्रामीण समाज के असाहित्यिक वातावरण मे जनगायकों द्वारा मौखिक रूप से सरक्षित और विकसित होता आया है। उसम महाकाव्य के गुण वर्तमान हैं या नहीं, इस सबध मे विचार करने के पूर्व इतना कह देना आवश्यक है कि अनेक विद्वानो ने आल्हखण्ड को महाकाव्य माना है। श्री जयशकर प्रसाद ने तो आल्हखण्ड और रासो दोनो को विकसनशील (सकलनात्मक) पौराणिक महाकाव्यो की परपरा मे माना है। उन्होने लिखा है, 'हिन्दी मे सकलनात्मक महाकाव्यो का आरभ भी युगवाणी के अनुसार वीरगाथा से होता है। रासो और आल्हा, ये दोनों ही पौराणिक काव्य, महाभारत की परपरा मे हैं[१]।" ग्रियसन ने तो आल्हखण्ड की एक गाथा (एक खण्ड) को ही एक महाकाव्य कहा है[२]। पर सभवत 'आल्हा का विवाह' को महाकाव्य कहते समय महा काव्य का महत्ता और मर्यादा की ओर ग्रियर्सन का ध्यान नहीं था क्योकि वह स्वय महाकाव्य नही, एक बडे महाकाव्य का छोटा अश मात्र है। जो २३ अथवा ५२ लडाइयाँ हैं उनमे अधिकाश एक दूसरे से असबद्ध सी हैं। फिर भी सबका सम्मिलित और समन्वित प्रभाव महाकाव्य जैसा ही पडता है। जिस तरह अगरेजी मे बियोवूल्फ लोकमहाकाव्य के रूप मे मान्य है, उसी तरह आल्हखण्ड को भी समन्वित प्रभाव और उसमे अन्तर्निहित महत्ता के कारण लोकमहाकाव्य मानना सर्वथा उचित है।

१—उद्देश्य और प्रेरणा शक्ति

महाकाव्य का प्रधान लक्षण उसकी महत्प्रेरणा और महदुद्देश्य होता है। आल्हखण्ड मे विकसनशील लोकमहाकाव्य होने के कारण, उद्देश्य का वह रूप नही दिखलाई पडता जो अलकृत महाकाव्यो मे होता है। उसका विकास लोकगाथा से हुआ है, अत जिस तरह लोकगाथाओं मे मनोरजन के अतिरिक्त कोई अन्य प्रत्यक्ष उद्देश्य नहीं होता उसी तरह आल्हखण्ड का उद्देश्य भी प्रत्यक्षत तो मनोरजन ही है। वर्षा ऋतु मे बादलों की मन्द्र ध्वनि के साथ जब ढोलक पर अल्हैतो की थाप पडती है तो सारा ग्रामीण समाज इस वीर काव्य का रसास्वादन करने के लिए एकत्र हो जाता है। सभवत वर्षा के

१—काव्य कला तथा अन्य निबन्ध—जयशकर प्रसाद, प्रयाग, स० २००५, तृतीय सस्करण, पृ० ११४।

२—द साँग आव आल्हाज मैरेज, ए भोजपुरी एपिक, ग्रियर्सन, इण्डियन ऐण्टीक्वैरी, भाग, १४, पृ० २०९।

कारण अवकाश के समय का उपयोग करने के लिए आल्हा का वर्षा ऋतु मे गान करने की परिपाटी है। धार्मिक उपदेश सुनने या अन्य किसी प्रकार का लाभ उठाने के लिए लोग आल्हा सुनने नही जाते। फिर भी यह प्रवाद प्रचलित है कि जहाँ लगातार कुछ दिनो तक महाभारत की कथा और आल्हा का गान होता है वहाँ लडाई झगडा अवश्य हो जाता है। इस प्रवाद के मूल मे मनोवैज्ञानिक सत्य यह है कि आल्हा मे वीरता की भावना इस सीमा तक है और वह श्रोताओ को इतना अधिक प्रभावित करता है कि उसका प्रभाव वीरतामूलक कार्यो, मार पीट आदि, के रूप मे प्रकट होता है। कहा जाता है कि प्रथम महायुद्ध के समय भारतीय सैनिको के बीच सरकार की ओर से आल्हा गवाया जाता था और उससे उनमे उत्साह की उमग और वीरता का जोश लहरे लेने लगता था। इससे यह तो स्वत सिद्ध है कि आल्हखण्ड मे वीरता की भावना कूट कूट कर भरी है और उससे वीरोचित कार्यो के लिए अदम्य प्रेरणा प्राप्त होती है। अत उसमे प्रत्यक्षत कोई उद्देश्य भले ही न दिखाई पडे किन्तु परोक्षरूप से वीरता की भावना को प्रबुद्ध और पुष्ट करना ही उसका लक्ष्य है। इस महदुद्देश्य की सिद्धि के लिए ही आल्हखण्ड की प्रत्येक गाथा का विधान हुआ है।

वीरता की भावना सापेक्ष्य होती है अर्थात् प्रत्येक युग मे उसके स्वरूप और व्यवहार विधि मे परिवर्तन होता रहता है। आल्हखण्ड मे आल्हा ऊदल तथा अन्य वीरो के युद्धो का जो वर्णन मिलता है वह प्रमुखत सामन्ती वीरयुग की वस्तु है। उस युग मे वैयक्तिक वीरता, मान मर्यादा और शारीरिक शक्ति के प्रदर्शन का ही सर्वाधिक महत्व था। समूचे आल्हखण्ड मे अधिकाशत इन्ही बातो का वर्णन और चित्रण हुआ है। अत यह तो स्पष्ट है कि उसमे सामन्ती वीरयुग की वीर भावना ही निहित है और उसी का उद्रेक करना उसका उद्देश्य है। अनेक युग परिवर्तनो के बाद भी आल्हखण्ड की लोकप्रियता न केवल बनी रही बल्कि उसका दूर-दूर तक बहुत अधिक प्रचार भी हुआ, यही इस बात का प्रमाण है कि उसका उद्देश्य किसी एक युग के लिए ही उपयोगी नही था, उसमे अवश्य कोई ऐसी शक्ति है जो परवर्ती युगो की सामान्य भारतीय जनता को प्रेरित और आकृष्ट करती रही है। वह शक्ति है मानव मात्र के हृदय मे निहित वीरपूजा की प्रवृत्ति। यही प्रवृत्ति आल्हखण्ड की अदम्य प्रेरणा शक्ति है। यह शक्ति किसी विशेष कवि की काव्यप्रतिभा से उद्भूत नही है बल्कि वह युग युग की सामान्य भारतीय जनता के सामूहिक हृदय की देन है। सारे समाज के हृदय मे निहित वीरपूजा की अदम्य भावना

ही मानो पुञ्जीभूत रूप धारण करके इस वीरकाव्य मे प्रकट हो गयी है। यही उसकी लोकप्रियता और प्रभविष्णुता का कारण है। वीरपूजा की प्रवृत्ति प्रत्येक युग के समाज मे किसी न किसी रूप मे वर्तमान रहती है। कभी उसका स्वरूप वैयक्तिक होता है, कभी जातीय और कभी राष्ट्रीय। सामन्ती वीरयुग की वीरता वैयक्तिक होती थी, अत इस युग की वीरपूजा की प्रवृत्ति का स्वरूप भी वैयक्तिक होता था अर्थात् जो कोई भी अतिशय शारीरिक शक्ति और पराक्रम का प्रदर्शन करता था वह उस युग मे आदर और गौरव का अधिकारी माना जाता था और समस्त समाज उसे राजाओं, विद्वानो और सन्तो से भी अधिक सम्मान प्रदान करता था। ऐसे युग मे वीरो का जीवन चरित बहुत शीघ्र निज न्धरी स्वरूप धारण कर लेता था और उनके सम्बन्ध मे नाना प्रकार की अतिशयोक्ति पूर्ण आनुश्रुतिक कथाए प्रचलित हो जाती थीं। इस प्रकार वीरपूजा की प्रवृत्ति सामान्य जनता की अत्यन्त शक्तिशाली और महत्वपूर्ण प्रवृत्ति है और उस प्रवृत्ति की अत्यन्त सफल अभिव्यक्ति आल्हखण्ड म हुई है। वस्तुत वीरपूजा की प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व करने वाला यह सर्वश्रेष्ठ लोककाव्य है, वह न तो रासो की तरह का जातीय काव्य है, न रामचरित मानस की तरह राष्ट्रीय और सांस्कृतिक काव्य। इसके विपरीत वह विशुद्ध वैयक्तिक वीरता, स्वाभिमान, दर्प और साहसपूर्ण कार्यों का काव्य है जिसमे समस्त जीवन के केंद्र मे बाहुबल को ही प्रतिष्ठित किया गया है। उसम न तो नैतिक, धार्मिक और राष्ट्रीय मूल्यो के लिए कोई आग्रह है, न रासो की तरह जातीय शक्ति का प्रदर्शन करने का प्रयत्न किया गया है, न पदमावत की तरह आध्यात्मिक मूल्यो की ही प्रतिष्ठा की गयी है। उसका उद्देश्य मनोरंजन करना और उसी के माध्यम से वीर पूजा की प्रवृत्ति को जाग्रत करना और वीर भावना का सचार करना है। यह उद्देश्य अपनी सीमाओं और सकीर्णताओं के होते हुए भी कम महत्वपूर्ण नही है। अत अपने इस उद्देश्य की महत्ता और अपनी सहज सरल प्रेरणा शक्ति की तीव्रता और व्यापकता के कारण आल्हखण्ड महाकाव्य पद का अवश्य अधिकारी है।

२—गुरुत्व, गाम्भीर्य और महत्व

सामान्यतया गुरुत्व और गाम्भीर्य का अर्थ पाण्डित्य, व्यापक ज्ञान तथा दार्शनिक ऊहापोह समझा जाता है। यदि यह धारणा सही हो तब तो ग्रामीण अशिक्षित जनता के जीवन को गुरुत्व और गाम्भीर्य से शून्य ही मानना पडेगा। परन्तु गुरुत्व और गाम्भीर्य की माप विद्या और दार्शनिक ज्ञान से ही नहीं, हृदय तत्त्व की ऊँचाई, व्यापकता और गहराई से भी होनी चाहिए। आल्ह

खण्ड म लोक हृदय की एक प्रधान प्रवृत्ति का अभिव्यक्ति हुई है। वह प्रवृत्ति वीरता और साहस की है। किन्तु इस अभिव्यक्ति म गहराई, ऊँचाई और व्यापकता का अभाव नही है। शिष्ट नागरिक जन, जो उच्चवगाय साहित्य के अभ्यासी होते हैं, लोककाव्य की इसी कारण उपेक्षा और अनादर करते तथा उस पर भदेसपन और ग्राम्यता का आरोप करते हैं कि उसमे पाण्डित्यप्रदशन, शब्द कौशल, कृत्रिम जीवन विधियों और आडम्बर का घटाटोप नहीं है। ये बातें वस्तुत ऊपरी हैं। यदि किसी काव्य म हृदय तत्त्व की गहराई, ऊँचाई और व्यापकता न हो और उपयुक्त अन्य बातें हा तो भी वह महाकाव्य नहा माना जा सकता। आल्हखण्ड म प्रधानतया युद्धो और विवाहा का वणन है। युद्ध और योद्धा हर युग म होते आये हैं किन्तु लोक चित्त पर आल्हा ऊदल आदि वीरा की जेसा अमिट छाप पड गयी है वैसी बडे बडे वीरा—महाराणा प्रताप, शिवाजी और लक्ष्मीबाई आदि—की भी नहीं पडी। इसका कारण यह है कि आल्हखण्ड के वीरा म जिस वीरता का प्रतिष्ठा हुई है वह असामान्य और अतिमानवीय है। साहस, शारीरिक शक्ति, जन्म भूमि का प्रेम, परिवार-प्रेम, राज भक्ति, जातीय सम्मान की भावना, आत्माभिमान आदि जिन गुणो के वे आश्रय हैं वे उनमे चरम मात्रा म दिखाये गये हैं। उपयुक्त गुणो की अभिव्यक्ति आल्हखण्ड के पात्रो मे इस सीमा तक हुई है कि वे सामान्य जन से बहुत ऊपर उठे दिखाई देते हैं। हम अपने ज्ञान और आडम्बरपूर्ण जीवन को अलग हटा कर आश्चर्य और कुतूहल से उनके असाधारण व्यक्तित्व निर्भय साहस, मृत्यु की सहज उपेक्षा और चमत्कारपूर्ण कार्यो को अपनी मनोदृष्टि से देखते रह जाते हैं। ऐसे महान वीर और विचित्र साहसी पात्र पृथ्वीराजरासो का छोड कर सभवत हिन्दी के अन्य किसी वीरकाव्य मे नहीं दिखाई पडेगे। अत उनकी इसी महत्ता ने आल्हखण्ड को गुरुत्व प्रदान किया है। उनके हृदय में उत्साह का जो समुद्र लहराता है उसी का गाम्भीर्य आल्हखण्ड का गाम्भीर्य है और उन वीर चरित्रां की जीवन्तता और कमशीलता से ही आल्हखण्ड म महत्त्व की प्रतिष्ठा हुई है।

यह सही है कि आल्हखण्ड मे विचारोत्तेजना की सामग्री बिलकुल नहीं है न उसके पात्रों का चरित्र ही आदश चरित्र है। अलकृत महाकाव्यो मे गहराई और गुरुत्व का कारण उनका विचार वैभव और आदर्श चरित्रा की प्रतिष्ठा होती है। किन्तु आल्हखण्ड मे उन्हें खोजने की चेष्टा नही करनी चाहिए। कारण, वह सच्चे अर्थ मे विकसनशील लोककाव्य है। इसी कारण उसमे निराभरण सहजता, सादगी और अनलकृति है। अलकृत महाकाव्यों की

तरह की थोडे मे अधिक कहने, कम शब्दो म अधिक अथ भरने की प्रवृत्ति उसम नही दिखाई पडती और न उसम शास्त्रीय, धार्मिक और दार्शनिक विषया का ही वणन हुआ है। साथ ही उसमे अलकृत महाकाव्यो की तरह आदर्श चरित्रो की प्रत ष्ठा भा नहा की गइ है। इसका स्वभाविक परिणाम यह हुआ है कि उसम अपने प्रतिपाद्य विषय—वीरता का चित्रात्मक वर्णन—को पूर्णरूप से स्पष्ट करने का बहुत अधिक अवसर मिला है। विषय का एकनिष्ठता के कारण उसमे घटना प्रवाह का क्षिप्रता और भावनाओ की तीव्रता बहुत अधिक दिखलाइ पडती है। आल्हखण्ड की प्रभविष्णुता और सफलता का यही रहस्य है। इस प्रकार इस काव्य मे तीव्रता और गहराई ही प्रधान वस्तु हैं। यद्यपि बौद्धिक विवेचन और पाण्डित्य प्रदशन का प्रयत्न उसमे कही नही दिखलाई पडता फिर भी भावनाओ की तीव्रता और गहराइ के कारण उसम गुरुत्व ओर महत्व की प्रतिष्ठा हो गयी है जो सच्चे महाकाव्य का एक प्रमुख लक्षण है।

३—महत्कार्य और समग्र युग जोवन का चित्रण

यद्यपि किसी महत्कार्य का सिद्धि और युग विशेष के समग्र जीवन का पूर्ण चित्रण भी महाकाव्य का एक आवश्यक लक्षण है पर यह लक्षण लोकमहाका य पर उतना नही लागू होता जितना अलकृत महाकाव्यों या साहित्यिक विकसनशील महाकाव्यो पर। पिछले अध्याय मे हम देख चुके हैं कि रासो मे ये बाते पूणत मिलती हैं। आल्हखण्ड मे उपर्युक्त दोनों तत्त्वो का आशिक रूप ही दिखलाई पडता है। रासो की तरह उसमे भी महत्कार्य की सिद्धि नहा हुई है अर्थात् उसके नायक को फल की प्राप्ति नही होती है। यह एक दुखान्त महाकाव्य है जिसका अन्त महाध्वस मे हुआ है, जिसमें पृथ्वीराज, चन्द, आल्हा और इदल को छोड अन्य सभा प्रधान पात्रों की मृत्यु हो जाती है। आल्हखण्ड म आल्हा को अमर कहा गया है और अन्तिम युद्ध मे यद्यपि पृथ्वीराज की विजय होती है पर आल्हा मारा नही जाता, वह अमरनाथ के साथ कजरी वन मे चला जाता है। इस तरह इसमे भी नायक की, यदि आल्हा को नायक माने तो, मृत्यु नहीं होती। अत रासो की तरह आल्हखण्ड भी दुखान्त और सुखान्त दोनों ही है, क्योकि उसमे नायक के पक्ष की पराजय होती है, ऊदल मारा जाता है, फिर भी आल्हा की वीरता पर आच नहीं आती और न उसकी मृत्यु ही होती है। इसलिए भारतीय काव्यशास्त्र की दृष्टि से इसमें महत्कार्य की सिद्धि पूर्णतया नहीं होती है किन्तु पाश्चात्य काव्यशास्त्र की दृष्टि से दुखान्त होने के कारण उसमे प्रभावान्विति और गहराई पूर्णत दिखलाई पडती है ओर इसे ही इस काव्य का महत्कार्य मानना चाहिये।

किन्तु साधारणत महत्कार्य का अथ कोइ ऐसी महती घटना है जिसका सम्पूर्ण युग जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ा हो। ऐसा महत्वपूर्ण घटना को चरम-बिन्दु मे प्रतिष्ठित करने वाला काय ही महाकाव्य कहा जा सकता है। १२ वीं शताब्दी मे मुसलमानो की विजय का एक प्रधान कारण यह था कि उत्तर भारत के राजाओ मे निरन्तर युद्ध होता रहता था। इतिहास इस बात का साक्षी है कि पृथ्वीराज और परमाल के बीच स० १२३९ मे भयकर युद्ध हुआ था जिसमे परमाल बुरी तरह पराजित हुआ और उसके बाद उसकी शक्ति एक दम क्षीण हो गयी। यदि आल्हा, ऊदल, मलखान, लाखन आदि वीर वस्तुत ऐतिहासिक व्यक्ति हों और वे उसी युद्ध म मारे गये हो तो सचमुच यह देश की एक बहुत महत्वपूर्ण आर दुभाग्यपूर्ण दुघटना थी। परमाल के ही पूर्वज धग ने कन्नौज के प्रतिहार और पजाब क शाही राजाओ के साथ सघ बनाकर महमूद गजनवी का डट कर मुकाबला किया था। यदि बारहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग म उत्तर भारत के तीन विशाल साम्राज्यों—अजमेर, कन्नौज, महोबा—की इसी प्रकार की सघ शक्ति होती तो बहुत सभव है कि मुसलमानो की विजय न होती और न भारत म मुसलमानी शासन ही स्थापित हो पाता। अत पृथ्वीराज और परमाल का युद्ध उस युग का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण घटना थी और आल्हखण्ड के अन्त म उसी घटना का वर्णन किया गया है। निस्सन्देह यह घटना महाकाव्य का वर्ण्य विषय बनने क उपयुक्त है आर आल्हखण्ड की कथाये और लडाइयाँ उसी घटना की भूमिका या पृष्ठभूमि क रूप म वर्णित हुई हैं।

किसी भी घटना का महाकाव्य का महत्काय बनना उस घटना की ऐतिहासिकता या महत्व पर उतना निभर नही करता जितना कवि की कल्पना शक्ति आर वर्ण्य घटना की पृष्ठभूमि को व्यापकता पर निर्भर करता है। प्रत्येक महाकाव्य म जो अन्तिम महती घटना होती है उसके पूव पृष्ठभूमि के रूप म दाम्पत्य जीवन, पारिवारिक जीवन, राजनीति, धम, मनोरजन, युद्ध आदि से सम्बन्धित विविध प्रकार क कार्यो की शृखला जुडी रहती है। अन्तिम महत्कार्य तो उसी कार्य कारण शृङ्खला की चरम परिणति होता है। अस्तु, रासो म जिस तरह अन्य सभी युद्ध आर विवाह अतिम विवाह आर अन्तिम युद्ध की पूव पीठिका हैं, उसी तरह आल्हखण्ड म बेला क गौना आर उससे सम्बन्धित युद्धों के लिए ही अन्य सभी विवाहो आर युद्धो की आयोजना पूर्वपीठिका के रूप मे की गयी है। जिन लोगो द्वारा आल्हखण्ड का विकास हुआ उनकी कल्पनाशक्ति बहुत तीव्र थी, इसम कोइ सन्देह नहीं क्योकि अन्तिम महान

तरह की थोडे मे अधिक कहने, कम शब्दो म अधिक अथ भरने की प्रवृत्ति उसम नही दिखाई पडती और न उसम शास्त्रीय, धार्मिक और दार्शनिक विषयो का ही वणन हुआ है। साथ ही उसमे अलकृत महाकाव्यो की तरह आदर्श चरित्रो की प्रत ष्ठा भी नही की गइ है। इसका स्वभाविक परिणाम यह हुआ है कि उसम अपने प्रतिपाद्य विषय—वीरता का चित्रात्मक वर्णन—को पूर्णरूप से स्पष्ट करने का बहुत अधिक अवसर मिला है। विषय का एकनिष्ठता के कारण उसमे घटना प्रवाह का क्षिप्रता और भावनाओ की तीव्रता बहुत अधिक दिखलाइ पडती है। आल्हखण्ड की प्रभविष्णुता और सफलता का यही रहस्य है। इस प्रकार इस काव्य मे तीव्रता और गहराइ ही प्रधान वस्तु हैं। यद्यपि बौद्धिक विवेचन और पाण्डित्य प्रदशन का प्रयत्न उसमे कही नहीं दिखलाई पडता फिर भी भावनाओ का तीव्रता और गहराइ के कारण उसमे गुरुत्व और महत्व की प्रतिष्ठा हो गयी है जो सच्चे महाकाव्य का एक प्रमुख लक्षण है।

३—महत्कार्य और समग्र युग जावन का चित्रण

यद्यपि किसी महत्कार्य का सिद्धि और युग विशेष के समग्र जीवन का पूण चित्रण भी महाकाव्य का एक आवश्यक लक्षण है पर यह लक्षण लोकमहाकाव्य पर उतना नही लागू होता जितना अलकृत महाकाव्यों या साहित्यिक विकसनशील महाकाव्यो पर। पिछले अध्याय मे हम देख चुके हैं कि रासो मे ये बाते पूणत मिलती हैं। आल्हखण्ड मे उपर्युक्त दोनों तत्त्वो का आशिक रूप ही दिखलाई पडता है। रासो की तरह उसमे भी महत्कार्य की सिद्धि नहा हुइ है अर्थात् उसके नायक को फल की प्राप्ति नही होती है। यह एक दुखान्त महाकाव्य है जिसका अन्त महाध्वस मे हुआ है, जिसम पृथ्वीराज, चन्द, आल्हा और ऊदल को छोड अन्य सभी प्रधान पात्रो की मृत्यु हो जाती है। आल्हखण्ड म आल्हा को अमर कहा गया है और अन्तिम युद्ध मे यद्यपि पृथ्वीराज की विजय होती है पर आल्हा मारा नही जाता, वह अमरनाथ के साथ कजरी वन मे चला जाता है। इस तरह इसमे भी नायक की, यदि आल्हा को नायक माने तो, मृत्यु नही होती। अत रासो की तरह आल्हखण्ड भी दुखान्त और सुखा त दोनों ही है, क्योकि उसमे नायक के पक्ष की पराजय होती है, ऊदल मारा जाता है, फिर भी आल्हा की वीरता पर आच नहीं आती और न उसकी मृत्यु ही होती है। इसलिए भारतीय काव्यशास्त्र का दृष्टि से इसमे महत्कार्य की सिद्धि पूर्णतया नहीं होती है किन्तु पाश्चात्य काव्यशास्त्र की दृष्टि से दुखान्त होने के कारण उसमे प्रभावान्विति और गहराई पूणत दिखलाई पडती है और इसे ही इस काव्य का महत्कार्य मानना चाहिये।

किन्तु साधारणत महत्कार्य का अर्थ कोई ऐसी महती घटना है जिसका सम्पूर्ण युग जीवन पर गहरा प्रभाव पडा हो। ऐसी महत्वपूर्ण घटना को चरम-बिन्दु मे प्रतिष्ठित करने वाला काव्य ही महाकाव्य कहा जा सकता है। १२ वीं शताब्दी मे मुसलमानो की विजय का एक प्रधान कारण यह था कि उत्तर भारत के राजाओ मे निरन्तर युद्ध होता रहता था। इतिहास इस बात का साक्षी है कि पृथ्वीराज और परमाल के बीच स० १२३९ मे भयकर युद्ध हुआ था जिसमे परमाल बुरी तरह पराजित हुआ और उसके बाद उसकी शक्ति एक दम क्षीण हो गयी। यदि आल्हा, ऊदल, मल्खान, लाखन आदि वीर वस्तुत ऐतिहासिक व्यक्ति हों और वे उसी युद्ध मे मारे गये हो तो सचमुच यह देश की एक बहुत महत्वपूर्ण और दुर्भाग्यपूर्ण दुर्घटना थी। परमाल के ही पूर्वज धग ने कन्नोज के प्रतिहार और पजाब के शाही राजाओ के साथ सघ बनाकर महमूद गजनवी का डट कर मुकाबला किया था। यदि बारहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग मे उत्तर भारत के तीन विशाल साम्राज्यो—अजमेर, कन्नौज, महोबा—की इसी प्रकार की सघ शक्ति होती तो बहुत सभव है कि मुसलमानो की विजय न होती और न भारत मे मुसलमानी शासन ही स्थापित हो पाता। अत पृथ्वीराज और परमाल का युद्ध उस युग का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण घटना थी और आल्हखण्ड के अन्त मे उसी घटना का वर्णन किया गया है। निस्स न्देह यह घटना महाकाव्य का वर्ण्य विषय बनने के उपयुक्त है और आल्हखण्ड की कथाये और लडाइयाँ उसी घटना की भूमिका या पृष्ठभूमि के रूप मे वर्णित हुई हैं।

किसी भी घटना का महाकाव्य का महत्काय बनना उस घटना की ऐति हासिकता या महत्व पर उतना निर्भर नही करता जितना कवि की कल्पना शक्ति और वर्ण्य घटना की पृष्ठभूमि की व्यापकता पर निर्भर करता है। प्रत्येक महाकाव्य मे जो अन्तिम महती घटना होती है उसके पूर्व पृष्ठभूमि के रूप मे दाम्पत्य जीवन, पारिवारिक जीवन, राजनीति, धर्म, मनोरजन, युद्ध आदि से सम्बन्धित विविध प्रकार के कार्यो की श्रृखला जुडी रहती है। अन्तिम महत्कार्य तो उसी कार्य कारण श्रृङ्खला की चरम परिणति होती है। अस्तु, रासो मे जिस तरह अन्य सभी युद्ध और विवाह अन्तिम विवाह और अन्तिम युद्ध की पूर्व पीठिका हैं, उसी तरह आल्हखण्ड मे बेला के गौना और उससे सम्बन्धित युद्धो के लिए ही अन्य सभी विवाहो और युद्धो की आयोजना पूर्वपीठिका के रूप मे की गयी है। जिन लोगो द्वारा आल्हखण्ड का विकास हुआ उनकी कल्पनाशक्ति बहुत तीव्र थी, इसमे कोई सन्देह नहीं क्योकि अन्तिम महान

युद्ध का वर्णन करने के पूर्व उन्होंने इस काव्य के पात्रो का शौर्य, पराक्रम तथा अन्य चारित्रिक विशेषताए प्रदर्शित करने के लिए युद्धों और विवाहों की लम्बी शृङ्खला की योजना की है। इस तरह आल्हखण्ड का चित्रपट बहुत विशाल हो गया है। उसमे कथा का प्रधान घटना स्थल यद्यपि मध्यदेश है जिसके केन्द्रीय नगर महोबा, कन्नौज और दिल्ली हैं पर विविध युद्धो और विवाहो के प्रसग मे कामरूप और बगाल से लेकर बलख बुखारा तक और हिमालय से लेकर गुजरात तक के भूभाग को काव्य का कार्यक्षेत्र बनाया गया है। उसके पात्रो मे राजा, राजकुमार, साम त, सरदार, सेनापति, मत्री, सैनिक, नौकर, भाँट, वेश्या, रानी, दासी, पडित, नाई, धोबी, योगी, सन्त, माली मालिन आदि सभी प्रकार के और सभी वर्गों के लोग हैं पर वे सभी सामन्ती वातावरण के पुर्जो के रूप मे दिखलाई पडते हैं। इस तरह सामन्ती वीरयुग के दरबारी जावन का बहुत ही सच्चा और वैविध्यपूर्ण चित्रण इस काव्य मे हुआ है। किन्तु समाज के निम्न वर्गो—किसान, गरीब, नौकर चाकर आदि के दैनन्दिन जीवन और उनकी भावनाओ की उसमे कोई चर्चा नहीं मिलती। उसका वर्ण्य विषय (थीम) युद्ध और विवाह है पर सामन्ती युग के रीति रिवाजो, विश्वासों और धम कम का प्रासगिक वर्णन भी उसमे यत्र तत्र हुआ है। अत यद्यपि उसमे कार्य क्षेत्र की व्यापकता, घटनाओ की विवृति, और चित्रपट की विशालता है फिर भी जीवन का वैसा वैविध्यपूर्ण नाना पक्षात्मक स्वरूप नहीं चित्रित हुआ जैसा रासो जैसे साहित्यिक विकसनशाल महाकाव्य और पद्मावत और मानस जैसे अलकृत महाकाव्यो मे हुआ है। इसीलिए यह पहले ही कहा जा चुका है कि आल्हखण्ड मे समग्र युग जीवन का वैविध्यपूर्ण चित्रण अलकृत महाकाव्यों जैसा नहीं हुआ है।

किन्तु यदि सामन्ती वीरयुग की प्रधान प्रवृत्तियो—वीरता, प्रेम और धम भावना—की दृष्टि से देखा जाय तो आल्हखण्ड मे वह युग अपने सच्चे रूप मे चित्रत दिखाई पडता है। महाकाव्य के लक्षणो मे आलकारिको ने यह कहा है कि उसमे युद्ध, विवाह, पुत्रोदय, मत्रणा, राजकाज, जलक्रीडा, पुष्पावचय, पानगोष्ठी, विजय पराजय, यज्ञ, मृगया, युद्ध प्रयाण, सभोग और विप्रलम आदि कार्यो तथा नगर, शैल, वन, सिन्धु, सरिता, प्रभात, रात्रि, चन्द्रोदय, सूर्योदय आदि प्राकृतिक दृश्यो का वर्णन होना चाहिये। इस कथन का तात्पय यही है कि महाकाव्य मे समग्र जीवन का वैविध्यपूर्ण चित्रिण होना चाहिये। आल्ह खण्ड म प्रकृति चित्रण तो बिल्कुल नही हुआ है, सभोग और विप्रलभ शृगार तथा जलक्रीडा पुष्पावचय आदि विलासिता पूर्ण कार्यो का वर्णन भी उसमे नहीं हुआ

है। किन्तु सामन्ती वीरयुग के दरबारी जीवन की अन्य प्रधान बातों का उसमे बहुत अधिक वर्णन हुआ है। उदाहरणार्थं उसमे निम्नलिखित बाते प्रमुख रूप से वर्णित हुई हैं —युद्ध की तैयारी, युद्ध प्रयाण, युद्ध, दौत्य, मत्रणा, मृगया, विवाह से सम्बन्धित विविध प्रकार के कार्य जैसे टीका भेजना, बलपूवक विवाह करना, ऐपन बारो भेजना, गाना और चाथ की प्रथा आदि, सती होने की क्रिया, योगी और उनके कार्य, कजरी का त्यौहार, चुगली करना, धोखा देना, वचन देकर उसे न पूरा करना, योगा के वेश मे नगरप्रवेश और युद्ध, वेश्या नृत्य और योगी नृत्य, मन्त्र त त्र का प्रदर्शन, मन्त्रयुद्ध आदि।

युद्ध और विवाह—आल्हखण्ड के युद्धो के स्वरूप और उनके कारणो पर विचार करने पर पता चलता है कि वे युद्ध प्रमुखत इन कारणा से लडे गये हैं। (१) विवाह के सबध मे, (२) प्रतिशोध की भावना से, (३) लूटने के लिए, (४) गौना और चौथ के सबध म (५) कर वसूल करने के लिए (६) सती की चिता मे आग देने के प्रश्न को लेकर (७) ऐपन बारी के समय, (८) दूसरे का राज्य हडपने के लिए, (९) किसी का हरण हो जाने पर। ऐतिहासिक दृष्टि से देखने पर इनमे से अधिकाश कारण अतिशयोक्तिपूर्ण या काल्पनिक प्रतीत होते हैं। आल्हखण्ड के अधिकाश युद्धो की कल्पना सभावना क आधार पर की गयी है। यह ठीक है कि सामन्ती वीरयुग मे स्त्री भा युद्ध का कारण बन जाती थी अथवा युद्ध के बाद कोइ राजा अपने शत्रु से अपनी पुत्री का विवाह करक सधि कर लेता था किन्तु सभी विवाहा, यहाँ तक कि गौना और चौथ के समय भी युद्ध होने की बात अतिशयोक्तिपूर्ण है और इस प्रकार के जितने युद्धा का वर्णन आल्हखण्ड मे हुआ है उन सबमे विवाह, गोना, चौथ आदि निमित्त मात्र हैं, वस्तुत युद्ध की अधिकता दिखाना और वारो का पराक्रम और शारीरिक शक्ति का प्रदर्शन करना ही प्रधान उद्देश्य है। इस तरह वीरता के कार्यो को बहुत अधिक बढा चढा कर वणन करने की प्रवृत्ति के कारण ही आल्हखण्ड म इतने अधिक युद्धो का विधान हुआ है। उसम ऐपनबारा की प्रथा भी दिखलाइ गई है जिसम वर पक्ष का नाऊ ऐपनबारा लेकर जाता और नेग म कन्या पक्ष वालों से अकेले युद्ध करता है। प्रत्येक विवाह के अवसर पर आल्हा के पक्ष का रुपना बारी यह काम करता दिखाया गया है। दिल्ली का दूसरा युद्ध और बगाले का दूसरा युद्ध गौने के अवसर पर हुए, बौरीगढ की लडाई चन्द्रावली की चौथ के सम्बन्ध म हुई। महोबे और दशपुरवा पर करिया ने दो बार केवल नौलखाहार लूटने के लिए आक्रमण किया था। सिरसा युद्ध राज्य विस्तार के लिए

और गाजर आदि के युद्ध दर वसूल करने के सम्बन्ध म हुए। आल्हा, ऊदल और मल्खान ने दस्सराज और वच्छराज की हत्या का बदला लेने के लिए माडोगढ और पथरीगढ की विजय की थी। उसी तरह इन्दलहरण और ऊदल्हरण के प्रसग मे भी युद्ध हुए।

इस प्रकार आल्हखण्ड युद्धो और विवाहो का काव्य है, पर विवाह तो उसमे युद्ध का निमित्त मात्र है। आल्हखण्ड से तो ऐसा मालूम पडता है कि वीरता के मद म मस्त सामन्ती वीरयुग के वीरो के सामजिक कृत्य विवाह आदि और धार्मिक कार्य गगास्नान, कजरी आदि भी बिना युद्ध के पूर्ण नही माने जाते थे। यही कारण है कि उसम विवाह तो गौण है युद्ध ही प्रधान हो गये ह। विवाह, शृगारिक वर्णन और विलासित आदि का इस काव्य मे स्वतत्र रूप से कोइ महत्वपूण स्थान नही है। राजाओ के विवाह टीका भेज कर होते थे पर आल्हखण्ड म यह पहले ही मान लिया जाता है कि किसी राजा का टीका स्वीकार करने का अथ है उस राजा से भयकर युद्ध। इसालिए जो अत्यत वीर ह वे ही किसी का टीका स्वीकार करते है। इस प्रथा के फलस्वरूप राजकुमारिया बहुत सयानी हो जाती हैं पर उनका विवाह नहीं हो पाता और उनकी सखियाँ उन पर व्यग्य करती हैं। रूप गुण श्रवणज य प्रेम की चचा भी कुछ विवाहो के प्रसग म हुइ हे और सुग्गा से सन्देश भी भेजे जाते हैं पर प्रेम की मार्मिक अभिव्यक्ति कही भी नही हुइ है। उसी तरह सयोग और विप्रलम्भ शृगार की अभिव्यजना कही कही नाम मात्र को मिल जाती है। आल्हा का विवाह शार्षक अ याय म नैनागढ की राजकुमारी सयानी हो गया है और सखियो से आल्हा के रूप गुण की प्रशसा सुनकर आसक्त हाती और हीरामन सुग्गा से ऊदल क पास स्वय अपने विवाह का टीका भेजती है। उसी तरह 'इन्दल का तीसरा व्याह' नामक अध्याय मे सिहल का राजकुमारी लेखावती इन्दल का रूप गुण सुन कर उससे विवाह करने को लालायित हो उठी और रात म उडनखटोले से रिजगिरी पहुँच कर इन्दल के शयनागार मे गयी, उसके साथ चौपड खेला और उससे विवाह किया। उसके चले जाने पर इन्दल विरह कातर हो गया। जब उसने अपनी बाते घर वालों को बताई तो उस पर पहरा बैठा दिया गया पर वह किसी तरह निकल भागा और गुरु अमरनाथ की सहायता से योगी बन कर सिहल पहुँचा। माडो की राजकुमारी विजैसिन और नरवरगढ की राजकुमारी फुलवा क साथ ऊदल के प्रेम की कथा भी कुछ विस्तार से दी गयी है। इस तरह प्रेम के विरह मिलन जन्य आनन्द और वेदना का वर्णन भी यत्रतत्र इस काव्य मे हुआ है पर वह बहुत मार्मिक और विशद

नही है। विवाह से सम्बधित रीति रिवाजो जैसे टीका भेजना, तेल हल्दी लगाना, बारात, ज्योनार, दान दहेज, विदाई, परछन आदि का भी यथास्थान वर्णन हुआ है।

युद्ध, विवाह और प्रेम व्यापार के अतिरिक्त जीवन के अन्य पक्षो और स्वरूपो का उद्घाटन आल्हखण्ड मे बहुत कम हुआ है। चतुर्वेदी द्वारका प्रसाद ने लिखा है, 'यदि इस काव्य के कथानक हो को एक बार आद्यन्त मन लगाकर पढने का कष्ट उठावें तो इस काव्य का केवल ऐतिहासिक महत्व ही नहीं, प्रत्युत १२वीं शताब्दी के भारतवासियो की राजनीतिक, सामाजिक एव धार्मिक प्रवृत्तियो की जानकारी सहज ही मे प्राप्त कर सकेंगे। तभी इस काव्य का उत्त देयता और इसका महत्व भी अपने आप प्रतीत हो जायगा[1]।' चतुर्वेदी जी का यह कथन सर्वांशत सत्य नही है कि इस काव्य मे १२वी शताब्दी के भारत का पूर्ण प्रतिबिम्ब दिखलाई पडता है, क्योकि उसमे बहुत सी बातें बहुत बाद की जुडी हुई हैं। आल्हखण्ड से भारतवासियो के राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक प्रवृत्तियो का परिचय भी उसी प्रकार पूर्णता से नही प्राप्त होता जैसा रासो, पद्मावत या मानस से होता है। फिर भी इस कथन मे इतना सत्य अवश्य है कि आल्हखण्ड मे जीवन के अन्य पक्षो की बिलकुल उपेक्षा नही की गयी है यद्यपि लोकगाथाओं की प्रवृत्ति के अनुसार उसमे जीवन के एक पक्ष को ही बडी गहराई और तीव्रता के साथ देखा गया है।

४—कथानक की योजना

आल्हखण्ड के कथानक का ढाँचा पृथ्वीराजरासो के कथानक से मिलता जुलता है। दोनो ही काव्यों मे कथानक शिथिल, विशृंखलित और खण्डो मे विभक्त है पर दोनों मे एक बहुत बडा अन्तर यह है कि रासो वर्णनात्मक काव्य है और आल्हखण्ड कथात्मक। यद्यपि दोनो विकसनशील है पर एक का विकास दरबारी जीवन के शिष्ट नागर वातावरण मे हुआ है और दूसरे का लोकजीवन के आडम्बरशून्य वातावरण मे। लोकरुचि कथा प्रवाह और भाव-धारा मे रमती है, वस्तु वर्णन और परिगणना द्वारा ज्ञान प्रदर्शन से वह दूर भागती है। साथ ही मौखिक परम्परा मे बहुत लम्बे कथानक का विकास सम्भव नही है, वहाँ तो ऐसे ही काव्यो का विकास सम्भव है जो या तो एक दो रात मे गाये जा सकें या जिनके कई खण्ड हो और वे खण्ड बहुत

१—चतुर्वेदी द्वारका प्रसाद, आल्हा (आल्हा की कथा) भूमिका, प्रयाग, सन् १९४०, पृ० ३।

कुछ स्वतन्त्र हो। हाँ यदि प्रधान पात्र उन सभी खण्डो मे आवे तो रुचि और बढ जाती है क्योकि नई कथा मे पुराने पात्रो के शील निरूपण और कार्य चमत्कार सुनने को मिलता है। यही कारण है कि आल्हखण्ड मे कही २३ कही ३२ और कहीं ५२ लडाइयो का जो वर्णन मिल्ता है उन सबका इस काव्य मे एक प्रकार से सम्बधित फिर भी स्वतन्त्र स्थान है। ५२ लडाइयों में सयोगिता हरण और परमाल के व्याह से सम्बधित युद्धो को छोडकर अन्य सब मे आल्हा ऊदल तथा अन्य बनाफर वारो का कार्य ही महत्वपूर्ण है। इस प्रकार आल्हखण्ड एक गाथाचक्र है जिसमे एक परिवार के कुछ व्यक्तियों—आल्हा, ऊदल, इन्दल, मलखान को प्रधान पात्र बनाकर तथा अन्य वीरो—सैयद ताल्हन, लाखनि राना, ढेबा, जगनिक, रुपना बारी आदि—को उनका सहायक बनाकर अनेक गाथाएँ जोडी गयी हैं। गाथाचक्र का अभिप्राय ही है कि उसमे कुछ पात्र तो सब गाथाओ मे आवे और अन्य पात्र प्रत्येक गाथा में भिन्न भिन्न हो। इस दृष्टि से पृथ्वीराज रासो मे गाथाचक्र के कुछ लक्षण दिखलाई पडते हैं। आल्हखण्ड मे यद्यपि कथानक का विकासक्रम, उसका प्रारम्भ, मध्य और अन्त स्पष्ट नही दिखलाई पडता अथात् उसकी कथा आदि से अन्त तक धारा प्रवाह रूप मे नही, खण्डित और विश्रृंखलित रूप मे है परन्तु कुछ पात्रों के ही जीवन से सम्बद्ध सभी कथाएँ हैं और उनमे भी ऊदल ही सबसे बडा योद्धा है जो सर्वत्र अपना पराक्रम दिखाता है। अत कथानक का एक क्षीण सूत्र सभा गाथाओ को एक मे ग्रथित करता है। महा काव्य के शास्त्रीय लक्षणो के अनुसार कथानक नाटक की सभी सधियों से युक्त होना चाहिए। यह बात आल्हखण्ड के कथानक मे नही है। किन्तु यह बात भी ध्यान मे रखने की है कि शास्त्रीय नियम महाभारत की तरह ही इस लोक महाकाव्य की विषय वस्तु और रूप विन्यास को भी बाँधने म असमथ हैं। सभवत इसीलिए विश्वनाथ कविराज ने महाभारत को आर्ष महाकाव्य कहा है[1]। सभवत महाभारत और रघुवश को ही ध्यान मे रखकर विश्वनाथ कविराज ने यह भी कहा है कि किसी किसी महाकाव्य मे एक वश के अनेक कुलीन राजा भी नायक के रूप म हाते हैं। इस लक्षण के अनुमार आल्हखण्ड मे आल्हा ऊदल, मलखान आदि बनाफरवशी वीर, जो प्राय सभी गाथाओं मे प्रधान पात्र के रूप मे हैं, नायक के रूप मे माने जा सकते हैं। अत उनके जीवन से सबधित बिखरी हुई कथाएँ भी एक कथा के रूप मे मानी जायँगी।

१—विश्वनाथ कविराज, 'अस्मिन्नार्षे पुन सर्गा भवन्त्याख्यान सज्ञका ॥'
साहित्यदपण—परिच्छेद ६–श्लोक ३२५।

आल्हखण्ड के कथानक का इस प्रकार का ढाँचा सभवत लोककथाओ के प्रभाव के कारण है। पहले अध्याय मे बताया जा चुका है कि लोककथा ने साहित्यिक महाकाव्यो और कथा आख्यायिका के स्वरूप को बहुत अधिक प्रभावित किया है। पचतत्र और जैन बौद्ध कथा ग्रथो की कथाएँ इसी प्रकार बहुत क्षीण सूत्र से एक दूसरे से सबद्ध मिलती हैं। कथासरित्सागर और कादम्बरी मे भी मूल कथा के भीतर कथाएँ और उन कथाओ के भीतर फिर दूसरी कथाएँ पिराई मिलती हैं। कुछ आख्यायिकाये ऐसी भी होती हैं जिनमे कई कथाएँ स्वतत्र रूप से अलग अलग होता हैं पर कुछ पात्रों के सब मे होने के कारण अथवा कहनेवाला एक होने के कारण अथवा कइ कहने वाले एक साथ होने के कारण सभी कथाएँ मिलकर एक लम्बी कथा का रूप धारण करती हैं और सबका समिलित प्रभाव एक होता है। वेताल पचविंशति, दशकुमार चरित, पचमीकहा आदि कथा ग्रथ इसी प्रकार के हैं। प्रब घत्व का यह विश्रृखलित स्वरूप कथा आख्यायिका मे लोककथा से ही आया है। लोकगाथाएँ लोककथाओ के अधिक निकट सपक मे रहती हैं, अत उन पर इस शैली का प्रभाव पडना अत्यत स्वाभाविक है। आल्हखण्ड लोकगाथा से गाथाचक्र मे विकसित हुआ है, अत सहज रूप से उसमे कथानक की योजना उक्त शैली में हुई है।

महाकाव्य मे कथानक का विस्तार प्राय लम्बा होता है क्योकि उनमे बहुधा पात्रो के समूचे जावन की कथा दी गयी रहती है। इसीलिए आचार्यों ने महाकाव्य का यह लक्षण माना था कि उसमे न बहुत लम्बे न बहुत छोटे, कम से कम आठ सर्ग होने चाहिए। आल्हखण्ड की लडाइयों को यदि अलग अलग सर्ग माना जाय तो वह २३ या ३२ अथवा ५२ सर्गो का महाकाव्य कहा जायगा। उसमे आल्हा ऊदल के पिता माता की सक्षिप्त जावनकथा और परमाल के व्याह के बाद आल्हा, ऊदल, मलखान, ब्रह्मा आदि के जन्म से लेकर ऊदल, मलखान ब्रह्मा आदि की मृत्यु तक का जावन वृत्त, जो प्रधानतया युद्ध और विवाह की घटनाओ से भरा हुआ है, दिया गया है। निरन्तर विकसित होते रहने के कारण आल्हा ऊदल की जीवनकथा के अतिरिक्त अन्य अनेक अनपेक्षित कथाएँ भी इसम जुड गयी हैं जिससे कथानक बहुत लम्बा हो गया है। आधिकारिक कथा में परमाल का व्याह, महाबे की दूसरी लडाई, माडौ की लडाई, सिरसा की लडाई, जूनागढ की लडाई, आल्हा का विवाह, आल्हा का निष्कासन, वेतवा तट की लडाई, आल्हा मनौआ और दिल्ली की लडाई की घटनाएँ ही आती हैं। शेष कथाएँ प्रासगिक रूप से

आगे इ और इ दल के तीन व्याहो, सयोगिता स्वयवर आदि की कथाएँ मूल कथा से अत्यल्प सम्बन्ध रखती हैं। पता नही सयोगिता स्वयवर की कथा इसमे क्यों और किस लिए घुस आयी है क्योकि उसका आल्हा ऊदल से कोई भी सम्बन्ध नही दिखाइ पडता। अनगिनत गायको द्वारा विकसित होने के कारण ही आल्हखण्ड के कथानक मे कलात्मक विकासक्रम, सुनियोजित शृखला वद्धता और आवश्यक अनावश्यक कथावस्तु का चुनाव आदि गुण नहीं दिखाई पडते और इस तरह कथानक बिना डीलडौल का, सयमहीन और असन्तुलित हो गया है। लेकिन लोकमहाकाव्य होने से उसके ये दोष दोष नही माने जा सकते।

आल्हखण्ड मे कथानकरूढियाँ—आल्हखण्ड की कथावस्तु मे इतना अधिक विस्तार होने का एक यह भी कारण है कि उसमे कथानकरूढियो की भरमार है। ये कथानकरूढियाँ कविकल्पित नही बल्कि लोककथाओ से ला गया हैं। कथानकरूढियो का उपयोग ही इसलिए किया जाता है कि उनसे कथा आगे बढे। यथार्थ जीवन से जब कथावस्तु ग्रहण की जाती है तो वहाँ कथानकरूढियो की उतनी आवश्यकता नहीं होती किन्तु जब कथा को रोमाचक, चमत्कारपूर्ण और विस्तृत बनाना होता है तो काल्पनिक, अलौकिक और सम्भावना पर आधारित विश्वासो और रूढियो को जबर्दस्ती घुसा कर कथानक को आगे बढा दिया जाता है। ये रूढियाँ सभी देशो की लोककथाओ मे बहुत कुछ एक जैसी होती हैं। आल्हखण्ड की काई भी गाथा ऐसी नहीं है जिसम एक दो या इससे भी अधिक कथानकरूढियो का सहारा नहीं लिया गया है। उसमे प्रयुक्त कुछ कथानक रूढियाँ ये हैं —

जादू की लडाई—आल्हखण्ड की अनेक गाथाओ मे तन्त्र मन्त्र के युद्धो का वर्णन किया गया है। अनेक राजा मन्त्र तन्त्र के जानकार हैं और जब युद्ध मे हारने लगते हैं तो जादू की शक्ति का सहारा लेते हैं। माडो युद्ध, इ दल हरण और ऊदल हरण मे यह बात विशेष रूप से मिलती है। आल्हखण्ड को अनेक स्त्रियाँ जैसे सोना, विजेसिन, लेखावती, श्यामा नक्तिन, केसर, हिरिया मालिन आदि जादूगरी क अद्भुत करामात करती हैं, किसी को आदमी से सुग्गा या भेडा बना देना या पूरा सेना को पत्थर बना दना उनके बाँये हाथ का खेल है। इन्दल मन्त्र शक्ति से उजडे बाग को हरा कर देता है।

२—चामत्कारिक वस्तुएँ—जादू की चामत्कारिक वस्तुओ अथवा अलौकिक शक्ति वाली स्वगाय वस्तुओ का उपयोग भा आल्हखण्ड म कथा को आगे बढाने क लिए बहुत अधिक हुआ है। नैनागढ क अमर ढोल मे यह शक्ति

थी कि उसके बजते ही मृतक जी उठते थे। उसी तरह पथरीगढ़ का अगिनिया घोड़ा, नरवरगढ़ का अजीता बान शनिश्चर सैल और काठ का घाटा, मन्त्र शक्ति से अभिहित थे। गुरु अमरनाथ ने इन्दल को उड़न खटाऊँ, ज्ञान का सोटा और जादू की वंशी दी थी जिनके सहारे उसने सिंहल में विजय प्राप्त की थी।

३—**पूर्व जन्म की स्मृति**—यह कथानकरूढ़ि अधिकतर जैन कथाओं में मिलती है। आल्हखण्ड में माड़ौगढ़ की राजकुमारी विजैसिन ऊदल पर मुग्ध हो गयी थी और उसने अपने महल का भेद बता कर आल्हा ऊदल को विजयी बनाया था पर मलखान ने उसे तलवार के घाट उतार दिया था। वही नरवर गढ़ में फुलवा के रूप में पैदा हुई था। ऊदल जब अरबी घोड़े खरीदने काबुल जा रहा था तो राह में नरवरगढ़ में रुक गया और हिरिया मालिन की सहायता से महल में गया था, वहाँ फुलवा ने पूर्व जन्म की स्मृति के कारण ऊदल को पहचाना और माड़ौगढ़ की बहुत सी बातों की याद भी दिलाई।

४—**रूप-गुण श्रवण जन्य प्रेम**—यह रूढ़ि अधिकांश गाथाओं में आती है। सोना आल्हा को और लेखावती इन्दल को उनके रूप गुण की प्रशंसा सुनकर प्रेम करने लगती हैं। उसी तरह ऊदल फुलवा की प्रशंसा सुनकर प्रेम विह्वल हो जाता है।

५—**पशु पक्षी से सन्देश**—सोना हीरामन सुग्गा से ऊदल के पास यह संदेश भेजती है कि मैं यदि विवाह करूँगी तो आल्हा से। वह सुग्गा महोबा जाकर ऊदल से सब बातें बताता और पत्र देता है।

६—**रूप परिवर्तन (चेंज आव शेप)**—यह रूढ़ि भी आल्हखण्ड में बहुत प्रयुक्त हुई है। मंत्र के बल से विजैसिन ऊदल को भेड़ा और चित्ररेखा की मालिन केसर इन्दल को सुग्गा बना लेती है। उसी तरह इन्दल के दूसरे व्याह के समय ज्वाला सिंह आल्हा की समूची सेना को पत्थर बना देता है।

७—**वेश बदल कर महल में प्रवेश**—आल्हा, ऊदल, मलखान आदि का योगी का वेश बनाकर शत्रु के नगर में प्रवेश करने की बात तो कई जगह आया है, पर ऊदल योगी वेश बनाकर विजैसिन से सतखण्डे पर मिलता भी है। वह नरवरगढ़ में मालिन का वेश बनाकर महल में जाकर फुलवा से मिला था। इन्दल भी सिंहल में यही काम करता है।

साहसिक कार्य करने के लिए बीड़ा उठाना—मध्यकालीन दरबारों में कोई साहसपूर्ण कार्य करने के लिए बीड़ा उठाने या ढाल बजाने की प्रथा थी

या नहा, इसका तो पता नहीं है, पर तत्कालीन प्रबन्धकाव्यो और कथाओ म यह बात रूढि के रूप मे अपनाई गयी है। हर कठिन काम के लिए आल्ह खण्ड म बीडा उठाया जाता है और प्राय ऊदल ही बीडा उठाता है। नरवर गढ की लडाई शीर्षक अ याय में अरबी घोडा खरीदने कौन जाय, इसके लिए बीडा और ढोल रखवाया जाता है। सोना के विवाह के लिए स्वयवर रच कर उसके पिता नेपाली ने भा ढाल रखवा दिया था और घोषणा की थी कि जो इस ढोल को पहले बजावेगा उसी से सोना का विवाह होगा।

इसी प्रकार और कथानकरूढियाँ भी आल्हखण्ड मे यत्र तत्र मिलती हैं जैसे, विशेष स्थान मे प्राण बसना (मलखान के तलवे मे), भविष्यसूचक स्वप्न (नैपाली राजा को देवी का स्वप्न), शकुन विचार, मुनि का वरदान आदि। सब पर विचार करने का अवकाश यहाँ नहीं है। कथानकरूढियो का अधिक होना यह सिद्ध करता है कि आल्हखण्ड मे अनैतिहासिक और कल्पित घटनाओ का समावेश अधिक हुआ है और उसका प्रधान लक्ष्य ऐतिहासिक इतिवृत्त कथन नही, बल्कि अलौकिक और रोमाचक कथावस्तु द्वारा मनोरजन करना और साथ ही वीरता की भावना का सचार करना है।

५—महत्वपूर्ण नायक तथा अन्य चरित्र

वर्तमान आल्हखण्ड के पात्रों मे सबसे महत्वपूर्ण भूमिका ऊदल की है पर काव्य का नाम आल्हखण्ड होने से यह अनुमान होता है कि इस काव्य का नायक पहले आल्हा रहा हागा और बाद मे ऊदल के चरित्र को प्रधानता दे दी गयी होगी। अन्यथा इस काव्य का नाम ऊदलखण्ड होना चाहिए। इस सबध मे पहले ही कहा जा चुका है कि बहुत सभावना इसी बात की है कि इस का य का नाम ओर रूप पहले बिलकुल भिन्न रहा होगा और उसका नायक भी सभवत परमाल रहा हागा, पर कालान्तर मे नायक की जगह आल्हा ने ले ली और उसके नाम पर जो एक खण्ड था उसी का नाम पूरे काव्य का बोधक हो गया। फिर लोकरुचि के परिवर्तन के साथ आल्हा का चरित्र सभवत अधिक रोमाचक न होने से, क्रमश आल्हा की जगह ऊदल इस काव्य का सबसे महत्वपूर्ण पात्र बन गया क्योकि वह वीरता और साहस के कार्य करने के साथ स्त्री, योगी आदि का वेश धारण करके 'रोमास' भी करता दिखाया गया है। आल्हा से यह काम नही कराया जा सकता था। इस तरह प्रारम्भ मे सभवत मूल आल्हखण्ड का नायक परमाल या परमर्दि था, बाद मे नायक पद आल्हा को मिला और उसी के नाम पर पूरा काव्य आल्हखण्ड

कहलाने लगा। परवर्ता काल मे जब शृगारिक प्रवृत्तियों का जोर बढा तो उस पद पर ऊदल को आसीन किया गया।

पर यदि ध्यान से देखा जाय तो वर्तमान आल्हखण्ड का कोई एक नायक नही है, बल्कि आल्हा, ऊदल, मलखान, इन्दल, ये चार व्यक्ति समिल्ति रूप से नायक हैं। जिस तरह महाभारत मे पाँच पाण्डव नायक हैं और अन्य पात्र या तो उनके सहायक हैं या प्रतिपक्षी, उसी तरह आल्हखण्ड में बनाफर वश के उपयुक्त चारो व्यक्ति नायक हैं और ब्रह्मा ढेबा, लाखन, सैयद ताला उनके सहायक हैं। महाभारत मे जिस तरह कृष्ण आदि अत्यन्त महत्वपूर्ण सहायक हैं और दुर्योधन, भीष्म, द्रोणाचार्य, कर्ण आदि उतने ही अधिक महत्वपूर्ण प्रतिनायक हैं, उसी तरह आल्हखण्ड म भी ब्रह्मा, लाखन, ढेबा आदि सहायक होते हुए भी महत्वपूर्ण पात्र हैं और उसी तरह पृथ्वीराज, धाँधू, चौंडा, पारथ आदि प्रतिनायक भी नायकों क समान ही महत्वपूर्ण भूमिका म उपस्थित किये गये हैं। आलकारिकों क अनुसार आधिकारिक कथा के कार्य का फल प्राप्त करने का अधिकारी नायक होता है और अन्य पात्र सहायक माने जाते हैं। इस दृष्टि से आल्हखण्ड म मेरुदण्ड के रूप म कथाशरीर को खडा करने वाले और पाठकों श्रोताओ की सहानुभूति और प्रशसा के अधिकारी बनाफर वश के उपयुक्त चारो वीर ही हैं, भले ही अन्तिम युद्ध म उनकी विजय नहीं होती। प्रासगिक कथाओ म भी प्रधान भूमिका आल्हा-ऊदल की ही है। अत पूरे काव्य मे शक्तिशाली बनाफर वश विशाल वट वृक्ष की तरह अन्य पात्रो पर, यहाँ तक कि अपने आश्रयदाता चन्देलवश और राठौर (गहडवार) वश के वीरों—परमाल, ब्रह्मा, जयचन्द और लाखन—के ऊपर छाया हुआ दिखाई पडता है। परमाल म इतनी हिम्मत नही कि ऊदल या मल्खान कोई काम करना चाहे तो वह उन्हें रोक ले। जयचन्द की सेना को पराजित करके आल्हा ऊदल कन्नौज म पहुँचते और उन्ह भयभीत करके बल्पूर्वक उनक सामन्त बन जात हैं। जयचन्द के अनेक अधीनस्थ राजाओ ने बारह वर्ष से कर नही दिया था। आल्हा ऊदल कन्नौज पहुँचने के बाद उन राजाओ को परास्त करत और जयचन्द का साम्राज्य सुदृढ बनाते हैं। यद्यपि ये बनाफर सामन्त और योद्धा सरदार ही हैं, स्वतन्त्र राजा नही, पर आल्हखण्ड मे वे सारे भारत की दिग्विजय करत हैं। यद्यपि सभी राजा बनाफरो को ओछी जाति का कहकर उनका अपमान करते हैं पर सभी उनसे पराजित होकर उनका लोहा मान लेत हैं। ये बनाफर वीर जिस राजा की पुत्री से चाहत हैं, बाहुबल से विवाह करते और अपनी मर्यादा ऊँची बनाते हैं। इस तरह बनाफर

वश के ये चारो वीर अपने पराक्रम, साहसपूर्ण कार्य, दुर्दम्य वीरता और अलौकिक शक्ति के कारण आल्हखण्ड के सबसे महत्वपूर्ण पात्र हैं। फलत वे ही इस काव्य के नायक हैं।

'महाकाव्य का स्वरूप' शीर्षक अध्याय मे कहा जा चुका है कि आलकारिकों द्वारा निर्दिष्ट यह लक्षण है कि महाकाव्य का नायक धीरोदात्त होना चाहिए, सभी प्रकार के महाकाव्यों पर नहीं लागू होता। धीरोदात्त से उनका तात्पर्य आदर्श चरित्र से है, पर अनेक महाकाव्यो मे नायक आदर्श चरित्र वाले नही हैं। अत हमने महाकाव्य के नायक का यह लक्षण निर्धारित किया है कि पूरे काव्य म उसकी भूमिका सर्वाधिक महत्वपूर्ण होनी चाहिए और सहृदयो की सहानुभूति या प्रशसा उसी को प्राप्त होनी चाहिए। आल्हखण्ड के नायक यद्यपि आदर्श चरित्र वाले नहीं हैं पर उनके जीवन वृत्त को इस ढग से उपस्थित किया गया है कि पाठकों श्रोताओ का हृदय वे आद्यन्त आकर्षित करते और उनकी सहानुभूति और प्रशसा प्राप्त करते हैं। आदर्श चरित्र वाले पात्र न होते हुए भी वे इतने शक्तिशाली, आत्माभिमानी, पराक्रमी और साहसी हैं कि उनका एकमात्र यही गुण उन्हे नायक बनाने के लिए पर्याप्त है। सामन्ती वीरयुग मे शारीरिक शक्ति और येनकेनप्रकारेण विजय प्राप्त करने वाला योद्धा ही समाज मे सम्मान और अधिकार पाता था। उसके लिए अन्य नैतिक मूल्यो का कोई महत्व न था। इस दृष्टि से आल्हखण्ड के नायक सामन्ती वीरयुग की उपर्युक्त प्रवृत्ति का पूर्ण प्रतिनिधित्व करते हैं। वे झूठ बोलते है, धोखा देते हैं, छिपकर महलो मे प्रवेश करते हैं, लूटपाट तथा अन्य बहुतेरे नृशस कार्य करते हैं, यहाँ तक कि औरतो को मारते पीटते भी हैं। पर वे युद्ध भूमि में कभी पीठ नहीं दिखाते, दुश्मन पर पहला वार नही करते, बडे बडे वारो को कुछ नही समझते और भयकर से भयकर परिस्थितियों का मर्दानगी से सामना करते हैं। वे साहस के मूर्तिमान स्वरूप हैं और अन्तिम युद्ध को छोड अन्य सभी युद्धो मे निरन्तर विजय प्राप्त करते हैं। इस तरह वीरता की भावना उनमे इस सीमा तक दिखलाई गयी है कि उनके दुर्गुण उसी की ओट म छिप जाते हैं। अत आदर्श चरित्र न होते हुए भी वे अत्यन्त महत्वपूर्ण पात्र हैं। सामन्ती वीरयुगीन समाज की दृष्टि से वे ही आदर्श चरित्र भी कहे जायेंगे क्योकि वे अत्यत शक्ति शाली, अलौकिक वीर और विजयी तो हैं ही, साथ ही राजभक्ति और देश भक्ति की भावना भी उनम पूर्णत भरी है। वे परमाल के लिए सब कुछ करते हैं पर उन्हीं की आज्ञा पर देश छोड कर कन्नौज चले जाते हैं। जयचन्द का नमक अदा करने के लिए वे भयकर युद्ध करते हैं। महोबा पर पृथ्वीराज के

आक्रमण की खबर सुन कर वे छिपे तौर पर योगी का वेश बनाकर महोवे की रक्षा के लिए पहुँचते और कीरतसागर पर युद्ध करते हैं। प्रतिशोध के तो वे प्रज्वलित अंगार हैं, बाप की मृत्यु का बदला लेने के लिए माडोगढ का विध्वंस करते हैं, पथरीगढ को जीतते हैं और अपने पक्ष के एक व्यक्ति का अपहरण या अनिष्ट होने पर कठिन से कठिन कार्य करने को तत्पर रहते हैं उनका समूचा जीवन असाधारण साहसिक कार्यो से भरा हुआ है। सामन्ती वीरयुग की प्रवृत्ति के अनुरूप उनकी वीरता वैयक्तिक है। वे द्वन्द्व युद्ध करने के लिए ललकारते, वैयक्तिक पराक्रम का प्रदर्शन करते और बडे गर्व के साथ अपने मुँह से अपनी प्रशंसा करते या डींग हाँकते हैं। इलियट, ओडेसी, महाभारत और रासो सभी वीरयुगीन विकसनशील काव्यों के वीरो मे आत्म प्रशंसा की प्रवृत्ति पाई जाती है। वीरयुग के सामंत और योद्धा अपने अस्त्र शस्त्र और हाथी घोडो को सबसे अधिक मूल्यवान मानते और उनके लिए युद्ध करने को भी तैयार रहते थे। इलियड और महाभारत में भी यह बात दिखाई पडती है। इस प्रकार सामंती वीरो की सभी विशेषतायें बनाफर वंश के वीरो मे पूर्णरूप मे व्यक्त हुई है।

आल्हखण्ड मे यद्यपि महाभारत की तरह विविध प्रकार के चरित्रो की भरमार नही दिखाई पडती, फिर भी उसमे रासो की तरह चरित्र वैविध्य का एकदम अभाव नहीं है। उसमे अधिकतर पात्र वीर और निर्भीक हैं और बहुत कुछ एक ही 'टाइप' के हैं अर्थात् वीरता के अतिरिक्त उनके जीवन के अन्य पक्षो पर प्रकाश नहीं डाला गया है। स्त्रियो से उनका सपर्क तो दिखाया गया है पर उनका जीवन विलासितापूर्ण कही नही दिखाया गया है। केवल ऊदल और इन्दल के जीवन मे स्त्रियो के प्रति लालसा और रसिकता मिलती है, फिर भी वे धर्म पथ से कहीं विचलित नहीं होते। इतना होते हुए भी आल्हखण्ड के वीरों के चरित्र कुछ भिन्नता लिए हुए अवश्य हैं। आल्हा और ब्रह्मा अन्य वीरो की अपेक्षा अधिक विवेकयुक्त, धीर और शान्त हैं। इसके विपरीत ऊदल और मल्खान उद्धत, चचल, क्रोधी और अदूरदर्शी हैं। लाखन सच्चे और विश्वासपात्र मित्र के रूप मे और सैयदताला अत्यत विश्वस्त अभिभावक और सच्चे स्वामिभक्त सैनिक के रूप मे चित्रित किये गये हैं। अन्य पात्रो मे परमाल और माहिल निराले व्यक्तित्व वाले हैं। परमाल ने सारे देश की दिग्विजय करने के बाद कीरतसागर मे अपनी तलवार पगार कर रख दी थी और अमरनाथ गुरु की आज्ञा से तलवार न उठाने का व्रत ले लिया था। पर वे कही मानसिक वीरता का भी प्रदर्शन नहीं करते, इसके विपरीत उनका चरित्र

कायरतापूर्ण अधिक है। अपनी रक्षा के लिए वे शत्रु की अपमानजनक शर्तें भी मानने को तैयार हो जाते है। युद्ध का भय उन्हे सदा सताता रहता है पर उनके सरदार उनकी एक नही सुनते। इस तरह वे एक कायर और निवार्य राजा के रूप मे दिखाइ पडते हैं। वस्तुत उनके शासन का कार्य उनकी पत्नी मल्हना द्वारा ही चलाया जाता है और उनके सामन्त सरदार जो चाहते ह, परमाल को विवश होकर वही करना पडता है। माहिल अपने ढग का अकेला पात्र है। वह धोखा देने, झूठ बोलने, चुगली करने और राजाओ को परस्पर लडाने के लिए देश भर मे प्रसिद्ध है। सभी इस बात को जानते हैं पर सभी उसके बहकावे मे आते रहते हैं। आल्हखण्ड के अनेक युद्धां का मूल कारण माहिल ही हे। हर राजा के यहाँ वह अपनी लिल्ली घोडी पर सवार होकर पहुँच जाता है पर युद्धभूमि मे कही नही दिखाई पडता। ग्रामीण समाज मे माहिल का चरित्र इतना सर्वविदित है कि सभी चुगलखोरो को माहिल कह कर पुकारा जाता हे। इससे आल्हखण्ड मे माहिल के चरित्र का निरालापन स्पष्ट हो जाता है।

अन्य छोटे मोटे पात्रो मे चरित्र की कोइ विशिष्टता नही दिखाई पडती। रूपना बारी और धनुआ तेली जैसे व्यक्ति भी उत्कृष्ट वीरता का प्रदर्शन करते दिखाये गये हैं पर उनके जीवन के अन्य किसी पक्ष का उद्घाटन नहीं किया गया है। आल्हखण्ड के स्त्री पात्रो म अवश्य चरित्र की विविधता और विशिष्टता दिखाइ पडती है। उनमे मल्हना जैसी रानी है जो बडी कुशलता से राज काज के कामो मे अपने पति का हाथ बटाती, उसे नेक सलाह देती और देश की रक्षा के लिए आल्हा ऊदल को कन्नौज से बुलवाती है। आल्हा ऊदल परमाल का उतना समान नही करते जितना मल्हना का। उसी तरह आल्हा की माँ दवल देवी एक आदर्श माता और वीर क्षत्राणी के रूप मे चित्रित की गयी है। वह अपने पुत्रो पर शासन करती है, वे उसकी बात टालने का साहस नही करते और न उसकी आज्ञा के बिना कोई काम ही करते हैं। उसमे स्वामिभक्ति और देशभक्ति की भावना इतनी अधिक है कि यद्यपि परमाल ने उसके पुत्रो को देशनिकाला दे दिया था पर जगनिक द्वारा जब उसे मल्हना का सदेश मिलता है कि पृथ्वीराज ने महोबा पर आक्रमण कर दिया है तो सब अपमान भूल कर अपने पुत्रो को महोबा चलने के लिए विवश करती है। वह वीर क्षत्राणी भी है और जब आल्हा ऊदल अपने बाप के खून का बदला लेने के लिए माडौगढ पर आक्रमण करत हैं तो वह भी उनके साथ युद्ध भूमि मे जाती और अपने पक्ष वालों को उचित सलाह देती रहती है। अन्य स्त्री पात्रों मे

सोना और बेला का चरित्र औरो की अपेक्षा अधिक उभरा हुआ है। वैसे तो आल्हखण्ड में सभी राजकुमारियाँ अपने बाप भाइ का विरोध और नावा पतिया या प्रेमियो की सहायता करती हुई दिखाई गया हैं परन्तु सोना और बेला तो अपने पतियो के कहने से अपने भाइयों से युद्ध करती और उनका सिर तक काट लेती है। बेला का पातिव्रत्य धम अत्यत उत्कृष्ट कोटि का है। वह ब्रह्मा के घायल होने पर महोवे जाता, अपनी सास का दर्शन करती, नगर मदिर आदि देखती, फिर दिल्ली लौटकर अपने भाई का सिर काटकर ब्रह्मा क पास ले जाती है और अन्त म उसीक साथ सती हो जाती है। आल्हखण्ड का स्त्रियो मे विलासिता, भय और शृगार प्रियता कही नहीं दिखाइ पडती। इसके विपरीत वे अत्यत बुद्धिमती, कार्यकुशल और साहसी दिखाई गइ हैं। उनम से अधिकतर तत्र मत्र जानने वाली भी हैं और युद्धभूमि मे या पुरुषो का हरण करने के लिए उस विद्या का प्रयोग करती हैं। सोना, लेखा, बिजेसिन आद इसी तरह की जादू जानने वाली राजकुमारियाँ हैं।

६—शैली

आल्हखण्ड की शैली सरल और अनलकृत है। उसका विकास नगर और दरबारी वातावरण के बीच नहीं हुआ है। अत विकसनशील लोकमहाकाव्य की शैली की सभी विशेषताए उसमे प्राप्त होती है। उस पर अलकृत महाकाव्यो की शैली का कोई प्रभाव नहीं दिखाई पडता है। शब्दचयन, अलकार विधान, उक्ति चमत्कार, कम शब्दों मे अधिक अर्थ भरने की प्रवृत्ति, प्रसगगर्भत्व तथा अन्य काव्यरूढियों और काव्य कौशल का दर्शन उसमे बिलकुल नहीं होता। तात्पर्य यह कि अलकृत महाकाव्यो अथवा दरबारी वातावरण मे विकसित साहित्यिक विकसनशील महाकाव्यों मे जो साज सज्जा, कृत्रिम सौन्दर्य और भाषा शैली का निखार होता है वह इसमे बिल्कुल नहीं है। उसकी भाषा लोक भाषा है जो स्थान भेद के अनुसार भिन्न भिन्न रूपातरो में भिन्न भिन्न है। उसम सयम और उपयुक्त शब्दो के चयन की ओर कोई ध्यान नही दिया गया है और न ऐसा होना सभव ही था क्योकि आल्हखण्ड का लिखित रूप नही था और जितने गाने वाले होत हैं सभी अपनी अपनी भाषा और शब्दावली का प्रयोग करते हैं। वे शिक्षित तथा सुसस्कृत कवि नहीं होते पर काव्य प्रतिभा उनम अवश्य होती है जिससे वे पक्तियाँ जोडते चले जाते हैं। इस तरह आल्ह खण्ड के पाठों मे एकरूपता नहीं है, न उसमे परम्परागत काव्य भाषा और सुसस्कृत शब्दावली का प्रयोग ही मिलता है। आजकल आल्हखण्ड के जितने

छपे रूप मिलते हैं सबके पाठ, भाषा और शब्दावली भिन्न भिन्न हैं। अत उसम काव्य का शास्त्र समत विशेषताओ को खोजना ही व्यर्थ है।

किन्तु इसका यह अर्थ नही कि आल्हखण्ड मे कोई शैली ही नहीं है। उसकी शैली लोकगाथाओ की शैली है जिनम सीधे और सरल ढग से अत्यत सफाइ के साथ कथा कहने की प्रवृत्ति होती है। लोकगाथाओ मे बहुधा रोमाचक शैली का प्रयोग होता है। उनम कथा का विषय चाहे प्रेम हो या वीरता, देवी देवताओं की उपासना हो या केवल मनोरजनार्थ आश्चर्य और कुतूहल की अभिव्यजना, हर दशा मे कथा की शैली सरल, सुबोध, अनलकृत और सादगी लिए हुए होती है। उनमे कथा कहना ही प्रधान उद्देश्य होता है जिससे आद्यन्त पाठको और श्रोताओ की वृत्ति कथा वस्तु मे रमी रहती है और 'आगे क्या हुआ' की जिज्ञासा अन्त तक बनी रहती है। लोककथा के इस तत्त्व के कारण लोकगाथाओ की तरह लोकमहाकाव्यो म भी कथात्मक और रोमाचक शैली ही प्रधान होती है। इसी तत्त्व के कारण आल्हखण्ड को कथात्मक और रोमाचक शैली का महाकाव्य कहा जा सकता है। उसम कथा का प्रारभ सीधे ढग से हुआ है, भूमिका नहीं बाधी गयी है न कथा का प्रारभ उस तरह बीच से हुआ है जैसा अलकृत प्रबन्धकाव्यो या आधुनिक कलात्मक कहानियो मे होता है। परमाल के विवाह और आल्हा ऊदल के पिता की कथा से आल्हखण्ड का प्रारभ होता है और फिर आल्हा ऊदल आदि नायको के जन्म और जीवन के विविध कार्यो का वर्णन किया गया है। बीच बीच म विविध प्रकार के वस्तु वर्णन और उपकथाओ का विधान नहीं किया गया है क्योकि उससे कथा उलझनपूर्ण और जटिल बन जाती। अरस्तू ने कहा है कि किसी महाकाव्य का कथानक सरल होता है और किसी का जटिल। इस सिद्धान्त के अनुसार आल्हखण्ड का कथानक सरल है, फलत उसकी शैली भी स्वाभाविक और सरल है। रोमाचक शैली से तात्पर्य यह है कि उसम काल्पनिक, अलौकिक, अतिमानवीय और सभावना पर आधारित घटनाओ का वर्णन अधिक होता है। आल्हखण्ड मे ये सभी बाते पायी जाती हैं। उसके पात्र निजन्धरी व्यक्तित्व वाले हैं। उनम अतिमानवीय और अलौकिक शक्तियो की प्रतिष्ठा की गयी है। उनके कार्य सभावना पर आधारित हैं और उनका वर्णन अतिशयोक्तिपूर्ण है। रोमाचक शैली के महाकाव्यो के ये ही प्रधान लक्षण है।

वस्तुत रोमाचक शैली कथा आख्यायिका और लोकगाथाओ मे ही प्रधान रूप से होती है और महाकाव्य में उसका प्रवेश उसी दिशा से होता है। परन्तु

किसी किसी रोमांचक कथात्मक काव्य में भी शैली इतनी उदात्त और गंभीर हो जाती है कि वह महाकाव्य की कोटि में स्वीकार कर लिया जाता है। आल्हखण्ड मूलतः कथात्मक काव्य है पर शैली की उदात्तता के कारण ही उसे लोकमहाकाव्य माना जाता है। उसकी शैली की उदात्तता का प्रधान कारण उसका ओजगुण है। आल्हखण्ड का ओजगुण उसमें विशेष प्रकार की भाषा और संयुक्तवर्ण प्रधान शब्दों की योजना से नहीं उत्पन्न हुआ है। वह बाह्य नहीं, आंतरिक है अर्थात् उसमें व्याप्त जिस वीर रस का प्रसार हुआ है उसी की उष्ण कान्ति आल्हखण्ड की ओजपूर्ण शैली के रूप में दिखाई पड़ती है। यही कारण है कि निष्प्राण और अशक्त व्यक्तियों और मुमूर्षु काया में भी आल्हखण्ड के गीत कुछ देर के लिए प्राण संचार कर देते हैं। अल्हैत जब गाने लगते हैं तो श्रोताओं की नसों में उष्ण रक्त का संचार होने लगता है और अंग अंग फड़कने लगता है। किसी काव्य के ओजपूर्ण होने का इससे बड़ा प्रमाण और क्या हो सकता है।

पुनरुक्ति की अधिकता—प्रायः सभी लोकगाथाओं और विकसनशील लोकमहाकाव्यों में कुछ विशेष स्थलों पर एक ही प्रकार की पदावली और कभी कभी एक ही वाक्यों को बार बार दुहराने की प्रवृत्ति मिलती है। यह प्रवृत्ति आल्हखण्ड में बहुत अधिक दिखलाई पड़ती है। राजदरबार, युद्ध, द्वन्द्व युद्ध के समय के संवाद, युद्ध में सैनिकों के प्रोत्साहन आदि का वर्णन सर्वत्र समान शब्दावली और वाक्यावली में किया गया है। प्रत्येक युद्ध-वर्णन में निम्नलिखित पंक्तियाँ अनिवार्य रूप से मिलती हैं —

अररर अररर गोला छूटे, गोलो मघा बूँद झर लाय।
सन सन सन सन गोली छूटे, सर सर तीर रहे सन्नाय।
गोला लागे जेहि हाथी के, मानो चोर सेंध दै जाय।
गोला लागै जौन ऊँट के रण मे गिरे चकत्ता खाय।
जेहि घोड़ा के गोला लागे सो असवार सहित गिरि जाय।
एक पहरि भर गोला बरसो, तोपै लाल बरन हुइ जाय।

× × ×

चलै जुनुब्बी और गुजराती ऊना चलै विलायत क्यार।
खट खट खट खट तेगा बाजे, बोले छपक छपक तलवार।
पैदल के सग पैदल भिरिगै और असवारन से असवार।
हौदा के सग हौदा भिरिगे, हाथिन अड़ो दाँत से दाँत।

तेगा चमकै वर्दवान के कटि कटि गिरे सुघरुआ ज्वान।
सात कोस लो चले सिरोही चारो ओर होय घमसान।

इसी तरह युद्ध मे एक योद्धा दूसरे योद्धा को द्वन्द्व युद्ध के लिए ललकारते हुए सर्वत्र निम्नलिखित पक्तियां को ही दुहराता है —

दस दस रुपिया के नौकर है, नाहक डरिहो मूड कटाय।
हम तुम खेलै समर भूमि मे, दुइ मे एक आकु रहि जाय।
यह मन भाइ गई राजा के तुरते हाथी दियो बढाय।

सेनापति और राजा अपने सैनिको को प्रोत्साहित करने के लिए ये पक्तियाँ अवश्य दुहराते हैं —

नौकर चाकर तुम नाहीं हो, तुम सब भैया लगो हमार।
भागि न जैयो कोइ मोहरा ते रखियो धर्म महोबे क्यार।

पुनरुक्ति की यह पद्धति आल्हखण्ड का दोष नही है बल्कि यह उसकी प्रधान शक्ति है। गाने वाले आगे सोचने के लिए इस प्रकार की पक्तियों को दुहरा कर कुछ अवकाश पाते हैं और श्रोताओ को ये पक्तिया वर्ण्य विषय की ओर अधिक तीव्रता से खीच कर ले जाती हैं। आल्हखण्ड यदि पढने के लिए, लिखित रूप मे होता तो यह अवश्य एक दोष माना जाता।

अलकारो का अभाव—वस्तु वर्णन मे बहुधा सीधे सीधे कहने की प्रणाली ही अपनायी गयी है पर कहीं कहीं उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, भ्रान्तिमान आदि अल्कारो का भी सहारा लिया गया है। यह अवश्य है कि इन अलकारों मे अप्रस्तुत अपने आसपास के वातावरण से ही लिये गये हैं। पशु पक्षियो से अप्रस्तुत अधिक लिये गये हैं। सभी विकसनशील महाकाव्यो—विशेषकर लाकमहाकाव्यों—मे वन्य पशुओं से उपमान ग्रहण करने की यह प्रवृत्ति पाई जातो है। जैसा पहले कहा जा चुका है, सामान्यतया आल्हखण्ड मे अलकृत वर्णनो का अभाव है। जहाँ बहुत ब्योरेवार वर्णन है वहाँ भी अलकारों का सहारा बहुत कम लिया गया है और जो थोडे से अलकार मिलते भा हैं उनमे शिष्ट साहित्य मे व्यवहृत परम्पराभुक्त उपमाना को छुआ तक नहीं गया है। इसके विपरीत सामान्य जनता नित्यप्रति की बातचीत म जिन उपमानो का सहारा लेती है, उन्हें ही आल्हखण्ड मे अधिक अपनाया गया है। उदाहरणार्थ—

जैसे पान तमोली कतरे, जैसे खेती लुने किसान।
तैसे महोबिया दल को कतरे क्षत्रिन काटि करे खरिहान।

जैसे बाज कुट्टो पर टूटे, जैसे सिह दबोचे गाय।
ऐसे ऊदनि हौदा टूटे, कमला बहुत गयो घबराय।
(गाँजर की ल ाई)

× × ×

गोला ओला के सम बरसे, गोली मघा बूद झर लाय।

× × ×

बिसे बिसे पर हाथी डारे-छोटे पर्वत की अनुहार।

× × ×

गज भर छाती पृथीराज की अरु नैनन मे बरै मसाल।
सजि के पृथीराज ठाढे भै, मानहु इद्र अखाडे जाय।
(सिरसा का समर)

जेहि हाथी का गोला लागे, मानो चोर सेध दे जाय।

प्रबन्ध रूढियो का अभाव—साहित्यिक प्रब धकाव्यो मे शैली से सबधित जो नियम रूढिरूप मे अपनाये जाते रहे हैं उनमे से एक को छोडकर अन्य किसी का पालन आल्हखण्ड मे नहीं किया गया है। उसमे प्रत्येक लडाइ के प्रारभ मे अल्हैत किसी न किसी देवी देवता की स्तुति करते हैं और इस पद्धति को सुमिरन या सुमिरिनी कहा जाता है। लोरिकायन, बिरहा आदि कुछ लोकगाथाओं और लोकगीतो मे भी सुमिरन की पद्धति प्रचलित है। अत यह कहना कठिन है कि सुमिरन की यह पद्धति आल्हखण्ड मे लोकगाथाओं—लोकगीतो से ली गयी है या यह साहित्यिक प्रबन्धकाव्यों का प्रभाव है। साहित्यिक प्रबन्धकाव्यो मे देवता स्तुति के बाद सज्जन दुर्जन चिन्ता, पूव कवि प्रशसा, आत्मलघुता वर्णन आदि की जो रूढि प्रचलित है वह आल्हखण्ड मे कहीं नहीं दिखाई पडती। इससे यही प्रतीत होता है कि सुमिरन की पद्धति साहित्यिक प्रबन्धकाव्यो से नही बल्कि लोकगाथाओ से ली गयी है। कवि की नाममुद्रा और अन्तिम प्रशस्ति, आश्रयदाता का प्रशसा आदि का भी उसम विधान नहीं हुआ है। इस प्रकार शैली की दृष्टि से आल्हखण्ड विशुद्ध लोक-काव्य सिद्ध होता है।

७—प्रभावान्विति और रसवत्ता

दूसरे शीषक अध्याय मे कहा जा चुका है कि अरस्तू ने महाकाव्य म प्रभावान्विति और भाव-व्यजना को ही अधिक महत्वपूण माना है और

श्रमसाय अलकृति को महाकाव्य के दोषो को छिपाने का साधन मात्र कहा है। इस दृष्टि से आल्हखण्ड मे अलकृति का अभाव दोष नही माना जायगा क्योकि महाकाव्य के प्रधान तत्त्व—प्रभावान्विति और रसवत्ता—उसमे पूर्ण मात्रा मे वर्तमान हैं। उसम भाव यजना की वह शैली नहा अपनायी गयी है जो अलकृत महाकाव्यो मे होती है। अलकृत महाकाव्यो मे भावो का सूक्ष्म विवेचन, अ ययन और उद्घाटन किया जाता ह अथात् उनम भावो का गहराइ और वस्तुओ का सूक्ष्म निरीक्षण होता है। इसके विपरीत आल्हखण्ड म अशिक्षित और ग्रामीण जनता के हृदय के सरल और सहज भावो को सीधे ढग से कि तु बहुत हा तीव्रता और शक्ति से समन्वित बना कर अभिव्यक्त किया गया है। उसम उत्साह और रति भावो की ही प्रमुख रूप से अभिव्यक्ति हुइ है ओर उनके विभिन्न अनुभावो और सचारी भावो के उद्घाटन या चित्रण का उसम कहीं भी सचेष्ट प्रयत्न नही हुआ है। किन्तु साथ ही उसम उन भावो को इतना सशक्त और तीव्र गति वाला बना दिया गया है कि सूक्ष्मता और गहराई का अभाव खटकता नहा है। आल्हखण्ड लोकमहाकाव्य है, अत उसम साम ती वीरयुगीन सामान्य जनता के प्रमुख भावो की सच्चाई के साथ अभिव्यक्ति हुई है। जिस तरह प्राचीन विकसनशील महाकाव्यो मे बर्बरयुगीन समाज के हृदय की सशक्त भावनाये तीव्र गति से अभिव्यक्त हुइ हैं, उसी तरह आल्हखण्ड म सामन्ती वीरयुग की ऐसी भावनाएँ जिनम सस्कार और साज सँवार का अभाव है, सहज और स्वाभाविक रूप मे अभिव्यक्त हुई हैं। उसमे वीरता की भावना विवेक ओर दूरदर्शिता का अकुश नहीं मानती, वह मँजी निखरी और सभ्यता के आवरण मे लिपटी भी नही है। प्रेम की भावना भी उसम इसी प्रकार सहज रूप म अभिव्यक्त हुइ है। इसी तरह आल्हखण्ड म क्रोध, उत्साह, घृणा, भय, प्रतिशोध, रति आदि भाव सरल कि तु सशक्त रूप मे अभिव्यक्त हुए हैं।

इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ है कि आल्हखण्ड मे अत्यधिक प्रभविष्णुता आ गयी है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि इस काव्य मे वीर भावनाओं को उत्तेजित करने की कितनी अधिक क्षमता है। उसकी इस क्षमता का प्रभाव आल्हा सुनने वालो पर सीधे रूप मे और तत्काल दिखाइ पडता है। आल्हखण्ड मे प्रत्येक गीत या लडाई (अध्याय) मे अलग अलग तो यह प्रभविष्णुता पूर्ण मात्रा मे दिखलाई ही पडती है, समूचे काव्य का प्रभाव भी इसी प्रकार तीव्र और उत्तेजक है। आल्हखण्ड का कथानक विशृंखलित और स्वतत्र खण्डो में विभक्त है, अत यह शका हो सकती है कि उसका

समग्र प्रभाव उतना तीव्र और समन्वित नहीं हो सकता। परन्तु वस्तुत ऐसी बात नही है। यदि लगातार कई दिनो तक बैठ कर किसी अल्हैत से पूरा आल्हखण्ड सुना जाय अथवा छपा हुआ आल्हखण्ड आद्यन्त पढा जाय तो समग्र प्रभाव उतना ही समन्वित रूप म और तीव्र गति से पडता ह जितना किसी शृखलित कथानक वाले अलकृत महाकाव्य का होता है। आल्हखण्ड की प्रभावान्विति उसके कथानक की शृखलित योजना या पात्रो के आदर्श चरित्र के कारण नहीं है बल्कि उसकी ओजपूर्ण और सशक्त शैली तथ तीव्र गति वाली सक्रियता के कारण ह। इस काव्य म प्रारभ से ही अत्यत प्रचण्ड वेग से शारीरिक शक्ति का जो प्रवाह फूटता ह वह अन्त तक तीव्रतर होता गया है, पर तु वह अन्त मे भयकर युद्ध म सर्वनाश की चट्टान से टकरा जाता है। श्रोताओ के हृदय को जो वीर समूचे काव्य में अपने आश्चर्यजनक कार्यो से प्रभावित करते ह, वे अन्तिम युद्ध म पराजित होते, मारे जाते या बबुगी बन मे चले जाते हे। फिर भी श्रोताओ के हृदय पर उनका अधिकार बना रहता है, उनके वीरतापूर्ण कार्यों और साहस की गहरी छाप उन पर अकित हो जाती है। इस तरह काव्य के नायक यद्यपि विजय का फल नही प्राप्त करते पर श्रोताओ और सहृदयो की सहानुभूति और प्रशसा अवश्य प्राप्त करते हैं। पूरे काव्य का यही समन्वित प्रभाव ह। यह प्रभाव इतनी तीव्रता और गहराई से पडता है कि आल्हखण्ड के वीरो के कार्यो और उनकी वीरता को भूलना असभव हो जाता है। जिस तरह महाभारत रामायण के नायक अपना अमिट प्रभाव पाठको पर छोड कर निजन्धरी व्यक्तित्व बन गये हैं उसी तरह आल्हखण्ड के नायको को निजन्धरी ऊँचाई तक ले जाने मे आल्हखण्ड की प्रभावान्विति का बहुत अधिक हाथ है। आद्यन्त व्याप्त सक्रियता, शक्ति, साहस और जीवतता के कारण आल्हखण्ड का प्रभाव अत्यत समन्वित, तीव्र और स्थायी रूप मे पडता है और यह उसके महाकाव्यत्व का एक महत्वपूर्ण प्रमाण है।

भारतीय आचार्यो के अनुसार काव्य की आत्मा रस है। प्रभावान्विति को वे नहीं स्वीकार करते। आलकारिको के अनुसार महाकाव्य म शृगार, वीर और शान्त मे से कोई एक रस प्रधान होना चाहिए और अन्य रस अग या सहायक रूप मे हो सकते हैं। रासो की तरह आल्हखण्ड भी एक शक्तिशाली वीरकाव्य है और उसी की तरह वह दुखान्त भी है। अत भारतीय अलकारशास्त्र के अनुसार फलागम की दृष्टि से उसे करुण रस का महाकाव्य माना जायगा क्योंकि उसका अन्त नायकों की पराजय, मृत्यु अथवा युद्ध त्याग से होता है। किन्तु

यह स्थूल दृष्टि ही कही जायगी क्योकि समूचे काव्य मे वीर रस आद्यत व्याप्त है, अत करुण रस मे पर्यवसान होने से ही वह करुण रस का नही हो सकता। वस्तुत आल्हखण्ड के प्रधान रस का निर्णय उसके समग्र प्रभाव की दृष्टि से ही होना चाहिए। उसका समग्र प्रभाव वीर रस का सचार करने वाला है। नायको की मृत्यु के बाद भी वह प्रभाव बना रहता है। अत आल्हखण्ड को वीर रस प्रधान महाकाव्य मानना ही समीचीन है यद्यपि भारतीय दृष्टि से यह रस परिपाक दु खान्त होने के कारण पूर्ण और निर्दोष नही है। इस प्रकार इस काव्य म प्रधान रस वीर रस है और शृगार, करुण, रौद्र भयानक और अद्भुत रसो की यथास्थान सहायक रूप मे योजना हुइ है। वीर रस के बाद इस काव्य मे दूसरा महत्वपूर्ण स्थान शृगार रस का है। किन्तु आल्हखण्ड का शृगार रस विलासितापूर्ण ओर दरबारी वातावरण के बीच लिखे जाने वाले अलकृत काव्यो जैसा रीतिबद्ध नहीं है। उसमे रति भाव क स्वस्थ ओर स्वाभाविक रूप का चित्रण हुआ है। वस्तुत आल्हखण्ड में रतिभाव या अन्य किसी भी भाव का कोई स्वतत्र मूल्य नही है, ये सभी भाव वीर रस के सहायक या निमित्त बन कर आये हैं। इन सभी स्थायी भावों के ऊपर उत्साह का भाव ऐसे विशाल वट वृक्ष की तरह छाया हुआ है जिसके नीचे अन्य पौधों को पनपने और बढने का अवसर नहीं प्राप्त होता। इस प्रकार समग्र प्रभाव की अन्विति, तीव्रता और स्थायित्व के साथ साथ आल्हखण्ड मे वीर रस की निष्पत्ति भी एकनिष्ठ और गभीर रूप मे हुइ है। इस दृष्टि से आल्हखण्ड अपने ढग का हिन्दी का अन्यतम महाकाव्य है।

जीवनी शक्ति और प्राणवत्ता

किसी सच्चे महाकाव्य की वास्तविक पहचान उसकी अक्षुण्ण और अनवरुद्ध जीवनी शक्ति तथा सशक्त प्राणवत्ता से ही हो सकती है। जीवनी शक्ति और प्राणवत्ता का अभिप्राय 'महाकाव्य का स्वरूप' शीषक अध्याय मे बताया जा चुका है। आल्हखण्ड मे वह अनवरुद्ध जीवनी शक्ति वर्तमान है, इसका सबसे बडा प्रमाण तो यही है कि गत पाँच छ सौ वर्षों से नाना सामाजिक राजनीतिक परिवर्तनों और ऐतिहासिक हलचलों बीच से वह अनवरुद्ध गति से अपना पथ बनाता और विकसित होता हुआ हमारे पास तक पहुँच सका है। विकसनशील महाकाव्यो मे विकास करने की जो क्षमता होती है वही उनकी जीवनी शक्ति है। यदि वे मृत या जडीभूत होते तो उनमे विकास होता ही नहीं या यदि कुछ विकास होता भी तो आगे चल कर रुक जाता। इस दृष्टि से आल्हखण्ड

अत्यत सजीव (आरगेनिक) महाकाव्य है क्योंकि उसके विकास का क्रम आज भी जारी है। पहले कहा जा चुका है कि आल्हखण्ड का मूल रूप बुन्देलखण्ड मे तेरहवीं चौदहवीं शताब्दी मे निमित हुआ होगा। तब से उसके रूप म अनेक परिवर्तन हो चुके हैं, उसकी कलेवर वृद्धि हो चुकी है और भौगालिक सीमाओ का अतिक्रमण कर के उसका प्रसार प्रचार समस्त उत्तरी भारत मे हो गया है। यही नही, अग्रेजी मे उसका अनुवाद भी प्रकाशित हो चुका है और इस तरह इस लोक महाकाव्य की ख्याति विदेशो तक पहुँच चुकी है। अन उसमे कुछ ऐसे महानता और जीवन्तता के तत्त्व हैं जिनके कारण उसको इतनी लोकप्रियता और ख्याति मिल सकी है। उसम वीर रस की इतनी गहरी और तीव्र व्यजना हुई है तथा उसक चरित्रो को वीरता और आत्मोत्सर्ग की उस ऊची भूमिका पर स्थापित किया गया है जिसके कारण देश और काल की सीमा पार कर समाज की अजस्र जावनी धारा से आल्हखण्ड की रस धारा मिल कर एक हो गयी है। इस प्रकार लोक जीवन, विशेष रूप से सामान्य जन जीवन, की असीम शक्ति ही आल्हखण्ड की अक्षुण्ण जीवनी शक्ति हो गयी है। आज तक वह अपढ ग्रामीण जनता के कण्ठ मे ही सुरक्षित रहा है।

अनवरुद्ध जीवनी शक्ति के अतिरिक्त आल्हखण्ड मे वह सशक्त प्राणवत्ता भी है जो किसा महाकाव्य को अमरता प्रदान करती है। अनेक लोककथाएँ और लोकगाथाएँ जीवनी शक्ति से युक्त तो होती हैं पर उनम वह प्राणवत्ता नहीं होता जो हजारों लाखो व्यक्तियों के जीवन को बल और प्रेरणा प्रदान कर सके। गीतिकाव्य और खण्डकाव्य के सबध म भी यही बात लागू होती है। आल्हखण्ड मे वह प्राणमयता, ओजस्विता और अदम्य वेग है जिससे श्रोताओं की सूखी नसो मे उष्ण रक्त का सचार होता है, उनमे साहस, उमग, उल्लास और सक्रियता उत्पन्न होती है। इस तरह आल्हखण्ड एक ओर तो समाज के अजस्र जीवन स्रोत से शक्ति ग्रहण करता है और दूसरी ओर समाज को उतनी ही शक्ति और प्रेरणा भी प्रदान करता है। वस्तुत वह समस्त समाज की रचना है, उसके मूल कवि का नाम उसके काव्य म ही लुप्त हो गया है, जिसके परिणामस्वरूप यह काव्य भारत के एक बहुत बडे भूभाग मे सामा य जनता का जातीय काव्य बन गया है। सामा य जनता मे रामायण महाभारत के बाद जातीय काव्य के रूप मे तुलसी के रामचरितमानस और जगनिक के आल्हखण्ड का ही स्थान है। जातीय काव्य से यहाँ तात्पय यह है कि समूचे समाज ने इसे अपनाया है, वह युगों से उससे शक्ति और प्रेरणा ग्रहण करता आ रहा है। सामाजिक जीवन की उद्दाम जिजीविषा, प्रचण्ड वेग और अखण्ड प्रवाह

आल्हखण्ड मे प्रचुर परिमाण म वर्तमान है और ये ही बाते इस लोकमहाकाव्य की सशक्त प्राणवत्ता को व्यक्त करती हैं। अत जब तक जीवन है और जीवन म वीरता और शक्ति पूजा का महत्त्व है तब तक आल्हखण्ड की ये पक्तियाँ भी निर तर गूँजती और मुर्दा मे प्राण फूँकती रहेगी —

सदा तोरैया ना बन फूलै, यारो सदा न सावन होय।
स्वर्ग मढैया सब काहू को यारो सदा न जीवे कोय।



सातवाँ अध्याय

रोमाचक महाकाव्य—पद्मावत

मलिक मुहम्मद जायसी कृत 'पद्मावत' हिन्दी का एकमात्र रोमाचक महाकाव्य है। 'महाकाव्य का स्वरूप' और 'भारतीय महाकाव्य का रूप विकास' शीर्षक अध्यायों मे रोमाचक महाकाव्य के लक्षणो और उसकी परम्परा के सम्बन्ध मे विस्तार के साथ विचार किया जा चुका है। उस परम्परा म पद्मावत का क्या स्थान है और उसमे रोमाचक महाकाव्य के लक्षण किस सामा तक मिलते हैं, यहाँ पहले इन्ही बातों के सबध म विचार किया जायगा।

पद्मावत का काव्यरूप

पद्मावत के काव्यरूप के सम्बन्ध में सामान्यतया तीन धारणाये प्रचलित हैं —(१) वह एक प्रेमाख्यानक प्रबन्धकाव्य है, (२) वह एक पद्यबद्ध कथा काव्य है, (३) वह एक महाकाव्य है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने पद्मावत को कही भी महाकाव्य या कथा आख्यायिका की सज्ञा नहीं दी है। उन्होंने इसे सर्वत्र एक प्रबधकाव्य के रूप मे ही स्वीकार किया है। इस सम्बन्ध में उन्होने लिखा है कि "पद्मावत हिन्दी के सर्वोत्तम प्रबन्धकाव्यों म है। ठेठ अवधी भाषा के माधुर्य और भावो की गभीरता की दृष्टि से यह काव्य निराला है।"[1] हो सकता है कि सस्कृत के आलकारिकों द्वारा निर्दिष्ट महाकाव्य के कुछ लक्षणो का अभाव देख कर ही शुक्ल जी ने पद्मावत को महाकाव्य कहना उचित न समझा हो। किन्तु उन्होने स्पष्ट रूप से इसे कथा आख्यायिका से भिन्न प्रकार का काव्य माना है। उन्होने जायसी ग्रथावली की भूमिका में पद्मावत की प्रबन्ध कल्पना पर विचार करते हुए लिखा है कि "प्रबन्धकाव्य मे मानव जीवन का पूर्ण दृश्य होता है। उसमे घटनाओं की सबद्ध शृखला और स्वाभाविक क्रम के ठीक ठीक निवाह के साथ साथ हृदय को स्पर्श करने वाले—उसे नाना भावो का रसात्मक अनुभव कराने वाले—प्रसगों का समावेश

१—जायसी ग्रथावली, (प्रथम सस्करण का वक्तव्य)—ले० आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, काशी, स० २००८, पचम सस्करण।

होना चाहिए। इतिवृत्त मात्र के निर्वाह से रसानुभव नही कराया जा सकता।"[१]

काव्य और कथा आख्यायिका मे अन्तर—शुक्ल जी के उपर्युक्त कथन का तात्पर्य यह है कि कथा आख्यायिका म इतिवृत्त या घटना प्रवाह ही प्रधान वस्तु होती है, उसमे वस्तु वर्णन और भाव व्यजना के विस्तार के लिए अधिक अवकाश नहीं रहता। इसके विपरीत प्रबन्धकाव्य मे विभावन व्यापार तथा अनुभावो और सचारियो की सम्यक् योजना द्वारा रस की निष्पत्ति होती है। कथा आख्यायिका की तरह मनोरजन द्वारा स्थूल कोटि का आनन्द प्रदान करना उसका उद्देश्य नहीं होता। किन्तु यहॉ एक बात ध्यान देने की है कि सस्कृत साहित्य के आचार्यो ने कथा आख्यायिका म भी रसवत्ता का होना आवश्यक माना है और उनके अनुसार काव्य और कथा आख्यायिका का भेद कुछ दूसरे ही प्रकार का है। नाना भावो का रसात्मक अनुभव कराने वाला ग्रथ तो 'कादम्बरी' भी है पर उसे कथा ही कहा गया है, प्रबन्धकाव्य या महाकाव्य नही। दण्डी और विश्वनाथ ने तो स्पष्ट कहा है कि कथा आख्यायिका गद्यबद्ध होती है, यद्यपि उसमे बीच मे छ द भी होते हैं[२]। रुद्रट तथा हेमच द्र के अनुसार सस्कृतेतर भाषाओ मे पद्यबद्ध कथा आख्यायिकाएँ भी होती हैं[३]। भामह ने कथा आख्यायिका का यह लक्षण भी बताया था कि उसमे कन्या हरण, सग्राम, विप्रलम्भ शृगार और नायक के अभ्युदय से समन्वित कथा होती है। दण्डी ने इसका विरोध करते हुए लिखा है कि ये बाते तो सर्गबन्ध काव्यों अथात् प्रब धका यो मे भी पायी जाती हैं, अत इनका होना आख्यायिका का कोई विशिष्ट लक्षण नहीं है[४]। कथा आख्यायिका के सबध मे भामह की बाता

१—जायसी ग्रथावली, प्रथमसस्करण का वक्तव्य, पृ० ६८।

२—(क) अपाद पदसन्तानो गद्यमाख्यायिकाकथा—काव्यादर्श, १–२३।

(ख) कथाया सरस वस्तु गद्यैरेव विनिर्मित।—विश्वनाथ—'साहित्य दर्पण', १–२९।

३—(क) इति सस्कृतेन कुर्यात् कथामगद्येन चान्येन।

—रुद्रट-काव्यालकार, १६–२३।

(ख) धीरशान्तनायकागद्येन पद्येन वा सर्वभाषा कथा।—हेमचन्द्र—काव्यानुशासन,—अध्याय ८।

४—कन्याहरणसग्रामविप्रलम्भोदयादय।

सर्गबन्धसमा एव नैत वैशेषिका गुणा॥—दण्डी काव्यादर्श, १ २९।

का खण्डन करते हुए भी दण्डी ने स्वय कथादि के विशिष्ट लक्षण नहीं बताये हैं। रुद्रट ने महाकाव्य का लक्षण बताने के बाद कथा आख्यायिका की परिभाषा देते हुए कहा है कि महाकथा म प्रारम्भ मे श्लोकों म अभीष्ट देवता तथा गुरु की स्तुति करने के बाद कवि को सक्षेप म अपने कुल का परिचय और कथा लिखने का उद्देश्य बताना चाहिए। फिर लघु अक्षर वाले अनुप्रास युक्त गद्य म कथा शरीर की रचना होनी चाहिये जिसम नगर वणन प्रभृति बाते होनी चाहिए और आदि म एक कथान्तर होना चाहिए जिसके द्वारा प्रधान कथा का प्रवेश कराया जाय। कथा सकल शृगार और कन्याप्राप्ति के फल से युक्त होनी चाहिए[1]। किन्तु रुद्रट की यह परिभाषा उनकी महाकाव्य की परिभाषा से मूल बातों म कोई अधिक भिन्नता नही रखती। इसीलिए 'महाकाव्य का स्वरूप' शीर्षक अध्याय मे हम कह चुके हैं कि रुद्रट क सामने महाकाव्य के आदर्श स्वरूप जो ग्रथ थे उनमे कथा आख्यायिका के लक्षण भी मिलत रहे होगे। आचार्यो द्वारा निर्दिष्ट कथा आख्यायिका क लक्षणो क उपर्युक्त विवेचन का निष्कर्ष यह है —

१—कथा आख्यायिका सस्कृत मे गद्यबद्ध होती है पर प्राकृतापभ्रश आदि म पद्यबद्ध भी होती है।

२—कथा आख्यायिका मे कन्याहरण, सग्राम, विप्रलम्भ, नायक का उदय आदि से समन्वित सरस और रोमाचक (अद्भुत) कथानक होता है और उसम प्रारभ मे महाकाव्य से मिलती जुलती रूढिया—मगलाचरण, गुरु वन्दना, कवि परिचय तथा कथान्तर आदि होता है।

उपर्युक्त लक्षणो की दृष्टि से देखने पर पद्मावत मे कथा आख्यायिका के कुछ लक्षण तो मिलते हैं किन्तु अनेक लक्षण नहा भी मिलत। कहा जा सकता

१—श्लोकैर्महाकथायामिष्टान् देवान् गुरून्नमस्कृत्य।
सक्षेपेण निज कुलमभिदध्यात्स्व च कर्तृतया॥
सानुप्रासेन ततो लघ्वक्षरेण गद्येन
रचयेत कथाशरीर पुरेव पुरवर्णकप्रभृतीन्।
आदौ कथान्तर वा तस्या न्यस्येत प्रपचित सम्यक्।
लघु तावत् सन्धान प्रक्रान्त कथावताराय।
कन्यालाभ फला वा सम्यग् विन्यस्य सकल शृगारम्।
इति सस्कृतेन कुर्यात् कथामगद्येन चान्येन॥
—रुद्रट—काव्यालंकार, १६—२० से २३ तक।

है कि उसमे भी आदि मे निर्गुण ब्रह्म तथा इष्टदेव पैगम्बर की स्तुति औ अपने गुरु, मित्र बादशाह तथा स्थान आदि का वणन है और उसका कथान सकल शृगार और कन्या फल से समन्वित तथा सग्राम, विप्रलम्भ आदि से युक्त होने से सरस और रोमाचक है, अत वह सस्कृत के ग्रथ बृहत्कथामजरी, कथा सरित्सागर तथा प्राकृत की लीलावईकहा की तरह का पद्यबद्ध कथा ग्रथ है किन्तु उसम आदि मे वैसा कथान्तर नहीं है जैसा कथासरित्सागर आदि कथा ग्रथो म प्रारम्भ म प्रधान कथा को प्रस्तावित करने के लिए मिलता है। उसका प्रारभ पौराणिक काव्यो की तरह वक्ता श्रोता के प्रश्नोत्तर के रूप म भी नहीं हुआ है और न भृग भृगा, शुक शुकी या कवि और कवि पत्नी की बातचीत के रूप म हा पूरी कथा कही गया है। पद्मावत का 'कार्य' या उद्देश्य भी कन्या फल प्राप्ति नही है और न रोमाचक कथाओ जेसा वह सुखान्त ही है। कन्या-फल प्राप्त के बाद उसम भीषण सघष और नायक का नाश दिखाकर कथानक को पूर्ण दुखान्त बना दिया गया है। पद्मावत का उद्देश्य कथा आख्यायिका की तरह कथा सबधी चमत्कार उत्पन्न करके पाठको का मनोरजन करना नहीं है। इसी से उसका कथानक वैसा जटिल और घुमावदार नही है जैसा सस्कृत-प्राकृत आदि भाषाओं की कथा आख्यायिकाओ मे होता है।

वस्तुत पुराने आचार्यो ने काव्य और कथा आख्यायिका का जो अन्तर बताया है वह न तो बहुत स्पष्ट और स्थिर हे और न उनके बताये नियमो को कवियो ने सदैव स्वीकार ही किया है। तीसरे अध्याय म कहा जा चुका है कि अपभ्रश तक पहुँचते पहुँचते महाकाव्य और कथा आख्यायिका का भेद बहुत कुछ भुला सा दिया गया और चरितकाव्य के रूप मे सस्कृत प्राकृत अपभ्रश में उस काल की जो काव्य कृतिया मिलती है उनमे महाकाव्य और कथा आख्यायिका दोनों के लक्षणो का समन्वय हो गया है। सभवत नवीं शताब्दी के पूर्व से ही इस प्रकार के काव्य लिखे जाने लगे थे और ऐसे ही महाकाव्यों को सामने रख कर रुद्रट ने महाकाव्य की ऐसी व्यापक परिभाषा बनाइ थी जिसमें शास्त्रीय महाकाव्यों के साथ साथ विकसनशील महाकाव्य तथा पौराणिक, ऐतिहासिक ओर रोमाचक शैली के महाकाव्य भी समेट लिए जा सकते हैं। दूसरे अध्याय में हमने कथा आख्यायिका (रोमान्स) और महाकाव्य (एपिक) का जो भेद बताया है वह आलकारिको द्वारा बताये अन्तर से भिन्न प्रकार का है। आलकारिकों ने केवल कुछ ऊपरी बातो मे ही दोनों काव्यरूपों मे भिन्नता देखी है। किन्तु वस्तुत दोनो की अन्तरात्मा मे भेद हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने काव्य और कथा का जो भेद बताया है उसका सबध दोनों

काव्यरूपों की अन्तरात्मा से अवश्य है किन्तु शुक्ल जी ने कथा आख्यायिका में केवल इतिवृत्तात्मक कथाओं—हितोपदेश, कथासरित्सागर सिंहासनबत्तीसी, वेताल पच्चीसी आदि—को ही माना है और इसीलिए लिखा है कि ये "कहानियाँ इतिवृत्त रूप मे ही हैं, इसीलिए उन्हे कोई काव्य नही कहता। ऐसी कहानि- से भी श्रोता या पाठक का मनोरंजन होता है पर वह काव्य के मनोरंजन से भिन्न होता है।"[1] शुक्ल जी ने कथा आख्यायिका का विश्लेषण करते हुए कादंबरी, हर्षचरित, वासवदत्ता, दशकुमारचरित आदि कथा आख्यायिकाओं का ध्यान मे नहीं रखा। ये कथा आख्यायिका होते हुए भी पूर्ण रसात्मक काव्य हैं। अत पद्मावत का काव्यरूप निश्चित करने के लिए हम उसकी परीक्षा दूसरे अध्याय मे स्थिर किये गये अपने मानदण्ड से करेंगे।

पद्मावत–रोमांचक महाकाव्य

(१) भारत मे तथा यूरोप म भी मध्यकाल के प्रारंभ से ही महाकाव्य के पुराने शास्त्रीय नियमों की उपेक्षा करके उसमे कथा आख्यायिका के रोमांचक तत्वों का समावेश किया जाने लगा। रोमांचक कथा आख्यायिका मे रसवत्ता हो या केवल मनोरंजन की शक्ति, हर दशा म उसमे भावुकता और कल्पना का रंग बहुत गहरा होता है। इसके विपरीत शास्त्रीय महाकाव्यों में बौद्धिक ऊँचाई, दार्शनिक गंभीरता और पांडित्य प्रदर्शन की प्रवृत्ति अधिक होती है। रोमांचक महाकाव्यो म इन दोनो प्रवृत्तियों का समन्वय होता है। पद्मावत में भावुकता और काल्पनिकता से पूर्ण रोमांचकता अवश्य है पर उसका अतिरेक नही हुआ है क्योंकि रोमांचक प्रवृत्ति से कहीं अधिक गहरा रंग उसमे आध्यात्मिकता और रहस्यवाद का है। अत पद्मावत को कथा आख्यायिका नहीं माना जा सकता।

(२) कथा आख्यायिका मे रोमांचक तत्वों और साहसिक कार्यों जैसे युद्ध बलपूर्वक विवाह, कन्याहरण, भयंकर यात्रा, मार्ग की दुरूह कठिनाइयाँ, देव, असुर, गन्धर्व, यक्ष आदि के अलौकिक कार्य आदि का बहुत अधिक विस्तार होता है। शास्त्रीय महाकाव्यों मे इन तत्वों का प्राय अभाव होता है। पौराणिक और ऐतिहासिक शैली के महाकाव्यों म भी ये तत्त्व बहुत अधिक नहीं होते। रोमांचक शैली के महाकाव्यों मे इनकी मात्रा अवश्य कुछ अधिक होती है परन्तु उनमे आदर्श चरित्रों की योजना, बौद्धिक ऊँचाई तथा मर्मस्पर्शी

१—जायसी ग्रंथावली, (पंचम संस्करण), ले० आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, वक्तव्य, पृ० ७० ।

और रसात्मक वस्तु वर्णन और भाव व्यजना के कारण रोमाचक तत्त्वों का सयमन होता चलता है। पदमावत मे रोमाचक तत्त्व और साहसिक कार्य अवश्य हैं परन्तु उनकी मात्रा इतनी अधिक नहीं है कि उसे कथा आख्यायिका कहा जा सके। उसके पूर्वार्द्ध मे साहसिक कार्यो की अवश्य अधिकता है और इसका कारण सभवत यही है कि उसका मूल उत्स एक अत्यत प्रचलित लोक कथा 'रानी पद्मिना और हीरामन सुग्गा की कहानी' है। लोककथाओ मे ऐसे तत्वो की अधिकता होती ही है। किन्तु उसके उत्तरार्द्ध मे रोमाचक तत्व नहीं हैं। पूरे काव्य मे रसात्मक वर्णनो और आध्यात्मिक सकेतो की भी अधिकता है जिससे रोमाचक तत्त्व अपने आप दब गये हैं। इस दृष्टि से भी पद्मावत कथा आख्यायिका की कोटि मे नही, बल्कि रोमाचक महाकाव्य की कोटि मे आता है।

(३) कथा आख्यायिका का कथानक अधिक प्रवाह युक्त, इतिवृत्तात्मक और आकर्षक होता है किन्तु साथ ही वह यथार्थ जीवन पर आधारित नही होता। इसमे कल्पना प्रसूत असभव कार्यो और अलौकिक, अतिमानवीय तथा अतिप्राकृत तत्त्वो और पात्रो की अधिकता होती है। परिणामस्वरूप उसमे काल्पनिक कथा का चमत्कार और असभव या अविश्वसनीय घटनाओं की भरमार होती है। इसके विपरीत महाकाव्य का कथानक बहुत अशों म यथार्थ जीवन पर आधारित होता है। उसमे यथार्थ जीवन व्यापारो और परिस्थितिया के बीच पात्रो को रख कर उनके चरित्र चित्रण और मानसिक क्रिया प्रतिक्रिया का प्रदर्शन करने की प्रवृत्ति प्रमुख होती है। घटनाओ के तीव्र प्रवाह म पाठका श्रोताओ को बहा ले जाना उनका लक्ष्य नहीं होता। इस तरह महा काव्य सोद्देश्य होता है। वह कुछ महत्वपूर्ण सदेश देता है तथा पाठको के जीवन को प्रभावित करता, उसका उन्नयन या पथप्रदर्शन करता है। इसके विपरीत कथा आख्यायिका का उद्देश्य प्राय विशुद्ध मनोरजन और कभी कभी नीति या धर्म का उपदेश देना या उदाहरण उपस्थित करना होता है। नीति कथाएँ और धर्मकथाएँ इतिवृत्तात्मक और उपदेशात्मक होती है। उनमे यथार्थ जीवन की परिस्थितियो और मनोदशाओ के चित्रण द्वारा उच्च रस स्थिति तक पहुँचाने की शक्ति नही होती। इस दृष्टि से विचार करने पर भी पद्मावत को कथा आख्यायिका, नीतिकथा और धर्मकथा की कोटि मे नहीं बल्कि महाकाव्य की कोटि मे ही रखा जा सकता है। इसकी कथा का नायक ऐति हासिक पुरुष है और उसका अलाउद्दीन से युद्ध तथा उसकी रानियो का जौहर करना भी ऐतिहासिक सत्य है। पद्मावती के पूर्वार्द्ध की घटनाएँ

अवश्य काल्पनिक हैं पर उसमे विविध मनोदशाओ का वर्णन यथार्थ लोक जीवन के आधार पर हुआ है। योगी होकर घर छोड देने और पत्नी तथा माता के करुण क्रन्दन की उपेक्षा कर वन में निकल जाने की घटना इस देश के लिए नई या असम्भव नहीं है। भर्तृहरि और गोपाचन्द की कथाएँ इसका प्रमाण हैं। पद्मावत के उत्तरार्द्ध की घटनाएँ तो पूर्णतया यथाथ जीवन—राज दरबार, मन्त्रणा, युद्ध, सन्धि, छल कपट आदि—स सम्बन्धित हैं और उनका वर्णन भी विस्तार के साथ और ममस्पशी ढङ्ग से हुआ है, कथा आख्यायिका की तरह केवल उनका उल्लेख या सकेत नही किया गया है।

(४) प्रबन्धकाव्य के लिए कथानक म कार्यान्विति का होना आवश्यक माना गया है अथात् उसमे नाटक की सन्धियो की योजना होनी चाहिए जिससे घटनाओ का विकास क्रम और कथा की शृंखला बनी रहे। इसके विपरीत कथा आख्यायिका आदि मे कथानक की ऐसी शृंखलित योजना नही मिलती। उनमे अलकृत काव्यो की तरह कसावट और थोडे मे अधिक कहने की प्रवृत्ति नहीं होती। महाकाव्य और कथा आख्यायिका को अलग करने वाली यही सबसे महात्वपूर्ण कसौटी है। कथा आख्यायिका का कथानक स्फीतियुक्त, उलझा हुआ और जटिल होता है। प्राय उसका प्रारम्भ ही कथान्तर से होता है और फिर उसमे कथा के भीतर कथा और उस अन्तर्गत कथा मे भी गर्भ कथाएँ इस तरह भरी रहती हैं जैसे प्याज मे छिलके पर छिलके होते हैं। कुछ कथाएँ ऐसी भी होती हैं जिनमे अनेक कथाएँ किसी एक सूत्र से परस्पर बाँध दी गयी रहती हैं यद्यपि उन सबका अस्तित्व अलग अलग ही रहता है। ऐसी कथाओ म वह नाटकीय अन्विति नही हो सकती जो अलकृत प्रबन्धकाव्यो म होती है। पद्मावत मे यह कार्यान्विति, जिसे प० रामचन्द्र शुक्ल ने प्रबन्ध कल्पना कहा है, पूर्ण रूप मे दिखाई पडती है। नाटकीय सन्धियो का योजना के लिए ही प्रबन्धकाव्य सर्गो मे विभक्त होते हैं। पद्मावत सर्गो मे विभक्त नहीं है, फिर भी उसके कथानक मे ऐसे स्थल हैं जहाँ सन्धियाँ स्पष्ट दिखलाई पडती हैं। इस सम्बन्ध मे पद्मावत के कथानक की विवेचना करते समय विशेष रूप से विचार किया जायगा।

(५) नायक तथा अन्य चरित्रों के स्वरूप की दृष्टि से भी काव्य और कथा आख्यायिका मे स्पष्ट अन्तर दिखाई पडता है। भामह ने कथा आख्यायिका का यह लक्षण बताया है कि उसमे कन्याहरण, सग्राम, विप्रलम्भ आदि का वर्णन होता है। इसका आशय यही है कि कथाओ में विवाह और उसके लिए युद्ध तथा प्रेम के सयोग और वियोग पक्ष के वणन पर अधिक ध्यान दिया गया

और रसात्मक वस्तु वर्णन और भाव व्यजना के कारण रोमाचक तत्वों का सयमन होता चलता है। पदमावत मे रोमाचक तत्व और साहसिक कार्य अवश्य हैं परन्तु उनकी मात्रा इतनी अधिक नही है कि उसे कथा आख्यायिका कहा जा सके। उसके पूर्वार्द्ध मे साहसिक कार्यो की अवश्य अधिकता है और इसका कारण सम्भवत यही है कि उसका मूल उत्स एक अत्यत प्रचलित लोक कथा 'रानी पद्मिनी और हीरामन सुग्गा की कहानी' है। लोककथाओ मे ऐसे तत्वों की अधिकता होती ही है। किन्तु उसके उत्तरार्द्ध मे रोमाचक तत्व नही हैं। पूरे काव्य मे रसात्मक वर्णनो और आध्यात्मिक सकेतो की भी अधिकता है जिससे रोमाचक तत्व अपने आप दब गये हैं। इस दृष्टि से भी पद्मावत कथा आख्यायिका की कोटि मे नही, बल्कि रोमाचक महाकाव्य की कोटि मे आता है।

(३) कथा आख्यायिका का कथानक अधिक प्रवाह युक्त, इतिवृत्तात्मक और आकर्षक होता है किन्तु साथ ही वह यथार्थ जीवन पर आधारित नही होता। इसमे कल्पना प्रसूत असभव कार्यो और अलौकिक, अतिमानवीय तथा अतिप्राकृत तत्वो और पात्रो की अधिकता होती है। परिणामस्वरूप उसमे काल्पनिक कथा का चमत्कार और असभव या अविश्वसनीय घटनाओ की भरमार होती है। इसके विपरीत महाकाव्य का कथानक बहुत अशों मे यथार्थ जीवन पर आधारित होता है। उसमे यथार्थ जीवन व्यापारो और परिस्थितिया के बीच पात्रो को रख कर उनके चरित्र चित्रण और मानसिक क्रिया प्रतिक्रिया का प्रदर्शन करने की प्रवृत्ति प्रमुख होती है। घटनाओ के तीव्र प्रवाह में पाठका श्रोताओ को बहा ले जाना उनका लक्ष्य नहीं होता। इस तरह महा काव्य सोद्देश्य होता है। वह कुछ महत्वपूर्ण सदेश देता है तथा पाठको के जीवन को प्रभावित करता, उसका उन्नयन या पथप्रदर्शन करता है। इसके विपरीत कथा आख्यायिका का उद्देश्य प्राय विशुद्ध मनोरजन और कभी कभी नीति या धर्म का उपदेश देना या उदाहरण उपस्थित करना होता है। नीति कथाएँ और धर्मकथाएँ इतिवृत्तात्मक और उपदेशात्मक होती हैं। उनमे यथार्थ जीवन की परिस्थितियो और मनोदशाओ के चित्रण द्वारा उच्च रस स्थिति तक पहुँचाने की शक्ति नही होती। इस दृष्टि से विचार करने पर भी पद्मावत को कथा आख्यायिका, नीतिकथा और धर्मकथा की कोटि मे नहीं बल्कि महाकाव्य की कोटि मे ही रखा जा सकता है। इसकी कथा का नायक ऐति हासिक पुरुष है और उसका अलाउद्दीन से युद्ध तथा उसकी रानियों का जौहर करना भी ऐतिहासिक सत्य है। पद्मावती के पूर्वार्द्ध की घटनाएँ

अवश्य काल्पनिक हैं पर उसमे विविध मनोदशाओ का वर्णन यथार्थ लोक जीवन के आधार पर हुआ है। योगी होकर घर छोड देने और पत्नी तथा माता के करुण क्रन्दन की उपेक्षा कर वन में निकल जाने की घटना इस देश के लिए नई या असम्भव नहीं है। भर्तृहरि और गोपीचन्द की कथाएँ इसका प्रमाण हैं। पद्मावत के उत्तरार्द्ध की घटनाएँ तो पूर्णतया यथार्थ जीवन—राज दरबार, मन्त्रणा, युद्ध, सन्धि, छल कपट आदि—से सम्बन्धित हैं और उनका वर्णन भी विस्तार के साथ और मर्मस्पर्शी ढङ्ग से हुआ है, कथा आख्यायिका की तरह केवल उनका उल्लेख या सकेत नही किया गया है।

(४) प्रबन्धकाव्य के लिए कथानक म कार्यान्विति का होना आवश्यक माना गया है अर्थात् उसमे नाटक की सन्धियों की योजना होनी चाहिए जिससे घटनाओ का विकास क्रम और कथा की शृंखला बनी रहे। इसके विपरीत कथा आख्या-यिका आदि मे कथानक की ऐसी शृंखलित योजना नहीं मिलती। उनमे अलकृत काव्यो की तरह कसावट और थोडे मे अधिक कहने की प्रवृत्ति नहीं होती। महाकाव्य और कथा आख्यायिका को अलग करने वाली यही सबसे महात्वपूर्ण कसौटी है। कथा आख्यायिका का कथानक स्फातियुक्त, उलझा हुआ और जटिल होता है। प्राय उसका प्रारम्भ ही कथान्तर से होता है और फिर उसम कथा के भीतर कथा और उस अन्तर्गत कथा मे भी गर्भ कथाएँ इस तरह भरी रहती हैं जैसे प्याज मे छिलके पर छिलके होते हैं। कुछ कथाएँ ऐसी भी होती हैं जिनमे अनेक कथाएँ किसी एक सूत्र से परस्पर बाँध दी गयी रहती हैं यद्यपि उन सबका अस्तित्व अलग अलग ही रहता है। ऐसी कथाओ मे वह नाटकीय अन्विति नहीं हो सकती जो अलकृत प्रबन्धकाव्यो म होती है। पद्मावत मे यह कार्यान्विति, जिसे प० रामचन्द्र शुक्ल ने प्रबन्ध कल्पना कहा है, पूर्ण रूप में दिखाई पडती है। नाटकीय सन्धियो की योजना के लिए ही प्रबन्धकाव्य सर्गो मे विभक्त होते हैं। पद्मावत सर्गो मे विभक्त नही है, फिर भी उसके कथानक मे ऐसे स्थल हैं जहाँ सन्धियाँ स्पष्ट दिखलाई पडती हैं। इस सम्बन्ध मे पद्मावत के कथानक की विवेचना करते समय विशेष रूप से विचार किया जायगा।

(५) नायक तथा अन्य चरित्रों के स्वरूप की दृष्टि से भी काव्य और कथा आख्यायिका मे स्पष्ट अन्तर दिखाई पडता है। भामह ने कथा आख्यायिका का यह लक्षण बताया है कि उसमे कन्याहरण, सग्राम, विप्रलम्भ आदि का वर्णन होता है। इसका आशय यही है कि कथाओ में विवाह और उसके लिए युद्ध तथा प्रेम के सयोग और वियोग पक्ष के वर्णन पर अधिक ध्यान दिया गया

रहता है। परिणामस्वरूप उसके नायक प्राय धीरललित होते है और उनका जीवन यथार्थ पर आधारित नहीं होता। वे बहुधा निजन्धरी व्यक्तित्व होते हैं या कथाकार द्वारा निजन्धरी ऊँचाई तक पहुँचा दिये जाते हैं। भारतीय कथाओ मे विक्रमादित्य, दुष्यन्त, नल, उदयन, सातवाहन आदि ऐसे ही चरित्र हैं। उनके जीवन मे ऐकान्तिकता अधिक है और वैविध्यपूर्ण व्यापारो तथा प्रेमेतर मनोदशाओ से उनका अधिक लगाव नही दिखाई पडता। युद्ध, साहस और वीरता के कार्यो का वर्णन कथा आख्यायिका मे भी होता है पर वैसा नहीं जैसा अलकृत काव्यो मे होता है। कथाकार युद्ध और वीरता को प्रेम और शृगार का साधन मात्र समझता है जिससे उसका मन इन बातों के विशद् वर्णन मे नही रमता। ऐसे कार्यो का वह उल्लेख या सकेत करके आगे बढ जाता है। कुछ अपवादो को छोड कर प्राय सभी कथा आख्यायिकाओ मे यही बात पायी जाती है। इसलिए रुद्रट ने कथा का कार्य या फल कन्या लाभ माना है। कादम्बरी, लीलावईकहा आदि कथाओ मे यह बात देखी जा सकती है। काव्यो मे कन्या लाभ प्राय साधन होता है, उसमे लक्ष्य या उद्देश्य प्राय नायक की विजय और अभ्युदय दिखाकर धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष मे से किसी एक या कई फलों की प्राप्ति होता है। धर्मकथा और नीतिकथा मे सदसत् कर्मो का परिणाम दिखाकर उपदेश देना ही प्रमुख उद्देश्य होता है। अत उनके नायक या चरित्र अधिकतर कृत्रिम और कथाकार के हाथ के कठपुतले प्रतीत होते हैं, यथार्थ और जीवन्त व्यक्तित्व वाले नहीं। पद्मावत के चरित्रों मे नायक रतनसेन का जीवन यद्यपि बहुत अधिक व्यापक और वैविध्यपूर्ण कार्यकलाप से युक्त नहीं है पर उसमे कर्तव्य भावना, प्रेम भावना और वीर भावना का समयोग दिखाई पडता है। साथ ही प्रेम के क्षेत्र मे वह आदर्श चरित्र के रूप मे भी दिखाई पडती है। अत कुल मिलाकर वह धीरोदात्त नायक अधिक प्रतीत होते हैं, धीरललित नही।

पद्मावत—एक चरितकाव्य

तीसरे और चौथे अध्यायो मे भारतीय महाकाव्य की परम्परा और हिन्दी पर उसके प्रभाव के सबध मे विचार करते हुए हम देख चुके हैं कि आठवी शताब्दी के बाद सस्कृत, प्राकृत और अपभ्रश मे पौराणिक, ऐतिहासिक और रोमाचक शैली के प्रबन्धकाव्य लिखे जाने लगे जो आज अधिकाशत चरितकाव्य के नाम से ज्ञात हैं। हिदी मे जो प्रेमाख्यानक काव्य लिखे गये वे अधिकतर अपभ्रश के रोमाचक चरितकाव्यों की परपरा की ही देन है। पद्मावत मे भी सस्कृत की शास्त्रीय शैली के महाकाव्यो की रूढियों और शैली का अनुसरण

नहीं किया गया है। इसके विपरीत उसमे रोमाचक शैली के चरितकाव्यो की अनेक विशेषताएँ दिखलाइ पडती हैं जिससे उसे चरितकाव्य मानना ही उपयुक्त है। वे विशेषतायें ये हैं —

(१) पद्मावत मे प्रबन्धकाव्य, कथा आख्यायिका और धर्मकथा तीनों ही के तत्त्वों का समन्वय हुआ है। पहले बताया जा चुका है कि यद्यपि पद्मावत कथा आख्यायिका नहीं है पर उसमे कथा के अनेक गुण मिलते हैं। उपदेशात्मक वर्णनो, सैद्धातिक विवेचनो और धार्मिक दृष्टिकोण के कारण उसमे धर्मकथा के कुछ तत्त्व भी दिखलाइ पडते हैं। इस तरह प्रबन्धकाव्य के भीतर कथा आख्यायिका और धर्मकथा के तत्त्व मिल जाने से पद्मावत का काव्यरूप चरित काव्य जैसा है।

(२) चरितकाव्यो के समान ही उसमे अलौकिक और अतिमानवीय शक्तियों तथा साहसिक कार्यो की योजना अधिक हुई है।

(३) चरितकाव्यो की अनेक कथानकरूढियाँ भी इसमे प्रयुक्त हुई हैं जिनके कारण कथानक एक विशेष साँचे मे ढला दिखाइ पडता है।

(४) उसमे प्रेम, वीरता और वैराग्य तीनो का सुन्दर समन्वय हुआ है। इस दृष्टि से पद्मावत अपभ्रंश के चरितकाव्य सुदसणचरिउ, भविसयतकहा तथा जम्बूस्वामीचरित से अधिक समता रखता है। उसमे वीरता और धर्म भावना का स्थान गौण है और प्रेम भावना को ही प्रमुख स्थान मिला है। यह बात सभी रोमाचक चरितकाव्यों मे दिखलाई पडती है।

(५) पद्मावत का नायक चरितकाव्यों के नायकों की भाँति ही सामान्य मानव है पर उसे कवि ने अपने शुभ अशुभ कर्मो के फल का भोग करते हुए नहीं दिखाया है और न उसका लक्ष्य कथा को किसी आदर्श परिणाम पर पहुँचाना ही है। फिर भी उसका नायक अपने ढग से प्रेम के क्षेत्र मे अद्भुत आदर्श की स्थापना करता है। जैन चरितकाव्यों मे 'कर्मफल' की प्रधानता है तो पद्मावत मे सूफी मत के अनुरूप आध्यात्मिक प्रेम और उसके आदर्श की स्थापना।

(६) उसकी शैली चरितकाव्यो जैसी जीवन चरित की शैली है अर्थात् उसमे नायक नायिका के सम्पूर्ण जीवन की घटनाएँ ली गयी हैं, यद्यपि उसमे घटनाओं का उचित चुनाव भी हुआ है।

(७) चरितकाव्यो की अधिकाश प्रबन्धरूढियाँ तथा कडवकबद्ध छन्द योजना पद्मावत मे भी मिलती हैं। इन बातो के सम्बन्ध मे आगे विशेष रूप से विचार किया जायगा।

अन्य प्रभाव—यह तो सही है कि 'पद्मावत' तथा हिन्दी के अन्य चरित काव्य मूलत अपभ्रश के चरितकाव्यो की परम्परा मे आते हैं किन्तु साथ ह यह बात भी ध्यान मे रखने की है कि अपभ्रश के चरितकाव्यों का युग प्रधा रूप से ईसवी आठवीं से तेरहवी शताब्दी तक का है और हिन्दी के प्रब ध काव्यों का युग तेरहवी शताब्दी के बाद का है जब कि इस देश मे मुसलिम शास स्थापित हो गया था और यहा की जनता का मुसलिम सस्कृति और विचारधार के साथ सपर्क हो गया था। इस प्रकार व्यापक राजनातिक, धामिक ओ सामाजिक परिवर्तन हो जाने के बाद अपभ्रश के चरितकाव्यो की परम्परा हि दी मे यथावत नही गृहीत हो सकती थी। अत हिन्दी मे जो प्रेमाख्यानक काव्य लिखे गये उन पर अपभ्रश के चरितकाव्यो की परम्परा के अतिरिक्त अ य प्रकार का प्रभाव भी पडा है। पद्मावत प्रेमाख्यानक काव्यों मे सर्वश्रेष्ठ ओर महाकाव्य पद का अधिकारी है। अत उसके रूप निर्माण मे जिन अ य स्रोता का प्रभाव रहा हे उनकी विवेचना करना आवश्यक है। पद्मावत पर अपभ्रश के चरितका यों के अतिरिक्त निम्नलिखित काव्य परम्पराओ का भी प्रभाव पडा है —

(१) पद्मावत से पूर्व के हि दी प्रेमाख्यानक काव्यो की परम्परा।

(२) लोककथाओ और लोकगाथाओ की परम्परा।

(३) फारसी के रोमाचक मसनवियो की परम्परा।

पद्मावत के पूर्ववर्ती हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य—चौथे अध्याय म कहा जा चुका है कि हिन्दी साहित्य के आदिकाल की प्रमुख प्रवृत्तिया वीरता, प्रेम और धर्म की थी। प्रेम की प्रवृत्ति आदिकालीन वीर काव्यों मे भी महत्वपूण स्थान रखती है कि तु उसका स्पष्ट रूप लोकगाथात्मक प्रेमा ख्यानक काव्यों—ढोलामारू रा दूहा, वीसलदेवरास, सदयवत्स सावलिगा (सारगा सदावृक्ष) मे दिखाइ पडता है। अवहट्ट या परवर्ती अपभ्रश के कुछ काव्य, जैसे नेमिनाथचउपई, सदेशरासक आदि, भी प्रेमाख्यानक काव्य ही हैं यद्यपि उनमे कथासूत्र बहुत क्षीण है, वर्णनात्मकता ही प्रधान है। अत उन्ह श्रृंगार रस का खण्डकाव्य कहा जा सकता है। जायसी के पूर्व तथा उनके कुछ पीछे के कवियो द्वारा लिखित कई प्रेमाख्यानक काव्य हैं जिनमे से कुछ उपलब्ध हैं और अन्य अनुपलब्ध। उपलब्ध प्रेमाख्यानक काव्य ये हैं —साधान का मैना सत[1] मुल्ला

१ द्रष्टव्य—(क) डा० माताप्रसाद गुप्त का निबन्ध—साधन का मैना सत, अवन्तिका, जुलाई, सन् १९५४, पृ० ७८।

दाऊद का चन्दायन या नूरकचन्दा[१] (सन् १३७४ ई०) दामो कृत लक्ष्मणसेन पद्मावती (सन् १४९९)[२] नारायणदास (रतनरग) का छिताई वार्ता या छिताईचरित[३] कुतुबन की मृगावती (सन् १५०३ ई०)[४] ईश्वर दास की सत्यवती कथा (सन् १५०१ ई०)[५], मझन की माधुमालती,[६] चतुर्भुज कायस्थ की मधुमालती[७]।

इन काव्यो का मिलना यह सिद्ध करता है कि जायसी के बहुत पहले से ही हिन्दी मे प्रेमाख्यानक काव्यों की परम्परा विकसित हो रही थी। जायसी ने पद्मावत मे कुछ प्रेमकथाओ की सूची दी है जिसके आधार पर यह अनुमान करना स्वाभाविक है कि या तो वे काव्य लिखित रूप मे जायसी के समय मे थे या जायसी को उनका पता लोककथाओ और लोकगाथाओ के रूप मे था। जायसी की सूची यह है —

(ख) श्री उदयशकर शास्त्री–कवि साधन और उनका मैनासत–भारतीय साहित्य—अक दो—आगरा विश्वविद्यालय हिन्दी विद्यापीठ।

१—(क) अवधी भाषा के साहित्य की एक सूची—ले० श्री उदयशकर शास्त्री—ना प्र पत्रिका—वष ६० अक २ पृ० १६२

(ख) Prof S H Askari—Rare, Fragments of Chandain and Mrigawati

२—लक्ष्मणसेन पद्मावती–ले० श्री उदयशकर शास्त्री—त्रिपथगा, जुलाई १९५६ पृष्ठ–५२

३—(क) 'छिताईचरित' शीर्षक निबन्ध–ले० श्री० बटेकृष्ण, ना० प्र० पत्रिका, वष ५१, अक ३-४।

(ख) 'छिताईवार्ता' शीर्षक निबन्ध, ले० श्री अगरचन्द नाहटा—विशाल भारत, मई सन् १९४३।

४—हिन्दी प्रेमाख्यानककाव्य—ले० कमल कुलश्रेष्ठ—पृ० १३।

५—द्रष्टव्य–वही–पृष्ठ–१९।

६—इसका रचना काल डा० कुलश्रेष्ठ ने सन् १५४५ माना है। द्रष्टव्य वही, पृ० ३६।

७—इसका रचना काल डा० माताप्रसाद गुप्त ने विक्रम की सोलहवीं शताब्दी माना है। द्रष्टव्य—'चतुर्भुजदास को मधुमालती' (निबन्ध), ले० डा० माताप्रसाद गुप्त, ना० प्र० पत्रिका, (हीरक जयन्ती अक), वर्ष ५८, अक ३, स० २०१०,।

विक्रम धसा पेम के बारॉ। सपनावति कहँ गएउ पतारॉ।
सुदवच्छ मुगुधावति लागी। कँकनपूरि होइगा बैरागी।
राजकुँवर कचनपुर गएऊ। मिरगावति कह जोगी भएउ।
साधा कुँवर मनोहर जागू। मधुमालति कहँ कीन्ह वियोगू।
प्रेमावती कहँ सरसुर साधा। उसा लागि अनिरुध वर बाँधा।

—जायसी ग्रथावली (मा० गु०) दोहा २३३।

यदि इस सूची को लिखित प्रेमाख्यानक काव्यों की सूची माना जाय तो जायसी के पूर्व के निम्नलिखित प्रेमाख्यानक काव्य माने जायँगे जो उन्हे ज्ञात थे —(१) स्वप्नावती, (२) मुग्धावती, (३) मृगावती, (४) मधुमालती, (५) प्रेमावती और (६) उषा अनिरुद्ध। इनमे से मृगावती और मधुमालती को छोडकर अन्य का पता नही है। मृगावती और मधुमालती का उल्लेख बनारसीदास ने भी अपने 'अर्द्धकथा' (स० १६६०) नामक काव्य मे किया है[1]। मझन की मधुमालती तो पद्मावत के बाद सन् १५४५ की लिखी है, अत जायसी उसका उल्लेख नहीं कर सकते थे। चतुर्भुजदास की 'मधुमालती' डा० माताप्रसाद गुप्त के अनुसार विक्रम की १६वी शताब्दी की अवश्य है पर जायसी ने उसका भी उल्लेख नही किया है क्योकि चतुर्भुजदास की मधुमालती मे नायक नायिका का वियोग नहीं होता है और न नायक नायिका के लिए योग साधना ही करता है[2]। अत जायसी ने या तो मझन और चतुर्भुजदास के अतिरिक्त अन्य किसी कवि द्वारा लिखित मधुमालती काव्य की ओर सकेत किया है या किसी लोककथा के नायक नायिका मनोहर और मधुमालती का नाम लिया है। इस प्रकार केवल कुतबन कृत मृगावती ही जायसी के पद्मावत के पूर्व लिखा गया एक ऐसा काव्य है जिसका उल्लेख जायसी ने किया है और जो आज उपलब्ध है। अन्य उल्लिखित नाम या तो ऐसे काव्यो के है जो आज उपलब्ध नहीं है या उन प्रेमाश्रित लोककथाओ के है जो जायसी के समय मे

१—तब घर मे बैठे रहे जाहि ना हाट बजार।
मधुमालती मिरगावती पोथी दोइ उदार॥
ते बाचहि रजनी समै आवहि नर दस बीस।
गावै अरु बाते करहि नित उठि देहि असीस॥

—अर्द्धकथा, दोहा, ३३५–३३६।

२—द्रष्टव्य—चतुर्भुजदास की मधुमालती,
ले० डा० माताप्रसाद गुप्त—ना० प्र० पत्रिका, वर्ष ५८, अक ३, पृ० १९२।

सामान्य भारतीय जनता मे प्रचलित था। उनम तीन कथाएँ तो भारतीय कथामाहित्य और पुराणो की प्रसिद्ध कथाएँ हैं—(१) विक्रमादित्य, (२) उषा अनिरुद्ध और (३) सदयवत्स (उदयवत्स या उदयन)। ये कथाएँ साहित्य से निकल कर जनता मे पहुँच गयी थी और वहाँ उनम बहुत अधिक परिवर्तन हो गया था। इन्हीं कथाओ को जैन कवियो ने फिर नये रूप म अपनाया। सदयवत्स सावलिंगा नामक काव्य, जिसका उल्लेख चौथे अध्याय मे किया जा चुका है, ऐसा ही लोककथा क आधार पर रचा गया था। सभवत उसी लोककथा की ओर, जो आज कल सारगा सदावृक्ष की कहानी के रूप म लोक प्रचलित है, जायसी ने भी सकेत किया है। यह उदयन कथाचक्र से, जिस पर बृहत्कथा भी आधारित है, सबधित है। विक्रम की कथाएँ विक्रम कथाचक्र क भीतर आती हैं। उषा अनिरुद्ध की कथा तो पौराणिक आख्यान है। इन कथाओ की ओर जायसी ने जो सकेत किया है उससे यही सिद्ध होता है कि उनके द्वारा उल्लिखित अन्य नाम भी लोकप्रचलित कथाओ के ही हैं, लिखित प्रेमाख्यानक काव्यो के नही। पद्मावत का अंग्रेजी मे अनुवाद करनेवाले विद्वान श्री ए० जी० शिरेफ का भी यही मत है कि वे लोकप्रचलित प्रेम कहानिया के नाम हैं।

निष्कर्ष यह कि जायसी को भारतीय लोकजीवन के अनेक सुप्रसिद्ध प्रेमाख्यानो का पता था और उनके पूर्व हिन्दी मे प्रेमाख्यानक काव्य लिखने की परम्परा विकसित हो चुकी थी। ढोलामारू रा दूहा, वीसलदेवरास, नूरक चन्दा, मृगावती, सत्यवती कथा, मैना सत, छिताईचरित, लक्ष्मणसेन पद्मावती आदि काव्य पद्मावत से पूर्व ही लिखे जा चुके थे और पद्मावत के रचना काल के आस पास ही मझन की मधुमालती, चतुर्भुजदास की मधुमालती, सदयवत्स सावलिगा, आदि काव्य भी लिखे गये। इनम से सत्यवती कथा, मृगावती नूरुक चन्दा, मैना सत, छिताईचरित, मधुमालती आदि चौपाई और दोहा में अपभ्रश के चरितकाव्यो की तरह कडवकबद्ध शैली मे लिखे गये हैं। जायसी ने भी पद्मावत मे यही शैली अपनाई है। अपभ्रश के चरितकाव्यो मे पज्झटिका या पद्धडिया छन्द का प्रयोग बहुत हुआ है। यह छन्द चोपाई से मिलता जुलता है। पृथ्वीराजरासो मे भी चोपाई और दोहे का पर्याप्त प्रयोग हुआ है। 'नूरक चन्दा' प्रथम सूफी प्रेमाख्यानक काव्य है जिसम दोहा चौपाई की पद्धति अपनाई गयी है। उसम ५ ५ अर्द्धालियो के बाद एक एक दोहा रखा गया है। इसका रचना काल सन् १३७४ ई० है[१]। सन् १५०१ ई०

१—अवधी भाषा के साहित्य की एक सूची (निबन्ध) ले० श्री उदय शकर शास्त्री, ना० प्र० पत्रिका वर्ष ६०, अक २, पृ० १६२।

विक्रम धँसा पेम के बारॉ। सपनावति कहँ गएउ पतारॉ।
सुदवच्छ मुगुधावति लागी। कँकनपूरि होइगा वैरागी।
राजकुँवर कचनपुर गएऊ। मिरगावति कह जोगी भएऊ।
साधा कुँवर मनोहर जोगू। मधुमालति कहँ कीन्ह वियोगू।
प्रेमावती कहँ सरसुर साधा। उषा लागि अनिरुध वर बाँधा।

—जायसी ग्रंथावली (मा० गु०) दोहा २३३।

यदि इस सूची को लिखित प्रेमाख्यानक काव्यो की सूची माना जाय तो जायसी के पूर्व के निम्नलिखित प्रेमाख्यानक काव्य माने जायँगे जो उन्हे ज्ञात थे —(१) स्वप्नावती, (२) मुग्धावती, (३) मृगावती, (४) मधुमालती, (५) प्रेमावती और (६) उषा अनिरुद्ध। इनमे से मृगावती और मधुमालती को छोडकर अन्य का पता नही है। मृगावती और मधुमालती का उल्लेख बनारसीदास ने भी अपने 'अर्द्धकथा' (स० १६६०) नामक काव्य मे किया है[1]। मझन की मधुमालती तो पद्मावत के बाद सन् १५४५ की लिखी है, अत जायसी उसका उल्लेख नहीं कर सकते थे। चतुर्भुजदास की 'मधुमालती' डा० माताप्रसाद गुप्त के अनुसार विक्रम की १६वीं शताब्दी की अवश्य है पर जायसी ने उसका भी उल्लेख नही किया है क्योकि चतुर्भुजदास की मधुमालती मे नायक-नायिका का वियोग नही होता है और न नायक नायिका के लिए योग साधना ही करता है[2]। अत जायसी ने या तो मझन और चतुर्भुजदास के अतिरिक्त अन्य किसी कवि द्वारा लिखित मधुमालती काव्य की ओर सकेत किया है या किसी लोककथा के नायक नायिका मनोहर और मधुमालती का नाम लिया है। इस प्रकार केवल कुतबन कृत मृगावती ही जायसी के पद्मावत के पूर्व लिखा गया एक ऐसा काव्य है जिसका उल्लेख जायसी ने किया है और जो आज उपलब्ध है। अन्य उल्लिखित नाम या तो ऐसे काव्यो के हैं जो आज उपलब्ध नहीं हैं या उन प्रेमाश्रित लोककथाओ के है जो जायसी के समय मे

१—तब घर मे बैठे रहै जाहि ना हाट बजार।
मधुमालती मिरगावती पोथी दोइ उदार॥
ते बाचहि रजनी समै आवहि नर दस बीस।
गावै अरु बाते करहि नित उठि देहि असीस॥

—अर्द्धकथा, दोहा, ३३५–३३६।

२—द्रष्टव्य—चतुर्भुजदास की मधुमालती,
ले० डा० माताप्रसाद गुप्त—ना० प्र० पत्रिका, वर्ष ५८, अक ३, पृ० १९२।

सामान्य भारतीय जनता म प्रचलित था। उनम तीन कथाएँ तो भारतीय कथासाहित्य और पुराणो की प्रसिद्ध कथाएँ ह—(१) विक्रमादित्य, (२) उषा अनिरुद्ध और (३) सदयवत्स (उदयवत्स या उदयन)। ये कथाएँ साहित्य से निकल कर जनता मे पहुँच गयी थी और वहाँ उनम बहुत अधिक परिवर्तन हो गया था। इन्हीं कथाओ को जैन कवियो ने फिर नये रूप मे अपनाया। सदयवत्स सावलिंगा नामक काव्य, जिसका उल्लेख चौथे अध्याय मे किया जा चुका है, ऐसा ही लोककथा के आधार पर रचा गया था। सभवत उसी लोककथा की ओर, जो आज कल सारगा सदावृक्ष का कहानी के रूप म लोक प्रचलित है, जायसी ने भी सकेत किया है। यह उदयन कथाचक्र से, जिस पर बृहत्कथा भी आधारित है, सबधित है। विक्रम की कथाएँ विक्रम कथाचक्र क भीतर आती हैं। उषा अनिरुद्ध की कथा तो पौराणिक आख्यान है। इन कथाओ की ओर जायसी ने जो सकेत किया है उससे यही सिद्ध होता है कि उनके द्वारा उल्लिखित अन्य नाम भी लोकप्रचलित कथाओ के ही हैं, लिखित प्रेमाख्यानक काव्यो के नही। पद्मावत का अग्रेजी मे अनुवाद करनेवाले विद्वान श्री ए० जी० शिरेफ का भी यही मत है कि वे लोकप्रचलित प्रेम कहानियो के नाम हैं।

निष्कर्ष यह कि जायसी को भारतीय लोकजीवन के अनेक सुप्रसिद्ध प्रेमाख्यानो का पता था और उनके पूर्व हिन्दी म प्रेमाख्यानक काव्य लिखने की परम्परा विकसित हो चुकी थी। ढोलामारू रा दूहा, वीसलदेवरास, नूरक चन्दा, मृगावती, सत्यवती कथा, मैना सत, छिताईचरित, लक्ष्मणसेन पद्मावती आदि काव्य पद्मावत से पूर्व ही लिखे जा चुके थे और पद्मावत के रचना काल के आस पास ही मझन की मधुमालती, चतुर्भुजदास की मधुमालती, सदयवत्स सावलिगा, आदि काव्य भी लिखे गये। इनमे से सत्यवती कथा, मृगावती नूरुक चन्दा, मैना सत, छिताईचरित, मधुमालती आदि चौपाई और दोहा में अपभ्रश के चरितकाव्यों की तरह कडवकबद्ध शैली मे लिखे गये हैं। जायसी ने भी पद्मावत मे यही शैली अपनाई है। अपभ्रश के चरितकाव्यो मे पज्झटिका या पद्धडिया छन्द का प्रयोग बहुत हुआ है। यह छन्द चौपाई से मिलता जुलता है। पृथ्वीराजरासो मे भी चौपाई और दोहे का पर्याप्त प्रयोग हुआ है। 'नूरक चन्दा' प्रथम सूफी प्रेमाख्यानक काव्य है जिसम दोहा चौपाई की पद्धति अपनाई गयी है। उसमे ५ ५ अर्द्धालियो के बाद एक एक दोहा रखा गया है। इसका रचना काल सन् १३७४ ई० है[१]। सन् १५०१ ई०

१—अवधी भाषा के साहित्य की एक सूची (निबन्ध) ले० श्री उदय शकर शास्त्री, ना० प्र० पत्रिका वर्ष ६०, अक २, पृ० १६२।

विक्रम धँसा पेम के बारॉ। सपनावति कहँ गएउ पतारॉ।
सुदेवच्छ मुगुधावति लागी। कँकनपूरि होइगा बैरागी।
राजकुँवर कचनपुर गएऊ। मिरगावति कहँ जोगी भएऊ।
साधा कुँवर मनोहर जोगू। मधुमालति कहँ कीन्ह वियोगू।
प्रेमावती कहँ सरसुर साधा। उखा लागि अनिरुध वर बाँधा।

—जायसी ग्रथावली (मा० गु०) दोहा २३३।

यदि इस सूची को लिखित प्रेमाख्यानक काव्यो की सूची माना जाय तो जायसी के पूर्व के निम्नलिखित प्रेमाख्यानक काव्य माने जायँगे जो उन्हे ज्ञात थे —(१) स्वप्नावती, (२) मुग्धावती, (३) मृगावती, (४) मधुमालती, (५) प्रेमावती और (६) उषा अनिरुद्ध। इनमे से मृगावती और मधुमालती को छोडकर अन्य का पता नही है। मृगावती और मधुमालती का उल्लेख बनारसीदास ने भी अपने 'अर्द्धकथा' (स० १६६०) नामक काव्य मे किया है[1]। मझन की मधुमालती तो पद्मावत के बाद सन् १५४५ की लिखी है, अत जायसी उसका उल्लेख नहीं कर सकते थे। चतुर्भुजदास की 'मधुमालती' डा० माताप्रसाद गुप्त के अनुसार विक्रम की १६वी शताब्दी की अवश्य है पर जायसी ने उसका भी उल्लेख नही किया है क्योकि चतुर्भुजदास की मधुमालती मे नायक नायिका का वियोग नही होता है और न नायक नायिका के लिए योग साधना ही करता है[2]। अत जायसी ने या तो मझन और चतुर्भुजदास के अतिरिक्त अन्य किसी कवि द्वारा लिखित मधुमालती काव्य की ओर सकेत किया है या किसी लोककथा के नायक नायिका मनोहर और मधुमालती का नाम लिया है। इस प्रकार केवल कुतबन कृत मृगावती ही जायसी के पद्मावत के पूर्व लिखा गया एक ऐसा काव्य है जिसका उल्लेख जायसी ने किया है और जो आज उपलब्ध है। अन्य उल्लिखित नाम या तो ऐसे काव्यो के हैं जो आज उपलब्ध नहीं हैं या उन प्रेमाश्रित लोककथाओ के है जो जायसी के समय मे

१—तब घर मे बैठे रहै जाहि ना हाट बजार।
मधुमालती मिरगावती पोथी दोइ उदार॥
ते बाचहि रजनी समै आवहि नर दस बीस।
गावै अरु बाते करहि नित उठि देहि असीस॥

—अर्द्धकथा, दोहा, ३३५–३३६।

२—द्रष्टव्य—चतुर्भुजदास की मधुमालती,
ले० डा० माताप्रसाद गुप्त—ना० प्र० पत्रिका, वर्ष ५८, अक ३, पृ० १९२।

सामान्य भारतीय जनता मे प्रचलित था। उनम तीन कथाएँ तो भारतीय कथासाहित्य और पुराणो की प्रसिद्ध कथाएँ हैं—(१) विक्रमादित्य, (२) उषा अनिरुद्ध और (३) सदयवत्स (उदयवत्स या उदयन)। ये कथाएँ साहित्य से निकल कर जनता मे पहुँच गयी थी और वहाँ उनम बहुत अधिक परिवर्तन हो गया था। इन्हीं कथाओ को जैन कवियो ने फिर नये रूप म अपनाया। सदयवत्स सावलिंगा नामक काव्य, जिसका उल्लेख चौथे अध्याय मे किया जा चुका है, ऐसा ही लोककथा क आधार पर रचा गया था। सभवत उसी लोककथा की ओर, जो आज कल सारगा सदावृक्ष का कहानी के रूप म लोक प्रचलित है, जायसी ने भी सकेत किया है। यह उदयन कथाचक्र से, जिस पर बृहत्कथा भी आधारित है, सबधित है। विक्रम की कथाएँ विक्रम कथाचक्र क भीतर आती है। उषा अनिरुद्ध की कथा ता पौराणिक आख्यान है। इन कथाओ की ओर जायसी ने जो सकेत किया है उससे यही सिद्ध होता है कि उनके द्वारा उल्लिखित अन्य नाम भी लोकप्रचलित कथाओ के ही हैं, लिखित प्रेमाख्यानक काव्यो के नही। पद्मावत का अग्रेजी मे अनुवाद करनेवाले विद्वान श्री ए० जी० शिरेफ का भी यही मत है कि वे लोकप्रचलित प्रेम कहानिया के नाम हैं।

निष्कर्ष यह कि जायसी को भारतीय लोकजीवन क अनक सुप्रसिद्ध प्रेमाख्यानो का पता था और उनके पूर्व हिन्दी मे प्रेमाख्यानक काव्य लिखने की परम्परा विकसित हो चुकी थी। ढोलामारू रा दूहा, वीसलदेवरास, नूरक चन्दा, मृगावती, सत्यवती कथा, मैना सत, छिताईचरित, लक्ष्मणसेन पद्मावती आदि काव्य पद्मावत से पूर्व ही लिखे जा चुके थे और पद्मावत के रचना काल के आस पास ही मझन की मधुमालती, चतुर्भुजदास की मधुमालती, सदयवत्स सावलिंगा, आदि काव्य भी लिखे गये। इनमे से सत्यवती कथा, मृगावती नूरुक चन्दा, मैना सत, छिताईचरित, मधुमालती आदि चौपाइ और दोहा में अपभ्रश के चरितकाव्यो की तरह कडवकबद्ध शैली म लिखे गये हैं। जायसी ने भी पद्मावत मे यही शैली अपनाई है। अपभ्रश के चरितकाव्यों मे पज्झटिका या पद्धडिया छन्द का प्रयोग बहुत हुआ है। यह छन्द चौपाई से मिलता जुलता है। पृथ्वीराजरासो मे भी चौपाइ और दोहे का पर्याप्त प्रयोग हुआ है। 'नूरक चन्दा' प्रथम सूफी प्रेमाख्यानक काव्य है जिसम दोहा चौपाई की पद्धति अपनाई गयी है। उसम ५ ५ अर्द्धालियो के बाद एक एक दोहा रखा गया है। इसका रचना काल सन् १३७४ ई० है[1]। सन् १५०१ ई०

१—अवधी भाषा के साहित्य की एक सूची (निबन्ध) ले० श्री उदयशकर शास्त्री, ना० प्र० पत्रिका वर्ष ६०, अक २, पृ० १६२।

के करीब दिल्ली म ईश्वरदास ने 'सत्यवती कथा' नामक जो प्रेमाख्यान काव्य लिखा उसमे भी ५ ५ अर्द्धालियो के बाद दोहे का घत्ता देकर कडव बनाया गया है। मृगावती मे कुतुबन ने भी ५ ५ अर्द्धालियों के बाद दो रखने की पद्धति अपनाई है। कुछ परवर्ती प्रेमाख्यानक काव्यो—मधुमालत इन्द्रावती आदि—मे भा यही ५ ५ अर्द्धालियो के बाद दोहे रखने का क्र मिलता है। जायसी ने पद्मावत मे दोहा चौपाइ के इसी परपरागत छ द विधान को अपनाया है किन्तु उन्होने ७ अर्द्धालियो के बाद एक दोहे का क्र रखा है। जायसी के इस क्रम को उसमान ने भी 'चित्रावली' मे अपनाया है।

हिन्दी मे जायसी के पूर्व जो प्रेमाख्यानक काव्य लिखे गये वे कथानक क दृष्टि से दा प्रकार के हैं —

(१) अर्द्ध ऐतिहासिक, पौराणिक और निजन्धरी व्यक्तियो से सबधित काव्य जिनमे कुछ पात्र ता ख्यात हैं किन्तु उनकी अधिकाश या पूरी कथा कल्पित है। ऐसे का य हैं, ढोलामारू रा दूहा, वीसलदेवरास, सदयवत्स सावलिंगा छिताईचरित, सत्यवती कथा आदि।

(२) पूणतया कल्पित व्यक्तियों से सबधित काव्य जो लोककथाओं प आधृत हैं, जैसे मृगावती, मधुमाल्ती, नूरक चन्दा आदि।

जायसी का पद्मावत प्रथम प्रकार की काव्य-परम्परा मे आता है क्योंकि उसमे रतनसेन और अलाउद्दीन तथा उनके युद्ध के अतिरिक्त अन्य सभी पात्र और घटनाएँ कल्पित हैं।

उद्देश्य की दृष्टि से उन काव्यों को फिर दो श्रेणियो मे विभाजित किया जा सकता है —

(१) आध्यात्मिक सिद्धान्त या किसी विशेष मत या नैतिकता का प्रचार करने के उद्देश्य से लिखे गये काव्य जैसे मैनासत, नूरक च दा, मृगावती, मझन की मधुमाल्ती, सदयवत्स सावलिगा, छिताईचरित आदि।

(२) ऐहिक प्रेमाख्यानक का य, जैसे सत्यवती कथा, ढालामारू रा दूहा, वीसलदेवरास, चतुर्भुजदास की मधुमालती आदि।

जायसी का पद्मावत इस दृष्टि से प्रथम प्रकार का काव्य है। सूफी होने के नाते जायसी ने लौकिक प्रेमकथा को आधार बनाकर प्रतीकात्मक और साकेतिक ढग से सूफी सिद्धान्त और साधना मार्ग की उसी प्रकार प्रतिष्ठा की है जिस तरह मुल्ला दाउद ने नूरक चन्दा मे और कुतुबन मझन ने मृगावती और मधुमालती मे की है। सूफी कवियों की यह प्रवृत्ति इस देश के साहित्य के लिये कोई नई बात नहीं थी। इस देश मे बहुत प्राचीन काल से अर्द्ध ऐति

हासिक और निजन्धरी व्यक्तियों से सबधित कथाओं तथा अन्य लोककथाओं का उपयोग हिन्दू, बौद्ध और जैन मत का प्रचार करने के लिए होता रहा और उन्हे दृष्टान्तकथा या धर्मकथा का रूप दिया जाता रहा। यह बात अपभ्रश के चरितकाव्यो के सबध मे कही जा चुकी है। जैनों द्वारा लिखित अधिकाश चरितकाव्य ऐसे ही हैं जिनमे किसी व्रत या पूजा का माहात्म्य बताने के लिए किसी लोकप्रचलित कथा का जैन रूपान्तर कर लिया गया है या शुभ अशुभ कर्मो का फल दिखाने के लिए भवान्तरा की कथाएँ जोड दी गयी हैं। सदय वत्स सावलिगा की कथा कवि हर्षवर्द्धन ने १७वी शताब्दी मे पुरानी गुजराती मिश्रित हिन्दी म लिखी थी। हर्षवर्द्धन ने इस कथा को 'सदयवत्स कथा' नाम देकर जसहरचरिउ और करकण्डचरिउ जैसी अनेक भवान्तरा वाली जैन कथा बना दी है। नन्ददास की रूपमजरी भी कृष्णभक्ति का उत्कृष्ट रूप दिखाने आर उसका प्रचार करने के उद्देश्य से ही लिखा गयी है। मैना सत और छिताइ-चरित की कथाएँ स्त्री के पतिव्रता धम, पति पत्नी के प्रगाढ प्रेम और सतीत्व की महिमा दिखाने के उद्देश्य से लिखी गयी हैं। सूफिया ने भी अपने काव्या मे यही उद्देश्य अपने सामने रखा है, यद्यपि उनकी शैली भिन्न है। उनकी शैली पर फारसी प्रेमाख्यानक काव्यों का भी कुछ प्रभाव पडा है। अत इस सबध में विशेषरूप से आगे विचार किया जायगा। सूफी कवियों के अतिरिक्त अन्य कवियो द्वारा लिखित आध्यात्मिक उद्देश्य या लौकिक प्रेम वाले काव्यो पर इस प्रकार का कोई प्रभाव नही दिखलाई पडता।

लोककथा लोकगाथा का प्रभाव—यह पहले ही कहा जा चुका है कि पद्मावत की कथावस्तु और शैली पर लोककथाओं लोकगाथाओ का भी प्रभाव पडा है। यह प्रभाव प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दानों प्रकार का है। अप्रत्यक्ष प्रभाव तो प्राचीन भारतीय साहित्य की उन कथा आख्यायिकाओं, प्रेमाख्यानों और अपभ्रश के चरितकाव्यों से होकर आया है जिन पर लोककथाआ का सीधा प्रभाव पडा था। किन्तु इसके अतिरिक्त पद्मावत तथा अन्य प्रेमाख्यानक काव्यो पर मध्यकाल की ग्रामीण जनता मे प्रचलित लोककथाआ और लोक गाथाओ का प्रत्यक्ष प्रभाव भी पडा है। हिन्दी के प्रेमाख्यानक काव्यो की परम्परा का प्रारभ तेरहवी चौदहवी शताब्दी से ही मानना चाहिए जब कि ढोलामारू रा दूहा का विकास होने लगा और नूरक चन्दा जैसे काव्यो की रचना हुई। इस काल मे भारत मे नाथपथी योगिया और तान्त्रिक सिद्धो का प्रभाव सामान्य जनता पर बहुत अधिक था। नाथ सप्रदाय के योगी वस्तुत शैव ही थे और शिव पार्वती की उपासना के साथ उन्होने हठ योग की साधना का समन्वय

किया था। उधर तान्त्रिक सिद्ध भी 'सहज' मार्ग पर चलकर लौकिक आनद के माध्यम से आध्यात्मिक आनन्द की खोज कर रहे थे। भागवत मत के अनुयायियो मे भी 'मधुर रस' और प्रेम भक्ति की ओर झुकाव बढ रहा था ओर वल्लभाचार्य जी ने तो माधुर्य भाव से भगवान की उपासना के लिए माग ही प्रशस्त कर दिया। वल्लाभाचाया मत मे भी कृष्ण और गोपिकाओ के वियुक्त रूप पर ही अधिक ध्यान दिया गया है। यही कारण है कि कुछ विद्वान इस प्रकार की भक्ति को सूफी मत से प्रभावित मानते हैं। इसमे कोई सदेह नहीं कि मुसलमानो का उत्तरी भारत मे राज्य स्थापित होते ही बाहर से आये हुए सूफी साधक भी भारत क विभिन्न भागा मे फैल गये। उनका प्रधान उद्देश्य सूफी सिद्धातो के प्रचार के साथ साथ इस्लाम का प्रचार करना भी था। ये सूफी सन्त भी योग और तत्र की साधना करते थे और सामान्य जनता उनको अलाकिक शक्ति सपन्न सन्त ओर सिद्ध मानती थी। इस प्रकार पद्रहवी शताब्दी तक उत्तरी भारत म भक्ति मार्ग, योग मार्ग और प्रेम मार्ग का पयाप्त प्रचार हो गया था और जनता मे योगियो की सिद्धिया के बारे मे तरह तरह की किंवदन्तिया फैल गयी थी। यही नहा, अनेक राजाओं के यागी हो जाने की कथायें भी प्रचलित हो गयी थी। राजा भर्थरी और गोपाचन्द ऐसे ही यागमागा निजन्धरी व्यक्तित्व हैं जिनके बारे मे सम्भवत उसी समय लोकगाथाएँ बन गयी थी। वे गाथाएँ आज भी प्रचलित हैं। प्रेमाश्रित लोकगाथाएँ तो जनता म प्रारम्भ से ही बहुत अधिक प्रचलित रही हैं। 'सारङ्गा सदावृक्ष' की कथा गद्य पद्य मिश्रित लोककथा के रूप मे आज भी सामान्य जनता मे प्रचलित है जो 'सन्देशरासक' ओर 'पद्मावत' म उल्लिखित सुदेवच्छ या सदयवत्स की कथा का रूपान्तर है और जिसके आधार पर पद्रहवी शताब्दी मे हर्षवर्द्धन ने सदयवत्सकथा लिखी। उसी तरह लोरिकायन नाम की जो बृहत् लाकगाथा आज भोजपुरी प्रदेशा में गाई जाती है, सम्भवत उसी का एक रूपान्तर मुल्ला दाऊद का नूरक चन्दा नामक प्रेमाख्यानक काव्य है। पहले कहा जा चुका है कि अनेक विद्वानो की राय है कि पद्मावत म कई ऐसी कथाओ की ओर जायसी ने सकेत किया है जो लिखित काव्य नहीं बल्कि लोकप्रचलित कथा आख्यानक थे किन्तु मध्य काल मे इन कथाओं के आधार पर काफी अधिक सख्या म लोकभाषा म काव्य लिखे गये[1]। नूरक चन्दा, मृगावती, मधुमालती ढालामारूचउपई, सदयवत्स कथा (सदयवत्स सावलिंगा) सत्यवता कथा आदि इसी प्रकार के काव्य

१—द्रष्टव्य—हिन्दी साहित्य—प्रथम सस्करण, ले० डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० २५९—६०।

हैं। रासो का 'पद्मावती समय' और आल्हाखण्ड के अनेक गीत इसी प्रकार की लोककथाओ के आधार पर विकसित हुए हैं। पद्मावत की कथा का आधार भी चित्तौड युद्ध की ऐतिहासिक घटना के अतिरिक्त अवध प्रान्त म प्रचलित लोककथा 'पाद्मनी रानी और हीरामन सुग्गा' है। पद्मावती नाम की नायिका अनेक भारतीय प्रेमाख्यानो मे मिलती है। वस्तुत यह प्रेमाख्यानो का एक अति प्रचलित नाम है। अत जायसी ने चित्तौड की रानी पद्मिनी के, जो जौहर करके प्रसिद्ध हो चुकी थी, नाम को लोककथा की पद्मिनी और पूर्ववर्ती सस्कृत प्राकृत के प्रेमाख्यानो की पद्मावती से मिला दिया है। यह कथा सभवत जायसी के पहले भी इसी रूप मे प्रचलित हो गयी थी, क्योंकि १ वा शताब्दी मे ही 'रयनसेहर नरवइकहा' नामक एक प्राकृत ग्रथ भी इसी कथानक को लेकर लिखा गया है। पद्मावती नाम पृथ्वीराजरासो, दामो कृत लक्ष्मणसेन पद्मावती, आदि हिन्दी के कई काव्यो मे मिलता है जिससे यह स्पष्ट है कि सब जगह प्राचीन प्रेमाख्यानो से ही यह नाम गृहीत हुआ है। इस तरह पद्मावत के कथानक पर तो लोककथाओ का प्रभाव पडा ही है, उसकी शैली भी उनसे प्रभावित होकर पर्याप्त कथात्मक और रोमाचक बन गयी है। यह प्रभाव उन प्रेम और योग सबधी कथाओं का है जिसमे से कई की ओर जायसी ने स्वय सकेत किया है, जैसे गोपीच द, भरथरी पिंगला, मृगावती, मधुमालती आदि[१]। भरथरी और गोपीचन्द की लोकगाथाएँ तो आज भी प्रचलित हैं। मृगावती की भी कोई लोककथा अवश्य थी। इस सबध मे डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है, "कुतुबन ने अपनी मृगावती मे लिखा है कि यह कथा पहले से ही चली आ रही थी। इसमे योग श्रृगार और विरह रस वर्तमान था। मैने दुबारा फिर इसी कथा को लिपिबद्ध किया है[२]।" मृगावती की तरह मधुमालती की कथा के भी विभिन्न स्थानो मे अनेक रूपान्तर हो गये थे जिसके आधार पर तीन कवियो—मझन, चतुर्भुजदास और नुसरता ने अपने काव्य लिखे हैं पर

१—भर्तृहरि और गोपीचन्द की कथा—

जानहुँ आहि गोपीचद जोगी। कैसो भरथरि आहि वियोगी।
वै पिंगला गए कजरी आरन। यह सिहल कहुँ सो केहि कारन।
दोहा १९३।

२—हिन्दी-साहित्य-प्रथम सस्करण, ले० डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० २६२।

उनके कथानकों मे पर्याप्त भिन्नता है[1]। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का तो कहन है कि "हमारा अनुमान है कि सूफी कवियो ने जो कहानियाँ ली हैं वे स हिन्दुओ के घरो म बहुत दिनो से चली आती हुई कहानियाँ हैं जिनमें आवश्य कतानुसार उन्होने कुछ हेरफेर किया है।"[2]

फारसी काव्य परम्परा का प्रभाव—हिन्दी के प्रेमाख्यानक काव्य द प्रकार के हैं। एक तो वे जो विशुद्ध रूप से भारतीय काव्य परपरा की देन हैं जैसे सत्यवती कथा, ढोला मारू रा दूहा, वीसलदेवरास, छिताईचरित, मैना सत आदि। दूसरे प्रकार के प्रेमाख्यानक काव्य यद्यपि अधिकांशत भारतीय काव्य परपरा की ही देन हैं पर उन पर कुछ फारसी काव्य परम्परा का भी प्रभाव पडा है। ये काव्य प्राय मुसलमान सूफी कवियों के लिखे हुए हैं, जैसे मुल्ला दाउद का नूरक चन्दा, कुतबन कृत मृगावती, जायसी का पद्मावत, मझन कृत मधुमालती, उसमान कृत चित्रावली, नूर मुहम्मद कृत इन्द्रावती और अनुराग बासुरी आदि। फारसी काव्य की एक प्रधान विशेषता यह है कि उसमे श्लिष्ट और अति शयोक्तिपूर्ण प्रयोगो और अभिव्यक्तियो की अधिकता होती है। यह बात फारसी सूफी कवियो मे सबसे अधिक दिखाई पडती है। सूफीमत मे प्रेम की पीर और सौन्दर्य ज य आनन्द को बहुत महत्व दिया गया है और इनका वर्णन सूफी कवि बहुत बढा चढा कर करत हैं। हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्यों म प्रेम की महिमा, विरह वेदना और सौन्दर्य की महत्ता का जो इतना अधिक और अति शयोक्तिपूर्ण वर्णन मिलता है वह फारसी काव्यधारा का प्रभाव व्यक्त करता है। सूफी कवियो के प्रेमाख्यानक काव्यों म प्रतीकात्मकता, सांकेतिकता और अन्योक्ति तथा समासोक्ति की शैली भी फारसी के रोमाचक प्रेमाख्यानक मस नवियो की देन है।

मुसलमानो के आने के साथ ही इस देश मे सूफियो का भी प्रवेश हुआ और इस तरह उनकी काव्य परम्परा भी उनके साथ इस देश मे प्रविष्ट हुई। अलाउद्दीन के कुछ ही बाद[3] मुल्ला दाउद ने लोरिक और चन्दा की लोक

१—देखिये—निबन्ध 'चतुर्भुजदास की मधुमालती'—ले० डा० माताप्रसाद गुप्त, ना० प्र० पत्रिका, हीरक जयती अक, पृ० १८७।

२—हिंदी साहित्य का इतिहास (आठवाँ सस्करण) ले० प० रामचन्द्र शुक्ल पृ० ७२।

३—डा० कमल कुलश्रेष्ठ ने नूरक चन्दा का रचना काल स० १४२७ के लगभग माना है। द्रष्टव्य—हिन्दी प्रेमाख्यान काव्य—(प्रथम सस्करण) पृ० ११।

कथा को लेकर नूरक चन्दा नामक प्रेमाख्यानक काव्य की रचना की थी जिसके बारे मे जहाँगीर के समकालीन मुसलमान इतिहासकार अल्बदायूँनी ने लिखा है कि "उसके समय मे मखदूम शेख तकीउद्दीन वायजरब्बानी चन्दावन (चन्दावत ?) को दिल्ली मे मच पर से पढा करते थे ओर जनता उससे बहुत प्रभावित होती था। यह पूछने पर कि आप हिन्दू मसनवी क्या पढते है, उन्होने यह उत्तर दिया था कि उसकी पूरी कथा एक ईश्वरीय सत्य है, मनोरजक है और प्रेमियो का आनन्द भरे चिन्तन की सामग्री प्रदान करती है और कुरान की आयतो का उपदेश भी देती है।[1]" बदायूँनी के इस कथन से स्पष्ट है कि नूरक चन्दा सूफियों के अध्यात्मपरक प्रेमाख्यानक मसनवियो के ढग का काव्य था। लौकिक कथा मे साकेतिक ढङ्ग मे आध्यात्मिक रङ्ग भरने की यह प्रवृत्ति भारतीय कथा साहित्य के लिए बिल्कुल नई वस्तु थी। इस देश म आदर्श उपस्थित करनेवाले काव्य, दृष्टान्तकथाएँ ओर धर्मकथाएँ तो होती थीं पर ऐसी कथाएँ नही लिखी जाती थी जो प्रत्यक्षत तो लौकिक प्रेम का वर्णन करती हो किन्तु परोक्षरूप मे या समझदारो के लिए आध्यात्मिक प्रेम का सकेत भी करती हो। यह प्रवृत्ति हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्यो को फारसी की सूफी काव्य परम्परा से प्राप्त हुई। अलाउद्दीन का समकालीन हिन्दी का प्रसिद्ध कवि अमीर खुसरो भी सूफी विचारधारा को मानने वाला था। उसने फारसी में लैला मजनू, शीरीं खुसरो, हफ्त बिहिश्त, तुगलकनामा, आइने इस्कन्दरी आदि अनेक मसनवियाँ लिखीं। इससे इस बात में कोई सन्देह नही रह जाता कि हिन्दी के प्रारम्भिक सूफी कवियो को अपने प्रेमाख्यानों का काव्यरूप निर्धारित करते समय फारसी की प्रेमाख्यानक मसनवियो का भी ध्यान अवश्य रहा होगा जिसके फलस्वरूप उनके काव्यो मे सूफी रङ्ग आ गया है यद्यपि यह रङ्ग उतना अधिक नही है जो भारतीय काव्य परम्परा से उन्हे विच्छिन्न कर दे। यहाँ मसनवी काव्यरूप के बारे मे कुछ विचार कर लेना आवश्यक है।

मसनवी काव्यरूप—फारसी की मसनवी और भारतीय साहित्य के प्रबन्धकाव्य म कुछ साम्य होत हुए भी वैषम्य ही अधिक है। प्रबन्धकाव्य में जिस प्रकार किसी एक लम्बी कथा का पद्यबद्ध वर्णन होता है, फारसी मसनवी मे यह बात सदैव और अनिवार्य रूप से नहीं पाई जाती। फारसी म कोई भी बडे आकार वाला काव्य मसनवी होता है चाहे उसम प्रेमाख्यान हो, या

१—अलबदायूँनी का मुन्तखबुत तवारीख—रैकिंग का अगरेजी अनुवाद, भाग १, सस्करण सन् १८९८, पृ० ३३३।

किसी आश्रयदाता का जीवन चरित हो या किसी देश का काव्यात्मक इतिहास हो अथवा उपदेशात्मक उक्तियाँ, सम्वाद और लघु कथाएँ हों। इस तरह फारसी म प्रेमाख्यान, ऐतिहासिक आख्यान और धार्मिक तथा उपदेशात्मक काव्य के लिए अधिकतर मसनवी काव्यरूप ही अपनाया गया है[1]। समनवी वह काव्यरूप हैं जिसम प्रत्येक छ द (वस) साधारणत व्याकरण और भाव की दृष्टि से पूण होता है और दो पक्तियाँ या मिसरा समतुकान्त होते हैं और उन दोना पक्तियो के तुक आगे की पक्तियो के तुको से नहीं मिलते[2]। फारसी की सबसे पहली मसनवी फिरदासी का शाहनामा है जो ससार के सवश्रेष्ठ महाकाव्यों मे माना जाता है। इसमे केवल छ द विधान ही मसनवी का है। मसनवी की अ य प्रबध रूढियाँ फिरदौसी के दूसरे काव्य यूसुफ जुलेखा म पहले पहल मिलती हैं। यूसुफ जुलेखा मे स्थापित प्रबन्धरूढियों का पालन बाद के सूफी कवि निजामी ने अपने खुसरो शीरी, लैला मजनू, हफ्त पैकर और सिकन्दरनामा नामक काव्यो मे किया है। वस्तुत रोमाचक प्रेमाख्यानक मसनवी के काव्यरूप को पूणता प्रदान करने वाला निजामी ही है। उसक पूववता कवि सनाइ, समकालीन फरीदुद्दीन अत्तार और परवता कवि रूमी और जामी ने भी अनेक मसनवियाँ लिखो हैं जिनम रूमी की 'मसनवी-ए-मानवी' फारसी मे अपने ढग की अकेली मसनवी है क्योकि उसमे निजामी द्वारा स्थापित मसनवी की प्रब ध रूढियो का पालन नही किया गया है और न उसम काई प्रबन्धत्व ही है। रूमी की मसनवी अनेक उपदेशात्मक उक्तियो, अन्योक्तियो और लघुकथाओ का सग्रह ह। कुछ मसनवियो म पचतत्र और दशकुमारचरित की तरह अनेक कथाएँ एक क्षीण सूत्र से पिरोई हुई हैं। निजामी का 'हफ्त पैकर' ऐसी ही मसनवी है। इस प्रकार मसनवी के प्रबन्ध नियमो म एकरूपता नहीं है और न सभी मसनवियाँ एक ही प्रकार की हैं।

मसनवी और चरितकाव्य मे रूप साम्य—फिर भी फारसी की रोमाचक और प्रेमाख्यानक मसनवियाँ प्रब धरूढियों की दृष्टि से बहुत कुछ एक सी हैं। उनमे सर्गो का विभाजन अवश्य है पर वह भारतीय प्रबन्धकाव्यों जैसा नहीं है, बल्कि पुराणों जैसा है जिनमे घटनाओं के अनुसार शीर्षक दिया गया रहता है। उनमे प्रारभ में ईश्वर का गुणानुवाद, पैगम्बर का स्मरण,

१—द्रष्टव्य निबन्ध—सूफी काव्य परम्परा—ले० श्री रामपूजन तिवारी, अवन्तिका, अक्टूबर सन् १९५४, पृ० ४४।

२—इनसाइक्लोपीडिया आव इस्लाम, खण्ड ३, पृ० ४१०।

पैगम्बर के मीरान की चचा, शाहेवक्त अथवा अन्य किसी महान व्यक्ति या आश्रयदाता की प्रशंसा, काव्य रचना का कारण, कवि का आत्मनिवेदन और अपने मित्रों और सहायकों की चर्चा रहती है। इसके बाद मूल कथा आरम्भ होती है। प्रधान कथा के कई विभाग या खण्ड होते हैं और फिर वे खण्ड कई सर्गों में बद्ध होते हैं। प्रत्येक सर्ग का शीर्षक उसमें वर्णित विषय के अनुसार दिया रहता है और अन्त में काव्य का उपसंहार होता है जिसमें कवि रचना-काल आदि का निर्देश या कोई उपदेशात्मक बात लिखता है। प्रेमाख्यानक मसनवियों की यह प्रबन्धरूढ़ि भारतीय चरितकाव्यों की प्रबन्धरूढ़ियों से बहुत मिलती जुलती है। संस्कृत महाकाव्यों में प्रारम्भ में मंगलाचरण, वस्तु-निर्देश आदि बातें तो होती थीं, परन्तु चरितकाव्यों, विशेष कर जैन चरित-काव्यों में, तीर्थंकरों की स्तुति ठीक उसी तरह मिलती है जैसी मसनवियों में पैगम्बर और उनके साथियों की। कुछ चरितकाव्यों में प्रारम्भ में ही कवि अपने आश्रयदाता का वर्णन करता और काव्य लिखने का कारण बताता है। चरित काव्यों की अन्य रूढ़ियाँ, जैसे सज्जन प्रशंसा, दुर्जन निन्दा, पूर्वकवि प्रशंसा विनम्रता प्रकाश, कथा का सारांश आदि मसनवियों में नहीं होतीं। चरित-काव्यों की तरह प्रेमाख्यानक मसनवियों में रोमांचक अलौकिक घटनाओं से युक्त और प्रेम भावना प्रधान होता है तथा उनका सर्ग विभाजन भी नाटकीय सन्धियों के आधार पर नहीं, बल्कि घटनाओं के वर्णनों के आधार पर होता है। इस तरह चरितकाव्य और मसनवी के रूप विधान में बहुत अधिक साम्य है। हिन्दी के सूफी प्रेमाख्यानक काव्यों में जो प्रबन्ध रूढ़ियाँ मिलती हैं वे अधिकतर भारतीय चरितकाव्यों की हैं। फारसी की मसनवी पद्धति और हिन्दी के सूफी प्रेमाख्यानक काव्यों में जो साम्य दिखलाई पडता है उसको देखते हुए यह कहना उचित नहीं है कि हिन्दी के सूफी कवियों ने फारसी की मसनवी पद्धति का हूबहू अनुकरण किया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि "इन प्रेमगाथा काव्यों के संबंध में पहली बात ध्यान देने की यह है कि इनकी रचना बिलकुल भारतीय चरित काव्यों की सर्गबद्ध शैली पर न होकर फारसी की मसनवियों के ढङ्ग पर हुई हैं जिनमें कथा सर्गों या अध्यायों में विस्तार के हिसाब से विभक्त नहीं होती, बराबर चली चलती है, केवल स्थान स्थान पर घटनाओं या प्रसङ्गों का उल्लेख शीर्षक के रूप में दिया रहता है।"[1] किन्तु पहले ही कहा जा

१—जायसी-ग्रंथावली, (भूमिका)—संपादक पं० रामचन्द्र शुक्ल, पंचम संस्करण, सं० २००८, पृ० ४।

चुका है कि फारसी की मसनवियो मे खण्ड-विभाजन के साथ साथ सर्ग विभाजन भी होता है। दूसरे जहाँ तक पद्मावत का प्रश्न है उसमे न तो सर्ग विभाजन है न खण्ड विभाजन। डा० माताप्रसाद गुप्त ने वैज्ञानिक ढग से पद्मावत का पाठ सशोधन करके जो 'जायसी ग्रथावली' प्रकाशित कराई है उसमे ये बातें नहीं हैं जिससे यह स्पष्ट है कि पद्मावत की मूल प्रतियो मे खण्ड विभाजन नहीं था। सम्भवत पद्मावत की जो परवर्ती प्रतियाँ लिपिबद्ध की गयीं उनमे लेखकों ने अपनी ओर से खण्ड विभाजन किया है और सभवत उन्ही प्रतियो का अनुकरण करके हिन्दी के परवर्ती सूफ़ी कवियों ने खण्डबद्ध शैली मे अपने काव्यों की रचना की है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि पद्मावत की रचना न तो फारसी मसनवियो की खण्डबद्ध शैली मे हुई है न अपभ्रश के अधिकतर चरितकाव्यों की सर्गबद्ध शैली मे। पहले कहा जा चुका है कि अपभ्रश मे हरिभद्र का 'णेमिणाहचरिउ' सर्गबद्ध काव्य नहीं है। प्राकृत मे वाक्पतिराज का प्रसिद्ध महाकाव्य 'गउडवहो' भी सर्गबद्ध नहीं है पर उसमे एक विषय से सबधित छन्द एक साथ रखे गये हैं। आठवीं शताब्दी मे उद्योतन सूरि ने प्राकृत मे कुवलयमाला नाम का बृहत् कथा ग्रथ लिखा था जो सर्गो या उच्छवासों मे विभक्त नहीं है। उसी तरह प्राकृत मे तरगलोला और लीलावई नामक कथा ग्रथ सर्गबद्ध नहीं हैं। इन प्रमाणो के आधार पर श्री नेमिनाथ उपाध्ये ने लिखा है कि 'यह असभव नहीं है कि कभी प्राकृत और अपभ्रश मे कथा के रूप मे ऐसे काव्य ग्रथ भी लिखे जाते रहे हों जो सर्गबद्ध या सन्धिबद्ध नहीं होते थे और बाद मे सर्गों या सन्धियों का जो व्यवहार होने लगा वह सस्कृत के काव्यों के अनुकरण का फल है।'"[1] पद्मावत की रचना भी प्राकृत अपभ्रश के उपयुक्त कथा काव्यो की सर्गहीन पद्धति पर हुई है, फारसी की मसनवी पद्धति पर नहीं।

शुक्ल जी ने सूफी प्रेमाख्यानक काव्यो की शैली के बारे मे यह भी कहा है कि "मसनवी के लिए साहित्यिक नियम तो केवल इतना ही समझा जाता है कि सारा काव्य एक ही मसनवी छन्द मे हो, परम्परा के अनुसार उसमे कथारभ के पहले ईश्वर स्तुति, पैगम्बर की वन्दना और उस समय के राजा (शाहेवक्त) की प्रशसा होनी चाहिए। ये बाते पद्मावत, इन्द्रावती, मृगावती इत्यादि सबमे पायी जाती हैं।"[2] इस सबध मे यह पहले ही कहा जा चुका है कि

१—कौतूहल कृत 'लीलावई', (अंग्रेजी भूमिका)—भूमिका लेखक—आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये, बबई, सन् १८४९, पृ० ४४।

२—जायसी-ग्रथावली, भूमिका, सपादक प० रामचन्द्र शुक्ल, पृ ४।

भारतीय चरितकाव्यो की अनेक प्रबधरूढियाँ फारसी की रोमाचक मसनवियों मे भी मिलती हैं। जिस तरह हिंदू और जैन कवि चरितकाव्यो म अपने धम और विश्वासो के अनुसार प्रस्तावना के रूप मे ईश्वर, देवता, अवतार, तार्थङ्कर आदि की स्तुति तथा अपने आश्रयदाता की प्रशसा करते थे ओर का य रचना का कारण बताते हुए वस्तुनिर्देश लिखते थे उसी तरह हिन्दी के मुसल्मान प्रेमाख्यानक कवियों ने भी ईश्वर और अवतार की जगह अपने मजहब के अनुसार अल्लाह और पैगम्बर की स्तुति की है। अत उन्होने फारसी के रोमाचक मसनावयो की प्रबन्धरूढियों का अनुकरण किया है या भारतीय चरितका यो की प्रबन्ध-रूढियों का, यह प्रश्न महत्वपूर्ण नहीं हैं। ये मुसल्मान सूफी कवि फारसा काव्यो की विचारधारा ओर रूढियों से कुछ न कुछ अवश्य परिचित रहे हागे। अत हो सकता है कि ये प्रबन्धरूढियाँ उन्हें फारसी साहित्य से हा प्राप्त हुई हा, पर मूल्त वे भारतीय चरितकाव्यो की ही प्रबन्धरूढिया हैं जो फारसी मसनवियों मे भी पायी जाती हैं। इस तरह हिन्दी के सूफी प्रेमाख्यानक काव्यों को पूर्णतया अपभ्रश के चरितकाव्यों तथा भारतीय लोककथाओ की परम्परा में ही मानना उचित है। इस सबध मे डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने बिलकुल उचित कहा है कि "जन साधारण का एक और विभाग, जिसम धम का स्थान नहीं था, जो अपभ्रश साहित्य के पश्चिमा आकार से सीधे चला आ रहा था, जो गाँवो की बैठकों मे कथानक रूप से और गान रूप से चल रहा था, उपेक्षित होने लगा था। इन सूफी साधकों ने पौराणिक आख्यानो के बदले इन लोकप्रचलित कथानकों का आश्रय लेकर ही अपनी बात जनता तक पहुँचाई।"[1] फारसी की सूफी काव्यधारा का भी उन पर कुछ प्रभाव अवश्य पडा है पर इसे फारसी के रोमाचक मसनवियों की काव्यशैली का एकदम अनुकरण नहीं कहा जा सकता। इस सबध म श्री रामपूजन तिवारी का यह मत सर्वथा सही है कि "हिंदी सूफी काव्य इस परम्परा से प्रभावित तो अवश्य है लेकिन उसम हू-ब-हू इसकी नकल नहीं की गयी है। भारताय वातावरण में सूफी मत का विकास अरब और फारस जैसा न होकर भिन्न रूप मे हुआ। भारतीय विचारधारा से वह बहुत प्रभावित हुआ। हिन्दी का सूफी काव्य जितना भारतीय विचारधारा से प्रभावित माल्म हाता है उतना फारसी या अरबी परम्परा से नहीं।"[2]

१—हिन्दी साहित्य की भूमिका—चतुथ सस्करण, ले० डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ५७।

२—सूफी काव्य परम्परा, (निबन्ध), ले० राम जन तिवारी, अवन्तिका, अक्टूबर १९५४, पृ० ४५।

पद्मावत अन्य सूफी प्रेमाख्यानक काव्यो की अपेक्षा और भी स्पष्ट रूप से भारतीय चरितकाव्यों, लिखित कथाओ तथा मौखिक लोककथाओं की शैली के निकट है।

पद्मावत की कथा के मूल स्रोत

पद्मावत की ऐतिहासिकता—जैसा पहले कहा जा चुका है, सूफी कवियों ने प्राय हिन्दू घरो मे प्रचलित कहानियों के आधार पर ही अपने काव्य का ढाँचा खडा किया है। किन्तु जायसी के पद्मावत मे इस विषय मे भी एक विशेषता दिखलाइ पडती है। जायसी ने इस काव्य मे ऐतिहासिक व्यक्तियो को नायक और प्रतिनायक बनाया है। काव्य की प्रधान घटना—रतनसिंह और अलाउद्दीन का युद्ध—भी मूलत ऐतिहासिक ही है। परन्तु उसमे वर्णित सभी बाते ऐतिहासिक नही हैं। श्री गोरीशकर हीराचद ओझा के मतानुसार रतनसिंह ने चित्तोड मे केवल एक वष तक राज्य किया था। उसी के राज्यकाल मे अलाउद्दीन ने चित्तौड पर हमला किया और छ महीने तक लडकर उस पर अधिकार करके अपने पुत्र को वहाँ का शासक बना दिया[1]। अत पद्मावत के पूर्वार्द्ध की कथा तो अनैतिहासिक है ही, उत्तरार्द्ध की कथा मे भी उपर्युक्त युद्ध की घटना के अतिरिक्त अन्य बाते ऐतिहासिक नही हैं। पद्मावत मे अलाउद्दीन का राघवचेतन के कहने से पद्मिनी पर आसक्त होने, उस पर चढाई करने, पहली बार युद्ध मे असफल होने और धोखे से रतनसेन को पकड कर दिल्ली ले जाने, गोरा बादल का सोलह सौ डोले लेकर दिल्ली जाने आर रतनसेन को छुडाने, दुबारा अलाउद्दीन द्वारा चित्तौड पर आक्रमण करने, देवपाल द्वारा पद्मिनी को बहकाने के लिए दूती भेजने और अन्त मे देवपाल के साथ युद्ध मे रतनसेन के मारे जाने और पद्मिनी और नागमती के सती होने की बाते यद्यपि ऐतिहासिक नही हैं परन्तु इनमे से अनेक बाते राजस्थान मे ऐतिहासिक सत्य क रूप मे बहुत पहले से मानी जाती रही हैं। चित्तौड के किले मे पद्मिनी का महल और पद्मिनी सरोवर हैं और उसके जौहर करने की बात भी सत्य हो सकती है। रतन सिंह को पकड कर दिल्ली ले जाये जाने और ओरत के वेश मे राजपूतो के डोलो मे जाने की बात अनैतिहासिक होते हुए भी अनेक पुराने इतिहास लेखकों द्वारा लिखी गयी है। चारण भाटो की कथाओ और जनता की अनुश्रुतियो मे भी इस घटना

१—उदयपुर राज्य का इतिहास—प्रथम जिल्द, ले० गौरीशकर हीराचन्द ओझा, पृ० १८७।

का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। मुसलमान इतिहासकार फिरिश्ता (१६०० ई०) ने भी इन बातों को लिखा है और आइने अकबरी में भी इसका उल्लेख है जिससे पता चलता है कि उसके समय तक ये बातें ऐतिहासिक तथ्य के रूप में मानी जाती थीं। इस संबंध में ओझा जी ने लिखा है कि 'पद्मावत, तारीखे फिरिश्ता और टाड के राजस्थान के लेखों की यदि कोई जड़ है तो केवल यही कि अलाउद्दीन ने चित्तौड़ पर चढ़ाई करके ६ मास के घेरे के अनन्तर उसे विजय किया, वहाँ का राजा रत्नसिंह इस लड़ाई में लक्ष्मणसिंह आदि कई सामंतों सहित मारा गया। उसकी रानी पद्मिनी ने कई स्त्रियों सहित जौहर की अग्नि में प्राणाहुति दी। इस प्रकार चित्तौड़ पर थोड़े समय के लिए मुसलमानों का अधिकार हो गया। बाकी का बहुधा सब कथन कल्पना से भरा हुआ है।'[1] रतनसिंह और अलाउद्दीन के युद्ध की घटना और उसमें गोरा बादल की वीरता प्रदर्शन के संबंध में जायसी के बाद भी अनेक कवियों ने काव्य लिखे जिनमें हेमरतन (१५८८ ई०), जटमल (१६२३ ई०), लब्धोदय (१६५० ई०), संग्राम सूरि (१७०३ ई०) आदि के काव्य विशेष उल्लेखनीय हैं। परन्तु इन काव्यों में प्रायः पद्मावत के उत्तरार्द्ध की ही कथा कही गयी है। इससे यह निश्चित ज्ञात पड़ता है कि पद्मावत के रचना काल तक रतनसिंह और अलाउद्दीन के युद्ध का मूल कारण पद्मिनी को मान लिया गया था और उस युद्ध से सम्बन्धित अनेक अन्य घटनाओं की कल्पना कर ली गयी थी। जायसी ने उन अनुश्रुतियों का पद्मावत में उपयोग कर लिया है।

पद्मावत के कथानक में काल्पनिकता—ऐतिहासिक घटनाओं का अनुश्रुति रूप में परिवर्तित हो जाना और उन अनुश्रुतियों के आधार पर काव्य-रचना करना भारतीय साहित्य में कोई नई बात नहीं है। पृथ्वीराजरासो और आल्हखण्ड के बारे में विचार करते हुए इस प्रवृत्ति का विश्लेषण किया जा चुका है। कथा में रोचकता और काव्यत्व लाने के लिए कवि कल्पना का सहारा लेते हैं, घटनाओं की ऐतिहासिकता की ओर उनका अधिक ध्यान नहीं रहता। पद्मावत के पूर्व ही छिताईचरित की रचना हो चुकी थी जिसमें अलाउद्दीन के देवगिरि पर आक्रमण और छिताई हरण की घटना के आधार पर एक काल्पनिक प्रेमाख्यान खड़ा कर दिया गया है। यही पद्धति जायसी ने भी पद्मावत में अपनाई है। अतः पद्मावत के संबंध में ओझा जी का यह कथन सर्वथा सही है कि "इतिहास के अभाव में लोगों ने पद्मावत को ऐतिहासिक पुस्तक मान

१— जयपुर राज्य का इतिहास—प्रथमजिल्द, पृ० १९१।

लिया। परन्तु वास्तव में वह आजकल के ऐतिहासिक उपन्यासों की सी कविता बद्ध कथा है।"[१]

शास्त्रज्ञ मानव-भाषा भाषी शुक—यहा यह बात ध्यान देने की है कि जायसी ने पद्मावत के पूर्वार्द्ध मे जो कथा लिखी है वह एक सुप्रसिद्ध लोककथा है। शुक्ल जी ने इस सबध मे लिखा है कि "उत्तर भारत मे, विशेषत अवध में पद्मिनी रानी और हीरामन सुए" की कहानी अब तक प्राय उसी रूप मे कही जाती है जिस रूप मे जायसी ने उसका वर्णन किया है। इस सबध मे हमारा अनुमान यह है कि जायसी ने प्रचलित कहानी को ही लेकर सूक्ष्म ब्योरो की मनोहर कल्पना कर के उसे काव्य का सुदर स्वरूप दिया है।"[२] शुक्ल जी का यह अनुमान सही प्रतीत होता है। कारण यह है कि पद्मावती नाम, शास्त्रज्ञ शुक और सिंहल की कन्या से विवाह से सबद्ध कथाएँ इस देश के साहित्य मे बहुत अधिक मिलती हैं। पिछले अध्याय मे कहा जा चुका है कि कभी तो लोककथाएँ शिष्ट साहित्य मे ग्रहण कर ली जाती हैं और कभी शिष्ट साहित्य की कथाएँ लोकप्रियता के कारण रूप बदल कर लोककण्ठ मे पहुँच जाती हैं। अत यह कहना अत्यन्त कठिन है कि "पद्मिनी रानी और हिरामन सुए" की लोकप्रचलित कथा शिष्ट जनों के साहित्य से लोककण्ठ में पहुँची है या इसका लोककथा रूप मे बहुत प्राचीन काल से इस देश मे प्रचलन रहा है और उसी के आधार पर साहित्य मे तत्सम्बन्धी कथाएँ रची गयी हैं। भारतीय साहित्य मे ऐसी कथाओ का आकर ग्रथ बृहत्कथा है जो अपने मूल पैशाची रूप मे तो आज उपलब्ध नहीं है किन्तु ग्यारहवी बारहवी शताब्दी में किये गये सस्कृत रूपान्तर, बृहत्कथा मजरी, कथासरित्सागर और बृहत्कथाश्लोक सग्रह प्राप्त हैं। इन रूपान्तरो मे शास्त्रज्ञ शुक तथा मानव भाषा बोलने वाले सारिकादि पक्षियो की चर्चा बहुत आयी है। सोमदेव के कथासरित्सागर में नरवाहनदत्त के मत्री ने उससे काचनपुरी के राजा सुमना और निषाद कन्या मुक्तालता द्वारा लाए गए शास्त्रगज नामक तोते की लम्बी कथा कही है। इसी कथा के आधार पर पात्रो का नाम बदल कर वाणभट्ट ने कादम्बरी की प्रसिद्ध कथा लिखी जिसमे राजा शूद्रक को एक चाण्डाल कन्या द्वारा लाया हुआ शास्त्रज्ञ तोता अपने पूर्व भव का समूचा वृत्तान्त सुनाता है। अमरुक

१—वही—पृ० १८७।

२—जायसी ग्रथावली—(पचम सस्करण की भूमिका) सपादक—रामचन्द्र शुक्ल, पृ० २६।

शतक मे भी मानव की भाषा दुहराने वाले शुक की चर्चा आयी है। अपभ्रश काव्य 'करकण्डचरिउ' मे एक अवान्तर कथा आयी है जिसम एक विद्याधर सुआ का रूप धर कर राजा के हाथ बेचा जाता है। वह सुआ उस कथा का उसी तरह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पात्र है जैसा पद्मावत मे हिरामन सुआ है[1]। परवर्ती भारतीय साहित्य मे तो शुक शुकी, शुक सारिका और शास्त्रज्ञ शुक का उपयोग कथाओं की गति बढाने वाली कथानकरूढि के रूप म होने लगा। हिन्दी के काव्यो म सर्वप्रथम पृथ्वीराजरासो म कथा के प्रारम्भिक वक्ता श्रोता के रूप मे शुक शुकी का उपयोग हुआ है और कथा के मध्य म पद्मावती से पृथ्वीराज का विवाह सम्बन्ध कराने तथा पृथ्वीराज को इच्छिनी का विरह दशा बताने का काम शुक ने किया है। आल्हखण्ड म भी विवाह सबध म सहायता करने वाले शुक का रूढि अपनाई गया है। अत शास्त्रज्ञ मानव भाषा भाषी और दूतकाय करने वाले शुक सारिकादि का उपयोग शिष्ट साहित्य और लोकसाहित्य दोनो म समान रूप से हुआ है। पद्मावत का हीरामन सुग्गा इसी कथानकरूढि की देन है। जायसी ने गुरू का प्रतीक मान कर अपने काव्य म उसे एक महत्व पूण पात्र के रूप म स्थान दिया है और इस तरह भारतीय साहित्य की कथा-परम्परा का निवाह किया है।

पद्मावती और पद्मिनी नाम—शास्त्रज्ञ शुक की तरह पद्मावती नाम भी भारतीय कथासाहित्य मे बहुत मिलता है। बृहत्कथा के कथासरित्सागर आदि रूपान्तरो म उदयन की कथा म उदयन की दूसरा रानी का नाम पद्मावती दिया हुआ है जो मगधराज की पुत्री थी। भास ने अपने नाटक 'स्वप्न वासवदत्ता' म इसी कथा का आधार लिया है। उसमे भी उदयन का पद्मावती से विवाह होना दिखाया गया है। इस नाटक मे पद्मावती की एक दासी का भी नाम पद्मिनिका है। अपभ्रश के काव्य करकण्डचरिउ म चम्पापुरी के राजा धाडीवाहन की रानी का नाम पद्मावती है जो करकण्ड की माँ और काव्य की महत्वपूर्ण पात्री है। दसवी शताब्दी के मयूर कवि ने भी 'पद्मावती कथा' नाम का एक काव्य लिखा था।[2] अपभ्रश के दूसरे काव्य "पउमसिरचरिउ" की नायिका का नाम पद्मश्री है। इस तरह पद्मावती या पद्मिनी प्राचीन भारतीय कथा साहित्य का

१ करकण्डचरिउ–हिन्दी भूमिका–प्रथम सस्करण, सपादक—हीरालाल जैन, पृ० ११।

२—द्रष्टव्य उल्लेख—हिन्दी साहित्य—प्रथम सस्करण, ले० डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० २६०।

सुपरिचित नाम है। हिन्दी में पृथ्वीराजरासो म पद्मावती म पृथ्वीराज और पद्मावती के विवाह की कथा कही गयी है। यह कथा पद्मावत की विवाह कथा से बहुत मिलती जुलती है। पन्द्रहवीं शताब्दी म पाठक राजवल्लभ ने संस्कृत म पद्मावती चरित्र नामक काव्य लिखा था जिसकी कथा पद्मावत की रतनसेन पद्मावती कथा से मिलती है।[1] पद्मावत के पूर्ववर्ती हिन्दी काव्य दामो की लक्ष्मणसेन पद्मावती का उल्लेख पहले किया जा चुका है। पद्मिनी नाम की लोकप्रियता का एक प्रधान कारण तो यह है कि परवर्ती काम शास्त्रियों ने स्त्रियों के चार भेदों म एक पद्मिनी जाति की स्त्री को भी माना है। यद्यपि वात्स्यायन के कामसूत्र म शंखिनी, चित्रिणी और हस्तिनी, ये तीन ही भेद माने गये ह पर बाद म नाथपंथी शैव योगियों का प्रभाव बढ़ने पर माना जाने लगा कि एक पद्मिनी जाति की स्त्री भी होती ह जो अत्यन्त सुन्दरी और पद्म की सुगन्ध वाली होती है और जो सिंहल द्वीप म पाई जाती है। योगियों का यह विश्वास था कि सिंहल सिद्धि पीठ है, वहाँ जाकर जो शिव की उपासना करता और पद्मिनी स्त्रियों के माया जाल से बच निकलता है वह सिद्ध हो जाता है। इस तरह परवर्ती काल म सिंहल पद्मिनी स्त्रियों का द्वीप माना जाने लगा।

सिंहल यात्रा की रूढ़ि—भारतीय साहित्य में किसी स्त्री की प्राप्ति के लिए सिंहल द्वीप की यात्रा एक रूढ़ि के रूप में अपनाई जाती रही है। कुछ काव्यों में सिंहल और लंका को एक माना गया है और कुछ में अलग अलग। रामायण म रावण लंका का अधिपति है और राम उससे सीता का उद्धार करने के लिए लंका की यात्रा करते हैं। सिंहल के राजा वीरसेन की कन्या मदनलेखा से विक्रमादित्य के विवाह की कथा कथासरित्सागर और बृहत्कथा मञ्जरी में भी आयी है[2]। उसी म एक दूसरी कथा के प्रसङ्ग म मृगाङ्कलेखा नामक एक सिंहली राजकुमारी की खोज में जाते हुए जहाज टूटता है[3]। हर्ष की 'रत्नावली नाटिका' का कथानक बृहत्कथा की उदयन कथा के आधार पर खड़ा किया गया है पर उसमें सिंहल की राजकुमारी रत्नावली की नई कथा

१—द्रष्टव्य—हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य—प्रथम संस्करण, ले० डा० कमल-कुलश्रेष्ठ, पृ० १९७।

२—द्रष्टव्य—कथासरित्सागर-१-५-पृष्ठ ११-बम्बई, १९३० ई० बृहत्कथामंजरी-पृष्ठ २५-बम्बई, १९३१ ई०।

३—कथासरित्सागर-वही संस्करण, पृ० ५७।

जोडी गयी है। यह रत्नावली सिंहल के राजा विक्रमबाहु का जो उदयन की पत्नी वासवदत्ता का मामा है, पुत्री है। उसके जन्म के समय एक सिद्ध पुरुष ने भविष्यवाणी की थी कि जो पुरुष इस कन्या का वरण करेगा वह चक्रवर्ती राजा होगा। इसी लोभ से उदयन के मन्त्री योगन्धरायण ने विक्रमबाहु से रत्नावली को उदयन से विवाह के लिए माँग लिया। लौटते समय नौका डूब गया और सिंहल से लौटते हुए व्यापारियों ने काष्ठफलक के सहारे बहती हुई रत्नावली की रक्षा की और उसे यौगन्धरायण के पास पहुँचाया। पहले वह दासी रूप में रही पर बाद में सिंहल की राजकुमारी के रूप में उसका अभिज्ञान होने पर वासवदत्ता ने उसका विवाह उदयन से करा दिया। यह कथानक-रूढि कौतूहल की लीलावईकहा में प्रायः उसी रूप में अपनाया गया है। उसमें प्रतिष्ठान के राजा शालिवाहन (हाल) का चित्र देखकर सिंहल के राजा शीलमेघ की पुत्री लीलावती उसे प्रेम करने लगती और पिता की आज्ञा से सातवाहन से मिलने चल देती है। उधर यह जानकर कि जो लीलावती से विवाह करेगा वह चक्रवर्ती होगा, शालिवाहन का सेनापति विजयानन्द शीलमेघ से उसकी कन्या शालिवाहन के लिए माँगने जाता है पर समुद्र में तूफान आने से उसका जहाज टूट जाता है और वह सप्त गोदावरी के पास किनारे लगता है जहाँ लीलावती उसे मिल जाती है। अन्त में लीलावती का विवाह सातवाहन से हो जाता है। शिवदास के अनुसार शालिवाहन के पुत्र त्रैलोक्यसुन्दर का विवाह भी सिंहल के राजा सूर्यसिंह की पुत्री पद्मिनी से हुआ था।[1] कनकामर के करकण्डचरिउ में करकण्ड दिग्विजय करता हुआ सिंहल पहुँचता है और वहाँ की राजकुमारी रतिवेगा से विवाह करता है। जहाज द्वारा लौटते समय वह आक्रमणकारी महामच्छ को मारने के लिए समुद्र में कूदता है पर इसी बीच एक विद्याधरी उसे हर ले जाती है। अन्त में रतिवेगा की तपस्या के फलस्वरूप फिर दोनों का मिलन होता है। इस काव्य की एक अवान्तर कथा में भी एक राजा उडने वाले घोडे पर चढकर एक द्वीप में जाता और रत्नलेखा नामक कन्या से विवाह करता है पर लौटते समय जहाज डूबने से सभी काष्ठ फलक के सहारे अलग अलग किनारों पर लगते हैं। अपभ्रंश की 'जिनदत्ताख्यान' नामक कथा में वणिक् पुत्र जिनदत्त रूप परिवर्तिनी गुटिका के सहारे रूप बदल कर अपनी पत्नी विमलमति को छोडकर भाग जाता और एक दरिद्र सार्थवाह के साथ सिंहल पहुँचता है। वहाँ के राजा की श्रीमती नाम की

१ लीलावती—भूमिका, प्रथम संस्करण, संपादक डा० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये, पृ० ५८।

कन्या को, जो महाव्याधि (पेट का सर्प) से पीडित थी, नीरोग करके उससे विवाह करता और वणिक् के साथ अतुल धन राशि लेकर लौटता है। उसके साथी वणिक् के मन मे पाप भाव उदय होता है और वह श्रीमती को अपनी पत्नी बनाने के लोभ से दिनदत्त को समुद्र मे फेकवा देता है पर जिनदत्त काष्ठफलक के सहारे प्राणरक्षा करता है। इसी बीच उसे दो खेचर उठा ले जाते और विद्याधर राजा की पुत्री अगारवती से उसका विवाह कराते हैं। उधर श्रीमती उस सार्थवाह के पजे से छूट कर भाग जाती और चम्पापुर मे विमलमति के साथ तपस्या करती है। अत मे वे सब फिर मिल जाते हैं। धनपाल कृत भविसयतकहा मे यद्यपि सिंहल नाम नही आया है पर कथानकरूढि वही है। उसमे भविष्यदत्त और बन्धुदत्त समुद्रमार्ग से यात्रा करते हैं, तूफान के कारण उनका जहाज तिलक द्वीप के तटपर लगता है। बधुदत्त अपने भाइ को छोडकर जहाज लेकर चला जाता है। भविष्यदत्त को एक उजाड नगर मिलता है जहाँ एक राक्षस उसका विवाह एक कुमारी से कराता है। वे लौटने की तैयारी म हैं कि बन्धुदत्त फिर आ जाता और भविष्य दत्त को धोखा देकर उसकी पत्नी और सब धन लेकर चल देता है। अन्त में मणिभद्र यक्ष भविष्यदत्त को गजपुर पहुँचाता है और उसकी पत्नी उसे मिलती है। प्राकृत की 'रतनसेहरी नरवईकहा' और अपभ्रश के 'सिरिवालचरिउ' मे भी सिंहल यात्रा का उल्लेख हुआ है।[1]

इस प्रकार हम देखते हे कि पद्मावत के पूर्वार्द्ध की कथा की प्रधान बातें प्राचीन कथाओ म चिर काल से रूढि क रूप मे अपनाई जाती रही हैं। रत्नावली और लीलावईकहा मे सिहल की राजकन्या की विशेषता यह बताइ गयी हैं कि उसका पति चक्रवर्ती हो जायगा। पद्मावत म उसकी विशेषता उसका अनुपम सौन्दर्य और पद्मिनी जाति का होना है। उन कथाओं मे प्राय राजा स्वय सिंहल नही जाते, उन्हे लाने के लिए सेनापति या मत्री जाते हैं। पद्मावत में राजा उसके रूप की प्रशसा सुन कर मुग्ध हो जाता और योगी बन कर उसे प्राप्त करने स्वय सिंहल जाता है। शेष बातें समान हें। ऊपर जिन कथाओं का उल्लेख हुआ है, प्राय उन सबमे सिंहल यात्रा और लौटती बार जहाज टूटने और काष्ठ फलक के सहारे बचने की बात आयी है और अन्त मे सबमे नायक-नायिका का मिलन होता है। इस तरह पद्मिनी या 'पद्मावती', उसका हीरामन

१—द्रष्टव्य—निबन्ध—प्राकृत अपभ्रश साहित्य और उसका हिंदी साहित्य पर प्रभाव—ले० डा० रामसिह तोमर—'आलोचना'—१९५२, पृ० ६६।

तोता, सिहल द्वीप की यत्रा, वहाँ से लौटते समय जहाज टूटना आदि बातें जो विभिन्न कथाओं मे बिखरी मिलती हैं, पद्मावत के पूर्वार्द्ध का कथा मे एक साथ मिल गयी हैं। 'स्वप्नवासवदत्ता' और 'रत्नावली' मे जैसे नायक के दो विवाह हुए हैं, वैसे ही पद्मावत मे भी हुआ है। पद्मावत की तरह सोतियाडाह का कुछ रूप रत्नावली मे भा मिलता है। पद्मावत की रचना के पूर्व विक्रम की पद्रहवीं शताब्दी मे प्राकृत मे 'रयणसेहरी-नरवइकहा' नामक एक कथा ग्रथ लिखा गया था। डा० रामसिह तोमर का कहना है कि "इस कथा मे हिन्दी काव्य 'पद्मावत' की सब बातें न्यूनाधिक रूप म मिल जाती हैं। जायसी के रत्नसेन ही इस कथा के रत्नशेखर नरपति हैं। इसके अतिरिक्त सिंहल का वणन, योग का उल्लेख, तोता पक्षी (यद्यपि उसका नाम हीरामन नही है, नामकरण संस्कार या तो जायसी ने किया होगा या कथा के किसी रचयिता ने।) इन्द्रजाल आदि सब बातो का वर्णन है। पद्मावता के स्थान पर रानी का नाम रत्नावती है लेकिन 'पद्मिनी' शब्द मिलता है।"[1] मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि रत्नावली नाटिका की रत्नावली और लीलावईकहा की लीलावता ये दोना नाम मिलकर रत्नशेखर नरपति कथा मे रत्नावती हो गये हैं और चित्तोड की पद्मिनी को उससे मिलाकर और स्वप्नवासवदता आदि के पद्मावती नाम का सस्कार होने से जायसी ने रत्नावती को बदल कर पद्मावती कर दिया है। 'रत्नशेखर' का नाम चित्तौड के राजा रत्नसिंह के नाम से मिलते ही जायसी के सामने पूरी कहानी का ढाँचा अपने आप खडा हो गया होगा। पद्मिनी रानी और हीरामन सुआ नामक लोककथा का भी उन्होने आधार बनाया होगा। यह भी हो सकता है कि एक ही मूल स्रोत (लोककथा) के आधार पर इन दोनो ग्रथो की कथा निर्मित हुई हो। पद्मावत की पूर्वार्द्ध की कथा के सबध मे डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि 'पद्मावती नाम भारतीय साहित्य मे बहुत परिचित है। सस्कृत म कई काव्यों की नायिका का नाम पद्मावती है। गुजराती साहित्य मे भी यह नाम और यह कथा परिचित है। इस बात के विश्वास करने का कारण यह है कि कहानी का मूल रूप काफी पुराना रहा होगा।"[2] सिहल देश की राजकुमारी से विवाह करने मे रोमाचक और साहसिक कार्यों तथा खतरो के लिए पर्याप्त अवकाश है। अत कथाओ मे

१—जैन साहित्य की हिन्दी साहित्य को देन—लें० डा० रामसिह तोमर, प्रेमी-अभिनन्दन ग्रथ, पृ० ४६६ ६७।

२—हिंदी साहित्य-प्रथम सस्करण-ले० डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० २७१।

इस रूढि के अधिक व्यवहार का प्रधान कारण रोमाचकता लाने की प्रवृत्ति ही है और जायसी ने उस रूढि के साथ शास्त्रज्ञ और मानव भाषा भाषी शुक तथा योगमार्ग की बातो का उपयोग कर पद्मावत के कथानक को और भी रोमाचक बना दिया है।

पद्मावत का महाकाव्यत्व

पद्मावत अलकृत या साहित्यिक महाकाव्य है अर्थात् उसकी रचना एक विशिष्ट कवि द्वारा परम्पराप्राप्त साहित्यिक शैली मे हुई है, उसकी प्राचीन हस्तलिखित प्रतियाँ उपलब्ध है और उसके रचना काल का निर्देश स्वय कवि ने कर दिया है। अत वह आल्हखण्ड और पृथ्वीराजरासो के ढग का विकसनशील महाकाव्य नही है। किंतु उसकी शैली मे विकसनशील महाकाव्यों मे प्राप्त होने वाले अनेक तत्त्व—अलौकिक और अतिप्राकृत शक्तियो मे विश्वास, कथात्मकता आदि—वर्तमान हैं। दूसरे अध्याय मे कहा जा चुका है कि रोमाचक महाकाव्य मे विकसनशील महाकाव्य के ये तत्त्व वर्तमान रहते हैं। पद्मावत के प्रधान रोमाचक तत्त्वो—कन्याहरण, सिहल की भयकर यात्रा, जहाज टूटना, अन्य साहसिक कार्य, अलौकिक अतिप्राकृत शक्तियो का मानव के साथ सबध, जादू की सिद्धि गुटिका, शास्त्रज्ञ और मानव भाषाभाषी शुक आदि का उल्लेख पहले किया जा चुका है। रोमाचक शैली की अन्य विशेषताओ की, जो पद्मावत मे मिलती हैं, विवेचना आगे की जायगी। इसमे रोमाचक शैली के इन लक्षणो के होने से यह तो स्वत सिद्ध है कि पद्मावत रोमाचक शैली का काव्य है। महाकाव्य के पूर्वकथित लक्षणो के आधार पर यहाँ उसके महाकाव्यत्व पर विचार किया जा रहा है।

१—महदुद्देश्य, महत्प्रेरणा और महती काव्यप्रतिभा

पद्मावत का उद्देश्य महान है जो कवि की महती काव्यप्रतिभा से पुष्ट होकर इस काव्य को हिन्दी के अन्य सभी प्रबन्धकाव्यो से भिन्न, एक निराले और उच्च पद पर बिठा देता है। यदि भारतीय आलकारिको की दृष्टि से देखा जाय तो इसका उद्देश्य चतुर्वर्ग के फलो मे काम और मोक्ष की प्राप्ति है। ऊपर ऊपर से देखने पर पद्मावत एक सामान्य प्रेमाख्यानक काव्य प्रतीत होता है जिसका उद्देश्य प्रेम की रोमाचक कथा कहकर पाठको का मनोरजन करना और उनकी काम वृत्ति को तुष्ट करना है। परन्तु वस्तुत पद्मावत के कवि का यह उद्देश्य नही है। यह अवश्य है कि वह लौकिक प्रेम पथ के माध्यम से अपनी बात कहता है किन्तु उसका लक्ष्य लौकिक प्रेम के रास्ते से आध्यात्मिक प्रेम की परोक्ष अनुभूति का आभास देना है। अत मोक्ष प्राप्ति ही पद्मावत

का प्रधान फल है। किन्तु कवि उसकी ओर पाठकों को स्थूल और प्रत्यक्ष रूप मे नही बल्कि मनोवैज्ञानिक और प्रतीकात्मक ढग से परोक्ष रूप मे अग्रसर करता है। जिस तरह सूरदास, मीरा, नन्ददास प्रभृति भक्त कवियो का प्रेम, शृगार और विलास का वर्णन लौकिक होते हुए भी आध्यात्मिक रग म रँगा हुआ है उसी तरह जायसी का प्रेम भावना और शृगार व्यजना लौकिक होते हुए भी आध्यात्मिक रग म डूबी हुई है। अत अप्रत्यक्षत पद्मावत का फल मोक्ष है। कवि ने मोक्ष मार्ग पर आगे बढाने वाली निर्वेद की भावनाओ की अभिव्यक्ति काव्य के अन्त म स्पष्ट रूप से इस तरह की है —

औ जौ गाँठि कत तुम्ह जोरी। आदि अन्त दिन्हि जाइ न छोरी॥
एहि जग काह जो आथि निआथी। हम तुम नाह दुहू जग साथी॥

× × ×

राती पिय के नेह गई सरग भयेउ रतनार।
जो रे उवा सो अथवा रहा न कोइ ससार॥ दोहा ६५०

किन्तु चतुर्वर्ग फल की दृष्टि से न देखकर यदि व्यावहारिक और साहित्यिक दृष्टि मे देखा जाय तो भी पद्मावत का उद्देश्य महान दिखलाइ पडता है। पद्मावत मे मानवता के उस सच्चे स्वरूप का उद्घाटन किया गया है जो प्रेम, उदारता, त्याग और सहिष्णुता की व्यापक भूमि पर प्रतिष्ठित है। अत उसका उद्देश्य व्यापक और उदार मानवता का प्रसार और मानव हृदय का विस्तार और परिष्कार करना है। यद्यपि पद्मावत मूलत एक आध्यात्मिक काव्य है किन्तु जायसी ने अपनी आध्यात्मिकता और मतवाद को पाठको पर बलात् लादने का प्रयत्न नही किया है। अपनी बात उन्होंने ऐसी मार्मिक पद्धति से कही है कि उनका उद्देश्य भी सिद्ध हो जाता है और पाठको को इस बात का पता भी नही चलता कि उनका हृदय परिवर्तन किया जा रहा है। हृदय परिवर्तन की इस प्रक्रिया मे जाति, धर्म, रग और राष्ट्रो के ऊपरी भेद बधन सहज ही टूट जाते हैं और मनुष्य इस काव्य सरोवर म स्नान करके स्वाभाविक और विशुद्ध मानव बन कर निकलता है, उसका हृदय कोमल, उदार और प्रशस्त बन गया रहता है। इस हृदय परिवतन और चित्त परिष्कार का कारण आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दो मे यह है कि 'एक ही गुप्त तार मनुष्य मात्र के हृदयों से होता हुआ गया है जिसे छूते ही मनुष्य सारे बाहरी रूप रग के भेदों की ओर से ध्यान हटा एकत्व का अनुभव करने लगता है।"[1] जायसी ने अपने

१—जायसी ग्रन्थावली—भूमिका—पचम सस्करण, सपादक रामचन्द्र शुक्ल पृ० २।

महान उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसी गुप्त तार को झकृत करके मनुष्य मात्र के, चाहे वह जिस जाति, धर्म या वर्ग का हो, हृदय को जाग्रत और गुञ्जरित करने का प्रयत्न किया है। इसके लिए उन्होंने मानव की सर्वप्रमुख मनोवृत्ति काम को अपना माध्यम बनाया है और जिस तरह विष भी शोध कर अमृतोपम औषधि बन जाता है, उसी तरह जायसी की काव्य प्रतिभा ने 'काम' को शोधकर उसे आध्यात्मिक प्रेम का रूप दे दिया है। तत्कालीन सघर्षमय भारतीय पटभूमि पर इस आध्यात्मिक प्रेम ने शान्ति, स्नेह और उदारता की अमृत वर्षा का कार्य किया। इस सबध मे शुक्ल जी ने लिखा है, "अपनी कहानियो द्वारा इन्होंने प्रेम का शुद्ध मार्ग दिखाते हुए उन सामान्य जीवन दशाओ को सामने रखा जिनका मनुष्य मात्र के हृदय पर एक प्रभाव दिखाई पडता है। हिंदू हृदय और मुसलमान हृदय आमने सामने करके अजनबीपन मिटानेवालो मे इन्हीं का नाम लेना पडेगा। इन्होंने मुसलमान होकर हिंदुओ की कहानिया हिन्दुओं की ही बोली मे पूरी सहृदयता से कह कर उनके जीवन की मर्मस्पर्शिनी अवस्थाओ के साथ अपने उदार हृदय का पूर्ण सामञ्जस्य दिखा दिया। कबीर ने केवल भिन्न प्रतीत होती हुई परोक्षसत्ता की एकता का आभास दिया था। प्रत्यक्ष जीवन की एकता का दृश्य सामने रखने की आवश्यकता बनी थी। यह जायसी द्वारा पूरी हुई।"[1] इस प्रकार जायसी का अध्यात्मवाद व्यवहारिक दृष्टि से उदार और प्रेम प्रवण मानवतावाद है और उसी की प्रतिष्ठा करना अर्थात् मानव मानव को एक ही उच्च मनोभूमि पर खडा करके तथा धर्म, जाति आदि की कृत्रिम दीवालो को तोड कर मानव मात्र को एक सूत्र मे बाँधना ही पद्मावत का महान उद्देश्य है और जायसी अपने इस उद्देश्य की पूर्ति मे निश्चित रूप से सफल हुए हैं।

इतने महान् उद्देश्द को अपनी कल्पना मे उतार कर उसे काव्य के रूप मे सफलता पूर्वक अभिव्यक्त करना सामान्य कवि का काम नहीं है। महाकाव्य की रचना कोई महती काव्यप्रतिभा वाला कवि ही करता है, वह भी तब जब कि कोई अत्यन्त शक्तिमयी प्रेरणा उसे स्थायी रूप से अभिभूत कर लेती है। जायसी की काव्यप्रतिभा कितनी महनीय थी, यह इसी से स्पष्ट है कि साधारण किसान होकर तथा उच्च वर्गीय साहित्य और सस्कृति के वातावरण से दूर ग्रामीण जीवन के बीच रह कर भी उन्होंने अपनी उत्कृष्ट कल्पना को 'पद्मावत' के रूप मे मूर्त किया है। ब्रह्म, जीव और ससार के पारस्परिक सबधों की गुत्थी को सुलझाने के लिए उन्होने जिस जीवन्त कथानक की कल्पना की है

१ वही—पृ० वही।

और उसमे अत्यन्त मर्मस्पशा स्थलो का चुनाव करके समग्र मानव हृदय का रस निचोड कर जिस प्रकार अपने काव्य को आकषक और रसमय बना दिया है और साथ ही लौकिक सत्य की अनुभूति का उहोंने जिस कुशलता से उर्ध्वगामी बनाकर आध्यात्मिक जगत् की ओर अग्रसर किया है, वैसा सामान्य प्रतिभा वाला कवि कभी नही कर सकता। उनकी यही काव्यशक्ति उन्हे अन्य सूफी प्रेमाख्यानक कवियो से भिन्न भूमिका पर स्थापित करती है। काव्य रचना का उद्देश्य तो कुतुबन, मझन, उसमान आदि सबका वही था जो जायसी का था। कि तु उन कवियों म जायसी जेसी स्वाभाविक और शक्तिमती काव्यप्रतिभा नही थी। जायसा की का यप्रतिभा के दर्शन सबसे अधिक पद्मावत के रूप सौन्दर्य और विरह की मनोदशाओ के वर्णन में होते हैं जिनमे उन्होने परमसत्य के चिरन्तन, अनन्त ओर अनिर्वचनीय सौन्दय को मानव जगत् म प्रतिबिम्बित करके भी उसकी विराटता और अनन्तता को नहीं नष्ट होन दिया, साथ ही उस अनिवचनीय वण्यवस्तु की आभा को पूर्णत झलका भी दिया है। उसी तरह उनका विरह वणन मानवीय विरह के आवरण में परमात्मा से वियुक्त जीव की आकुलता और तडपन का वर्णन है। इस प्रकार के समासोक्तिपूर्ण वस्तु वर्णन और प्रतीकात्मक शैली की अभिव्यक्ति विराट काव्यचेतना की ही देन हो सकती है। सामान्य काव्य प्रतिभा मे इतनी दूर तक उडने ओर फिर भी अपन मूल विषय को सम्भाल कर पकडे रहने का शक्ति नहीं होती। जायसा मे वह काव्यशक्ति समुचित मात्रा मे विद्यमान है जिसके कारण पद्मावत मे विविध प्रकार के सम्बन्धों का निर्वाह, विचारों और भावनाओ, कथात्मकता और वर्णनात्मकता, गीतितत्त्व और नाट्यतत्त्व, बौद्धिकता और भावुकता आदि का सुन्दर सामञ्जस्य दिखाई पडता है।

महत् उद्देश्य और महती काव्यप्रतिभा भी बेकार हो जाँय यदि कवि को महाकाव्य की उदात्त कल्पना करने तथा द्रष्टा ऋषि क समान बाह्य जगत और अन्तजगत् को हस्तामलकवत अपनी दृष्टि म रखने के लिए प्रेरित करनेवाला कोई प्रेरक शक्ति न हो। यह प्रेरक शक्ति या यह प्रेरणा (इंस्परशन) बाह्य नहीं, आन्तरिक होती है। क्रौंच वध देखकर बाल्मीकि के मुख से छन्द अवश्य फूटा पर रामायण की महत्प्रेरणा उनकी वह विराट करुणामयी चेतना थी जो उनके मन म प्रसुप्त पडी थी और जो क्रौंच वध देखकर एकाएक जाग पडी थी। पद्मावत म जायसी की महत्प्रेरणा उनकी अद्वैत चेतना है। जायसी सिद्ध फकीर थे, आध्यात्मिक साधना की आर उ हे उन्मुख करन वाली कोई घटना घटित हुई होगी

या किसी गुरु ने उन्हे प्रेम मार्ग का मन्त्र दिया होगा। किन्तु ये सभी बातें तो बाह्य हैं, मूल वस्तु तो परमसत्ता के लिए वह व्याकुलता और तडपन है जो जायसी के हृदय मे प्रसुप्त रूप मे पहले ही से थी और जो पद्मावत म आदि मे अन्त तक उसकी प्राणशक्ति के समान, व्याप्त दिखाई पडती है। यह अद्वैत-चेतना प्रेममूला है, शाकर वेदान्त जैसी ज्ञानमूला नही। साथ ही जायसी की अद्वैत चेतना म वह सूफी प्रतिबिम्बवाद भी मिला हुआ है जिसके अनुसार यह जगत् माया रूप होते हुए भी ब्रह्म की अभिव्यक्ति है और वह निर्गुण ब्रह्म इसी जगत् के बीच अपनी झलक दिखाता है। यह विश्वास जायसी के हृदय मे इतनी गहराई तक पैठा हुआ था कि पद्मावत की पक्ति पक्ति मे उसी का उजास जैसे बिखरा हुआ है। उनका घनीभूत आध्यात्मिक विश्वास ही, जिसे ऊपर अद्वैत चेतना कहा गया है, वह महती प्रेरणा है जो जायसी की काव्य प्रतिभा को प्रदीप्त करने वाली और उनके महदुद्देश्य को सफलता की ओर सतत अग्रसर करने वाली है। इसी महत्प्रेरणा के फलस्वरूप जायसी मे वह तन्मयता आ सकी है जो तुलसी, सूर, मीरा आदि कुछ इने गिने भक्त कवियों को छोडकर अन्यत्र कही भी नही दिखाई देती। इस महत्प्रेरणा और तन्मयता के फलस्वरूप पद्मावत मे जिस महदुद्देश्य या फल की सिद्धि होती है, वह है शारीरिक शक्ति और भौतिक अवरोधों के ऊपर उस अनन्य प्रेम की विजय जो अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँच कर परम शान्ति का जनक होता है। पद्मावत श्रृगार रस प्रधान होते हुए भी शान्त रस म पर्यवसित हुआ है। उस महत्प्रेरणा के न रहने पर यही कथानक करुण रस—पर्यवसायी बन जाता। काव्य के अन्त मे रतनसेन की मृत्यु और पद्मावती तथा नागमती का सती होना दिखाकर जायसी ने भौतिक प्रेम को भौतिक जगत् से बहुत ऊपर उठाकर आध्यात्मिक जगत् म पहुँचा दिया है जहाँ चिर मिलन और परम शाति के अतिरिक्त और कुछ नही है। यही इस महाकाव्य के उद्देश्य की सफलता है और इस सफलता का श्रेय कवि की काव्यप्रतिभा और महत्प्रेरणा को है।

२—गुरुत्व, गाम्भीर्य और महत्व

महाकाव्य का एक प्रधान लक्षण उसमे गुरुत्व, गाम्भीर्य और महत्व का होना है। पद्मावत मे गुरुत्व की प्रतिष्ठा उसके दार्शनिक विचारो, आध्यात्मिक अनुभूतियों और चरित्रो की विशिष्टता के कारण हुई है। इन्ही बातो के कारण वह रोमाचक काव्य होता हुआ भी सस्ते कथात्मक और मनोरजनप्रधान प्रेमाख्यानो स भिन्न प्रकार का काव्य है। जायसी का मानसिक धरातल तुलसी जैसा व्यापक तो नहीं है किन्तु उनके पद्मावत मे दार्शनिक घनत्व और प्रौढ विचार वैभव बहुत अधिक

है। जायसी पहुँचे हुए फकीर और प्रसिद्ध सूफी संत निजामुद्दीन औलिया की शिष्य परम्परा में थे। अतः सूफी सिद्धान्तों तथा इस्लाम धर्म का उन्हें ज्ञान था। किन्तु भारतीय दर्शन और हिन्दू धर्म की जानकारी भी उन्हें कम नहीं थी। इन सब विचारधाराओं का सामंजस्य पद्मावत में दिखलाई पड़ता है। रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार "तत्त्वदृष्टि सम्पन्न होने के कारण जायसी के भाव अत्यन्त उदार थे। पर विधि विरोध, विद्वानों की निन्दा, अनधिकार चर्चा, समाज विद्रोह आदि उनकी उदारता के भीतर नहीं थे। व्यक्तिगत साधना की उच्च भूमि पर पहुँच कर भी लोकरक्षा और लोकरंजन के प्रतिष्ठित आदर्शों को वे प्रेम और सम्मान की दृष्टि से देखते थे।[1] जायसी के इस उदार और सामंजस्यपूर्ण दृष्टिकोण की जो अभिव्यक्ति पद्मावत में हुई है उसने इस काव्य के गुरुत्व में वृद्धि हुई है। पद्मावत की दार्शनिकता उसमें अलग से चिपकाई हुई या कथा के ऊपर बोझ की तरह लादी हुई नही है। वह काव्य के शरीर के भीतर उसकी आत्मा की तरह व्याप्त है और जगह जगह उसका प्रकाश बाहर फूटता हुआ दिखलाई पड़ता है। इसी को विद्वानों ने जायसी की समासोक्ति या सांकेतिक पद्धति कहा है। उदाहरण के लिए अलाउद्दीन दर्पण में पद्मावती का प्रतिबिम्ब देखकर जो भाव व्यक्त करता है वह अपने सहज अर्थ में पूर्ण होते हुए भी सूफी मत के प्रतिबिम्बवाद की ओर स्पष्टतया संकेत करता है —

देखि एक कौतुक हौं रहा। रहा अन्तरपट पै नहि अहा।
सरवर देख एक मैं सोई। रहा पानि औ पान होई।
सरग आइ धरती महँ छावा। रहा धरति पै धरत न आवा।
तिन्ह महँ पुनि एक मन्दिर ऊँचा। करन्ह अहा पर न पहूँचा।

पद्मावत में इस प्रकार की गम्भीर व्यंजनाएँ भरी हुई हैं जिनमें कथाक्रम मे व्यवधान डाले बिना ही गम्भीर दार्शनिक चिंतन और गूढ़ आध्यात्मिक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति हुई है। पद्मावत का नायक रतनसेन शास्त्रीय महाकाव्यों के ढंग का धीरोदात्त चरित्र वाला आदर्श नायक नहीं है। फिर भी उसमे कुछ चारित्रिक वैशिष्ट्य अवश्य है। वह विशिष्टता उसके अनन्य प्रेम और प्रिय की प्राप्ति के लिए अदम्य साहस और असीम त्याग के प्रदर्शन में निहित है। रतनसेन की यह चरित्रगत उच्चता और उसका गम्भीर प्रेम भी पद्मावत को गुरुत्व प्रदान करता है। पद्मावत के अनेक पात्र मनोवृत्तियों के प्रतीक के रूप में दिखलाई पड़ते हैं और उसकी इस प्रतीकात्मक शैली से भी उसमे गुरुत्व आया है।

१—वही—पृ० १३३।

पद्मावत का गाम्भीर्य उसकी विविध मनोदशाओ की मार्मिक अभिव्यक्ति और अनुभूतियो की सच्चाई और गहराई मे निहित है। वह कथासरित्सागर और लीलावईकहा जैसी कथाओ से इसी कारण भिन्न होकर उच्चकोटि के महाकाव्यो की श्रेणी म आ गया है कि उसम कवि ने कथा के मार्मिक स्थलो की पहचान कर वहाँ विविध प्रकार की मनोभावनाओ और अनुभूतियो की मर्मस्पर्शी और गम्भीर अभिव्यजना की है। विविध प्रकार की अनुभूतियो की अभिव्यक्ति के लिए उचित अवसर का चुनाव और उसमे व्यापकता, तीव्रता और गहराई की योजना, ये दो बाते महाकाव्य के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं। पद्मावत मे प्रेम, उत्साह, वैराग्य, शोक, करुणा, भक्ति, आश्चर्य, भय आदि स्थायी भावो की अत्यन्त गहराई के साथ अभिव्यक्ति हुई है और विविध मनोदशाओं की सच्ची और मार्मिक अनुभूतियो का सफल चित्रण भी हुआ है। किन्तु उनमे भी प्रेम और सौन्दर्यानुभूति की व्यजना मे ही जायसी का मन सबसे अधिक रमा है। पद्मावत के कवि की सौन्दर्य चेतना आतरिक सौदर्य या स्वभाव सौदर्य की ओर उतनी नहीं झुकी है जितनी बाह्य रूप सौदर्य की ओर। किन्तु इस बाह्य सौदर्य को ही उसने इतना व्यापक और विराट् बना दिया है कि वह लौकिक सौदर्य के भीतर प्रतिबिम्बित होने वाला आध्यात्मिक लोक का अनन्त और विराट् सौदर्य प्रतिभासित होने लगता है। यही विराट् और गम्भीर सौदर्य तथा गहरी और सच्ची प्रेम की अनुभूतियाँ पद्मावत के गाम्भीर्य के मूल में हैं। किंतु यहाँ एक बात ध्यान मे रखने की है कि पद्मावत की गभीरता म तूफानो वाले सागर जैसी वह हलचल और उथल पुथल नही है जो महाभारत, रामायण, रासो और रामचरितमानस जैसे महाकाव्या में दिखाई पडती है। पद्मावत ऐसे गम्भीर और शान्त सागर के समान है जिसमे ऊपर ऊँची ऊँची लहरे तो नही उठतीं किन्तु जिसके गहरे तल मे ज्वालामुखी सुलगता है और जिसमे अनन्त आकाश का सौन्दर्य ऊपर से नीचे तक प्रतिबिम्बित दिखाई पडता है। पद्मावत मे जीवात्मा की परमात्मा से मिलने की व्याकुलता और तडपन सागरतलवर्ती ज्वालामुखी के समान है और उसका आध्यात्मिक सकेत ही आकाश का प्रतिबिम्ब है। इस तरह इस महाकाव्य की गभीरता सूक्ष्म और आन्तरिक है।

३—महत्कार्य और युग जीवन के विविध चित्र

आलकारिको के अनुसार प्रबन्धों का कार्य महत् होना चाहिये। यहाँ विचारणीय प्रश्न यह है कि पद्मावत का महत्कार्य क्या है। शुक्ल जी के अनुसार 'पद्मावत मे कार्य है पद्मावती का सती होना'। प्राचीनो के अनुसार कार्य महत्वपूर्ण होना चाहिए, नैतिक, सामाजिक या मार्मिक प्रभाव की दृष्टि

से कार्य बड़ा होना चाहिए जैसा 'रामचरित' में रावणवध है और 'पद्मावत' में पद्मिनी का सती होना।'[1] एक दूसरे विद्वान श्री रामकृष्ण शुक्ल 'शिलीमुख' शुक्ल जी से अपना मतभेद प्रकट करते हुए कहते हैं, 'परन्तु हमारी दृष्टि में तो पद्मावती का सती होना भी 'कार्य' नहीं है। रत्नसेन कथा का नायक है और उसी के उद्देश्य से 'कार्य' का निर्धारण होना चाहिये। रत्नसेन का उद्देश्य पद्मावती को प्राप्त करना है, अतः पद्मावती की प्राप्ति ही 'पद्मावत' का कार्य मानना चाहिए। यह देखते हुए कथा का उपसंहार भी नायक द्वारा 'कार्य' की प्राप्ति के बाद हो जाना चाहिये था।''[2] इस सम्बन्ध में मेरा निवेदन यह है कि दुःखान्त प्रबन्धकाव्यों में शास्त्रीय ढंग का 'कार्य' नहीं होता। कार्य सिद्धि के हेतु के रूप में नाटकों के लिए पाँच अर्थप्रकृतियाँ आवश्यक मानी गयी हैं। इनमें से पाँचवीं अर्थप्रकृति 'कार्य' है। भारतीय नाटक आदर्शवादी और सुखान्त होते थे और उनमें नायक को अवश्यम्भावी रूप से फल प्राप्ति होती थी। इसे ही फलागम नामक कार्य की पाँचवी अवस्था भी कहते हैं। नाटकों में पाँच सन्धियों का विधान होने से नायक की समूची जीवन कथा चित्रित करने का अवकाश नहीं होता था। उनमें जीवन की महत्वपूर्ण घटनाओं का इस प्रकार चुनाव होता था जिससे कथा का क्रमिक विकास स्पष्ट दिखाई पड़ता था। कथा के अन्त में फलागम या 'कार्य' होता था और उसके पूर्व की सभी घटनाएँ उस अंतिम कार्य के हेतु के रूप में होती थीं। शास्त्रीय महाकाव्यों में भी यही बात पायी जाती है क्योंकि उनमें भी नाटकीय सन्धियों की योजना होती है और उनका अन्त सुखात्मक होने से नायक को फल की प्राप्ति होती है। पाश्चात्य देशों के नाटकों में यह बात नहीं होती। वे प्रायः दुःखान्त होते हैं और उनमें कार्य या फलागम नहीं बल्कि 'कार्यक्षय' या नायक का विनाश दिखाया जाता है। पद्मावत का अन्त भी इसी प्रकार का है। हम पहले देख चुके हैं कि पृथ्वीराजरासो और आल्हखण्ड भी दुःखान्त ही हैं और उनमें भी नायकों को फल प्राप्ति नहीं होती। अतः पद्मावत में शास्त्रीय महाकाव्यों जैसा 'महत्कार्य' ढूँढ़ना बेकार है।

पद्मावत वस्तुतः चरितकाव्यों के ढंग का महाकाव्य है जिनमें नायक नायिका का, जन्म से लेकर मृत्यु तक का जीवन वृत्तान्त वर्णित हुआ है। अतएव उसमें नाटकों या शास्त्रीय महाकाव्यों की तरह घटनाओं का चुनाव

१—वही पृ० ७३ ७४।

२—सुकवि-समीक्षा-प्रथम संस्करण—ले० रामकृष्ण शुक्ल 'शिलीमुख', पृ० ७१।

इस प्रकार नही हुआ है कि कथा का अ त सुखान्त हो और नायक को फल की प्राप्ति हो। इस दृष्टि से प्रो० रामकृष्ण शुक्ल का उपर्युक्त कथन सही है कि पद्मावती की प्राप्ति ही नायक की दृष्टि से फलागम है। इस तरह पद्मावत का पूर्वार्द्ध अपने आपमे एक पूर्ण काव्य है। उत्तरार्द्ध एक भिन्न कथानक को लेकर चला है जिसका संघटन दु खान्त नाटकों के ढग का है। अत इस दूसरे कथानक मे भारतीय ढङ्ग का फलागम या 'कार्य' नही, बल्कि पाश्चात्य ढङ्ग की अ तिम कार्यावस्था दिखलाइ पडती है जिसे 'अवसान' (कैटेस्ट्राफी) कहा जाता है। इस प्रकार अन्त मे पाठकों की सहानुभूति प्रतिनायक के प्रति नहीं बल्कि नायक के प्रति ही होती है यद्यपि उनमे अ तिम रूप मे नायक की पराजय या मृत्यु और प्रतिनायक की विजय ही दिखलायी जाती है। किन्तु पद्मावत का अ त पाश्चात्य नाटका जैसा झकझोरने वाला (शाकिंग) और पाठको के मन मे नियति या परिस्थितियो के प्रति विद्रोह अथवा आत्मसमर्पण की भावना उत्पन्न करने वाला भी नही है। इसके विपरीत वह जैन चरित काव्यो जैसा निर्वेद उत्पन्न करने वाला और नैतिक और आध्यात्मिक शक्ति प्रदान करने वाला है। प्राय सभी जैन चरितकाव्यो मे नायक को फलप्राप्ति के कुछ दिनो बाद सुख ऐश्वर्य का भोग करते हुए अन्त मे जगत् की नश्वरता दिखाने वाली किसी घटना से या किसी मुनि से पूर्व भव का वृत्ता त या धार्मिक उपदेश सुन कर निवद होता है और वह जैन साधु होकर अन्त मे निर्वाण प्राप्त करता है। इसीसे मिलता जुलता अन्त पद्मावत का भी है। नायक रतनसेन पद्मावती को प्राप्त करके चित्तौड में लौटकर सुखपूर्वक दिन बिताने लगता है। यही नायक की दृष्टि से फलागम है। किन्तु कथा वहीं समाप्त नहीं होती। इस मिलन के स्थायित्व मे बाधा उपस्थित करने वाली शक्तियों—राघवचेतन, अलाउद्दीन और देवपाल—के कारण फिर विरोध का प्रारभ होता है जो भयकर युद्ध, सधि, रतनसेन के बन्धन, देवपाल का पद्मिनी को बहकाने का प्रयत्न और रतनसेन से उसके युद्ध के रूप मे व्यक्त हुआ है। इस विराध और सघर्ष को जायसी ने जीवन सघष के प्रतीक के रूप में चित्रित किया है जिसम प्रत्येक प्राणी को काल के हाथों पराजित होना पडता है। जायसी ने रतनसेन की मृत्यु का कारण अलाउद्दीन या देवपाल को नहीं बल्कि स्वय काल को माना है। उन्होने स्पष्ट कहा है —

राजहि तहाँ गएउ लै कालू। होइ सामुहँ रोपा देवपालू। दोहा ६४५

× × ×

मेलेसि सागि आइ विख भरी । मेटि न जाइ काल की घरी । दोहा ६४६

× × ×

काल आइ देखराई साँटी । उठि जिउ चला छाडि कै माँटी । दोहा ६४७

और इसके बाद नागमती और पद्मावती का सती होना और राजपूत स्त्रियो का जौहर करना दिखाकर जायसी ने सुख ऐश्वर्य, राज्य और शक्ति, रूप और अहकार सबकी अनित्यता सिद्ध करते हुए अन्त में अलाउद्दीन के मन म भी नश्वरता का भावना उत्पन्न कर दी है —

छार उठाइ लीन्ह एक मूँठी । दीन्हि उडाइ पिरिथमी झूठी ।
जौ लगि ऊपर छार न परई । तब लगि नाहि जो तिस्ना मरई ।

इस प्रकार पद्मावत म जीवन सघष म जूझते हुए मानव के स्वाभाविक अन्तिम परिणाम मृत्यु का चित्रण करके जगत का अनित्यता का उपदेश मनोवैज्ञानिक पद्धति से दिया गया है । जैन काव्यो म अन्त म अस्वाभाविक स्थूल और घिसे पिटे ढग मे अनित्यता का चित्रण किया गया है, यह बात पद्मावत मे नही है ।

इस प्रकार पद्मावत के पूर्वार्द्ध मे भारतीय ढग का 'कार्य' (पद्मावती की प्राप्ति) है और उत्तरार्द्ध म पाश्चात्य ढग का 'अन्त' या 'विनाश' रतनसेन और पद्मावती की मृत्यु के रूप म दिखाइ पडता है । किन्तु समूचे काव्य का महत्कार्य उस वैराग्य भावना और शाश्वत मानसिक शान्ति की प्राप्ति है जो अनन्य प्रेम के कारण आत्मोत्सर्ग और बलिदान से तथा जगत् के सघर्षो मे जूझ कर उसकी नश्वरता का प्रत्यक्ष दर्शन करने से उत्पन्न होती है । जायसी ने इस भावना की ओर थोडे मे सकेत भर किया है । आचार्य शुक्ल जी ने इसी बात को ध्यान में रख कर लिखा है कि "अन्तिम दृश्य से अत्यत शान्तिपूर्ण उदासीनता बरसती है । कवि की दृष्टि में मनुष्य जीवन का सच्चा अन्त करुण क्रन्दन नहीं, पूर्ण शान्ति है ।"[1] यह तो पाठकों की दृष्टि से कार्य के स्वरूप का निर्धारण हुआ । किन्तु यदि नायक नायिका के फलागम की दृष्टि से देखें तो इस भौतिक जगत् के बन्धनो और मिलन मार्ग के अवरोधो से मुक्त होकर आध्यात्मिक लोक मे रतनसेन और पद्मावती का शाश्वत मिलन या दूसरे शब्दो मे असीम और अनन्य प्रेम की भौतिक शक्तियो पर विजय और भौतिक जगत के बन्धनों से मुक्त होकर उसका आध्यात्मिक प्रेम में परिवर्तन ही पद्मावत का महत्कार्य है ।

१—जायसी ग्रथावली—भूमिका—पचम सस्करण, सपादक रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ६८ ।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि लौकिक जगत् की दृश्य घटनाएँ ही काव्य का विषय हो सकती हैं, आध्यात्मिक जगत् की अद्भुत अदृश्य घटनाएँ नहीं। इसका उत्तर यही है कि स्वर्ग लोक की घटनाओ का चित्रण तो शाकुतल आदि काव्यों मे हुआ ही है पर वह दृश्य चित्रण है। जायसी ने अन्त मे नायक नायिका के आध्यात्मिक लोक मे अदृश्य मिलन का सकेत भर किया है। सती होने की घटना से यह स्वत सिद्ध है कि नागमती और पद्मिनी का आध्यात्मिक लोक म रतनसेन से मिलन हो गया होगा। जायसी ने इस आध्यात्मिक मिलन का दृश्य रूप मे वर्णन इसलिए नही किया कि वे दृश्य और अदृश्य, भौतिक और पारमार्थिक सत्ता म अधिक अन्तर नही देखते। उनके सिद्धा ता के अनुसार इस लौकिक जगत् के क्रिया कलाप का क्रम आध्यात्मिक जगत् मे भी जारी रहता है यानी भौतिक प्रेम की चरम परिणति आध्यात्मिक प्रेम में होती है। इस तरह भौतिक जगत् और आध्यात्मिक जगत् की सीमा रेखा मिटा देन पर उपर्युक्त बाधा भी दूर हो जाती है।

पद्मावत के महत्काय का यह विवेचन शास्त्रीय दृष्टि से किया गया है। किंतु महत्कार्य का सामान्य अर्थ होता है कोई महती घटना जिसका नायक के जीवनवृत्त तथा समाज के समूचे जीवन पर व्यापक, गहरा और स्थायी प्रभाव पडा हो। ऐसा महत्त्वपूण कार्य महाकाव्य मे अवश्य हाना चाहिये। साथ ही यह आवश्यक नही है कि वह महत्कार्य का य के अन्त मे ही आवे। वह काव्य के मध्य म या अन्त से कुछ पहले भी हो सकता है जैसे रामचरितमानस मे राम रावण युद्ध और रावण वध काव्य के अन्त के बहुत पहले ही हो गया है। रासो मे भी यही बात दिखाई पडती है। महाभारत म महायुद्ध के बाद भी अनेक घटनाएँ वणित हुइ हैं। इस दृष्टि से पद्मावत का महत्कार्य रतनसेन और अला उद्दीन का युद्ध है। इस युद्ध के पूर्व का रतनसेन का समूचा जीवन-वृत्त इस महत्कार्य की भूमिका प्रस्तुत करता है और उसके बाद की सभी घटनाये उस महत्कार्य के भयकर परिणाम और प्रभावो के चित्रण के लिए नियोजित हुई हैं। यह युद्ध भारतीय इतिहास की एक महत्वपूर्ण घटना है और नायक नायिका के जीवन पर भी उसका निणायक और ध्वसात्मक प्रभाव पडा है। अत वह युद्ध जो इस काव्य का प्रमुख विषय (थीम) है, महाकाव्योचित महती घटना है और वही पद्मावत का महत्कार्य है। इस महत्कार्य का परिणाम ऊपरी दृष्टि से देखने पर शिव पक्ष की पराजय और अशिव पक्ष की विजय प्रतीत होता है। परन्तु वस्तुत ऐसी बात नहीं है क्योकि पद्मावती और रतनसेन मर कर भी मरे नही और पराजित होने पर भी उनकी पराजय नही हुई। उसी तरह

तरह अलाउद्दीन जीत कर भी हार गया क्योंकि न तो पद्मिनी उसके हाथ लगी न वह रतनसेन को पद्मिनी से वियुक्त ही कर सका। रतनसेन अलाउद्दीन के हाथ से न मरकर देवपाल के हाथों मारा गया, देवपाल स्वयं भी मारा गया और पद्मिनी अलाउद्दीन के हाथ में पड़ने से पूर्व ही सती हो गयी। वह रतनसेन और पद्मावती के अनन्य प्रेम की विजय है। भले ही वे अपने भौतिक शरीर से जीवित नहीं है पर उनका यश शरीर आज भी जीवित है और हमेशा जीवित रहेगा। इसी बात को जायसी ने भी कहा है —

कहँ सुरूप पदमावति रानी। कोइ न रहा जग रही कहानी।
धनि सो पुरुख जस कीरति जासू। फूल मरै पै मरै न बासू।
केइ न जगत जस बेंचा, केइ न लीन्ह जस मोल।
जो यह पढ़ै कहानी हम सँवरै दुइ बोल॥ ६५२

युग-जीवन के विविध चित्र—महाकाव्य में महत्कार्य के अनुरूप समग्र जीवन के व्यापक चित्रपट पर युग जीवन के विविध पक्षों का चित्रण होना चाहिए। पद्मावत के चित्रपट में महाकाव्योचित व्यापकता और उसके चित्रों में पर्याप्त वैविध्य है। यह महाकाव्य रतनसेन और पद्मावती के संपूर्ण जीवन की गाथा है और इसका कथा का कार्यक्षेत्र दिल्ली से लेकर सिंहल तक फैला हुआ है। इसके कथा काल की लम्बाई और कार्यभूमि के विस्तार के कारण पद्मावत में जीवन की नाना परिस्थितियों, विविध मानसिक दशाओं, घटनाओं और क्रिया प्रतिक्रिया का सन्निवेश हुआ है। साथ ही पद्मावत अपने 'युग' के जीवन का बहुत कुछ यथार्थ चित्र भी उपस्थित करता है। जायसी के समय में नाथपंथी योगियों का प्राबल्य था। उस समय तक योगियों और साधुओं की सेना भी संघटित होने लगी थी। पृथ्वीराजरासो में कनवज्ज खण्ड में योगियों की सेना का पृथ्वीराज से युद्ध हुआ था। आल्हखण्ड में आल्हा ऊदल का दल भी योगी बन कर और कभी कभी समूची सेना का योगी वेश में छल कर लड़ने जाना है। पद्मावत में भी रतनसेन १६ हजार योगियों के साथ सिंहल जाता है और शिव की सहायता से सिंहल के दुर्ग गढ़ पर चढ़ाई करता है। इसी तरह चित्तौड़ से उड़ीसा तक की यात्रा और फिर सिंहल की समुद्र यात्रा और वापसी यात्रा में समुद्री तूफान आदि का भी जायसी ने बड़ा ही विशद् चित्रण किया है जिससे पता चलता है कि उस समय तक भारत का समुद्री व्यापार कम नहीं हुआ था और न समुद्र यात्रा ही पाप मानी जाती थी। किसी राजा की कन्या का रूप, गुण सुन कर उसे प्राप्त करने के लिए सैन्य आक्रमण भी उस युग में होता ही था और मुसलमान बादशाह हिन्दू राजाओं की कन्याओं और स्त्रियों

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि लौकिक जगत् की दृश्य घटनाएँ ही व का विषय हो सकती हैं, आध्यात्मिक जगत् की अद्भुत अदृश्य घटनाएँ न। इसका उत्तर यही है कि स्वर्ग लोक की घटनाओ का चित्रण तो शाकु आदि काव्यों मे हुआ ही है पर वह दृश्य चित्रण है। जायसी ने अन्त मे नाय नायिका के आध्यात्मिक लोक म अदृश्य मिलन का सकेत भर किया है। स होने की घटना से यह स्वत सिद्ध है कि नागमती और पद्मिनी का आध्यात्मि लोक म रतनसेन से मिलन हो गया होगा। जायसी ने इस आध्यात्मिक मिल का दृश्य रूप मे वर्णन इसलिए नहीं किया कि वे दृश्य और अदृश्य, भौत और पारमार्थिक सत्ता म अधिक अन्तर नहीं देखते। उनके सिद्धा तो अनुसार इस लौकिक जगत् के क्रिया कलाप का क्रम आध्यात्मिक जगत् भी जारी रहता है यानी भौतिक प्रेम की चरम परिणति आध्यात्मिक प्रेम होती है। इस तरह भौतिक जगत् और आध्यात्मिक जगत् की सीमा रेखा मिट देने पर उपर्युक्त बाधा भी दूर हो जाती है।

पद्मावत के महत्कार्य का यह विवेचन शास्त्रीय दृष्टि से किया गया है। किंतु महत्कार्य का सामा य अर्थ होता है कोई महती घटना जिसका नायक के जीवनवृत्त तथा समाज के समूचे जीवन पर व्यापक, गहरा और स्थायी प्रभाव पडा हो। ऐसा महत्त्वपूर्ण कार्य महाकाव्य मे अवश्य होना चाहिये। साथ ही यह आवश्यक नही है कि वह महत्कार्य काव्य के अन्त मे ही आवे। वह काव्य के म य म या अन्त से कुछ पहले भी हो सकता है जैसे रामचरितमानस मे राम रावण युद्ध और रावण वध काव्य के अन्त के बहुत पहले ही हो गया है। रासो मे भी यही बात दिखाई पडती है। महाभारत म महायुद्ध के बाद भी अनेक घटनाएँ वर्णित हुई हैं। इस दृष्टि से पद्मावत का महत्कार्य रतनसेन और अला उद्दीन का युद्ध है। इस युद्ध के पूर्व का रतनसेन का समूचा जीवन वृत्त इस महत्कार्य की भूमिका प्रस्तुत करता है और उसके बाद की सभी घटनाये उस महत्कार्य के भयकर परिणाम और प्रभावो के चित्रण के लिए नियोजित हुइ हैं। यह युद्ध भारतीय इतिहास की एक महत्वपूर्ण घटना है और नायक नायिका के जीवन पर भी उसका निर्णायक और ध्वसात्मक प्रभाव पडा है। अत वह युद्ध जो इस काव्य का प्रमुख विषय (थीम) है, महाकाव्योचित महती घटना है और वही पद्मावत का महत्कार्य है। इस महत्कार्य का परिणाम ऊपरी दृष्टि से देखने पर शिव पक्ष की पराजय और अशिव पक्ष की विजय प्रतीत होता है। परन्तु वस्तुत ऐसी बात नही है क्योकि पद्मावती और रतनसेन मर कर भी मरे नही और पराजित होने पर भी उनकी पराजय नही हुई। उसी तरह

तरह अलाउद्दीन जीत कर भी हार गया क्योंकि न तो पद्मिनी उसके हाथ लगी न वह रतनसेन को पद्मिनी से वियुक्त ही कर सका। रतनसेन अलाउद्दीन के हाथ से न मरकर देवपाल के हाथों मारा गया, देवपाल स्वयं भी मारा गया और पद्मिनी अलाउद्दीन के हाथ में पड़ने से पूर्व ही सती हो गयी। यही रतनसेन और पद्मावती के अनन्य प्रेम की विजय है। भले ही वे अपने भौतिक शरीर से जीवित नहीं है पर उनका यश शरीर आज भी जीवित है और हमेशा जीवित रहेगा। इसी बात को जायसी ने भी कहा है —

कहँ सुरूप पदमावति रानी। कोइ न रहा जग रही कहानी।
धनि सो पुरुष जस कीरति जासू। फूल मरे पै मरै न बासू
केइ न जगत जस बेंचा, केइ न लीन्ह जस मोल।
जो यह पढै कहानी हम सँवरै दुइ बोल॥ ६४२

युग-जीवन के विविध चित्र—महाकाव्य में महत्कार्य के अनुरूप समग्र जीवन के व्यापक चित्रपट पर युग जीवन के विविध पक्षों का चित्रण होना चाहिए। पद्मावत के चित्रपट में महाकाव्योचित व्यापकता और उसके चित्रों में पर्याप्त वैविध्य है। यह महाकाव्य रतनसेन और पद्मावती के संपूर्ण जीवन की गाथा है और इसका कथा का कार्यक्षेत्र दिल्ली से लेकर सिंहल तक फैला हुआ है। इसके कथा काल की लंबाई और कार्यभूमि के विस्तार के कारण पद्मावत में जीवन की नाना परिस्थितियां, विविध मानसिक दशाएं, घटनाएं और क्रिया प्रतिक्रिया का सन्निवेश हुआ है। साथ ही पद्मावत अपने 'युग' के जीवन के बहुत कुछ यथार्थ चित्र भी उपस्थित करता है। जायसी के समय में नाथपंथी योगियों का प्राबल्य था। उस समय तक योगियों और साधुओं की सेना भी संघटित होने लगी थी। पृथ्वीराजरासो में कनवज्ज खण्ड में योगियों की सेना का पृथ्वीराज से युद्ध हुआ था। आल्हखण्ड में आल्हा-ऊदल का दल भी योगी बन कर और कभी कभी समूची सेना का योगी वेश में बदल कर लड़ने जाता है। पद्मावत में भी रतनसेन १६ हजार योगियों के साथ सिंहल जाता है और शिव की सहायता से सिंहल के दुरूह गढ पर चढाई करता है। इसी तरह चित्तौड से उडीसा तक की यात्रा और फिर सिंहल की समुद्र यात्रा और वापसी यात्रा में समुद्री तूफान आदि का भी जायसी ने बडा ही विशद् चित्रण किया है जिससे पता चलता है कि उस समय तक भारत का समुद्री व्यापार कम नहीं हुआ था और न समुद्र यात्रा ही पाप मानी जाती थी। किसी राजा की कन्या का रूप, गुण सुन कर उसे प्राप्त करने के लिए सैन्य आक्रमण भी उस युग में होता ही था और मुसलमान बादशाह हिन्दू राजाओं की कन्याओं और स्त्रियों

का हरण करते थे। पद्मावत के पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध दोनो ही कथाओ मे प्रधान घटना कन्या हरण और उसके लिए होनेवाला युद्ध ही है। जन्म, मृत्यु, विवाह, भोज, यात्रा, पूजा उपासना तथा धार्मिक क्रियाओं आदि के अवसर पर प्रचलित तत्कालीन रीति रिवाजों, जैसे शकुन विचार, नाच कूद, दान दहेज, पौरोहित्य कार्य, सती प्रथा आदि का पद्मावत म यथार्थ चित्रण हुआ है। इस प्रकार वस्तु व्यापारो के वैविध्यपूर्ण वर्णन और जीवन के नाना पक्षो के उद्घाटन की दृष्टि से पद्मावत प्रेमाख्यानक ढग का चरितकाव्यात्मक महाकाव्य है। इस सबध मे शुक्ल जी की यह बात विचारणीय है, "सबसे पहले तो यह प्रश्न उठता है कि प्रबन्धकाव्य मे क्या जीवनचरित के समान उन सब बातो का विवरण होना चाहिए जो नायक के जीवन मे हुई हो। सस्कृत के प्रबन्ध काव्यो को देखने से पता चलता है कि कुछ मे तो इस प्रकार का विवरण होता है और कुछ मे नही, कुछ की दृष्टि तो व्यक्ति पर होती है और कुछ की किसी प्रधान घटना पर। जिनकी दृष्टि व्यक्ति पर होती है उनम नायक के जीवन की सारी मुख्य घटनाओ का वर्णन गौरव वृद्धि या गौरव रक्षा के ध्यान से अवश्य कही कहीं कुछ उलट फेर के साथ होता है। जिनकी दृष्टि किसी मुख्य घटना पर होती है उनका सारा वस्तु विन्यास उस घटना के उपक्रम के रूप मे होता है। प्रथम प्रकार के प्रबन्धो को हम व्यक्ति प्रधान कह सकते हैं जिनके अन्तर्गत रघुवश, बुद्धचरित, विक्रमाकदेव चरित आदि है। दूसरे प्रकार के घटना प्रधान प्रबन्धो के अन्तर्गत कुमारसभव, किरातार्जुनीय, शिशुपालवध आदि हैं। पद्मावत को इसी दूसरे प्रकार के प्रबन्ध के अन्तर्गत समझना चाहिए।"[1] शुक्ल जी का अभिप्राय चरित प्रधान महाकाव्या और शास्त्रीय ढग के वर्णन प्रधान महाकाव्यो से है। चरित-प्रधान महाकाव्यो म कथात्मकता अधिक रहती है जिससे जीवन के विविध पक्षों के उद्घाटन का अवसर अधिक मिलता है। वर्णनात्मक शास्त्रीय महाकाव्यो मे कथानक का विस्तार बहुत कम होता है किन्तु कुछ गिने गिनाये वस्तु व्यापारो का बडा ही सूक्ष्म, विवृत और विशद् वर्णन रहता है। ऐसे काव्यो को घटना प्रधान नही, वर्णन प्रधान काव्य कहना अधिक सही है। वस्तुत चरितकाव्यों को ही घटना प्रधान कहा जा सकता है क्योकि उसमे अधिकाधिक घटनाओं, परिस्थितियो और व्यापारो की योजना होता है। इस दृष्टि से देखने पर शुक्ल जी का यह कथन सही नहीं प्रतीत होता कि पद्मावत शास्त्रीय ढग का

१—जायसी ग्रन्थावली—पचम सस्करण—भूमिका, प० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ७३।

वर्णन प्रधान महाकाव्य है। इसके विपरीत यह गुन्ज ज्ञान ही सन्दर्भ में व्यक्ति प्रधान प्रबन्धकाव्य है जिसे हमने ऊपर चरितकाव्य कहा है।

ऐसे महाकाव्यों में स्वभावत वर्णन प्रधान शास्त्रीय महाकाव्यों की अपेक्षा अधिक व्यापारों, वस्तुओं और युग जीवन के विविध पक्षों का उद्घाटन और वर्णन होता है। शुक्ल जी ने अन्यत्र प्रबन्धकाव्यों का तीन कोटियाँ बनाई हैं, वीरगाथा, प्रेमगाथा और जीवनगाथा और पद्मावत को दूसरे प्रकार का प्रबन्धकाव्य—प्रेमगाथा—माना है[1]। प्रेमगाथा से यदि शुक्ल जी का यह तात्पर्य हो कि उसमें प्रेम की विविध दशाओं के अतिरिक्त अन्य प्रकार के वर्णन हैं ही नहीं, तो इस दृष्टि से पद्मावत प्रेमगाथा से आगे बढ़ कर जीवनगाथा प्रतीत होता है और इस तरह वह मृगावती, मधुमालती, इन्द्रावती आदि प्रेमगाथाओं में भिन्न प्रकार का काव्य है क्योंकि नायक नायिका के मिलन के बाद भी उसमें यथार्थ जीवन के संघर्षों और क्रिया कलापों का चित्रण हुआ है। यह अवश्य है कि उसमें कवि का ध्यान प्रेम व्यंजना की ओर सबसे अधिक है, अन्य भावनाओं की व्यंजना की ओर कम। इस कारण पद्मावत में युग जीवन के चित्रों की उतनी विविधता और समग्रता नहीं है जितनी महाभारत, रामायण, रघुवंश या रामचरितमानस में। अत शुक्ल जी ने ठीक ही लिखा है कि 'प्रबन्ध क्षेत्र में तुलसीदास जी का सर्वोच्च आसन है, उसका कारण यह है कि वीरता, प्रेम आदि जीवन का कोई एक ही पक्ष न लेकर उन्होंने संपूर्ण जीवन को लिया है और उसके भीतर आनेवाली अनेक दशाओं के प्रति अपनी गहरी अनुभूति का परिचय दिया है। जायसी का क्षेत्र तुलसी की अपेक्षा परिमित है, पर प्रेम वेदना उनकी अत्यन्त गूढ़ है।"[2] इस प्रकार जीवन व्यापारों के कुछ सीमित होते हुए और प्रेमभावना प्रधान होते हुए भी पद्मावत मुख्यत जीवनगाथा ही सिद्ध होता है।

महाकाव्य में जिन परिस्थितियों, घटनाओं, वस्तुओं और क्रिया प्रतिक्रियाओं का वर्णन होता है उन्हें मुख्यत इन वर्गों में विभाजित कर सकते हैं —

१—घटना वर्णन

२—रूप चित्रण

३—प्रकृति चित्रण

४—वस्तु वर्णन

१—वही पृ० २१० ।

२—वही पृ० वही ।

का हरण करते थे। पद्मावत के पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध दोनो ही कथाओं म प्रधान घटना कन्या हरण और उसके लिए होनेवाला युद्ध ही है। ज म, मृत्यु, विवाह, भोज, यात्रा, पूजा उपासना तथा धार्मिक क्रियाओ आदि के अवसर पर प्रचलित तत्कालीन रीति रिवाजों, जैसे शकुन विचार, नाच कूद, दान दहेज, पौरोहित्य कार्य, सती प्रथा आदि का पद्मावत मे यथार्थ चित्रण हुआ है। इस प्रकार वस्तु व्यापारो के वैविध्यपूर्ण वर्णन और जीवन के नाना पक्षो के उद्घाटन की दृष्टि से पद्मावत प्रेमाख्यानक ढग का चरितकाव्यात्मक महाकाव्य है। इस सबध मे शुक्ल जी की यह बात विचारणीय है "सबसे पहले तो यह प्रश्न उठता है कि प्रबन्धकाव्य मे क्या जीवनचरित के समान उन सब बातो का विवरण होना चाहिए जो नायक के जीवन मे हुई हो। सस्कृत के प्रबन्ध काव्यो को देखने से पता चलता है कि कुछ मे तो इस प्रकार का विवरण होता है और कुछ मे नही कुछ की दृष्टि तो व्यक्ति पर होती है और कुछ की किसी प्रधान घटना पर। जिनकी दृष्टि व्यक्ति पर होती है उनमे नायक के जीवन की सारी मुख्य घटनाओ का वर्णन गौरव वृद्धि या गौरव रक्षा के ध्यान से अवश्य कहीं कही कुछ उलट फेर के साथ होता है। जिनकी दृष्टि किसी मुख्य घटना पर होती है उनका सारा वस्तु विन्यास उस घटना के उपक्रम के रूप मे होता है। प्रथम प्रकार के प्रबन्धो को हम व्यक्ति प्रधान कह सकते हैं जिनके अन्तर्गत रघुवश, बुद्धचरित, विक्रमाङ्कदेव चरित आदि हैं। दूसरे प्रकार के घटना प्रधान प्रबन्धो के अ तर्गत कुमारसभव, किरातार्जुनीय, शिशुपालवध आदि हैं। पद्मावत को इसी दूसरे प्रकार के प्रब ध के अ तर्गत समझना चाहिए।"[1] शुक्ल जी का अभिप्राय चरित प्रधान महाकाव्यो और शास्त्रीय ढग के वर्णन प्रधान महाकाव्यो से है। चरित प्रधान महाका यो मे कथात्मकता अधिक रहती है जिससे जीवन के विविध पक्षों के उद्घाटन का अवसर अधिक मिलता है। वर्णनात्मक शास्त्रीय महाका यो मे कथानक का विस्तार बहुत कम होता है किन्तु कुछ गिने गिनाये वस्तु व्यापारो का बडा ही सूक्ष्म, विवृत और विशद् वर्णन रहता है। ऐसे काव्यों को घटना प्रधान नही, वर्णन प्रधान काव्य कहना अधिक सही है। वस्तुत चरितकाव्यो को ही घटना प्रधान कहा जा सकता है क्याकि उसमे अधिकाधिक घटनाओ, परिस्थतियो और व्यापारो की योजना होती है। इस दृष्टि से देखने पर शुक्ल जी का यह कथन सही नहीं प्रतीत होता कि पद्मावत शास्त्रीय ढग का

१—जायसी ग्रन्थावली—पचम सस्करण—भूमिका, प० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ७३।

वर्णन प्रधान महाका य है। इसके विपरीत यह शुक्ल जी के ही शब्दों में भक्ति प्रधान प्रबन्धकाव्य है जिसे हमने ऊपर चरितकाव्य कहा है।

ऐसे महाकाव्यों में स्वभावत वर्णन प्रधान शास्त्रीय महाकाव्यों की अपेक्षा अधिक व्यापारों, वस्तुओं और युग जीवन के विविध पक्षों का उद्घाटन और वर्णन होता है। शुक्ल जी ने अन्यत्र प्रबन्धकाव्यों की तीन कोटियाँ बताई हैं, वीरगाथा, प्रेमगाथा और जीवनगाथा और पद्मावत को दूसरे प्रकार का प्रबन्धकाव्य—प्रेमगाथा—माना है[1]। प्रेमगाथा से यदि शुक्ल जी का यह तात्पर्य हो कि उसमें प्रेम की विविध दशाओं के अतिरिक्त अन्य प्रकार के वर्णन हैं ही नहीं, तो इस दृष्टि से पद्मावत प्रेमगाथा से आगे बढ़ कर जीवनगाथा प्रतीत होता है और इस तरह वह मृगावती, मधुमालती, इन्द्रावती आदि प्रेमगाथाओं से भिन्न प्रकार का काव्य है क्योंकि नायक नायिका के मिलन के बाद भी उसमें यथार्थ जीवन के संघर्षों और क्रिया कलापों का चित्रण हुआ है। यह अवश्य है कि उसमें कवि का ध्यान प्रेम व्यंजना की ओर सबसे अधिक है, अन्य भावनाओं की व्यंजना की ओर कम। इस कारण पद्मावत में युग जीवन के चित्रों की उतनी विविधता और समग्रता नहीं है जितनी महाभारत, रामायण, रघुवंश या रामचरितमानस में। अत शुक्ल जी ने ठीक ही लिखा है कि 'प्रबन्ध क्षेत्र में तुलसीदास जी का सर्वोच्च आसन है, उसका कारण यह है कि वीरता, प्रेम आदि जीवन का कोई एक ही पक्ष न लेकर उन्होंने संपूर्ण जीवन को लिया है और उसके भीतर आनेवाली अनेक दशाओं के प्रति अपनी गहरी अनुभूति का परिचय दिया है। जायसी का क्षेत्र तुलसी की अपेक्षा परिमित है, पर प्रेम वेदना उनकी अत्यन्त गूढ़ है।"[2] इस प्रकार जीवन व्यापारों के कुछ सीमित होते हुए और प्रेमभावना प्रधान होते हुए भी पद्मावत मुख्यत जीवनगाथा ही सिद्ध होता है।

महाकाव्य में जिन परिस्थितियों, घटनाओं, वस्तुओं और क्रिया प्रतिक्रियाओं का वर्णन होता है उन्हें मुख्यत इन वर्गों में विभाजित कर सकते हैं —

१—घटना वर्णन

२—रूप चित्रण

३—प्रकृति चित्रण

४—वस्तु वर्णन

१—वही पृ० २१० ।

२—वही पृ० वही ।

५—ज्ञान और उपदेश की बाते
६—मनोदशाओ की अभिव्यक्ति

घटना वर्णन —

इस वर्ग मे जीवनकथा की वे सभी घटनाएँ आ जाती हैं जो कथा शरीर के मुख्य अग के रूप मे होती है। इन्ही घटनाओ की सुनिश्चित योजना से कथा म कलात्मकता और प्रवाह उत्पन्न होता है। पद्मावत मे पद्मावती और रतनसेन के जन्म से लेकर रतनसेन देवपाल युद्ध और दोनो की मृत्यु तथा पद्मावती और नागमती के सती होने तक की घटनाओ और कार्यों को योजना हुई है। ये घटनाएँ वैयक्तिक, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक सभी प्रकार की हैं जिससे यह स्पष्ट है कि पद्मावत मे जीवन व्यापारों का वैविध्य है। किन्तु इन सब मे भी प्रेम व्यापार, युद्ध, यात्रा और कूटनीतिक दाँवपेच का ही वर्णन सबसे अधिक हुआ है। रामचरितमानस मे भी इन्हीं जीवन व्यापारों की प्रधानता है पर उसम लोक पक्ष पर कवि का अधिक ध्यान है। पद्मावत मे कवि का ध्यान व्यक्ति के आन्तरिक तथ्यों के उद्घाटन की ओर अधिक है जिससे उसम प्रेम व्यञ्जना की अधिकता है। इन नाना नाम रूपात्मक जीवन व्यापारों को कवि ने प्रेम के सूक्ष्म किन्तु दृढ सूत्र से एक मे पिरो दिया है। इन घटनाओ से किस प्रकार के कथानक की योजना हुई है, इस सबंध में कथानक के प्रसग मे विचार किया जायगा। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि ये जीवन घटनाएँ शृंखलाबद्ध और कथा के क्रमिक विकास मे योग देनेवाली हैं। जायसी ने जीवन के वैविध्यपूर्ण व्यापारो मे से ऐसी ही परिस्थितियो और घटनाओं का चुनाव विशेष रूप से किया है जो मर्मस्पर्शी और विविध भावनाओ की व्यंजना के लिए अवसर प्रदान करने वाली हैं। शुक्ल जी के शब्दो मे 'जिनके प्रभाव से सारी कथा म रसात्मकता आ जाती है वे मनुष्य जीवन के मर्मस्पर्शी स्थल हैं जो कथा प्रवाह के बीच बीच मे आते रहते हैं। यह समझिये कि काव्य मे कथावस्तु की गति इन्हीं स्थलों तक पहुँचने के लिए होती है।'[1] शुक्ल जी ने पद्मावत के ऐसे मर्मस्पर्शी स्थलो की सूची भी दी है— "मायके म कुमारियों की स्वच्छन्द क्रीडा, रत्नसेन के प्रस्थान पर नागमती आदि का शोक, प्रेम मार्ग के कष्ट, रत्नसेन को सूली की व्यवस्था, उस दड के सवाद से विप्रलभ दशा मे पद्मावती का करुण सहानुभूति, रत्नसेन और पद्मावती का सयोग, सिंहल से लौटते समय की सामुद्रिक घटना स दोनो को विह्वल स्थिति, नागमती की विरह दशा और वियोग सदेश, बादल का युद्ध प्रस्थान, देवपाल की दूती

[1] वही पृ० ६९।

से पद्मावती द्वारा स्तीत्व गौरव की रचना पद्मावती और नागमती का उत्साह पूर्ण सहगमन, चित्तौड की दशा आदि ।"

रूप चित्रण —

रूप चित्रण से हमारा तात्पर्य मानवीय रूप सौन्दर्य के चित्रण से है। पद्मावत प्रेम प्रधान काव्य है और उसमें प्रेम का प्रधान कारण रूप मात्र को माना गया है। सूफी मत में मानवीय प्रेम आत्मिक प्रेम का पहला कदम है और उस प्रेम का आधार होता है मानवीय रूप सौन्दर्य। मानवीय सौन्दर्य में ईश्वरीय सौन्दर्य के प्रतिबिम्ब का दर्शन करना सूफियों के उस सिद्धान्त के अनुकूल है जिसके अनुसार यह जगत् ब्रह्म की अभिव्यक्ति है और ब्रह्म जगत् में ही अपनी झलक दिखाता रहता है। इस तरह मानवीय रूप सौन्दर्य सूफियों की दृष्टि में ब्रह्म के अनन्त और अदृश्य सौन्दर्य का प्रतीक है।

अतः यह कहने की आवश्यकता नहीं रह जाती कि जायसी ने मानवीय सौन्दर्य का इतना अतिशयोक्तिपूर्ण और अधिक वर्णन क्यों किया है। सूफी काव्य का सिद्धान्त है कि जहाँ रूप होगा वहीं प्रेम होगा। अतः आध्यात्मिक प्रेम का आलम्बन जो रूप होगा वह सामान्य नहीं, विचित्रता और असाधारणत्व से युक्त होगा। जायसी ने पद्मावती के सौन्दर्य को असाधारण और विचित्र बना कर चित्रित किया है। पद्मावत में नारी सौन्दर्य का वर्णन इन स्थलों पर हुआ है —सिंहल द्वीप वर्णन के प्रसंग में पनिहारिनों का सौन्दर्य वर्णन और शृंगार हाट में बैठी वेश्याओं का रूप चित्रण, मानसरोवर में सखियों सहित स्नान करते समय पद्मिनी के रूप का वर्णन, हीरामन सुआ का रतनसेन से पद्मावती का नखशिख वर्णन, विवाहोपरान्त रतनसेन और पद्मावती के भेंट के समय पद्मावती का शृंगार वर्णन, पद्मावती और नागमती के विवाह के प्रसंग में दोनों रानियों का अपने मुँह से अपना रूप वर्णन, राघवचेतन का अलाउद्दीन से पद्मिनी का रूप वर्णन, अलाउद्दीन द्वारा चित्तौडगढ में पद्मिनी का रूप दर्शन करने के प्रसंग में उसका रूप चित्रण। इनमें जायसी ने पद्मावती के सौन्दर्य को ही सबसे अधिक महत्व दिया है और उसी का वर्णन अधिक विस्तार और उत्साह से किया है। वैसे पनिहारिनों और वेश्याओं का रूप चित्रण भी बहुत स्वाभाविक और मनोरम है किन्तु पद्मावती के सौन्दर्य को कवि ने सामान्य नारी सौन्दर्य से ऊपर उठा कर बहुत उच्च भूमि पर स्थापित कर दिया है। जायसी ने पद्मावती की कल्पना ब्रह्म की सौन्दर्य शक्ति की लौकिक अभिव्यक्ति के रूप में की है। रतनसेन से पद्मावती की चर्चा करते हुए हीरामन सुआ उसे पद्मगंध चन्द्रमा का अवतार कहता है —

'पद्मावति राजा के बारी। पदुमगध ससि विधि औतारी।'

मानसरोवर स्नान वर्णन म पद्मिनी का रूप वर्णन करते हुए जायसी ने उसे इश्वरीय सौन्दर्य के रूप मे ही व्यक्त किया है—

सरवर तीर पदुमिनी आईं। खोपा छोरि केस मोकराईं।

× × ×

ओनए मेघ परी जग छाँहा। ससि की सरन लीन्ह जनु राहाँ।
छपिगै दिनहि भानु के दसा। लै निसि नखत चाँद परगसा।

× × ×

दसन दामिनी कोकिल भाषी। भौंहै धनुक गगन ले राखी।
सरवर रूप बिमोहा, हियेँ हिलोर करेइ।
पाय छुअइ मकु पावों तेहि मिस लहरैं देइ॥ दोहा ६१॥

× × ×

सरवर नहि समाइ ससारा। चाँद नहाइ पैठ लिए तारा॥ दोहा ६२

यह सामान्य नारी सौ दर्य का वणन नही है। यहाँ जायसी ने पद्मावती को ब्रह्म के असीम सौन्दर्य का प्रतीक मान कर उसका वर्णन किया है। उस आध्यात्कि सौन्दर्य की एक झलक मिलते ही सारा जगत् दर्पण की तरह दमक उठता है। ब्रह्म का यह सौन्दर्य जहाँ प्रतिबिम्बित होता है वह सरोवर जैसा हृदय ससार के भीतर नहीं अँट पाता। उस अतीन्द्रिय और अलौकिक सौन्दर्य की छाया के समान इस लौकिक जगत् का समस्त सौन्दर्य प्रतिभासित होता है —

जेहि दिन दसन जोति निरमई। बहुतह जोति जोति ओहि भई।
रवि ससि नखत दीन्हि ओहि जोती। रतन पदारथ मानिक मोती।
जहँ जहँ बिहसि सुभावहि हँसी। तहँ तहँ छिटकि जोति परगसी।
दामिनि दमकि न सरवरि पूजा। पुनि ओहि जोति और को दूजा।
दो०—१०७

इस तरह जायसी ने पद्मिनी के रूप सौन्दर्य की ओट मे जिस सौन्दर्य का चित्रण किया है वह शारीरिक या वैयक्तिक सौन्दर्य प्रतीत होता हुआ भी समष्टिगत सौन्दर्य या सौन्दर्य का साक्षात् मूर्त रूप है। वस्तुत जायसी ने अपने कल्पना लोक के आदर्श सौन्दर्य का चित्रण किया है, पद्मिनी उस सौन्दर्य का माध्यम या प्रतीक मात्र है।

प्रतीकात्मक नखशिख वर्णन—सामान्यतया रूप-सौन्दर्य के चित्रण मे नखशिख वर्णन की परिपाटी भारतीय साहित्य मे बहुत पहले से अपनाई जाती

रही है। संस्कृत काव्यों के अतिरिक्त प्राकृत और अपभ्रंश के काव्यों में भी इस प्रकार का रूढिबद्ध सौन्दर्य वर्णन बहुत मिलता है जिसमें शरीर के अंग प्रत्यंग का क्रमिक वर्णन परंपराभुक्त सादृश्यमूलक अप्रस्तुतों के माध्यम से किया जाता है। फारसी की सूफी कविता में भी नखशिख वर्णन का परिपाटी बहुत प्रचलित है। सूफी कविता के नखशिख वर्णन के संबंध में श्री चन्द्रबली पाण्डे ने लिखा है कि "जब माशूक प्रतीक है तो उसका नखशिख भी उसके अन्तर्गत ही समझा जायगा। उसके अंग अंग प्रतीक होंगे। नखशिख में मुख की प्रधानता होती है। उसका वर्णन प्राय सभी कवि खूब करते हैं। पर उसका प्रकट दर्शन कितनों को होता है? परदे के भीतर का दीदार ही तो तसव्वुफ का सब कुछ है"[1]। इस तरह मुख ब्रह्म के रूप का, केश उसकी माया का, मुस्कान उसकी ज्योति का, कटाक्ष उसकी आकर्षक काम शक्ति का प्रतीक है। जायसी ने प्रत्येक स्थल पर नखशिख-वर्णन के रूप में ही सौन्दर्य चित्रण किया है किन्तु उन्होंने फारसी और भारतीय दोनों ही काव्यरूढियों का सहारा लिया है। केश और मुस्कान के वर्णन के जो उद्धरण ऊपर दिये गये हैं वे प्रतीकात्मक ही हैं जिनमें पद्मिनी की हँसी और उसकी उज्वल दन्त पंक्ति को ईश्वरीय तेज और प्रकाश के प्रतीक के रूप मे और उसके केशों का वर्णन अज्ञान के अन्धकार और माया के परदे के प्रतीक के रूप मे हुआ है। उसी तरह बरुनियों का वर्णन जायसी ने ब्रह्म की मोहिनी शक्ति और उद्दाम आकर्षण के प्रतीक के रूप में इस तरह किया है —

बरुनी का बरनौं इमि बनी। साँधे बान जानु दुइ अनी।
उन्ह बानन्ह अस को को न मारा। बेधि रहा सगरो ससारा॥
गँगन नखत जस जाहि न गने। है सब बान ओहि के हने॥
धरती बान बेधि सब राखी। साखा ठाढ देहि सब साखी॥
रोवँ रोवँ मानुष तन ठाढे। सोतहि सोत बेधितन काढे॥ दोहा—१०४

रूढिबद्ध नखशिख वर्णन—भारतीय ढंग का नखशिख वर्णन अलकृत होता है। इस पद्धति मे शरीर के अंगों की तुलना कुछ रूढिबद्ध उपमानो से कतिपय अलकारो के सहारे की जाती है। नखशिख वर्णन मे केश से प्रारम्भ कर पाँव की अगुलियो तक का क्रमिक वर्णन होता है। इस तरह का क्रमिक नखशिख वर्णन पद्मावत मे दो स्थलो पर पद्मिनी के रूप सौन्दर्य के

१ तसव्वुफ और सूफीमत—ले० श्री चन्द्रबली पाडेय, द्वितीय सस्करण, १९४८, पृ० ९५।

चित्रण के प्रसग मे हुआ है। हीरामन सुआ रतनसिंह से और राघवचेतन अलाउद्दीन से इस प्रकार का रूप वर्णन करते है। दोनो ही पण्डित और शास्त्रज्ञ हैं। अत उनके मुख से शास्त्रीय और परपराभुक्त ढग का नखशिख वर्णन कराकर जायसी ने उसमे अत्यत स्वाभाविकता ला दी है। किसी अन्य पात्र के मुख से इस प्रकार का वर्णन जायसी की रूढिप्रियता और पडिताऊपन का परिचय देता। इन स्थलो म केश, माँग, ललाट, भौह, नयन, बरुनी, नाक, अधर, दाँत, जिह्वा, कपोल, तिल, कान, गरदन, बाँह, हथेली, स्तन, पेट, रोमावली, त्रिवली, पीठ, कमर, नाभि, नितम्ब, चाल, जघा, पाँव और उँगलियो का क्रमबद्ध वर्णन हुआ है। अलाउद्दीन ने दपण मे पद्मिनी का जो रूप देखा, जायसी ने उसका रूपकातिशयोक्ति मे इस प्रकार वर्णन किया है और यह एक ही उदाहरण उनके अलकृत नखशिख वर्णन का परिचय देने के लिए पयाप्त है —

सिह की लक कुँभस्थल जोरू। अकुस नाग महावत मोरू।
तेहि ऊपर भा कँवल बिगासू। फिर अलि लीन्ह पुहुप रस बासू।
दुहुँ खजन बिच बैठेउ सुवा। दुइज क चाँद धनुक लै ऊवा।
मिरिग देखाइ गवन फिरि किया। ससि भा नाग सूर भा दिया।

—दोहा ५७२

प्रकृति चित्रण—काव्य मे प्राकृतिक दृश्यो और वस्तुओं का चित्रण इतने रूपो मे हुआ करता है —आलम्बन रूप मे, उद्दीपन रूप मे, अलकार रूप मे, वस्तु गणना के रूप मे और प्रतीक तथा सकेत रूप मे। प्रबन्धकाव्यो मे आलम्बन रूप में प्रकृति चित्रण के लिए उतना अवकाश नही रहता, फिर भी मानव जीवन की पृष्ठभूमि के रूप मे प्राकृतिक दृश्यो के सश्लिष्ट चित्रण के लिए उनमे पर्याप्त अवकाश रहता है जैसा वाल्मीकि और कालिदास ने अपने सूक्ष्म निरीक्षण के परिणामस्वरूप अपने महाकाव्यो मे किया है। पद्मावत मे प्राकृतिक वस्तुओ और दृश्यों का चित्रण तो बहुत हुआ है और उनमे कुछ चित्रण सश्लिष्ट भी हैं किन्तु जायसी ने प्रकृति को आलम्बन रूप मे कहीं नहीं देखा है। पद्मावत मे इन चार रूपों मे प्रकृति चित्रण हुआ है —उद्दीपन रूप मे, अलकार के रूप मे, वस्तु परिगणना की रूढि के रूप मे और प्रतीक तथा सकेत के रूप मे। इनमे भी उद्दीपन और प्रतीक सकेत की पद्धति को सबसे अधिक अपनाया गया है। अलकार रूप मे प्राकृतिक वस्तुओ का उल्लेख सादृश्यमूलक अप्रस्तुत विधान मे होता है और इसे प्रकृति चित्रण नहीं कहा जा सकता। जायसी ने अधिकतर प्रकृति, विशेष रूप से ग्राम्य

वातावरण की प्रकृति, ये अपने अप्रस्तुत चुने हैं। उन्होंने संस्कृत और अपभ्रंश की रूढ़िबद्ध परिगणना की पद्धति प्राकृतिक वस्तुओं के वर्णन में भी अपनायी है। इन सभी पद्धतियों के प्रकृति चित्रण का उदाहरण नीचे दिया जा रहा है।

अलङ्कार रूप में—प्रस्तुत को प्राकृतिक अप्रस्तुतों द्वारा व्यक्त करने या स्पष्ट करने की प्रवृत्ति जायसी में बहुत अधिक मिलता है। उदाहरणार्थ उन्होंने पद्मिनी को कमल और चन्द्र, रतनसेन को भौंरा, सूर्य और चन्द्रमा और अलाउद्दीन को सूर्य रूप में माना है और इन्हीं अप्रस्तुतों के आधार पर रूपक खडे किये हैं, जैसे

सखी देखावहि चमकहि बाहू। तूँ जस चाँद सुरुज तोर नाहू।
छपा न रहै सुरुज परगासू। देखि कँवल मन भएउ हुलासू। दो० २७९

इस प्रकार के अलकारों में पाठकों का ध्यान प्रस्तुतों पर ही रहता है, अप्रस्तुत रूप मे वर्णित प्राकृतिक वस्तुओं पर नहीं। अत इसे प्रकृति चित्रण का स्थूल रूप कहा जा सकता है। फिर भी कहीं कहीं रूप गुण प्रभाव साम्य के कारण प्रस्तुत और अप्रस्तुत में जायसी ने बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव दिखलाया है। ऐसे वर्णनो मे पाठक का ध्यान प्राकृतिक उपमानों पर भी उतना ही रहता है जितना वर्ण्य वस्तु पर, जैसे —

कॅवल जो बिगसा मानसर छारहि मिलै सुखाइ।
कबहु बेलि फिर पलुहै जो पिय सीचहु आइ। दो० ३५४

अथवा

परी अथाह धाइ हौं जोबन उदधि गॅभीर।
तेहि चितवो चारिउँ दिसि को गहि लावै तीर॥ दो० १७०

परिगणना की रूढि के रूप मे—संस्कृत और अपभ्रंश के काव्यो में प्राकृतिक वस्तुओ के संश्लिष्ट वर्णन की जगह उनकी सूची गिनाई गयी है। परिगणना की इस प्रवृत्ति का प्रभाव हिन्दी काव्यो पर भी पडा है। पृथ्वीराज रासो के सम्बन्ध में विचार करते समय इस वर्णन रूढि का तुलनात्मक विवेचन किया जा चुका है। पद्मावत मे प्रारम्भ मे ही सिंहल द्वीप की अमराई का वर्णन करते हुए नाना प्रकार के फलों और पक्षियों का, ताल पोखरों के वर्णन मे जल पक्षियों और फुलवारी के वर्णन में फूलों की परिगणना केवल रूढि का पालन करने की दृष्टि से की गयी है। इसी प्रकार शिव पूजा के लिए जाते

समय पद्मावती और उसकी सखिया के वर्णन मे फल फूलो की सूची गिनाई गयी है । उदाहरणार्थ—

काहू गही आँब के डारा । काहूँ बिरह जाँबु अति झारा ।
कोइ नारँग कोइ झार चिरौंजी । कोइ कटहर बडहर कोइ न्यौजी ।
कोइ दारिउँ कोई दाख सो खीरी । कोई सदाफर तुरँज जँभीरी ।

—दोहा १८७

ऐसे परिगणनात्मक वर्णनों से प्रकृति के रम्य सौन्दर्य और अनन्त विभूति की ओर तो पाठको का ध्यान नहीं ही जाता, उल्टे इसे कवि के पाण्डित्य प्रदर्शन का लोभ समझ कर ऊब होती है । प्रबन्धकाव्य म पाठक या तो कथा का चमत्कार देखना चाहता है, या वस्तु वर्णन ओर भाव व्यञ्जना के सौन्दय मे रस लेना चाहता है, परिगणनात्मक वर्णन इन दोनो मे अवरोध उत्पन्न करते हैं ।

उद्दीपन रूप मे —काव्य म प्रकृति का उद्दीपन रूप मे वर्णन बहुत अधिक होता है । वस्तुत मानव की सामाजिक, वैयक्तिक और मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि के रूप मे ही प्रकृति का सर्वाधिक उपयोग होता है । मनुष्य प्रकृति का सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से उपयोग और उपभोग करता है तथा वैयक्तिक रूप मे उसे अपने कलात्मक और सौ दर्यबोध की वृत्ति की तृप्ति का साधन बनाता और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अपने सुख दुख मे उसकी अनुकूलता या प्रतिकूलता का अनुभव करता है । अत उद्दीपन रूप मे काव्य मे प्रकृति का चित्रण होना स्वाभाविक है । सच्ची लोकदृष्टि वाला कवि उसका उपयोग अधिकतर इसी रूप मे करता है । किन्तु कृत्रिम और अनुकरणवृत्ति वाले कवि सामान्यतया परम्परा-पालन की दृष्टि से प्रकृति का चित्रण करते हैं । जायसी का उद्दीपन रूप मे प्रकृति चित्रण बडा स्वाभाविक ओर मनोरम बन पडा है । उन्होने प्रकृति को मावन के परिपार्श्व मे रखकर उसे मानवीय परिस्थितियो और मनोदशाओ के बीच अनुकूल या प्रतिकूल रूप मे चित्रित किया है । पद्मावत मे यो तो स्थान स्थान पर प्रकृति के उद्दीपक चित्र मिलते हैं कि तु दो स्थलो पर उसका सागोपाग वर्णन मिलता है । पद्मावती रतनसेन के विवाहोपरान्त संयोग श्रृगार के उद्दीपन के रूप मे षड्ऋतु वर्णन और उसी के बाद नागमती की वियोगावस्था के चित्रण मे विप्रलम्भ श्रृगार के उद्दीपन के रूप मे बारहमासा वर्णन । ये दोनों ही अनेक कारणो से पद्मावत के स्वाभाविक, मार्मिक और मनोवैज्ञानिक वर्णनों मे अन्यतम हैं । पद्मावती अपने अत्यत धन सम्पन्न पिता के महल मे रहकर अपने पति के साथ आनन्द र मव मे त लीन है । अत उस समय [illegible] वातावरण

और भोग विलास के बीच प्रकृति का जैसा चित्रण होना चाहिए पद्मावत मे उसका वैसा ही रूप मिलता है। पद्मावती की परिस्थिति और मनोदशा के ठीक विपरीत नागमती की स्थिति है जो रानी होते हुए भी पति परित्यक्ता होने से सामान्य स्त्री के समान जीवन यापन कर रही है। वियोग के दुख ने उसके राज्य वैभव और भोग विलास के अलंकार को उससे दूर कर दिया है और उस दुख मे तप कर वह विशुद्ध 'मानव' बन गयी है। तभी तो उसके दुख से सारी प्रकृति व्याकुल हो उठती है और एक पक्षी उसका विरह सदेश लेकर सिंहल मे रतनसेन के पास जाता है। यह वर्णन बारहमासे के रूप मे हुआ है और षट्ऋतु वर्णन के ठीक बाद है।

षड्ऋतु और बारहमासा वर्णन—षड्ऋतु और बारहमासा दोनो के वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि जायसी पर शास्त्रीय काव्य परम्परा और लोककाव्य की परम्परा, दोनो का समान प्रभाव था। साथ ही वह सामन्ती वातावरण के भोग विलास की प्रवृत्ति से भी पर्याप्त परिचित थे यद्यपि उनका अपना झुकाव सामान्य लोक जीवन और उसकी प्रवृत्तियो की ओर ही अधिक था। सस्कृत साहित्य की रूढियाँ अधिकतर सामन्ती वातावरण के बीच निर्मित हुई हैं और षट्ऋतु वर्णन उसकी ऐसी ही वर्णन रूढि है। कालिदास ने ऋतु सहार मे सभोग शृगार के उद्दीपन के रूप मे ऋतुओ का वर्णन किया है जिसमे प्राकृतिक दृश्यो से अधिक भोग विलास की सामग्री का वर्णन है। सस्कृत के महाकाव्यों मे भी ऋतु वर्णन सयोग शृगार के प्रसग मे ही मिलता है। यह परपरा अपभ्रश से होती हुई हिन्दी मे भी आयी। पृथ्वीराजरासो मे पृथ्वीराज के विलास वर्णन के बीच ऋतु वर्णन हुआ है, यह हम पाँचवें अध्याय मे देख चुके हैं। पद्मावत का षड्ऋतु वर्णन भी उसी प्रकार का परम्परामुक्त है किन्तु उसमे जायसी ने प्राकृतिक वस्तुओ से अधिक सामती वातावरण, प्रसाधन की सामग्री, सामाजिक रीतिरिवाज आदि का ही वर्णन किया है। यह अधिक अस्वाभाविक इसलिए नहीं लगता कि नव विवाहितों के लिए प्राकृतिक वस्तुओं को देखने के लिए अवकाश ही कहाँ रहता है? राजा रानी अपने महल के भीतर से प्रकृति के जितने अश का दर्शन कर सकते हैं, जायसी के षड्ऋतु वर्णन मे उसका सुन्दर समावेश हुआ है, जैसे

> **कोकिल बैन, पाँति बग छूटी। धनि निसरी जेउँ बीर बहूटी।**
> **चमके बिज्जु बरिस जग सोना। दादुर मोर सबद सुठि लोना।**
>
> **दो० ३३७**

किन्तु षड्ऋतु वर्णन म कवि के सूक्ष्म निरीक्षण और सयोगावस्था की मनोदशाओ के ज्ञान का बहुत अच्छा परिचय मिलता है । सयोगावस्था मे सारा ससार आनदित और प्रिय से सयुक्त दिखाइ पडता है आर हर बात म पति पत्नी को एक दूसरे का सहारा मिलता रहता है —

रँग राती पिय सँग निसि जागै । गरजै चमकि, चौंकि कँठ लागै ।
सीतल बुद ऊँच चौबारा । हरिअर सब देखिअ ससारा । दो० ३३७

× × ×

सोने फूल पिरिथिमी फूली । पिउ धनि सो धनि पिउ सो भूली ।
चखु अजन दे खजन देखावा । होइ सारस जोरी पिउ पावा ।
दो० ३३८

बारहमासा एक ऐसा का यरूप है जिसका मूल उत्स लोककाव्य है । गाँवो मे आज भी बारहमासा गया जाता है । लोकगीतो से ही पहले पहल अपभ्रश काव्य मे इसे अपनाया गया । नेमिनाथचउपई नामक काव्य मे राजमती के वियोग वर्णन के प्रसग मे अत्यत सुन्दर बारहमासा वर्णन मिलता है । इस सबध मे चौथे अध्याय मे विस्तार के साथ विचार किया जा चुका है । यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि जायसी का बारहमासा वर्णन लोकप्रचलित बारहमासो का परिष्कृत और परिवर्तित रूप प्रतीत होता है । इसम भावना, उपमान, मुहावरे, वस्तु वर्णन सभी कुछ लोकजीवन से लिये गये हैं और इसका पता ही नही चलता कि यह एक रानी की वियोग दशा का वर्णन है । इसके सबध मे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है कि 'नागमती के विरह वणन के अन्तर्गत वह प्रसिद्ध बारहमासा है जिसमे वेदना का अत्यत निमल और कोमल स्वरूप, हिन्दू दाम्पत्य जीवन का अत्यत ममस्पशी माधुर्य, अपने चारो ओर की प्राकृतिक वस्तुओं और व्यापारो के साथ विशुद्ध भारतीय हृदय की साहचय भावना तथा विषय के अनुसार भाषा का अत्यन्त स्निग्ध, सरल, मृदुल और अकृत्रिम प्रवाह देखने योग्य है ।''[1] विरह की दशा मे विभिन्न महीनो मे प्रकृति की विभिन्न वस्तुओ का विरही के मन पर क्या प्रभाव पडता है, इसका स्वाभाविक, सरल और मनोवैज्ञानिक वर्णन इस बारहमासे मे हुआ है, साथ ही किस महीने म प्रकृति म क्या विशेषताएँ और परिवर्तन दिखाई पडते हैं, इसका दिग्दर्शन भी कवि ने इसम बहुत सुन्दर किया है जिससे उसके सूक्ष्म निरीक्षण की प्रवृत्ति का पता चलता है । जायसी के बारहमासा वर्णन की एक विशेषता यह भी है कि

१—जायसी ग्रथावली—ले० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ४४ ।

इसम प्रकृति के जितने सश्लिष्ट चित्र मिलते हैं उतने पद्मावत म अन्यत्र नहीं मिलते। यह बारहमासा इतना प्रसिद्ध है और इसक ना म इतना अधिक लिखा जा चुका है कि उसमे उद्धरण देने की यहाँ कोइ आवश्यकता नहा है।

प्रतीक और सकेत रूप मे —पहले कहा जा चुका है कि पद्मावत म प्रकृति का चित्रण सबसे अधिक प्रतीक आर सकेत क रूप म हुआ है। रहस्यवाद में प्रतीको का महत्त्व बहुत अधिक होता है। सूफी रहस्यवादियो ने प्रकृति की कुछ वस्तुओ का प्रतीक रूप म इतना वणन आर प्रयोग किया कि वे फारसी ओर उर्दू कविता मे रूढि क रूप म प्रयुक्त होने लगे। सूफी काव्य म साकी, शराब, प्याला, माशूक, दर्पण, नखशिख सौन्दर्य आदि जिस तरह आध्यात्मिक तत्त्वो के प्रतीक माने गये हैं उसी तरह प्राकृतिक वस्तुओ मे बुल्बुल, तोता, चमन, नरगिस, आसमान, बिजली, बादल आदि भी प्रतीकवत् प्रयुक्त हुए हैं। फारसी की सूफी कविता के रूढ प्रतीको में से जायसी ने कुछ का ही प्रयोग किया है। कहा कहा शराब का प्रतीकात्मक वणन हुआ है। हीरामन तोता भी प्रतीक है परन्तु विरही आत्मा का नहीं बल्कि ज्ञानी गुरु का। इस तरह जायसी ने रूढ प्रतीको का प्रयोग नहीं किया बल्कि प्राकृतिक वस्तुओं और दृश्यो को कहीं प्रतीक मान कर, कहा उन्हे ब्रह्म का उपलक्षण मान कर और कहीं आध्यात्मिक जगत् की ओर सकेत का माध्यम मान कर उनका वणन या उल्लेख किया है। उदाहरणाथ सिंहल की अमराई के माध्यम से उन्होंने आध्यात्मिक सकेत किया है —

घन अँवराउ लाग चहुँ पासा। उठे पहुम हुति लाग अकासा।

× × ×

ओही छाँह रैन होई आवै। हरिअर सबै अकास दिखावै।
पथिक जौ पहुँचै सहि घामू। दुख बिसरै सुख होइ बिसरामू।
जिन्ह वह पाई छाँह अनूपा। बहुरि न आइ सही यह धूपा।
दो० २७

× × ×

जावँत पखि कहे सब बैठे भरि अँवराउँ।
आपनि आपनि भाषा लेहि दइअ कर नाउँ। दो० २९

इसम अमराई का वर्णन तो हुआ है किन्तु साथ ही साधना की उस अवस्था की ओर सकेत भी किया गया है जिसमे पहुँचकर साधक परम शान्ति का अनुभव करने लगता है और फिर सासारिक सुख की ओर लौटने का उसकी

प्रवृत्ति नही होती। यह ब्रह्म के सामीप्य की अवस्था है। इसमे पहुँचकर साधक (पथा) अपने प्रिय का नाम रटते हुए लौकिक जगत् (धरती) से आध्यात्मिक जगत् (स्वर्ग) की ओर उडने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार का साकेतिक प्रकृति वर्णन पद्मावत म भरा पटा है।

प्रतीक रूप में समुद्र वणन—हि दा साहित्य म समुद्र का जेसा वणन पद्मावत म हुआ ह वेसा प्रसाद की कामायनी को छोड अन्यत्र नही हुआ है। शुक्ल जी के अनुसार पद्मावत म 'पुराणो क सात समुद्र' क अनुकरण के कारण समुद्र का वसा प्रकृतवणन होने नही पाया। क्षीर, दधि ओर सुरा क कारण समुद्र क प्राकृतिक स्वरूप का अच्छा प्रत्यक्षीकरण न हो सका।"[1] इस सम्बन्ध मे मेरा निवेदन यह है कि जायसी ने यहाँ समुद्र का वणन आलबन या उद्दीपन रूप म नही बल्कि प्रतीक रूप म किया है। समुद्र के प्राकृतिक स्वरूप का इसी कारण सश्लिष्ट वणन नही हो सका है। जायसी ने सिहल्दीप को ब्रह्मलोक का प्रतीक माना है और उस लोक तक पहुँचने क मार्ग म भव जजाल पडत है। उन्ही क प्रतीक के रूप मे पद्मावत के सात समुद्र हैं। उस 'भव सागर' का भयकर लहरो म डूबने का डर सदैव बना है। कोइ बिरला ही उसके पार पहुँच पाता है —

तेहि रे पथ हम चाहहि गवना। होउ सँजूत बहुरि नहि अवना। दो०१४७

× × ×

दस महँ एक जाइ कोइ करम धरम सत नेम।
बोहित पार होइ जौं तौं कूसल औ खेम॥ दो० १४८

जायसी के अणुसार क्षार समुद्र को सत्य के सहारे, क्षीर समुद्र को निर्लोभ होकर, दधि समुद्र को प्रेम क बल पर, उदधि समुद्र को विरह साधना के सहारे, सुरा समुद्र को प्रेम मे आत्मोत्सर्ग करने को शक्ति से और किलकिला समुद्र को गुरु की सहायता से पार किया जा सकता है। जो इन छ सागरो को पार कर लेगा वह मानसर नामक सातवें सागर मे पहुँच जायगा जो ब्रह्म सामीप्य की सिद्धावस्था का प्रतीक है, यथा —

सतए समुद मान सर आये। सत जो कीन्ह साहस सिधि पाये।

× × ×

गा अँधियार रैन मसि छूटी। भा भिनुसार किरिन रबि फूटी।

× × ×

१—जायसी ग्रथावली—ले० प० राम चन्द्र शुक्ल, पृ० ८२।

कँवल बिगस तहँ बिहँसी देही। भँवर दसन होइ होइ रस लेहीं।
हँसहि हंस औ करहि किरीरा। चुनहि रतन मुकुताहल हीरा।
जो अस साधि आव तब जोगू। पूजै आस मान रस भोगू॥

भँवर जो मनसा मानसर लीन्ह कँवल रस आइ।
घुन जो हियाव न कै सका झूर काठ तस खाइ॥ दो० १५८

इसमे जायसी ने अपनी प्रतीक योजना को स्पष्ट कर दिया है। इस प्रकार पद्मावत का समुद्र वर्णन लौकिक समुद्र का वर्णन नहीं है। यह तो समुद्र के रूप में आध्यात्मिक साधना के मार्ग मे पड़ने वाली विघ्न बाधाओं का वर्णन है। अत उसमे वास्तविक समुद्र का अन्विष्ट वर्णन खोजना बेकार है। प्रकृति चित्रण मे इस तरह की प्रतीक योजना पद्मावत मे सिंहलगढ, पद्मावती की जल-क्रीडा, अमराई का सौन्दर्य, रतनसेन की यात्रा, पद्मावती के सयोग और नागमती के वियोग आदि के वर्णनो मे स्थल स्थल पर दिखाई पड़ती है। इसी को आलकारिको की भाषा मे अन्योक्ति और समासोक्ति पद्धति भी कहा जाता है जिसके सबध मे बाद मे विचार किया जायगा। आलकारिको ने प्राकृतिक पदार्थो मे समुद्र, पर्वत, वन, नदी, चन्द्रोदय, सूर्योदय, मध्याह्न, सन्ध्या, रजनी, सरोवर आदि का महाकाव्य मे वर्णन करना आवश्यक माना है। इनमे उद्यान, समुद्र, वन, पर्वत आदि का तो पद्मावत मे विशद् वर्णन हुआ है पर अन्य प्राकृतिक दृश्यो और वस्तुओ का यत्र तत्र प्रासगिक वर्णन ही मिलता है। शास्त्रीय महाकाव्यों की तरह उनमे से प्रत्येक का अलग अलग विस्तृत वर्णन पद्मावत मे नहीं हुआ है।

वस्तु वर्णन—

वस्तु से हमारा तात्पर्य आलकारिको द्वारा निर्दिष्ट वस्तु व्यापारो—देश, नगर, मृगया, कुमारोदय, यज्ञ, मुनि, स्वर्ग, विवाह, दुर्ग, सेना, स्कधावार, युद्ध की तैयारी, युद्ध, मद्यपान, मत्रणा, विजय आदि—से है। प्राचीन आलकारिको ने अपने समय तक के महाकाव्यो मे पाये जाने वाले वस्तु-वर्णन को देखकर उन वस्तुओ की सूची निर्धारित की थी जिनका वर्णन महाकाव्य के भीतर होना चाहिए। किन्तु उनका यह आशय नही था कि उनकी बताई वस्तुओं का वर्णन होना ही नहीं चाहिए। सूची देने मे उनका अभिप्राय इतना ही था कि महाकाव्य मे इतना वर्णन वैविध्य होना चाहिए कि युग जीवन का समग्र चित्र उपस्थित हो सके। उनमे से किसी वस्तु का वर्णन न होने से महाकाव्य दूषित नहीं हो जाता।

प्रवृत्ति नही होती। यह ब्रह्म के सामीप्य की अवस्था है। इसमे पहुँचकर साधक (पथी) अपने प्रिय का नाम रटते हुए लोकिक जगत् (धरती) से आध्यात्मिक जगत् (स्वर्ग) की ओर उठने का प्रयत्न करते है। इस प्रकार का साकतिक प्रकृति वणन पद्मावत म भरा पटा है।

प्रतीक रूप मे समुद्र वणन—हिन्दी साहित्य म समुद्र का जेसा वर्णन पद्मावत म हुआ ह वेसा प्रसाद की कामायना को छोड अन्यत्र नहा हुआ है। शुक्ल जा के अनुसार पद्मावत मे 'पुराणो क सात समुद्र' क अनुकरण क कारण समुद्र का वेसा प्रकृतवणन होने नही पाया। क्षीर, दधि ओर सुरा के कारण समुद्र क प्राकृतिक स्वरूप का अच्छा प्रत्यक्षीकरण न हो सका।"[1] इस सम्बन्ध मे मेरा निवेदन यह है कि जायसी ने यहॉ समुद्र का वणन आलबन या उद्दापन रूप म नही बल्कि प्रतीक रूप म किया है। समुद्र क प्राकृतिक स्वरूप का इसा कारण सश्लिष्ट वणन नहा हो सका है। जायसी ने सिंहलदाप को ब्रह्मलोक का प्रतीक माना हैं ओर उस लोक तक पहुँचने क मार्ग म भव जजाल पडत हैं। उन्ही क प्रतीक क रूप मे पद्मावत क सात समुद्र हैं। उस 'भव सागर' का भयकर लहरो मे डूबने का डर सदैव बना है। कोइ बिरला ही उसके पार पहुँच पाता है —

तेहि रे पथ हम चाहहि गवना। होउ सॅजूत बहुरि नहि अवना। दो०१४७

× × ×

दस महँ एक जाइ कोइ करम धरम सत नेम।
बोहित पार होइ जौ तौ कूसल औ खेम॥ दो० १४८

जायसी के अणुसार क्षार समुद्र को सत्य के सहारे, क्षीर समुद्र को निर्लोभ होकर, दधि समुद्र को प्रेम क बल पर, उदधि समुद्र को विरह साधना के सहारे, सुरा समुद्र को प्रेम मे आत्मोत्सर्ग करने का शक्ति से और किलकिला समुद्र को गुरु की सहायता से पार किया जा सकता है। जो इन छ सागरों को पार कर लेगा वह मानसर नामक सातवें सागर मे पहुँच जायगा जो ब्रह्म सामीप्य की सिद्धावस्था का प्रतीक है, यथा —

सतए समुद मान सर आये। सत जो कीन्ह साहस सिधि पाये।

× × ×

गा अधियार रैन मसि छूटी। भा भिनुसार किरिन रबि फूटी।

× × ×

१—जायसी ग्रंथावली—ले० प० राम चन्द्र शुक्ल, पृ० ८२।

कँवल विगस तहँ बिहँसी देही। भँवर दसन होइ होइ रस लेही।
हँसहि हंस और करहिं किरीरा। चुनहिं रतन मुकुताहल हारा।
जो अस साधि आव तव जोगू। पूजै आस मान रस भोगू॥

भँवर जो मनसा मानसर लीन्ह कँवल रस आइ।
घुन जो हियाव न कै सका झूर काठ तस खाइ॥ दो० १५८

इसमे जायसी ने अपनी प्रतीक योजना को स्पष्ट कर दिया है। इस प्रकार पद्मावत का समुद्र वर्णन लौकिक समुद्र का वर्णन नहीं है। वह तो समुद्र के रूप में आध्यात्मिक साधना के मार्ग में पड़ने वाली विघ्न बाधाओं का वर्णन है। अत उसमे वास्तविक समुद्र का लौकिक वर्णन खोजना बेकार है। प्रकृति चित्रण में इस तरह की प्रतीक योजना पद्मावत में सिंहलगढ़, पद्मावती की जल-क्रीडा, अमराई का सौन्दर्य, रतनसेन की यात्रा, पद्मावती के सयोग और नागमती के वियोग आदि के वर्णनों में स्थल स्थल पर दिखाई पड़ती है। इसी को आलकारिकों की भाषा में अन्योक्ति और समासोक्ति पद्धति भी कहा जाता है जिसके सबध में बाद में विचार किया जायगा। आलकारिकों ने प्राकृतिक पदार्थो में समुद्र, पर्वत, वन, नदी, चन्द्रोदय, सूर्योदय, मध्याह्न, सन्ध्या, रजनी, सरोवर आदि का महाकाव्य मे वर्णन करना आवश्यक माना है। इनमे उद्यान, समुद्र, वन, पर्वत आदि का तो पद्मावत में विशद् वर्णन हुआ है पर अन्य प्राकृतिक दृश्यो और वस्तुओ का यत्र तत्र प्रासगिक वर्णन ही मिलता है। शास्त्रीय महाकाव्यों की तरह उनमे से प्रत्येक का अलग अलग विस्तृत वर्णन पद्मावत में नहीं हुआ है।

वस्तु वर्णन—

वस्तु से हमारा तात्पर्य आलकारिको द्वारा निर्दिष्ट वस्तु व्यापारो—देश, नगर, मृगया, कुमारोदय, यज्ञ, मुनि, स्वर्ग, विवाह, दुर्ग, सेना, स्कधावार, युद्ध की तैयारी, युद्ध, मद्यपान, मत्रणा, विजय आदि—से है। प्राचीन आलकारिकों ने अपने समय तक के महाकाव्यो मे पाये जाने वाले वस्तु वर्णन को देखकर उन वस्तुओ की सूची निर्धारित की थी जिनका वर्णन महाकाव्य के भीतर होना चाहिए। किन्तु उनका यह आशय नही था कि उनकी बताई वस्तुओं का वर्णन होना ही नहीं चाहिए। सूची देने में उनका अभिप्राय इतना ही था कि महाकाव्य मे इतना वर्णन वैविध्य होना चाहिए कि युग जीवन का समग्र चित्र उपस्थित हो सके। उनमें से किसी वस्तु का वर्णन न होने से महाकाव्य दूषित नही हो जाता।

इस दृष्टि से देखने पर पद्मावत मे वस्तु वर्णन का वैविध्य और विस्तार दिखाई पडता है। उसमे नगर, यात्रा, रण प्रयाण, मत्रणा, दूत प्रेषण, युद्ध, पुत्र दय, विवाह, जलक्रीडा, विप्रलम्भ सभोग तथा एक युद्ध मे नायक की विजय का विस्तृत वणन हुआ है पर स्वर्ग, यज्ञ मधुपान गोष्ठी आदि का वर्णन नहीं हुआ ह। या तो जायसी अपने साम्प्रदायिक विश्वासो के कारण इनका वर्णन नही कर सकते थे या कथा के भीतर इनके लिए अवकाश नही था। कुछ वस्तुआ का उल्लेख यत्र तत्र हो गया है, उनका विस्तृत वर्णन नहीं किया गया है। कुछ नई वस्तुओ और उत्सवो का, जो आलकारिकों की सूचा मे नहीं हैं, पद्मावत मे विस्तारपूवक वर्णन हुआ है जैसे पनघट, बाजार, पूजा करने जाना और नायक से वहाँ भेट, सूली की तैयारी, स्त्रियो के उत्सव, राजसी भोज और खाद्यसामग्री, राजदरबार, अन्त पुर, हाट बाजार यात्रा शकुन, स्त्री भेद आदि का वर्णन। इस प्रकार के वर्णना से पद्मावत मे एक व्यक्ति के समूचे जीवन के माध्यम से एक युग का समग्र रूप चित्रित हो गया है। पद्मावत के ये वणन कथावस्तु मे रसात्मकता और सौदर्य उत्पन्न करने वाले हैं, सस्कृत के परवर्ती शास्त्रीय महाकाव्यो की तरह केवल वर्णन करने के लिए ही उनका वर्णन नहीं हुआ है। अत परिगणना तथा शकुन विचार आदि को छोड कर अन्य वर्णनो से कथा के प्रवाह म बाधा नहीं पडती।

ज्ञानोपदेश विषयक वर्णन

काव्य के भीतर ज्ञान, उपदेश और नीति विषयक जानकारी अथवा शास्त्रीय ढङ्ग का पाण्डित्य प्रदर्शन करने की परिपाटी सभी देशो के काव्यो मे बहुत प्राचीनकाल से दिखाई पडती है। सस्कृत, प्राकृत और अपभ्रश के का यो मे भी नीति धम विषयक उपदेश आर नृत्य, सगीत, वाद्य आदि विषयो का तथ्य प्रकाशन किया गया है जिसका सीधा प्रभाव हिन्दी के महाकाव्यो—पृथ्वीराजरासो पद्मावत, रामचरितमानस—तथा अन्य परवता प्रब धकाव्यो–रामचन्द्रिका आदि–पर पडा है। पृथ्वीराजरासो पर विचार करते हुए इस सबध म तुलनात्मक विवेचना की जा चुकी है। पद्मावत म धम, नीति, ज्ञान विज्ञान, सदाचार, शास्त्रीय अभिज्ञता आदि विषयो से सबधित शुष्क और तथ्यपरक वणना की कमी नही है जो कवि के धामिक दृष्टिकोण और शास्त्रीय काव्य परपरा के प्रभाव की देन है। पद्मावत में ऐसे वर्णन ये हैं —

जीवन की अनित्यता का उपदेश (दोहा ४२), योग पद्धति और सिद्धान्त (दोहा ४३, १२६, २१५, २१६, २३५, २७६), सत्य का माहात्म्य (दोहा ९२, ९३, १५०), प्रेम का माहात्म्य (दोहा १२२, १२४, २५४),

माया जाल (१३०, १३२), पानी का महत्व (- १), शकुन विचार (१३-), दान का महिमा (१४- १८७), वन व प्रकी ति ना (१ १, ३८६, ८८), वृक्ष, फल, फूल, पशु आदि का ज्ञान (२८, २९, ३२ ३४ ८ ८७, १८८, २१७, ३-८, ४२६, ४ १), स्वप्न विचार (१९७, १९८) प्रेमिका की सूची (२३३), गव की निन्दा (२६६, ३८६), रसायन विद्या (२९३–९४), राजसा भोज ओर खाद्य पदार्थो का ज्ञान (२८२–८४–८५, ५४३ से ५५० तक), भूषण वसन तथा सोलह श्रृंगार (२९६ से २९९) पान सुपारी आदि का वर्णन (३०८–९), नीति वर्णन (३१२), क्रीडा भेद (३१७), वस्त्र भेद (३२९), यात्रा का मुहूर्त विचार (३८२–३८३), स्त्री भेद (४६३ से ४६७), अश्व हस्ता भेद (४-, ४६, ४९६–४९७, ५१३–१४), अस्त्र शस्त्र के भेद (४९९, ५०६, ५१८), नृत्य वाद्य सगीत (५२७–२८–२९), खाद्य पशुओ आर मछलियो की सूची, (५४१–४२), शतरज का खेल (४६७), तीथ नामावली (६०३), घूस का निन्दा (६२४)।

इन वर्णनों म अधिकाश छोटे-छोटे हैं किन्तु कुछ वर्णन इतने लम्बे ओर अनावश्यक हैं कि उनसे कथा प्रवाह मे अवरोध उत्पन्न होता है ओर पाठक उहे पढते पढते ऊब जाता है।

मनोदशाओ की अभिव्यक्ति

बाह्य परिस्थितियो, घटनाओ और वस्तुओ के विशद् वर्णन के अतिरिक्त पद्मावत में मानसिक दशाओ ओर भावनाओं की अभिव्यक्ति भी ऐसी हुई है कि उससे जीवन का पूण चित्र उपस्थित हो गया है। यद्यपि शान्त रस समन्वित श्रृगार प्रधान काव्य हाने के कारण इसम जीवन का वह व्यापकता नहीं है जिसम मन की सभी प्रकार की भावनाआ की अभिव्यक्ति का अवकाश रहता है फिर भी शुक्ल जी के शब्दा म "इसके घटनाचक्र के भीतर प्रेम, वियोग, माता का ममता, यात्रा का कष्ट, विपत्ति, आनन्दोत्सव, युद्ध, जय, परानन्द आदि के साथ साथ विश्वासघात, वेर, छल, स्वामिभक्ति, पातिव्रत, वीरता आदि का भी विधान है।"[1] उसम विभिन्न परिस्थितिया आर उनके बीच पात्रो की क्रिया-प्रतिक्रियाओं की जिस प्रकार का योजना हुई है उसमे मानसिक दशाआ की विविधता और बहुरूपता के लिए उतना अवकाश नही है जितना उनकी गहराई, सच्चाई ओर तीव्रता की अभिव्यक्ति के लिए। भावनाआ की मार्मिकता, अनुभूतियों की सच्चाई और प्रभाव की तीव्रता की दृष्टि से जायसी

१—जायसी ग्रन्थावली—पृ० ७१।

तुलसी के उतने निकट नही है जितने सूरदास के। जायसी ने रूढि पालन की दृष्टि से सभी रसो के स्थायी भावा, सचारियो अनुभावो आदि की कृत्रिम योजना नहीं की है। उनके कथा प्रवाह म स्वाभाविक रूप से जो भी ऐसे स्थल आये हैं जहाँ पात्रा की विविध मनोदशाओ का मार्मिक चित्रण किया जा सकता था, जायसी ने उन स्थलो पर अपना रसात्मक वृत्ति का पूण परिचय दिया है। इस प्रकार के ममस्पर्शी स्थल, जहाँ पात्रो का मनोदशाओ की गहरी और स्वाभाविक अभिव्यक्ति हुई है, पद्मावत मे अनेक ह किन्तु उनमे से अधिकाश मे रति भाव की ही व्यजना हुइ है। प्रेम के भीतर भी जायसी ने वियोग पक्ष का जितना मार्मिक उद्घाटन किया है उतना सयोग पक्ष का नही। विरह की विविध दशाओ मे मन की परिवर्तनशील अन्तदशाओ का रस धारा पद्मावत मे आदि से अ त तक प्रवाहित हुई है। विवाह क पूर्व पद्मावती के हृदय म पूवराग जन्य अज्ञात वेदना की जो ज्वाला उठती है, वह शीघ्र ही पूर्णतया अभिभूत कर लेती है। उस समय जायसी ने उसकी मनोदशा का बडा ही रसमय वर्णन किया है, उसम परम्पराभुक्त वणन शैली प्रयुक्त हुई है —

नीद न परे रैनि जौं आवा। सेज कवाछ जानु कोई लावा।
दहै चॉद औ चन्दन चीरू। दगध करै तन विरह गॅभीरू।
कलप समान रैनि हठि बाढी' तिल तिल भरि जुग जुग बर गाढी।
गहे बीन मकु रैनि बिहाई। ससि वाहन तब रहै ओनाई।
पुनि धनि सिह उरेहै लागै। ऐसी विथा रैनि सब जागै। दो० १६८

वियोग मे निराशा की स्थिति समाप्त हो जाने पर पद्मावती को उसकी सखियाँ विवाह के लिए आये हुए रतनसेन का दर्शन करती ह, वर का देख कर उसके हृदय की जो स्थिति हा जाती है ओर उसके जो अनुमान हाते हैं उनका अतिशयोक्तिपूर्ण किन्तु मनोवैज्ञानिक वर्णन कवि ने इस प्रकार किया है —

हुलसै नैन दरस मद मॉते। हुलसे अधर रग रस राते।
हुलसा वदन ओप रवि आई। हुलसि हिया कुचुकि न समाई।
हुलसे कुच कसनी बॅद टूटे। हुलसी भुजा वलय कर फूटें।

× × ×

अग अग सब हुलसे केउ कतहूँ न समाई।
ठॉवहि ठॉव विमोहा गइ मुरुछा गति आई। दो० २८०

इसी प्रकार की मर्मस्पर्शी अनुभूतियों की अभिव्यक्ति नागमती के वियोग वणन के प्रसग मे बहुत अधिक हुई है। शोक और उत्साह की भावना पद्मावत मे रति भावना के साथ इस तरह घुली मिली है कि उसका स्पष्ट रूप दिखलाइ

नहीं पडता किन्तु इस काव्य का समग्र प्रभाव निवर्त्तमूलक ही है क्योंकि यह शान्त रस पर्यवसायी है। पद्मावत की रसवत्ता के विषय में आगे में विशेष रूप से विचार किया जायगा। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि उसमें विविध मनोदशाओं की ऐसी अभिव्यक्ति हुई है कि जीवन का समग्र रूप चित्रित हो गया है। इस प्रकार पद्मावत में घटना-विस्तार, रूप चित्रण, प्रकृति चित्रण, वस्तु वर्णन और मनोदशाओं की अभिव्यक्ति की इस प्रकार योजना हुई है कि उसमें जीवन व्यापारों की महाकाव्योचित विविधता और युग जीवन की समग्रता के दर्शन होते हैं।

४—सुसघटित और जीवन्त कथानक

पद्मावत में नायक और नायिका, दोनों के जीवन को समान महत्व दिया गया है। परिणामस्वरूप उसमें दोनों ही के जन्म से लेकर मृत्यु तक का सपूर्ण जीवन वृत्त वर्णित है। उसकी कथा में जीवनव्यापी कार्यों, सघर्षों और परिस्थितियों का चित्रण हुआ है जिससे उसके कथानक में महाकाव्योचित विस्तार दिखाई पडता है यद्यपि यह विस्तार महाभारत, रामायण, रघुवश, महापुराण, रामचरित मानस आदि विशालकाय महाकाव्यों के कथानकों जैसा नहीं है। उसके कथानक में अनेक ऐसे मोड आते हैं जिनके कारण कथा का समुचित विस्तार हुआ है। किसी कथा में जितने ही अधिक जीवन के मोड होते हैं, उसमें उतनी ही जीवन्तता और प्रवाह होता है। पद्मावत के कथानक में इतने अधिक मोडों के कारण स्वाभाविक गति है। अरस्तू ने महाकाव्य के कथानक में जीवन्तता की व्याख्या करते हुए कहा है कि उसमें आदि, मध्य और अन्त यानी उसके सब अगों का समानुपातिक विकास होना चाहिए। इस दृष्टि से देखने पर पद्मावत में कथानक का समानुपातिक विकास क्रम मिलता है। उसमें प्रारंभ से पद्मिनी विवाह तक की घटनाएँ कथा के आदि भाग में हैं, विवाह से राघवचेतन के देशनिकाला तक की घटनाएँ मध्य भाग में हैं और उसके बाद की कथा अन्त के रूप में है, अर्थात् प्रारम्भ से २८७वे दोहे तक पद्मावत का आदि भाग, उसके बाद ४७६वे दोहे तक मध्य भाग और अन्तिम दोहे (६५३) तक अन्तिम भाग है। इस तरह उसके मध्य और अन्त के भाग तो बराबर हैं किन्तु आदि भाग कुछ बडा है। आदि भाग में कथानक के पूर्वार्द्ध की अधिकांश कथा है जिसमें रोमांचकता अधिक है। इसी कारण वह अपेक्षाकृत लम्बा हो गया है।

नाटकीय सधियाँ और कार्यावस्थाए—कथा में आदि, मध्य और अन्त की योजना निर्धारित करने मे अरस्तू का अभिप्राय यही था कि कथानक मे

कर्यान्विति होनी चाहिए अर्थात् पूरी कथा मे एक इकाई होनी चाहिए। भारतीय आचार्यों की दृष्टि भी इस ओर गया थी और उन्होने भी यह नियम निधारित किया कि कथानक को सुसघटित और शृखलित बनाने के लिए उसमे नाटक की पाँच सधियो की योजना होनी चाहिये। नाटकीय सन्धियों और कार्य का अवस्थाओ की दृष्टि से देखने पर पद्मावत का कथानक खरा नहीं उतरता। कारण यह है कि जायसी ने पद्मावत म दो भिन्न कथाओ को एक म जोडा है किन्तु जुडकर भी दोनो कथाएँ भिन्न भिन्न प्रतीत होती हैं। पहला कथा का उद्देश्य नायक रतनसेन द्वारा पद्मावती की प्राप्ति है और उसके लिये प्रारम्भ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा नियताप्ति और फलागमन इन पाँचो कायावस्थाओं तथा मुख, प्रतिमुख आदि पाच सधियो की सम्यक् योजना हुई है। इस कथा मे नायक को फल (पद्मावती) की प्राप्ति हो जाती है। इस तरह पद्मावत के पूर्वार्द्ध की कथा अपने आपम पूर्ण और स्वतन्त्र जैसी लगती है। किन्तु उत्तरार्द्ध को कथा, जो राघवचेतन के देशनिकाले से प्रारम्भ हाती है, नाटक की सभी कायावस्थाओ से युक्त नहा है। उसम प्रारम्भ, प्रयत्न और प्राप्त्याशा की योजना तो हुई है किन्तु अन्त मे नियताप्ति और फलागम न होकर निगत और अवसान नामक पाश्चात्य ढङ्ग की कायावस्थाएँ दिखलाई पडती हैं। पहली कथा मे नायक की विजय होती है आर दूसरी म पराजय। दोनों कथाओ को एक मे मिलाने पर फलागम या कार्य की सिद्धि नायक के पक्ष मे नही होती। यदि अत मे देवपाल और अलाउद्दीन दानो को पराजित कर रतनसेन पद्मावती के साथ सुख भोग करता हुआ जीवनयापन करता तो पहली कथा भी दूसरी कथा के फलागम मे योग देनेवाली बनकर उसमे घुल मिल जाती। किन्तु जायसी सभवत इतिहास मे इतना अधिक तोड मरोड नही करना चाहते थे। साथ ही उन्होने आलकारिको द्वारा निर्दिष्ट महाकाव्य के लक्षणो को पढकर पद्मावत की रचना नहीं की है। इससे नाटकीय सधिया और कायावस्थाओ की योजना उसमे पूर्ण रूप मे नही मिलती। किन्तु इस सम्बन्ध मे एक बात ध्यान देने की है कि सधिया, कायावस्थाओ और अथ प्रकृतियों का विभाजन सुखान्त नाटको की दृष्टि मे रखकर ही हुआ है। अत उन्हे महाकाव्य मे खोजते समय भी यह अवश्य देखना होगा कि महाकाव्य सुखान्त है या दु खान्त। दूसरी बात यह है कि नाटकीय सन्धिया शास्त्रीय महाकाव्यो मे ही मिलती हैं, महाभारत जैसे विकसनशील महाकाव्यो और परवर्ती चरितकाव्यो मे उनकी योजना नही मिलती। नाटकों की तरह शास्त्रीय महाकाव्यो मे एक व्यक्ति या कुछ व्यक्तियों के जीवन को कुछ चुनी हुई

घटनाएँ वर्णित होती हैं जब कि चरितकाव्यों और विकसनशील महाकाव्यों में एक या अनेक व्यक्तियों के जीवन से सम्बन्धित प्राय सभी घटनाएँ दे दी जाती हैं। ऐसे काव्यों में नाटकीय साधयों का पूर्ण योजन सम्भव नहीं है। पद्मावत भी रतनसेन और पद्मिनी के जीवन का पूर्ण चित्र प्रस्तुत करता है और साथ ही उसकी कथा दुखान्त है। इन दोनों कारणों से उसमें नाटकीय सन्धियों का विधान पूर्ण रूप में नहीं दिखाई पडता।

किन्तु सभी नाटकीय सधियों की योजना न होने पर भी उसका कथानक त्रुटिपूर्ण नहीं है। जैसा पहले कहा जा चुका है, उसमें विकास क्रम तथा आदि, मध्य और अन्त की व्यवस्था है अथात् वह पूर्णतया सुमघटित और शृंखलित है। इतिहास पुराण और कथा आख्यायिका में अनेक कथाएं जिस तरह एक दूसरे के समानान्तर या एक के भीतर दूसरी मिलकर चलती हैं, वैसा पद्मावत में नहीं हुआ है। उसमें प्रधानतया एक ही आधिकारिक कथा है जो रतनसेन और पद्मिनी के सम्पूर्ण जीवनवृत्त को लेकर निर्मित हुई है और जिसमें कुछ इनी गिनी और अति लघु प्रासगिक कथाओं की भी योजना हुई है, जैसे हीरामन सुए का वृत्तान्त, राघवचेतन का वृत्तान्त और देवपाल दूती तथा अलाउद्दीन की वेश्या दूती का प्रसग। ये सभी प्रासगिक कथाएँ अपने आप में स्वतन्त्र नहीं हैं। वे आधिकारिक कथा के प्रवाह मे योग देने के लिए सयोजित हुई हैं और उनके नायक आधिकारिक कथा के महत्वपूर्ण पात्र भी हैं जो कथा की गति को मोडने मे अनेक स्थलो पर सहायक हुए हैं। पद्मावत मे वैसा अवान्तर कथा एक भी नहीं है जैसी पुराण, कथा, आख्यायिका आदि मे होती है। इस प्रकार आधिकारिक कथा कहीं भी बिखरी नहीं है, कहीं कहीं अनावश्यक इतिवृत्तात्मक या तथ्यात्मक विवरणों से उसके प्रवाह मे अवरोध अवश्य उत्पन्न होता है, पर ऐसे स्थल अधिक नहीं हैं।

कार्यान्विति—इस प्रकार पद्मावत के कथानक को नाटकीय सन्धियों और भारतीय ढग के कार्य की अवस्थाओं की कसौटी पर कसना उचित नहीं है। यदि अरस्तू के अनुसार 'कार्यान्विति' के सिद्धान्त और पाश्चात्य ढग का कार्य की अवस्थाओं की दृष्टि से देखें तो उसका कथानक खरा उतरता है। अरस्तू ने लिखा है कि कथानक चाहे एक व्यक्ति के समूचे जीवन वृत्त पर आधारित हो या एक ही समय के अनेक व्यक्तियों की जीवन कथा से सम्बन्धित हो, पर उसे ऐसा होना चाहिए कि वह एक शृंखलित और समन्वित कथा प्रतीत हो इसके लिए घटनाओं का समुचित चुनाव और कलात्मक सयोजन करना पडता है जिसके कारण प्रत्येक घटना अगली घटना के कारण के रूप मे दिखला

कर्यान्विति होनी चाहिए अर्थात् पूरी कथा मे एक इकाई होनी चाहिए। भारतीय आचार्यों की दृष्टि भी इस ओर गयी थी और उन्होने भी यह नियम निर्धारित किया कि कथानक को सुसघटित और शृखलित बनाने के लिए उसमे नाटक की पाँच सधियो की योजना होनी चाहिये। नाटकीय सन्धियों और कार्य की अवस्थाआ की दृष्टि से देखने पर पद्मावत का कथानक खरा नहीं उतरता। कारण यह है कि जायसी ने पद्मावत म दो भिन्न कथाओ को एक म जोडा है किन्तु जुडकर भी दोनो कथाएँ भिन्न भिन्न प्रतीत होती हैं। पहला कथा का उद्देश्य नायक रतनसेन द्वारा पद्मावती की प्राप्ति है और उसके लिये प्रारम्भ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा नियताप्ति और फलागमन इन पॉचो कार्यावस्थाओं तथा मुख, प्रतिमुख आदि पाँच सधियो की सम्यक् योजना हुई है। इस कथा मे नायक को फल (पद्मावती) की प्राप्ति हो जाती है। इस तरह पद्मावत के पूर्वार्द्ध की कथा अपने आपम पूर्ण और स्वतन्त्र जैसी लगती है। किन्तु उत्तरार्द्ध की कथा, जो राघवचेतन के देशनिकाले से प्रारम्भ हाती है, नाटक की सभी कायावस्थाओ से युक्त नहा है। उसमे प्रारम्भ, प्रयत्न और प्राप्त्याशा की योजना तो हुई है किन्तु अ त मे नियताप्ति और फलागम न होकर निगत और अवसान नामक पाश्चात्य ढङ्ग की कार्यावस्थाएँ दिखलाई पडती हैं। पहली कथा मे नायक की विजय होती है आर दूसरी म पराजय। दोनों कथाओ को एक मे मिलाने पर फलागम या कार्य की सिद्धि नायक के पक्ष मे नही होती। यदि अ त मे देवपाल और अलाउद्दीन दानो को पराजित कर रतनसेन पद्मावती के साथ सुख भोग करता हुआ जीवनयापन करता तो पहली कथा भी दूसरी कथा के फलागम मे योग देनेवाली बनकर उसमे घुल मिल जाती। किन्तु जायसी सभवत इतिहास मे इतना अधिक तोड मरोड नही करना चाहते थे। साथ ही उन्होने आलकारिको द्वारा निदिष्ट महाकाव्य के लक्षणो को पढकर पद्मावत की रचना नहीं की है। इससे नाटकीय संधिया और कायावस्थाओ की योजना उसमे पूर्ण रूप मे नही मिलती। कि तु इस सम्बन्ध मे एक बात ध्यान देने की है कि सधिया, कायावस्थाओ और अर्थ प्रकृतियों का विभाजन सुखान्त नाटको की दृष्टि मे रखकर ही हुआ है। अत उन्हे महाका य में खोजते समय भी यह अवश्य देखना होगा कि महाकाव्य सुखा त है या दु खान्त। दूसरी बात यह है कि नाटकीय सन्धिया शास्त्रीय महाकाव्यो मे ही मिलती हैं, महाभारत जैसे विकसनशील महाकाव्या और परवर्ती चरितकाव्यो मे उनकी योजना नही मिलती। नाटकों की तरह शास्त्रीय महाकाव्य ो मे एक व्यक्ति या कुछ व्यक्तियो के जीवन की कुछ चुनी हुइ

घटनाएँ वर्णित होती हैं जब कि चरितकाव्यो और विकसनशील महाकाव्यों मे एक या अनेक व्यक्तियों के जीवन से सम्बन्धित प्राय सभी घटनाएँ दे दी जाती हैं। ऐसे काव्यो मे नाटकीय सधियो का पूर्ण योजना सम्भव नहीं है। पद्मावत भी रतनसेन और पद्मिनी के जीवन का पूर्ण चित्र प्रस्तुत करता है और साथ ही उसकी कथा दु खान्त है। इन दोनो कारणो से उसमे नाटकीय सन्धियो का विधान पूर्ण रूप म नहीं दिखाई पडता।

किन्तु सभी नाटकीय सधियो की योजना न होने पर भी उसका कथानक त्रुटिपूर्ण नही है। जेसा पहले कहा जा चुका है, उसम विकास क्रम तथा आदि, मध्य और अन्त की व्यवस्था हैं अथात् वह पूर्णतया सुसघटित और शृखलित है। इतिहास पुराण और कथा आख्यायिका म अनेक कथाए जिस तरह एक दूसरे के समानान्तर या एक के भीतर दूसरी मिलकर, चलती हैं, वैसा पद्मावत म नहीं हुआ है। उसम प्रधानतया एक ही आधिकारिक कथा है जो रतनसेन और पद्मिनी के सम्पूर्ण जीवनवृत्त को लेकर निर्मित हुई है और जिसमे कुछ इनी गिनी और अति लघु प्रासगिक कथाओ की भी योजना हुई है, जैसे हीरामन सुए का वृत्तान्त, राघवचेतन का वृत्तान्त और देवपाल दूती तथा अलाउद्दीन की वेश्या दूती का प्रसग। ये सभी प्रासगिक कथाएँ अपने आप मे स्वतन्त्र नही है। वे आधिकारिक कथा के प्रवाह मे योग देने के लिए सयोजित हुई हैं और उनके नायक आधिकारिक कथा के महत्वपूर्ण पात्र भी हैं जो कथा की गति को मोडने मे अनेक स्थलो पर सहायक हुए हैं। पद्मावत मे वैसी अवा तर कथा एक भी नहीं है जैसी पुराण, कथा, आख्यायिका आदि मे होती है। इस प्रकार आधिकारिक कथा कही भी बिखरी नही हैं, कहीं कही अनावश्यक इति वृत्तात्मक या तथ्यात्मक विवरणों से उसके प्रवाह मे अवरोध अवश्य उत्पन्न होता है, पर ऐसे स्थल अधिक नही हैं।

कार्यान्विति—इस प्रकार पद्मावत के कथानक को नाटकीय सन्धियो और भारतीय ढग के कार्य का अवस्थाओ की कसौटी पर कसना उचित नही है। यदि अरस्तू के अनुसार 'कार्यान्विति' के सिद्धान्त और पाश्चात्य ढग का कार्य की अवस्थाओ की दृष्टि से देखे तो उसका कथानक खरा उतरता है। अरस्तू ने लिखा है कि कथानक चाहे एक व्यक्ति के समूचे जीवन वृत्त पर आधारित हो या एक ही समय के अनेक व्यक्तियों की जीवन कथा से सम्बन्धित हो, पर उसे ऐसा होना चाहिए कि वह एक शृखलित और समन्वित कथा प्रतीत हो। इसके लिए घटनाओ का समुचित चुनाव और कलात्मक सयोजन करना पडता है जिसके कारण प्रत्येक घटना अगली घटना के कारण के रूप मे दिखलाई

पड़ती है, अथात् सम्बन्धित घटनाओ मे कार्य कारण का सम्ब ध होता है। आचाय रामचन्द्र शुक्ल ने इसी को प्रबन्धकाव्य का सम्ब ध निर्वाह कहा है[1]। पद्मावत म सभी घटनाएँ और प्रसग एक दूसरे से इसी तरह के कार्य कारण की शृखला मे बँधे हैं। उसम कोई भी घटना कथा की दृष्टि से अनावश्यक नहीं है। उदाहरणाय पद्मावती का जलक्रीडा वणन यद्यपि महाकाव्यो की रूढि का पालन करने क लिए किया गया है पर उसका भी कथा से सम्बन्ध है क्योंकि उसी समय पद्मावती की अनुपस्थिति का लाभ उठाकर हीरामन सुआ पिजडे से भाग जाता है और इस तरह कथा आगे बढ जाती है। इसी तरह पद्मावत की प्रत्येक घटना कथा प्रवाह मे किसी न किसी प्रकार का योग देता है। उसम नायक नायिका के जीवन की ऐसी घटनाएँ नहीं ली गयी हैं जिनसे प्रधान जीवन कथा का दूर का या अप्रत्यक्ष सम्बन्ध हो। फलस्वरूप इस महाकाव्य का कथानक पृथ्वीराजरासो या आल्हखण्ड के कथानको की तरह का नही है जिनम भिन्न भिन्न कथाए एक साथ नायक के जीवन से सबधित होने क कारण जोड दी गयी हैं। इससे पद्मावत का कथानक कलात्मक, सुसघटित और अन्वितियुक्त है।

कथानक उत्पाद्य, अनुत्पाद्य और मिश्र तीन प्रकार का होता है। रुद्रट के अनुसार अनुत्पाद्य कथानक म भी कवि इतिहास पुराण की घटनाओ के अस्थि पिजर मे अपनी आर से रक्त मास की तरह बहुत बातें मिला देता है। पद्मावत की कथा के मूल उत्स के सबध मे विचार करत समय हम देख चुके हैं कि उसका कथानक अनुत्पाद्य ढग का है अथात् वह प्रख्यात कथा 'हीरामन सुआ ओर पाद्मनी राना' तथा इतिहास की प्रख्यात घटना—अलाउद्दीन और रत्नसिह के युद्ध—पर आधारित है। किंतु कवि ने इन दोनो वृत्तो को एक मे मिलाकर उसम कलात्मकता ओर रसमयता लाने क लिए अपनी ओर से बहुत सी बाते जोड दी है जिससे वह मिश्र कथानक की कोटि म आता है। कथा की गति को आगे बढाने तथा उसमे मोड लान के लिए लोककथाओं मे तथा कवि परपरा म जिन अभिप्रायो का चिरकाल से प्रयोग होता आया है, जायसी ने पद्मावत मे उनका उपयोग अपनी आवश्यकता के अनुसार किया है यद्यपि उसमे उनकी सख्या बहुत अधिक नहीं है।

कथानकरूढियाँ—पद्मावत मे निम्नलिखित कथानकरूढियो का प्रयाग हुआ है —

[1] जायसी ग्रन्थावली—ले० प० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ७२,

१—शास्त्रज्ञ और मानव भाषा भाषी शुक—हीरामन तोता।

२—संदेश-वाहक पक्षी—हीरामन तोता तथा नागमती का संदेश ले जाने वाला पक्षी।

३—अलौकिक शक्तियों की सहायता—शिव पार्वती द्वारा रत्नसेन की सहायता, समुद्र और लक्ष्मी द्वारा नायक नायिका की रक्षा।

४—जादू टोना और मंत्र तंत्र, सिद्धि-गुटिका की सहायता से सिंहलगढ़ की चढ़ाई, राघवचेतन का यक्षिणी सिद्धि के बल पर दूज का चाँद दिखाना।

५—सिंहल यात्रा और सिंहल की कन्या से विवाह।

६—समुद्र में जहाज डूबना और काष्ठ फलक के सहारे जीवन रक्षा।

७—रूप परिवर्तन—शिव पार्वती और समुद्र का रूप बदल कर आना।

८—कबन्ध युद्ध—अलाउद्दीन और रतनसेन के युद्ध के प्रसंग में।

९—बारहमासा—नागमती का विरह वर्णन।

१०—मन्दिर, सरोवर तट या आश्रम में नायक नायिका का प्रथम साक्षात्कार—शिव-मन्दिर में पद्मिनी और रतनसेन का साक्षात्कार।

११—रूप गुण श्रवणजन्य प्रेम—रतनसेन का पद्मावती के लिए। अलाउद्दीन का पद्मावती के प्रति।

१२—स्वप्न विचार—पद्मावती का मन्दिर से पूजा करके लौटने के बाद चन्द्र सूर्य मिलन का स्वप्न देखना और सखियों द्वारा उसका अर्थ बताया जाना।

५—**महत्त्वपूर्ण नायक तथा अन्य चरित्र**—किसी काव्य का महाकाव्यत्व इस बात पर बहुत अधिक निर्भर करता है कि उसके नायक में महाकाव्योचित महानता है या नहीं अथवा वह सामान्य काव्यों के नायकों से किसी अर्थ में अधिक महत्वपूर्ण है या नहीं। भारतीय आलंकारिकों ने अपने युग के अनुरूप यह लक्षण निर्धारित किया था कि महाकाव्य के नायक को धीरोदात्त नायक के गुणों से संपन्न, सदाशय, सद्वंश क्षत्रिय, द्विज कुलोत्पन्न या देवता होना चाहिये। इसका अभिप्राय यह है कि भारतीय प्रवृत्ति साहित्य में आदर्श चरित्रों की अवतारणा की ओर विशेष थी और आदर्श चरित्र की कल्पना भी यह थी कि धीरोदात्त वीर चरित्र की उत्पत्ति द्विज वर्णों में या देवकुल में ही हो सकती है। महाकाव्य के अन्य चरित्रों के लिए आलंकारिकों ने कोई लक्षण नहीं निर्धारित किया है। इस दृष्टि से देखने पर पद्मावत का नायक रतनसेन महाकाव्योचित नायक सिद्ध होता है। नायक के सामान्य गुणों की व्याख्या करते हुए वाग्भट्ट ने

लिखा है कि उत्तम बुद्धि, उत्साह, स्मृति, प्रज्ञा, शौर्य, औदार्य, गाम्भीर्य, धैर्य, स्थैर्य, माधुर्य, कला कुशलता, विनय, नीरागत्व, शुचिता, स्वाभिमान, प्रियवादिता, जनानुरागिता, वाग्मिता, महावशत्व, दृढता, तत्त्वशास्त्रज्ञत्व, अग्राम्यता, शृगारिकता, सौभाग्य आदि विशेषताएँ होनी चाहिएँ ।[1] तात्पर्य यह कि नायक मे ससार के सब गुण होने चाहिये । रुद्रट के अनुसार नायक म कुलीनता, रति चातुरी, रूप सौन्दर्य, अग्राम्यता, स्वभाव की स्थिरता, सौभाग्य, कला कुशलता, तारुण्य, त्याग, प्रियवादिता, दक्षता आदि गुण होने चाहिये ।[2] विश्वनाथ कविराज के अनुसार नायक को त्यागी, कृती, कुलीन, श्रीमान्, रूपयौवनोत्साही, दक्ष, लोकानुरक्त, तेजस्वी, विदग्ध और शीलवान होना चाहिये ।[3] आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट इन गुणों मे से अधिकाश रतनसेन के चरित्र मे दिखलाई पडते है । विश्वनाथ क अनुसार धीरोदात्त नायक का लक्षण यह है कि उसे अपनी प्रशसा न करने वाला, क्षमाशील, अतिगभीर, स्थिरप्रकृति, महासत्त्व, विनय से प्रच्छन्न, गर्व रखने वाला और दृढ निश्चयी होना चाहिये ।[4] पद्मावत का रतनसेन इस दृष्टि से धीरोदात्त नायक है क्योकि वह दृढप्रतिज्ञ, त्यागी, विनयी, स्वाभिमानी, क्षमाशील, गभीर और स्थिर स्वभाव वाला है । फिर भी उसमे इन गुणों का पूर्ण विकास नहीं हुआ है और न उनका रतनसेन के जीवन पर इतना व्यापक प्रभाव और परिणाम ही दिखाया गया है कि उसके चरित्र को प्रत्येक दृष्टि से आदर्श चरित माना जा सके । धीरोदात्त नायक का जो आदर्श राम, युधिष्ठिर विक्रमादित्य आदि उपस्थित करते हैं उसकी ऊँचाई तक जायसी अपने नायक को नहीं उठा सके हैं ।

किन्तु वस्तुत जिस दृष्टि से महाकाव्य के नायक के लक्षणों का निर्देश आलकारिकों ने किया था, जायसी का ध्यान उस ओर गया ही नहीं है अथवा जायसी की दृष्टि ही आलकारिको की दृष्टि से भिन्न है । आलकारिको की दृष्टि उस सामती आदर्शवाद की दृष्टि थी जिसके अनुसार राजकुल और उच्चवर्ग के लोग ही आदर्श चरित्र वाले हो सकते हैं, क्योकि राजनीति, धर्म, समाज, सभी क्षेत्रो म अपनी विशिष्टता सिद्ध करने का अवसर उन्हीं को मिल पाता था । इस प्रकार सस्कृत के महाकाव्यो के नायक सामती युग के

१—काव्यानुशासन, ले० वाग्भट्ट, अध्याय ५, नायक—प्रकरण ।

२—काव्यालकार ले० रुद्रट, अध्याय १२, श्लोक ७–८ ।

३—साहित्यदर्पण—ले० विश्वनाथ कविराज, अध्याय ३, श्लोक ३० ।

४—वही, अध्याय ३, श्लोक ३२ ।

प्रतीक या प्रतिनिधि व्यक्ति होते थे जिनका जीवन प्रत्येक क्षेत्र में आदर्श माना जाता था। जायसी का नायक सद्वंश क्षत्रिय और राजा होते हुए भी राजनीतिक और सामाजिक क्षेत्र में कोई आदर्श नहीं स्थापित करता। वस्तुतः राजनीति में उससे अधिक दक्ष उसके सरदार गोरा बादल हैं जो उसे अलाउद्दीन की चाल से सावधान करते हैं, पर वह अपनी अदूरदर्शिता या हृदय की सरलता के कारण उनकी बात न मान कर बन्दी बनता है। जायसी ने रतनसेन को आदर्श राजा से अधिक सामान्य मानव के रूप में चित्रित किया है। सामान्य या वर्ग निर्विशेष मानव में सभी गुण पुंजीभूत होकर अपने चरमोत्कृष्ट रूप में कभी नहीं दिखाई देते। रतनसेन में धीरोदात्त नायक के अधिकांश गुण हैं पर उनमें से चरमोत्कर्ष कुछ का ही हुआ है। साथ ही उसमें कुछ मानव सुलभ दुर्गुण जैसे द्रव्य लोभ, रूप लोभ, धन का गर्व, अदूरदर्शिता, उतावली आदि भी हैं। इस प्रकार रतनसेन धीरोदात्त गुणों से समन्वित होते हुए भी वैसा आदर्श महापुरुष नहीं है जैसे रामचरितमानस के राम हैं।

इस विवेचन का यह तात्पर्य नहीं कि पद्मावत यथार्थवाद पर आधारित महाकाव्य है। उसमें भी आदर्शवाद है पर उसका आदर्श सर्वांगीण नहीं है अर्थात् केवल प्रेम के क्षेत्र में जायसी ने अपने आदर्शवाद की प्रतिष्ठा की है और रतनसेन का चरित्र आदर्श प्रेमी के रूप में चित्रित किया है। अतः शुक्ल जी का यह कथन सही प्रतीत होता है कि 'पद्मावत में हम न तो किसी व्यक्ति के ही स्वभाव का ऐसा प्रदर्शन पाते हैं जिसमें कोई व्यक्तिगत विलक्षणता पूर्ण रूप में लक्षित होती हो, और न किसी वर्ग या समुदाय की ही विशेषताओं का विस्तृत प्रत्यक्षीकरण हमें मिलता है। मनुष्य प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षण का प्रमाण हमें जायसी के प्रबन्ध के भीतर नहीं मिलता।"[1] इसका कारण यही है कि पद्मावत की चरित्र योजना न तो आदर्शवाद पर आधारित है और न यथार्थवाद पर। आदर्शवाद पर आधारित होने पर उसमें आलंकारिकों की कल्पना के अनुरूप मध्यकालीन सामंती आदर्श चरित्र की अवतारणा हुई होती और रतनसेन को जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में आदर्श पुरुष या महापुरुष के रूप में चित्रित किया गया होता। यथार्थवाद पर आधारित होने पर उसमें शुक्ल जी की मान्यता के अनुरूप रतनसेन की वैयक्तिक, जातिगत या सामान्य मानवीय विशेषताओं को चित्रित किया जाता। किन्तु जायसी के रतनसेन न तो

१—जायसी ग्रंथावली—संपादक रामचन्द्र शुक्ल, पंचम संस्करण, भूमिका, पृ० १२०।

सामाजिक आदर्शवाद के प्रतीक हैं न यथार्थ मानव के ही प्रतिनिधि। वस्तुत वे जायसी के आध्यात्मिक प्रेम के क्षेत्र के आदर्श प्रेमी के प्रतीक हैं। न तो पद्मावत की प्रेम पद्धति सामान्य प्रेम पद्धति है और न उसका नायक ही सामान्य प्रेमी है। भारतीय आलङ्कारिको के लक्षणो के अनुसार वह आदश प्रेमी (धारललितनायक) भी नही है। विश्वनाथ कविराज के अनुसार धारललित नायक निश्चित, अति कोमल स्वाभाव वाला और सदा नृत्य गीतादि कलाओ मे लीन रहने वाला होता है। रतनसेन आदर्श प्रेमी होता हुआ भी रत्नावली या स्वप्नवासवदत्ता के उदयन की तरह निश्चिन्त होकर अपने महल मे विलास करने वाला राजा नही है। वह जिस तरह प्रेम म अपना राज्य, धन और परिवार त्याग कर असीम कष्टो का सामना करता हुआ अपने प्रिय को प्राप्त करता है उसी तरह स्वाभिमान और कुल मर्यादा की रक्षा के लिए अला उद्दीन के घृणित प्रस्ताव को ठुकरा कर उससे युद्ध भी कर सकता है और अपनी पत्नी के अपमान का बदला लेने के लिए देवपाल से युद्ध कर उसे मार कर स्वय मर भी सकता है। इस तरह यह धीरललित नायकों की तरह का प्रेमी नहीं है।

यहाँ एक बात और ध्यान देने की है कि पद्मावत का नायक रतनसेन फारसी प्रेमाख्यान काव्यो के आदर्श प्रेमी नायकों मे सर्वथा भिन्न प्रकार का है और हिन्दी के अन्य प्रेमाख्यानक काव्यो के नायको से भी उसकी चरित्रगत भिन्नता स्पष्ट दिखाई पडती है। प्रेम मार्ग के कष्टों को झेल कर प्रिय को प्राप्त करने या उसी मार्ग मे जीवन समाप्त कर देने का आदर्श 'प्लेटानिक लव' कहलाता है जो सूफी काव्यो मे मिलता है। जीवन के अन्य पक्षों पर उस प्रेम का क्या प्रभाव पडता है या प्रेम क्षेत्र के साथ ही जीवन के अन्य क्षेत्रो मे नायक अपना उत्तरदायित्व किस प्रकार पूरा करता है, इसका चित्रण सूफी प्रेमाख्यानक काव्यो मे नहीं हुआ है। पद्मावत मे प्रेम के क्षेत्र के अतिरिक्त राजनीति और वीरता की भावना के क्षेत्र मे भी नायक के चरित्र का विकास दिखाया गया है। यह अवश्य है कि इन क्षेत्रों मे काम करता हुआ भी नायक का प्रेमी स्वरूप ही प्रधान रहता है। इस तरह रतनसेन का चरित्र वस्तुत प्रतीकात्मक चरित्र है जिसमे प्रेम मार्ग मे सफलता प्राप्त करने के प्रयत्न और सफलता के बाद जीवन सघषो के बीच, प्रेम के आदर्शों की रक्षा के लिए आदर्श प्रेमी के आत्मोत्सर्ग का चरमोत्कृष्ट रूप चित्रित हुआ है। अरस्तू के अनुसार नायक तीन प्रकार के होते हैं—आदर्श, यथार्थ या कल्पित। किन्तु पद्मावत का नायक इनमे से एक प्रकार का भी नहीं है। यदि इस प्रकार के

प्रतीकात्मक काव्य अरस्तू के समय म लिखे गये होत तो अवश्य उनम एक चौथे प्रकार के प्रतीकात्मक नायक का निर्देश किया गया ह ता। सब मिला कर देखने पर प्रतीत होता है कि रतनसेन यद्यपि एक आदर्श महापुरुष के रूप म नही चित्रित हुआ है फिर भी आदर्श प्रेम, त्याग और बलिदान की दृष्टि से उसका चरित्र महान है और अनेक दृष्टियो से वह इतना महत्वपूर्ण है कि उसके परिणामस्वरूप पद्मावत महाकाव्य पद का अधिकारी है।

पद्मावत के अन्य चरित्रो म पद्मावती, नागमती, हीरामन तोता, अलाउद्दीन और राघवचेतन प्रमुख हैं। इनम हीरामन तोता तो मानव पात्र नही, बल्कि अप्राकृत शक्तिवाला पक्षी है, किन्तु शेष सभी पात्र मानव के रूप म चित्रित किये गये हैं। इन पात्रों का चरित्र भी प्रधानतया प्रतीकात्मक ही है। स्वाभाविकता की दृष्टि से देखने पर इनम नागमती आदर्श भारतीय पत्नी के रूप म और पद्मावती आदर्श भारतीय प्रेमिका के रूप म दिखलाई पडती है। भारतीय वातावरण के अनुरूप ही पद्मावत म इन दोनो स्त्रियो का चरित्र चित्रित किया गया है। जिस तरह उदयन अपनी प्रथम पत्नी वासवदत्ता के रहते हुए भी स्वप्नवासवदत्ता नाटक म पद्मावती से और रत्नावली नाटिका म सागरिका (रत्नावली) से प्रेम करने के बाद विवाह करता है, उसीसे मिलती जुलती स्थिति पद्मावत की भी है। 'रत्नावली' म नायिका रत्नावली उदयन को देखकर उस पर मुग्ध होती है। उसीका प्रेम उस नाटिका म प्रधान है। उसके प्रति उदयन का प्रेम तो बाद म उदित होता है। इसके विपरीत पद्मावत मे नायक रतनसेन का प्रेम रूप गुण-श्रवण द्वारा उत्पन्न होता है और नायक का ही प्रेम प्रमुख और अधिक तीव्र है, नायिका पद्मावती का नही। फिर भी फारसी प्रेमाख्यानक काव्यो की तरह पद्मावत म रतनसेन का प्रेम एकांगी नहीं है, इसम नायिका भी उसे उसी तरह प्रेम करती है और उसमे भी 'पूर्वराग' का उदय कवि ने दिखाया है। इस तरह नागमती और पद्मावती दोनो ही मूलत भारतीय नारी का प्रतिनिधित्व करती हैं। किन्तु उनके चरित्रो म भी उनकी वैयक्तिक विशेषताएँ प्रस्फुटित नहीं हुई हैं, वे 'टाइप' अधिक प्रतीत होती हैं, व्यक्ति कम। नागमती भारतीय पत्नी का प्रतिनिधित्व करती है और पद्मावती भारतीय प्रेमिका का। प्रेम के क्षेत्र के अतिरिक्त जीवन के अन्य क्षेत्रो मे इनके कार्यो और मानसिक क्रिया-प्रतिक्रिया का कवि ने बहुत कम चित्रण किया है। पद्मावती के जीवन मे विवाहोपरान्त अवश्य ऐसी परिस्थितियाँ उपस्थित होती हैं जिनम वह अपने पत्नीत्व और पातिव्रत्य का प्रदर्शन करती तथा अपनी व्यवहार कुशलता, दान दाक्षिण्य, उत्साह, नीतिमत्ता, बुद्धिमत्ता, विनयशीलता

आदि गुणो का परिचय देती है और अन्त मे चिता पर पति के साथ जल कर आत्मसम्मान और प्रेम क यज्ञ मे पूणाहुति भी देती है। नागमती मे प्रेम की उत्कृष्टता और तीव्रता तो बहुत है पर उसम रूप का गर्व, ईर्ष्या आदि दाष भी हैं जो सामान्य स्त्री के लिए बहुत स्वाभाविक हे। पति के साथ सती होकर वह भी अपने धम का पालन करती है। अलाउद्दीन और राघवचेतन काव्य के असत्पक्ष का प्रतिनिधित्व करते हैं। दुष्टता, लोभ, वासना, अन्याय, अह मान्यता, छल कपट आदि दुगुणो और पापों के आश्रय दुष्ट मनुष्य इस ससार मे सदा रहते हैं और सज्जनो और सत्य पथ पर चलने वालो के मार्ग मे वे सदा अवरोध उत्पन्न करते रहते हैं। अलाउद्दीन, राघवचेतन और देवपाल इसी वर्ग के लोगो का प्रतिनिधित्व करते हैं। उनके स्वभाव की भी वैयक्तिक विशेषताए नहीं उद्घाटित की गयी हैं और न उनके अशुभ कमो का अशुभ परिणाम दिखाकर उनके आचरण को निन्द्य ही ठहराया गया है।

इस प्रकार पद्मावत के पात्रा का चरित्र विवेचन करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जायसी का उद्देश्य इस काव्य मे महान या आदर्श चरित्रो की स्थापना करके उनके शुभ कर्मों का शुभ परिणाम दिखाना नही है और न प्रतिनायक और उसके सहायको को अत्याचारी और अन्यायी दिखा कर उनके अशुभ कर्मों का अशुभ परिणाम दिखाना ही उनका लक्ष्य है। उनका उद्देश्य विविध प्रकार के व्यक्तिया की स्वभावगत वैयक्तिक विशेषताओं का उद्घाटन करके मनोवैज्ञानिक ओर यथार्थवादी आध्यात्मिक प्रेम पथ पर साधक की आत्मा का प्रयाण, उसकी सफलता और मार्ग के अवरोधो का चित्रण करना है। इसके लिए कवि ने अपने पात्रो का अपनी कार्य सिद्धि का साधन बनाया है अर्थात् पद्मावत के सभी प्रमुख पात्र आदर्श या यथाथ नहीं बल्कि प्रतीकात्मक पात्र हैं। इस दृष्टि से उनमे राष्ट्रीय, सामाजिक, जातिगत, वगगत या वैयक्तिक विशेषताओ और गुणो को ढूँढना बेकार है। पद्मावत में लौकिक प्रेम कथा की आड मे आध्यात्मिक प्रेम कथा कही गयी है आर इसीसे उसके पात्र लोकिक व्यक्ति हाते हुए भो प्रतीकात्मक हैं। अत उनके व्यक्तित्व का सौ दय, चमत्कार और वैशिष्ट्य उन्हें लौकिक मानव के रूप मे देखने पर नहीं उद्घाटित हो सकता। वे वस्तुत किसके प्रतीक हैं, इस बात को समझ लेने पर ही उनके चरित्र का सही मूल्याकन होगा। पद्मावत के चरित्र चित्रण की शैला प्रतीकात्मक है, अत शैली के सबध म विचार करते समय आगे इस शैला की विशेषताओं की व्याख्या की जायगी।

६—गरिमामयी उदात्त शैली

पद्मावत की शैली की परीक्षा आलकारिको द्वारा निदिष्ट महाकाव्य के लक्षणो से नहीं हो सकती, क्योकि वे लक्षण सस्कृत के शास्त्रीय महाकाव्यो को आदर्श मानकर निर्मित हुए थे ओर पद्मावत अपभ्रश के रोमाचक चरितकाव्यो की परम्परा मे आता है। दूसरी बात यह है कि सस्कृत म ऐसा कोई भी शास्त्रीय महाकाव्य नही है जिसम पद्मावत की तरह का प्रतीकात्मक शैली अपनायी गयी हो। आलकारिको ने महाकाव्य का पहला लक्षण तो यही बताया है कि उसे सर्गबद्ध होना चाहिये। पद्मावत के पूर्ववर्ती प्रकाशित सस्करणों म कथा ५८ खण्डों म विभक्त है। इसी विभाजन के आधार पर शुक्ल जी प्रभृति विद्वानों ने यह कह दिया कि पद्मावत की रचना ममनवी के प्रेमाख्यानक काव्यो के अनुकरण पर हुई है। परतु इस अध्याय के प्रारभ म ही कहा जा चुका है कि डा० माताप्रसाद गुप्त ने पद्मावत की अनेक प्राचीनतम हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर उसका जो प्रामाणिक सस्करण प्रकाशित किया है उसमें खण्डो या सर्गों का विभाजन नहीं है, बल्कि कथा आद्यन्त धाराप्रवाह रूप में लिखी गयी हैं। प्राकृत अपभ्रश मे इस तरह के कई काव्य पहले ही लिखे जा चुके हैं। पद्मावत म वही शैली अपनायी गया है। सर्गबद्धता महाकाव्य का आतरिक और स्थिर लक्षण नहीं है। अत उसका अभाव पद्मावत क महाकाव्यत्व मे बाधा नहीं उपस्थित करता। अन्य बाह्य लक्षणों में प्रारभ म नमस्क्रिया, आशीर्वचन, वस्तुनिर्देश, खल निन्दा, सज्जन प्रशसा आदि का होना आवश्यक माना गया था। पद्मावत के प्रारभ मे इनमे से सज्जन दुर्जन के अतिरिक्त अन्य सभी लक्षण मिलते हैं। 'गउडवहो' की तरह उसमे भी मगलाचरण बहुत लम्बा है।

किन्तु ये सभी महाकाव्य की शैली के बाह्य लक्षण हैं और उनके होने से ही कोई काव्य महाकाव्य नहीं हो सकता या उनके न होने से ही कोइ महाकाव्य पद का अधिकारी काव्य उस पद से च्युत नही हो सकता। जैसा दूसरे अध्याय म कहा जा चुका है, महाकाव्य की शैली अत्यन्त गरिमामयी ओर उदात्त होनी चाहिये। उसक बिना कोई काव्य महाकाव्य नहीं माना जा सकता। इस अध्याय के प्रारभ मे ही कहा जा चुका है कि पद्मावत कथा आख्यायिका नहीं है यद्यपि कथा की रोमाचक शैली का प्रभाव उस पर अवश्य पडा है। कथा-आख्यायिका मे मनोरजन ही प्रधान उद्देश्य होता है जिससे उसकी शैली उद्देश्य-प्रधान महाकाव्यों की भाँति गभीर ओर उदात्त नहीं होती। कथा के मर्मस्पर्शी स्थलों को पहचान कर वहाँ बाह्य परिस्थितियों, आतरिक भावनाओ और मानसिक प्रतिक्रियाओं तथा विविध प्रकार की वस्तुओं के रसात्मक वर्णन से

महाकाव्य की शैली मे वह गभीरता आती है जो कथाओ मे नही होती। उसी तरह महत्कार्य, महच्चरित्र और सुसघटित कथानक की योजना भी महाकाव्यों मे ही मिलती है। महाकाव्य के इन तत्वो—महदुदेश्य, महच्चरित्र, सुसघटित कथानक और महत्कार्य तथा युग जीवन की विविधता की रसात्मक अभिव्यक्ति—की योजना हो जाने पर किसा काव्य की शैली मे स्वत उस गारमा और गभारता की प्रतिष्ठा हो जाती है जो उसे महाकाव्य पद पर बिठा देती है। पद्मावत मे ये तत्व हे, यह हम देख चुके हैं। फलस्वरूप उसकी शैली मे महा काव्योचित गरिमा, गभीरता और उदात्तता पायी जाती है। उसमे महाभारत रामायण जैसी व्यापकता, विशालता और शक्तिमत्ता नही है किन्तु अपेक्षाकृत सीमित घेरे के भीतर ही उसम पयाप्त गहराई और तीव्रता है। उसमे पृथ्वी राजरासो जैसी हलचल, उथल पुथल और उद्दाम वेग नही है, न रामचरित मानस जैसा प्रशान्त गाम्भीर्य ओर प्रकाशमान ओज ही है। इसके विपरीत इसम कुमारसभव के ढग का सौकुमार्य, मादव और माधुर्य है। इस तरह शैली की मधुर काति और कोमलता के कारण पद्मावत को प्रगीतात्मक महाकाव्य भी कहा जा सकता है। किन्तु उसकी कोमलता ओज से समन्वित, मधुरता शक्ति से युक्त और काति गरिमामयी है। उसमे तूफानों वाले सागर का उद्दाम वेग भले ही न हो किन्तु प्रशान्त सागर की उच्छल तरगो का प्रवाह अवश्य है जिसकी सतह के नीचे अतुल गभीरता और ऊपर असीम अनन्त आकाश है। तात्पर्य यह कि पद्मावत की लौकिक माधुर्य का आभास देने वाली कथा के भीतर आध्यात्मिक गहराई और ऊचाई, विशालता ओर व्यापकता है जो जायसी की महाप्राणता और महती काव्य प्रतिभा की देन है। उसकी शैली मे जायसी ने अपने सम्पूण व्यक्तित्व को अभिव्यक्त कर दिया है।

प्रतीक और सकेत की पद्धति

उक्त शैली मे माधुर्य ओर ओज, कोमलता और परुषता आदि परस्परा विरोधी गुणो का समन्वय का कारण वह प्रतीक योजना ओर सकेतात्मक अभिव्यजना पद्धति है जिसका सूफी कविता और रहस्यवादी साधना मे बडा ही महत्वपूर्ण स्थान है। सूफीमत म बुलबुल, शराब, बाँसुरी, माशूक आदि का प्रयोग प्रताक रूप मे होता है, यह बात पहले ही कही जा चुकी है। प्रतीक दो प्रकार के होते हैं, एक तो वे प्रतीक जिनका परम्परा से किसी विशेष अर्थ मे प्रयोग होता आया हो, दूसरे वे जिन्हें कोई कवि या साधक नया अर्थ देकर चालू कर दे। पद्मावत मे दानो तरह के प्रतीको का प्रयाग हुआ है। उदाहरण के लिए असाधरण सुन्दर स्त्री को परमात्मा और जीवात्मा या साधक का प्रतीक मानने

की पद्धति सूफी कवियो मे जायसी के पहले ही मा य थी किन्तु तोते को गुरु का प्रताक मानना जायसी की नयी उद्भावना है। इसा तरह पद्मावत के प्राय सभा पात्र प्रतीक ओर उसका पूरी कथा प्रतीकात्मक है। प० रामचन्द्र शुक्ल द्वारा सम्पादित जायसी ग्रथावली म पद्मावत के उपसहार खण्ड म कुछ पक्तियो ऐसी हैं जिनमें पात्रो और स्थानों के प्रतीक समझाये गये हैं। ये पक्तियाँ डा० माता प्रसाद गुप्त द्वारा सपादित पद्मावत म नही हैं, अत प्रक्षिप्त हैं और बाद के किसी लिपिकार या सूफी कवि द्वारा रचित हैं। किन्तु प्रक्षिप्त होते हुए भी वे जायसी की प्रताक योजना पर पर्याप्त प्रकाश डालती हैं। पक्तियाँ ये हैं —

तन चितउर मन राजा कीन्हा। हिय सिहल बुधि पदमिनि चीन्हा॥
गुरू सुआ जेह पथ देखावा। बिनु गुरू जगत को निरगुन पावा॥
नागमती यह दुनिया धन्धा। बाँचा सोइ न एहि चित बधा॥
राघव दूत सोइ सैतानू। माया अलाउदी सुलतानू॥
प्रेम कथा एहि भाँति विचारहु। बूझि लेहु जो बूझै पारहु॥
तुरकी अरबी हिन्दुई भाषा जेती आहि।
जेहि महँ मारग प्रेम कर सबै सराहैं ताहि॥

इन पक्तियो मे स्पष्ट कहा गया है कि अरबी, फारसी और हिन्दी सभी भाषाओं मे सूफी प्रेमाख्यानक काव्यो मे इस प्रकार की प्रतीकात्मक शैली का प्रयोग होता है और जो उस पद्धति के जानकार होते हैं वे उन प्रेम कथाओ को लौकिक अर्थ मे न लेकर आध्यात्मिक अर्थ मे ही ग्रहण करते हैं। स्वय जायसी ने पद्मावत में जगह जगह अपने प्रतीकों की ओर सकेत किया है। उन्होने प्रारभ मे ही लिखा है —

आदि अन्त जसि कथथा अहै। लिखि भाषा चौपाई कहै।
कवि विआस रस कौला पूरी। दूरिहि निअर निअर भा दूरी॥
भवर आइ बनखण्ड हुति, लेहि कँवल के बास।
दादुर बास न पावहि भलेहि जो आछहि पास॥ दो० २४।

इसमे जायसी ने स्पष्ट कर दिया है कि पद्मावत की कथा मे व्यग्यार्थ (आध्यात्मिक प्रेम पद्धति) ही प्रधान है और जो उसके प्रस्तुत या अभिधार्थ को ही प्रधान मानेगे वे उसी प्रकार उसके रस से वचित रह जायगे जैसे दादुर कमल की सुगध से लाभ नहीं उठा पाता। आगे जायसी सिंहल के हृदय और हीरामन के गुरू होने का भी सकेत करते हैं —

सिंघल दीप कथा अब गावो। औ सो पदुमिनि बरनि सुनावो।
बरनक दरपन भॉति विसेखा। जेह् जस रूप सो तैसेइ देखा। दो० २५

इसमे सिंहल को दर्पण के समान कहा गया है और सूफी मत मे दपण हृदय का प्रतीक माना जाता है जिसमे जीव परमात्मा की मूर्ति का या अपने स्वरूप को प्रतिबिम्बित देखता है। पद्मिनी को जायसी ने ब्रह्म ज्योति का अवतार कहा है —

प्रथम जो जोति गगन निरभई। पुनि सो पिता माथें मनि भई।
पुनि वह जोति मातु घट आई। तेहि ओदर आदर ब्हु पाई।

× × ×

जस अंचल झीने मह दिया। तस उजियार देखाये हिया।
सोने मॅदिर सॅवारे औ चन्दन सब लीप।
दिया जो मनि सिव लोक मॅह उपजा सिहल दीप॥ दो० ५०

पद्मावत का रतनसेन प्रबुद्ध जीवात्मा का प्रतीक है, यह जायसी की इन पक्तियों से स्पष्ट है —

जो भा चेत उठा बैरागा। बाउर जनहुँ होइ अस जागा।
आवन जगत बालक जस रोवा। उठा रोइ हा ग्यान सो खोवा।
हौ तो अहा अमरपुर जहॉ। इहॉ मरनपुर आएउँ कहॉ।

× × ×

अहुँठ हाथ तन सरवर, हिया कॅवल तेहि मॉह।
नैनन्हि जानहु निअरें, कर पहुँचत अवगाह॥ दो० १२१

उसी तरह हीरामन सुआ गुरु का प्रतीक है —

देखु अन्त अस होइहि, गुरु दीन्ह उपदेस।
सिघल दीप जाब मै माता मोर अदेस॥ दो० १३०

× × +

हीरामनि राजा सौ बोला। एही समुद आइ सत डोला।
एहि ठॉव कहॅ गुरु सॅग कीजै। गुरु सॅग होई पार तो लीजै॥ दो० १५६

× × ×

पूछा राजै कह गुरु सुवा। न जनौ आज कहॉ दिन उवा। दो १७९

इस प्रकार जायसी ने कुछ पात्रों, घटनाओं और वस्तुओं के प्रतीकात्मक अर्थ की ओर सकेत कर दिया है और कुछ को छोड दिया है किन्तु उनका

वर्णन इस ढग से किया है कि उनका व्यग्यार्थ समझ मे आ जाता है। इस दृष्टि से देखने पर पद्मावत के प्रतीक और उनके व्यग्यार्थ इस प्रकार हैं —

पद्मावती	परमात्मा की ज्योति (स्वय परमात्मा)
रतनसेन	प्रबुद्ध जीवात्मा
हीरामन तोता	गुरु
नागमती	सासारिक सम्बध
अलाउद्दीन	माया
राघवचेतन	शैतान (नारद)
सिहल	निर्मल हृदय
देवपाल और दो दूतियाँ	मन का पाप वृत्तियाँ
सात समुद्र	सूफियो के सात जगल—आध्यात्मिक साधना की सात सीढियाँ।
मानसर समुद्र	ब्रह्मरन्ध्र
सिहल यात्रा	आध्यात्मिक प्रेम मार्ग की साधना।

किन्तु जायसी ने प्रतीक पद्धति का सहारा लेते हुए भी पद्मावत में लौकिक कथा को बिलकुल गौण बना कर उसके व्यग्यार्थ-(आध्यात्मिक प्रेम कथा) को ही सब कुछ नही माना है। उनका लक्ष्य आध्यात्मिक प्रेम कथा कहना अवश्य है किन्तु उसके लिए उन्होने माध्यम या साधन रूप मे जो लौकिक प्रेम कथा लिखी है उसकी स्वाभाविकता, सौंदर्य, साज सज्जा और मनोहारिता की ओर उन्होंने बहुत अधिक ध्यान रखा है और इस बात की चिन्ता नहीं की है कि उनके प्रत्येक वर्णन या घटना का आध्यात्मिक अर्थ भी घटित हो। इसका कारण यह है कि सूफी सिद्धान्तो के अनुरूप जायसी लौकिक जगत् को भी उतना ही महत्व देते हैं जितना आध्यात्मिक जगत् को क्योंकि लौकिक जगत् पारलौकि सत्ता की अभिव्यक्ति या छाया ही तो है। अत लोक व्यवहार के रास्ते से ही आध्यात्मिक लोक मे पहुँचा जा सकता है। इस दृष्टि से जायसी ने पद्मावत को ऐसे ढग से लिखा है कि उसकी पूरी कथा का व्यग्यार्थ पारमार्थिक हो किंतु बाह्य दृष्टि से देखने पर उसकी वह कथा अपने मे पूर्ण प्रतीत हो और यदि कोई उसका व्यग्यार्थ न लेना चाहे या उसमे उसकी क्षमता न हो तो भी वह वाच्यार्थ मे ही काव्य का आनन्द प्राप्त कर सके। इस तरह पद्मावत के कवि को लोक पक्ष और आध्यात्मिक पक्ष, दोनों इष्ट हैं। उसकी दृष्टि लोक के भीतर से होती हुई उसे

भेद कर उसके मूल—परमार्थ तक पहुँचाती है। अत पद्मावत की कथा अन्योक्ति मूलक नहीं है क्योकि उसमे वाच्यार्थ और व्यग्यार्थ दोनो का समान महत्व है यद्यपि कवि का लक्ष्य सामान्य लौकिक प्रेम के मा यम से पाठको के मन को आध्यात्मिक प्रेम के क्षेत्र मे पहुँचाना है। अपने लक्ष्य की पूति के लिए ही उसने प्रतीक योजना और सान्केतिक पद्धति का सहारा लिया है और जहाँ इनसे भी उसे सतोष नही हुआ है वहाँ उसने सीधे सीधे उपदेशात्मक ढग से पारमाथिक तत्त्वो का निरूपण किया है। इस तरह पद्मावत म चार प्रकार की अभिव्यक्तियाँ दिखाई पडती हैं।

१—अन्योक्तिमूलक अभिव्यक्ति—जिसमे प्रस्तुत महत्वहीन है, अप्रस्तुत आध्यात्मिक अर्थ ही कवि को अभिप्रेत है, जैसे —

गढ पर नीर खीर दुइ नदी। पानी भरहि जैस दुरुपदी।
औरु कुड एक मोतीचूरू। पानी अम्रित कीच कपूरू।
ओहि क पानि राजा पै पिआ। विरिध होहि नहि जौलहि जिआ।
दोहा ४३।

इस तरह की अन्योक्तिमूलक अभिव्यक्तियाँ, जिनमे सूफ़ी मत अथवा योग मार्ग की बातो का वर्णन प्रताको या अप्रस्तुतो क सहारे किया गया है, पद्मावत मे बहुत अधिक है।

२—समासोक्तिमूलक अभिव्यक्तियाँ—जिनमे प्रस्तुत और अप्रस्तुत (वाच्यार्थ और व्यग्याथ) दोना का वर्णन करना कवि का अभिप्रेत है जेस —

ऐ रानी मनु देखु विचारी। एहि नैहर रहना दिन चारी।
जौ लहि अहै पिता कर राजू। खेल लेहु जो खेलहु आजू।
पुनि सासुर हम गौनब काली। कित हम कित एह सरवर पाली।
—दाहा ६०।

३—केवल लौकिक पक्ष का अभिधामूलक वर्णन—जिसमे कोई दूसरा अर्थ नहीं है।

४—केवल आध्यात्मिक पक्ष का अविधामूलक और उपदेशात्मक वर्णन—जिसकी प्रस्तुत कथा के प्रसग मे कोई उपयोगिता या अथ नहीं है, जैसे —

दसव दुवार तार का लेखा। उलटि दिस्टि जो लाव सो देखा।
जाइ सो जाइ साँस मन बन्दी। जस धँसि लीन्ह कान्ह कालिन्दी।
तूँ मन नाथु मारि के स्वाँसा। जो पै मरहि आपुहि करु नासा।

× × ×

आपुहि मीचु जियनि पुनि, आपुहि तन मन सोइ ।
आपुहि आप करे जो चाहै कहाँ क दोसर कोइ ॥ दो० २१६

समासोक्तिमूलक अभिव्यक्तियो म आध्यात्मिक पक्ष का अथ व्यजना से व्यक्त होता है अथात् वाच्यार्थ के साथ उसम अन्य अथ (व्यग्याथ) ना ध्वनित होता है । इसी को हमने ऊपर साकेतिक पद्धति कहा है । पद्मावत क अधिकाश कथा प्रसग और वर्णन इसी प्रकार के साकेतिक अथ वनित करने वाले हैं और पूरी कथा भी अपने समग्र प्रभाव के रूप म इसी सकेत पद्धति के कारण 'एलोगोरा' प्रतीत होता है। 'एलगोरी' को हिन्दी म प्रतीक-कथा कहना अधिक सही प्रतीत होता है क्योकि अ योक्ति और समासोक्ति मूलक अलकार हैं । कथा प्रबन्ध का शैलियो के प्रसग म उनका उपयोग करने पर बहुत खाचतान करनी पडती है । प्राकृत का 'समराइच्चकहा' और उसका सस्कृत अनुवाद 'उपमित भव प्रपच कथा' नामक कथाएँ इसी प्रकार की 'प्रतीक कथा' हैं । सस्कृत के प्रबोधचन्द्रोदय और मोहराजपराजय नामक नाटको मे प्रवृत्तियो और भावनाओं को मानवीकृत करके उन्हे पात्र बना दिया गया है । अत वे विशुद्ध 'एलोगोरी' नहीं हैं क्योकि उनके पात्र प्रतीक नहीं, मानवीकृत हैं, उनके नाम से ही उनके गुणो की अभिव्यक्ति हो जाती है । पद्मावत के पात्र और अनेक घटनाएँ तथा वस्तुएँ प्रतीको के रूप म उपस्थित की गयी हैं । अत उसे प्रतीतात्मक काव्य और उसकी कथा को 'प्रतीक कथा' कहना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है । समासोक्ति म भी प्रारम्भ से अन्त तक दोनो अर्थों का बोध कराना अनिवार्य नही होता, इसमे ऐसे विशेषणों, और कार्यो की योजना होती है कि बीच बीच मे अप्रस्तुत अर्थ की भी परिस्फूर्ति अनायास होती रहती है । पद्मावत की कथा मे यही पद्धति अपनाई गयी है और इसीलिए शुक्ल जी तथा डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी इसम समासोक्ति पद्धति की स्थिति मानते हैं[1] ।

रोमाचकशैली के तत्त्व—पद्मावत को हमने रोमाचक शैली का महा काव्य माना है । इस शैली के महाकाव्यो मे रोमाचक तत्त्वो और साहसिक कार्यों की प्रधानता रहती है और चिराचरित कथानकरूढियो का उपयोग उनमें अधिक दिखाई पडता है । पद्मावत की कथा का उत्तरार्द्ध इतिहास पर आधारित

१—(क) वही, भूमिका, पृ० ५७ ।

(ख) हिंदी साहित्य—प्रथम सस्करण, ले० डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० २३५ ।

भेद कर उसके मूल—परमार्थ तक पहुँचाती है । अत पद्मावत की कथा अन्योक्ति मूलक नहीं है क्योकि उसमे वाच्यार्थ और व्यग्यार्थ दोनो का समान महत्व है यद्यपि कवि का लक्ष्य सामान्य लौकिक प्रेम के माध्यम से पाठको के मन को आध्यात्मिक प्रेम के क्षेत्र मे पहुँचाना है । अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए ही उसने प्रतीक योजना और सांकेतिक पद्धति का सहारा लिया है और जहाँ इनसे भी उसे सतोष नही हुआ है वहाँ उसने सीधे सीधे उपदेशात्मक ढग से पारमार्थिक तत्वो का निरूपण किया है । इस तरह पद्मावत मे चार प्रकार की अभिव्यक्तियाँ दिखाई पडती हैं ।

१—अन्योक्तिमूलक अभिव्यक्ति—जिसमे प्रस्तुत महत्वहीन है, अप्रस्तुत आध्यात्मिक अर्थ ही कवि को अभिप्रेत है, जैसे —

गढ पर नीर खीर दुइ नदी । पानी भरहि जैस दुरुपदी ।
औरु कुड एक मोतीचूरू । पानी अम्रित कीच कपूरू ।
ओहि क पानि राजा पै पिआ । विरिध होहि नहि जौलहि जिआ ।
दोहा ४३ ।

इस तरह की अन्योक्तिमूलक अभिव्यक्तियाँ, जिनमे सूफ़ी मत अथवा योग मार्ग की बातो का वर्णन प्रतीको या अप्रस्तुतो के सहारे किया गया है, पद्मावत मे बहुत अधिक है ।

२—समासोक्तिमूलक अभिव्यक्तियाँ—जिनमे प्रस्तुत और अप्रस्तुत (वाच्यार्थ और व्यग्यार्थ) दोनो का वर्णन करना कवि का अभिप्रेत है जैसे —

ऐ रानी मनु देखु विचारी । एहि नैहर रहना दिन चारी ।
जौ लहि अहै पिता कर राजू । खेलि लेहु जो खेलहु आजू ।
पुनि सासुर हम गौनब काली । कित हम कित एह सरवर पाली ।
—दोहा ६० ।

३—केवल लौकिक पक्ष का अभिधामूलक वर्णन—जिसमे कोइ दूसरा अर्थ नहीं है ।

४—केवल आध्यात्मिक पक्ष का अभिधामूलक और उपदेशात्मक वर्णन—जिसकी प्रस्तुत कथा के प्रसग मे कोई उपयोगिता या अर्थ नही है, जैसे —

दसव दुवार तार का लेखा । उलटि दिस्टि जो लाव सो देखा ।
जाइ सो जाइ साँस मन बन्दी । जस धँसि लीन्ह कान्ह कालिन्दी ।
तू मन नाथु मारि के स्वाँसा । जो पै मरहि आपुहि करु नासा ।

× × ×

आपुहि मीचु जियनि पुनि, आपुहि तन मन सोइ ।
आपुहि आप करै जो चाहै कहाँ क दोसर कोइ ।। दो० २१६

समासोक्तिमूलक अभिव्यक्तियो मे आध्यात्मिक पक्ष का अर्थ व्यजना से व्यक्त होता है अर्थात् वाच्यार्थ के साथ उसमे अन्य अर्थ (व्यग्यार्थ) भी ध्वनित होता है। इसी को हमने ऊपर साकेतिक पद्धति कहा है। पद्मावत के अधिकाश कथा प्रसग और वर्णन इसी प्रकार के साकेतिक अर्थ ध्वनित करने वाले हैं और पूरी कथा भी अपने समग्र प्रभाव के रूप मे इसी सकेत पद्धति के कारण 'एलोगोरी' प्रतीत होती है। 'एलोगोरी' को हिन्दी मे प्रतीक-कथा कहना अधिक सही प्रतीत होता है क्योकि अन्योक्ति और समासोक्ति मूलत अलकार हैं। कथा प्रबन्ध की शैलियो के प्रसग मे उनका उपयोग करने पर बहुत खीचतान करनी पडती है। प्राकृत का 'समराइच्चकहा' और उसका सस्कृत अनुवाद 'उपमित भव प्रपच कथा' नामक कथाएँ इसी प्रकार की 'प्रतीक कथा' हैं। सस्कृत के प्रबोधचन्द्रोदय और मोहराजपराजय नामक नाटको मे प्रवृत्तियो और भावनाओ को मानवीकृत करके उन्हे पात्र बना दिया गया है। अत वे विशुद्ध 'एलोगोरी' नहीं हैं क्योकि उनके पात्र प्रतीक नहीं, मानवीकृत हैं, उनके नाम से ही उनके गुणो की अभिव्यक्ति हो जाती है। पद्मावत के पात्र और अनेक घटनाएँ तथा वस्तुएँ प्रतीको के रूप मे उपस्थित की गयी हैं। अत उसे प्रतीकात्मक काव्य और उसकी कथा को 'प्रतीक कथा' कहना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। समासोक्ति मे भी प्रारम्भ से अन्त तक दोनो अर्थो का बोध कराना अनिवार्य नहीं होता, इसमें ऐसे विशेषणों, और कार्यों की योजना होती है कि बीच बीच मे अप्रस्तुत अर्थ की भी परिस्फूर्ति अनायास होती रहती है। पद्मावत की कथा मे यही पद्धति अपनाई गयी है और इसीलिए शुक्ल जी तथा डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी इसमे समासोक्ति पद्धति की स्थिति मानते हैं[1]।

रोमाचकशैली के तत्त्व—पद्मावत को हमने रोमाचक शैली का महाकाव्य माना है। इस शैली के महाकाव्यो मे रोमाचक तत्त्वो और साहसिक कार्यों की प्रधानता रहती है और चिराचरित कथानकरूढियो का उपयोग उनमे अधिक दिखाई पडता है। पद्मावत की कथा का उत्तरार्द्ध इतिहास पर आधारित

१—(क) वही, भूमिका, पृ० ५७।

(ख) हिंदी साहित्य—प्रथम सस्करण, ले० डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० २३५।

भेद कर उसके मूल–परमार्थ तक पहुँचाती है। अत पद्मावत की कथा अन्योक्ति मूलक नहीं है क्योंकि उसमे वाच्यार्थ और व्यग्याथ दोनो का समान महत्व है यद्यपि कवि का लक्ष्य सामान्य लौकिक प्रेम के मा यम से पाठकों के मन को आध्यात्मिक प्रेम के क्षेत्र मे पहुँचाना है। अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए ही उसने प्रतीक योजना और साकेतिक पद्धति का सहारा लिया है और जहाँ इनसे भी उसे सतोष नही हुआ है वहाँ उसने सीधे सीधे उपदेशात्मक ढग से पारमार्थिक तत्त्वों का निरूपण किया है। इस तरह पद्मावत म चार प्रकार की अभिव्यक्तियाँ दिखाइ पडती हैं।

१—अन्योक्तिमूलक अभिव्यक्ति—जिसमे प्रस्तुत महत्वहीन है, अप्रस्तुत आध्यात्मिक अर्थ ही कवि को अभिप्रेत है, जैसे —

गढ पर नीर खीर दुइ नदी। पानी भरहि जैस दुरुपदी।
औरु कुड एक मोतीचूरू। पानी अम्रित कीच कपूरू।
ओहि क पानि राजा पै पिआ। बिरिध होहि नहि जौलहि जिआ।
दोहा ४३।

इस तरह की अन्योक्तिमूलक अभिव्यक्तियाँ, जिनमे सूफ़ी मत अथवा योग मार्ग की बातो का वणन प्रतीको या अप्रस्तुतो के सहारे किया गया है, पद्मावत मे बहुत अधिक है।

२—समासोक्तिमूलक अभि यक्तियाँ—जिनमे प्रस्तुत और अप्रस्तुत (वाच्यार्थ और व्यग्याथ) दोना का वर्णन करना कवि का अभिप्रेत है जेस —

ऐ रानी मनु देखु बिचारी। एहि नैहर रहना दिन चारी।
जौ लहि अहै पिता कर राजू। खेल लेहु जो खेलहु आजू।
पुनि सासुर हम गौनब काली। कित हम कित एह सरवर पाली।
—दोहा ६०।

३—केवल लौकिक पक्ष का अभिधामूलक वर्णन—जिसमे कोइ दूसरा अर्थ नहीं है।

४—केवल आध्यात्मिक पक्ष का अविधामूलक और उपदेशात्मक वर्णन—जिसकी प्रस्तुत कथा के प्रसग मे कोई उपयोगिता या अर्थ नही है, जैसे —

दसव दुवार तार का लेखा। उलटि दिस्टि जो लाव सो देखा।
जाइ सो जाइ साँस मन बन्दी। जस धँसि लीन्ह कान्ह कालिन्दी।
तूँ मन नाथु मारि के स्वाँसा। जों पै मरहि आपुहि करु नासा।

× × ×

आपुहि मीचु जियनि पुनि, आपुहि तन मन सोइ।
आपुहि आप करे जो चाहै कहाँ क दोसर कोइ॥ दो० २१६

समासोक्तिमूलक अभिव्यक्तिया मे आध्यात्मिक पक्ष का अर्थ व्यञ्जना से व्यक्त होता है अथात् वाच्यार्थ के साथ उसमे अन्य अथ (व्यग्याथ) ना ध्वनित होता है। इसी को हमने ऊपर सारतिक पद्धति कहा है। पद्मावत के अधिकाश कथा प्रसग और वर्णन इसी प्रकार के साकेतिक अथ ध्वनित करने वाले हैं और पूरी कथा भी अपने समग्र प्रभाव के रूप म इमा सकेत पद्धति के कारण 'एलोगोरी' प्रतीत होता है। 'एलोगोरी' को हिन्दी म प्रतीक-कथा कहना अधिक सही प्रतीत होना है क्याकि अन्योक्ति और समासोक्ति मूलक अलकार हैं। कथा प्रबन्ध का शैलिया के प्रसग मे उनका उपयोग करने पर बहुत खीचतान करनी पडता है। प्राकृत का 'समराइच्चकहा' और उसका सस्कृत अनुवाद 'उपमित भव प्रपच कथा' नामक कथाएँ इसी प्रकार की 'प्रतीक कथा' हैं। संस्कृत के प्रबोधचन्द्रोदय और मोहराजपराजय नामक नाटको मे प्रवृत्तियो और भावनाओ को मानवीकृत करके उन्हे पात्र बना दिया गया है। अत वे विशुद्ध 'एलोगोरी' नही हैं क्याकि उनके पात्र प्रतीक नही, मानवीकृत हैं, उनके नाम से ही उनके गुणो की अभिव्यक्ति हो जाती है। पद्मावत के पात्र और अनेक घटनाएँ तथा वस्तुएँ प्रतीको के रूप मे उपस्थित की गयी हैं। अत उसे प्रतीकात्मक काव्य और उसकी कथा को 'प्रतीक कथा' कहना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। समासोक्ति म भी प्रारम्भ से अन्त तक दोनो अर्थो का बोध कराना अनिवार्य नही होता, इसमें ऐसे विशेषणों, और कार्यो की योजना होती है कि बीच बीच मे अप्रस्तुत अर्थ की भी परिस्फूर्ति अनायास होती रहती है। पद्मावत की कथा मे यही पद्धति अपनाई गयी है और इसीलिए शुक्ल जी तथा डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी इसम समासोक्ति पद्धति की स्थिति मानते हैं[1]।

रोमाचकशैली के तत्त्व—पद्मावत को हमने रोमाचक शैली का महाकाव्य माना है। इस शैली के महाकाव्यो मे रोमाचक तत्त्वो और साहसिक कार्यो की प्रधानता रहती है और चिराचरित कथानकरूढियो का उपयोग उनम अधिक दिखाई पडता है। पद्मावत की कथा का उत्तरार्द्ध इतिहास पर आधारित

१—(क) वही, भूमिका, पृ० ५७।

(ख) हिंदी साहित्य—प्रथम सस्करण, ले० डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० २३५।

है और पूर्वार्द्ध लोककथा पर। रोमाचकता अधिकतर लोककथाओं और कथा आख्यायिका मे ही होती है। अत पद्मावत के लोककथाश्रित अश मे ही रोमाचक तत्त्व अधिक हैं, उत्तरार्द्ध मे नही। उत्पाद्य महाकाव्य के जो लक्षण रुद्रट ने बताये हैं उनमे से अधिकाश पद्मावत मे मिलते हैं। उसमे आदि मे सिहल दीप और वहाँ के नगर, बाजार आदि का वर्णन और नायिक के पिता का वर्णन, नायिका की उत्पत्ति का वर्णन और उसके बाद नायक के नगर, वश, जन्म आदि का वर्णन है। उसमे नायक के प्रयाण से नगर की नर नारियों का क्षोभ दिखाया गया है ओर देश, पर्वत, नदी, वन, तालाब, समुद्र, द्वीप, भुवन, स्कन्धावार, दपति क्रीडा, नृत्य सगीत श्रृगार, नगरी अवरोध, युद्ध आदि का उचित अनुपात मे वर्णन है। रुद्रट ने जिन वस्तु व्यापारो की सूची दी है वे विकसनशील महाकाव्यों—महाभारत, रामायण—मे तथा रोमाचक अलकृत काव्यों मे ही अधिक मिलते हैं। पद्मावत मे उन वस्तु व्यापारों का होना उसे रामाचक शैली का महाकाव्य सिद्ध करता है। रुद्रट द्वारा निर्दिष्ट रोमाचक कथाओ के कुछ लक्षण भी पद्मावत मे मिलते हैं जैसे कन्या लाभ फल, श्रृगार रस का सम्यक् विन्यास आदि। पश्चात्य साहित्य में रोमास का अर्थ अतिशय काल्पनिकता और साहसिक कार्यों तथा अलौकिक—अतिप्राकृत तत्त्वों की अधिकता माना जाता है। पद्मावत के पूर्वार्द्ध में अवश्य इन बातो की अधिकता है। उसमे अनेक अलौकिक कार्यो और अप्राकृत शक्तियो की योजना हुई है, इस प्रकार के अलौकिक कार्यो की योजना से पाठकों मे कुतूहल और आश्चर्य की भावना आद्यन्त बनी रहती है। पद्मावत मे शुक के मुख से राजकन्या के रूप की प्रशसा सुन कर उसे प्राप्त करने के लिए राज्य और परिवार का त्याग करके योगी रूप मे निकल पडना ओर भयकर मार्गो से होकर अपने लक्ष्य तक पहुँचना, और पद्मावती को प्राप्त करना अत्यन्त साहसिक कार्य है। सात समुद्रो की यात्रा रतनसेन के प्रेम और लगन की परीक्षा के रूप मे दिखाई गयी है जिसमे वह अपने आश्चर्यजनक साहस के कारण सफल हुआ है। रोमाचक कथाओं मे प्रेम व्यापारों की अधिकता होती है और चित्र दर्शन, रूप गुण श्रवण द्वारा प्रेम, प्रिय की प्राप्ति के प्रयत्न, प्रेम मार्ग की कठिनाइयाँ, प्रिय की प्राप्ति के पहले या बाद मे प्रतिनायक द्वारा बाधा उत्पन्न करना, युद्ध, अनेक विवाह आदि बातो का अधिक वर्णन होता है। पद्मावत की समूची कथा प्राय इन्हीं बातों से निर्मित हुई है। रोमाचक कथाओं की तरह उसके पूर्वार्द्ध का कार्य क्षेत्र प्राय काल्पनिक और आनुश्रुतिक है जिसमे जायसी ने सिंहल नाम के 'परियो के देश' की लोक कल्पना को अपनाया है। इस प्रकार पद्मावत मे रोमाचक तत्त्व बहुत

हैं पर वे कवि के महदुद्देश्य और प्रतीकात्मक शैली, काव्यात्मक वणन तथा उत्तरार्द्ध की कथा क ऐतिहासिक आधार के कारण नियन्त्रित हैं। अत यह कथा आख्यायिका न होकर रामाचक शैला का महाकाव्य ह।

छन्द योजना—पद्मावत के छन्द विधान म भी चरितकाव्यों की कडवकबद्ध पद्धति अपनायी गया है। अन्तर यही है कि अपभ्रश काव्या मे कडवक के भीतर पज्झटिका (पद्धडिया) आडल्ल, चउपई, मदनक, त्रोटक आदि ऐसे कई छन्दों का प्रयोग हुआ है जिनम दो दो चरण सममात्रिक और समतुकान्त होते हैं यद्यपि कडवक मे घत्ता के पहले आद्यन्त एक ही छन्द होता है। उनमे कडवकान्त में दुवइ, घत्ता आदि द्विपदा जातीय छन्दों की दो पंक्तियो का प्रयोग होता है आर उसे घत्ता कहा जाता है। पद्मावत में आदि से अन्त तक सभा कडवको म चापाई छन्द का और कडव कान्त मे घत्ता रूप मे दोहा छन्द का प्रयाग हुआ है। चौपाइ, पद्धडिया और अडिल्ल से मिलता जुलता छन्द है और कभा कभी तो उनमें कोई अन्तर नहीं प्रतीत होता। जिस प्रकार अपभ्रश कवियो ने शास्त्राय छन्दो के प्रयोग म स्वतन्त्रता ग्रहण की है, उसी तरह जायसी ने भी चौपाई और दोहा के छन्द शास्त्रीय नियमो का प्राय उल्घन किया है। जैसे —

देश अन्त अस होइहि, गुरू दीन्ह उपदेस।
सिघल दीप जाब मै, माता मोर अँदेस॥ दो० १४०

× × ×

राजै कहा रे राकस बौरे जानि बूझि बौरासि।
सेतबन्ध जह देखिअ आगे कस न तहा लै जासि॥ दोहा ३९४

इनमे पहले दोहे के पहले और तृतीय चरण मे, एक मात्रा कम है और दूसरे दोहे के प्रथम और तृतीय चरणो मे तेरह तेरह की जगह सोलह सोलह मात्रायें हो गयी हैं। इस तरह दूसरा दोहा तो भिन्न छन्द ही हो गया है जिसे हिन्दी मे 'कबीर छन्द' नाम दिया गया है। बात यह है कि दोहा चौपाई मे छन्द सम्बन्धा यह अव्यवस्था भक्ति काल के अधिकाश कवियो में मिलती है। आगे हम देखेगे कि तुलसी ने भी इसी तरह छन्द सम्बन्धी स्वतन्त्रता बरती है। चौपाई मे चार चरण अर्थात् दो अर्द्धालियाँ होती हैं। चौथे अध्याय मे हम देख चुके हैं कि इस काल मे अर्द्धाली को हा चौपाई समझा जाने लगा था। अत जायसी ने प्रत्येक कडवक मे सात अर्द्धालियाँ या साढे तीन चौपाइयाँ रखी हैं जो शास्त्रीय दृष्टि से दोषपूर्ण है। पर वह दोष तो रामचरित मानस मे

भी पयाप्त मात्रा म मिलता है। अत इसे दोष नहीं बल्कि उस काल के लोकाश्रित कवियो की स्वच्छन्द प्रवृत्ति मानना उचित है।

इसी तरह भाषा की सजावट, अलकारो का चमत्कार प्रदर्शन, तथा काव्य के अन्य कृत्रिम बाह्य परिधानो की ओर जायसी ने अधिक ध्यान नही दिया है। भामह का यह लक्षण कि महाकाव्य मे अग्राम्य शब्दो और अलकारो का प्रयोग होना चाहिये, दरबारी वातावरण के शास्त्रीय शैली के महाकाव्यो पर ही विशेष रूप से लागू होता है। लोकाश्रित काव्यो मे ग्राम्यता और अनलकृति का होना अनिवार्य है और यही उनका सबसे बडा सौन्दर्य होता है। पद्मावत का सबसे बडा महत्व यही है कि उसमे भाषा शैली की कृत्रिमता नही है। उसम लोक जीवन की जो इतनी अधिक अभिव्यक्ति हुई है, उसका कारण उसम प्रयुक्त ठेठ भाषा, ग्रामीण तद्भव और देशज शब्द, लोकप्रचलित मुहावरे और लोकभाषा के अगभूत सहज अलकार हैं। यद्यपि जायसी ने कही कही परपरागत उपमानो और रूढिबद्ध अलकारो का प्रयोग भी किया है पर यह उनकी परपरा पालन की प्रवृत्ति के कारण है, उनकी सहज रुचि इस ओर नहीं थी। बोलचाल की भाषा मे इतनी गभीरता और दार्शनिकता लाना सामान्य शक्ति वाले कवि का काम नही है। पद्मावत म कहने की शैली इतनी अकृत्रिम, प्रवाहपूर्ण और सरस है कि उसमे पाये जाने वाले काव्य दोषो, छद दोषो न्यूनपदत्व, परिगणना की प्रवृत्ति, अनपेक्षित और अरोचक प्रसगो का सन्निवेश, आदि की ओर पाठको का ध्यान ही नही जाता। उसकी आकर्षक और उदात्त शैली की यही विशेषता है। अत सरल किन्तु गभीर, सहज किन्तु उदात्त, माधुर्यपूर्ण किन्तु गरिमामयी शैली के प्रयोग की दृष्टि से पद्मावत हिन्दी मे अपने ढग का सर्वश्रेष्ठ काव्य है।

७—प्रभावान्विति और गम्भीर रसव्यजना

रस की दृष्टि से आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तथा अन्य विद्वानो ने पद्मावत के सबध मे पयाप्त विचार किया है। यहाँ उसका पिष्टपेषण करना हमारा उद्देश्य नहीं है। आलकारिको ने महाकाव्य मे रस और भाव का आदि से अन्त तक होना आवश्यक माना है। विश्वनाथ कविराज के अनुसार उसमे शृगार, वीर और शान्त मे से कोई एक रस अगी रूप मे तथा अन्य रस गौण रूप मे होने चाहिए। पद्मावत मे आद्यन्त रति भाव की पूर्ण व्यजना हुई है किन्तु उसका पर्यवसान करुण रस मे हुआ है। यदि अलाउद्दीन और देवपाल के साथ हुए युद्ध मे वह विजयी होता तो यह नायक का अभ्युदय कहलाता।

तब यह काव्य सुखान्त होता और उसम प्रधान रम शृगार तथा गौग रस वार माना जाता । किन्तु अन्त म रतनसेन को मृत्यु और पद्मावन। नागमती के सती होने की घटना से इसका पर्यवसान करुण रस म हुआ है। लेकिन करुण रस का भी वहाँ पूर्ण परिपाक नहा हुआ है क्योकि शोक के सचारियो, उद्दीपनों और अनुभावो की वहाँ पूर्ण योजना नही हुइ है। इसके विपरीत जायसी ने अन्तिम दृश्य का वर्णन इस प्रकार किया गया है कि वहाँ निर्वेद का भाव अधिक परिस्फुट हो गया है। इसीलिए शुक्ल जी ने लिखा है कि "अन्तिम दृश्य से अत्यन्त शान्तिपूण उदासीनता बरसता है। कवि का दृष्टि मे मनुष्य जीवन का सच्चा अन्त करुण क्रन्दन नहीं, परम शान्ति है। राजा के मरने पर रानियाँ विलाप नहा करती हैं बल्कि इस लोक से अपना मुँह फेर कर दूसरे लोक की ओर दृष्टि किये आनन्द क साथ पति की चिता म बैठ जाती हैं। इस प्रकार कवि ने सारी कथा का शान्त रस म पर्यवसान किया है।"[1] पद्मावत म प्रधानतया शृङ्गार, वार, करुण ओर शान्त रसो की व्यजना हुई है। अब प्रश्न यह है कि उनमे से अगी रस कौन है? शुक्ल जी इसे शृङ्गार रस प्रधान काव्य मानते हैं।[2] किन्तु यदि जायसा का लक्ष्य लौकिक प्रेम पथ के मा यम से आ यात्मिक प्रेम पथ का निरूपग है और इसके लिए यदि उन्होने प्रतीक और सकेत पद्धति द्वारा आध्यात्मिक प्रेम की स्पष्ट व्यजना भी की है, तो उसम रहस्यवाद की दृष्टि से शृङ्गार रस को नहीं शान्त रस को ही प्रधान मानना पडेगा। अन्तिम दृश्य मे जो रस व्यञ्जित होता है वह उसी अप्रस्तुत पक्ष क शान्त रस की अन्तिम प्ररिणति है। जिस तरह सूर, मीरा और कबीर के शृगारिक वणन शान्त रस के अन्तर्गत माने जाते हैं उसी तरह पद्मावत का समग्र प्रभाव शान्त रस समन्वित है, शृङ्गार रस वाला नही। अत लोकिक कथा की दृष्टि से देखने पर पद्मावत मे विप्रलम्भ शृगार अगा है और आध्यात्मिक अर्थ की दृष्टि से वह शान्त रस प्रधान काव्य है।

पद्मावत की रस व्यञ्जना अत्यन्त गम्भीर है जो पाठको के हृदय के गहराइ तक और स्थायी रूप से स्पर्श करती है। कवि ने पूरी कथा मे इतने अधिक मार्मिक स्थलो का चुनाव किया है और इतनी सचाई और गहराइ के साथ विविध भावनाओं की अभिव्यक्ति की है कि कथा के बीच के इतिवृत्तात्मक और शुष्क उपदेशात्मक अश भी रसात्मक हो गये हैं। कि तु यदि शास्त्रीय

१—जायसी ग्रन्थावली, भूमिका, पृ० ६८।

२—वही, पृ० ७१।

भी पर्याप्त मात्रा म मिलता है। अत इसे दोष नही बल्कि उस काल के लोकाश्रित कवियो की स्वच्छन्द प्रवृत्ति मानना उचित है।

इसी तरह भाषा की सजावट, अलकारो का चमत्कार प्रदर्शन, तथा काव्य के अन्य कृत्रिम बाह्य परिधानो की ओर जायसी ने अधिक ध्यान नही दिया है। भामह का यह लक्षण कि महाकाव्य मे अग्राम्य शब्दो और अलकारो का प्रयोग होना चाहिये, दरबारी वातावरण के शास्त्रीय शैली के महाकाव्यो पर ही विशेष रूप से लागू होता है। लोकाश्रित काव्यो म ग्राम्यता और अनलकृति का होना अनिवार्य है और यही उनका सबसे बडा सौन्दर्य होता है। पद्मावत का सबसे बडा महत्व यही है कि उसमे भाषा शैली का कृत्रिमता नहीं है। उसमे लोक जीवन की जो इतनी अधिक अभिव्यक्ति हुई है, उसका कारण उसमे प्रयुक्त ठेठ भाषा, ग्रामीण तद्भव और देशज शब्द, लोकप्रचलित मुहावरे और लोकभाषा के अगभूत सहज अलकार हैं। यद्यपि जायसी ने कही कही परपरागत उपमानो और रूढिबद्ध अलकारो का प्रयोग भी किया है पर यह उनकी परपरा पालन की प्रवृत्ति के कारण है, उनकी सहज रुचि इस ओर नहीं थी। बोलचाल की भाषा मे इतनी गभीरता और दार्शनिकता लाना सामान्य शक्ति वाले कवि का काम नहीं है। पद्मावत म कहने की शैली इतनी अकृत्रिम, प्रवाहपूर्ण और सरस है कि उसमे पाये जाने वाले काव्य दोषों, छन्द दोषो न्यूनपदत्व, परिगणना की प्रवृत्ति, अनपेक्षित और अरोचक प्रसगो का सन्निवेश, आदि की ओर पाठकों का ध्यान ही नही जाता। उसकी आकर्षक और उदात्त शैली की यही विशेषता है। अत सरल किन्तु गभीर, सहज किन्तु उदात्त, माधुर्यपूर्ण किन्तु गरिमामयी शैली के प्रयोग की दृष्टि से पद्मावत हिन्दी मे अपने ढग का सर्वश्रेष्ठ काव्य है।

७—प्रभावान्विति और गम्भीर रसव्यजना

रस की दृष्टि से आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तथा अन्य विद्वानो ने पद्मावत के सबध मे पर्याप्त विचार किया है। यहाँ उसका पिष्टपेषण करना हमारा उद्देश्य नहीं है। आलकारिकों ने महाकाव्य मे रस और भाव का आदि से अन्त तक होना आवश्यक माना है। विश्वनाथ कविराज के अनुसार उसम शृगार, वीर और शान्त मे से कोई एक रस अगी रूप मे तथा अन्य रस गौण रूप मे होने चाहिए। पद्मावत मे आद्यन्त रति भाव की पूर्ण व्यजना हुई है किन्तु उसका पर्यवसान करुण रस मे हुआ है। यदि अलाउद्दीन और देवपाल के साथ हुए युद्ध मे वह विजयी होता तो यह नायक का अभ्युदय कहलाता।

तब यह काव्य सुखान्त होता और उसम प्रधान रस शृंगार तथा गौण रस वीर माना जाता । किन्तु अन्त म रतनसेन की मृत्यु और पद्मावती नागमती के सती होने की घटना से इसका पर्यवसान करुण रस म हुआ है। लेकिन करुण रस का भी वहाँ पूर्ण परिपाक नहीं हुआ है क्योंकि शोक के सचारियो, उद्दीपनों और अनुभावो की वहाँ पूर्ण योजना नहीं हुई है। इसके विपरीत जायसी ने अन्तिम दृश्य का वर्णन इस प्रकार किया गया है कि वहाँ निर्वेद का भाव अधिक परिस्फुट हो गया है। इसीलिए शुक्ल जी ने लिखा है कि "अन्तिम दृश्य से अत्यन्त शान्तिपूर्ण उदासीनता बरसती है। कवि की दृष्टि मे मनुष्य जीवन का सच्चा अन्त करुण क्रन्दन नहीं, पूर्ण शान्ति है। राजा के मरने पर रानियाँ विलाप नहीं करती हैं बल्कि इस लोक से अपना मुँह फेर कर दूसरे लोक की ओर दृष्टि किये आनन्द के साथ पति की चिता म बैठ जाती हैं। इस प्रकार कवि ने सारी कथा का शान्त रस म पर्यवसान किया है।"[1] पद्मावत म प्रधानतया शृङ्गार, वीर, करुण और शान्त रसो की व्यजना हुई है। अब प्रश्न यह है कि उनम से अगी रस कौन है? शुक्ल जी इसे शृङ्गार रस प्रधान काव्य मानते हैं।[2] किन्तु यदि जायसी का लक्ष्य लौकिक प्रेम पथ के माध्यम से आध्यात्मिक प्रेम पथ का निरूपण है और इसके लिए यदि उन्होने प्रतीक और सकेत पद्धति द्वारा आध्यात्मिक प्रेम की स्पष्ट व्यजना भी की है, तो उसमे रहस्यवाद की दृष्टि से शृङ्गार रस को नहीं शान्त रस को ही प्रधान मानना पडेगा। अन्तिम दृश्य म जो रस व्यञ्जित होता है वह उसी अप्रस्तुत पक्ष के शान्त रस की अन्तिम परिणति है। जिस तरह सूर, मीरा और कबीर के शृंगारिक वर्णन शान्त रस के अन्तर्गत माने जाते हैं उसी तरह पद्मावत का समग्र प्रभाव शान्त रस समन्वित है, शृङ्गार रस वाला नहीं। अत लौकिक कथा की दृष्टि से देखने पर पद्मावत म विप्रलभ शृंगार अगी है और आध्यात्मिक अर्थ की दृष्टि से वह शान्त रस प्रधान काव्य है।

पद्मावत की रस व्यञ्जना अत्यन्त गम्भीर है जो पाठकों के हृदय के गहराई तक और स्थायी रूप से स्पर्श करता है। कवि ने पूरी कथा मे इतने अधिक मार्मिक स्थलो का चुनाव किया है और इतनी सचाई और गहराई के साथ विविध भावनाओं की अभिव्यक्ति की है कि कथा के बीच के इतिवृत्तात्मक और शुष्क उपदेशात्मक अश भी रसात्मक हो गये हैं। किन्तु यदि शास्त्रीय

१—जायसी ग्रन्थावली, भूमिका, पृ० ६८।

२—वही, पृ० ७१।

दृष्टि से देखा जाय तो पद्मावत रस की कसौटी पर खरा नहीं उतरता। भारतीय आलङ्कारिकों के अनुसार नाटक आदि प्रबन्धों मे रस की पूर्ण निष्पत्ति नायक के फलागम द्वारा ही होती है। पद्मावत के पूर्वार्द्ध मे रति भाव का जो चरम उत्कर्ष दिखाई पडता है और उत्तराद्ध मे अलाउद्दीन की असफलता और रतनसेन की बन्धन मुक्ति मे प्राप्त्याशा और नियताप्ति नामक जो कार्यावस्थाएँ दिखाई पडती हैं उनका विकास आगे चल कर फलागम मे नही होता। उसकी जगह अलाउद्दीन के साथ युद्ध मे गोरा की मृत्यु तथा देवपाल के साथ युद्ध मे रतनसेन की मृत्यु की घटना मे पाश्चात्य ढग की निगति की अवस्था दिखाई पडती है और अन्त मे नागमती पद्मावती का सती होना, स्त्रियों का जौहर, बादल की मृत्यु और चित्तौड पर अलाउद्दीन का अधिकार आदि घटनाओं में पाश्चात्य ढग की अन्तिम कार्यावस्था—अवसान—का रूप दिखाई पडता है। इस तरह पद्मावत का अ त पाश्चात्य महाकाव्यो के ढग का है। अत उसमे भारतीय ढग की रस निष्पत्ति नहीं बल्कि पाश्चात्य नाटकों के ढग की प्रभावान्वित मिलती है। इस प्रभावान्विति मे पाश्चात्य काव्यो की तरह का उद्वेग और अशान्ति मूलक तीव्रता और स्तब्ध कर देने वाली वेदना नही है बल्कि शान्तिपूर्ण गम्भीरता और चिरस्थायी निर्मलता तथा पवित्रता है जो पाठकों के चित्त को अभिभूत कर उन्हे असाधारण भाव लोक मे पहुँचा देती है। इस तरह उसमे रसात्मकता के साथ साथ गभीर प्रभावान्विति भी मिलती है।

८—अनवरुद्ध जीवनी शक्ति और सशक्त प्राणवत्ता

क्या पद्मावत मे वह अनवरुद्ध जीवनी शक्ति ओर सशक्त प्राणवत्ता है जो महाकाव्य का शाश्वत लक्षण है? इस सबध मे आरभ मे ही यह कह देना आवश्यक है कि पद्मावत एक अलकृत महाकाव्य है और अलकृत महाकाव्यो मे विकसनशील महाकाव्यो जैसी जीवनी शक्ति ओर प्राणवत्ता नही होती। कारण यह है कि विकसनशील महाकाव्य युग युग के मानव समाज की असीम जीवनी शक्ति लेकर पुष्ट होते हैं। इसके विपरीत अलकृत महाकाव्य व्यक्तिविशेष की कृति होती है। अत अलकृत महाकाव्य मे उतनी जीवनी शक्ति आर प्राणवत्ता का न होना स्वाभाविक है। व्यापकता, लोकप्रियता आदि की दृष्टि से पद्मावत की तुलना रामायण महाभारत क्या, रासो और आल्हखण्ड से भी नहीं की जा सकती। फिर भी हिन्दी महाकाव्यों मे उसका अत्यत महत्वपूर्ण स्थान है और इसका कारण उसकी वह जीवनीशक्ति और प्राणवत्ता ही है जो हिन्दी के पुराने अलकृत महाकाव्यों मे रामचरितमानस के अतिरिक्त अन्य किसी में नहीं है। इसलिए शुक्ल जी ने लिखा है, "प्रबन्ध क्षेत्र के भीतर हम कह चुके हैं,

दो काव्य सर्वश्रेष्ठ हैं—'रामचरितमानस' और 'पद्मावत'। दोनों में रामचरित मानस का स्थान ऊँचा है अतः समग्र प्रबन्ध क्षेत्र के विचार से हम कह सकते हैं कि प्रबन्ध क्षेत्र में जायसी का स्थान तुलसी से दूसरा है। पद्मावत हिन्दी साहित्य का एक जगमगाता रत्न है।"[१] शुक्ल जी ने पद्मावत का स्थान-निर्धारण साहित्यिक दृष्टि से किया है। किन्तु यदि व्यापक प्रभाव और लोकप्रियता की दृष्टि से देखा जाय तो भी हिन्दी के अलंकृत महाकाव्यों में रामचरितमानस के बाद पद्मावत का ही स्थान है। भारतीय सूफियों में पद्मावत को वही सम्मान प्राप्त है जो फारसी के सूफी कवियों में जलालुद्दीन रूमी के 'मसनवी' को प्राप्त है। सूफी विचार धारा वाले हिन्दू मुसलमानों के घरों में पद्मावत का उसी तरह पाठ होता रहा है जैसे सामान्य हिन्दुओं के घरों में रामचरितमानस का। सूफी लोग पद्मावत का पुराणवत् आदर करते रहे हैं, यह बात पंडित सुधाकर द्विवेदी के इस कथन से स्पष्ट है, "यद्यपि खण्ड में ग्रंथ की रचना करना ग्रंथकार के लेख से नहीं पाया जाता तथापि बहुत पुस्तकों में खण्डों के नाम होने से अनुमान होता है कि पीछे से लोगों ने इस ग्रंथ का पुराणवत् आदर करने के लिए पद्मपुराण, स्कन्धपुराणादि के ऐसा इसमें भी अनेक खण्ड कर डाले।"[२] पद्मावत की हस्तलिखित प्रतियाँ भी बहुत मिलती हैं। डा० माताप्रसाद गुप्त का कहना है कि पद्मावत की मूल प्रति नागरी लिपि में थी और उसी मूल आदर्श प्रति से अरबी या फारसी लिपि में उसकी अनेकानेक प्रतियाँ लिखी गयीं।[३] इससे पद्मावत की लोकप्रियता और सूफियों द्वारा उसे प्राप्त सम्मान का पता चलता है। उसकी लोकप्रियता का एक और प्रमाण यह है कि उसकी रचना के प्रायः सौ ही वर्ष बाद सन् १६५० ई० में उसका बंगला भाषा में आराकान जैसे सुदूरवर्ती प्रान्त में अनुवाद हुआ और १६५२ ई० में रायगोविन्द मुंशी ने फारसी गद्य में 'तुलफतुल' कुतब नाम से उसकी कथा का रूपान्तर किया। फिर सन् १७९६ ई० में इबरत और इशरत ने उर्दू शेरों में उसी कथा को लिखा। पद्मावत का अंगरेजी में भी श्री शिरेफ ने अनुवाद किया है जिसे १९४० ई० में एशियाटिक सोसाइटी, बंगाल ने प्रकाशित किया। उसकी

१—वही पृ० २१०।

२—पदुमावती—रायल एशियाटिक सोसाइटी का संस्करण, भाग १, संपादक ग्रियर्सन और सुधाकर द्विवेदी, टीका पृ० २।

३—जायसी ग्रन्थावली, (भूमिका) संपादक—डा० माताप्रसाद गुप्त, प्रयाग, सन् १९५१, पृ० २४।

हस्तलिखित प्रतिया देश के दूर दूर के स्थानों मे पाई जाती हैं और यूरोप मे भी उसकी अनेक प्रतियाँ है। इन बातो से पद्मावत के महत्त्व और लोकप्रियता का पता लगता है। किसी काव्य की लोकप्रियता और महत्त्व का कारण उसकी जीवनीशक्ति होती है। पद्मावत की लोकप्रियता उत्तरोत्तर बढती जा रही है। इमसे यह प्रमाणित हाता है कि उसम ऐसी अनवरुद्ध जीवनी शक्ति है जो किसी महाकाव्य को अमरत्व प्रदान करती है।

महाकाव्य मे अमरत्व का गुण उसकी आन्तरिक प्राण शक्ति के कारण भी आता है जो कवि के गम्भीर जीवन दर्शन और मौलिकता की देन है। पद्मावत का जीवन दर्शन सार्वभौम और सार्वकालिक है क्योकि उसमे मानव की मूल वासना 'काम' का उन्नयन करके प्रेम का अमरसदेश दिया गया है। इस जीवन दर्शन की अभिव्यक्ति मे जायसी ने अपनी मौलिकता और सचाई का पूण प्रदर्शन किया है। इस कारण पद्मावत भी रामचरितमानस की तरह भक्तिकाल की आध्यात्मिक साधना और लोकोन्मुख प्रवृत्ति का पूर्ण प्रतिनिधित्व करने वाला महाकाव्य है। भक्तिकाल मे जिन भारतीय सन्तो और भक्तो ने आध्यात्मिक मानवतावाद, धार्मिक सहिष्णुता, लोकमगल की भावना और चिरन्तन सत्य की खोज की दृढ नींव रखी, उसमें जायसी का प्रमुख स्थान है और अपनी इन साधनापूत भावनाओ और विचारो को उन्होने अपने जीवन सदेश के रूप मे पद्मावत मेअपनी आगामी पीढियो के लिए सुरक्षित रख दिया है। अत मानव समाज मे जब तक इन भावनाओ और विचारो का समादर होता रहेगा, पद्मावत भी देश और काल की सीमा का अतिक्रमण करके अडिग प्रकाशस्तम्भ की तरह अपने चिरन्तन प्रकाश की किरणे फैलाता रहेगा। पद्मावत की यह प्राणवत्ता केवल जायसी की वैयक्तिक प्राणवत्ता नहीं है बल्कि उसमे उस युग की समस्त प्राण धारा भी मिली हुई है जिसे जायसी ने आत्मसात् कर लिया था। अत पद्मावत की जीवनीशक्ति मध्ययुग के समाज की हलचलों और प्रयत्नो की जीवनीशक्ति है और उसकी प्राणवत्ता उस युग के चिरन्तन आदर्शो और साधनाओ की प्राणवत्ता है। उस युग की साधना का सदेश रामचरितमानस और पद्मावत मे जितना अधिक मूर्तिमान हुआ है उतना अन्य किसी महाकाव्य मे नहीं और जब तक उस सदेश का मूल्य बना रहेगा, पद्मावत का महत्त्व भी शाश्वत बना रहेगा।

आठवां अध्याय

पौराणिक महाकाव्य-रामचरितमानस

रामचरितमानस हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य है। महाकाव्य में जो महानता और ऊँचाई होना चाहिये, 'मानस' में वह पूर्णमात्रा में दिखलाई पड़ता है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने ऐसे ही महाकाव्यों के संबंध में लिखा है, "दूसरी श्रेणी के कवि वे हैं जिनकी रचना के अन्तराल में एक सारा देश, एक सारा युग, अपने हृदय को और अपनी अभिज्ञता को प्रकट करके उस रचना को सदा के लिए समादरणीय सामग्री बना देता है। इस दूसरी श्रेणी के कवि ही महाकवि कहे जाते हैं। सारे देशों और सारी जातियों की सरस्वती इनका आश्रय लेती है। इनकी उक्तियाँ देशमात्र और जातिमात्र का मान्य होती हैं। उनकी रचना उस बड़े वृक्ष सी मालूम होती है जो देश के हृदयरूपी भूतल से उत्पन्न हो कर उस देश भर को आश्रयरूपी छाया देता हुआ खड़ा हो।"[1] रवि बाबू के मन में महाकाव्य की जो कल्पना थी, वह रामचरितमानस में पूर्णरूप से मूर्त हुई है। मध्ययुग से लेकर आजतक का उत्तरीभारत का यह अकेला महाकाव्य है जिसे समूचे समाज के दृष्टिकोण को बदलने और धर्मग्रंथ के रूप मे स्वीकृत होने का सौभाग्य प्राप्त है। यह सही है कि 'मानस' एक विशिष्ट कवि द्वारा रचित अलंकृत या कलात्मक महाकाव्य है किन्तु उसकी श्रेष्ठता और महत्ता का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि वह उत्तरी भारत मे वाल्मीकि रामायण और व्यास के महाभारत से तथा अनेक धर्मग्रंथों से भी अधिक लोकप्रिय और प्रेरणादायक ग्रंथ बन गया है। अतः रवि बाबू का उपर्युक्त कथन 'मानस' के लिए भी उसी प्रकार सत्य है जिस प्रकार रामायण महाभारत या इलियड आडेसी के लिए। अलंकृत महाकाव्य होते हुए भी 'मानस' रामायण महाभारत की तरह ही एक विशाल देश और एक व्यापक युग का 'मानस' बना हुआ है। तुलसी की उक्तियों को उत्तरी भारत की जनता उतना ही महत्व देती है जितना कोई भी जाति अपने पवित्रतम धर्मग्रंथों की उक्तियों को देती है। यही कारण है कि मानस को महाकाव्य

१—रवीन्द्रनाथ ठाकुर—प्राचीन साहित्य (हिन्दी अनुवाद)—बंबई, सं० १९८०, पृ० १–२।

रूप मे जो आदर प्राप्त है, उससे कहीं अधिक उसका धर्मग्रथ रूप मे सम्मान है। कुछ विद्वानो का तो यहाँ तक कहना है कि ससार का कोई भी धर्मग्रथ इतना लोकप्रिय नहीं हो सका है जितना रामचरितमानस।"[1] इस तरह इस महाकाव्य का जो दुहरा महत्व है वैसा ससार के शायद ही किसी अन्य अलकृत महाकाव्य को प्राप्त हो। श्री राजबहादुर लमगोडा ने तो कहा है कि "रामचरितमानस ससार का सर्वश्रेष्ठ नाटकीय महाकाव्य है।"[2] मानस के इस महत्व का रहस्य क्या है और उसके रूप शिल्प मे महाकाव्य के कौन से तत्त्व वर्तमान हैं, इस अध्याय मे इसी सम्ब ध मे विचार किया जायगा।

'मानस' का काव्यरूप

रामचारतमानस के सम्ब ध मे सबसे पहला प्रश्न यह होता है कि वह महाकाव्य है या पुराण? प्रश्न का उत्तर देते हुए कुछ विद्वानो ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि वह महाकाव्य नही, पुराण या पुराण काव्य है।[3] दूसरे अध्याय मे कहा जा चुका है कि सकीण परिभाषाओं ओर लक्षणों के आधार पर यह निर्णय नहीं किया जा सकता कि कोई विशेष काव्य महा काव्य है या नही। एबरक्रोम्बी का यह मत बिल्कुल सही है कि किसी किसी का य के सम्ब ध मे हमारी यह भावना होती है कि वह महाकाव्य है पर परिभाषाये और लक्षण उस भावना को पूर्णतया अभिव्यक्त नही कर पाते[4]। रामचरितमानस के सम्बन्ध मे भी यही बात लागू होता है। भारतीय आलका रिको ने महाकाव्य के जो लक्षण बताये हैं उनके अनुसार भले ही वह महा काव्य न प्रतात हो पर तु उसका समग्र प्रभाव हमारे ऊपर महाकाव्य जैसा ही पडता है। यदि सकीर्ण परिभाषाआ क अनुसार हम 'मानस' को महाकाव्य न मानें तो वाल्मीकि की रामायण और व्यास के महाभारत को भी महाकाव्य नही माना जा सकता। पर हम तीसरे अध्याय मे देख चुके हैं कि अनेक विद्वानों ने महाभारत ही क्या, पुष्पद त के महापुराण को तथा राजतरगिणी, दीपवश और महावश जैसे ऐतिहासिक ग्रथो को भी महाकाव्य कहा है और

१—मुहम्मद हाफिज सैयद—रामायण और हिन्दू सस्कृति पर उसका प्रभाव, कल्याण—१३-३।

२—राजबहादुर लमगोड़ा—विश्व साहित्य मे रामचरितमानस—सतना, १९४४, पृ० १।

३—डा० श्रीकृष्णलाल—मानस दर्शन—काशी, स० २००६, पृ० १५७–१५९

4 Lascelles Abercrombie—The Epic p 40

इसी कारण हमने महाकाव्य की परिभाषा को अधिक से अधिक व्यापक, उदार और लचीला बनाने का प्रयत्न किया है।

किन्तु महाकाव्य की परिभाषा को व्यापक और उदार बनाने का यह उद्देश्य नहीं है कि पुराणों और इतिहास ग्रथों को भी महाकाव्य मान लिया जाय। पहले अध्याय मे हम दिखा चुके हैं कि इतिहास पुराण महाकाव्य नहीं, बल्कि महाकाव्य के उपजीव्य हैं। वे महाकाव्य की सामग्री प्रस्तुत करते हैं। भारतीय आलकारिकों ने भी कहा है कि महाकाव्य का कथानक 'इतिहास कथोद्भूत' होना चाहिए और उसका नायक प्रख्यात होना चाहिए। इसका अर्थ यही है कि इतिहास पुराण और कथा महाकाव्य के उपजीव्य हैं। अत किसी काव्य मे पौराणिक कथावस्तु और उपदेशात्मकता को देख कर ही सहसा नहीं कहा जा सकता कि वह महाकाव्य नहीं, पुराण है। 'पुराण' शब्द से जिस प्रकार के साहित्य का बोध होता है वह काव्य से बिलकुल भिन्न प्रकार का होता है। भारतीय आलकारिकों ने तो पुराणो को काव्य के अन्तर्गत नहीं ही माना है, पाश्चात्य विद्वानों ने भी पुराणो को काव्य से भिन्न प्रकार का ही साहित्य माना है। यह अवश्य है कि कुछ काव्यो पर पौराणिक शैली का बहुत अधिक प्रभाव दिखाई पडता है किन्तु पौराणिक वस्तु तत्त्व और धार्मिक दृष्टिकोण के कारण किसी महाकाव्य की शैली पर पौराणिक शैली का प्रभाव पडना बिलकुल स्वाभाविक है। भारतीय साहित्य मे पौराणिक शैली के महाकाव्यों की कमी नहीं है, यह हम तीसरे अध्याय मे देख चुके हैं। अत रामचरितमानस को रामायण, पउमचरिय, पउमचरिउ, रिट्ठणेमिचरिउ, महापुराण आदि पौराणिक शैली के महाकाव्यो की परपरा मे रख कर ही उसका मूल्याकन होना चाहिये। जो विद्वान उसे पुराण काव्य कहते हैं उनका अभिप्राय यह बताना नहीं है कि 'मानस' पौराणिक शैली का महाकाव्य है क्योंकि वे तो स्पष्ट कहते हैं कि वह महाकाव्य नहीं बल्कि पुराण है, उसमे काव्यात्मकता भी है अत उसे पुराण-काव्य कहा जा सकता है।[1]

रामचरितमानस पुराण है या नहीं, इसका निर्णय करने का उपाय यही है कि उसमे पुराण के लक्षण खोजे जायँ। पुराण का प्राचीनतम अर्थ प्राचीन आख्यान होता था। कौटिलीय अर्थशास्त्र (१—५) मे इतिहास के अतर्गत ही पुराण और इतिवृत्त को भी माना गया है जिससे सिद्ध होता है कि उस समय इतिवृत्त का अर्थ ऐतिहासिक तथ्य और पुराण का अर्थ पौराणिक और निज-

१—डा० श्रीकृष्णलाल—मानस दर्शन, पृ० १४७।

न्धरी आख्यान माना जाता था। ब्राह्मण ग्रथो, उपनिषदो और बौद्ध साहित्य म भी पुराण शब्द इतिहास के अर्थ मे ही प्रयुक्त हुआ है और बहुधा दोनो शब्द का प्रयोग एक साथ (इतिहास पुराण) हुआ है।[1] कालान्तर मे जब पौरा णिक कथाओं का सग्रह किया गया और उनका उपयोग ब्राह्मणो द्वारा धमग्रथ के रूप मे किया जाने लगा तो उनमे कर्मकाण्ड, तीर्थ व्रत, धम उपासना दर्शन धर्मशास्त्र आदि की बाते भी जोड दी गयीं। इस तरह परवत काल मे पुराण धार्मिक साहित्य के रूप म मान्य हुए और आज ज प्रमुख १८ पुराण हमे अपने वर्तमान रूप मे उपलब्ध हैं वे आज के हिन्दू धर्म के प्रधान धर्मग्रथ के अतिरिक्त ओर कुछ नहीं हैं। यह अवश्य है कि उनमे प्राचान इतिहास ओर पुरातन ज्ञान की बातें बिखरे रूप मे अवशिष्ट रह गयी हैं। पर उनका जो वर्तमान रूप है उसमे न तो प्रबन्धत्व (कथानक सम्बन्धी अन्विति) है और न अलकृति, छन्द योजना तथा भाषा सौन्दर्य आदि कायात्मक तत्त्वो का ही विधान है। अत उन्हे काव्य या महाकाव्य की श्रेणी म नहीं रखा जा सकता ओर न पहले ही कभी रखा गया था। पुराण साहित्य एक भिन्न ही प्रकार का साहित्य है जिसके ये पाँच आवश्यक लक्षण माने गये हैं —१- सर्ग, २-प्रतिसर्ग, ३-ऋषियो और देव ताओं का वश-वर्णन, ४-मन्वन्तरो का वर्णन, ५-वशानुचरित अर्थात् राजवशो का वर्णन। इस तरह उनमे सृष्टि की उत्पत्ति की कथा से लेकर अनेकानेक राजवशो के राजाओ तक का इतिहास मिलता है। किन्तु पुराणो मे केवल इतनी हो बाते नही है, उनम ज्ञान कोष और धमशास्त्र की भी अनेक विशेष-ताएँ दिखलाइ पडती हैं, जैस अग्निपुराण मे विभिन्न अवतारो क वर्णन के साथ साथ, देवताओ की पूजा विधि, देवालय, प्रासाद आदि की निमाण विधि, राज्याभिषेक विधि, प्रायश्चित, मत्र तत्र, श्राद्धकल्प, तीर्थ व्रत, राजनीति, ज्योतिष, भूगोल, शकुन शास्त्र, युद्ध विद्या, रत्न परीक्षा, धनुर्वेद, आयुर्वेद, स्त्री पुरुष लक्षण, अथ शास्त्र, पशु विद्या, छन्द अलकार ओर रस शास्त्र, सगीतशास्त्र, व्याकरण, दर्शनशास्त्र, माहात्म्य स्तोत्र आदि का भी विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। विण्टरनित्स ने पुराणो का एक सामान्य लक्षण यह बताया है कि उनमे से प्रत्येक मे किसी न किसी देवता या अवतार को आधार बनाकर किसी सप्रदाय विशेष का प्रचार किया गया है।[2] पुराण साहित्य की प्रतिष्ठा हिन्दू धम मे ही नहीं, बौद्ध और जैन धर्मों मे भी बहुत अधिक है।

१—एम० विन्टर्रानत्स—ए हिस्ट्री आव इन्डियन लिटरेचर—प्रथम भाग, पृ०५१८।
२—वही, पृ० ५२२।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि विषयवस्तु, शैली और उद्देश्य सभी दृष्टियों से पुराण काव्य से बिल्कुल भिन्न प्रकार का साहित्य है। रामचरित-मानस में सर्ग, प्रतिसर्ग, मन्वन्तर आदि का वर्णन तो नहीं ही हुआ है, विभिन्न राजवंशों का वंशानुक्रम, तीर्थ व्रत का माहात्म्य तथा अन्य बातें भी जो प्राय सभी पुराणों में मिलती हैं, उसमें नहीं हैं। ऋषियों और देवताओं का वंश वर्णन तो दूर, उसमे काव्य के नायक के वंश का भी वर्णन नहीं हुआ है। तुलसी को यदि पुराण रूप म ही रामचरितमानस लिखना होता तो उ होने राम के पूर्वजो का भी उसी प्रकार क्रमबद्ध इतिहास लिखा होता जैसा पुराणों म मिलता है। पर उसमें तो रघु, अज, दिलीप आदि क्या, राम के पिता दशरथ का भी पूर्ण इतिहास नहीं लिखा गया है। इस तरह किसी भी दृष्टि से रामचरितमानस पुराण नहीं है। जिन बातों के आधार पर उसे पुराण कहा जाता है, वे ये हैं –

१—उसका मुख्य प्रतिपाद्य विषय राम को परब्रह्म सिद्ध करना और राम भक्ति का प्रचार करना है और उसके नायक महापुरुष नही स्वय ब्रह्म हैं।

२—उसका फल धर्म, अर्थ, काम या मोक्ष नहीं बल्कि चतुर्वर्ग से परे विश्राम की प्राप्ति है।

३—उसमे राम कथा की प्राचीन परपरा का वर्णन है।

४—उसमें राम कथा के अतिरिक्त शिव, नारद, प्रतापभानु और काक-भुशुण्डि से सबधित कथाएँ भी अवान्तर कथा के रूप म कही गयी हैं।

५—उसमे बीच बीच में छोटे-छोटे उपदेशात्मक सवाद अधिक हैं।

६—उसकी कथा श्रोता वक्ता के बीच सवाद रूप मे कही गयी है।

७—उसमे शकाओ के समाधान मे हठवादिता का अवलबन किया गया है, तर्क का नही और प्रश्नो के उत्तर में कथाएँ कही गयी हैं।

८—उसमे बात-बात मे आगम निगम और पुराणो का दुहाइ दी गयी है और हर जगह आकाशवाणी, देवताओ द्वारा पुष्पवर्षा तथा अन्य अलौकिक कार्यो का वर्णन किया गया है।

ये बाते पुराणों मे भी होती अवश्य हैं, पर इन्हा की उपस्थिति के कारण कोई काव्य पुराण नही हो सकता। पुराणो मे इन बातों के अतिरिक्त और भी बहुत सी बाते होती हैं जो रामचरितमानस मे नहीं हैं। इसके अतिरिक्त 'मानस' को पुराण सिद्ध करने के लिए जो तर्क दिये जाते हैं वे अधिकांशत हेत्वाभास मात्र हैं। उदाहरणार्थ 'मानस' का प्रतिपाद्य विषय राम का ब्रह्मत्व

सिद्ध करना नहीं बल्कि यह दिखाना है कि ब्रह्म ही राम के रूप मे अवतरि होकर नर लीला करता है। यदि राम का ब्रह्मत्व प्रदर्शन और राम भक्ति क प्रतिपादन करना ही तुलसी का लक्ष्य होता तो वे दर्शनशास्त्र की पद्धति अपनाते। इसके विपरीत उन्होंने ब्रह्म के उस नर रूप अवतार का चरित वर्ण किया है जो उनके आराध्य हैं। इसीलिए उ होने अपने ग्रथ मे राम की नर लीला के वर्णन और उनके चारित्रिक सौ दर्य के चित्रण को ही प्रमुखता प्रदा की है। उन्होने लीला पुरुष दशरथ पुत्र राम को अपने काव्य का नायक बनाया है जो निर्गुण ब्रह्म के अवतार हैं, स्वय निर्गुण ब्रह्म मानस का नायक नही है —

पुरुष प्रसिद्ध प्रकास निधि, प्रकट परावर नाथ।
रघुकुल मनि मम स्वामि सोइ, कहि सिव नायेउ माथ॥ १–११६

× × ×

गिरिजा सुनहु राम कै लीला। सुरहित दनुज बिमोहन सीला। १–११३

इस तरह तुलसी ने स्पष्ट कर दिया है कि सगुण ब्रह्म राम ही उनके आराध्य और उनके महाकाव्य के नायक हैं। अत यह तो कह सकते हैं कि मानस में कवि ने रामभक्ति को सा य और काव्य रचना को साधन माना है पर यह नहीं कहा जा सकता कि रामभक्ति साध्य होने से उनका का य पुराण या दर्शन है। मानस के फल के सबध मे तो इतना ही कहना पयाप्त है कि भारतीय सस्कृति मे चार प्रकार के फलो—धम, अर्थ, काम, मोक्ष—के अति रिक्त कोइ पाचवा फल माना ही नहा गया है। अत 'विश्राम की प्राप्ति भी धर्म या मोक्ष के भीतर ही मानी जायगा, उसे चतुर्वर्ग फल से परे मानने का कोई आवश्यकता नही है। जहाँ तक अवान्तर कथाआ, उपदेशात्मक सवादा, भवा न्तर वर्णन ओर श्रोता वक्ता पद्धति से कथा कहन का शैली और कवि की साप्रदा यिक मनोवृत्ति का प्रश्न है, ये बाते रामचरितमानस म ही नहीं, उन सभी महा काव्यो म पाई जाती हैं जिन्हे हमने पहले पाराणिक शैली का महाकाव्य कहा है।

यदि तुलसी का उद्देश्य पुराण ही लिखना होता तो इसका उल्लेख कही न कहीं अवश्य करते कि वे पुराण लिख रहे हे। पर मानस को उन्होने कही भी पुराण नही कहा है, इसके विपरात उन्होने इसे सदैव कथा, गाथा, काव्य और प्रबन्ध (प्रबन्धकाव्य) कहा है। कोइ भी पुराणकार अपने ग्रथ को काव्य नही कहता और न अपने का यशास्त्रीय ज्ञान का ही परिचय देने की आव श्यकता समझता है। तुलसी ने मानस मे प्रबन्धकाव्य की शैली तो अपनायी

ही है, प्रारम्भ मे ही अपने काव्यशास्त्रीय ज्ञान का परिचय भी दिया है। निम्न लिखित उक्तियों से स्पष्ट है कि वे काव्य या प्रबन्ध लिखना चाहते थे पुराण नहीं —

वर्णानामर्थसघाना रसाना छन्दसामपि।
मगलाना च कर्तारौ वदे वाणी विनायकौ।

× × ×

निज कवित्त केहि लाग न नीका। सरस होउ अथवा अति फीका। १-९

× × ×

कबित रसिक न राम पद नेहू। तिन कहँ सुखद हास रस एहू। १-९

× × ×

आखर अरथ अलकृति नाना। छन्द प्रबन्ध अनेक विधाना।
भावभेद रसभेद अपारा। कबित दोष गुन बिबिध प्रकारा। १-९

× × ×

जो प्रबन्ध बुध नहि आदरही। सो श्रम बादि बालकवि करही। १-१४

उपर्युक्त पक्तियो मे तुलसी ने न केवल यह बता दिया है कि व राम के चरित्र को आश्रय बनाकर प्रबन्धकाव्य की रचना कर रहे हैं, बल्कि यह भी स्पष्ट कर दिया है कि उनका काव्य रचना का उद्देश्य क्या है। तुलसी की कविता लोकमगल का साधन है। उनके अनुसार सच्ची कविता वही है जिसमे सबका हित तो हो ही, जिसमे इतना प्रसाद गुण भी हो कि उसे पढकर कवि के शत्रुआलोचक भी उसकी प्रशसा करे —

सरल कबित कीरति बिमल, सोइ आदरहि सुजान।
सहज बयर बिसराइ रिपु जो सुनि करहि बखान ॥१-१४॥

चरितकाव्य परपरा और रामचरितमानस—

चौथे अध्याय म कहा जा चुका है कि हिन्दी के मध्यकालीन महाकाव्य अपभ्रश के चरितकाव्यों की परम्परा की देन हैं। अपभ्रश के चरितकाव्य, जिनम महाकाव्य, एकार्थकाव्य और खण्डकाव्य तीनो ही हैं, पौराणिक और रोमान्चक शैली म लिखे गये हैं। उनम से रोमाचक शैली के चरितकाव्यो की परपरा हिन्दी म प्रेमाख्यानक काव्यो के रूप म दिखाई पडती है और पौराणिक शैली का सहज विकास रामचरितमानस जैसे काव्यों मे हुआ है पौराणिक शैली का प्रथम चरितकाव्य तो वाल्मीकि की रामायण ही है, क्योंकि उसमे कथात्मकता, वक्ताश्रोता योजना, अवान्तर कथाएँ, भवान्तर आदि बा

उसी तरह की हैं जैसे परवता काल के पौराणिक शैली के चरितकाव्यो मे मिलती हैं।

रामचरितमानस मे अपभ्रश के चरितकाव्यो की वे सभी विशेषतायें दिखाई पडती हैं, जिनका उल्लेख चाथे अध्याय मे किया जा चुका है। वे ये हैं —

१—पौराणिक शैली के चरितकाव्यों की तरह मानस मे भी प्रबन्धकाव्य और धमकथा के लक्षणो का सम वय हुआ है। धमकथाये चरित और कथा नाम से लिखी जाती थीं और यही बातें चरितकाव्यो के नामो मे भी मिलती हैं। अत रामचरितमानस के नाम मे जुडा चरित शब्द उसी चरितकाव्यो की परपरा की ओर सकेत करता है। तुलसी ने स्वय अपने काव्य को चरित, गाथा और कथा तीनो ही कहा है —

करन चहो रघुपति गुन गाहा। लघु मति मोर चरित अवगाहा। १-८

× × × ×

कहँ रघुपति के चरित अपारा। कहँ मति मोरि निरत ससारा। १-१२

× × × ×

समुझत अमिति राम प्रभुताई। करत कथा मन अति कदराई। १-१२

× × × ×

२— अपभ्रश के चरितकाव्यो में अधिकतर पौराणिक कथावस्तु अपनाई गयी है जिससे उनमे अलौकिक, अतिमानवीय और अतिप्राकृत तत्त्वो की अधिकता है। रामचरितमानस की आधिकारिक कथा तथा अन्य अवान्तर कथाएँ भी पौराणिक हैं, अत उसमे उक्त तत्त्वों की अधिकता है। उसके नायक वाल्मीकि रामायण के नायक की भाँति महान मानव ही नही, ब्रह्म के साक्षात् अवतार हैं। अत उनके व्यक्तित्व मे अलोकिकत्व का होना स्वाभाविक है। यद्यपि मानस के राम नरचरित का अनुसरण करते हैं पर वे उत्पन्न होते ही अद्भुत रूप दिखाते हैं जो स्वय विष्णु का रूप है। कभी उनकी माता को यह देखकर अत्यन्त आश्चर्य होता है कि उनका पुत्र एक ही समय मे पालने मे भी है और पाक गृह मे भोजन भी कर रहा है। इसी तरह अहिल्या उद्धार, तीर से मारीच को सौ योजन दूर सागर पार फेक देना, धनुष भग आदि कार्य उनके अलौकिकत्व का परिचय देते हैं।

इस प्रकार के कार्य सभी पौराणिक चरितकाव्यो मे दिखलाई पडते हैं और इनमे से बहुतो को कथानक सबधी 'अभिप्राय' मान लिया गया है।

३—चरितकाव्यों मे साहसिक और रोमाचक तत्त्वो की अधिकता होती है। 'मानस' मे भी इन तत्त्वों की कमी नहीं है। राम के अलौकिक कार्य,

वनवास काल की भयङ्कर यात्राये तथा अन्य चमत्कारपूर्ण कार्य अत्यत साहसपूर्ण हैं। हनुमान के तो सभी कार्य इतने साहसपूर्ण हैं कि वे अतिप्राकृत प्रतीत होते हैं। कथाकाव्यों की कुछ रोमाचक कथानकरूढियाँ भी 'मानस' म प्रयुक्त हैं, सरोवर तट, वाटिका, वन या मदिर मे सुन्दरिया स भेट और प्रथम दर्शन मे प्रेम मध्ययुग की एक प्रचलित कथानकरूढि है। तुलसी ने इसी रूढि के पालन के लिए जनकपुर में वाटिका म राम और सीता का प्रथम साक्षात्कार कराया है।

गौतम के शाप से अहिल्या शिला हो गयी था। शाप से या मत्र तत्र से पत्थर बन जाना भी एक कथानकरूढि हा है। वाल्मीकि ने अहिल्या का पत्थर हो जाना नहीं लिखा है। उनके अनुसार गोतम ने अहिल्या को यह शाप दिया कि वह अदृश्य होकर उपवास और तपस्या करती रहेगी।[1] अध्यात्म रामायण के अनुसार गोतम का शाप यह था कि अहिल्या शिला में निवास करेगी और निराहार रह कर धूप, वर्षा आदि को सहन करती हुई तपस्या करेगी और उनका आश्रम जीव जन्तुओ से विहीन हो जायगा[2]। तुलसीदास के समय में उपर्युक्त कथानकरूढि के आग्रह से उस शाप का रूप यह मान लिया गया कि अहिल्या स्वय पत्थर हो गयी थी। इसी प्रकार मत्राभिषिक्त अस्त्र शस्त्रों का प्रयोग भी एक कथानकरूढि है जिसका उपयोग कथा मे रोमाचकता लाने के लिए होता है। 'मानस' में अनेक स्थानों पर मत्रास्त्रों का प्रयोग दिखाया गया है जैसे सीता के चरणों मे चोंच मारने पर राम जयन्त पर मत्र प्रेरित बाण छोडते हैं जो जयन्त का पीछा करता है।

४—चरितकाव्यो के अनुरूप 'मानस' में प्रेम, वीरता और वैराग्य की भावनाओ का पूर्ण सामजस्य दिखाई पडता है। उसमे आद्यन्त ये तीनो प्रवृत्तियाँ परस्पर सबद्ध रूप मे दिखाई पडती हैं। 'मानस' की वैराग्य भावना भक्तिमूलक है और वह भक्ति प्रेम और वीरता के अनन्य आश्रय राम के प्रति है। राम

१—वाल्मीकि रामायण, १–४८–३०।

२—दुष्टे त्व तिष्ठ दुर्वृत्ते शिलायामाश्रमे मम ॥
निराहारा दिवारात्र तप परममास्थिता।
आतपानिलवर्षादि सहिष्णु परमेश्वरम् ॥
ध्यायन्ती राममेकाग्रमनसा हृदि सस्थितम्।
नाना जन्तुविहीनोऽयमाश्रमो ते भविष्यति ॥

अध्यात्म-रामायण—१–५–२७, २८, २९।

और सीता का गभीर प्रेम ही मानस की कथा का मूलाधार है। तुलसी ने अपने काव्य को वाल्मीकि रामायण की तरह करुण रस मे पर्यवसित नहीं किया है। सीता की प्राप्ति ओर रामराज्य की स्थापना मे प्रेम ओर वीरता की चरम परिणति दिखा कर तुलसी ने राम कथा को समाप्त कर दिया है। राम कथा के अतिम दुखद अश को तुलसी ने जान बूझ कर 'मानस' मे नहीं अपनाया है क्योंकि उससे राम के गभीर प्रेम मे व्याघात उत्पन्न होता। वाल्मीकि रामायण और अध्यात्म रामायण की तरह उन्होने राम ओर अन्य लोगो का देहावसान भी नहीं दिखाया है। जैन चरितकाव्यो मे प्राय नायक को कैवल्य या मोक्ष प्राप्त करते हुए या जैन साधु बनते हुए दिखाया गया है। 'मानस' मे ये दोनो बाते नहीं हैं।' प्रथम साक्षात्कार म प्रेम, वीरता-प्रदर्शन कर प्रिया की प्राप्ति, विवाह और वनवास तथा सीता हरण के रूप मे प्रेम मार्ग की बाधाएँ, सेतु बन्धन और द्वीपान्तर यात्रा, अन्त मे युद्ध मे शत्रु को परास्त कर प्रिया की प्राप्ति आदि बातें चरितकाव्यो की प्रेम कथा पद्धति से बहुत मिलती हैं। फिर भी चरित काव्यो की तुलना मे 'मानस' म एक विशिष्टता यह है कि उसका दृष्टिकोण आध्यात्मिक और मर्यादावादी है। इसी कारण 'मानस' की मूल प्रेरक शक्ति वैराग्य समन्वित भक्ति ही है।

५—अपभ्रश के चरितकाव्यो की भाँति 'मानस' भी शान्तरस पर्यवसायी है, यद्यपि उसमे वीररस की भी प्रमुखता है। इस सबध मे मानस के महा काव्यत्व के प्रसग मे विशेष रूप से विचार किया जायगा।

६—नायक की दृष्टि स 'मानस' चरितकाव्यो की परपरा मे नहीं आता, क्योकि उसका नायक सामान्य मानव नही, ब्रह्म का अवतार है और तुलसी ने मानवता के सपूर्ण आदर्शो को उसमे मूर्त करने का प्रयत्न किया है। किन्तु उसमे शुभ अशुभ कर्मो का तदनुरूप फल दिखाने ओर अनेक पात्रो के चरित्र मे समुचित परिस्थिति उपस्थित होने पर सुधार दिखाने की प्रवृत्ति चरित काव्यो की ही है।

७—सपूर्ण जीवनवृत्त के वर्णन, कथात्मकता ओर वस्तु वर्णन की दृष्टि से रामचरितमानस मे शास्त्रीय महाकाव्य और चरितकाव्य, दोनो का समन्वय हुआ है। उसम राम के जीवन चरित का अधिकाश तो वर्णित है, पर सीता निर्वासन, लवकुश जन्म, अश्वमेध यज्ञ म लवकुश का रामायण गान, सीता की पुन सतीत्व परीक्षा ओर पृथ्वी मे समा जाना, राम तथा अन्य लोगो का स्वर्गारोहण आदि घटनाओ का वर्णन नहीं हुआ है। वाल्मीकि रामायण, अध्यात्म रामायण तथा पुराणों की राम कथा मे ये बातें मिलती हैं। इस तरह चरित

काव्यों मे नायक के सपूर्ण जीवनवृत्त का वर्णन करने की जो प्रवृत्ति मिलती है वह इसमे नहीं है। शास्त्रीय महाकाव्य मे कवि पूरे जीवनवृत्त से अपने उद्देश्य के अनुकूल कुछ अशो को ही चुनता है और मह कार्य दिखाकर कथानक को समाप्त कर देता है। इस दृष्टि से 'मानस' शास्त्रीय महाकाव्यों के अधिक निकट है। किन्तु अनेक पात्रा के भवान्तर और राम के अनेक बार अवतार लेने की कथाओं के का ण 'मानस' चरितकाव्यों का परम्परा म आता है। इस तरह उसमे एक ओर चरितकाव्या के अनुरूप सक्षेप मे अधिक से अधिक घटनाओ क वर्णन की प्रवृत्ति है तो दूसरा आर शास्त्राय महाकाव्या के अनुसार किसी किमी घटना या प्रसग का अत्यन्त विस्तार स भा वणन हुआ है। विश्वामित्र का अयोध्या जाकर राम लक्ष्मण को माँगने की घटना से लेकर जनकपुर पहुँचने तक का बाता का वर्णन वाल्मीकि रामायण म पूरे ३१ सर्गो (बा० का० १८ से ४९ वे सर्ग तक) म और अध्यात्म रामायण म करीब सो अनुष्टुप छन्दो म हुआ है, पर 'मानस' म ये सब बाते कुल सात दोहा या कडवकों (कुल ८८ पक्तियो) मे कह दी गयी हैं। इससे स्पष्ट है कि 'मानस' की कथा यहाँ बडी तीव्रगति से आगे बढी है, पर फुलवारी वर्णन, धनुष यज्ञ और विवाह का वर्णन उसम बडे विस्तार से किया गया है। चरितकाव्या म इतना वर्णन विस्तार नही होता। अत इस दृष्टि से भा मानस' म शास्त्राय महा काव्य ओर चरितकाव्य का शैलिया का समन्वय हुआ है।

८—प्रबन्धरूढिया की दृष्टि से 'मानस' पूर्णरूप से चरितकाव्य का परम्परा मे आता है, शास्त्रीय महाकाव्यों की परम्परा म नहीं। यद्यपि आलकारिका ने प्रारम्भ मे मङ्गलाचरण, पूर्व कवि प्रशसा, वस्तु निर्देश, सज्जन दुर्जन चिन्ता आदि का होना महाकाव्य के लक्षण के रूप म स्वीकार किया है, किन्तु सस्कृत के प्रारम्भिक शास्त्रीय महाकाव्यो म से कुछ म तो ये प्रबन्ध रूढिया बिलकुल नही हैं ओर कुछ म कुछ छन्दो म मगलाचरण, वस्तु निर्देश और पूर्व कविप्रशसा करके तथा अपनी विनम्रता का सक्षेप म प्रदर्शन करके कवियो ने सीधे कथा आरम्भ कर दी है। इसके विपरीत, सस्कृत, प्राकृत आर अप भ्रश के चरितकाव्यों म ये रूढिया सख्या ओर विस्तार में बहुत बढ गयी हैं।

रामचरितमानस मे चरितकाव्यो की पद्धति का ही अनुसरण किया गया है। इसमे १०४ दोहों (कडवकों) मे प्रस्तावना है। फिर रावण का पूर्व भव वर्णन करने के बाद १७६वे दोहे से, आधिकारिक कथा का प्रारम्भ होता है। तुलसी ने प्रारम्भ के ४३ दोहो में बडे विस्तार के साथ ब्रह्मा, विष्णु, महेश, सरस्वती, गणेश, हनुमान आदि देवी देवताओं की स्तुति, गुरु तथा पूर्व कवियो

की वन्दना, सज्जन प्रशसा, दुर्जन निन्दा, सत्सग महिमा, विनम्रता प्रदर्शन, काव्य शास्त्रीय विवेचन, काव्य रचना का उद्देश्य, वस्तु निर्देश आदि बातें लिखी हैं। फिर राम कथा के सभी पात्रों की वन्दना करके, राम नाम की महिमा, राम कथा की परम्परा और उसका महत्व, वस्तु निर्देश, आत्म निवेदन, काव्य का रचना काल और कथा की प्रमुख घटनाओ का सक्षेप मे वर्णन किया गया है। इस प्रकार काव्यारम्भ की शैली और प्रबन्धरूढियो की दृष्टि से मानस सर्वतो भावेन चरितकाव्यों की परपरा मे आता है।

९—छन्दयोजना की दृष्टि से भी मानस अपभ्रश के चरितकाव्यो की ही परम्परा मे आता है। उसमे भी 'पद्मावत' की तरह अपभ्रश काव्यों की कडवक शैली अपनाई गयी है ओर चौपाई, दोहा, हरगीतिका, त्रोटक आदि छन्द भी अपभ्रश काव्यों के समान ही हैं।

'मानस' मे पौराणिक शैली की विशेषताएँ—

रामचरितमानस मे पोराणिक शैली की निम्नलिखित विशेषताएँ दिखाइ पडती हैं —

१—कथान्तर और श्रोता वक्ता परपरा—

प्रारभिक कथान्तर या श्रोता वक्ता के प्रश्नोत्तर के रूप मे कथा कहने की शैली प्राय सभी पौराणिक शैली के महाकाव्यो मे मिलता है। महाभारत-रामायण और पृथ्वीराजरासो जैसे विकसनशील महाकाव्यों मे भी यही शैली अपनाई गई है क्योंकि पौराणिक शैली के तत्व बीज रूप मे विकसनशील महाकाव्यो मे ही मिलते हैं और उन्हीं का विकास पोराणिक शैली के महाकाव्यो मे दिखलाइ पडता है। महाभारत की कथा लिख कर व्यास ने सर्वप्रथम अपने शिष्य को सुनायी थी उसके बाद उसे वैशम्पायन ने जनमेजय को और सौति ने शनकादि ऋषिया को सुनाया। पुराण भी सूत शोनक सवाद रूप मे ही लिखे गये हैं। रामायण की कथा सबसे पहले वाल्मीकि द्वारा प्रश्न करने पर नारद ने उन्हें सुनाई। फिर वाल्मीकि ने उसे लिख कर लव कुश को सुनाया और लव कुश ने उसे ऋषियो को तथा राम के अश्वमेध के समय अयोध्यावासियो को सुनाया। परन्तु रामचरितमानस मे कथा की परपरा का जो वर्णन किया गया है वह बहुत कुछ अध्यात्म रामायण के अनुसार है। अध्यात्म रामायण की कथा सूत जी श्रोताओ को सुनाते हैं और बताते है कि अध्यात्म रामायण का ब्रह्मा जी ने नारद के सम्मुख प्रकाशन किया यद्यपि उसे सबसे प्रथम सीता तथा राम ने हनुमान को सुनाया था और फिर बाद में पार्वती जी द्वारा राम के ब्रह्मत्व के विषय मे शका करने पर शिव जी ने उन्होंने

सुनाया था। शिव जी ने अध्यात्म रामायण रूपी 'रामहृदय' को सुना कर उसे अत्यत गुह्य रखने की सलाह दी था।[1] फिर बाद म ब्रह्मा ने उसे कलियुग के लोगो के निस्तार के लिए नारद को सुनाया। इस तरह अध्यात्म रामायण म चार वक्ता और चार श्रोता हैं —

१—सीता और राम	हनुमान
२—शिव	पार्वती
३—ब्रह्मा	नारद
४—सूत	श्रोता और पाठक

रामचरित मानस की वक्ता श्रोता परपरा अध्यात्म रामायण से कुछ भिन्न है, यद्यपि उसमे भी राम कथा के चार वक्ता और चार श्रोता हैं। तुलसी ने इस परपरा का वर्णन इस प्रकार किया है —

१–सम्भु कीन्ह यह चरित सुहावा। बहुरि कृपा करि उमहि सुनावा॥
२–सोइ सिव कागभुसुण्डिहि दीन्हा। राम भगति अधिकारी चीन्हा॥
३–तेहि सन जागबलिक पुनि पावा। तिन्ह पुनि भरद्वाज प्रति गावा॥
ते श्रोता बकता समशीला। समदरसी जानहि हरिलीला॥
४–मै पुनि निज गुरु सन सुनी कथा सो सूकरखेत।
समुझी नहि तसि बालपन तब अति रहेउँ अचेत॥ १-३०

किन्तु राम कथा के श्रोता वक्ताओं का शृखला की अन्य कडियाँ भी हैं। 'मानस' के ही अनुसार रामावतार सभी कल्पो म हुआ, अत राम कथाएँ भी असंख्य हैं —

नाना भाँति राम अवतारा। रामायन सत कोटि अपारा।
कलप भेद हरि चरित सुहाए। भाँति अनेक मुनीसन्ह गाये।

अत शिव जी ने एक राम कथा कुभज ऋषि से सुना था —

एक बार त्रेता जुग माँही। सभु गये कुभज ऋषि पाही।
राम कथा मुनिवज बखानी। सुनी महेस परम सुख मानी।

दूसरी राम कथा उन्होने काकभुशुण्डि से सुना था —

मै जिमि कथा सुनी भव मोचनि। सो प्रसग सुनु सुमुखि सुलोचनि।

× × ×

तब कछु काल मराल तनु धरि तहँ कीन्ह निवास।
सादर सुनि रघुपति गुन पुनि आऐउ कैलास॥ ७ ५६ ५७

की वन्दना, सज्जन प्रशसा, दुर्जन निन्दा, सत्सग महिमा, विनम्रता प्रदर्शन, काव्य शास्त्रीय विवेचन, काव्य रचना का उद्देश्य, वस्तु निर्देश आदि बातें लिखी हैं। फिर राम कथा के सभी पात्रो की व दना करके, राम नाम की महिमा, राम-कथा की परम्परा और उसका महत्व, वस्तु निर्देश, आत्म निवेदन, काव्य का रचना काल और कथा की प्रमुख घटनाओ का सक्षेप मे वर्णन किया गया है। इस प्रकार काव्यारम्भ की शैली और प्रबन्धरूढियो की दृष्टि से मानस सर्वतो भावेन चरितकाव्यों की परपरा मे आता है।

९—छ दयोजना की दृष्टि से भी मानस अपभ्रश के चरितकाव्यो की ही परम्परा मे आता है। उसमे भी 'पद्मावत' की तरह अपभ्रश काव्यों की कडवक शैली अपनाई गयी है और चौपाई, दोहा, हरगीतिका, त्रोटक आदि छन्द भी अपभ्रश काव्यों के समान ही हैं।

'मानस' मे पौराणिक शैली की विशेषताएँ—

रामचरितमानस में पोराणिक शैलो की निम्नलिखित विशेषताएँ दिखाइ पडती हैं —

१—कथान्तर और श्रोता वक्ता परपरा—

प्रारभिक कथान्तर या श्रोता वक्ता के प्रश्नोत्तर के रूप मे कथा कहने की शैली प्राय सभी पौराणिक शैली के महाकाव्यो में मिलता है। महाभारत रामायण और पृथ्वीराजरासो जैसे विकसनशील महाकाव्यो मे भी यही शैली अपनाई गई है क्योकि पौराणिक शैली के तत्व बीज रूप मे विकसनशील महाकाव्यो मे ही मिलते हैं और उन्हीं का विकास पौराणिक शैली के महाकाव्यो मे दिखलाई पडता है। महाभारत की कथा लिख कर व्यास ने सर्वप्रथम अपने शिष्य को सुनायी थी उसके बाद उसे वैशम्पायन ने जनमेजय को और सौति ने शनकादि ऋषिया को सुनाया। पुराण भी सूत शोनक सवाद रूप मे ही लिखे गये हैं। रामायण की कथा सबसे पहले वाल्मीकि द्वारा प्रश्न करने पर नारद ने उन्हें सुनाई। फिर वाल्मीकि ने उसे लिख कर लव कुश को सुनाया और लव कुश ने उसे ऋषियो को तथा राम के अश्वमेध के समय अयोध्या वासियो को सुनाया। परन्तु रामचरितमानस मे कथा की परपरा का जो वर्णन किया गया है वह बहुत कुछ अध्यात्म रामायण के अनुसार है। अध्यात्म रामायण की कथा सूत जी श्रोताओ को सुनाते हैं और बताते हैं कि अध्यात्म-रामायण का ब्रह्मा जी ने नारद के सम्मुख प्रकाशन किया यद्यपि उसे सबसे प्रथम सीता तथा राम ने हनुमान को सुनाया था और फिर बाद में पार्वती जी द्वारा राम के ब्रह्मत्व के विषय मे शका करने पर शिव जी ने उन्होंने

सुनाया था। शिव जी ने अध्यात्म रामायण रूपी 'रामहृदय' को सुना कर उसे अत्यत गुह्य रखने की सलाह दी था।[1] फिर बाद म ब्रह्मा ने उसे कलियुग के लोगो के निस्तार के लिए नारद को सुनाया। इस तरह अध्यात्म रामायण म चार वक्ता और चार श्रोता हैं —

१—सीता और राम	हनुमान
२—शिव	पार्वती
३—ब्रह्मा	नारद
४—सूत	श्रोता और पाठक

रामचरित मानस की वक्ता श्रोता परपरा अध्यात्म रामायण से कुछ भिन्न है, यद्यपि उसम भी राम कथा के चार वक्ता और चार श्रोता हैं। तुलसी ने इस परपरा का वर्णन इस प्रकार किया है —

१-सम्भु कीन्ह यह चरित सुहावा। बहुरि कृपा करि उमहि सुनावा॥
२-सोइ सिव कागभुसुण्डिहि दीन्हा। राम भगति अधिकारी चीन्हा॥
३-तेहि सन जागबलिक पुनि पावा। तिन्ह पुनि भरद्वाज प्रति गावा॥
ते श्रोता बकता समशीला। समदरसी जानहि हरिलीला॥
४-मै पुनि निज गुरु सन सुनी कथा सो सूकरखेत।
समुझी नहि तसि बालपन तब अति रहेउँ अचेत॥ १-३०

किन्तु राम कथा के श्रोता वक्ताओं का शृखला की अन्य कडियाँ भी हैं। 'मानस' के ही अनुसार रामावतार सभी कल्पो मे हुआ, अत राम कथाएँ भी असंख्य हैं —

नाना भॉति राम अवतारा। रामायन सत कोटि अपारा।
कलप भेद हरि चरित सुहाए। भॉति अनेक मुनीसन्ह गाये।

अत शिव जी ने एक राम कथा कुभज ऋषि से सुना थी —

एक बार त्रेता जुग मॉही। सभु गये कुभज ऋषि पाही।
राम कथा मुनिवर्ज बखानी। सुनी महेस परम सुख मानी।

दूसरी राम कथा उन्होने काकभुशुण्डि से सुना था —

मै जिमि कथा सुनी भव मोचनि। सो प्रसग सुनु सुमुखि सुलोचनि।

× × ×

तब कछु काल मराल तनु धरि तहँ कीन्ह निवास।
सादर सुनि रघुपति गुन पुनि आऍउ कैलास॥ ७ ५६ ५७

१—एतत्तेऽभिहित देवि श्री रामहृदय मया।
अतिगुह्यतम हृद्य पवित्र पापशोधनम्॥ अ० रा० १-१-५२

की वन्दना, सज्जन प्रशंसा, दुर्जन निन्दा, सत्संग महिमा, विनम्रता प्रदर्शन, काव्य शास्त्रीय विवेचन, काव्य रचना का उद्देश्य, वस्तु निर्देश आदि बातें लिखी हैं। फिर राम कथा के सभी पात्रो की व दना करके, राम नाम की महिमा, राम-कथा की परम्परा और उसका महत्व, वस्तु निर्देश, आत्म निवेदन, काव्य का रचना काल ओर कथा की प्रमुख घटनाओ का सक्षेप मे वर्णन किया गया है। इस प्रकार काव्यारम्भ की शैली और प्रबन्धरूढियो की दृष्टि से मानस सर्वतो भावेन चरितकाव्यों की परपरा मे आता है।

९—छन्दयोजना की दृष्टि से भी मानस अपभ्रंश के चरितकाव्यो की ही परम्परा मे आता है। उसमे भी 'पद्मावत' की तरह अपभ्रंश काव्यों की कडवक शैली अपनाई गयी है और चौपाई, दोहा, हरगीतिका, त्रोटक आदि छन्द भी अपभ्रंश काव्यों के समान ही हैं।

'मानस' मे पौराणिक शैली की विशेषताएँ—

रामचरितमानस मे पोराणिक शैलो की निम्नलिखित विशेषताएँ दिखाई पडती हैं —

१—कथान्तर और श्रोता वक्ता परपरा—

प्रारंभिक कथान्तर या श्रोता वक्ता के प्रश्नोत्तर के रूप मे कथा कहने की शैली प्राय सभी पौराणिक शैली के महाकाव्यो में मिलता है। महाभारत-रामायण और पृथ्वीराजरासो जैसे विकसनशील महाकाव्यो मे भी यही शैली अपनाई गई है क्योकि पौराणिक शैली के तत्व बीज रूप मे विकसनशील महाका यो मे ही मिलते हैं और उन्हीं का विकास पोराणिक शैली के महाकाव्यो मे दिखलाई पडता है। महाभारत की कथा लिख कर व्यास ने सर्वप्रथम अपने शिष्य को सुनायी थी उसके बाद उसे वैशम्पायन ने जनमेजय को और सौति ने शनकादि ऋषियो को सुनाया। पुराण भी सूत शौनक सवाद रूप मे ही लिखे गये हैं। रामायण की कथा सबसे पहले वाल्मीकि द्वारा प्रश्न करने पर नारद ने उन्हें सुनाई। फिर वाल्मीकि ने उसे लिख कर लव कुश को सुनाया और लव कुश ने उसे ऋषियो को तथा राम के अश्वमेध के समय अयोध्या वासियो को सुनाया। परन्तु रामचरितमानस म कथा की परपरा का जो वर्णन किया गया है वह बहुत कुछ अध्यात्म रामायण के अनुसार है। अध्यात्म रामायण की कथा सूत जी श्रोताओ को सुनाते हैं और बताते है कि अध्यात्म-रामायण का ब्रह्मा जी ने नारद के सम्मुख प्रकाशन किया यद्यपि उसे सबसे प्रथम सीता तथा राम ने हनुमान को सुनाया था और फिर बाद में पार्वती जी द्वारा राम के ब्रह्मत्व के विषय मे शका करने पर शिव जी ने उन्होंने

सुनाया था। शिव जी ने अ यात्म रामायण रूपा 'रामहृ य' को सुना कर उसे अत्यत गुह्य रखने की सलाह दी था।[1] फिर बाद म ब्रह्मा ने उसे कलियुग क लोगो के निस्तार के लिए नारद को सुनाया। इस तरह अ यात्म रामायण म चार वक्ता और चार श्रोता हैं —

१—सीता और राम	हनुमान
२—शिव	पावती
३—ब्रह्मा	नारद
४—सूत	श्रोता आर पाठक

रामचरित मानस की वक्ता श्रोता परपरा अ यात्म रामायण से कुछ भिन्न ह, यद्यपि उसमे भी राम कथा के चार वक्ता और चार श्रोता हैं। तुलसी ने इस परपरा का वणन इस प्रकार किया है —

१-सम्भु कीन्ह यह चरित सुहावा। बहुरि कृपा करि उमहि सुनावा॥
२-सोइ सिव कागभुसुण्डिहि दीन्हा। राम भगति अधिकारी चीन्हा॥
३-तेहि सन जागबलिक पुनि पावा। तिन्ह पुनि भरद्वाज प्रति गावा॥
ते श्रोता बकता समशीला। समदरसी जानहि हरिलीला॥
४-मै पुनि निज गुरु सन सुनी कथा सो सूकरखेत।
समुझी नहि तसि बालपन तब अति रहेउँ अचेत॥ १-३०

किन्तु राम कथा के श्रोता वक्ताओं का शृखला की अन्य कडियाँ भी हैं। 'मानस' के ही अनुसार रामावतार सभी कल्पो म हुआ, अत राम कथाएँ भो असंख्य हैं —

नाना भाँति राम अवतारा। रामायन सत कोटि अपारा।
कलप भेद हरि चरित सुहाए। भाँति अनेक मुनीसन्ह गाये।

अत शिव जी ने एक राम कथा कुभज ऋषि से सुनी थी —

एक बार त्रेता जुग माँही। सभु गये कुभज ऋषि पाही।
राम कथा मुनिवज बखानी। सुनी महेस परम सुख मानी।

दूसरी राम कथा उन्होने काकभुशुण्डि मे सुनी था —

मै जिमि कथा सुनी भव मोचनि। सो प्रसग सुनु सुमुखि सुलोचनि।

× × ×

तब कछु काल मराल तनु धरि तहँ कीन्ह निवास।
सादर सुनि रघुपति गुन पुनि आअेउँ कैलास॥ ७ ५६ ५७

१—एतत्तेऽभिहित देवि श्री रामहृदय मया।
अतिगुह्यतम हृद्य पवित्र पापशोधनम्॥ अ० रा० १-१-५३

उसी तरह भुशुण्डि ने एक राम कथा शिव से और दूसरी लोमस ऋषि से सुनी थी—

मेरु सिखर बटु छाया मुनि लोमस आसीन।
देखि चरन सिरु नायेउ बचन कहेउँ अति दीन ॥ ७ ११०

× × ×

मुनि मोहि कछुक काल तह राखा। रामचरित मानस तब भाखा।
—७–११३

फिर भुशुण्डि ने यही कथा गरुड से कही —

सुनु सुभ कथा भवानि, रामचरित मानस बिमल।
कहा भुसुडि बखानि, सुना विहगनायक गरुड़। १–१२०

इस प्रकार 'मानस' मे राम कथा की श्रोता वक्ता की कई परपराये बताई गई है। वे ये हैं—

(१) शिव लोमस तथा भुशुण्डि और गरुड वाली परम्परा।

(२) भुशुण्डि, शिव ओर पार्वती वाली परम्परा।

(३) शिव भुशुडि याज्ञवल्क भारद्वाज वाली परम्परा।

'मानस' के प्रधान वक्ता तो स्वय तुलसी हैं पर उन्होने सारी कथा याज्ञवल्क के मुख से भारद्वाज को संबोधित करके कहवाई है और याज्ञवल्क ने उस उसी रूप मे कहा है जिस रूप म शिव ने पार्वती से कहा था और शिव ने भी पार्वती को वही कथा सुनाई थी जो भुशुण्डि ने स्वय शिव को और गरुड को सुनाई थी। परिणामस्वरूप 'मानस' मे कथा के वक्ता तीन—याज्ञवल्क, शिव और भुशुण्डि—ही हैं, क्योकि उ होंने पूरे का य में अपने श्रोताओ—भारद्वाज, पार्वती और गरुड—को स्थान स्थान पर नाम लेकर सबोधित किया है। पर तुलसी ने केवल सबोधन द्वारा ही यह नहीं व्यक्त किया है कि यह कथा सवाद रूप मे कही गयी थी, उन्होने उन अवसरो ओर परिस्थितियों का भी विस्तार से वर्णन किया है जब यह कथा विभिन्न वक्ताओ द्वारा विभिन्न श्रोताओ से कही गयी थी। तीनो बार प्रश्नकर्तओ को एक ही शका हुइ थी, जिसके समाधान के लिए राम कथा कही गयी थी —

भारद्वाज की शका—

राम कवन प्रभु पूछौ तोही। कहिय बुझाइ कृपानिधि मोही।
एक राम अवधेसकुमारा। तिन्ह कर चरित बिदित ससारा।
नार बिरह दुख लहेउ अपारा। भएउ रोषु रन रावन मारा।

प्रभु सोइ राम कि अपर कोउ जाहि जपत त्रिपुरारि।
सत्य धाम सर्वज्ञ तुम्ह कहहु बिबेकु विचारि ।।१-४६

पार्वती की शका

ब्रह्म जो व्यापक बिरज अज अकल अनीह अभेद।
सो कि देह धरि होइ नर जाह न जानत बेद ।। १-५०

× × ×

राम सो अवधनृपति सुत सोई। की अज अगुन अल्खगति कोई।
जौ नृपतनय त ब्रह्म किमि, नार विरह मति भोर।
देखि चरित महिमा सुनत, भ्रमति बुद्धि अति मोरि ।। १-१०८

गरुड की शका

व्यापक ब्रह्म बिरज बागीसा। माया मोह पार परमीसा।
सो अवतार सुनेउँ जग माही। देखेउँ सो प्रभाव कछु नाहीं।
भव बन्धन तें छूटहिं नर जपि जाकर नाम।
खब निसाचर बाँधेउ नाग पास सोइ राम ।।-७-५८

इस तरह की कथा की परपरा बताने और शका समाधान के रूप म कथा कहने की शैली अपभ्रश के पौराणिक महाकाव्या म भी मिलनो है। स्वयम्भू के पउमचरिउ मे कथा परपरा का वर्णन जिस रूप म हुआ है वह मानस' क वर्णन से बहुत मिल्ता जुलता है। तुलना के लिए उसको यहाँ दिया जा रहा है—

वद्धमाण मुह कुहर विणिग्गय। रामकहा णइ एह कमागय ।।

× × ×

एह रामकह सरि सोहन्ती। गणहर देवहि दिट्ठ वहन्ती।
पच्छह इन्दभूइ आयरिए। पुणु धम्मेण गुणालकरिएं ।।
पुणु पहवे ससारा राएँ। कित्तिहरेण अणुत्तरवाएँ।
पुणु रविषेणायरिय पसाएँ। बुद्धिए अवगाहिय कइराएँ ।।

—पउमचरिउ—१-२

अथात् रामकथा रूपी नदी अन्तिम तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर के मुख कुहर से निकली, फिर इन्द्रभूति, कीतिधर अनुत्तरवाग्मिन, कविराज रावषेण आदि द्वारा राम कथा की परपरा आगे बढाई गयी। स्वयम्भू ने इसी रामकथा का वणन श्रेणिक और गणधर गौतम के सवाद के रूप मे किया है । पउमचरिउ म भी श्रेणिक ने समवरण के समय महावीर के समुख रामकथा के सबंध मे 'मानस' के प्रश्नकर्त्ताओं के समान ही अपनी शका उपस्थित की थी —

परमेसर पर-सासणेहि सुव्वइ णिवरेरी।
कहे जिण सासण कैम थिय कह राहव केरी ।।

× × ×

जइ रामहो तिहुवणु उवरे माइ। तो रावणु कहि तिय लेवि जाइ।
अण्णु वि खरदूसण समरे देव। पहु जुज्झइ सुज्झइ भिच्चु केव ।।

× × ×

किह वाणर गिरिवर उव्वहन्ति। वन्धेवि मयरहरु समुत्तरन्ति ।।
किह रावण दह मुहु वीस हत्थु। अमराहिव भुव वन्धण समत्थु ।।
—१-१-१०,११

'मानस' के श्रोताओ की शका तो राम के ब्रह्मत्व या अलौकिकत्व के ही सबध मे है, पर पउमचरिउ म श्रेणिक की शका ब्राह्मण परपरा म प्रचलित राम कथा के सभी पात्रो की अलौकिकता या अस्वाभाविकताके सबध मे है। वह जानना चाहता है कि यदि सारा जगत राम के उदर मे ही स्थित है तो रावण उनकी पत्नी को हर कर कहाँ ले गया, राम खरदूषण युद्ध मे प्रभु और भृत्य के बीच भिडन्त कैसे हुई, बन्दरो ने पहाड को कैसे उखाडा और समुद्र पार कैसे पहुँचे, रावण के दस मुख और बीस हाथ कैसे थे ? गणधर गौतम ने महावीर क कहने से इन प्रश्नो का उत्तर दिया, पर उत्तर सीधे न देकर पहले ऋषभदव की उत्पत्ति और भरत बाहुवलि के युद्ध का वणन किया। वाल्मीकि रामायण मे भी प्रारभ के चार सर्गो मे कथान्तर वर्णन ही हैं जिसम वाल्माकि के द्वारा रामायण लिखने और लव कुश द्वारा उसके सुनाये जाने का वर्णन है। 'मानस' के प्रथम और अन्तिम सोपानों म प्रश्नकत्ताओ का शका के साथ ही उन परिस्थितियों या अवसरों का भी विस्तार के साथ वर्णन किया गया है, जब वे प्रश्न किये गये थे। प्रथम सोपान में शिव चरित ओर सप्तम सोपान मे काकभुशुडि चरित की योजना पउमचरिउ की उपर्युक्त कथाओ जैसे कथान्तर मात्र हैं। इस प्रकार प्रारभ मे कथान्तर रखने और प्रश्नोत्तर से कथा प्रारभ करने की प्रवृत्ति प्राय सभी पौराणिक शैली के महाकाव्यो मे मिलती है।

२—वश परपरा, भवान्तर और अवतारो का वर्णन

पौराणिक शैली के महाकाव्यो मे नायक और प्रतिनायक की वश परपरा का वर्णन भी मिलता है। वाल्मीकि रामायण मे इक्ष्वाकु वश का सविस्तर वर्णन तो नहीं है, पर सगर, भगीरथ, अज और दशरथ से सबधित अनेक कथाये और वर्णन हैं। रामायण के उत्तरकाण्ड मे राम और अगस्त्य के सवाद के रूप

मे राक्षसो की वशपरपरा और रावण चरित का वर्णन भी है। जैन रामायणो मे भी राम की वशपरपरा का वर्णन अधिक नहीं है, पर वानर, राक्षस आदि की उत्पत्ति आर रावण के चरित का विस्तार से वर्णन है। स्वयम्भू के पउमचरिउ के पूरे विद्याधर काण्ड मे इसी तरह की अवान्तर कथाएँ भरी हुई हैं। 'मानस' में नायक और प्रतिनायक मे से किसी का भी वश वर्णन नही है। उसकी जगह उसम राम के अवतार के कारणो और रावण आदि के भवान्तरो का वर्णन है। वाल्मीकि रामायण के १५ वे और १८ वे सर्ग म कहा गया ह कि रावण के अत्याचार से व्याकुल होकर देवता और ऋषि ब्रह्मा को आगे करके विष्णु के पास गये और विष्णु ने अवतार लेकर रावण का वध करने की घोषणा की। ब्रह्मा की आज्ञा से देवता भी राम की सहायता के निमित्त वानर, भालु इत्यादि योनियो मे उत्पन्न हुए। 'मानस' मे यह कथा तो आयी ही है, रामावतार का कारण बताने वाली कई और कथाएँ भी कही गयी हैं। उसमे विभिन्न कल्पो के रामावतार के कुल सात कारण बताये गये हैं।

रामावतार के इतने कारण न तो वाल्मीकि रामायण मे हैं न अध्यात्म रामायण म। अवतारो के साथ ही 'मानस' म रावण, विभाषण, कुम्भकर्ण दशरथ, कौशल्या, राक्षस, काकभुशुण्डि आदि के पूव भवो का भी वणन या उल्लेख हुआ है। हिन्दू, बोद्ध और जैन पोराणिक कथाओं म भवान्तर वर्णन की प्रवृत्ति समान रूप से मिलती है और इसका प्रभाव सस्कृत, प्राकृत और अपभ्रश के महाकाव्या पर भी पडा है। कोतूहल की लालावइकहा और सोमदेव के कथासरित्सागर मे तो भवान्तर-वणन की अधिकता है ही, अपभ्रश प्रबन्धकाव्यो म भी इस प्रवृत्ति की प्रमुखता है। इस तरह अवतार और भवान्तर वर्णन की दृष्टि से 'मानस' पौराणिक शैली के महाकाव्यो की परम्परा मे आता है।

३—सवाद रूप मे उपदेशात्मक वर्णन

'भारतीय महाकाव्य का स्वरूप विकास' शीर्षक अध्याय म कहा जा चुका है कि विकसनशील महाकाव्यों मे प्राचीन ज्ञान भडार के प्रदर्शन और उपदेशात्मक वणन की प्रवृत्ति मिलती है। महाभारत और रामायण मे इसके उदाहरण भरे पडे हैं। यह पद्धति बाद म अलकृत महाकाव्यो म भी अपनाई जाने लगी क्योकि कवियो के सामने महाभारत रामायण का आदर्श था जिनमे यह प्रवृत्ति वर्तमान थी। भारतीय साहित्य मे वर्णन विस्तार और ज्ञान उपदेश की बातों को जितना महत्व दिया जाता रहा है उतना कथा के सहज और अनवरुद्ध प्रवाह को नही। इस सबन्ध में रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने बिलकुल ठीक

लिखा है कि वणन, तत्व विचार और अवान्तर प्रसगो से कथा प्रवाह भले ही पद पद पर स्खलित हो जाय पर प्रशान्त भारत कभी अधीर होता नहीं दिखाई पडा। यह प्रसग काव्य के अग हैं या प्रक्षिप्त, इसकी आलोचना निष्फल है क्योंकि प्रक्षिप्त विषयो को अपना लेने वाले यदि न रहते तो प्रक्षेपो को स्थान नही मिलता। भगवद्गीता के माहात्म्य को सभी जानते ह, पर जब कुरुक्षेत्र क ऐसा घमासान युद्ध सिर पर हो तब शान्त होकर समस्त भगवद्गीता सुनना भारतवर्ष को छोड ससार के किसी देश मे सभव नहीं। हम इस बात को मानते हैं कि किष्किन्धा और सुन्दर काण्ड म रोचक बातो की कमी नही है फिर जब राक्षस सीता को हरण करके ले गया तब कथा भाग के ऊपर इन काण्डो की सृष्टि कर डालने की बात सहिष्णु भारतवर्ष ही सह सकता है, वही उसे क्षमा की दृष्टि से देख सकता है। वह उसे क्यो क्षमा करता है? इसका कारण यही है कि उसे कथा का अन्तभाग—परिणामाश—सुनने की उत्सुकता नही है। सोचते विचारते, पूछते जाचते और इधर उधर देखते भालते भारतवष सात प्रकाण्ड काण्ड और अठारह विशाल पर्वो को शान्त चित्त से धीरे धीरे श्रवण करने को निरन्तर लालायित रहता है।"[1] इस कथन से उस भारतीय मनोवृत्ति का पूर्ण परिचय मिल जाता है जिसके परिणामस्वरूप शास्त्रीय महाकाव्यो मे अनावश्यक वस्तु व्यापार वर्णन और पौराणिक शैली के महाकाव्यो मे अनपेक्षित और अप्रासगिक उपदेशात्मक वर्णनों की अधिकता दिखाई पडती है।

रामायण महाभारत के अतिरिक्त सस्कृत, प्राकृत और अपभ्रश के पौराणिक शैली के महाकाव्या मे भी प्राचीन ज्ञान और धार्मिक सिद्धान्तो से सबधित वणनों का कितनी अधिकता है, यह चाथे अध्याय मे दिखाया जा चुका है। रामचरित मानस मे भी इस प्रकार के सैद्धान्तिक विवेचनो ओर प्रचारात्मक उपदेशों की योजना हुइ है। यद्यपि ये वर्णन मानस के काव्यात्मक पक्ष को कुछ दबा देत हैं परन्तु उसके धमग्रन्थ रूप मे स्वकृत होने का कारण भी वे ही हैं। उनसे सामान्य हिन्दू जनता का आध्यात्मक और धार्मिक पिपासा शान्त होती है। अत जैसा रवि बाबू ने उपयुक्त उद्धरण मे कहा है, भारतीय मनोवृत्ति के अनुकूल होने से 'मानस' के उपदेशात्मक वणन काव्य दोष नहीं माने जा सकते। स्वय तुलसी की काव्य सम्बन्धी मान्यता भी यही थी कि काव्य का सर्वोत्तम उपयोग यही

१—रवीन्द्रनाथ ठाकुर—प्राचीन साहित्य (हिन्दी अनुवाद)—तृतीय सस्करण, पृ० ७० ।

है कि उससे रामभक्ति का उदय हो और काय म सौ दर्य और गाम्भीर्य तभी आ सकता है जब कि उसम सु दर विचार और तत्त्वचिन्तन का योग हो —

भगति हेतु बिधि भवन बिहाई। सुमिरत सारद आवति धाई।
रामचरित सर बिनु अन्हवायें। सो श्रम जाइ न कोटि उपायें।
हृदय सिन्धु मति सीपि समाना। स्वाती सारद कहहि सुजाना।
जौं बरखै बर बारि बिचारू। होहि कवित मुकुता मनि चारू। १–११

अपनी इसी मान्यता के अनुसार तुलसी ने 'मानस' का बौद्धिक स्तर बहुत ऊँचा रखा और ज्ञान, वैराग्य, भक्ति आदि का विवेचन विविध स्थलों पर विविध प्रकार से किया है। अपनी इस योजना पर उन्होने प्रारम्भिक वस्तु निदश में ही प्रकाश डाला है —

सप्त प्रबन्ध सुभग सोपाना। ज्ञान नयन निरखत मन माना।
× × ×
सुकृत पुज मजुल अलिमाला। ज्ञान बिराग बिचार मराला।
× × ×
अरथ धरम कामादिक चारी। कहब ज्ञान बिज्ञान बिचारी।
नव रस जप तप जोग बिरागा। ते सब जलचर चारु तडागा।
× × ×
भगति निरूपन बिबिध बिधाना। छमा दया दम लता बिताना।
सम जम नियम फूल फल ज्ञाना। हरिपद रति रस बेद बखाना। १–३७

तुलसी के इस वक्त य से प्रारम्भ में ही इस बात का आभास मिल जाता है कि उनके काव्य मे ज्ञानोपदश की बातो की अधिकता होगी। वस्तुत 'मानस' मे कवि का जहाँ भी—यहाँ तक कि प्रकृति चित्रण म भी—अवसर हाथ लगता है, वह अपने मत का प्रकाशन करने से नहीं चूकता। ये उपदशात्मक वर्णन चार रूपो मे मिलते हैं —

१—कवि के कथन के रूप मे।

२—सभाओ या दरबारो मे सवाद के रूप मे।

३—विचार गोष्ठी या दो व्यक्तियो के प्रश्नोत्तर के रूप मे।

४—बिना पूछे ही किसी पात्र द्वारा उपदेश के रूप म।

पहले प्रकार का शास्त्रीय ज्ञान सम्बन्धी वर्णन 'मानस' के प्रारम्भ में ही मिलता है, जिसमे कवि न वन्दना करते हुए सगुण और निर्गुण ब्रह्म तथा राम-नाम की महिमा और राम भक्ति का विवेचन किया है। दूसरे प्रकार का वर्णन चित्रकूट मे भरत सभा मे तथा रावण अगद सवाद मे मिलता है। तीसरे

प्रकार के उपदेशात्मक वर्णन शिव पार्वती, याज्ञवल्क भारद्वाज और काकभुशुण्डि-गरुड के सवादो मे विशेष रूप से आये हैं, साथ ही राम की वन यात्रा मे ऋषि मुनियो से भेट के समय भी ऐसे वर्णन बहुत मिलते ह। चौथे प्रकार के उप देशात्मक वर्णन वे हैं जो किसी पात्र के मुँह स बिना पूछे ही कहवाये गये हैं, जैसे सप्तम सोपान मे राम का नगरवासियो को बुलाकर भक्ति का निरूपण करना या वशिष्ठ का राम की वन्दना करते समय प्रेम भक्ति का माहात्म्य बताना। ये चारो प्रकार की सवादात्मक ज्ञानोपदेश की बाते अधिकर प्रथम और सप्तम सोपान मे ही हैं। आधिकारिक कथा के बीच म इस तरह के वर्णन अधिक नहीं हैं। अत उसके सहज प्रवाह मे ऐसे वणनो से बाधा नही उत्पन्न हुई है। रामायण तथा पौराणिक शैली के अन्य महाकाव्यों मे भी प्राय प्रथम और अन्तिम काण्ड या सर्ग मे ही ऐसे वणन अधिक मिलते हैं।

४—माहात्म्य और स्तोत्र

तुलसी ने निष्ठा और नियमपूवक सगुण ब्रह्म की लीलाओ और प्रभुत्व का गान किया है और प्राकृत जनो का गुणगान करने वाले काव्यो की भत्सना की है। साथ हा उन्होने यह भी स्पष्ट कह दिया है कि राम और उनक नाम का माहात्म्य वर्णन ही 'मानस' का लक्ष्य है —

एहि महं रघुपति नाम उदारा। अति पावन पुरान श्रुति सारा।

× × ×

जेहि महं आदि मध्य अवसाना। प्रभु प्रतिपाद्य राम भगवाना। ७–६१

अत ऐसे चरित नायक की, जो काव्य के नायक ही नहीं कवि के परम आराध्य भी हो, प्रशस्ति का स्वय गान करने और बडे बडे देवताओं, ऋषिया, मुनियो और भक्तो के मुख से उनका स्तवन कराने मे तुलसी को कोई सकोच नही हुआ है। रामायण महाभारत और पुराणा मे माहात्म्य-वणन और स्तोत्र बहुत मिलते हैं। रामभक्ति का प्रचार होने पर रामानुज सप्रदाय मे अनेक उप निषदों और धमकथाओ की रचना हुई, जिसमे राम के माहात्म्य, मत्र और स्तुतियो का प्राधान्य था। अध्यात्म रामायण उसी प्रकार का धमग्रथ है और 'मानस' का प्रधान प्रेरणा स्रोत भी वही है। अत 'मानस' मे भी माहात्म्य वर्णन और स्तोत्रो का होना स्वाभाविक है। अध्यात्म रामायण और 'मानस' मे इस दृष्टि से अन्तर इतना ही है कि अध्यात्म रामायण म दर्शन, उपदेश, माहात्म्य वर्णन और स्तोत्रों की अधिकता और काव्यात्मकता का नितान्त अभाव है जब कि 'मानस' मे काव्यात्मकता बहुत अधिक है ओर माहात्म्यादि अपेक्षाकृत बहुत कम हैं। ये वर्णन इतने प्रकार के हैं —

१—कवि द्वारा स्वय अपने ग्रथ, काव्य विषय और नायक का माहात्म्य वर्णन ।

२—देवताओं, ऋषियो और भक्तों का राम के सामने उपस्थित होकर उनका स्तवन, देवताओ द्वारा विविध अवसरो पर पुष्प वर्षा, गन्धर्वो का नृत्य-गान ।

३—कथा के पात्रो द्वारा विविध अवसरो पर राम या शिव की स्तुति और गुण गान करना ।

४—सोपानो (काण्डो) के आदि म देवताओ की स्तुति और अन्त म सोपानों का माहात्म्य वर्णन तथा पुष्पिका म नामकरण ।

'मानस' के अन्तिम सोपान के अन्त म तुलसी ने वाल्मीकि रामायण की भाँति कई छन्दों मे ग्रथ का माहात्म्य वर्णन किया है । पौराणिक शैली के महाकाव्यों मे ग्रथ का माहात्म्य वर्णन इसलिए किया जाता था कि लोग धर्मग्रथ समझ कर उनका पाठ या गान करे । अपभ्रश के पौराणिक महाकाव्यो मे भी सर्वत्र यही बात पायी जाती है । देवताओ और ऋषि मुनियों ने 'मानस' में अनेक स्थलों पर विष्णु, राम या शिव की स्तुति की है । तुल्सी ने ऐसे अवसरों पर लम्बे लम्बे श्लोक लिखे हैं जिनका कथा या काव्य की दृष्टि से तो कोई महत्व नहीं है, पर भक्त जनो के लिए वे बडे ही महत्वपूर्ण हैं । मानस की कथा के पात्रों ने भी विविध अवसरो पर स्वय राम के समुख या एक दूसरे से सवाद रूप मे राम का माहात्म्य-वर्णन किया है—जैसे शिव, पार्वती, काकभुशुण्डि गरुड और याज्ञवल्क्य भारद्वाज के सवादों म तो इस प्रकार का माहात्म्य और प्रशस्ति गान भरा ही है, आधिकारिक कथा के भीतर भी अनेक स्थलों पर ऐसे वर्णन हैं ।

तुलसी ने 'मानस' के प्रत्येक सोपान के आदि मे मगलाचरण लिखा है और कहीं कहीं राम या राम कथा का माहात्म्य वर्णन भी किया है । उसी तरह प्रत्येक सोपान के अन्त म उसम वर्णित प्रधान घटना का माहात्म्य और उसका फल बताने के बाद पुष्पिका मे उस सोपान का नामकरण किया है। प्रत्येक सोपान का मगलाचरण श्लोकबद्ध सस्कृत मे और पुष्पिका सस्कृत गद्य म है । कई अपभ्रश महाकाव्यो मे भी यही पद्धति अपनायी गयी है । पुष्पदन्त ने महापुराण मे सधियों के प्रारम्भ मे सस्कृत छन्दों म अपने आश्रयदाता भरत की प्रशस्ति या सरस्वती आदि की वन्दना लिखी है और उसके बाद अपभ्रश म मगलाचरण लिखा है । उसी तरह प्रत्येक सन्धि के अन्त में उसकी प्रधान घटना का माहात्म्य या आश्रयदाता की प्रशस्ति लिखने के बाद गद्य मे पुष्पिका लिखी है । रामचरित

मानस मे पौराणिक शैली के कतिपय महाकाव्यों की यही पद्धति अपनायी गयी है ।

५—अलौकिक अतिप्राकृत कार्य तथा अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन—

यों तो सभी चरितकाव्यो मे अलौकिक और अतिप्राकृत कार्यो का अधिक वर्णन होता है पर पौराणिक शैली के चरितकाव्यो मे उनकी मात्रा बहुत अधिक होती है। 'मानस' म चरितका यो की विशेषताये दिखाते हुए उसमें वणित अलौकिक और अतिप्राकृत कार्यों के सबध म विचार किया जा चुका है ।

काल और स्थान के माप के सबध मे तथा सख्या गणना मे पुराणों में प्राय अतिशयोक्ति से काम लिया जाता है। यही बात पौराणिक शैली के महाकाव्यो मे भी मिलती है। सभावना के आधार पर इस प्रकार की अतिशयोक्तिपूर्ण बातें 'मानस' म भी हैं। उदाहरणार्थ राम ने बिना फल के बाण से मारीचि को मारा तो वह सौ योजन पर जा कर गिरा (१–२०८), शिव धनुष को दस हजार राजाओ ने उठाया तब भी वह नही टला (१–२५१), राम ने करोडो अश्वमेध यज्ञ किये (७–२४) रावण की सभा के करोडो भटो ने मिल कर प्रयत्न किया पर अगद का पैर नहीं हिला (६–३३) आदि । भगवान और भक्तों की प्रशसा करते समय भी तुलसी बहुधा पौराणिक ढग की अतिशयोक्ति से काम लेते हैं। मनु और शतरूपा की तपस्या की विधि ओर अवधि उन्होने इस प्रकार बताई है —

एहि बिधि बीते बरस षट सहस बारि आहार ।
सवत सप्त सहस पुनि रहे समीर अधार ॥
बरस सहस दस त्यागेउ सोऊ। ठाढे रहे एक पद दोऊ। १–१४४, १४५

पार्वती की तपस्या के सबध मे भी इसी तरह की बात कही गयी है (१–७४) ।

६—शिथिल कथानक तथा अवान्तर कथाओ का आधिक्य—

पहले कहा जा चुका है कि पौराणिक शैली के महाकाव्यों के कथानक मे कसावट नही होती क्योंकि उसमे कथा के भीतर कथा कहने की प्रवृत्ति होती है। अवान्तर और प्रासगिक कथाओं के कारण उनके कथानक म जटिलता होती है। 'मानस' का कथानक न तो बिलकुल पौराणिक ढग का है न बिलकुल शास्त्रीय ढग के महाकाव्यो जैसा। उसमे प्रथम और अन्तिम सोपान मे ही प्राय सभी अवान्तर कथायें आ गयी हैं। मुख्य कथा शरीर के भीतर अर्थात् प्रथम सोपान के १८४ वें दोहे से लेकर सप्तम सोपान के २५ वे दोहे तक कोई अवान्तर कथा नही है और जो प्रासगिक कथाएँ हैं भी, उनसे कथानक के

संघटन में योग ही मिलता है। अन कथा-प्रवाह म यदि बाधा होती है तो उपदेशात्मक वर्णन, माहात्म्य और स्तोत्र आदि से। प्रारम्भिक और अन्तिम अशो की योजना तुलसी ने केवल इसलिए की है कि वे 'मानस' को महाकाव्य के साथ धमग्रथ भी बनाना चाहते थे। इसी कारण उसम पौराणिक रग दिखाई पडता है, यद्यपि वह पुराण नहा है।

रामचरितमानस का महाकाव्यत्व

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि रामचरितमानस सस्कृत, प्राकृत और अपभ्रश के पौराणिक शैली के चरितकाव्यो के ढग का प्रबन्धकाव्य है। अब हम इस प्रश्न पर विचार करेंगे कि प्रबन्धकाव्य के भीतर वह महाकाव्य है या एकार्थकाव्य अथवा खण्डकाव्य। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस सम्बन्ध मे केवल सकेत किया है कि "यह पूछा जा सकता है कि तुलसीदास की रचना अधिकतर स्वानुभूति निरूपिणी (सबजेक्टिव) है या बाह्यार्थ निरूपिणी (आबजेक्टिव)। रामचरितमानस के सम्बन्ध म तो यह प्रश्न हो ही नहीं सकता क्योंकि वह एक प्रबन्धकाव्य या महाकाव्य है। प्रबन्धकाव्य सदा बाह्यार्थ-निरूपक होता है।"[1] उन्होंने 'मानस' के महाकाव्यत्व के सम्बन्ध मे विशेष रूप से कहीं भी विचार नही किया है। पाश्चात्य विद्वानों मे 'मानस' के अनुवादक ग्रीस ने अनुवाद की भूमिका मे उसे हिन्दुओं का जातीय महाकाव्य (नेशनल एपिक) कहा है। डा० रामकुमार ने भी इस सम्बन्ध म लिखा है कि "तुलसीदास ने रामचरितमानस की कथा को एक महाकाव्य के दृष्टिकोण से लिखा है जिसमे जीवन के समस्त अग पूर्ण रूप से प्रदर्शित किये गये हैं।"[2] मानस-राजहस प० विजयानन्द त्रिपाठी ने 'मानस' के महाकाव्यत्व का सक्षेप मे विवेचन अवश्य किया है पर वह विवेचन आचार्यों की सकीर्ण परिभाषा के अनुसार किया गया है।[3] यहाँ उसके महाकाव्यत्व पर महाकाव्य के उन स्थिर या व्यापक लक्षणो की दृष्टि से विचार किया जायगा जिनका निदश दूसरे अध्याय मे किया जा चुका है।

१—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—गोस्वामी तुलसीदास–सप्तम सस्करण, काशी स० २००८, पृ० ७५–७६।

२—डा० रामकुमार वर्मा—हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, प्रथम सस्करण पृ० ४७०।

३—मानस राजहस प० विजयानन्द त्रिपाठी—मानस प्रसग–चतुर्थ भाग, प्रथम सस्करण, पृ० ४८।

१—महदुद्देश्य, महत्प्रेरणा और महती काव्य प्रतिभा

मानस की रचना का उद्देश्य तुलसी ने स्वय इन शब्दों मे बताया है —

(क) नाना पुराणनिगमागमसम्मत यद्
रामायणे निगदित क्वचिदन्यतोपि।
स्वान्त सुखाय तुलसी रघुनाथगाथा
भाषानिबन्धमतिमजुलमातनोति ॥ प्र० सो० मगलाचरण, ७

(ख) भाषाबध करबि मै सोई। मोरे मन प्रबोध जेहि होई। १–३१

(ग) निज सन्देह मोह भ्रम हरनी। करौ कथा भव सरिता तरनी। १ ३१

(घ) मत्वा तद्रघुनाथनाम निरत स्वान्तस्तम शान्तये।
भाषाबद्धमिद चकार तुलसीदासस्तथा मानस ॥
—सप्तम सोपान—प्रशस्ति–१

इन पक्तियों से तो यही प्रतीत होता है कि तुलसी ने 'मानस' की रचना आत्मसुख या आत्मप्रबोध अथवा अपने हृदय के सदेह और अधकार के शमन के लिए की। किन्तु इनके स्वान्त सुख या आत्म-प्रबोध का तात्पर्य वैयक्तिक सुख या ज्ञान लाभ नहीं है। तुलसी ने जिस साधना मार्ग या उपासना पद्धति को अपनाया था उसका मूलाधार ही लोकमगल था। उनकी धर्म साधना वैयक्तिक, ऐकान्तिक और किसी लोक विच्छिन्न गुह्य पथ का अनुसरण करने वाली नहीं थी। ऐसे साधक महात्मा का स्वात सुख लोक मात्र का सुख होता है क्योंकि उनका 'स्व' सारे जगत् मे घुल मिल जाता है। तुलसी ने भी आत्मोत्सर्ग करके शेष जगत् के साथ तादात्म्य स्थापित कर लिया था। अपने आराध्य को भी उन्होंने नाना नामरूपात्मक दृश्य जगत् मे व्याप्त देखा है —

जड चेतन जग जीव जत सकल राममय जानि।
बन्दौ सब के पद कमल सदा जोरि जुग पानि ॥–१ ७

समग्र विश्व तुलसी का आराध्य है। वे उससे विच्छिन्न होकर निर्गुण ब्रह्म की एकान्त आराधना मे विश्वास नही करते। अत उनका स्वान्त सुख लोक सुख से भिन्न नहीं है और इसलिए आत्म प्रबोध के लिए लिखा गया 'मानस' लोक प्रबोध और लोक हृदय के सन्देह तम के निवारण के लिए है। उन्होंने काव्य का उद्देश्य बताते हुए लिखा है कि सच्चा काव्य वही है जिससे सब का हित हो और जिसे सुन कर शत्रु भी उसकी प्रशसा करे —

कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कहँ हित होई।

× × ×

सरल कबित कीरति बिमल सोइ आदरहि सुजान।
सहज बयर बिसराइ रिपु जो सुनि करहि बखान॥ १-१४

इससे स्पष्ट है कि तुलसी ने 'मानस' की रचना केवल वयक्तिक सुख के लिए नही की है। राम यश, राम कथा और राम भक्ति को इतना महत्त्व 'मानस' मे केवल इसीलिए दिया गया है कि उससे लोक का कल्याण होता है। तुलसी के अनुसार इस कलिकाल में राम कथा और राम भक्ति के अतिरिक्त लोक के मगल का अन्य कोई रास्ता नही है। अध्यात्म रामायण मे कहा गया है कि शिवजी द्वारा रचित गुह्य 'राम हृदय' या 'राम गीता' का प्रकाशन ब्रह्मा ने नारद के समुख इसीलिए किया कि उससे कलियुग के सभी पाप नष्ट हो जायँगे। तुलसी ने भी अध्यात्म रामायण के अनुसार राम कथा को कलि के पापों से मुक्ति दिलाने वाली कहा है। उनके अनुसार जिस कविता में राम का गुणगान होगा वही ससार का कल्याण करनेवाली और सज्जनो को अच्छी लगने वाली होगी —

मगल करनि कलिमल हरनि तुलसी कथा रघुनाथ की।
गति कूर कबिता सरित की ज्यों सरित पावन पाथ की।
प्रभु सुजस सगति भनिति भलि होइहि सुजन मनभावनी।
भव अग भूति मसान की सुमिरत सुहावनि पावनी॥ १-१०

इस विचार से 'मानस' के कवि ने अपने काव्य मे प्राकृत जनो का गुणगान न करके राम का यशोगान किया। राजाओ सामतो का गुणगान करके अर्थ और यश का फल भले ही प्राप्त हो जाय पर उससे लोक हित और धर्म की सिद्धि नहीं होती। अत तुलसी की लोकसग्रही दृष्टि ने जगत् के कर्ता और सरक्षक ब्रह्म के सगुण रूप को आराध्य मान कर उसी की लीला का गान किया है। यह लीला गान, राम का यह चरित, कवि द्वारा इस ढग से उपस्थित किया गया है कि काव्य कला और लोकहित दोनो का सुन्दर सामजस्य हो गया है। 'मानस' के प्रथम मगलाचरण में ही तुलसी ने अपने इस दुहरे लक्ष्य को स्पष्ट कर दिया है —

वर्णानामर्थसघाना रसाना छदसामपि।
मगलाना च कर्तारौ वन्दे वाणीविनायकौ॥

कवि ने सर्वप्रथम सरस्वती और गणेश की वदना साभिप्राय की है। सरस्वती काव्य कला की अधिष्ठात्री देवी हैं और गणेश मगल के विधायक। पर गणेश का सबध भी काव्य कला से है और सरस्वती का भी लोक मगल से है। अत दोनों की वदना एक ही साथ की गयी है। इस तरह कवि ने

प्रारम्भ मे ही व्यक्त कर दिया है कि वह ऐसा काव्य लिखना चाहता है जो काव्य की उत्कृष्टता, कलात्मक अनुरजन और मगल विधान से समन्वित हो। आगे चल कर तुलसी ने 'मानस' को मुद और मगल का मूल, कलि-कलुष नाशक और सकल जन रजन कहा है —

होउ महेस मोहि पर अनुकूला। करहु कथा मुद मगल मूला।–१–१५

× × ×

निज सदेह मोह भ्रम हरनी। करौ कथा भव सरिता तरनी।
बुध विश्राम सकल जन रजनि। राम कथा कलि कलुष विभजनि॥ १ ३१

'कलि कलुष' से तुलसी का तात्पर्य कवल वैयक्तिक पापों से ही नहीं है, इसका प्रयोग उन्होंने बडे ही व्यापक अथ मे किया है। वैयक्तिक बुराइयो के अतिरिक्त सामाजिक अन्याय, वर्णाश्रम धम की विशृंखलता, राजनीतिक अत्याचार जाति मात्र का नैतिक पतन आदि सभी बाते तुलसी के कलि कलुष के अतर्गत आ जाती हैं। वाल्मीकि रामायण, अध्यात्म रामायण और 'मानस' तीनों ही मे राम के अवतार का सर्वप्रधान कारण रावण के अत्याचार से पृथ्वी का सत्रस्त हो जाना बताया गया है। 'मानस' के प्रारभ मे रावण के अत्याचारो का लम्बा वर्णन (१–१७८ से १८४ तक) किया गया है। इसमे कवि ने अपने ही समय की राजनीतिक दुरवस्था, धार्मिक ह्रास ओर विधर्मियों के अत्याचारो का चित्रण किया है। उसी तरह सप्तम सोपान मे काकभुशुण्डि ने कलिकाल का विस्तृत वर्णन (७ ९७ से १०२) किया है। इन सब धार्मिक ह्रास तथा सामाजिक, नैतिक और राजनीतिक बुराइयों और अत्याचारो को दूर करने का साधन तुलसी ने राम नाम और राम कथा को ही माना है —

कलिजुग जोग न जग्य न ज्ञाना। एक अधार राम गुन गाना। ७ १०३

राम गुन गान और राम-चरित के निरन्तर मनन द्वारा ही वर्तमान युग मे लोक का कल्याण हो सकता है, इस बात को ध्यान में रख कर ही तुलसी ने मानस की रचना की है, इसमे सन्देह के लिए अवकाश नहीं है। उनका यह दृढ विश्वास था कि समाज के समुख राम से बढकर दूसरे किसी नायक का ऐसा आदर्श चरित्र नही हो सकता जिसका अनुकरण और अनुसरण करके समाज के लोग अपने चरित्र को सुधार सकेंगे और धार्मिक तथा राजनीतिक अत्याचारों से मुक्ति पाने के लिए सचेष्ट प्रयत्न कर सकेंगे। इसलिए 'मानस' मे राम जैसे आदर्श नायक, हनुमान और लक्ष्मण जैसे राजभक्त और वीर तथा भरत जैसे नीतिपरायण पात्रो की अवतारणा की गयी है। सप्तम सोपान मे

कवि ने रामराज्य का जो चित्र उपस्थित किया है वह उसके राजनीतिक और सामाजिक आदर्शों का घोषणापत्र (मेनिफेस्टो) है। इस प्रकार राम यश, राम कथा और राम-नाम मे तुलसी ने जो महत्ता प्रतिष्ठित की है वह उनके महान उद्देश्य का द्योतक है। वस्तुत 'मानस' तुलसी के महान उद्देश्य का मूतरूप है जिसमे उनके मानवतावाद या लोकहितवाद का आदर्श चित्रित किया गया है।

अत यह कहना कि 'मानस' का उद्देश्य केवल राम भक्ति का प्रचार करना या राम को परब्रह्म सिद्ध करना था, 'मानस' के महत्व को कम करना है। राम भक्ति भी किसी महत्तम उद्देश्य का साधन ही है। वह महत्तम उद्देश्य है समस्त विश्व का कल्याण जो 'कलि कलुष' के विनाश के बिना सभव नहीं है। मध्ययुगीन भक्ति आन्दोलन केवल धार्मिक या साम्प्रदायिक आन्दोलन नही था। वस्तुत वह सास्कृतिक पुनर्जागरण का आन्दोलन था जिसमे सामाजिक, धार्मिक, नैतिक और राजनीतिक क्षेत्र म पुनस्सघटन और गम्भीर जीवनाशा का वेगवान स्पन्दन भरा था। ऐसे आन्दोलनों के पीछे जो दृष्टिकोण और लक्ष्य होता है वह सकीर्ण नहीं हो सकता। कबीर, सूर, जायसी और तुलसी, सबका उच्च लक्ष्य एक ही था—लोक हित। किन्तु सबके मार्ग भिन्न भिन्न थे। सबने अपने अपने ढग से उस महान उद्देश्य की पूर्ति म योग दिया किन्तु उस लक्ष्य के सबसे अधिक निकट पहुँचने का श्रेय तुलसी को ही प्राप्त हुआ। इसका कारण यही था कि उन्होने अपने लक्ष्य, मानवता के शिखर से अपनी दृष्टि कभी नहीं हटायी। उस ऊर्ध्वमुखी दृष्टि का परिचय इससे अधिक और क्या हो सकता है कि अपनी समस्त कार्य शक्ति को केवल एक बिन्दु पर केंद्रित कर दिया जाय। वह लक्ष्य यदि अचल, गम्भीर और विराट् हो तो उसकी ओर निरन्तर बढने पर जितनी सफलता और महत्ता प्राप्त होगी उतना सामान्य लक्ष्य की ओर बढने से नहीं। इसलिए तुलसी ने एक ओर तो प्राकृत जनो का गुणगान करने से अपने को विरत रखा, दूसरी ओर मानवता के चरम आदर्श को एक विराट् और महान पुरुष म, जो ब्रह्म का अवतार था, मूर्त किया। तुलसी की भक्ति साधना वस्तुत पूर्ण सेवा धर्म की साधना है जिसकी सफलता लोक मात्र के 'परमहित' मे निहित है। अत सेवा धर्म द्वारा लोक हित की सिद्धि ही 'मानस' का महदुद्देश्य है।

आलकारिकों के अनुसार महाकाव्य का उद्देश्य चतुर्वर्ग फल की प्राप्ति है। 'मानस' के जिस महदुद्देश्य की चर्चा ऊपर की गयी है, पुरुषार्थ की दृष्टि से उसी को धर्म और मोक्ष कहा जाता है। सेवा धर्म समन्विता राम भक्ति से बडी

धर्म साधना और कुछ नही हो सकती क्योकि वह आत्म प्रबोध के साथ कलि कलुष का नाश भी करती है। तुलसी ने स्वय राम के मुख से धर्म के सर्वोत्तम स्वरूप की व्याख्या इस प्रकार कराइ है —

परहित सरिस धर्म नहि भाई। पर पीडा सम नहि अधमाई।
निर्नय सकल पुरान बेद कर। कहेउ तात जानहि कोविद नर।
नर सरीर धरि जे पर पीरा। करहि ते सहहि महा भव भीरा।–७–४१

इस तरह 'मानस' मे लोक हित या सेवा मार्ग को परम धर्म माना गया है। भगवान भी लोक के हित और अत्याचारियो के नाश के लिए ही पृथ्वी पर अवतरित होते हैं। अत उनके भक्तो का परम धर्म अपने आराध्य के सेवा धर्म के आदर्श का अनुगमन करना ही है। यही राम की भक्ति है जो तुलसी के अनुसार ज्ञान, योग, वैराग्य, सबमे श्रेष्ठ और सरल धर्म साधना का मार्ग है। इस भक्ति के मार्ग म भगवान को सेव्य और अपने को सेवक मान कर ही आगे बढा जा सकता है।

असि हरि भगति परम सुखदाई। को अस मूढ न जाहि सोहाई।
सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिय उरगारि।
भजहु राम पद पकज अस सिद्धान्त विचारि॥ ७–११९

तुलसी के अनुसार भक्ति का श्रेष्ठ रूप वही है जिसमे आराध्य की उपासना माधुर्य या वात्सल्य भाव से नहीं, श्रद्धा भाव से की जाय। ऐसा करने से लोक की मयादा का उल्लघन नही होने पाता और सुनियत्रित लोक धम की प्रतिष्ठा होती है। इस महान उद्देश्य मे तुलसी सफल हुए हैं, यह 'मानस' के अब तक के व्यापक प्रचार से ही सिद्ध है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार तुलसी के कारण हि दू जनता म 'यह सस्कार न जमने पाया कि श्रद्धा और भक्ति के पात्र केवल सासारिक कर्त्त यो से विमुख, कर्म मार्ग मे च्युत, कोरे उपदेश देनेवाले ही हैं। उसके सामने यह फिर से अच्छी तरह से झलका दिया गया कि ससार के चलते व्यापारो म मग्न, अ याय के दमन के अर्थ रण क्षेत्रो मे अद्भुत पराक्रम दिखाने वाले, अत्याचार पर क्रोध से तिलमिलाने वाले, प्रभूत शक्ति सपन्न होकर भी क्षमा करने वाले, अपने रूप, गुण और शील से लोक का अनुरजन करने वाले, मैत्री का निवाह करने वाले, प्रजा का पुत्रवत् पालन करने वाले, बडो की आज्ञा का आदर करने वाले, सपत्ति मे नम्र रहने वाले, विपत्ति मे धैर्य रखने वाले प्रिय या अच्छे ही लगते हैं, यह बात नहीं है। वे भक्ति और श्रद्धा के

प्रकृत आलम्बन हैं, धर्म के दृढ प्रतीक हैं।"[1] इस तरह श्रद्धा और दास्य भावना से युक्त भक्ति की सप्राप्ति और आदर्शवादी लोकाश्रित धर्म की प्रतिष्ठा ही 'रामचरितमानस' का महान उद्देश्य है।

निष्कर्ष यह है कि चतुर्वर्ग फलों में से धर्म ही मानस का फल है। यद्यपि तुलसी ने प्रारंभ में यह प्रतिज्ञा की है कि मानस में काम, अर्थ, धर्म और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों का नियोजन किया जायगा —

अरथ धरम कामादिक चारी। कहब ज्ञान बिज्ञान बिचारी। १-३७

किन्तु उन्होंने अपने पूरे काव्य में धर्म को ही शीर्ष स्थान पर रखा है। पारमार्थिक दृष्टि से उन्होंने काम और अर्थ की बराबर निन्दा की है, किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से उनको सयमित रूप में धर्म के अंतर्गत ही स्वीकार किया है। 'मानस' की कथा में राम और सीता का दाम्पत्य प्रेम जिस मर्यादित और गंभीर रूप में चित्रित किया गया है वह किस गृहस्थ के लिए अनुकरणीय न होगा? उसी तरह रामराज्य की कल्पना भक्तों को ही नहीं, व्यावहारिक क्षेत्र में रहने वाले प्रत्येक गृहस्थ के हृदय को सुख समृद्धि और संपन्नता की मंगलाशा से भर देती है। फिर भी काम और अर्थ का धर्म द्वारा अनुशासित होना ही उचित है। अतः रामराज्य की स्थापना के बाद सप्तम सोपान में तुलसी ने धर्मोपदेश देना और ज्ञान विज्ञान, भक्ति और वैराग्य की विस्तृत व्याख्या करना आवश्यक समझा। 'मानस' का फल मोक्ष भी नहीं है, क्योंकि तुलसी स्वयं मोक्ष में विश्वास नहीं करते। वे जन्म जन्म में राम चरणों का अनुरागी होना ही जीवन का चरम लक्ष्य मानते हैं और कहते हैं कि हरि भक्ति में मोक्ष का सुख अपने आप मिलता है, अतः राम का भक्त मुक्ति का निरादर करके भक्ति पर ही लुब्ध रहता है—

अति दुर्लभ कैवल्य परम पद। संत पुरान निगम आगम बद।
राम भजत सोइ मुकुति गुसाईं। अन इच्छित आवै बरिआईं।
जिमि थल बिनु जल रहि न सकाई। कोटि भाँति कोउ करै उपाई।
तथा मोक्ष सुख सुनु खगराई। रहि न सकै हरि भगति बिहाई।
अस बिचारि हरि भगति सयाने। मुक्ति निरादर भगति लुभाने। ७-११९

तुलसी के विचार से आवागमन से मुक्ति प्राप्त करने में वह सुख नहीं जो विषम भव भीर से छुटकारा पाकर निरन्तर राम भजन करते हुए 'परम विश्राम' प्राप्त करने में है —

१—पं० रामचन्द्र शुक्ल—गोस्वामी तुलसीदास, सप्तम संस्करण, पृ० ३२।

जाकी कृपा लवलेस ते मतिमंद तुलसीदास हू ।
पायो परम बिश्रामु राम समान प्रभु नाहीं कहूँ । ७-१३०

इस प्रकार मोक्ष 'मानस' का फल नहीं है । उसको कथा का अन्त अध्यात्म रामायण के समान नहीं हुआ है जिसमे राम के साथ सभी अयोध्यावासियों का स्वर्गारोहण दिखाया गया है । 'मानस' मे तुलसी ने प्रारभ से ही पात्रों द्वारा जो काय कराये हैं वे सब धमाचरण निरूपक हैं । अधर्म का नाश करके राम धर्मराज्य (रामराज्य) की स्थापना करते हैं और 'मानस' की मूल कथा यहा समाप्त हो जाती है । उसके बाद शान्ति और सुराज्य स्थापित हो जान पर राम तथा अन्य लोगो के मुख से विविध अवसरों पर धर्म के विविध पक्षो की व्याख्या कराई गयी है । इससे स्पष्ट है कि धर्म ही 'मानस' का प्रधान फल है ।

महती प्रेरणा—जिस महान् उद्देश्य को ध्यान मे रखकर इस युग प्रवर्तक महाकाव्य की रचना हुई है उसको मूल प्रेरणा शक्ति भी उतनी ही बलवती और महती होनी चाहिये । वह प्रेरणा शक्ति ब्रह्म का वह सगुण स्वरूप है जिसके रूप, गुण ओर शील के सौन्दय से तुलसी का हृदय अभिभूत हो गया था । तुलसी ने उसकी ओर स्वय सकेत कर दिया है —

राम कथा मन्दाकिनी चित्रकूट चित चारु ।
तुलसी सुभग स्नेह बन सिय रघुबीर बिहारु । १-३१

कवि के हृदय मे राम और सीता का जो रूप मन्दाकिनी की पवित्र धारा की भाँति प्रवाहमान था वही 'मानस' के रूप मे मूर्त हुआ है । 'मानस' की प्रेरणा भी उसे राम से ही मिली है —

जस कछु बल विवेक बुधि मेरे । तस कहिहौं हिय हरि के प्रेरे । १ ३१

'मानस' की काव्य सरिता का उद्गम स्थल कवि का वह हृदय रूपी मान सरोवर है जिसम राम का यश रूपी जल भरा हुआ है । साधु सन्तो ने वेद पुराणों का सार खींच कर राम के यश रूपी जल की जो वषा की उससे हृदय रूपी मानसरोवर जब पूर्णतया भर गया तो उसमे गोता लगाकर कवि की बुद्धि निर्मल हो गयी, उसके हृदय मे उमग की लहर उठीं ओर प्रेम तथा आन द का प्रवाह कविता की धारा बन कर फूट निकला । वही रामचरितमानस रूपी नदी लोक म आज भी जन मन क बीच अजस्र गति से प्रवाहित होती जारही है —

सुमति भूमि थल हृदय अगाधू । बेद पुरान उदधि घन साधू ।
बरषहि राम सुजस बर बारी । मधुर मनोहर मगलकारी । १-३६

अस मानस मानस चष चाही। भइ कबि बुद्धि बिमल अवगाही।
भयेउ हृदयँ आनन्द उछाहू। उमगेउ प्रेम प्रमोद प्रवाहू।
चली सुभग कबिता सरिता सो। राम बिमल जस जल भरिता सो।–१–३९

इस रूपक से स्पष्ट है कि तुलसीदास ने किसी भौतिक सुख, यश, अर्थ और राज सम्मान के लोभ से नहीं, बल्कि अपने हृदय की सहज, वेगवती और अनवरुद्ध उमंग से 'मानस' की रचना की है। उनके हृदय को आनन्द विह्वल और तीव्र वेग से तरंगित करने वाले ब्रह्म के अवतार मर्यादा पुरुषोत्तम और अत्याचारियों का नाश करने वाले सर्वशक्तिमान राम हैं। तुलसी के मन में राम जैसे महच्चरित्र का उदय हुआ और उस महान लोकरक्षक नायक ने उनके कल्पना राज्य पर अधिकार कर लिया। ऐसे चरित्र के उन्नत आदर्श से अनुप्राणित होकर तुलसी ने मानस रूपी भाषा का मन्दिर निर्मित किया और अपने आराध्य को लोक आराध्य बनाने की दृष्टि से उसकी जीवन्त प्रतिमा उसमें स्थापित की। इस प्रकार की महत्प्रेरणा से उद्भूत काव्य का महाकाव्य बन जाना स्वाभाविक था। रवीन्द्रनाथ ठाकुर का यह कथन बिल्कुल ठीक है कि "इस समय के कवि जैसे 'आओ एक एपिक लिखा जाय' कह कर सरस्वती के साथ पहले ही से बन्दोबस्त करके 'एपिक' लिखने बैठ जाते हैं। प्राचीन कवियों में ऐसा फैशन न था।"[1] तुलसीदास ने इस प्रकार का बन्दोबस्त करके 'मानस' की रचना नहीं की। उनकी महती काव्य प्रेरणा के फलस्वरूप रामचरितमानस अनायास महाकाव्य बन गया है।

महती काव्य-प्रतिभा

महाकाव्य के निर्माण में कवि के महान उद्देश्य और बलवती प्रेरणा शक्ति के साथ ही महती काव्य प्रतिभा का होना भी आवश्यक है। काव्य प्रतिभा नैसर्गिक होती है, वह काव्य कौशल से भिन्न वस्तु है। इसी प्रतिभा से महाकाव्य में प्राणवत्ता और जीवन्तता आती है, काव्य कौशल से तो काव्य शरीर का संघटन और शृंगार ही हो सकता है, उसमें प्राण नहीं भरा जा सकता। तुलसी के काव्य कौशल से कहीं अधिक उत्कृष्ट उनकी काव्य प्रतिभा थी। वे काव्य के बाह्य अलंकरण और बलपूर्वक नियोजित कलात्मक सौष्ठव को उतना महत्व नहीं देते थे जितना स्वाभाविक अनुभूतियों की सहज अभिव्यक्ति को —

१—रवीन्द्रनाथ ठाकुर, मेघनाद–वध का हिन्दी अनुवाद—भूमिका–पृ० १५७ झाँसी–प्रथम संस्करण सं० १९८४।

कबि न होउँ नहि चतुर प्रबीनू । सकल कला सप बिद्या हीनू ।
आखर अरथ अलङ्कृति नाना । छन्द प्रबन्ध अनेक विधाना ।
भाव भेद रस भेद अपारा । कबित दोप गुन बिबिध प्रकारा ।
कबित बिबेक एक नही मोरें । सत्य कहो लिखि कागद कोरे ।
भनिति मोरि सब गुन रहित बिस्वबिदित गुन एक ।
सो बिचारि सुनहहि सुमति जिन्हके बिमल बिबेक । ११०

इसम तुलसी ने विनम्रता प्रदर्शन के लिए जो बाते कही है उनसे उनका दृष्टिकोण भी स्पष्ट हो जाता है । 'मानस' इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि तुलसी को नाना कलाओ, विद्याओं तथा अलकारशास्त्रो की पूरी जानकारी थी, परन्तु इस ज्ञान द्वारा चमत्कार प्रदर्शन की उनकी प्रवृत्ति नहीं थी । प्रतिभावान कवि का यही लक्षण है । अत कोरे कागज' वाले महाकवि की कविता का 'विश्व विदित गुन' यही है कि उसम अपने आराध्य के प्रति अपनी आस्था, श्रद्धा आर उत्सग को अत्यत मामिकता और सच्चाई से व्यक्त किया गया है । सच्चाइ और पूर्ण आत्माभिव्यक्ति के आगे उन्हाने काव्य कौशल को अधिक महत्व नही दिया है ।

तुलसी की काव्य प्रतिभा की एक विशेषता उनके 'सग्रह और त्याग' की प्रवृत्ति मे दिखाई पडती है । ज्ञान भाडार और अभ्यास से भी कविता लिखी जा सकती है किन्तु महाकाव्य तो तभी लिखा जाता है जब कवि की प्रतिभा मे उचित और आवश्यक वस्तुओं और तत्त्वो के ग्रहण तथा अनुचित और अनावश्यक के त्याग की क्षमता होती है । तुलसी ने 'मानस' म अपने उद्देश्य के अनुरूप इस सग्रह ओर त्याग की क्षमता का अद्भुत परिचय दिया है । उन्होने सन्तो के परिचय म स्वय इस पहिचान का उल्लेख किया है —

तेहि ते कछु गुन दोष बखाने । सग्रह त्याग न बिनु पहिचाने ।

तुलसी ने 'मानस' मे कथानक के सघटन, मार्मिक स्थलो की योजना, सवाद, तत्त्व निरूपण और भाव व्यजना मे इस हस प्रवृत्ति का पूर्ण परिचय दिया है । उनकी कथा का मूल आधार वाल्मीकीय रामायण और दृष्टिकोण का आधार अध्यात्म-रामायण है, किन्तु कथानक के अनेक अवयवा को उन्होंने अन्य ग्रंथो से भी लिया है ओर विचार सग्रह भी उन्होंने 'नाना पुराण निगमागम' तथा कुछ इधर उधर से किया है । अपने उद्देश्य के अनुरूप जिन तत्त्वों को उन्होंने जहाँ से भी पाया है निस्संकोच उनका सग्रह किया है । यही कारण है कि उनका 'मानस' काव्य के साथ धमग्रथ भी बन गया है । किन्तु यहाँ यह बात भी ध्यान म रखने की है कि तुलसी ने विभिन्न स्रोतों से गृहीत तत्त्वों को अपने

उद्देश्य के रग म इस प्रकार रँग दिया है कि वे उनके अपने हो गये हैं। अपनी सारग्राहिणी प्रतिभा के कारण ही वे ऐसा करने म सफल हो सके हैं। विभिन्न स्थानों से विविध तत्वो का सग्रह करके भी उन्होंने मानस को सग्रह ग्रथ नही बनाया, बल्कि उन्ह इस प्रकार नियोजित किया है और उनम अपने विचार और भावनाओ का मिला कर इस तरह का रासायनिक परिवर्तन उत्पन्न कर दिया है कि नवीन वातावरण मे वे बिल्कुल नये लगते हैं।

'मानस' के कवि की अद्भुत प्रतिभा का दर्शन सबसे अधिक उसका समन्वय शक्ति मे होता है। मानवता और लोकहित के महान आदर्श से अनुप्राणित महात्माओ मे सकीणता और मर्यादाहीनता नहीं होती, तुलसी उदारचेता हैं और विविध विरोधी मतो, दर्शनो, साधना मार्गो, अभिव्यक्ति-प्रणालिया और व्यवस्थाओ के समुचित सम वय द्वारा समाज का बिखरी शक्तियों को सघटित करके सशक्त समाज की रचना म विश्वास करते ह। हिन्दी के कवियों मे यह सम वय शक्ति जितनी अधिक तुलसी मे दिखाइ पडती है उतनी अन्य किसी म नहीं। इस सम्बन्ध म आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है, 'उसम (मानस मे) केवल लोक और शास्त्र का ही समन्वय नहीं है, वैराग्य और गार्हस्थ्य का, भक्ति और ज्ञान का, 'भाषा' और सस्कृत का, निर्गुण और सगुण का, पुराण और काव्य का, भावावेग और अनासक्त चिन्तन का, ब्राह्मण और चाण्डाल का, पडित और अपडित का समन्वय रामचरितमानस म आदि से अ त तक है, उसमे दो छोरों पर जाने वाली परा कोटियो को मिलाने का प्रयत्न है। इस महान समन्वय का आधार उन्होंने रामचरित को चुना है"[1]। 'मानस' की अभूतपूर्व सफलता का कारण उनकी वही समन्वयतात्मक प्रतिभा है।

२—गुरुता, गभीरता और महानता

महाकाव्य के लिए जिस गुरुत्व, गाभीर्य और महत्ता की आवश्यकता होती है, रामचरितमानस म वह पूर्ण मात्रा मे वर्तमान है। उसमे जीवन-मूल्यो का जो विवेचना की गयी है और उसका जो प्रतिमान स्थिर किया गया है वह सार्वभौम और सार्वकालिक है। उन जीवन मूल्यो के कारण ही 'मानस' भारतीय साहित्य का गौरव ग्रन्थ बन गया है। उसमे कवि के बौद्धिक धरातल की ऊँचाई और चरित्रो के विराट् व्यक्तित्व के कारण हिमालय के उच्च हिमाच्छादित महिमामण्डित शिखरो जैसी मन को आश्चर्य, श्रद्धा और समान से भर देने वाली उच्चता और विशालता की प्रतिष्ठा हुई है। इसी

१—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी—हिन्दी साहित्य—पृ० २३५, दिल्ली १९५२।

तरह तत्त्वचिन्तन, दार्शनिक विवेचन, मानवता के उत्कष की मगलाशा, लोक हित की उदात्त भावना और शिवेतर क्षय की कामना द्वारा तुलसी ने 'मानस' मे वह गुरुता उत्पन्न कर दी है जो विश्व साहित्य के कुछ इने गिने महाकाव्यो मे ही दिखलाई पडती है। कहा जाता है कि 'मानस' का उपक्रम और उपसहार काव्य कला की दृष्टि से अनावश्यक और प्रचारात्मक हे किंतु यदि काव्य कला को 'कला कला के लिए' के सिद्धान्त से न देखकर उच्चतम लक्ष्य की प्राप्ति के साधन के रूप मे लिया जाय तो 'मानस' के आदि और अत के अश अनावश्यक नही प्रतीत होगे। सच पूछा जाय तो रामचरितमानस के गौरव का कारण बहुत कुछ ये ही अश हैं। कहा भी जाता है कि मानस के बालकाण्ड के आदि और उत्तरकाण्ड के अन्त को जो अच्छी तरह जान ले या हृदयगम करले वही पूरा सन्त है। बात यह है कि 'मानस' मे जिन जीवन मूल्यो की स्थापना की गई है वे दो रूपो मे अभिव्यक्त हुए हैं, चिन्तन, विवेचन तथा उपदेश के रूप मे और पात्रो के व्यावहारिक क्रिया कलाप के रूप मे। पहले प्रकार का तत्त्व निरूपण प्रधानतया उसके उपक्रम और उपसहार मे और दूसरे प्रकार का जीवन दर्शन प्रमुखत आधिकारिक कथा के भीतर दिखाई पडता है। दोनों का समान महत्व है और दोनों के योग से ही इस महाकाव्य मे इतनी गुरुता आ सकी है। वस्तुत 'मानस' के उस रूप की कल्पना भी नहीं की जा सकती जिसमे उसके उपक्रम और उपसहार वाले अश न हो या काट छाँट कर रखे गये हो। गभीर विचारको, सन्तो और भक्तों के लिए इन्हीं अशो मे 'मानस' का सार तत्त्व निहित है। किन्तु सामान्य जनता, गृहस्थ और रसज्ञ लोगो के लिए आधिकारिक कथा के भीतर ही जीवन के स्थिर मूल्यों की प्रतिष्ठा कर दी गई है।

'मानस' का तत्त्वचिन्तन शास्त्रीय ढग का शुष्क और रसहीन नहीं है। कवि और दार्शनिक की वक्तव्य वस्तु तो एक ही होती है पर दोनो की अभिव्यञ्जना पद्धति मे अन्तर होता है। तुलसी कोरे कवि ही नहीं, दार्शनिक भी है, किन्तु उन्होने तत्त्वचिन्तन को भी काव्यात्मक ढग से उपस्थित किया है। सप्तम सोपान मे ज्ञान और भक्ति का भेद और प्रथम सोपान में राम नाम और राम कथा का महत्व उन्होने रूपकात्मक शैली मे उपस्थित करके दार्शनिक और आध्यात्मिक बातो को भी सर्वसुलभ बना दिया है। उनके दार्शनिक विवेचन का लक्ष्य अपने पाण्डित्य और शास्त्र ज्ञान का प्रदर्शन करना नहीं है, जैसा सस्कृत के अनेक शास्त्रकाव्यो और श्लेषकाव्यों मे दिखलाई पडता है। उन्होने तो अपने विचारों और अनुभूतियों को अपने अन्तरतम

की प्रेरणा और लोक कल्याण की दृष्टि से अभिव्यक्त किया है। यदि ज्ञान प्रदर्शन ही उनका लक्ष्य होता तो अपने युग के अन्य विद्वानों की तरह वे भी संस्कृत भाषा में शास्त्र या काव्य की रचना करते। अतः स्पष्ट है कि उनके तत्त्व निरूपण का लक्ष्य अपने पाण्डित्य का घटाटोप उपस्थित कर पाठकों को चमत्कृत करना नहीं था। इस प्रकार तत्त्व निरूपण और दार्शनिक विवेचन 'मानस' का दूषण नहीं भूषण ही है, क्योंकि इससे इस महाकाव्य की बौद्धिक ऊँचाई और गुरुत्व में अत्यधिक वृद्धि हुई है।

'मानस' में जितनी गुरुता और ऊँचाई है उतनी ही प्रशान्त गम्भीरता भी है। उसकी गहराई का अनुमान इसी से किया जा सकता है कि उसे जितनी बार पढ़ा जाय उतनी ही बार उसमें नवीन भाव दर्शन और नये ज्ञान का अनुभव होता है। यही नहीं, प्रत्येक व्यक्ति, चाहे वह अपढ़ गँवार हो या प्रकाण्ड पण्डित, साहित्यिक हो या राजनीतिक नेता, अपने अपने ढंग से उसका रस लेता या उपयोग करता है। वस्तुतः 'मानस' मानव मात्र के अन्तरतम का स्पर्श करने वाला काव्य है। जब गम्भीर से गम्भीर हृदय वाला व्यक्ति भी उसमें गोता लगा कर नहीं अघाता तो अवश्य ही 'मानस' की गहराई की थाह नहीं हो सकती। 'मानस' की गम्भीरता वस्तुतः तुलसी के हृदय की गम्भीरता है जिसे उन्होंने जन जन के हृदय में भर देना चाहा है। उन्होंने उस 'अगाधता' का स्वयं उल्लेख किया है —

सुमति भूमि थल हृदय अगाधू। बेद पुरान उदधि घन साधू।

× × ×

मेधा महिगत सो जल पावन। सकिलि श्रवनमग चलेउ सुहावन।
भरेउ सुमानस सुथल थिराना। सुखद सीत रुचि चारु चिराना।–१–१६

इस गहरे 'मानस' में राम की महिमा का अथाह और अमृतोपम जल भरा हुआ है। ऐसे 'मानस' की गम्भीरता को ज्ञान की दृष्टि से ही देखा जा सकता है —

सप्त प्रबन्ध सुभग सोपाना। ज्ञान नयन निरखत मन माना।
रघुपति महिमा अगुन अबाधा। बरनब सोइ बर बारि अगाधा।
राम सीअ जस सलिल सुधा सम। उपमा बीचि बिलास मनोरम।–१–३७

रामचरित मानस की इस अथाह गम्भीरता का रहस्य यह है कि उसकी रचना ही आत्यन्तिक श्रद्धा भाव से हुई है और कवि ने पाठकों से भी यह निवेदन किया है कि वे सब प्रकार का संशय दूर कर आदर और श्रद्धा के साथ राम कथा सुनें —

जे श्रद्धा सबल रहित नहि सन्तन कर साथ।
तिन कहुँ मानस अगम अति जिन्हहि न प्रिय रघुनाथ ॥ १—३८

'मानस' की मूल भावना भक्ति का है और उस भक्ति के आलम्बन हैं परम श्रद्धास्पद भगवान राम। ऐसी भक्ति मे श्रद्धा का स्थान सर्वोपरि होता है। इसीलिए तुलसी ने प्रारम्भ मे ही शिव पार्वती को विश्वास और श्रद्धा का मूर्तरूप मान कर उनकी वन्दना की है। 'भवानी शकरो वन्दे श्रद्धा विश्वास रूपिणौ।' तुलसी के अनुसार 'मानस' यदि मानसरोवर है तो स त उसके चतुर्दिक के वन उपवन है, और श्रद्धा वसन्त ऋतु की तरह स तो के हृदय को प्रफुल्लित और विकसित करती रहती है —

सन्त सभा चहु दिसि अँवराई। श्रद्धा रितु वसत सम गाई।

इस प्रकार मानस' श्रद्धा और भक्ति का गम्भीर प्रशान्त सागर है। प्रेम, वीरता, दया, क्षमा, उदारता, कर्तव्य परायणता आदि भाव तो उस सागर क ऊपरी तल पर दिखाई पडने वाली उत्ताल तरगो के समान है। महात्मा गाधी ने मानस की इस गम्भीरता का रहस्य बतात हुए लिखा है, 'तुलसीदास की श्रद्धा अलौकिक थी। उनकी श्रद्धा ने हिन्दू ससार को रामायण के समान ग्रथरत्न भेट किया है। रामायण विद्वत्ता से पूर्ण ग्रन्थ है किन्तु उसकी भक्ति के प्रभाव के मुकाबिले उसकी विद्वत्ता का कोइ महत्व नहीं रहता। श्रद्धा और बुद्धि के क्षेत्र भिन्न भिन्न हैं। श्रद्धा से अन्तज्ञान, आत्मज्ञान की वृद्धि होती है, इसलिए अन्त शुद्धि तो होती ही है। बुद्धि से बाह्य ज्ञान की, सृष्टि के ज्ञान की वृद्धि होती है परन्तु उसका अ त शुद्धि के साथ कार्य कारण जेसा कोई सम्ब ध नहीं रहता। मनुष्य यह श्रद्धा कैसे प्राप्त करे, उसका उत्तर गीता मे है, रामचरितमानस म है।"[1] गान्धी जी ने श्रद्धा का अन्त शुद्धि का साधन मानकर ही रामचरितमानस का महत्त्व सिद्ध किया है किन्तु सामान्य जनता के लिए उसकी श्रद्धा भावना जीवन के व्यावहारिक क्षेत्रो मे भी बराबर काम देती है। 'मानस' की श्रद्धा प्रेम और सेवा से अविछिन्न है। इस तरह श्रद्धा, प्रेम और सेवा की गहरी नींव पर ही तुलसी का यह विशाल काव्य प्रासाद निमित हुआ है जो लोक जीवन का 'मगल भवन' है।

श्रद्धा भक्ति के अतिरिक्त उत्साह और रति भावो का भी 'मानस' मे व्यापक प्रसार दिखाई पडता है। 'मानस' के मूल आधार ग्रथ वाल्मीकि रामायण और अध्यात्म रामायण हैं और उन दानो म दो भिन्न भावनाये प्रमुख हैं।

१—वही, पृ० २३७।

वाल्मीकि रामायण में उत्साह भावना अपने चरम रूप में प्रतिष्ठित हुई है तो अध्यात्म रामायण में श्रद्धामूला भक्ति की आद्यन्त महिमा का गान हुआ है। 'मानस' में इन दोनों का समन्वय किया गया है। उसमें श्रद्धा भावना का आधार भगवान राम का वह मर्यादा पालक सगुण रूप है जो उत्साह का गम्भीर समुद्र प्रतीत होता है। वस्तुत तुलसी ने 'मानस' में श्रद्धा और उत्साह को अन्योन्याश्रित बना दिया है और परब्रह्म के लोकरक्षक अवतार को अपने काव्य का नायक बनाकर उत्साह और श्रद्धा के सागर का तृषित भारतीय जनता के द्वार द्वार तक पहुँचा दिया है। गान्धी जी ने केवल श्रद्धा भावना के आधार पर ही गीता और रामचरितमानस की तुलना की है, किंतु एक और दृष्टि से ये दोनों महान ग्रंथ तुलनीय हैं। दोनों में ही उत्साहपूर्ण कर्मण्य जीवन की गंभीर वाणी मुखरित हुई है। 'मानस' के सप्तम सोपान में राम ने भरत तथा अवधवासियों को ठीक उसी प्रकार के उपदेश दिये हैं (देखिये मानस ७–२७ से ४७ तक) जैसे गीता में कृष्ण ने अर्जुन को। दोनों ही में भगवदार्पित कर्म करने का उपदेश दिया गया है। उत्साह का यही सर्वोत्कृष्ट रूप है, क्योंकि इस भावना द्वारा अमंगल या पाप कर्म हो ही नहीं सकता। राम का समस्त जीवन ऐसी ही धर्मशीलता और उत्साह से भरा हुआ है जिनकी परिणति रामराज्य की स्थापना में हुई है। आधुनिक मनोवैज्ञानिकों के अनुसार मानव मन की सर्वप्रमुख प्रवृत्ति 'काम' की है, जिसे साहित्य में रति भाव कहा जाता है। यही मूल प्रवृत्ति अन्य अनेक भावनाओं को प्रेरित और उद्दीप्त करती तथा नाना रूपों में अभिव्यक्त होती है। 'मानस' में उत्साहमय कर्मों का जो समारोह दिखाई पड़ता है उसके मूल में भी राम और सीता का गंभीर प्रेम है। इसका प्रमाण राम के वे वचन हैं जो उन्होंने हनुमान द्वारा सीता से संदेश रूप में कहवाये थे —

कहेहू ते कछु दुख घटि होई। काहि कहौं यह जान न कोई।
तत्त्व प्रेम कर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एकु मनु मोरा।
सो मनु रहत सदा तोहि पाहीं। जानु प्रीति रस एतनेहि माहीं। ५–१५

और सचमुच ही 'मानस' में राम ने अपने प्रेम का अमर्यादित प्रदर्शन कहीं नहीं किया है, क्योंकि वे कहने से अधिक करने में विश्वास रखते हैं। अत राम कथा का मेरुदण्ड राम का गंभीर और प्रशान्त रति भाव ही है जो कहीं गुरुजनों के प्रति श्रद्धा, कहीं दाम्पत्य प्रेम, कहीं मैत्री भाव, कहीं प्रजा प्रेम, कहीं भक्त वत्सलता, कहीं छोटों के प्रति स्नेह, कहीं उदारता आदि के रूप में अभिव्यक्त हुआ है और जो उनके महान उत्साहमय जीवन का मूल

प्रेरक है । इस तरह 'मानस' में श्रद्धा और भक्ति का आधार तथा उत्साह का प्रेरणा स्रोत रतिभाव है । इन तीनों भावो के समन्वय से उसमे वह गहराई दिखाई पडती है जो किसी भी उच्चतम कोटि के महाकाव्य मे हो सकती है।

महाकाव्य मे जिस तरह विचारो और तत्त्वचिन्तन की गुरुता तथा भावनाओ और अनुभूतियों की व्यापकता और गहराई आवश्यक होती है, उसी तरह महानता भी उसका एक अनिवार्य लक्षण है । महाकाव्य की महानता प्रधानतया उसके विषय, उद्देश्य और चरित्रो के जीवन म दिखाइ पडती है। इस सम्बन्ध मे एबरक्रोम्बी का मत है कि जिस काव्य मे किसी युग विशेष के सम्पूर्ण जीवन मूल्यो की प्रतिष्ठा होता है उसम ऐसे एक या अनेक चरित्रो की अवतरणा भी की गयी रहती है जिनमे उस युग मे मान्य समस्त गुणा और दोषों को मूर्त किया गया रहता है। महाकाव्य म कथानक ऐसा होना चाहिए जिसमे उसके महान उद्देश्या और जीवन मूल्यो के आश्रय महान चरित्र भी हो। इसका अथ यह है कि महाकाव्य का विषय भी अत्यन्त महत्वपूर्ण होना चाहिये। कहा जाता है कि होमर ने द्वितीय श्रेणी का विषय ले कर प्रथम श्रेणी का महाकाव्य लिखा, किन्तु एबरक्रोम्बी इससे सहमत नही हैं । उसके अनुसार बिना प्रथम श्रेणी के विषय केप्रथम श्रेणी का महाकाव्य लिखा ही नही जा सकता[1]। एबरक्रोम्बी का यह मत बिल्कुल सही है, किन्तु इस सम्बन्ध मे यह बात भी ध्यान मे रखने की है कि प्रथम श्रेणी का विषय लेकर अशक्त कवि द्वितीय या तृतीय श्रेणी की काव्य रचना भी करते है । अत महाकाव्य मे विषय का महत्वपूर्ण होना तो आवश्यक है किन्तु इसके साथ ही कवि का कल्पना का विराट् और व्यक्तित्व का महान होना भी आवश्यक है, क्योंकि बिना उस कल्पना के कवि न तो विषय की महानता को सँभाल सकता है, न महान आदर्शा और गंभीर जीवन मूल्यो का प्रतिष्ठा तथा महान चरित्रो की अवतारणा ही कर सकता है।

रामचरित मानस के उद्देश्यों की महानता पर विचार किया जा चुका है। उसके नायक राम तथा उनके पक्ष के अन्य चरित्र 'मानस' मे प्रतिष्ठित जीवन मूल्या और आदर्शों के प्रतीक है। उसी तरह युग युग के मानव मे जितने भी पाप, असामाजिकता और बुराइयाँ हो सकती हैं उनको तुलसी ने रावण तथा उनके पक्ष के अन्य राक्षसो म मूर्त किया है । वस्तुत राम कथा का विषय ही इतना महान है जिसमें प्रत्येक युग के सत् असत् पक्षा का प्रतिबिम्ब देखा जा सकता है । इसी कथा को लेकर वाल्मीकि ने अपने युग के अनुरूप

1—Lascelles Abercrombie —The Epic p 50—51

सदसद् पक्षों के संघर्ष तथा तत्कालीन जीवन मूल्यों को चित्रित किया है और उसी को लेकर विमलसूरि, कालिदास, कुमारदास, भवभूति, स्वयम्भू, पुष्पदन्त, क्षेमेन्द्र, जयदेव, दामोदर मिश्र, राजशेखर आदि कवियों ने जो अनेकानेक नाटक, महाकाव्यों तथा काव्यों की रचना की। किन्तु कल्पना शक्ति की विलक्षणता के फलस्वरूप ही कालिदास, भवभूति स्वयम्भू और तुलसी अपने ग्रंथों में विषय की गंभीरता को संभालने या और भी प्रगाढ़ बनाते हुए अपने अपने युग के अनुरूप महान आदर्शों और जीवन मूल्यों की प्रतिष्ठा करने में जितना सफल हुए हैं उतना अन्य कवि नहीं हो सके। मानस में सत् और असत् के चिरन्तन संघर्ष और सत् पक्ष की पूर्ण प्रतिष्ठा का जो स्वरूप तुलसी के 'मानस' में दिखलाई पड़ता है वह वाल्मीकि को छोड़ अन्य किसी कवि के काव्य में नहीं मिलता। तुलसी ने द्रष्टा ऋषि की भांति रामराज्य का रूप मानो भारत को जो मंगल स्वप्न देखा वह आज भी भारत को प्रेरणा और चिन्तकों का भी आदर्श स्वप्न है। ऐसा विराट् कल्पना का कवि ही एक ओर तो राम के विश्व रूप की कल्पना कर सकता है और दूसरी ओर उन्हें सामान्य मानव की तरह प्रिया विरह में और भाई के घायल होने पर फूट फूट कर विलाप करते हुए भी दिखा सकता है। तुलसी ने अपने विषय की गंभीरता को तो निभाया ही है अपने काव्य के नायक को इतना विराट् बना दिया है जिसका शीश स्वर्ग का स्पर्श करता है और पाँव धरती में गहरे तक गड़े हुए हैं। वह विराट् राम तुलसी की कल्पना के ही नहीं, उनकी अन्तरात्मा की अनुभूतियों और विश्वासों के राम हैं। कल्पना तो उनकी मूर्ति निर्मित करने में सहायिका भर हुई है। इस तरह राम के विराट् व्यक्तित्व में तुलसी का महान व्यक्तित्व भी अभिव्यक्त हुआ है।

३—महत्कार्य और समग्र जीवन का चित्रण

महाकाव्य में उद्देश्य की महानता के अनुरूप उसका 'कार्य' भी महान होता है। कार्य की अवस्थाओं में यही अन्तिम अवस्था 'फलागम' है। रामचरितमानस में 'कार्य' रामराज्य की स्थापना है। नाट्यीय कार्यावस्थाओं की दृष्टि से फलागम भी यही है। आलंकारिकों ने महाकाव्य में नायक का अभ्युदय आवश्यक माना है। तुलसी ने रावण वध और सीता उद्धार के बाद राम का राजतिलक और रामराज्य की सुख समृद्धि का वर्णन करके आधिकारिक कथा को समाप्त कर दिया है। इस तरह 'मानस' में नायक का अभ्युदय पूर्ण रूप में दिखाया गया है। वाल्मीकीय रामायण तथा अध्यात्म रामायण में नायक

के अभ्युदय के बाद कथा एक मोड और लेती है और सीता निवासन के बाद अश्वमेध यज्ञ, सीता की पुन सतीत्व परीक्षा और भाइयो और अयोध्यावासियों सहित राम के स्वर्गारोहण का वणन हुआ ह। राम के राज्यारोहण क बाद की घटनाओ का जो वर्णन पद्मपुराण के पाताल खण्ड के प्रारम्भ मे ६८ अध्यायो मे हुआ है उसम अश्वमेध यज्ञ के समय वाल्मीकि द्वारा सीता राम के सम्मुख लायी जाती ह और बिना सतीत्व परीक्षा के ही राम उन्ह स्वीकार कर लेते हैं। फिर दोनो बहुत दिनो तक साथ रह कर राज्य भोग करते हैं। भवभूति ने भी 'उत्तर रामचरित' मे कथा को पद्मपुराण के ही अनुसार सुखान्त बनाया है यद्यपि उन्होने सतीत्व परीक्षा का विधान ही रखा है। तुलसी ने रामकथा के उत्तराश को अपने काव्य मे स्थान ही नही दिया है, क्योकि उनके आधार ग्रथ वाल्मीकि रामायण और अध्यात्म रामायण थे जिनमे राम कथा दुखान्त है। सीता को जगज्जननी और लक्ष्मी का अवतार मान लेने पर उनकी निवासन यातना और पुन सतीत्व परीक्षा तुलसी क उद्देश्य के अनुरूप नही थी, चाहे उसके बाद पद्मपुराण और उत्तर रामचरित की तरह राम सीता का पुनर्मिलन हो क्यों न करा दिया जाय। इसलिए उन्होने राम के राजतिलक के बाद की अप्रिय घटनाओ को छोड देना ही उचित समझा। उनका उद्देश्य सत् पक्ष की विजय और असत् पक्ष की पराजय तथा रामराज्य की स्थापना दिखा कर लोक मगल का आदर्श उपस्थित करना था। इस दृष्टि से कथा को आगे बढाने से कोई लाभ नही था क्योकि रामराज्य की स्थापना द्वारा ही राम का पूर्ण अभ्युदय हो जाता है। भारतीय आलकारिको के अनुसार महाकाव्य मे नायक का अभ्युदय दिखाना आवश्यक भी है। अत इस दृष्टि से भी तुलसी ने रामकथा को दु खान्त बनाना उचित नही समझा। निष्कर्ष यह कि राम की राज्य-प्राप्ति और आदर्श राज्य की स्थापना ही 'मानस' की कथा का 'कार्य' है। उसके पूर्व जिन महत्वपूर्ण घटनाओ का विराट् आयोजन किया गया है, वे सब इस 'कार्य' के कारण के रूप मे है। धनुष भग, राम विवाह, राम वनवास, सीता हरण, बालिवध, सेतुबन्धन, लकादहन, राम रावण युद्ध और रावण वध आदि घटनाओ की स्वाभाविक परिणति राम द्वारा सीता की प्राप्ति और आदर्श राज्य की स्थापना के रूप मे हुई है। अत इन महान कारणो से उद्भूत 'मानस' का जो कार्य है वह भी महत् है।

राम कथा की सबसे महत्वपूर्ण घटना राम रावण युद्ध और रावण का वध है। वाल्मीकीय रामायण और अध्यात्म रामायण मे रावण के अत्याचार से पीडित पृथ्वी तथा देवताओ की प्रार्थना पर विष्णु के राम के रूप मे अवतरित होने की

बात कहा गया है और रामचरितमानस म न रान वन र न। प्रधान कारग रावण क अन्याचार से पृथ्वा का सन्त्रस्त होना हा बनाया गया है। अत जिस उद्देश्य से राम का अवतार हुआ उसको पूरा करने के निमित्त होने वाला युद्ध ही राम कथा की सबसे बडी घटना है, इस विषय म दो मत नहीं हो सकते। वाल्मीकि रामायण और अध्यात्म रामायण म राम-रावण युद्ध के बाद राम के अयोध्या लौटने और उनके राज्याभिषेक का घटना का वर्णन युद्ध काण्ड म ही कर दिया गया है और उत्तरकाण्ड म राक्षस वश वर्णन, रावण चरित तथा अन्य अवान्तर कथाओं के बाद राम के जीवन की अन्तिम घटनाओं का वर्णन किया गया है। अत जिस उद्देश्य से रामावतार हुआ था, वह तो युद्ध काण्ड के अन्त म ही पूरा हो जाता है और उसके बाद की घटनाये अनावश्यक और उद्देश्य हीन प्रतीत होती हैं। इसी आधारपर अनेक विद्वानो का यह अनुमान है कि वाल्मीकि रामायण के उत्तरकाड का अधिकाश प्रक्षिप्त है। तुलसी का ध्यान इस तथ्य की ओर अवश्य गया था। इसी कारण उन्होने छठे सोपान (लका काड) मे रावणवध कराया है और राम के अयोध्या आगमन, राज्याभिषेक, रामराज्य की स्थापना आदि का वणन सप्तम सोपान मे किया है। उन्होने रामावतार का उद्देश्य पूरा करने वाली घटना का वर्णन करके कथा समाप्त कर दी है। इस तरह राम रावण युद्ध और रावण वध की घटना का जो महत्व और प्रभाव 'मानस' म दिखाई पडता है वह राम कथा विषयक अन्य किसी काव्य मे नहीं है। अत राम रावण युद्ध और रावण वध ही वह महती घटना या महत्कार्य है जो राम कथा के केंद्र म प्रतिष्ठित है और तुलसी ने उसके महत्व को समझ कर ही कथा को उसके बाद अधिक नहीं बढाया और रामराज्य या धमराज्य का स्थापना का, जो रावण वध का ही स्वाभाविक परिणाम है वर्णन करके कथा समाप्त कर दी है।

प्राचीन भारत के इतिहास म राम रावण युद्ध की घटना का वही महत्व है जो इन्द्र वृत्र युद्ध या भारती युद्ध (कौरव पाडव युद्ध) का है। इन्द्र वृत्र की कथा तो वैदिक साहित्य तक ही सीमित रह गयी, किन्तु महाभारत और रामायण मे सुरक्षित रह कर राम रावण और कौरव पाडव के युद्ध की कथाएँ हजारो वर्षों से भारतीय साहित्य और भारतीय जीवन को निरतर प्रभावित करती आयी हैं और आज भी कर रही हैं। राम रावण युद्ध ऐतिहासिक सत्य है या कवि कल्पना, इस विवाद म पडने से यहाँ कोई लाभ नहीं है। चाहे वह ऐतिहासिक सत्य हो या, जैसा कुछ विद्वान अनुमान करते हैं, केवल रूपक कथा (एलेगोरी) हो, हर दशा में वह एक महान सत्य है, क्योंकि हजारो वर्षों से वह घटना भारतीय सस्कृति को प्रकाश देती आ रही है। उस घटना

का आश्रय करके जो पहला काव्य लिखा गया वही आदि महाकाव्य के रूप में मा य हुआ, इसी से उसकी महानता का अनुमान किया जा सकता है। तुल्सी ने भी उसी घटना को कद्र बिन्दु बनाकर 'मानस' की रचना की है। यही नहीं, उन्होंने राज्याभिषेक क बाद कथा को आगे न बढाकर उस महती घटना का प्रभाव बिखरने नहीं दिया है। रामराज्य की स्थापना को तुल्सी ने कितना महत्त्व दिया है, इसका अनुमान तो इसी से किया जा सकता है कि राम राज्य की सुख सम्पदा का वर्णन वाल्मीकि रामायण (उत्तर काण्ड सग ९९) और अध्यात्म रामायण (युद्ध काण्ड १६) मे केवल कुछ ही छ दों मे किया गया है जब कि मानस मे उसका वणन ११ दोहो (कडवको) में हुआ है। अत कथा की केन्द्रीय घटना की महानता की दृष्टि से राम रावण युद्ध, रावण वध और रामराज्य की स्थापना ही मानस का महत्काय है। इस प्रकार चाहे नाटको की अर्थ प्रकृतियो की दृष्टि से देखे, या कथा की सवप्रमुख घटना की महानता की दृष्टि से, दोनो ही प्रकार मानस मे महा काव्योचित 'महत्कार्य' की सुन्दर योजना दिखलाइ पडती है।

समग्र युग और समग्र जीवन के वैवि यपूण चित्रण की दृष्टि से भी राम चरितमानस उत्कृष्ट कोटि का महाकाव्य सिद्ध होता है। मानस मे यह चित्रण इतने रूपो मे हुआ है—

१ राम के जीवन चरित के अधिकाश भाग का चित्रण।

२ मानव जावन के विविध पक्षो और नानाविध कार्या का व्यापक रूप मे वर्णन।

३ तुलसी के युग जीवन का प्रभाव।

रामचरितमानस अपभ्रश क चरितकाव्यो के समान जीवन चरित के ढग का काव्य है। अत उसम चरित नायक क जन्म के पूर्व की कुछ घटनाओं से लेकर उनके जीवन की पूण अभ्युदय तक की घटनाओ का विस्तृत वर्णन किया गया है। यद्यपि तुल्सी अपने उद्देश्य की अननुकूलता के कारण राम के उत्तर कालीन जीवन का वर्णन न करक चरितकाव्यो स हट कर शास्त्रीय महाकाव्या के निकट पहुँच गये हैं, फिर भी उ होने एक लम्बी अवधि की कथा कही है, जिसम राम के जीवन की प्राय सभी महत्त्वपूर्ण घटनाये आ गयी है। तुलसी की दृष्टि राम क जीवन के उस अश पर थी जिसम सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य रावण वध और धम राज्य की स्थापना है। शिशुपाल वध या किरातार्जुनीय की तरह नायक के जीवन की किसी एक ही महती घटना पर उनकी दृष्टि नही

थी। उनका उद्देश्य केवल काव्य का सौन्दर्य प्रदर्शित करना ही नहीं, राम के जीवन का आदर्श उपस्थित करके लोक चित्त का परिष्कार और उन्नयन करना भी था। अत उन्होंने जीवन की प्रत्येक परिस्थिति म राम को रख कर उनके आचरण की उत्कृष्टता को आदर्श रूप म दिखाने का प्रयत्न किया है। फलत मानस मे महाकाव्योचित घटना विस्तार और जीवन व्यापारो का वैविध्य दिखाई पडता है।

भारतीय आलकारिको ने महाकाव्य म वस्तु वर्णन और भाव व्यंजना के लिए जो सूची प्रस्तुत की है, उसका आशय यही है कि महाकाव्य में जीवन का समग्र रूप चित्रित हो। जिस काव्य म अधिकाधिक जीवन दशाओ और वस्तु व्यापारो का वर्णन होगा, वह स्वभावत एकांगी, एकपक्षीय या जीवन का खण्ड चित्र उपस्थित करने वाला नही होगा। इस दृष्टि से रामचरितमानस म जीवन के विविध पक्ष, रूपो और अवस्थाओ का जितना सर्वांगीण चित्रण हुआ है उतना हिन्दी के अन्य किसी काव्य म नहीं दिखाई पडता। पृथ्वीराजरासो और आल्हखण्ड का प्रधान विषय उत्साहपूर्ण वीरता है तो पद्मावत का प्रधानतया प्रेम। 'मानस' म वीरता प्रेम, शोक, विस्मय, वात्सल्य, भक्ति वैराग्य, करुणा, दया, औदार्य, लोकानुरक्ति, दीनता और धर्म प्रेम आदि विविध भावो को भिन्न भिन्न परिस्थितियो के बीच रख कर इस तरह दिखाया गया है कि उसमे पाठको के वस्तुगत और आत्मगत ज्ञान का अत्यधिक विस्तार तथा विविध जीवन दशाओ म पात्रो के साथ उनका तादात्म्य या विकर्षण होता चलता है। इसी बात को ध्यान म रखकर प० रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है, "यहाँ पर यह कहा जा सकता है कि गोस्वामी जी मनुष्य जीवन की बहुत अधिक परिस्थितियों का जो सन्निवेश कर सके वह रामचरित की विशेषता के कारण। इतने अधिक प्रकार की मानव दशाओं का सन्निवेश आप से आप हो गया। ठीक है, पर उन सब दशाओं का यथातथ्य चित्रण बिना हृदय की विशालता, भावप्रसार की शक्ति, मर्मस्पर्शी स्वरूपो की उद्भावना और शब्द शक्ति की सिद्धि के नही हो सकता।"[1] वस्तुत यह कवि की कल्पना शक्ति और काव्य प्रतिभा पर निर्भर करता है कि वह जीवन की विविध अवस्थाओं का चित्रण मर्मस्पर्शी और रसात्मक ढग से करता है या आलकारिको द्वारा निर्दिष्ट लक्षणो की खाना पूरी करने के लिए करता है। किसी विशेष कथा से सम्बन्धित घटनाये तो पुराणो मे भी वही होती हैं जो काव्य ग्रथो म होती हैं किन्तु वर्णन शैली के कारण दोनो मे स्वरूप भेद हो जाता है। उसी तरह एक ही कथानक को अपनाने और जीवन व्यापारो का समान रूप म वैविध्यपूर्ण वर्णन करने पर

1 प० रामचन्द्र शुक्ल, गोस्वामी तुलसीदास, पृ० ८५।

भी अशक्त और सशक्त कवि के काव्यो मे आकाश पाताल का अ तर होता है। अत समग्र जीवन के चित्रण का अभिप्राय यह है कि वस्तु यापार वर्णन मे वैविध्य के साथ ममस्पर्शिता और रसात्मकता भी होनी चाहिये। मानस' मे कवि ने वन बिहार मृगया, बलक्रीडा, चन्द्रोदय, प्रभात, सध्या और विप्रलभ आदि का वर्णन परिपाटी पालन की दृष्टि से नही किया है।

तुल्सी ने कथा की स्वाभाविक गति को वस्तु व्यापार वर्णन के मोह मे कहीं भी नष्ट नही होने दिया है ओर न अनावश्यक वस्तुओं और व्यापारो के वर्णन की ओर ही ध्यान दिया है। इसके विपरीत उन्होने जीवन की विविध परिस्थि तियों के मर्मस्पशा स्थलो को पहचान कर उनका विशद् वणन किया है और इतिवृत्तात्मक अशो को सक्षेप मे कहते चले गये हैं। गोस्वामी जी की ग्राह्य और त्याज्य की पहिचान की क्षमना को शुक्ल जी ने उनकी भावुकता कहा है। उनका कहना है कि 'कवि की पूर्ण भावुकता इसम है कि वह प्रत्येक मानव स्थिति मे अपने को डाल कर उसके अनुरूप भाव का अनुभव करे। इस शक्ति की परीक्षा का रामचरित से बढकर विस्तृत क्षेत्र और कहाँ मिल सकता है? जीवन स्थिति के इतने भेद और कहाँ दिखाइ पडते हैं? इस क्षेत्र मे जो कवि सवत्र पूरा उतरता दिखाई देता है उसकी भावुकता को कोइ नही पहुँच सकता हिंदी के कवियों मे इस प्रकार की सर्वागपूण भावुकता हमारे गोस्वामी जी मे ही है जिसके प्रभाव से रामचरितमानस उत्तरी भारत की सारी जनता के गले का हार हो रहा है'[१]। अत भाव व्यञ्जना और वस्तु वर्णन की विविधता, स्वाभाविकता, ममस्पर्शिता ओर रसात्मकता की दृष्टि से रामचरित मानस उच्च कोटि का महाकाव्य सिद्ध होता है।

यही यह देख लेना भी अच्छा होगा कि 'मानस' मे वस्तु व्यापार वर्णन और भाव-व्यञ्जना के कितने रूप दिखलाई पडते हैं। आचार्यों ने मानव जीवन के विविध पक्षों, मानसिक दशाओं, वाह्य परिस्थितियों और मानवीय सम्बन्धो के अधिक से अधिक अवयवों को महाकाव्य मे सन्निविष्ट करने की व्यवस्था दी है। जेसा दण्डी ने कहा है, यदि कथा की स्वाभाविक गति ओर प्रसङ्ग के अनुरूप उपयुक्त अवयवों मे कुछ की कमी या अधिकता हो जाय तो इससे महाकाव्य दोषपूर्ण नहीं माना जा सकता। 'मानस' के वस्तु व्यापार वर्णन में यह बात ध्यान देने की है कि उपर्युक्त वण्य विषयो मे से उद्यान क्रीडा, पान गोष्ठी और जलक्रीडा का वर्णन उसमें नही हुआ है। तुलसी ने विप्रलभ और

१—वही, पृ० ८४।

सयोग श्रृङ्गार का वर्णन भी वैसा नहा किया है जैसा सास्कृत महाकाव्यों म विस्तार के साथ अन्य सर्गो म मिलता है। साथ हा विविध प्राकृतिक दृश्यों का भी मानस म सङ्गोपाङ्ग और सश्लिष्ट वर्णन नहीं हुआ है। महाकाव्य की रूढ़ियो का पालन करने की दृष्टि प्रधान होने से हा कुमारदास ने 'जानकी हरण' म 'कुमारसभव' की तरह राम सीता के सभोग का वर्णन किया है। स्वयभू आदि कविया ने रावण और उसकी पत्नियो का जलक्रीडा, पान गोष्ठी आदि का वर्णन किया है। तुलसी ने अपनी नैतिक दृष्टि और राम के प्रति पूज्य भावना के कारण इस प्रकार के वर्णन नहा किये हैं। इसके विपरीत उन्होंने अनेक ऐसी बातों का वर्णन किया है जिनका आलङ्कारिकों ने उल्लेख भी नहा किया है। 'मानस' में इतने अधिक वस्तु व्यापारो और जीवन दशाओ का वर्णन हुआ है कि सबका उदाहरण देना यहाँ सभव नहीं है। अत सक्षेप म उनका उल्लेख किया जा रहा है —

१ सामाजिक सम्बन्ध, कृत्य, उत्सव आदि—

सन्तानोदय, विवाह, राज्याभिषेक, सामूहिक उत्सव, रीति रिवाज।

२ धार्मिक तथा पौराणिक विश्वासो पर आधारित कार्य और आयोजन—

दक्ष यज्ञ, पुत्रेष्टि यज्ञ, विश्वामित्र का यज्ञ, देवी देवताओं का पूजा।

३ राजनीतिक कार्य—

सेना प्रयाण और सेतुबन्धन, दूतत्व, हनुमान का दौत्य, मन्त्रणा, नगरावरोध, युद्ध, नायक का अभ्युदय, रामराज्य वर्णन, राजनीतिक षड्यन्त्र, राजनीतिक समेलन, प्रतिनिधि द्वारा शासन।

४ प्रकृति चित्रण—

चन्द्रोदय, सूर्योदय, रात्रि, प्रात, सध्या, मध्याह्न, उद्यान, पर्वत, नदी आश्रम, वन, सागर, ऋतु वर्णन (वसन्त, वर्षा, शरद्)।

५ मानसिक दशाओं और भावनाओ का वर्णन—

वात्सल्य, सख्य, दाम्पत्य, श्रद्धा, भक्ति आदि म निहित रतिभाव। उत्साह, शोक, भय, क्रोध, हास, जुगुप्सा और निर्वेद नामक स्थायी भावों की अभिव्यक्ति। विविध सचारी भावो की अभिव्यक्ति।

६ रूप चित्रण—नखशिख वर्णन, रूप वर्णन—

७ देश काल और वातावरण—

(क) नगर वर्णन—अयोध्या, जनकपुर, लका।

(ख) देश—हिमालय, अवध, कैकय देश।

(ग) लका द्वीप

(घ) वातावरण—काम से प्रभावित जगत, रावण के अत्याचार। (ङ) राज सभा। (च) राज भवन। (छ) राजमहल का शयनागार। (ज) अन्त पुर। (झ) हाट बाजार, घाट। (ञ) युग वर्णन—कलिकाल, सतयुग, त्रेता, द्वापर। (ट) तार्थ स्थान—प्रयाग, रामेश्वर, अयोध्या, चित्रकूट, नैमिषारण्य,

८ **आमोद प्रमोद**—मृगया,—नृत्य सगीत, शिशु क्रीडा।

९ **परिगणनात्मक वणन**

क घोडा हाथी वर्णन–(१–३१६) घोडो के भेद (१–२९९)

ख अन्य वाहन (१–२९८ से ३०१) भोज्य पदार्थ (१–९९, ३०५, ३२८, २९)

ग शकुन (१–३०३, २–२०४)

घ पशु पक्षी (२–२३५, ३–२४, ३९, ३२, ३४, ७–२८)

ङ वाद्य गणना (१–३४४)

(च) दहेज की वस्तुएँ (१–१०१, ३३१, ३३२)

ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि रामचरितमानस मे वर्णनात्मक स्थलो की अधिकता है, क्योंकि कवि का उद्देश्य पाराणिक कथाओं की तरह केवल कथा कहना ही नही, वस्तु वर्णन और भाव व्यजना द्वारा रस सृष्टि करना और कथा मे वास्तविता का रग भरना भी है। वस्तु वर्णन मे तुलसी ने महाकाव्यों की प्रबन्धरूढिया का एक सीमा तक पालन करते हुए भी स्वतत्र प्रवृत्ति का परिचय दिया है ओर साथ ही ऐसे वणनो का विधान अधिक किया है जिनसे कथा का वातावरण पाराणिक, अलौकिक अथवा कृत्रिम न होकर वास्तविक प्रतीत हो। इसीलिए उन्होने अपने समय मे लोकप्रचलित रीति रिवाजो, धार्मिक कृत्या, शकुन विचार आदि का भी पर्याप्त वर्णन किया है। इस प्रकार 'मानस' मे मानव जीवन के विविध पक्षो और जगत् के नाना नामरूपात्मक स्वरूपो का उद्घाटन हुआ है।

मानस मे तुलसी के युग का प्रतिबिम्ब

महाकाव्य मे कवि चाहे किसी पाराणिक चरित या घटना का वर्णन करे अथवा किसी प्राचीन ऐतिहासिक वृत्त का, पर उसमे उस कवि के युग का जीवन किसी न किसी रूप मे अवश्य प्रतिबिम्बित होता है। कथावस्तु से अधिक महाकाव्य के वणनात्मक अशो से हमे इस बात का पता चलता है कि कवि के युग की राजनीतिक, सामाजिक ओर धार्मिक अवस्था क्या थी और कवि उस अवस्था से संतुष्ट था या असतुष्ट। जिस तरह महाभारत से भारत के प्रारभिक वीर युग का, रामायण से विकसित वीर युग का, रघुवश और कुमार

सभव से विकासोन्मुख साम त युग का और नवसाहसाङ्कचरित तथा नैषध चरित से ह्रासोन्मुख साम त युग का पूरा चित्र हमारी कल्पना दृष्टि के समुख प्रत्यक्ष हो जाता है, उसी तरह रामचरितमानस म हम तुलसी के युग का समग्र रूप चित्रित दिखाई पडता है। उसम रावण के अत्याचारो तथा उससे सत्रस्त देवताओ और ऋषि मुनियो का जो वर्णन किया गया ह वस्तुत वह मध्ययुगीन विदेशी विधमी शासको द्वारा हिन्दू धम और भारतीय जनता पर किये गये अत्याचारो का ही वर्णन है। तुलसी ने 'मानस' म रामावतार का कारण बताते हुए रावण के अत्याचारो का वणन इस प्रकार किया ह –

कामरूप जानहि सब माया। सपनेहुँ जिनके धरम न दाया।
× × ×
द्विज भोजन मख होम सराधा। सब क जाइ करहु तुम बाधा।
क्षुधाहीन बलहीन सुर सहजेहि मिलिहहि आइ।
तब मारिहो कि छाडिहो भली भाँति अपनाइ। १–१८१
× × ×
करहि उपद्रव असुर निकाया। नाना रूप धरहि करि माया।
जेहि विधि होइ धर्म निर्मूला। सो सब करहि वेद प्रतिकूला।
जेहि जेहि देस धेनु द्विज पावहि। नगर गाउँ पुर आगि लगावहि। १–१८३

मुसलमान शासको न जिस तरह तलवार के बल से हिन्दू धम को नष्ट करने और हिन्दू जनता को सत्रस्त करके अपने अधीन करन का प्रयत्न किया उसी का वर्णन रावण के अत्याचार के रूप म ऊपर किया गया ह। अधिकाश मुसलमान बादशाहो ने हिन्दू राजाओ की बहू बेटिया को बलपूर्वक छीन लिया था, उसका भी वणन तुलसी ने रावण के बहाने किया है –

भुजबल विश्व वस्य करि राखेसि कोउ न सुतत्र।
मडलीक मनि रावन राज करै निज मत्र।
देव जच्छ गन्धर्व नर किन्नर नाग कुमारि।
जीति वरी निज बाहुबल बहु सुन्दर वर नारि। १—१८२

विधर्मियो क इस प्रकार के भयकर अत्याचारो क दो स्वाभाविक परिणाम हुए, एक ओर तो हिन्दू धम ह्रासोन्मुख और विशृखलित हो गया और अनैतिकता बढ गयी, दूसरी ओर आत्मरक्षा की भावना से उसम धर्म सबधी नियमो की कठोरता भी बहुत बढ गयी, उसम साप्रदायिक घेरेबन्दी, जाति प्रथा, पारस्परिक भेद भाव आदि की कसावट बहुत अधिक हो गयी। पहली बात का वर्णन तुलसी ने इस प्रकार किया है —

(घ) वातावरण—काम से प्रभावित जगत, रावण के अत्याचार। (ङ) राज सभा। (च) राज भवन। (छ) राजमहल का शयनागार। (ज) अ त पुर। (झ) हाट बाजार, घाट। (ञ) युग वर्णन—कलिकाल, सतयुग, त्रेता, द्वापर। (ट) तार्थ स्थान—प्रयाग, रामेश्वर, अयो या, चित्रकूट, नैमिषारण्य,

८ **आमोद प्रमोद**—मृगया,—नृत्य सगीत, शिशु क्राडा।

९ **परिगणनात्मक वणन**

क घाडा हाथी वर्णन—(१–३१६) घोडो के भेद (१–२९९)

ख अन्य वाहन (१–२९८ से ३०१) भोज्य पदार्थ (१–९९, ३०५, ३२८, २९)

ग शकुन (१–३०३, २–२०४)

घ पशु पक्षी (२–२२५, ३–२४, ३९, ३२, ३४, ७–२८)

ङ वाद्य गणना (१–३४४)

(च) दहेज की वस्तुएँ (१–१०१, ३३१, ३३२)

ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि रामचरितमानस म वर्णनात्मक स्थलो की अधिकता है, क्योकि कवि का उद्देश्य पौराणिक कथाओं की तरह केवल कथा कहना ही नही, वस्तु वर्णन और भाव व्यजना द्वारा रस सृष्टि करना और कथा मे वास्तविता का रग भरना भी है। वस्तु वर्णन म तुलसी ने महाकाव्यों की प्रबन्धरूढियो का एक सीमा तक पालन करते हुए भी स्वतत्र प्रवृत्ति का परिचय दिया है ओर साथ ही ऐसे वणनो का विधान अधिक किया है जिनस कथा का वातावरण पौराणिक, अलौकिक अथवा कृत्रिम न होकर वास्तविक प्रतीत हो। इसालिए उ होने अपने समय मे लोकप्रचलित राति रिवाजा, धार्मिक कृत्या, शकुन विचार आदि का भी पर्याप्त वर्णन किया है। इस प्रकार 'मानस' म मानव जीवन के विविध पक्षा ओर जगत् के नाना नामरूपात्मक स्वरूपो का उद्घाटन हुआ है।

मानस मे तुलसी के युग का प्रतिबिम्ब

महाकाव्य मे कवि चाहे किसी पौराणिक चरित या घटना का वर्णन करे अथवा किसी प्राचीन ऐतिहासिक वृत्त का, पर उसम उस कवि के युग का जीवन किसी न किसी रूप म अवश्य प्रतिबिम्बित होता है। कथावस्तु स अधिक महाकाव्य के वणनात्मक अशो से हमे इस बात का पता चलता है कि कवि के युग का राजनीतिक, सामाजिक ओर धार्मिक अवस्था क्या थी ओर कवि उस अवस्था से सतुष्ट था या असतुष्ट। जिस तरह महाभारत से भारत के प्रारभिक वीर युग का, रामायण से विकसित वीर युग का, रघुवश और कुमार-

सभव से विकासोन्मुख सामन्त युग का और नवसाहसाङ्कचरित तथा नैषध चरित से ह्रासोन्मुख सामन्त युग का पूरा चित्र हमारे कल्पना दृष्टि के सम्मुख प्रत्यक्ष हो जाता है, उसी तरह रामचरितमानस मे हम तुलसी के युग का समग्र रूप चित्रित दिखाई पडता है। उसमे रावण के अत्याचारो तथा उससे सत्रस्त देवताओं और ऋषि मुनियो का जो वर्णन किया गया है वस्तुत वह मध्ययुगीन विदेशी विधर्मी शासको द्वारा हिन्दू धर्म और भारत की जनता पर किये गये अत्याचारो का ही वर्णन है। तुलसी ने 'मानस' मे रामावतार का कारण बताते हुए रावण के अत्याचारो का वर्णन इस प्रकार किया है –

कामरूप जानहि सब माया। सपनेहुँ जिनके धरम न दाया।

× × ×

द्विज भोजन मख होम सराधा। सब कै जाइ करहु तुम बाधा।
क्षुधाहीन बलहीन सुर सहजेहि मिलिहहि आइ।
तब मारिहौ कि छाडिहौ भली भाँति अपनाइ। १-१८१

× × ×

करहि उपद्रव असुर निकाया। नाना रूप धरहि करि माया।
जेहि विधि होइ धर्म निर्मूला। सो सब करहि वेद प्रतिकूला।
जेहि जेहि देस धेनु द्विज पावहि। नगर गाउँ पुर आगि लगावहि। १-१८३

मुसलमान शासको ने जिस तरह तलवार के बल से हिन्दू धर्म को नष्ट करने और हिन्दू जनता को सत्रस्त करके अपने अधीन करने का प्रयत्न किया उसी का वर्णन रावण के अत्याचार के रूप मे ऊपर किया गया है। अधिकाश मुसलमान बादशाहों ने हिन्दू राजाओ की बहू बेटियो को बलपूर्वक छीन लिया था, उसका भी वर्णन तुलसी ने रावण के बहाने किया है –

भुजबल विश्व वस्य करि राखेसि कोउ न सुतत्र।
मडलीक मनि रावन राज करै निज मत्र।
देव जच्छ गन्धर्व नर किन्नर नाग कुमारि।
जीति वरी निज बाहुबल बहु सुन्दर वर नारि। १—१८२

विधर्मियो के इस प्रकार के भयकर अत्याचारो के दो स्वाभाविक परिणाम हुए, एक ओर तो हिन्दू धर्म ह्रासोन्मुख और विशृखलित हो गया और अनैतिकता बढ गयी, दूसरी ओर आत्मरक्षा की भावना से उसमे धर्म सबधी नियमो की कठोरता भी बहुत बढ गयी, उसमे साम्प्रदायिक घेरेबन्दी, जाति प्रथा, पारस्परिक भेद भाव आदि की कसावट बहुत अधिक हो गयी। पहली बात का वर्णन तुलसी ने इस प्रकार किया है —

सभव से विकासोन्मुख सामन्त युग का और नदमाहन।चचरित तथा नेषध-चरित से ह्रासोन्मुख साम त युग का परा चित्र हमारा करना दृष्टि क समुख प्रत्यक्ष हो जाता है, उसी तरह रामचरितमानस म हम तुम्ह उ युग का समग्र रूप चित्रित दिखाई पडता है। उसमे रावण क अत्याचार तथा उसने सत्रस्त देवताओ और ऋषि मुनियो का जो वर्णन किया गया है वस्तुत वह मध्ययुगीन विदेशी विधमा शासकों द्वारा हिन्दू धम और भारतीय जनता पर किये गये अत्याचारो का ही वर्णन है। तुलसी ने 'मानस' म रामावतार का कारण बताते हुए रावण के अत्याचारा का वणन इस प्रकार किया है –

कामरूप जानहि सब माया। सपनेहुँ जिनके धरम न दाया।
× × ×
द्विज भोजन मख होम सराधा। सब क जाइ करहु तुम बाधा।
क्षुधाहीन बलहीन सुर सहजेहि मिलिहहि आइ।
तब मारिहौ कि छाडिहौं भली भाति अपनाइ। १-१८१
× × ×
करहि उपद्रव असुर निकाया। नाना रूप धरहि करि माया।
जेहि विधि होइ धर्म निर्मूला। सो सब करहि वेद प्रतिकूला।
जेहि जेहि देस धेनु द्विज पावहि। नगर गाउँ पुर आगि लगावहिं। १-१८३

मुसलमान शासकों ने जिस तरह तलवार क बल से हिन्दू धम को नष्ट करने और हिन्दू जनता को सत्रस्त करक अपने अधीन करन का प्रयत्न किया उसी का वणन रावण के अत्याचार के रूप म ऊपर किया गया है। अधिकाश मुसलमान बादशाहो ने हिन्दू राजाओ की बहू बेटिया को बलपूवक छीन लिया था, उसका भी वणन तुलसी ने रावण के बहाने किया है –

भुजबल विश्व वस्य करि राखेसि कोउ न सुतत्र।
मडलीक मनि रावन राज करै निज मत्र।
देव जच्छ गन्धव नर किन्नर नाग कुमारि।
जीति वरी निज बाहुबल बहु सुन्दर वर नारि। १—१८२

विधर्मियो क इस प्रकार के भयकर अत्याचारो क दो स्वाभाविक परिणाम हुए, एक ओर तो हिन्दू धम ह्रासोन्मुख और विशृखलित हो गया और अनैतिकता बढ गयी, दूसरी ओर आत्मरक्षा की भावना से उसम धम सबधी नियमो की कठोरता भी बहुत बढ गयी, उसम साम्प्रदायिक घेरेबन्दी, जाति प्रथा, पारस्परिक भेद भाव आदि की कसावट बहुत अधिक हो गयी। पहली बात का वर्णन तुलसी ने इस प्रकार किया है —

(घ) वातावरण—काम से प्रभावित जगत, रावण के अत्याचार। (ङ) राज
। (च) राज भवन । (छ) राजमहल का शयनागार । (ज) अन्त पुर।
हाट बाजार, घाट । (ञ) युग वर्णन—कलिकाल, सतयुग, त्रेता, द्वापर।
तीर्थ स्थान—प्रयाग, रामेश्वर, अयोध्या, चित्रकूट, नैमिषारण्य,

आमोद प्रमोद—मृगया,—नृत्य संगीत, शिशु क्रीडा।

परिगणनात्मक वर्णन

क घोड़ा हाथी वर्णन–(१–३१६) घोड़ों के भेद (१–२९९)

ख अन्य वाहन (१–२९८ से ३०१) भोज्य पदार्थ (१–९९, ३०५, ३२८, २९)

ग शकुन (१–३०३, २–२०४)

घ पशु पक्षी (२–२३५, ३–२४, ३९, ३२, ३८, ७–७८)

ङ वाद्य गणना (१–३४४)

(च) दहेज की वस्तुएँ (१–१०१, ३३१, ३३२)

ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि रामचरितमानस में वर्णनात्मक स्थलों की धकता है, क्योंकि कवि का उद्देश्य पौराणिक कथाओं की तरह केवल कथा ना ही नहीं, वस्तु वर्णन और भाव व्यंजना द्वारा रस सृष्टि करना और कथा वास्तविता का रंग भरना भी है। वस्तु वर्णन में तुलसी ने महाकाव्यों की धरूढियों का एक सीमा तक पालन करते हुए भी स्वतंत्र पद्धति का परिचय या है और साथ ही ऐसे वर्णनों का विधान अधिक किया है जिनसे कथा का तावरण पौराणिक, अलौकिक अथवा कृत्रिम न होकर वास्तविक प्रतीत हो। लिए उन्होंने अपने समय में लोकप्रचलित रीति रिवाजों, धार्मिक कृत्यों, न विचार आदि का भी पर्याप्त वर्णन किया है। इस प्रकार 'मानस' में व जीवन के विविध पक्षों और जगत् के नाना नामरूपात्मक स्वरूपों का ाटन हुआ है।

मानस में तुलसी के युग का प्रतिबिम्ब

महाकाव्य में कवि चाहे किसी पौराणिक चरित या घटना का वर्णन करे थवा किसी प्राचीन ऐतिहासिक वृत्त का, पर उसमें उस कवि के युग का वन किसी न किसी रूप में अवश्य प्रतिबिम्बित होता है। कथावस्तु से धिक ाकाव्य के वर्णनात्मक अंशों से हमें इस बात का पता चलता है कि कवि युग की राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक अवस्था क्या थी और कवि अवस्था से संतुष्ट था या असंतुष्ट। जिस तरह महाभारत से भारत के रंभिक वीर युग का, रामायण से विकसित वीर युग का, रघुवंश और कुमार-

सभव से विकासोन्मुख सामन्त युग का और नवसाहसाकचरित तथा नैषध-चरित से ह्रासोन्मुख साम त युग का पूरा चित्र हमारी कल्पना दृष्टि के समुख प्रत्यक्ष हो जाता है, उसी तरह रामचरितमानस मे हम तुलसी के युग का समग्र रूप चित्रित दिखाई पडता है। उसमे रावण के अत्याचारो तथा उससे सत्रस्त देवताओं और ऋषि मुनियो का जो वर्णन किया गया है वस्तुत वह मध्ययुगीन विदेशी विधर्मी शासकों द्वारा हिन्दू धम और भारतीय जनता पर किये गये अत्याचारो का ही वर्णन है। तुलसी ने 'मानस' म रामावतार का कारण बताते हुए रावण के अत्याचारो का वणन इस प्रकार किया है –

कामरूप जानहि सब माया। सपनेहुँ जिनके धरम न दाया।
× × ×
द्विज भोजन मख होम सराधा। सब कै जाइ करहु तुम बाधा।
क्षुधाहीन बलहीन सुर सहजेहि मिलिहहि आइ।
तव मारिहो कि छाड़िहो भली भाँति अपनाइ। १–१८१
× × ×
करहि उपद्रव असुर निकाया। नाना रूप धरहि करि माया।
जेहि विधि होइ धर्म निर्मूला। सो सब करहि वेद प्रतिकूला।
जेहि जेहि देस धेनु द्विज पावहि। नगर गाउँ पुर आगि लगावहिं। १–१८३

मुसलमान शासको न जिस तरह तलवार क बल से हिन्दू धर्म को नष्ट करने आर हिन्दू जनता को सत्रस्त करक अपने अधीन करने का प्रयत्न किया उसी का वर्णन रावण के अत्याचार के रूप मे ऊपर किया गया है। अधिकाश मुसलमान बादशाहो ने हिन्दू राजाओ की बहू बेटियो को बलपूवक छीन लिया था, उसका भी वणन तुलसी ने रावण के बहाने किया है –

भुजबल विश्व वस्य करि राखेसि कोउ न सुतत्र।
मडलीक मनि रावन राज करै निज मत्र।
देव जच्छ गन्धव नर किन्नर नाग कुमारि।
जीति वरीं निज बाहुबल बहु सुन्दर वर नारि। १—१८२

विधर्मियो क इस प्रकार के भयकर अत्याचारो क दो स्वाभाविक परिणाम हुए, एक ओर तो हिन्दू धम ह्रासोन्मुख आर विशृंखलित हो गया और अनैतिकता बढ गयी, दूसरी ओर आत्मरक्षा की भावना से उसमे धर्म सबधी नियमो की कठोरता भी बहुत बढ गयी, उसम साम्प्रदायिक घेरेबन्दी, जाति प्रथा, पारस्परिक भेद भाव आदि की कसावट बहुत अधिक हो गयी। पहली बात का वणन तुलसी ने इस प्रकार किया है —

न आचरन कतहुँ नहि होई। देव विप्र गुरु मान न कोई।
हु हरि भगति न जप तप ज्ञाना। सपनेहु सुनय न वेद पुराना। १ १८३
हे खल बहु चोर जुवारा। जे लम्पट पर धन पर दारा।
नहि मातु पिता नहि देवा। साधुन्ह सन करवावहि सेवा। १ १८४

इसी सामाजिक और धार्मिक विश्रृंखलता और अनैतिकता का चित्रण सी ने सप्तम सोपान म कलि वणन मे भी किया है। साप्रदायिक मत मतान्तर र वर्ण व्यवस्था की कठोरता का वर्णन उन्होने प्रत्यक्षत तो नही किया, तु विष्णु, शिव और शक्ति को समान पद देकर, राम द्वारा शिव और शक्ति पूजा करा कर तथा शिव को राम का भक्त बनाकर उन्होने धार्मिक न्वय करने और भक्ति के क्षेत्र म निषाद, कोल, भील, शबर, राक्षस, बन्दर, दु सबका प्रवेश सुगम दिखा कर जाति प्रथा के बन्धनों को ढीला ने का जो प्रयत्न किया है, उससे तत्कालीन सामाजिक और धार्मिक स्थितियों और उनके प्रति तुलसी के असतोष का पता चलता है। 'मानस' सप्तम सोपान मे राम राज्य के वर्णन म तुलसी की जो तन्मयता ओर उल्लास गाइ पडता है उससे भी पता चलता है कि वे अत्याचार ओर अधम पर धारत मुसलिम शासन को मिटा कर आदर्श धर्म राज्य की स्थापना की मना करते थे। इस दृष्टि से देखने पर पूरी राम कथा एक रूपक कथा प्रतीत ी है जिसमे रावण मुसलिम शासकों का और राक्षस विधर्मी मुसलमानो के ाक हैं। उसी तरह सीता भारत भूमि के प्रतीक के रूप मे हैं। राम तथा क दल के लोग ऐसे आदर्श सम्राट्, आदर्श राज कर्मचारी, राजभक्त और परायण विद्वज्जना के प्रतीक हैं जा तुलसी के युग मे उत्पन्न तो नही हुए थे कवि के कल्पना जगत् मे उनका अवतार हो चुका था। इस तरह तुलसी ने नस' मे अपने युग के धर्म, समाज, राजनीति आदि विविध क्षेत्रा का व्यापक ण किया है और उन क्षेत्रो के सदसत् पक्षों का उद्घाटन करके उनको एक दिशा म मोडने का महामन्त्र बताया है।

-सुसघटित और जीवन्त कथानक

रामचरितमानस के कथानक पर विचार करने के पूव यह कह देना श्यक है कि उसमें आधिकारिक कथा प्रथम सोपान के १७६ वें दोहे से ा के अत्याचार के वर्णन से प्रारम्भ होती है ओर सप्तम सोपान के ५३ वें दोहे ामराज्य वर्णन तथा राम के विविध उपदेशो के बाद रामचरित माहात्म्य से प्त होती है। इस प्रकार कथानक पर विचार करते हुए प्रधानतया इसी पर विचार होना चाहिए, क्योकि प्रारभ के १७५ दाहे ओर अन्त के

७७ दोहे ग्रथ की भूमिका और उपसहार के रूप म हैं और उनमे से अधिकाश बातो का आधिकारिक कथा से सीधा सबध नहीं है । इसका यह तात्पर्य नही कि ये अश महत्त्वहीन और अनावश्यक हैं । कथानक की दृष्टि से उनका अधिक महत्व अवश्य नहा है किन्तु महाकाव्य के वर्णन वैशिष्ट्य, गुरुत्व गाभीर्य और महत्ता की दृष्टि से ये अश कितने आवश्यक हैं, यह पहले ही दिखाया जा चुका है । 'मानस' पौराणिक शैली का महाकाव्य है । इस शैली के महाकाव्यो मे भूमिका और उपसहार का विस्तार होता ही है । अत 'मानस' के कथानक का परीक्षण शास्त्रीय शैली के महाकाव्यो की दृष्टि से नही होना चाहिए ।

तुलसी ने अपने काव्य के लिए जो वृत्त चुना वह भारतीय साहित्य में चिरकाल से अत्यन्त विख्यात था । वह रामायण, महाभारत, बृहत्कथा और पुराणों मे तो था ही, नाटको, महाकाव्यों आदि मे भी बहुत दिना से उसका उपयोग होता आ रहा था । अत उसम अधिक परिवतन करने तथा कल्पना का उपयोग करके नई घटनाये जोडने के लिए कवि को अवसर न था । तुलसी चरितकाव्य लिखना चाहते थे, शास्त्रीय महाकाव्यों के समान राम कथा के किसी एक अश का वर्णन करना उनका उद्देश्य नही था । अत अति विस्तृत राम कथा को आधार बना कर लिखे गये काव्य मे विस्तार का होना स्वाभाविक था । फिर भी भीमकाय वाल्मीकि रामायण से तुलना करने पर 'मानस' का कलेवर बहुत बडा नही मालूम पडता । इसका कारण यही है कि वाल्मीकि-रामायण में प्रत्येक घटना का बडे विस्तार से वर्णन हुआ है और अवान्तर तथा प्रासगिक कथाओ की भी उसमे भरमार है जब कि 'मानस' की कथा अधिकतर बहुत तीव्र गति से आगे बढती है । उदाहरण के लिए दशरथ के पुत्रेष्टि यज्ञ से सबधित बाता का वर्णन वाल्मीकि रामायण मे दस सर्गो (बा० का० ८ से १७ वें सर्ग तक) मे किया गया है जब कि तुलसी दो दोहो (प्रथम सोपान दोहा १८९-१९०) मे ही सक्षेप मे दशरथ के यज्ञ कराने और रानिया मे हवि बाँटने की कथा कह कर राम जन्म का वर्णन करने लग जाते हैं । अत परपरागत राम कथा के विस्तार को देखते हुए रामचरितमानस का कथानक इतना विस्तृत नही प्रतीत होता कि उसे महाकाव्य की दृष्टि से दोष माना जाय । 'मानस' का कथानक पुराणो अथवा रामायण महाभारत जैसा अति व्याख्यायुक्त नही है और न खण्डकाव्यो जैसा सक्षिप्त ही है । महाकाव्य के लिए कथानक का जितना विस्तार अपेक्षित है उसमें वह समुचित रूप मे वर्तमान है ।

मानस के कथानक म आदि, म य और अन्त की योजना भी इस प्रकार हुई है कि उसके अवयवो का सघटन ममानुपातिक प्रतीत होता है और पूरी कथा में जीवन्तता दिखाई पडती है। जीव तता का तात्पर्य यह है कि पूरी कथा सुश्रृखलित हो अर्थात् प्रत्येक घटना अपने पहले ओर बाद की घटनाओ से काय कारण श्रृखला स आबद्ध हो आर कोइ भी घटना यदि कथानक से निकाल दा जाय तो कथा की श्रृखला टूटी हुइ प्रतीत हो। 'मानस' की कथा का प्रधान घटनाएँ इसीप्रकार की कार्य कारण श्रृखला मे बधी हुइ हैं। फिर भी उसमे स्तुतिपरक, उपदेशात्मक और विचारात्मक प्रसग इतने लम्बे और अधिक हो गये हैं कि उनस कथा के प्रवाह म बाधा अवश्य पडता है। उदाहरणाथ वन गमन के समय राम और वाल्मीकि का सवाद ऐसा है जो दार्शनिक और भावनात्मक दृष्टि से चाहे कितना भा महत्वपूर्ण हो, परन्तु कथा के प्रवाह मे उससे बाधा ही उत्पन्न होती है। राम के वाल्मीकि से मिलने और निवास के लिए उपयुक्त स्थान पूछने की घटना का सक्षेप और स्वाभाविक रूप म वणन, कथा के प्रवाह को अधिक गति देता। वस्तुत ऋषियो, मुनियो और भक्तो से जब भा राम की भेट होती है तभी तुलसी थोडी देर के लिए कथा को भूलकर अटक जात है।

रामचरितमानस वाल्मीकि रामायण की तरह काण्डो (सोपानो) म विभक्त है, पर रामायण की सर्ग विभाजन पद्धति तुलसी ने नहीं अपनाइ है। उसका माजन उ होने 'मानस' के प्रसगो का निदश करके कर लिया है। सप्तम सोपान म तुलसी ने काकभुशुण्डि के मुख स इन्ही प्रसगो का उल्लेख कराया है और इसे ही कुछ विद्वान मूल रामायण या भुशुण्ड रामायण कहते ह। इनम स बहुत थोडे प्रसग ऐस हैं जिनम केवल काव्यात्मक वर्णन है, जेस राम का विरह वर्णन, राम द्वारा ऋत वर्णन, राम भरत सवाद, देवता था द्वारा राम की स्तुति। अन्य प्रसग, जिनकी सख्या बहुत अधिक है, घटना प्रधान है। इन प्रसगो मे वर्णित सभी घटनाये एक दूसरे स कार्य कारण रूप मे शृखलाबद्ध हैं। इस तरह 'मानस' की आधिकारिक कथा का कथानक सुश्रृखलित और सुसगठित है। उसम राम ज म से लेकर वनवास तक की कथा आदि भाग म, वन यात्रा से सीताहरण तक की कथा मध्यभाग मे आर सीताहरण से रावण वध और राम राज्य स्थापना तक की कथा अन्त भाग म आती है। पूरी कथा मे एक सुनियोजित विकासक्रम दिखाइ पडता है और कथा का प्रत्येक अश या अवयव पूरी कथा क अनुपात म बहुत लम्बा या बहुत छोटा नहीं है।

प्रसगो की शृखलाबद्धता के कारण 'मानस' के कथानक मे महाकाव्योचित कार्यान्विति दिखाई पडती है। पहले कहा जा चुका है कि 'मानस' का 'कार्य' रावण वध और रामराज्य को स्थापना है। कथा को उस काय की ओर अग्रसर करने मे प्रत्येक प्रसग किसी न किसी रूप मे योग देता है। इस प्रकार पूरी कथा मे एकत्व होने तथा 'फल' या 'कार्य' एक होने से 'मानस' म नाटको के ढग की सक्रियता और कार्यान्विति वर्तमान है। कार्यान्विति मे बाधा तब उपस्थित होती है जब कथानक मे अनेक स्वतन्त्र कथाएँ असम्बद्ध रूप मे या क्षीण सूत्र से जुडी रहती हैं। 'मानस' के आदि और अन्त भाग को छोडकर मुख्य काव्य शरीर के भीतर एक भी अवान्तर कथा नही है और जो छोटी छोटी प्रासगिक कथाएँ, जैसे अहिल्या उद्धार, ताडका वध, शवरी आतिथ्य, हनुमान का विवर प्रवश, शूर्पणखा और खर दूषण का प्रसग तथा हनुमान के साहसिक कार्यो से सम्बन्धित प्रसग आदि—आया हैं, वे नायक का उत्कष और महत्व बढाने वाली और कवि के उद्देश्य की सिद्धि म सहायक हैं तथा उनमे से अधिकाश नायक की फल प्राप्ति के प्रयत्न और मार्ग के अवरोधो के रूप मे हैं। घटनाओ की अधिकता, उनके शृखलित विन्यास क्रम ओर पात्रो की कमशीलता के कारण 'मानस' म नाटको क ढग की सक्रियता भी पूर्ण मात्रा मे मिलता है। फलत नाटक की पॉच कार्यावस्थाये उसमे भी दिखाई पडता हैं। वे ये ह —

१ प्रारम्भ—रावण के अत्याचार वर्णन से लेकर राम-लक्ष्मण के विश्वामित्र के साथ यज्ञ रक्षा के निमित्त जान तक की घटनाये। इनसे रावण-वध और रामराज्य की स्थापना क लिए औत्सुक्य उत्पन्न होता है।

२ प्रयत्न—राम वनवास से लेकर शूर्पणखा प्रसग तक की कथा। इसमे कथा अत्यत तीव्र गति से फलागम की आर अग्रसर होती है।

३ प्राप्त्याशा—खर दूषण वध और सीताहरण से लेकर हनुमान के लका से सीता की खबर लेकर लौटने तक की घटनाएँ। इसमे एक ओर तो राम द्वारा रावण वध किये जाने का विश्वास होना है दूसरी ओर सीताहरण, जटायु मरण आदि बाधाओ से आशका भी बनी रहती है। सुग्रीव मैत्री से आशा बढती है।

४ नियताप्ति—राम की युद्ध यात्रा, सेतुबंधन, विभीषण मैत्री, मेघनाद और कुभकर्ण का वध आदि घटनाये नियताप्ति के भीतर आती हैं।

५ फलागम—रावण वध और रामराज्य की स्थापना।

कार्यावति के लिए कथानक मे नाटक की पॉचो सधियो का होना भी आवश्यक है। 'मानस' मे वे इन स्थलो पर दिखाइ पडती हैं —

१ मुख सधि—

"अतिसै देखि धर्म की हानी। परम सभीत धरा अकुलानी।" (१-१८४)

से लेकर

"गिरि कानन ज्हह तह भरपूरी। रहे निज निज अनीक रचि रूरी।"१ १८८तक

२ प्रतिमुख सधि—

तापस बेस बिसेस उदासी। चौदह बरिस राम बनवासी। (२-२९)

से लेकर

"कहेउँ राम बन गवन सुहावा। सुनहु सुमत्र अवध जिमि आवा।"
(१-१४२)

तक। फल के बीज का यहॉ कुछ लक्ष्य और कुछ अलक्ष्य रूप मे विकास होता है।

'३ गर्भ सधि—

'जब से राम कीन्ह तहँ बासा। सुखी भए मुनि बीति त्रासा।" (३-३८)

से लेकर "क्रोधवन्त तब रावन लीन्हेस रथ बैठाइ।" (३-३२)

तक, गर्भ सन्धि है क्योंकि यहाँ दण्डक वन में राम के वास के कारण मुनियो की प्रसन्नता तथा खरदूषण वध आदि घटनाओ द्वारा पूर्व सन्धियों मे निवेशित फल प्रधान उपाय का विकास और सीता हरण, जटायु मरण आदि मे उसका ह्रास दिखाइ पडता है।

४ विमर्श सन्धि—

"कोसलेस दसरथ के जाये। हम पितु बचन मानि बन आये।

इहॉ हरी निसिचर बैदेही। बिप्र फिरहि हम खोजत तेही।" (४-२)

से लेकर"तुरत बैद तब कीन्हि उपाई। उठि बैठे लछिमन हरसाई।"(६ ६१)

तक की कथा मे विमर्श सधि है, क्योकि उसमे गर्भसन्धि की अपेक्षा फल प्रधान उपाय का विकास अधिक हुआ है। सुग्रीव की मैत्री, सीता की खोज, लङ्का दहन हनुमान का सीता की खबर लाना, रण यात्रा, सेतुबन्धन, अगद का रावण के दरबार मे पराक्रम प्रदर्शन, विभीषण की मैत्री आदि घटनायें फल प्रधान उपाय को तीव्र गति से आगे बढाती हैं पर लक्ष्मण की मूर्छा तथा हनुमान के कार्यो के बीच पडने वाले अनेक अवरोधों से उस विकास में अन्त राय भी पडता है यद्यपि वह शीघ्र ही दूर हो जाता है।

५ निर्वहण सन्धि—

रावण वध के बाद रामराज्य वर्णन तक की कथा मे निवहण सन्धि है क्योंकि यहीं फलागम होता है और विभिन्न सन्धियो मे बिखरे हुए अथा का उस 'कार्य' या प्रधान प्रयोजन मे समाहार हो जाता है।

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि रामचरितमानस मे नाटको के ढंग की कार्यान्विति, सक्रियता और सधि योजना है किन्तु, जैसा पहले कहा जा चुका है, कथानक संबधी ये नाटकीय तत्त्व उसकी प्रधान कथा मे ही हैं। यदि प्रथम सोपान के आदि से सप्तम सोपान के अन्त तक की कथा पर विचार किया जाय तो कार्यान्विति, सक्रियता और सधि योजना मे बाधा दिखाई पडती है, क्योंकि उसमे प्रारभिक और अन्तिम भाग मे अनेक स्वतत्र अवान्तर कथाएँ, उपदेशात्मक सवाद, स्तोत्र आदि हैं, जिनका कथा के नायक से तो सबध है, पर कथा से सीधा सबध नहीं है। इसका कारण यह है कि पौराणिक शैली के महाकाव्यों मे शास्त्रीय शैली के महाकाव्यों की तरह की कार्यान्विति और सधि योजना नहीं हाती। तुलसी ने मानस मे इन दोनो शैलियों का सुन्दर समन्वय किया है। इसीलिए आदि और अन्त मे तो पौराणिक शैली अधिक दिखाई पडती है और मध्यवता मुख्य कथा में शास्त्रीय महाकाव्यों की शैली का प्राधान्य है। इसीसे प्रधान कथा के भीतर अवान्तर कथायें नही के बराबर हैं। जहाँ उनके लिए अवसर आता है, तुलसी उनका उल्लेख मात्र कर के कथा को आगे बढा देते हैं। वाल्मीकि रामायण मे ऐसे अवसरों मे पूरी कथा कही गयी है, पर तुल्सी ने उन्हे अन्तर्कथा के रूप मे ही रखा है, अवान्तर कथा के रूप मे नहीं। वे यह मान कर आगे बढ गये हैं कि सभी पाठक इन पौराणिक कथाओ को अवश्य जानते होगे। अत पुराणों से उनकी उद्धरणी उपस्थित करके उन्होंने कथानक की कायान्विति और सक्रियता मे बाधा उपस्थित करना उचित नही समझा। उसमे जो छोटी छोटी प्रासगिक कथायें आयी हैं वे आधिकारिक कथा मे योग देने वाली हैं और उनके पात्र आधिकारिक कथा के नायक के उत्कर्ष के साधक हैं। ऐसी प्रकरी कथाये ये हैं—अहिल्या उद्धार, ताडका बध, राम परशुराम सवाद, शबरी मिलन, रावण जटायु युद्ध, हनुमान आदि का विवर प्रवेश, हनुमान कालनेमि प्रसंग, हनुमान भरत, राम का विविध ऋषि मुनियो और नारदादि देवताओं से सवाद आदि। मानस' की अवान्तर कथायें, जो सबकी सब आधिकारिक कथा के बाहर, आदि और अन्त भाग में हैं, ये हैं —

१ शिव चरित, २ जयविजय की कथा, ३ कश्यप अदिति कथा, ४ जल न्धर वृ दा कथा, ५ नारदमोह की कथा, ६ मनु शतरूपा कथा, ७ प्रताप भानु कथा, ८ रावण चरित, ९ भुशुडि चरित।

इनमे से पहली अवान्तर कथा को छोड कर अ य सभी कथाएँ रामावतार का कारण बताने के लिए लिखी गयी हैं। आधिकारिक कथा के साथ उनका अप्रत्यक्ष सबध है, अत उन्हे प्रासगिक कथा के रूप म माना जा सकता है।

मानस मे कथानकरूढियाँ —

रामचरितमानस की कथा अनुत्पाद्य है। यद्यपि उनकी कथा का आधार प्रधानतया वाल्मीकीय रामायण है, पर अनेक बाते को उ होने अध्यात्म रामायण से लिया है। पर इन दो ग्रथा के अतिरिक्त अनेक प्रसग, सूक्तियाँ, वर्णनविधि आदि बाते उन्होने अन्य स्रोतो से भी ली हैं। इस तरह उनकी अधिकाश काव्य सामग्री अनुत्पाद्य अथात् इतिहास पुराण और काव्य नाटकादि से गृहीत है, पर बीच बीच उन्होने अपनी कल्पना का उपयोग करके कथा के भीतर अपना रग भी भरा है। अत कवि को कथा की गति को मोडने के लिए अपनी ओर से का य कौशल प्रदर्शन करने म लोक प्रचलित कथाओ तथा पूर्ववर्ती कथा साहित्य म प्रयुक्त विविध कथानक रूढियो का सहारा लेने की आवश्यकता नहीं पडी। फिर भी परपरागत राम कथा म जो कथानकरूढियाँ व्यवहृत हुई वे 'मानस' की कथा म भी आ गयी हैं। उनका यहाँ थोडे म उल्लेख किया जा रहा है —

१—आकाशवाणी और मुनि का शाप—ये दोनो अभिप्राय मानस की कथा म बहुत अधिक प्रयुक्त हुए हैं जैसे, प्रतापभानु और नारद मोह की कथा।

२—रूप परिवर्तन—शूर्पणखा, मारीच, रावण, हनुमान, पार्वती, नारद आदि के रूप परिवर्तन करने की कथाय।

३—वन म मार्ग भूलना और मुनि से भेंट—प्रतापभानु की कथा।

४—मदिर, वाटिका या वन म सुन्दरी से भेट—जनकपुर की वाटिका मे राम सीता का साक्षात्कार और पूर्वानुराग। यह कथानकरूढि वाल्मीकि-रामायण, अध्यात्म रामायण और महाभारत आदि की राम कथाओ मे नही मिलती। आठवी शताब्दी के बाद जब साहित्य मे कथानकरूढियो का प्रयोग जानबूझ कर अधिक होने लगा तो राम कथा मे पूर्वानुराग की योजना करके उसे अधिक रोमाचक बनाने के लिए यह वृतान्त उसम जोड दिया गया। कुमारदास के जानकीहरण (सर्ग ७) मे राम सीता के पारस्परिक आकर्षण और सीता के विरह का वर्णन किया गया है। महावीरचरित (अक १) मे

१ शिव चरित, २ जयविजय की कथा, ३ कश्यप अदिति कथा, ४ जलन्धर वृन्दा कथा, ५ नारदमोह की कथा, ६ मनु शतरूपा कथा, ७ प्रतापभानु कथा, ८ रावण चरित, ९ भुशुंडि चरित।

इनमे से पहली अवान्तर कथा को छोड कर अन्य सभी कथाएँ रामावतार का कारण बताने के लिए लिखी गयी हैं। आधिकारिक कथा के साथ उनका अप्रत्यक्ष सबध है, अत उन्हे प्रासगिक कथा के रूप म माना जा सकता है।

मानस मे कथानकरूढियाँ —

रामचरितमानस की कथा अनुत्पाद्य है। यद्यपि उनकी कथा का आधार प्रधानतया वाल्मीकीय रामायण है, पर अनेक बातों को उ होने अध्यात्म रामायण से लिया है। पर इन दो ग्रथा के अतिरिक्त अनेक प्रसग, सूक्तियाँ, वर्णनविधि आदि बातें उ होने अन्य स्रोता से भी ली हैं। इस तरह उनकी अधिकाश काव्य सामग्री अनुत्पाद्य अथात् इतिहास पुराण और काव्य नाटकादि से गृहीत हैं, पर बीच बीच उन्होने अपनी कल्पना का उपयोग करके कथा के भीतर अपना रग भी भरा है। अत कवि को कथा की गति को मोडने के लिए अपनी ओर से काव्य कौशल प्रदर्शन करने म लोक प्रचलित कथाओ तथा पूर्ववर्ती कथा साहित्य म प्रयुक्त विविध कथानक रूढिया का सहारा लेने की आवश्यकता नहीं पडी। फिर भी परपरागत राम कथा म जो कथानकरूढियाँ व्यवहृत हुई वे 'मानस' की कथा म भी आ गयी हैं। उनका यहाँ थोडे म उल्लेख किया जा रहा है —

१—आकाशवाणी और मुनि का शाप—ये दोनो अभिप्राय मानस की कथा म बहुत अधिक प्रयुक्त हुए है जैसे, प्रतापभानु और नारद मोह की कथा।

२—रूप परिवर्तन—शूर्पणखा, मारीचि, रावण, हनुमान, पार्वती, नारद आदि के रूप परिवर्तन करने की कथाय।

३—वन म मार्ग भूलना और मुनि से भेंट—प्रतापभानु की कथा।

४—मदिर, वाटिका या वन म सुन्दरी से भेट—जनकपुर की वाटिका मे राम सीता का साक्षात्कार और पूर्वानुराग। यह कथानकरूढि वाल्मीकि रामायण, अध्यात्म रामायण और महाभारत आदि की राम कथाओ म नही मिलती। आठवी शताब्दी के बाद जब साहित्य मे कथानकरूढियो का प्रयोग जानबूझ कर अधिक होने लगा तो राम कथा मे पूर्वानुराग की योजना करके उसे अधिक रोमाचक बनाने के लिए यह वृतान्त उसमे जोड दिया गया। कुमारदास के जानकीहरण (सर्ग ७) मे राम सीता के पारस्परिक आकर्षण और सीता के विरह का वर्णन किया गया है। महावीरचरित (अक १) मे

विश्वामित्र के आश्रम मे ही राम लक्ष्मण का सीता उर्मिला से साक्षात्कार हो जाता है। प्रसन्नराघव (अङ्क २) मे जयदेव ने मिलन स्थान को बदल कर जनकपुर का चण्डिकायतन कर दिया है। मैथिलीकल्याण (रचना काल १२९० ई०) म राम सीता कामदेव मदिर और माधवी वन मे मिलते ह। इतना ही नही, उसमे चन्द्रकान्तगृह मे उनका अभिसार भी दिखाया गया है। इस प्रकार वाटिका प्रसग राम कथा की एक मध्यकालीन कथानकरूढि है और तुलसी ने उसे कथा को रोमाचक बनाने की दृष्टि से ही अपनाया है।

५ राक्षस गन्धर्व आदि अतिमानवीय व्यक्तियो को सहायता—हनुमान, नल-नील आदि द्वारा राम की सहायता।

६ अतिप्राकृत और अलौकिक शक्तियाँ ओर उनके कार्य—इस तरह की बाते राम-कथा मे भरी हुई ह।

७ सत्य क्रिया—सीता के सतीत्व की परीक्षा (६–१०७, १०८)

८ कबन्ध युद्ध—राम रावण युद्ध म।

९ मत्र युद्ध—राम रावण युद्ध म राक्षसो का मायावी युद्ध।

१० ऋतुवर्णन द्वारा विरह वेदना की अभिव्यक्ति।

५ महान नायक तथा अन्य महत्त्वपूर्ण चरित्र

काव्य की दृष्टि से रामचरितमानस की सबसे बडी विशेषता उसका चरित्रगत सौन्दर्य और आदर्श है। उसम जितने महान और आदर्श चरित्रो की अवतारणा की गयी है वे विश्व-साहित्य म दुर्लभ हैं। वस्तुत चरित्र चित्रण म तुलसीदास की तुलना ससार के गिने चुने कवियों के साथ ही की जा सकती है।"[1] तुलसी ने एक निश्चित उद्देश्य ओर निर्धारित योजना के अनुसार इन चरित्रो को निर्मित किया है। अत वे अपने काव्य से जो लक्ष्य सिद्ध करना चाहते थे उसके सबसे बडे साधन उनके पात्र ही है। इन चरित्रो की महानता के कारण ही 'मानस' का सामान्य जनता म इतना प्रचार प्रसार है। यह उन्ही का प्रभाव है कि अपढ ग्रामीण जनता भले ही तुलसी को न जाने या 'मानस' की काव्य सम्पदा का महत्व न समझे पर वह राम, लक्ष्मण, भरत, हनुमान, सीता, दशरथ, कौशल्या, कैकेयी, रावण, विभीषण, कुम्भकर्ण आदि को भलीभाँति जानती है, उनकी कथा से परिचित रहता है ओर उन्ही के जीवन से समाज के व्यक्तियों के जीवन को तोलती है। समस्त समाज को गहराइ तक प्रभावित करने के कारण ही 'मानस' के चरित्र विश्व साहित्य म अतुलनीय हैं।

१ डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी—हिन्दी साहित्य उद्भव और विकास, प्रथम सस्करण पृ० २३७।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'मानस' के चरित्रो को दो कोटियो मे विभाजित किया है, आदर्श और सामान्य। उनके अनुसार "आदर्श चित्रण के भीतर सात्विक और तामस दोनों आते है। राजस को हम सामान्य चित्रण के भीतर ले सकते है। इस दृष्टि से सीता, राम, भरत, हनुमान और रावण आदर्शचित्रण के भीतर आवेंगे तथा दशरथ, लक्ष्मण, विभीषण, सुग्रीव, कैकेयी सामान्य चित्रण के भीतर। आदर्श चित्रण मे हम या तो यहाँ से वहाँ तक सात्विक वृत्ति का निर्वाह पावेंगे या तामस का। प्रकृति भेद सूचक अनेक रूपता उसमे न मिलेगी। सीता, राम, भरत, हनुमान, ये सात्विक आदर्श, रावण तामस आदर्श हैं।"[२] शुक्ल जी ने यह विभाजन सात्विक, राजस और तामस, इन तीन प्रकृतियों के अनुसार किया है। सामान्यतया चरित्रो का परीक्षण दो दृष्टियों से किया जाता है, मनोवैज्ञानिक दृष्टि से और नैतिक दृष्टि से। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाय तो कोई भी मनुष्य आदि से अन्त तक न तो सात्विक होता है, न राजस या तामस। सबमे ये सब वृत्तियाँ मिली जुली होती हैं। शिक्षा, सस्कार, परिस्थितियो के प्रभाव आदि के अनुसार मनोवृत्तियो का अभ्यास और चरित्र का परिशोधन या पतन होता रहता है। इस तरह स्वाभाविक या यथार्थ चरित्र वह होता है जिसमे उतार चढाव और विकास क्रम दिखाई पडे। व्यक्ति के चरित्र निर्माण मे उसके परिवेश का बहुत अधिक हाथ होता है, अत व्यक्ति और उसके परिवेश के बीच होने वाली क्रिया प्रतिक्रियाओ से ही उस व्यक्ति के चरित्र की परीक्षा होनी चाहिये। परिस्थिति के साथ होने वाले सघर्ष मे व्यक्ति का उद्देश्य महान है या नही और यदि महान है तो वह किस सीमा तक उसके लिये प्रयत्न, त्याग और बलिदान करता है, इन्ही बातो से उस व्यक्ति के चरित्र की साधारणता, असाधारणता और अपसाधारणता (ऐबनारमेलिटी) का पता चलता है। नैतिक दृष्टि से धर्म, समाजनीति और लोक मर्यादा के आधार पर चरित्र की परीक्षा की जाती है। भारतीय आलकारिको ने चरित्रों के सबध मे अत्यत विस्तार के साथ विचार किया है किन्तु उनका दृष्टिकोण मनोवैज्ञानिक नहीं, नैतिक ही है। इसीलिए उन्होने सभी प्रकार के पुरुष चरित्रों को धीरोदात्त, धीरप्रशान्त, धीरललित और धीरोद्धत, इन चार वर्गो मे बाँट दिया है, जब कि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से जितने व्यक्ति होगे उतने ही प्रकार के चरित्र होगे। प्राचीन भारतीय साहित्य मे इस प्रकार का यथार्थ ढंग का चरित्र चित्रण बहुत कम हुआ है। उसमे प्राय ऐसे ही चरित्र दिखाई पडते हैं जो धर्म और नैतिकता की दृष्टि से या तो आदर्श (धीरोदात्त)

२ प० रामचन्द्र शुक्ल—गोस्वामी तुलसीदास, सप्तम सस्करण, पृ० १२६।

हैं या असस्कृत और निम्न कोटि के (धीरोद्धत और अधीरोद्धत), व्यक्तिवादी और सुकुमार वृत्ति वाले (धीरललित) हैं या त्यागी, विरक्त और साधु प्रकृति वाले (धीरप्रशान्त) । परवना काल के भारतीय साहित्य मे तो प्राय सभी चरित्रों को इन्ही चार साँचो मे ढाल कर निर्मित किया जाने लगा । अत यह तो स्पष्ट है कि सभी प्रकार के चरित्र इन्ही चार वर्गो के भीतर नहीं समा सकते ।

'मानस' मे चरित्र चित्रण का जो स्वरूप दिखाई पडता है वह हूबहू आलकारिकों द्वारा निर्दिष्ट ढग का नहीं है । किन्तु तुलसी ने यथार्थवादी या मनोवैज्ञानिक आधार पर भी चरित्र नहीं निर्मित किये हैं । उनका दृष्टिकोण धार्मिक और आदर्शवादी था । अत उन्होने चरित्रो की कोटियाँ (टाइप्स) बना कर प्रत्येक कोटि का प्रतिनिधित्व करने वाले चरित्र निमित किये हैं । जिस तरह महाभारत—रामायण में विविध प्रकार के चरित्र हैं, 'मानस' मे वैसा चरित्र वैविध्य नहीं दिखाइ पडता । उसी तरह उसमे चरित्रों की वह चतुर्वर्गीय सीमाबद्धता भी नहीं है जो अलकारशास्त्रों के आधार पर लिखे गये सस्कृत के परवता नाटक काव्यादि मे दिखाई पडती है । 'मानस' का प्रत्येक पात्र अपने अपने ढग (टाइप्स) के व्यक्तियों के समस्त गुण दोषो की समष्टि प्रतीत होता है । यही कारण है कि उसमे जो महान चरित्र है वह इतना महान है कि उससे बडा चरित्र और कोई हो ही नही सकता । निष्कर्ष यह कि मानस के चरित्रो का 'टाइप्स' के अनुसार स्थान विभाजन हुआ है । उनमे दशरथ, परशुराम, बिभीषण, मन्दोदरी और त्रिजटा मध्य म स्थित हैं जो असत् वातावरण के बीच भी सत्प्रवृत्तियों का त्याग नहीं करते पर अपने वातावरण को भी बदलने में समर्थ नही हो पाते । भरत, लक्ष्मण, और सीता, राम के प्रिय और उनका पदानुसरण करने वाले हैं । अत चारित्रिक महत्ता की दृष्टि से राम के बाद उन्ही का स्थान है । उसी तरह दुष्टता और नीचता म रावण के बाद कुभकर्ण और मेघनाद का स्थान है । यही क्रम अन्य पात्रो के विषय मे भी देखा जा सकता है ।

राम 'मानस' के नायक हैं, वे विशालहृदय तुलसी की विराट् कल्पना के मूर्त रूप हैं । रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने महाकाव्य के नायक के विषय मे लिखा है, "मन मे जब एक महत् व्यक्ति का उदय होता है, सहसा जब एक महापुरुष कवि के कल्पना राज्य पर अधिकार आ जमाता है, मनुष्य चरित्र का उदार महत्व मनश्चक्षुओ के सामने अधिष्ठित होता है, तब उसके उन्नत भावों से उद्दीप्त होकर उस परम पुरुष की प्रतिमा प्रतिष्ठित करने के लिए कवि भाषा का मन्दिर निर्माण करते हैं । उस मदिर में जो प्रतिमा प्रतिष्ठित होती है

उसके देव भाव से मुग्ध और उसकी पुण्य किरणों से अभिभूत होकर नाना दिग्देशों से आ आकर लोग उसे प्रणाम करते हैं। उसी को कहते हैं महाकाव्य[1]"। यह कथन रामचरितमानस पर जितना अधिक चरितार्थ होता है उतना शायद ही अन्य किसी महाकाव्य पर होता हो। तुलसी ने अपनी दृष्टि से अपने नायक को सर्वथा निष्कलुष, महान और विश्व का सर्वश्रेष्ठ चरित्र बनाने का प्रयत्न किया है। 'मानस' के राम रामायण के राम से बहुत भिन्न है। वाल्मीकि के राम केवल नर हैं, यद्यपि एक प्रक्षिप्त अंश में उन्हें विष्णु का अवतार भी कहा गया है। वाल्मीकि ने प्रारम्भ में ही नारद से पूछा कि इस समय संसार में कौन सबसे बड़ा चरित्रवान, सर्वभूत, हितैषी, विद्वान, समर्थ, प्रियदर्शन, आत्मवान्, अक्रोधी, द्युतिमान और देवताओं को भी भयभीत करने वाला है[2]। इसके उत्तर में नारद ने इक्ष्वाकु वंश में उत्पन्न राम का नाम लेते हुए उनके गुणों का वर्णन किया। इस तरह वाल्मीकि के राम विकसित वीर युग के नैतिक मानदण्ड से उस काल के सबसे महान और आदर्श वीर पुरुष हैं। वे नीतिमान, बुद्धिमान, वाग्मी, श्रीमान, शत्रुजयी, सुन्दर और बलिष्ठ, स्निग्धवर्ण, प्रतापवान, लक्ष्मीवान, शुभलक्षण, धर्मज्ञ, सत्यसन्ध, प्रजाहितपी, यशस्वी, ज्ञान सम्पन्न, पावन, विनीत, प्रजापति तुल्य, रिपुसूदन, धर्म और जीवलोक के रक्षक, वेदवेदांगतत्त्वज्ञ, स्मृतिमान, प्रतिभावान, लोक सर्वप्रिय, साधु, अदीनात्मा, विचक्षण, समुद्र के समान गम्भीर, हिमवान के समान धैर्यवान, विष्णु के समान वीर, चन्द्रमा के समान प्रियदर्शी, क्रुद्ध होने पर कालाग्नि के समान, और क्षमा में पृथ्वी के समान, त्याग में कुबेर के समान, सत्यपालन में अपर धर्म के समान हैं[3]"। तुलसी के राम में भी ये सभी गुण वर्तमान हैं किन्तु तुलसी के राम की विशेषता यह है कि वे नर ही नहीं नारायण या परब्रह्म भी हैं। दूसरी बात यह है कि तुलसी का आदर्श विकसित वीर युग का नहीं, बल्कि सामन्त युग का आदर्श है। इस युग के आदर्श मानव की मान्यता विकसित वीर युग के आदर्श मानव की मान्यता से भिन्न है। इसी कारण वाल्मीकि के राम महान होते हुए भी यथार्थ मानव हैं। वे क्रोध करते, सीता के चरित्र पर शंका करके उनकी परीक्षा लेते और लोक लाज से उनका परित्याग भी करते हैं। तुलसी के राम उच्चतम आदर्शों के

१ रविन्द्रनाथ ठाकुर—मेघनाथ वध (हिन्दी अनुवाद) भूमिका।—भाग—पृ० १५७-५८ चिरगाँव सं० १९८४।

२ वाल्मीकीय रामायण—बालकाण्ड, १, २, ३, ४, ५।

३ वही १८ से २० तक।

प्रतीक हैं, अर्थात् वे यथार्थ मानव के दोषों और सहज प्रवृत्तियो से बहुत ऊपर उठे हुए हैं। उनके दो रूप हैं, ब्रह्म का रूप और मानव का रूप। तुलसी राम के इन दोनो रूपो पर आदि से अन्त तक बराबर प्रकाश डालते गये हैं। शिव, याज्ञवल्क और भुशुडि के सवादों का उद्देश्य ही राम का ब्रह्मत्व दिखाना है। इसके अतिरिक्त देवता, ऋषि मुनि, भक्त जन सभी हर समय राम की ब्रह्मरूप मे स्तुति करते रहते हैं जिससे राम का ब्रह्मरूप ही 'मानस' मे सर्वप्रधान रूप से उभरा हुआ है। तुल्सी के राम ब्रह्मा, विष्णु, शिव, सबसे ऊपर उठे हुए निर्गुण ब्रह्म ही हैं, जो कभी चतुर्भुज विष्णुरूप मे दिखाइ पडते हैं, कभी दाशरथि राम के रूप मे, किन्तु वस्तुत विराट् विश्व ही उनका असली रूप है —

बिस्व रूप रघुबस मनि करहु बचन बिस्वास।
लोक कल्पना बेद कर अग अग प्रति जासु। ६–१४
पद पाताल सीस अज धामा। अपर लोक अँगअँग बिश्रामा॥
भृकुटि बिलास भयकर काला। नयन दिवाकर कच घन माला।
× × ×
स्रवन दिसा दस बेद बखानी। मरुत स्वास निगम निज बानी। ६–१५

तुल्सी ने राम को अनेक प्रकार के तर्कों द्वारा ब्रह्म सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, परन्तु कथा के भीतर अपने चरित्र द्वारा वे अधिकतर आदर्श के उच्चतम शिखर पर प्रतिष्ठित मानव ही दिखाइ पडते हैं, और कभी कभी तो वे भी स्वाभाविक मानव के ढग का कार्य करते हैं। यदि राम सदा आदर्श ही बने रहते तो उन्हें मानव रूप मे देखता ही कौन? इसीलिए वे सुन्दर राजकुमारी सीता को देख कर विवाह के पूर्व ही मुग्ध होते हैं, सीताहरण के बाद सामान्य मानव की तरह विलाप करते और लक्ष्मण को शक्ति बाण लगने पर यहाँ तक कह देते हैं —

जौं जनतेउँ बन बन्धु बिछोहू। पिता बचन मनतेउँ नहि ओहू।
सुत बित नारि भवन परिवारा। होहिं जाहिं जग बारहिं बारा।
× × ×
जैहो अवध कौन मुह लाई। नारि हेतु प्रिय बन्धु गँवाई।
बरु अपजस सहतेउँ जग माही। नारि हानि बिशेष छति नाही। ६–६०

किन्तु राम का ऐसा यथार्थ स्वरूप चित्रित करते समय तुलसी यह बताना नही भूल्ते कि यह तो सगुण ब्रह्म की नर लीला है —

उहाँ राम लछिमनहि निहारी। बोले बचन मनुज अनुसारी। ६–६०

किसी को राम के ब्रह्मत्व या उनकी सवशक्तिमत्ता मे शका न हो जाय, इसलिये सीता हरण के पहले तुलसी ने यह प्रसग जोड दिया है कि राम ने सीता को अग्नि मे प्रवेश करने को कहा और उनकी जगह माया सीता को बैठा दिया —

सुनहु प्रिया व्रत रुचिर सुसीला। मै कछु करबि ललित नर लीला।
तुम्ह पावक महु करहु निवासा। जौ लगि करौ निशाचर नासा। ३-१८

अनेक स्थानों पर तो केवल मयादा की रक्षा करने और सामाजिक सबधो का आदश उपस्थित करने की दृष्टि से सवशक्तिमान ब्रह्म होते हुए भी राम ने विनय, लघुता और श्रद्धा का प्रदर्शन किया है जैसे परशुराम के समुख और सागर से रास्ता माँगते समय का राम का मयादा पालन आदर्श है, पर राम आवश्यकता पडने पर विनय छोड कर उग्र रूप भी धारण कर लेते हैं —

विनय न मानत जलधि जड़, गएउ तीनि दिन बीति।
बोले रामु सकोप तब, भय बिनु होइ न प्रीति।

इस तरह 'मानस' मे राम के चरित्र के तीन स्वरूप दिखाइ पडते हैं—ब्रह्म रूप, आदर्श मानव रूप और स्वाभाविक नर रूप। तुलसी क भक्त और चितक रूप ने राम मे ब्रह्मत्व की प्रतिष्ठा की है, उनके मानवतावादी रूप ने राम को आदशो के उच्च शिखर पर प्रतिष्ठित किया है ओर उनके भावुक, कवि और कलाकार हृदय ने विवश होकर कलात्मक, मनोवेज्ञानिक और सान्दय बोधात्मक उत्कृष्टता और स्वाभाविकता लाने के लिए राम को सामान्य मानव के रूप मे भी चित्रित किया है। अत धीरोदात्त नायक कह कर ही उनक चरित्र की सभी विशेषताएँ अभिव्यक्त नही की जा सकतीं। वे अविकत्थन, क्षमावान, दृढव्रत, स्थिरप्रकृति ओर विनयी ता हैं ही, परन्तु आवश्यकता पडने पर दुष्टों को दण्ड देने के लिए मयादा का भग भी करते हैं —

सठ सन विनय कुटिल सन प्रीती। सहज कृपन सन सुन्दर नीती।
ममतारत सन ज्ञान कहानी। अति लाभी सन बिरति बखानी।
क्रोधिहि सम कामिहि हर कथा। ऊसर बीज बोये फल जथा।

राम की इस नीतिमत्ता आर आवश्यकतानुरूप व्यवहार कुशलता म उनका महान वीर रूप ओर तेजोमय क्षात्रधम निहित है। यदि व ऐसा नहीं करते तो वे महान साधु महात्मा तो बन जात, किन्तु धम के रक्षक और असुर सहारक नही बन पात। अत बालिवध, सागर पर क्रोध आदि कार्य राम की क्षात्र शक्ति आर नीति निपुणता के परिचायक हैं। यदि राम सदैव इसी प्रकार के कार्य करते तो अवश्य वे अविनयी, क्रोधी और अत्याचारी कहलाते। किन्तु

वे जहाँ इस प्रकार के कार्य करते हैं वहाँ ऐसे चमत्कारपूर्ण कार्य भी करते हैं जिनसे उनका महान आदर्श मानव रूप तथा ब्रह्म रूप भी प्रदर्शित होता चलता है। उनके जीवन मे इन दूसरे प्रकार के कार्यो की ही बहुलता है। अत वे सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, सवगुण सपन्न और 'विधि हरि सभु नचावन हारे' हैं। केवल धीरोदात्त नायक कहना राम के महत्व को कम करना है।

'मानस' का प्रतिनायक रावण है। राम यदि सत्प्रवृत्तियो के पुञ्जीभूत रूप और धर्म के सस्थापक सरक्षक हैं तो रावण असत्प्रवृत्तियो का पुज और अधम, अत्याचार और विध्वस की साक्षात मूर्ति है। राबण के नाश के लिए ही राम का जन्म हुआ है। उसे शिव और ब्रह्मा का वरदान प्राप्त था कि वह मनुष्य और वानर के अतिरिक्त और किसी के हाथ से नहीं मारा जा सकता (प्र० सो०–१–१७७)। अत रावण के अत्याचार से पीडित पृथ्वी तथा देव ऋषि मुनियो के दु ख को दूर करने के लिए ब्रह्म को राम रूप मे अवतरित होना पडा था, ताकि वे रावण का वध कर सके। जिसका वध करने के लिए स्वय भगवान को पृथ्वी पर जन्म लेना पडे उसकी शक्ति का अनुमान नहीं किया जा सकता। प्रारम्भ मे ही रावण के अत्याचारो का वर्णन करते हुए तुलसी ने लिखा है कि उसने बन्धुओं सहित अत्यन्त तप, साधना और त्याग से त्रैलोक्य को विकम्पित और विजित करने वाली शक्ति अर्जित की थी (प्र० सो०–१–१७७, १७८)। फलस्वरूप ससार मे उसके लिए कुछ भी दुर्लभ न था। वह इतना वीर और बलवान था कि उसने एक बार कौतुक मे ही कैलास को उठा लिया था, उसके पुत्र मेघनाद और भाई भी ऐसे वीर थे कि उनमे से प्रत्येक एक एक जग को जीत सकता था। प्रतिनायक की इस महती शक्ति, भयकर साहस, अतिमानवीय वीरता, और लोक विध्वसक कुप्रवृत्तियों का सामना करने और उसका नाश करने वाला नायक कितना महान व्यक्ति होगा, यही दिखाने के लिए राम कथा मे रावण का यह स्वरूप चित्रित किया गया है। उसम प्रति नायक के लिए निर्दिष्ट सभी गुण अपनी पराकाष्ठा पर पहुँचे हुए दिखाये गये हैं। वह पापी, व्यसनी और धीरोद्धत नायक है क्योकि वह मायावी, शूर, प्रचण्ड, चपल, अहकारी और आत्मप्रशसक है। किन्तु जिस तरह धीरोदात्त शब्द राम के सभी गुणों को व्यक्त करने मे समथ नहीं है, उसी तरह केवल धीरोद्धत शब्द भी रावण के सभी पापों और अवगुणो को नहीं समेट पाता। वस्तुत राम की तरह रावण का चरित्र भी सामान्य या यथार्थ नहीं, बल्कि अतिरजित और पौराणिक ढग का अतिमानवीय है। इस तरह 'मानस' के नायक और प्रतिनायक दोनो ही अपने अपने क्षेत्र मे मानव कल्पना की महानतम

देन हैं। वे यथार्थ नही, प्रतीकात्मक चरित्र हैं। तुलसी ने राम को मानव की समस्त सत्प्रवृत्तियो और रावण को समस्त असत्प्रवृत्तिया के प्रतीक के रूप म चित्रित किया है, सामा य मानव चरित्रो क रूप मे नही।

'मानस' के अन्य पात्र भी अपने अपने स्थान और सीमा के भीतर कम महान नहीं हैं। उनम से प्रत्येक किसी न किसी कोट (टाइप) का पूण प्रति निधित्व करता है। इसी कारण 'मानस' के कोई भी दो चरित्र बिलकुल एक समान नही ह। भरत जैसा महान त्यागी, नीतिज्ञ और बन्धुत्व का निवाह करने वाला पात्र ससार मे दुर्लभ है, वे अपने क्षेत्र म कवि कल्पना के श्रेष्ठतम विभूति हैं। तुलसी ने उन्हे राम के प्रेम की साक्षात मूर्ति ही कहा है —

भरतहि कहहि सराहि सराही। राम प्रेम मूरति तनु आही। २–१८४

× × ×

तुम्ह तौ भरत मोर मत एहू। धरें देह जनु राम सनेहू। २–२०८

तुलसी की दृष्टि से भरत का राम क प्रति प्रेम इतना एकनिष्ठ, गभीर और महान हे कि उनकी तुलना मे 'मानस' क अ य किसी पात्र को नहीं रखा जा सकता हे। यद्यपि वाल्मीकि रामायण और अध्यात्म रामायण म भी भरत का चरित्र निर्दोष और आदर्श ही दिखाई पडता है, किन्तु 'मानस' म उनका चरित्र राम प्रेम की अगाधता के कारण बहुत अधिक ऊपर उठ गया है। इसका कारण यह है कि कवि ने अपने हृदय का सम्पूर्ण रस ढाल कर भरत के प्रेम और शील का चित्रण किया है। कथा प्रवाह क भीतर क्रिया कलाप द्वारा भरत के चरित्र को उठाने का अवसर नहीं था, अत द्वितीय और सप्तम सोपान मे वणनात्मक रूप मे भरत क चारत्र को भावुकता क गहरे रगो से चित्रित किया गया ह। भरत क शील, गुण, विनय, महानता, बन्धुत्व, भक्ति और स्नेह की प्रशसा करते हुए तुलसी थकते नहीं हैं —

अगम सनेह भरत रघुबर को। जह न जाइ मनु बिधि हरि हर को। २–२४१

× × ×

भरत सील गुन विनय बड़ाई। भायप भगति भरोस भलाई।
कहत सारदहु कर मति हाचे। सागर सीपि कि जाइ उलीचे। २–२८३

इस प्रकार 'मानस' के भरत भी अपनी 'कोट' का पूर्ण प्रतिनिधित्व करने वाले महान या आदर्श चरित्र हैं।

लक्ष्मण, हनुमान, अगद, विभीषण, सुग्रीव, दशरथ और निषाद भी अपने अपने ढग के निराले किन्तु आदर्श व्यक्तित्व हैं। इन सभी चरित्रों की अपनी भिन्न भिन्न विशेषतायें है और वे भी व्यक्ति नहीं बल्कि 'टाइप' के रूप मे ही

चित्रित किये गये हैं। इनमे से किसी भी चरित्र का क्रमिक विकास या ह्रास नहीं दिखाया गया है, सभी प्रारम्भ से अ त तक समान दिखाई पडते हैं। इसका कारण यह है कि ये सभी राम की लक्ष्य सिद्धि के साधन मात्र हैं, उनका स्वतन्त्र व्यक्तित्व नहीं है। लक्ष्मण शेषनाग के अवतार हैं, अत विष्णु के सेवक का अवतार लेकर राम का सच्चा सेवक बनना स्वाभाविक ही है। वानर भालु तो देवताओ का अवतार या देवाश थे ही, और रावण बध मे राम की सहायता करना ही उनके जन्म लेने का उद्देश्य था, विभीषण पूर्वज म का प्रतापभानु का सचिव धर्मरुचि था और इस जन्म मे भी उसने तप करके ब्रह्मा से भगवान के चरणो मे अटल प्रेम रखने का वर प्राप्त किया था, अत यद्यपि उसने अपने देश, राजा और बडे भाई के प्रति विश्वासघात किया और सकट के समय मे रावण को छोडकर राम से जा मिला, पर यही उसकी विद्रोही प्रवृत्ति, सत्य, प्रेम और सच्चा भगवद्भक्ति का भी महान उदाहरण है। तुलसी के मत से विभीषण का ऐसा करना सवथा उचित था, क्योंकि यह सबसे बडा नाता राम का ही मानता था। ऐसे व्यक्ति के लिए ब धु, राजा या देश यदि राम भक्ति मे बाधा उपस्थित करते हैं। तो वे त्याज्य हैं। इसलिए विभीषण ने पहले अपने भाई को नीति-धम की बातें समझाई किन्तु उसके द्वारा ठोकर मार कर निकाल दिये जाने पर अपने प्रभु राम की शरण म जाने के सिवाय उसके पास कोई और रास्ता नहीं था। इस तरह विभीषण का चरित्र भी आदर्श व्यक्तित्व का ही उदाहरण है। हनुमान राम कथा के एक अत्यन्त महत्वपूर्ण प त्र हैं। वे सचमुच महावीर हैं। समुद्र को कूदकर पार कर जाना, लकादहन, रातो रात हिमालय से पहाड उठा कर लका पहुँचाना, इच्छानुसार रूप परिवर्तन कर लेना आदि कार्य उनके अद्भुत पराक्रम और अतिमानवीय व्यक्तित्व के परिचायक हैं। कि तु इतने महान वीर होते हुए भी वे राम के सबसे बडे सेवक और अनन्यभक्त हे। राम के प्रथम दर्शन म ही उनका राम से जो सेव्य सेवक सबध स्थापित होता है उसम अ त तक कभी कोई कमी नहीं होता। इस तरह हनुमान म महानतम वीर और अनन्यतम सेवक, इन दो गुणो का सुन्दर समन्वय हुआ है। दशरथ मे भी सत्य और प्रेम का अद्भुत समन्वय हुआ है। जिस पुत्र को वे सत्य की रक्षा के लिए निर्वासित करते हैं उसी के प्रेम मे अपने प्राणो का परित्याग भी करते हैं। पुत्र प्रेम मे मर कर दशरथ ने वात्सल्य भावना का महान आदर्श उपस्थित किया है। कुल की मर्यादा और राजधर्म की रक्षा के लिए वचन को पूरा करना उनका अनिवार्य कर्तव्य था। उनकी टेक ही यही थी, "रघुकुल रीति सदा चलि आई। प्राण जाइ बरु बचन न जाई।" और इस व्रत का निवाह उन्होने

प्राण गवाँ कर भी किया । एक साथ ऐसा आदर्श सत्य प्रेमी और आदर्श पिता ससार के साहित्य मे शायद ही कही मिले । इसी प्रकार निषाद, जटायु, शबरी, वशिष्ठ, विश्वामित्र, नारद, सम्पाती आदि कम महत्व वाले पात्र भी मानस मे राम के आदर्श भक्त क रूप मे ही दिखाये गये हैं ।

'मानस' के स्त्री चरित्रो मे सवश्रेष्ठ व्यक्तित्व सीता का है । 'मानस' मे वे मूल प्रकृति या लक्ष्मी का अवतार बतायी गयी हे । वे राम की अर्द्धांगिनी अथात् ब्रह्म की आदि शक्ति हैं, पर तुलसी ने उनमे मूल प्रकृति या आदि शक्ति का आरोप चरित्र चित्रण द्वारा कहीं नही किया है । वे आद्यन्त नर रूप ब्रह्म की आदर्श पत्नी के रूप म ही दिखाई गया हैं । वे 'मानस' की नायिका हैं । उनमे सरलता, निष्कलुषता, निरीहता, त्याग, सयम, कष्टसहिष्णुता, औदार्य, स्नेह, माधुर्य, गृहणीत्व, विनयशीलता, तर्जास्वता, पातिव्रत्य, धमभीरुता आदि गुणो का समष्टि रूप दिखाई पडता है । इसी कारण सीता भारतीय कुल बन्धुओ क चरमोत्कृष्ट आदर्श के रूप मे मान्य हैं । कुमारी, कुलवधू, पत्नी, गृहणी, राजमहिषी, वियोगिनी और सयोगिनी सभी रूपों मे उन्हे मयादा का पालन करती हुई दिखाकर तुलसी ने नारी सम्बधी अपनी उच्चतम भावना को सीता के रूप मे मूर्त कर दिया है । राम यदि पूर्ण मानव हैं तो सीता पूण नारी, राम यदि ब्रह्म हैं तो सीता आदि शक्ति या मूल प्रकृति । इस मूल प्रकृति क कारण ही सत्प्रवृत्तियों और असत्प्रवृत्तियो क सघष की चरम परिणति राम रावण युद्ध के रूप मे अभिव्यक्त हुई । अत सीता को भी प्रतीकात्मक चारत्र क रूप मे ग्रहण किया जा सकता है । 'मानस' के अन्य स्त्री चरित्रो म कैकयी, कौशल्या, मन्दोदरी, और मथरा प्रमुख हैं । ये भी अपने 'टाइप' का प्रतिनिधित्व करने वाली स्त्रिया हे । कोशल्या मे माता का आदर्श रूप चित्रित हुआ है तो कैकेयी मे विमाता का यथार्थ रूप दिखाया गया है । वाल्मीकि रामायण मे कैकयी के चरित्र का बाद मे सुधार दिखाया गया है, पर 'मानस' म केकइ का वह रूप नहीं दिखाइ पडता । यद्यपि राम वनवास का मूल कारण देवताओ का षड्यन्त्र ओर सरस्वती द्वारा मथरा की मति फेरना था, पर तुलसी ने इस देव प्रेरित अपराध के लिए कैकेयी को अन्त तक क्षमा नहीं किया और न उसके मुँह से दुख पाश्चाताप ओर राम के प्रति स्नेह के शब्द ही कहवाये हैं । एक बार चित्रकूट सभा के प्रसग (२ २७२) मे ओर दूसरी बार राम क अयोध्या लोटने पर (७ ६) उसकी ग्लानि ओर लज्जा की ओर सकत किया गया है । फिर भी उन्होने उसमे एक कुटिल, ईर्ष्यालु, पतिघातिनी, स्वार्थमयी, अदूरदशा नारी ओर स्वाभाविक विमाता क रूप को ही प्रधानता दी है ओर आद्यन्त उसके चरित्र

को लाछित बनाये रखा है, यद्यपि उसमे विकास और सुधार दिखाने का अवसर उनके पास था। अत उसका चरित्र भी व्यक्ति का नही, 'टाइप' का ही है। मथरा मे चापलूस और मुँहलगी दासी का बडा ही यथार्थ चित्रण उपस्थित किया गया है पर उसके प्रति तुलसी की कोइ सहानुभूति नही है। 'मानस' के स्त्री पात्रा मे सीता के बाद सबसे निखरा हुआ चरित्र म दोदरी का दिखाया गया है जो एक ओर तो पतिव्रता है, दूसरी ओर रूप की महत्ता को पहचानने वाली और सत्य, धम और नीति का पालन करने वाली है। रावण को वह बार बार सदुपदेश देती है, पर वह उसकी एक नही सुनता। फिर भी म दोदरी विभीषण की भाँति रावण का परित्याग नही करती। उसम दो विरोधी मनोवृत्तियों का सघष उसी रूप म दिखाया गया है जिस रूप मे दशरथ मे। इस तरह तुलसी ने म दोदरी के चरित्र को उसकी सीमाओ क भीतर ही पर्याप्त ऊँचा उठा दिया है।

६ गरिमामयी उदात्त शैली

रामचरितमानस मे तुलसी ने अपने व्यक्तित्व को बडी ही उच्च भूमिका मे प्रतिष्ठित कर उसे सपूर्ण रूप मे अभिव्यक्त किया है। जिस महान चरित्र को उ होने अपने काव्य का नायक बनाया उसके साथ उनका इतना गहरा तादात्म्य है कि उनका व्यक्तित्व उसी सीमा तक ऊपर उठ गया है जिस सीमा तक नायक का उठा हुआ है। राम उनके काव्य के नायक ही नही, उनकी आत्मा के प्रकाश, उनके आराध्य भी हैं और उस आराध्य की महत्ता के सामने कवि को अपने दैन्य और अशक्ति की अनुभूति सदैव होती रहतो है। इसी दैन्य भाव के कारण तुलसी 'मानस' के प्रारम्भ मे गणेश, गुरु, ब्राह्मण, सन्त, असन्त, शिव, रामकथा के छोटे बडे पात्र तथा प्राणी मात्र की वन्दना करके शक्ति सचय करना चाहते हैं। किन्तु सच पूछा जाय तो यह दैन्य भाव या अहभाव का सवथा परित्याग और आराध्य के प्रति सम्पूण आत्म समपण ही तुलसी की सबसे बडी शक्ति हैं। कवि जब तक नि स्व होकर और अपने पात्रो मे अपने व्यक्तित्व को पूणत ढालकर काव्य रचना नही करता, वह महाकाव्य का निमाण नहीं कर सकता। पात्रो के साथ तादात्म्य का तात्पर्य यह है कि कवि जिस पात्र का वर्णन करे उसके अन्तरतम का उद्घाटन करे। इस तरह पात्रो की मानसिक, वाचिक और आगिक क्रियाओ के भातर से कवि के व्यक्तित्व की ही अभिव्यक्ति होती हैं। 'मानस' के चरित्र इतने जीते जागते और आकर्षक हैं कि उनके भीतर से तुलसी का जीवन और आकर्षक व्यक्तित्व स्पष्ट रूप से उद्भासित होता है। यही 'मानस' की शैली की सबसे बडी विशे-

षता है। कवि की उस दैन्य भावना और आडम्बरहीन व्यक्तित्व की सरलता की ही अभिव्यक्ति 'मानस' की शैलीगत सरलता, सुबोधता, रमणीयता ओर विशदता के रूप मे हुई है। तुलसी उपासना पद्धति म ही सरलता, छलहीनता और आडम्बरहीनता के समथक नही थे, काय क भीतर भी उन्होंने इन गुणो को अभिव्यक्त किया है। अतिशय विनम्रतावश जो कवि बडे ही सरल भाव मे यह लिख सकता है —

कबि न होउँ नहि चतुर प्रबीनू। सकल कला सब बिद्या हीनू।
आखर अरथ अलकृति नाना। छन्द प्रबन्ध अनेक विधाना।
भाव भेद रस भेद अपारा। कबित दोष गुन बिबिध प्रकारा।
कबित बिबेक एक नहि मोरे। सत्य कहौ लिखि कागद कोरे। १९

उसके साहित्य और कला सम्बधी विचार तत्कालीन परिस्थितियों की दृष्टि से निश्चय ही बहुत ही क्रान्तिकारी माने जायँगे। परवर्ती सस्कृत साहित्य मे आडम्बर, अतिशय अलकरण, ज्ञान का घटाटोप और चमत्कार प्रदर्शन की प्रवृत्ति इतनी बढी हुई थी कि हिन्दी काव्य पर भी उसका बुरा प्रभाव पड रहा था और तुलसी के ५० वष बाद ही केशवदास की कविता म यह स्पष्ट दिखाई भी पडता है। उधर काव्य को अथ प्राप्ति का साधन बना कर दरबारी वातावरण मे प्राकृत जनों के गुणगान का क्रम भी चल ही रहा था। तुलसी ने काव्य सम्बधी इन मा यताओं का विरोध करने की दृष्टि से ही उपर्युक्त पक्तियाँ लिखी हैं ओर यह सिद्ध किया है कि काव्य मे विषय वस्तु का ही अधिक महत्व है, उसके लिए काव्य शास्त्र के ज्ञान का प्रदर्शन करना अनुचित है, क्योंकि ऐसा सरल, सुबोध और प्रेरणादायक काव्य ही श्रेष्ठ काव्य है जो 'सुरसरि' क समान सबका हित साधन करे। राम का चरित यदि इस सरल, सुबोध ओर सर्वसुलभ शैली मे लिखा जाय तो तुलसी के मत से वह जितना प्रभावोत्पादक होगा उतना प्राकृत जनो के विषय मे अत्य त अलकृत ओर वैचित्र्यपूर्ण शैली म लिखा गया काव्य नही हो सकता। इस विश्वास को तुलसी ने रामचरितमानस द्वारा प्रमाणित भी कर दिया है, क्योंकि केशव को 'रामचन्द्रिका' पाडित्य ओर चमत्कार प्रदर्शन की प्रवृत्ति और आडम्बरपूर्ण कृत्रिम शैली के कारण सामान्य जनता मे अज्ञात ओर 'मानस' उन्ही बातो के अभाव के कारण पूर्ण प्रचारित ओर धमग्रथ जैसा पूजित है, यद्यपि दोनो कवियो का वर्ण्य विषय एक ही है। अत यह तो स्पष्ट हो है कि विविध छ दो के प्रयोग मे कौशल दिखाना, दूरारूढ कल्पनाओं द्वारा अलकारो के चमत्कार उत्पन्न करना ओर भाषा ज्ञान सम्बन्धी पाडित्य प्रदर्शन करना तुलसी का लक्ष्य नही। पर इन बातो को वे त्याज्य भी नही मानते

थे। उन्हे काव्य शास्त्र का पूर्ण ज्ञान था और उन्होंने 'मानस' मे आवश्यकतानुरूप उस ज्ञान का उपयाग भी किया है, यह उनकी इन पक्तियो से स्पष्ट है —

सप्त प्रबन्ध सुभग सोपाना। ज्ञान नयन निरखत मन माना।

× × ×

राम सीय जस सलिल सुधा सम। उपमा बीचि बिलास मनोरम।
पुरइनि सघन चारु चौपाई। जुगुति मजु मनि सीपि सुहाई॥

× × ×

छन्द सोरठा सुन्दर दोहा। सोइ बहु रग कमल कुल सोहा।
अरथ अनूप सुभाव सुभासा। सोइ पराग मकरन्द सुबासा।

× × ×

धुनि अवरेब कबित गुन जाती। मीन मनोहर ते बहु भाँती।
अरथ धरम कामादिक चारी। कहबि ज्ञान बिज्ञान बिचारी।
नव रस जप तप जोग बिरागा। ते सब जलचर चारु तडागा १–३७

इसमे कवि ने प्रबन्धकाव्य के तत्त्वो—सर्गबद्धता, अलकार विधान, छन्द योजना, अथ, भाव, भाषा, ध्वनि, वक्रोक्ति, काव्य गुण, चतुर्वर्ग फल, नव रस आदि–का उल्लेख किया है। 'मानस' मे कवि ने इन तत्त्वों की कलात्मक योजना की है। इनमे से भावो ओर रसों के सबध मे आगे विचार किया जायगा। अन्य तत्त्वों का, जिनका शैली से सबध है, विवेचन यहाँ किया जा रहा है।

'मानस' का कथानक सोपानो में विभाजित है। इन्हीं सोपानों को सर्ग माना जा सकता है। विश्वनाथ कविराज ने महाकाव्य मे कम से कम आठ सर्गो का होना आवश्यक माना है पर भामह, दडो, रुद्रट आदि न सगा की सख्या नही निधारित की। महाकाव्य मे सर्गबद्धता ओर असक्षिप्तता, ये दो ही बाते सब ने आवश्यक मानी हैं। अत विश्वनाथ के पूर्ववर्ता आचार्यो की परिभाषा के अनुसार 'मानस' म सात ही सर्ग या सोपान होना दोषपूर्ण नहीं माना जा सकता, क्योकि पूरे काव्य के आकार मे महाकाव्योचित विस्तार है। आलकारिको ने यह भी कहा है कि महाकाव्य के सग न तो बहुत बडे हों न बहुत छोटे, वे परस्पर निबद्ध हों।[1] 'मानस' मे सातो सर्ग या सोपान परस्पर निबद्ध हैं, किन्तु

१ हेमचन्द्र—काव्यानुशासन—आठवाँ अध्याय।

सातो सोपानो का आकार बराबर नही है, प्रथम और द्वितीय सोपान बहुत बडे बडे हैं, षष्ठ और सप्तम उनसे छोटे आकार के और बीच के तीन सोपान बहुत छोटे छोटे हे। 'मानस' के प्रबन्धत्व म सर्गो क आकार की यह विषमता खटकने वाली बात है। किन्तु इसका समाधान इस प्रकार हो जाता हे कि तुलसी ने सोपानो का विभाजन महाकाव्य के सर्गो के ढग पर नही, रामायण महाभारत या पुराणो के काड, पर्व या खड के ढग पर किया है। उनम जिस तरह प्रत्येक काड या पर्व म प्रसगानुसार अनेक सर्ग होते हैं, तुलसी ने उसी तरह कथा के प्रसगो को रखा है। यद्यपि सख्या देकर उनका विभाजन नहीं किया गया हे परन्तु उत्तर काड म काकभुशुडि ने गरुड से राम कथा कहते समय प्रसगो की जो सूची दी है वह वस्तुत 'मानस' क सोपानो के भीतर के सर्गो की ही सूची है। निष्कर्ष यह कि 'मानस' का सर्ग विभाजन शास्त्रीय महाकाव्यो की शैली के अनुसार नही, इतिहास पुराण की शैली क अनुसार हुआ है। सोपानो के आकार भेद का यही कारण है।

अलकार विधान—कहा जा चुका है कि तुलसी अलकारवादी नहीं थे। किंतु उन्होंने रामचरितमानस मे अलकारो की ऐसी सुन्दर योजना की है जैसी अन्यत्र दुर्लभ हे। उसका कारण यह है कि उन्होंने अलकारो का विधान बिना प्रयास, सहज रूप म किया है, चमत्कार प्रदर्शन के लिए नही। 'मानस' की अलकार योजना का उद्देश्य है अर्थ को सुन्दर ढग से अभिव्यक्त करना, भावो के सौन्दर्य म वृद्धि करना, रूप चित्रण और वस्तु वर्णन म रमणीयता उत्पन्न करना और सूक्ष्म गुणो, अनुभूतियों और क्रियाओ को मूर्त रूप म उपस्थित करके उन्हे सहज बोधगम्य बनाना। इसीलिए 'मानस' म अलकार रमणीयता की वृद्धि करते हैं, वे उसके भार नही, बल्कि सौन्दर्य के वाहन या साधन हैं। इस दिशा मे तुलसी को सर्वाधिक सफलता सादृश्यमूलक अप्रस्तुतों की योजना म मिली है। 'मानस' म उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, दृष्टान्त, रूपकातिशयोक्ति आदि अलकारो की ही अधिकता है, किन्तु उनम भी रूपक की जैसी स्वाभाविकता, अधिकता और पूर्णता 'मानस' मे मिलती है, वैसी हिन्दी के अन्य किसी महाकाव्य मे नही मिलती। उपमाओ तथा साग ओर परम्परित रूपकों के कारण 'मानस' मे चित्रात्मकता भी बहुत अधिक दिखाई पडती है। नीति और उपदेश सबधी वर्णन तथा प्रकृति चित्रण म अधिकतर दृष्टान्त और उदाहरण का सहारा लिया गया है और रूप चित्रण म उत्प्रेक्षा का। इस तरह स्वाभाविक और सौन्दर्यवर्द्धक अलकारों के प्रचुर प्रयोग के कारण रामचरित मानस की शैली मे वह उदात्तता आयी है जो महाकाव्य क लिए अपेक्षित है।

छन्द योजना—हेमचन्द ने ठीक ही कहा है कि महाकाव्य मे अर्थानुरूप छन्द योजना होनी चाहिये (काव्यानुशासन, अध्याय ८) अथात् सर्गो के बीच मे प्रसग की आवश्यकता के अनुसार छ दों का परिवर्तन हो सकता है। किन्तु अन्य आचार्यो का कहना है कि प्रत्येक सग मे एक ही छन्द हो और उसके अ त मे भिन्न छन्द प्रयुक्त हो, पर किसी एक सर्ग मे अनेक छ दो का प्रयोग भी हो सकता है। तुलसी ने 'मानस' मे प्रत्येक सोपान म अर्थानुरूप अनेक छन्दो का प्रयोग किया है, किन्तु यह छन्द परिवर्तन बडी जल्दी जल्दी नही हुआ है। 'मानस' की रचना अपभ्रश की कडवकबद्ध शैली मे हुई है अथात् कुछ चौपाइयो के बाद दोहा या सोरठा का घत्ता देकर उन्होने कडवको की योजना की है। पूरा काव्य इसी कडवकबद्ध शैली म लिखा गया है, पर बीच बीच मे काफी दूरी पर हरिगीतिका, तोमर, चौपैया आदि छन्द भी रखे गये हैं। उसमे कुल आठ प्रकार के मात्रिक छन्दो और ग्यारह प्रकार के वणवृत्ता का प्रयोग हुआ है। वे ये हैं —

मात्रिक छन्द —चौपाई, दोहा, सोरठा, हरिगीतिका, तोमर त्रिभगी और चौपैया।

वार्णिक छ द—अनुष्टुप, इन्द्रवज्रा, त्रोटक, भुजगप्रयात, मालिनी, रथोद्धता, वसततिलका, वशस्थ, शार्दूलविक्रीडित, स्रग्धरा और नगस्वरूपिणी।

इनम वणवृत्ता का प्रयोग तो पिगलशास्त्रीय नियमो के अनुसार हुआ है किन्तु मात्रिक छन्दों के प्रयोग मे नियमो का कडाई से पालन नही किया गया है। जायसी की तरह तुलसी ने भी अनेक स्थलो पर अर्द्धालियो को हा पूरी चौपाइ मान कर कडवकों मे कही कही ९, ११, १३, और पन्द्रह अर्द्धालियाँ तक रखी हैं। इस सम्बन्ध मे मानस-राजहस पडित विजयानन्द त्रिपाठी ने लिखा है कि 'ऐसे स्थलो की कमी नही है जहाँ कि विषमसख्यक अर्धालियो के बाद ही दोहा, सोरठा या छन्द आ पडा है। ऐसे अवसर पर जिस भाँति आधे श्लोक का भी पूरा मान लेते हैं, उसी भाँति अन्तिम अर्धाली का भी पूरी चोपाई माननी पडेगा। इस विषमत्व को देखकर कुछ लोगो की धारणा हो गया है कि ग्रथकता ने अर्धालियों को ही चोपाई माना है परन्तु यह बात नहीं है। अत जहाँ ११ अर्धालिया के बाद दोहा आ गया है वहाँ छ चौपाइयाँ मानना ही न्याय है। उन्हे ग्यारह चोपाइयाँ मान लेने से तो साढे पाँच मानना ही अच्छा है, क्योंकि अर्धाली को ही चौपाइ मानने से छन्दशास्त्र का भारी विरोध होगा।"[1]

१ प० विजयानन्द त्रिपाठी—मानस प्रसग—द्वितीय भाग, पृ० ४१।

अपभ्रंश मे भी चार सममात्रिक चरणों वाले छन्दों मे विषम चरणो मे समतुकान्त होने के कारण दो ही चरणो का छन्द माना जाता था।[२] हिंदी मे भी चौपाई के सबध मे यही पद्धति अपनाइ जाने लगी थी, जैसा जायसी आदि कवियों के काव्यो मे पाया जाता है। 'मानस' का सपादन करते समय प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र को अनेक ऐसी प्राचीन हस्तलिखित प्रतियाँ मिली हैं जिनमे अद्धालियों के सामने सख्या दी गयी है जिससे इस प्रवृत्ति का पता चलता है कि उस समय अद्धालियो को ही पूरा छ द माना जाता था। अत व्यवहार मे प्रचलित होने के कारण विषमसख्यक अद्धालियो के प्रयोग को कवि के छ द ज्ञान का अभाव नही कहा जा सकता। कारण यह है कि तुलसी ने पिंगल की व्यवहार सिद्ध पद्धतियो को ही अधिक अपनाया है, शास्त्रीय नियमो को नही। इसका दूसरा प्रमाण यह है कि उन्होने जायसी की तरह कहीं कहीं पद्रह मात्रा की चौपाइयाँ भी रखी हैं, जैसे—

भूमि सप्त सागर मेखला। एक भूप रघुपति कोसला। ७-२२

इस तरह की अद्धालियो के उदाहरण 'मानस' म बहुत मिलेंगे। दूसरी बात यह है कि पद्मावत, 'मानस' आदि कडवकबद्ध ग्रथो म डिल्ला या अडिल्ल (अरिल्ल) छ द को भी चौपाई ही मान लिया है, जैसे—

अगनित रवि ससि सिव चतुरानन। बहु गिरि सरित सिन्धु महि कानन। १-१०२

यह डिल्ला या अरिल्ल छ द है जिसमे प्रत्येक चरण मे १६ मात्रायें और अन्त मे जगण होता है। पर इसका प्रयोग 'मानस' मे आद्यन्त चौपाइयों के बीच चौपाई रूप मे ही हुआ है। दोहों के सम्बन्ध मे भी यही बात दिखाई पडती है। पद्मावत की तरह 'मानस' मे भी अनेक दोहो म प्रथम और तृतीय चरणो मे १३ की जगह १२ मात्राएँ ही मिलती हैं, यथा—

सुर समूह बिनती करि पहुचे निज निज धाम।
जग निवास प्रभु प्रगटे अखिल लोक बिश्राम। १-१०१

ऐसे दोहों की सख्या 'मानस' मे कम नही है। त्रिभगी छन्द मे ३२ मात्राएँ और अन्त म गुरु होना चाहिए पर 'मानस' मे कहीं कही २९ और कहीं कहीं

२ डा० रामसिह तोमर —"अपभ्रंश मे कवि छन्द के दो चरणो को स्वतत्र चरण मान लेते है अर्थात् चौपाई के पूरे चार चरण लिखने की आवश्यकता नही समझते है। दो चरण से ही छन्द समाप्त कर देते है।"— 'जैन साहित्य की हिंदी साहित्य को देन'—प्रेमी अभिनन्दन ग्रथ, पृ० ४६८।

३० मात्राओ और अन्त मे लघु का प्रयोग हुआ है (१-१९२)। अत इस सब ध मे यह तो नही हा माना जा मकता कि तुलसी को दोहा चोपाइ के पिगल शास्त्रीय नियमो का पता नही रहा होगा। वस्तुत इन छन्दो के एकाधिक रूप इस काल म प्रचलित थे तभी तो अनेक कविया मे यह बात समान रूप से पाई जाती है। सच बात तो यह है कि तुलसी ने शब्द, सगीत, लय और भावाभिव्यजना को ही अधिक महत्त्व दिया है, पिगल शास्त्र के नियमो की अवहेलना की, यदि वह लोक विहित हो, उन्होने अधिक चिन्ता नही की है। यह कवि को स्वतत्र प्रवृत्ति का फल है कि उसकी छ द शैली मे सहज और सरल प्रवाह दिखाई पडता है।

भाषा और शब्द चयन

अपभ्रश के कवियो ने लोक भाषा मे काव्य लिखने के लिए अपने काव्यो मे अनेक स्थला पर सफाइ दी है। उन्ही कविया की तरह तुलसी भी प्रारम्भ मे ही यह आशका प्रकट करते हैं कि लोक भाषा मे लिखने के लिए सस्कृत-भाषा और का य परपरा के प्रेमी उन्हे दोष देगे। वे स्वय भी लोक भाषा मे लिखने मे विशेष गौरव का अनुभव नही करते पर उनको विश्वास है कि राम कथा लिखने के कारण उनका देशी भाषा का का य भी आदृत होगा और इससे अधिक से अधिक लोगा का हित साधन भी होगा

भाषा भनिति मोरि मति भोरी। हसिबे जोग हँसे नहीं खोरी।१-९

× × ×

भनिति भदेस बस्तु भलि बरनी। राम कथा जग मगल करनी।१-१०

× × ×

राम सुकीरति भनिति भदेसा। असमजस अस मोहि अँदेशा। १-१४

किन्तु तुलसीदास को भरोसा यही था कि उनके पहले भी लोक भाषा म हरिचरित लिखा जा चुका था —

जे प्राकृत कवि परम सयाने। भाषा जिन्ह हरि चरित बखाने।

यहाँ प्राकृत कवि का अभिप्राय प्राकृत और अपभ्रन्श मे राम कथा लिखने वाले विमलसूरि, स्वयम्भू, पुष्पदन्त आदि कवियों से है। रामचरितमानस की भाषा ओर शैली पर स्वयभू का प्रभाव तो स्पष्ट दिखलाइ पडता है जिसका उल्लेख चाथे अध्याय मे किया जा चुका है। स्वयभू ने अपनी काव्य सरिता वाले रूपक मे काव्य की भाषा के सम्बन्ध म लिखा है

अक्खर भास जलोह मणोहर। सुअसकार छन्द मच्छोहर ।
दीह समास पवाहावंकिय । सक्कय पायय पुलिणालंकिय ।
देसी भासा उवय तडुज्जल। कवि दुक्कर घण सद्द सिलायल ।
पउमचरिउ–१–१–७

तुलसी ने स्वयम्भू की तरह अपने काव्य सरोवर वाले रूपक में, जो पहले उद्धृत किया जा चुका है, छन्द और अलंकार के साथ भाषा, ध्वनि, वक्रोक्ति, गुण आदि का रूपक भी उपस्थित किया है। उन्होंने 'मानस' के छन्दों को कमल, भाषा को सुगंध, और ध्वनि, वक्रोक्ति आदि को मनोहर मीन कहा है। यह रूपक 'मानस' के छन्द और भाषा को देखते हुए बहुत ही यथार्थ प्रतीत होता है। जनता के लिए मानस के आकर्षण का एक बड़ा कारण उसकी सुन्दर भाषा और ललित छन्द हैं। सुन्दर भाषा का अर्थ न तो जायसी वाली ठेठ जन भाषा है और न पंडितों वाली समास बहुला संस्कृत गर्भित कृत्रिम भाषा। उसमें स्वयम्भू की आदर्श भाषा का अनुसरण किया गया है जिसमें दीर्घ समास वाले वाक्य और संस्कृत प्राकृत के दुष्कर शिलाखंड जैसे शब्द तो हैं पर उनकी काव्य सरिता देशी भाषा के उज्ज्वल तटों के बीच से ही प्रवाहित होती है। मानस की भाषा में इसी तरह विविध भाषाओं का समन्वय दिखाई पड़ता है। किसी कवि की यह उक्ति गंग के विषय में भले ही अतिरंजित हो पर तुलसी के बारे में तो वह बिल्कुल सही है "तुलसी गंग दुवो भये सुकबिन के सरदार। जिनकी कविता में मिली भाषा विविध प्रकार"। विविध प्रकार की भाषा मिलने का अर्थ खिचड़ी भाषा बनाना नहीं बल्कि प्रचलित शब्दों को चुनकर तथा परम्परागत भाषा को ग्रहण कर भाषागत समन्वय उत्पन्न करना है। इस सम्बन्ध के कारण ही 'मानस' की भाषा जितनी परिमार्जित वैविध्यपूर्ण, प्रांजल और प्रवाहयुक्त है उतनी हिन्दी के अन्य किसी कवि की नहीं। तुलसी ने गम्भीर भावनाओं की अभिव्यक्ति और स्थान स्थान पर तदनुरूप संस्कृत के तत्सम शब्दों के प्रयोग द्वारा लोक भाषा को भी इतना परिष्कृत और गम्भीर बना दिया है कि संस्कृत की परम्परा से प्रेम रखने वालों को भी उसमें उतनाही आनन्द आता है जितना संस्कृत काव्यों में। किन्तु संस्कृत गर्भित और समास बहुला भाषा का प्रयोग 'मानस' में सब स्थानों पर नहीं हुआ है। कवि ने पात्रों के अनुसार भाषा का प्रयोग किया है। निषाद, शबरी तथा ग्राम बधुओं की भाषा और वशिष्ठ, राम, लक्ष्मण तथा नारदादि ऋषियों की भाषा में बहुत अन्तर है। पहले प्रकार के पात्रों के मुख से तुलसी ने मुहावरों से भरी हुई व्यावहारिक भाषा का प्रयोग कराया है, और दूसरे

प्रकार के पात्रों द्वारा तत्सम शब्दावली वाली भाषा का। दार्शनिक विवेचन, भक्ति निरूपण, स्तोत्र और गोष्ठी वार्ता म यह दूसरा प्रकार की भाषा ही व्यवहृत हुई है। कही कहीं तो तुलसी ने अवधी मे सस्कृत का इतना अधिक पुट दे दिया है कि वह सामान्य जनता के लिए अत्यन्त दुरूह हो गयी हैं।

भावानुरूप शब्दों के प्रयोग की ओर भी तुलसी ने बहुत अधिक ध्यान दिया है। उदाहरणार्थ रूप वर्णन और शृगार रस के प्रसग मे उनकी कोमल कान्तपदावली दर्शनीय है। कहीं कही वर्ण ध्वनि द्वारा भी कवि ने भावों को मूर्त किया है—

ककन किंकनि नूपुर धुनि सुनि। कहत लखन सन राम हृदय गुनि।

× × ×

सुन्दरता कहँ सुन्दर करई। छवि गृह दीप सिखा जनु बरई। १–२३०

× × ×

चितवत चकित चहूँ दिसि सीता। कहँ गये नृप किसोर मनचिता।
जह विलोकि मृग सावक नैनी। जनु तह वरिस कमल सित श्रेनी।१ २३२

इस तरह 'मानस' मे तुलसी शब्दों के जौहरी और भाषा के कुशल शिल्पी के रूप मे भी दिखाई पडते हैं। उ हे भावाभि यक्ति के लिए शब्दा का अभाव नही हाता, शब्द गढ कर, धातुओ से क्रियाये बनाकर, विदेशी शब्दा को अवधी रूप देकर और विभिन्न प्रान्तों की बोलियो के ठेठ शब्दो का निस्सकोच प्रयाग करके उन्होंने भाषा मे अत्यधिक अभिव्यजना शक्ति भर दी है। भाषा पर पूर्ण अधिकार होने के कारण 'मानस' मे भाषा सबधी वह एकदेशीयता या एकरसता नही है जो पद्मावत में है। कही कही उन्हाने लक्षणा व्यजना के प्रयोग से ध्वनि और वक्रोक्ति का सौदर्य भी उत्पन्न किया है पर ऐसे स्थल कम हैं, साथ ही वे बडे ही स्वाभाविक हैं। अधिकतर तुलसी की भाषा अभिधात्मक और रसपूर्ण है। भावो और रसो के अनुरूप मानस की भाषा मे माधुर्य, प्रसाद तथा ओज तीनो गुणा का समान योग दिखाइ पडता है। कुछ लोगा का यह कहना है कि 'मानस' मे रूपकात्मक पद्धति अपनाइ गयी है अर्थात् उसके सभी पात्र और स्थान किसी न किसी मनोवृत्ति या आध्यात्मिक तत्त्व क प्रतीक हैं। इस कल्पना का आधार बेवर का वह मत है जिसके अनुसार वाल्मीकि रामायण एक रूपकात्मक काव्य है। उनके अनुसार रामायण की कथा ऐतिहासिक सत्य नहीं बल्कि वह वेदो के देवासुर सग्राम की प्रतीकात्मक कथा है जिसमे राम, सीता और रावण क्रमश इन्द्र, पृथ्वी और वृत्र के प्रतीक हैं। वाल्मीकि की राम-कथा चाहे जो हो, पर तुलसी

की राम कथा प्रतीकात्मक या काल्पनिक नही है। तुलसी ने उसे अत्यन्त विश्वास के साथ ऐतिहासिक सत्य के रूप म हो लिया है। उनके राम इन्द्र के प्रतीक तो हो ही नहीं सकते क्योंकि तुलमी ने इ द्र तथा अन्य देवताओ की कई जगहो पर बडी भर्त्सना की है। तुलसा के राम ब्रह्म क प्रतीक भी नहीं हैं क्याकि तुलसी के लिए तो वे स्वय ब्रह्म हैं। 'मानस' म रामभक्ति की जिस सव सुलभ साधना पद्धति का प्रतिष्ठा हुई उसके भीतर गुह्य साधना म विश्वास रखने वाले सम्प्रदायो की तरह रहस्यात्मक प्रतीका और सकेतो के लिए स्थान नहीं था। अत 'मानस' की राम कथा कार्य कारण की परम्परा से युक्त, कमफल, जन्मान्तरवाद और अवतारवाद के पौराणिक विश्वासो क आधार पर निर्मित और अभिधेयार्थक है। उसमे कोई प्रतीकार्थ खोजना बेकार है। उसके पात्र वस्तुत 'टाइप्स' हैं और किसी विशेष 'टाइप' के लोगो की जो मनोवृत्तियाँ होती हैं उनम उन सबका एक साथ रख दिया गया है जिससे वे पात्र उन मनोवृत्तया के प्रतीक जेसे लगते हैं। पर यह आभास मात्र हैं, तुलसी ने जान बूझ कर प्रतीकात्मक पात्रो और घटनाओं की योजना नही की है।

७ प्रभावान्विति और रसव्यजना

इसम तो कोइ सन्देह नही है कि रामचरितमानस म उत्कृष्ट कोटि की रस वत्ता है किन्तु उसका अगी रस कोन है, यह अवश्य एक विवादग्रस्त प्रश्न है। कुछ लोग उसे वीररस प्रधान, कुछ शान्तरस प्रधान और अधिकतर विद्वान भक्ति रस प्रधान का य मानते है। यदि केवल आधिकारिक कथा की दृष्टि से ही देखा जाय तो निस्सन्देह उसमें वीररस को प्रधान मानना पडेगा क्योकि उसके नायक का प्रति नायक के वध के बाद महान राज्य का फल प्राप्त होता है और इस फल की प्राप्ति के लिए वह असीम साहस, धैर्य, कष्टसहिष्णुता, त्याग और वीरता का प्रदशन करता है। वाल्मीकि रामायण म तो राम का चरित्र महान अकुतोभय वीर का ही चरित्र है पर मानस क राम म उनकी विनम्रता, भक्तवत्सलता और मर्यादा के कारण उनका वीर रूप कुछ दबा सा है। फिर भी उनके जीवन म वीरता के कार्यों की ही प्रधानता है और अन्त मे उनके अडिग उत्साह और उद्दाम साहस का यह परिणाम होता है कि रावण जेसा विश्वविजयी वीर मारा जाता है और सारा विश्व राम के अधीन हो जाता है, ससार के ऊपर राक्षसा के अत्याचार के भय की छाया हट जाती है और राम अखड और आदर्श धर्म राज्य की स्थापना करते हैं। अत यदि प्रथम और सप्तम सोपान की अवान्तर कथाओं तथा पूरे काव्य में बिखरे हुए स्तोत्रों, उपदेशो और तत्व विवेचना को हटा कर देखा जाय तो 'मानस' पूर्णतया वीररस का महाकाव्य प्रतीत होत है।

और राम युद्धवीर, दानवीर, धमवार, और कमवीर इन चारो रूपो मे दिखाई पडते हैं।

किन्तु 'मानस' का समग्र प्रभाव वीरकाव्य जैसा नही है और इसका कारण भी स्पष्ट है। तुलसी ने स्वय 'मानस' को वीरका य क रूप मे नही लिखा है। तुलसी के राम सामान्य मानव नहीं, साक्षात् सगुण ब्रह्म हैं और वे कवि के का य नायक ही नही, परम आराध्य भी हैं। 'मानस' के अधिकाश पात्र राम के भक्त हैं, यहाँ तक कि रावण भी शत्रु भाव से उनकी उपासना करता है और उनके हाथ से मारे जाने पर उसकी ज्योति राम क ही मुख मे समा जाती है। तुल्सी न जिन पात्रा का महत्व बढाना चाहा है उ हे राम का भक्त बना दिया है। राम भी इतने उदार, धीर और भक्तवत्सल हैं कि नाच से नीच यक्ति को भी भक्ति भावना से शरण मे आने पर अपनाते हैं। शिव कथा और भुशुण्डि कथा को 'मानस' मे रखने का उद्देश्य राम के इस ब्रह्म और भक्तवत्सल रूप को प्रधानता देना ही है। कवि ने स्वय काव्य के आदि मे रामनाम और रामभक्ति का माहात्म्य बडे समारोह और विस्तार से बताया है। स्तोत्र, उपदेश और तत्वविवेचन भी राम को अलौकिक नायक सिद्ध करने के लिए ही रखे गये हैं। इस तरह तुलसी ने राम के इस स्वरूप को उनके वीर स्वरूप से बहुत ऊपर उठा दिया है। रामावतार का कारण उ होने केवल रावण का अत्याचार नही माना है, बल्कि कश्यप, अदिति, मनुशतरूपा की उन्हे पुत्ररूप मे प्राप्त करने की इच्छा की पूर्ति और नारद, भृगु आदि भक्तों के शाप को स्वीकार कर उनकी मर्यादा वृद्धि को भी रामावतार का लक्ष्य बताया है। निष्कष यह है कि राम कथा के भीतर तुलसी ने जो अलौकिक वातावरण और आध्यात्मिक दशन भर दिया है उससे 'मानस' मे एक ऐसे रस की निष्पत्ति होती है जो नाटका के लिए मान्य आठ रसा से भिन्न प्रकार का है। अब प्रश्न यह है कि वह शान्त रस है या भक्ति रस।

भारतीय नाटको मे प्राय शान्त रस को स्थान नही मिला है और उसका अभिनय असभव होने से या उसका आलम्बन अलौकिक होने से ही भरत मुनि ने केवल आठ ही रस माने हैं, शान्त रस को नही माना है। जिन प्रबन्ध काव्यों के कथानक मे नाटकीय तत्त्व अधिक होगे उनम भी शान्त रस की निष्पत्ति सभव नहीं है। इसी कारण 'मानस' की आधिकारिक कथा मे शान्तरस प्रधान नही है क्योकि उसके आश्रय राम स्वय ब्रह्म हैं। वे स्वय ब्रह्म को प्राप्त करने का प्रयत्न नही करते, न ससार के प्रति उनका निर्वेद ही दिखाई पडता है। वे तो नर-लीला करते हैं और दूसरो को अपनी भक्ति का उपदेश देते हैं। अत 'मानस' की आधिकारिक कथा मे शान्त रस नहीं हैं, उसमे तो

वीर रस ही प्रधान है। किन्तु कथानक की दृष्टि से न देख कर पूरे काव्य के समग्र प्रभाव की दृष्टि से देखा जाय तो उसमे कथा के सभी पात्र, 'मानस' का कवि और पाठक सभी आश्रय और राम आलबन प्रतीत होते हैं। इसी अर्थ मे तुलसी ने कहा है कि 'मानस' के आदि, मध्य और अन्त मे प्रतिपाद्य भगवान राम ही हैं —

जेहि मह आदि मध्य अवसाना। प्रभु पतिपाद्य रामभगवाना। ७–६१

प्रतिपाद्य से कवि का तात्पर्य आलबन से है। ऐसी हरि कथा का फल राम के चरणो मे दृढ प्रेम होना ही है

जाइहि सुनत सकल सदेहा। राम चरन होइहि अतिनेहा। ७–६१

× × ×

मिलहि न रघुपति बिनु अनुरागा। किये जोग तप ज्ञान बिरागा। ७–६२

इस राम कथा के अधिकारी या आश्रय उसके श्रोता ही हैं

सना सुनहि सादर नर नारी। तेइ सुर वर मानस अधिकारी। १–३८

इस तरह कवि के अनुसार 'मानस' मे 'आश्रय' श्रोता या भक्त जन, आलबन राम और उसका फल राम भक्ति या राम के चरणो मे अनुराग है। राम भक्ति का स्थायी भाव आत्मिक या अलौकिक रति है।

समग्र प्रभाव की दृष्टि से 'मानस' का प्रधान रस वीर तो नहीं ही है, शान्त भी नही है। शान्त रस मे स्थायी भाव शम या निर्वेद होता है और उसका फल मुक्ति की प्राप्ति होता है। रति या आकर्षण, चाहे वह अलौकिक ही क्यो न हो, शात रस के स्थायी भाव निर्वेद का विरोधी है। वस्तुत शान्त रस अद्वैतवादी दर्शन या अन्य निर्वेद मूलक दर्शनो की वस्तु है। भक्ति मार्ग मे, चाहे वह वात्सल्य, सख्य, माधुर्य या दास्य किसी भाव की उपासना का मार्ग हो, ब्रह्म के प्रति आकर्षण या रति का होना अनिवार्य है। वैष्णव भक्त इसीलिए ससार को सर्वथा त्याग कर मुक्ति नही चाहते, वे बार बार जन्म लेकर भगवान के सगुण विग्रह का अनुराग प्राप्त करना और उसकी माधुरी का रसास्वादन करना चाहते हैं। अत 'मानस' मे जो प्रधान रस है वह अलौकिक शृगार रस ही है और इसी को गौडीय वैष्णव आलकारिको ने भक्ति रस कहा है। सस्कृत के पुराने आलकारिको ने भक्ति को रस नही माना है। विश्वनाथ कविराज ने वात्सल्य रस को दसवाँ रस माना है पर उसे महत्त्व नहीं दिया है। आचार्य मधुसूदन सरस्वती ने अपने 'भक्ति रसायन' नामक ग्रथ मे लिखा है कि अन्य रसो के समान विभावादिको से युक्त भगवद्रति भी रसत्व को प्राप्त होती है, यह

परिपूर्णरसा भगद्रति अन्य क्षुद्र रसो से अत्यधिक बलवती है।[1] इस विवेचन से स्पष्ट है कि भगद्रति को लौकिक श्रृगार के स्थायी भाव रति के भीतर लेना उचित नहीं है, अत भक्ति का स्वतत्र रस माना जा सकता है। ऐसा मान लेने पर 'मानस' म भक्ति रस की ही प्रधानता सिद्ध होती है।

निष्कर्ष यह है कि रामचरितमानस का आधिकारिक कथा म वीर रस अगी रस है पर ग्रथ का पर्यवसान वीर रस मे नही बल्कि भक्ति रस म हुआ है। प्रथम सोपान के पूर्वार्ध मे भी भक्ति रस ही प्रधान है और आधिकारिक कथा के मध्य मे भी भक्ति रस का स्थान वीर रस क बाद ही है। अत समग्र रूप म भक्ति रस की प्रधानता है। 'मानस' मे श्रृगार, अद्भुत, रौद्र, बीभत्स, भयानक, और हास्य रसो की योजना भी स्थान स्थान पर हुई है पर ये सभी रस अग रूप म ही हैं, अगी रूप म नही। पूरे काव्य मे आदि से अन्त तक इन रसों और अन्य सचारी भावो का नैरन्तर्य दिखाई पडता है। आचार्यो ने महाकाव्य मे श्रृगार, वीर और शान्त रस मे से किसी एक का अगी होना आवश्यक माना है। परिवर्तित युग की आवश्यकताओ और अपने काव्य के उद्देश्य के अनुरूप तुलसी ने आचार्यो के उक्त मत को न मान कर 'मानस' मे भक्ति रस को प्रधानता दी है और इस तरह अन्यत्र भी स्वतत्र वृत्ति का परिचय दिया है। 'मानस' की यह रसव्यजना अत्यत गभीर रूप म दिखाई पडती है अर्थात् उसम श्रोताओ, पाठको को स्थायी रूप से अभिभूत और रससिक्त कर देने की शक्ति है। पर यहाँ यह बात भी ध्यान मे रखने की है कि यदि अधिकारिक कथा का अगी रस कुछ हो और पूरे काव्य का अगी रस कुछ और, तो यह प्रबन्धकाव्य का दृष्टि से दोष ही माना जायगा क्योंकि इससे रस की अन्विति मे बाधा होती है। दोष का परिमार्जन इस रूप मे हो जाता है कि नाटको या महाकाव्यो मे रस निष्पत्ति की जो पद्धति अपनाई जाती थी, तुलसी ने उसे नही अपनाया है। उन्होने स्वतत्र पथ का अवलम्बन किया है। अत उनके काव्य को समग्र प्रभाव की दृष्टि से ही देखना

१ आचार्य मधुसूदन सरस्वती

रसान्तर विभावादिसकीर्ण भगवद्रति।
चित्ररूप वदन्याद्यग्ररता प्रतिपद्यते।
× × ×
परिपूर्णरसा क्षुद्ररसेभ्यो भगवद्रति।

क्रोशोत्सव स्मारक सग्रह पृष्ठ ४२७ मे अयोध्यासिह उपाध्याय'हरिऔध के निबन्ध से उद्धृत।

अधिक समीचीन है। 'मानस' का समग्र प्रभाव चिरस्थायी पडता है जो राम के ऐश्वर्य, पराक्रम तथा अन्य अलौकिक गुणों को प्रकाशित कर उनके आदर्शों को अपनाने और उनको ईश्वर रूप मे स्वीकार करके उनके प्रति अनुराग उत्पन्न करने की प्रवृत्ति के रूप मे दिखाई पडता है। यही समन्वित और स्थायी प्रभाव 'मानस' मे गभीर रस यजना के रूप मे परिणत हुआ है।

८ जीवनी शक्ति और प्राणवत्ता—

यह तो निर्विवाद है कि विकसनशील महाकाव्यो मे जितनी जीवनी शक्ति और प्राणवत्ता होती है उतनी अन्य किसी काव्यरूप मे नही होती। किंतु रामचरितमानस इस नियम का अपवाद है। यह एक आश्चर्यजनक बात है कि रचना काल के कुछ सौ वर्षो के भीतर ही इस काव्य का जितना अधिक प्रचार हुआ है और लोक जीवन को इसने जितनी गहराई तक प्रभावित किया है उतना ससार के किसी भी महाकाव्य ने शायद ही कभी किया हो। किसी युग मे इलियड आडेसी का यूनान के लोक जीवन पर बहुत अधिक प्रभाव था पर यह प्रभाव यूनान जैसे छोटे देश के भीतर ही था और वहाँ भी इन महाकाव्यो का धर्मग्रन्थ के रूप मे प्रचार नही था। रामायण महाभारत ने भी हजारो वर्षो तक समस्त भारत को गहराई तक प्रभावित किया है और वे धर्मग्रन्थ के रूप मे आज भी मान्य हैं पर ये काव्य कभी अपने मूलरूप मे अपढ ग्रामीण जनता के कण्ठ मे भी व्याप्त थे, इसमे सदेह है क्योंकि दो हजार वर्षों से संस्कृत भाषा, जिसमे ये ग्रन्थ लिखे गये हैं, कभी जनता की भाषा नहीं रही है। अत रामचरितमानस ससार का ऐसा अकेला महाकाव्य है जिसका करोडो व्यक्तियो के बीच एक विशाल भूखण्ड में धर्मग्रन्थ के रूप मे आदर है, जिसका धर्मग्रन्थ और काव्य दोनो ही रूपों में लक्ष लक्ष जनता नित्य पाठ और समवेत गान करती है, जिसका नाटक के रूप मे अभिनय होता है और जिसके छन्दों को पवित्र समझ कर उनसे अपने भविष्यसूचक प्रश्नो का उत्तर निकाला जाता है। अकेले यह ग्रन्थ उत्तरी भारत के एक बहुत बडे समुदाय की जीवन धारा को मोडने मे समर्थ हुआ है। इस सम्बन्ध मे डा० ग्रियर्सन का यह कथन उल्लेखनीय है, 'साहित्य की दृष्टि से रामायण के गुणों को एक ओर रखकर यह बात अवश्य उल्लेखनीय है कि यह ग्रन्थ यहाँ की सब जातियो द्वारा अगीकृत है। पजाब से भागलपुर तक और हिमालय से नर्मदा पर्यन्त उसका प्रभाव है। यह राजमहल से लेकर झोपडी तक प्रत्येक मनुष्य के हाथो मे देखी जाती है और हिन्दू जाति के प्रत्येक वर्ण द्वारा, चाहे वह उच्च हो या नीच, धनी हो या निर्धन, युवा हो या वृद्ध, एक रूप में पढी सुनी जाती अथवा आदृत होती है। वह हिन्दू

जनता के जीवन, भाषा अथवा चरित मे प्राय तीन सौ वर्ष से ओतप्रोत है और केवल अपने कावतागत सौन्दर्य के लिए ही आदर तथा प्रेम नहा लाभ करती है वरन् यह उनसे पवित्र धम पुस्तक की भाँति सम्मानित होती है। जिस धर्म का उसने प्रचार किया है, वह सादा और उच्च है एव ईश्वर के नाम के पूर्ण विश्वास पर निर्भर है[१]। डा० ग्रियर्सन का यह भी कहना है कि इगलैड मे बाइबिल का जितना प्रचार है उससे कही अधिक प्रचार गगा की घाटी मे रामचरितमानस का है[२]। रामचरितमानस का इतना अधिक प्रचार और आदर ही इसका सबसे बडा प्रमाण है कि उसम अनन्त और अनवरुद्ध जीवनीशक्ति भरी हुई है। ऐस ही काव्य अमरकाव्य कहे जाते हैं। महाकाव्य मे जीवनी शक्ति की वह अक्षुण्णता या अमरता आवश्यक है और इस दृष्टि से 'मानस' एक अमर महाकाव्य है।

रामचरितमानस की इस अनवरुद्ध जावनीशक्ति का मूल कारण कवि का वह महान व्यक्तित्व है जो 'मानस' की आत्मा म व्याप्त है। उसे कवि का जीवनादर्श या जीवन दर्शन कह सकते हैं। इसी जीवन-दशन के कारण 'मानस' मे वह सशक्त प्राणवत्ता आ सकी है जिससे सारे विश्व मे उसका महत्व उत्तरोत्तर बढता ही जा रहा है। ससार की अनेक भाषाओ मे उसका अनुवाद हो चुका है। इस तरह तुलसीदास का स्थान होमर, व्यास, वाल्मीकि, कालिदास, शेक्सपीयर, गेटे आदि महान कवियों के समकक्ष विश्व कवि के रूप मे मा य हो गया है। ग्रियर्सन ने तुलसीदास को उनके प्रभाव की दृष्टि से एशिया के तीन या चार महानतम कवियो मे से एक माना है[३]। पर यदि प्रभाव को ही मानदड मानकर स्थान निर्धारण करना हो तो तुलसी को एशिया ही नहीं, ससार के तीन या चार श्रेष्ठतम कवियों मे मानना होगा। हिन्दी के तो वे सवश्रेष्ठ कवि हैं ही। हि दी मे तुलसी का स्थान निर्धारित करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है, "काव्य के प्रत्येक क्षेत्र मे हमने उन्हे उस स्थान पर देखा, जिस स्थान पर उस क्षेत्र का बडा से बडा कवि है। मानव अन्त करण की सूक्ष्म से सूक्ष्म वृत्तियो तक हमने उनकी पहुँच देखी, बाह्य जगत के नाना रूपो के प्रत्यक्षीकरण में हमने उन्हे तत्पर पाया। यदि कोई पूछे कि जनता के हृदय पर सबसे आधक

१ डा० जी० ए० ग्रियर्सन—
The modern Vernacular Literature of Hinduatan Page 42 Calcutta 1889

२ डा० जी० ए० ग्रियर्सन जे० आर० ए० यस०, जुलाई १९०३, पृ० ४५९

३ वही, पृ० ४५५।

विस्तृत अधिकार रखने वाला हिन्दी का सबसे बडा कवि कौन है तो उसका एक मात्र यही उत्तर ठीक हो सकता है कि भारत हृदय, भारतीयकठ भक्त चूडामणि गोस्वामी तुलसीदास[१]" । 'ऐसे महान कवि ने जिस महाकाव्य म अपनी समस्त प्राणशक्ति, अपना सपूण व्यक्तित्व ढाल कर रच दिया हो उसम सशक्त प्राणवत्ता और जीव तता का होना स्वाभाविक है । इस महाकाव्य के माध्यम से कवि ने अपने जिन महान आदशो ओर लोकमगल क उद्देश्यो को भारतीय जनता के पास तक पहुँचाना चाहा है वे लक्ष्य भेद कर चुके हे । यह सही है कि तुलसी ने राम को सामन्ती युग के एक आदर्श, सवशक्तिमान और धम रक्षक महान सम्राट के रूप मे चित्रित किया है पर उन्होने रामराज्य की जो कल्पना की है उसी को महात्मा गा धी ने इस लोकतत्र आर यक्तिस्वातत्र्य के युग म भी अपना आदर्श और लक्ष्य स्थिर किया । इससे प्रमाणित होता है कि तुलसी के जीवनादर्शो मे कुछ ऐसे चिरस्थायी तत्त्व हैं जिनका मूल्य आगामी परिवर्तित युगो म भी बना रहेगा । 'मानस' का जीवन दर्शन उसका मानव तावाद है । इस दशन ने निर्बल, निराह, अत्याचारो से पीडित निराश जनता म जीवन का सचार किया है, सव शक्तिमान भगवान को जन जन तक पहुँचा कर सबको आश्वस्त किया है । यही नही, मानव को ही भगवान रूप मे परिवर्तित कर, भक्त को भगवान से भी बडा बनाकर ओर जीवन आर जगत् का ससारता और भक्ति के क्षेत्र मे उनका महत्व प्रतिपादित करके तुलसी ने मानव को बहुत ऊँचा उठा दिया है । तुलसी दशन म मानव को अपने पापमय जीवन से ऊपर उठकर अपना सुधार करने का अतिम क्षण तक अवकाश है, क्योंकि —

भाव कुभाव अनख आलसहूँ । नाम जपत मगल दिसि दसहू । १–२८

रामचरितमानस ने उत्तरीभारत के लोक जीवन मे किस गहराइ तक प्रवेश किया है, इसका एक प्रमाण यह भी है कि उसके मार्मिक स्थलों की सेकडो उक्तियाँ जनता के भीतर विविध अवसरो पर उदाहरण या मुहावरे के रूप म नित्यप्रति प्रयुक्त होती हे । इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि 'मानस' यहाँ के लोक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र म, व्यावहारिक जीवन के प्रत्येक कार्य म प्रेरणा का अनन्त स्रोत है । ऐसे प्रेरक काव्य मे उस सशक्त प्राणवत्ता और अनवरुद्ध जीवनीशक्ति का होना अनिवार्य है जिसे हमने महाकाव्य का एक स्थिर या आन्तरिक लक्षण माना है ।



१ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, गोस्वामी तुलसीदास, सप्तम सस्करण, पृ० १७४ ७५ ।

नवाँ अध्याय

रूपककथात्मक महाकाव्य-कामायनी

ससार के महाकाव्यो के स्वरूप विकास के अध्ययन से यह स्पष्ट दिखाई पडता है कि प्रत्येक युग के महाकाव्य पर उस युग की प्रवृत्तियो और आदर्शों का प्रभाव अवश्य पडता है, जिसके परिणाम स्वरूप विभिन्न युगों के महाकाव्यो के रूप शिल्प में भी अ तर पटता रहता है। एबरक्रोम्बी ने इस सम्बन्ध मे लिखा है कि ससार के सभी महान महाकाव्यो मे उनके युग की चेतना के अनुरूप भिन्न भिन्न विशेषताये दिखलाई पडती ह, कवि अपने महाकाव्य मे अपने युग की मानव चेतना को, जो पूर्वकाल से उस समय तक की सम्पूर्ण मानव-उपलब्धियो का समष्टि रूप होती है, अभिव्यक्त करना चाहता है। इस तरह युग चेतना महाकाव्य की शैली को भी गहराई तक प्रभावित करती है[1]। इस दृष्टि से बीसवीं शताब्दी मे एक महान प्रतिभाशाली कवि द्वारा लिखे गये महाकाव्य पर युग चेतना का ऐसा प्रभाव पडना स्वाभाविक है जिमसे वह विषयवस्तु और रूपविधान दोनों ही दृष्टियो से पूर्ववर्ती युगो के महाकाव्यो से भिन्न और अपनी निजी विशिष्टताओं से युक्त दिखाई पडे। कामायनी आधुनिक हिन्दी साहित्य का ऐसा ही अमर महाकाव्य है जिसम आधुनिक युग की प्रवृत्तियों और विशेषताओं का पूर्ण प्रतिनिधित्व हुआ है और जो अनेक दृष्टियो से हिन्दी के ही नहीं, अपने युग के पूर्ववर्ती समस्त भारतीय महाकाव्यो से भिन्न, एक निराले स्थान का अधिकारी है।

आधुनिक भारतीय साहित्य और सस्कृति के रूप निमाण मे पाश्चात्य साहित्य और सस्कृति का बहुत अधिक योग है। हमारी अद्यतन सस्कृति और साहित्य का कोई भी अग पाश्चात्य प्रभाव से अछूता नहीं है। अठारहवी उन्नीसवी शताब्दी, मे जब कि अग्रज पाश्चात्य शिक्षा और सभ्यता के प्रचार द्वारा अपनी शक्ति और शासन को भारत मे सुदृढ बना रहे थे, भारतीय सस्कृति का विरोध करना, उसकी हँसी उडाना और यूरोपियनो का अन्ध अनुकरण करना नये पढे लिखे लोगो के एक वर्ग का सामान्य फैशन हो गया था। उसी की प्रतिक्रिया भारतीय सस्कृति के पुनरुत्थान और राष्ट्रीयता के विभिन्न सुधार-

१—एबरक्रोम्बी,—द एपिक, प्रथम सस्करण, पृ० ८८।

वादी और विद्रोही आन्दोलनो के रूप में प्रकट हुइ । बीसवीं शताब्दी मे पाश्चात्य सस्कृति के अनुकरण की प्रवृत्ति तो बहुत कुछ दब गयी किन्तु शिक्षित लोगो में पूर्ववता सामन्ती और पौराणिक रूढिया और मृत जीवन मूल्यों के प्रति घृणा भी हो गयी । उसकी जगह प्राचीन भारतीय सस्कृति के जीवन्त तत्त्वों को पहचान कर पाश्चात्य संस्कृति के सार्वभौम और अत्यावश्यक तत्त्वो के साथ उनका समन्वय करने की ओर प्रवृत्ति बढी । इस तरह आधुनिक ज्ञान विज्ञान के साधनो से सम्पन्न हो कर भारतीय राष्ट्र चेतना अपने सास्कृतिक उत्तराधिकार और धरोहर का लेखा जोखा ठीक करने लगी और वही राजनीतिक, धार्मिक, साहित्यिक और राष्ट्रीय विद्रोह की विविध शक्तियों के रूप में अभिव्यक्त हुइ अथवा सास्कृतिक पुर्नजागरण, नवनिमाण और समन्वय के नाना विध कार्यो मे सलग्न हुई। हिन्दी मे भारत दु युग, द्विवेदा युग और छायावाद युग की साहित्यिकचेतना के विकास मे उपर्युक्त परिस्थितियों और क्रियाशीलता का इतिहास अच्छी तरह देखा जा सकता है । बॅगला मे उन्नीसवी शताब्दी के मध्य में माइकेल मधुसूदन दत्त ने मेघनाद वध नामक महाकाव्य लिखा। उस समय पाश्चात्य सभ्यता में जिन लोगों का आश्चर्य और चमत्कार का चरम रूप दिखाई पडता था, माइकेल मधुसूदन दत्त भी उनमें से एक थे । उन्होने हि दू धर्म का परित्याग कर और इसाइ धम को अपनाकर ही नही, पाश्चात्य शैली मे महाकाव्य की रचना करके भा अपनी विद्राही प्रवृत्ति का परिचय दिया। चिराचरित महाकाव्य रूढियो और छन्द नियमो का परित्याग करके उन्होंने मुक्तछन्द मे मेघनाद वध की रचना की और उसमे राम लक्ष्मण की जगह रावण और मेघनाद को अपनी समस्त सहानुभूति अर्पित की । उन्होंने पाश्चात्य 'एपिक' के नियमो का पालन करते हुए जो महाकाव्य लिखा है उसमे वाल्माकि, व्यास, कालिदास और भवभूति की अपेक्षा होमर, वर्जिल, मिल्टन टैसो, और दान्ते का प्रभाव, और कही कहीं तो स्पष्ट अनुकरण, दिखाई पडता है । आधुनिक भारतीय महाकाव्यों मे मेघनाद वध का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है, किन्तु उसम भारतीय साम्कृतिक परम्परा का पूर्णत अभाव है । इसके विपरीत उसमे तत्कालीन युग चेतना के विद्रोही किन्तु भ्रमित और एकागी पक्ष का ही प्रतिनिधित्व हुआ है ।

किन्तु यदि पाश्चात्य सभ्यता का हमारी सस्कृति और साहित्य पर कुछ बुरा प्रभाव पडा है तो उससे कही अधिक अच्छा प्रभाव भी पडा है । द्रष्टा कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने इस सत्प्रभाव को उसके आने के बहुत पहले हा देख लिया था । इसीलिए उन्होने लिखा है कि 'यूरोप से आये हुए नूतन भावों के सघात

ने हमारे हृदय को सजग कर दिया है, यह बात जब सच है, तब हम उससे लाख विशुद्ध रहने की चेष्टा क्यो न करें, हमारा साहित्य कुछ न कुछ नूतन मूर्ति धारण कर के इस सत्य को प्रकाशित किये बिना न रह सकेगा। ठीक उसी पूर्व पदार्थ की पुनरावृत्ति अब किसी प्रकार नहीं हो सकती—यदि हो तो उस साहित्य को मिथ्या आर कृत्रिम कहा जायगा।"[1] महाकाव्य के सम्बन्ध में यह कथन सर्वथा सत्य प्रतीत होता है। हिन्दी मे तुलसीदास ने महाकाव्य को प्रत्येक दृष्टि से ऐसी ऊँचाई पर पहुँचा दिया था कि परवर्ती युगों म फिर उसी शैली मे आर उन्ही पौराणिक आदर्शा को लेकर रामचरितमानस से अच्छे महाकाव्य का लिखा जाना असम्भव था। उत्तर मध्ययुग मे ह्रासशील संस्कृति और कुठाग्रस्त प्रवृत्तियों के कारण महान आदर्शों से प्रेरित किसी महाकाव्य की रचना नहीं हो सकी। आधुनिक युग का प्रारम्भिक काल (भारतेन्दु युग) सास्कृतिक सक्रान्ति का काल था। अत उस युग मे भी प्राचीन साहित्यिक रूढियो को छाडना और महाकाव्य के रूप मे महान आदर्शो को मूर्त करना सम्भव नहीं था। सुधारवादी आन्दोलनो ओर पुनरुत्थान की प्रबल भावनाओं के कारण बीसवी शताब्दी के प्रारम्भिक कुछ दशको म पौराणिक सामती संस्कृति को तर्क बुद्धि से परिष्कृति—परिमार्जित करके अपनाने की प्रवृत्ति अधिक बढी। उधर हिन्दी पर बँगला साहित्य का सीधा प्रभाव पड रहा था ओर माइकेल मधुसूदन दत्त के प्रबन्धकाव्य और रवीन्द्रनाथ ठाकुर के गीतिकाव्य भी हिन्दी कविता को प्रभावित कर रहे थे। फलस्वरूप द्विवेदी युग मे ऐसे प्रबन्धकाव्यो की रचना हुई जिनमे नवीन मानवतावाद की प्रतिष्ठा की गयी थी। उनमे पौराणिक कथाओं को बौद्धिक दृष्टि से विश्वसनीय बनाने और मानव मे देवत्व की प्रतिष्ठा करने की प्रवृत्ति तो थी ही, प्राचीन काव्यदृष्टियों, छन्द-नियमो और चरित्रसबंधो रूढिबद्ध आदर्शों को त्याग कर नवीन आदर्शो और रूप शिल्प के ग्रहण की भावना भी तीव्र थी। माइकेल मधुसूदन दत्त के विरहिणीव्रजागना ओर मेघनाद वध ने उस काल के हिन्दी कवियो को बहुत अधिक प्रभावित किया। इस तरह द्विवेदी युग मे पौराणिक कथाओ के चरित्रों को लेकर प्रबन्धकाव्य लिखे गये जिनमे उन कथाओं के अतिमानवीय ओर असभव कार्यों का बौद्धिक विश्लेषण किया गया और उन पात्रो को मानवरूप मे उपस्थित किया गया। रामचरित चिन्तामणि, प्रिय प्रवास आदि इसी प्रकार के प्रबन्धकाव्य हैं।

१ रवीन्द्रनाथ ठाकुर—मेघनाद वध—(भूमिका भाग) चिरगाँव, स० १९८४, पृ० १६२।

वादी और विद्रोही आन्दोलनों के रूप में प्रकट हुइ । बीसवीं शताब्दी में पाश्चात्य सस्कृति के अनुकरण की प्रवृत्ति तो बहुत कुछ दब गयी किन्तु शिक्षित लोगो में पूर्ववता सामन्ती और पौराणिक रूढिया और मृत जीवन मूल्यो के प्रति घृणा भी हो गयी । उसकी जगह प्राचीन भारतीय सस्कृति के जीवन्त तत्त्वों को पहचान कर पाश्चात्य सस्कृति के सार्वभौम और अत्यावश्यक तत्त्वो के साथ उनका समन्वय करने की ओर प्रवृत्ति बढी । इस तरह आधुनिक ज्ञान विज्ञान के साधनो से सम्पन्न हो कर भारतीय राष्ट्र चेतना अपने सास्कृतिक उत्तराधिकार और धरोहर का लेखा जोखा ठीक करने लगी और वही राजनीतिक, धार्मिक, साहित्यिक और राष्ट्रीय विद्रोह की विविध शक्तियों के रूप में अभिव्यक्त हुइ अथवा सास्कृतिक पुर्नजागरण, नवनिमाण और समन्वय के नानाविध कार्यो मे सलग्न हुई। हिन्दी मे भारत दु युग, द्विवदी युग और छायावाद युग की साहित्यिकचेतना के विकास मे उपर्युक्त परिस्थितियों और क्रियाशीलता का इतिहास अच्छी तरह देखा जा सकता है। बॅगला मे उन्नीसवी शताब्दी के मध्य में माइकेल मधुसूदन दत्त ने मेघनाद वध नामक महाकाव्य लिखा। उस समय पाश्चात्य सभ्यता म जिन लोगों का आश्चय और चमत्कार का चरम रूप दिखाई पडता था, माइकल मधुसूदन दत्त भी उनमें से एक थे । उन्हाने हि दू धर्म का परित्याग कर और इसाइ धम को अपनाकर ही नही, पाश्चात्य शैली में महाकाव्य की रचना करके भा अपनी विद्राही प्रवृत्ति का परिचय दिया। चिराचरित महाकाव्य रूढियो और छन्द नियमो का परित्याग करके उन्होने मुक्तछन्द मे मेघनाद वध की रचना की आर उसमे राम लक्ष्मण की जगह रावण और मेघनाद को अपनी समस्त सहानुभूति अपित की । उन्होंने पाश्चात्य 'एपिक' के नियमो का पालन करते हुए जो महाकाव्य लिखा है उसमे वाल्माकि, व्यास, कालिदास और भवभूति की अपेक्षा होमर, वर्जिल, मिल्टन टैसो, और दान्ते का प्रभाव, और कहीं कहीं तो स्पष्ट अनुकरण, दिखाइ पडता है। आधुनिक भारतीय महाकाव्यां मे मेघनाद वध का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है, किन्तु उसम भारतीय सास्कृतिक परम्परा का पूर्णत अभाव है। इसके विपरीत उसमे तत्कालीन युग चेतना के विद्रोही किन्तु भ्रमित और एकागी पक्ष का ही प्रतिनिधित्व हुआ है।

किन्तु यदि पाश्चात्य सभ्यता का हमारी सस्क्रति और साहित्य पर कुछ बुरा प्रभाव पडा है तो उससे कही अधिक अच्छा प्रभाव भी पडा है। द्रष्टा कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने इस सत्प्रभाव को उसके आने के बहुत पहले हा देख लिया था। इसीलिए उन्होने लिखा है कि 'यूरोप से आये हुए नूतन भावो के सघात

ने हमारे हृदय को सजग कर दिया है, यह बात जब सच है, तब हम उससे लाख विशुद्ध रहने की चेष्टा क्यों न करें, हमारा साहित्य कुछ न कुछ नूतन मूर्ति धारण कर के इस सत्य को प्रकाशित किये बिना न रह सकेगा। ठीक उसी पूर्व पदार्थ की पुनरावृत्ति अब किसी प्रकार नहीं हो सकती—यदि हो तो उस साहित्य को मिथ्या आर कृत्रिम कहा जायगा।"[1] महाकाव्य के सम्ब ध में यह कथन सर्वथा सत्य प्रतोत होता है। हिन्दो मे तुलसादास ने महाकाव्य को प्रत्येक दृष्टि से ऐसी ऊँचाई पर पहुँचा दिया था कि परवर्ती युगों म फिर उसी शैली मे आर उन्ही पौराणिक आदशो को लेकर रामचरितमानस से अच्छे महाका य का लिखा जाना असम्भव था। उत्तर मध्ययुग मे ह्रासशील सस्कृति ओर कुठाग्रस्त प्रवृत्तियों के कारण महान आदर्शों से प्रेरित किसी महाकाव्य की रचना नहीं हो सकी। आधुनिक युग का प्रारम्भिक काल (भारतेन्दु युग) सास्कृतिक सक्रान्ति का काल था। अत उस युग मे भी प्राचीन साहित्यिक रूढियो को छाडना और महाकाव्य के रूप मे महान आदशो को मूर्त करना सम्भव नहीं था। सुधारवादी आन्दोलनो और पुनरुत्थान की प्रबल भावनाओं के कारण बीसवी शताब्दी के प्रारम्भिक कुछ दशको म पौराणिक सामती सस्कृति को तक बुद्धि से परिष्कृति—परिमार्जित करके अपनाने की प्रवृत्ति अधिक बढी। उधर हिन्दो पर बॅगला साहित्य का सीधा प्रभाव पड रहा था आर माइकेल मधुसूदन दत्त के प्रबन्धकाव्य और रवीन्द्रनाथ ठाकुर के गीतिकाव्य भी हिन्दी कविता को प्रभावित कर रहे थे। फलस्वरूप द्विवेदी युग मे ऐसे प्रबन्ध काव्यों की रचना हुई जिनमे नवीन मानवतावाद की प्रतिष्ठा की गयी थी। उनमें पौराणिक कथाओं को बौद्धिक दृष्टि से विश्वसनीय बनाने और मानव में देवत्व की प्रतिष्ठा करने की प्रवृत्ति तो थी ही, प्राचीन काव्यदृष्टियों, छन्द-नियमो और चरित्रसबंधो रुढिबद्ध आदर्शों को त्याग कर नवीन आदर्शों और रूप शिल्प के गहण की भावना भी तीव्र थी। माइकेल मधुसूदन दत्त के विरहिणीव्रजागना और मेघनाद वध ने उस काल के हिन्दी कवियो को बहुत अधिक प्रभावित किया। इस तरह द्विवेदी युग मे पौराणिक कथाओं के चरित्रों को लेकर प्रबन्धकाव्य लिखे गये जिनम उन कथाओं के अतिमानवीय और असभव कार्यों का बौद्धिक विश्लेषण किया गया और उन पात्रो को मानवरूप मे उपस्थित किया गया। रामचरित चिन्तामणि, प्रिय प्रवास आदि इसो प्रकार के प्रब धका य हैं।

१ रवीन्द्रनाथ ठाकुर—मेघनाद-वध—(भूमिका भाग) चिरगाँव, स० १९८४, पृ० १६२।

प्रथम महायुद्ध के बाद स्वतन्त्रता प्राप्ति के आन्दोलन और नवीन विश्वव्यापी मानवतावादी विचारो के प्रभाव क फलस्वरूप इस देश म जिस नवीन सास्कृतिक चेतना का उदय हुआ उसने भारतीय जनता के चित्त को पौराणिक और साम ती रूढियो के ब धन से बहुत कुछ मुक्त कर दिया। उसने नवीन शक्ति और आत्मविश्वास को जन्म दिया जिसक फलस्वरूप साहित्य मे छायावादी और रहस्यवादी धाराओ का उदय हुआ। इस नवीन धारा के का य के रूप निर्माण म पाश्चात्य रोमाण्टिकसाहित्य का हाथ तो था ही, प्राचीन भारतीय दार्शनिक चि ता धारा और साहित्यपरपरा भी उसक अन्तस् को गहराइ तक प्रभावित किया। इस प्रकार छायावादी मे काव्यधारा के भीतर जो प्रबन्धकाव्य या महाकाव्यात्मक प्रभाव वाले लघु का य लिखे गये उनम प्राचीन और नवीन के बीच आत्मा का सबध स्थापित हुआ, नवीन जीवन-मूल्यों और समन्वयात्मक दशन की प्रतिष्ठा हुइ आर वस्तु सत्य की जगह भाव सत्य अथवा स्थूल का जगह सूक्ष्म को उसक समग्ररूप मे देखने ओर स्वीकार करने की प्रवृत्ति प्रारभ हुई। कामायनी इसी नवान सास्कृतिक चेताना का अभिव्यक्ति करने वाला आधुनिक युग का प्रतिनिधि महाकाव्य है। उसम विषय वस्तु आर रूप शिल्प सबधी जो नवीनतायें दिखलाइ पडती हैं उनका प्रधान कारण उपयुक्त नवीन समन्वयात्मक, सास्कृतिक और साहित्यिक चेतना हो है। उसकी इन्हीं नवीनताओं को लक्ष्य करके महादेवी जी ने लिखा है कि "प्रसाद जी की कामायनी महा काव्यो के इतिहास मे एक नया अध्याय जोडती है, क्योंकि वह ऐसा महा काव्य है जो ऐतिहासिक धरातल पर भी प्रतिष्ठित है और साकेतिक अर्थ में मानवविकास का रूपक भी कहा जा सकता है। कल्याण-भावना की प्रेरणा और समन्वयात्मक दृष्टिकोण के कारण वह भारतीय परम्परा के अनुरूप है।"[1] महाका यो के इतिहास मे नया अध्याय जोडने का तात्पर्य यह है कि कामायनी मे न तो मेघनाद वध की तरह पुरानी सास्कृतिक मान्यताओं को अस्वीकृत और अपमानित करके पश्चिम का अन्धानुकरण किया गया है और न द्विवेदी युगीन प्रबन्धकाव्यो की तरह कृष्ण और राम क आख्याना को लेकर उनकी स्थूल ढग से सुधारवादी व्याख्या करके पुनरुत्थानवादी मनोवृत्ति का प्रदशन किया गया है। इसके विपरीत उसम सामन्ती पौराणिक मान्यताओ का सर्वथा परित्याग करके दार्शनिक और वैज्ञानिक आधार पर शाश्वत जीवन मूल्यों की

१—महादेवी वर्मा—'कामायनी—एक परिचय'—भूमिका, ग्रन्थ लेखक—गगा प्रसाद पाण्डेय, इलाहाबाद, सन् १९४६, पृ० ८।

स्थापना की गयी है। इसके लिए प्रसाद जी ने इतिहास के स्थूल तथ्यो के भीतर मनोवैज्ञानिक और समाजशास्त्रीय अन्वेषण द्वारा चिरन्तन भाव सत्यों को खोज निकालने का प्रयास किया है। कामायनी की भूमिका म उन्होने इस सम्ब ध मे अपने विचार स्पष्ट करते हुए लिखा है कि "आज हम सत्य का अर्थ घटना कर लेते हैं। तब भी उसके तिथि क्रम मात्र से सन्तुष्ट न हाकर मनोवैज्ञानिक अन्वेषण के द्वारा इतिहास की घटना के भीतर कुछ देखना चाहते हैं। उसके मूल म क्या रहस्य है? आत्मा की अनुभूति, हाँ, उसी भाव के रूप ग्रहण की चेष्टा सत्य या घटना बन कर प्रत्यक्ष हाती है। फिर वे सत्य घटनाये स्थूल और क्षणिक होकर मिथ्या और अभाव मे परिणत हो जाती हैं। किन्तु सूक्ष्म अनुभूति या भाव चिरन्तन सत्य के रूप मे प्रतिष्ठित रहता है, जिसके द्वारा युग युग के पुरुषों की और पुरुषार्थो की अभि यक्ति होती रहती है।" इस तरह प्रसाद जी ने कामायनी मे स्थूल पौराणिक या ऐतिहासिक घटनाओं के भीतर निहित सूक्ष्म और चिरन्तन भाव सत्यों की खोज करके उन्हे शाश्वत जीवन मूल्यो के रूप मे प्रतिष्ठित किया है, और उन्हे ही 'आत्मा की अनुभूति' कहा है। इससे स्पष्ट है कि प्रसाद का यह महाकाव्य पूर्ववर्ती सभी भारतीय महाकाव्यों से भिन्न भूमिका पर प्रतिष्ठित है क्योकि उसमे स्थूल घटनाओं और पात्रो की नहीं, सूक्ष्म मनोवृत्तियो ओर भाव नाओं के विकास क्रम की कथा कही गयी है।

कामायनी कथा के मूल स्रोत

सूक्ष्म भाव सत्यों क लिए स्थूल घटनाओं और पात्रो का आधार आवश्यक होता है जिनके माध्यम से उन शाश्वत सत्यों की अभिव्यक्ति की जा सके। यह अवश्य है कि स्थूल दृष्टि वाला कवि बाह्य घटनावली और जीवन-व्यापारा को ही सब कुछ मान कर ऐतिहासिक, पौराणिक या काल्पनिक कथानक की याजना करता है और सूक्ष्म दृष्टि वाले कवि का ध्यान इन बाह्य व्यापारो की ओर उतना नहीं रहता जितना 'आत्मा की अनुभूति' की ओर रहता है। कामायनी मे भी स्थूल कथा ऐतिहासिक है अथवा कम से कम प्रसाद जी ने उसे ऐतिहासिक सत्य मान कर लिखा है। उन्होने कामायनी की भूमिका मे इसका सकत भा दिया है कि उन्हें यह कथावस्तु कहाँ से प्राप्त हुई है। वे घटनायें जिनका वर्णन प्रसाद जी ने कामायनी म ऐतिहासिक तथ्य के रूप मे किया है, ये हैं —

(क)—देवजाति और इन्द्र वृत्र युद्ध, (ख)—जलप्लावन और मनु की रक्षा की घटना, (ग)—मनु और श्रद्धा का सम्बन्ध तथा मनु का किलात आकुलि की

प्रेरणा से काम यज्ञ, (घ)—सारस्वत प्रदेश मे मनु और इडा की भेंट और मनु द्वारा नवीन सृष्टि विधान, (ङ)—मनु इडा-सघष ।

इन घटनाओं के अतिरिक्त कामायनी कथा की अन्य घटनाएँ उत्पाद्य हैं और कवि ने दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक सत्य के रूप मे उन्हें अपनाया है। अत ऐतिहासिक तथ्य न होते हुए भी वे कवि की दृष्टि से शाश्वत भाव-सत्य अवश्य हैं। यहाँ केवल उन स्रोतों पर विचार किया जायगा जहाँ से कवि को उपर्युक्त तथ्य प्राप्त हुए हैं। साथ ही हम यह भी देखेंगे कि मूल स्रोतों की घटनाओं मे कवि ने कथा की कलात्मकता या स्वाभाविकता की दृष्टि से क्या परिवर्तन किया है ।

देवजाति और देवासुर सग्राम

कामायनी का प्रारभ जलप्लावन के बाद एकाकी मनु की चिन्ता से होता है। मनु की चिन्ता के रूप मे कवि ने पहले देव सृष्टि और फिर जलप्लावन द्वारा उसके विनाश का वर्णन किया है। कामायनी के अनुसार देवता 'सर्ग के अग्रदूत', 'नित्यविलासी' परम समृद्ध और ऐश्वर्यशाली, दभी, गर्वीले तथा अमर थे। कामायनी मे कवि ने यह नहीं बताया है कि यह देवजाति कहाँ रहती थी पर इतना तो स्पष्ट ही है कि वह आकाशवासी या किसी स्वर्ग म रहने वाली जाति नही थी अन्यथा जलप्लावन म उसका विनाश नहीं होता। इडा सर्ग (पद ८) मे सरस्वती (वृत्रघ्नी) की घाटी (सारस्वत प्रदेश) मे होने वाले देवासुर सग्राम और देवेश इन्द्र की चर्चा आयी है। अत सारस्वत प्रदेश के आसपास ही देवजाति का निवास स्थान रहा होगा। किन्तु 'सघष' सर्ग में रुद्र और महाशक्ति आदि देवी शक्तियों की बात भी कही गयी है। ये मानवीय नही, अतिमानवीय या प्राकृतिक शक्तियाँ थीं। वैदिक काल मे आर्य जाति ने जिन प्राकृतिक शक्तियों को देवता के रूप मे अपनाया था, प्रसाद ने 'सघर्ष' सर्ग मे उन्हे भी 'देव गण' ही कहा है। अत कामायनी म देवता दो प्रकार के माने गये हैं, देवजाति, जो एक प्राचीन आर्य जाती थी और प्राकृतिक शक्तियाँ—रुद्र, शक्ति आदि। देवजाति और उसके प्रथम सम्राट के बारे म प्रसाद जी ने अपने एक लेख 'प्राचीन आर्यावर्त और उसका प्रथम सम्राट' में विस्तार के साथ विचार किया है[1]। उसमें उन्होंने लिखा है, "आर्यों के अग्रजन्मा देव थे ऐसी ही अनेक विद्वानों और आर्यशास्त्रों की समति है। देवगण की प्रधान भूमि का पता आर्य साहित्य में मेरु नाम से लगता है। कहा जाता है कि

1—कोशोत्सव स्मारक सग्रह—ना० प्र० सभा, काशी, पृ० १६१ ।

मेरु पर देवताओ का स्वर्ग है। पाण्डवों के महाप्रस्थान की यात्रा में उत्तर कुरु के समीप ही मेरु और स्वर्ग का वर्णन मिलता है।"[1] प्रसाद जी ने उक्त लेख में ऋग्वेद, अवेस्ता, बृहत्संहिता, महाभारत, लिंगपुराण, विष्णुपुराण आदि ग्रंथो के उद्धरणो और मेगस्थनीज के आधार पर यह सिद्ध किया है कि देवगण या आदिम आर्य हिमालय के उस पार बलख से स्वात ओर उत्तरी काश्मीर तक के प्रदेश—उत्तर कुरु—म रहते थे, और उसी प्रदेश म सरस्वती नदी अपनी सात सहायक नदियो के साथ बहती थी। प्रसाद जी के अनुसार यही आर्यो की मूल भूमि थी जो भारतवर्ष की सीमा के अन्तर्गत मानी जाती थी और इस प्राचीन सप्त सिन्धु के अन्तर्गत मेरु प्रदेश मे ही अग्रजन्मा उत्पन्न हुए। मेरु पर ही स्वर्ग था।[2] इन अग्रजन्मा आर्यों मे प्रारंभ मे आकाशी वरुण (मित्रावरुण) की उपासना प्रचलित थी। बाद मे इन्द्र ने वरुण उपासना की जगह आत्म पूजा का प्रचार किया, जिसके फलस्वरूप वरुण अनुयायी असुरो के नेता त्वष्टा (जुरथुष्ट्र) और इन्द्र मे विरोध हुआ जिसने देवासुर संग्राम का रूप धारण कर लिया। इन्द्र ने सरस्वती के तट पर त्वष्टा या वृत्र को मारा था जिसके कारण ऋग्वेद मे सरस्वती को वृत्रघ्नी कहा गया है। पराजित होने पर असुर मेरु या उत्तर कुरु से भाग कर दक्षिण-पश्चिम की ओर चले गये। प्रसाद जी का मत है कि इन्द्र आर्यावत के प्रथम सम्राट थे और उन्होने वरुण की उपासना बन्द करके अपनी पूजा चलाई थी। ऋग्वेद के प्रथम मंडल के स्वराज्य सूक्त से प्रसाद जी के इस मत की पुष्टि होती है।

वैदिक मंत्रो से यह भी पता चलता है कि इन्द्र और इनके अनुयायी सोम के बडे प्रेमी थे। इन्द्र ने त्वष्टा के पुत्र विश्वरूप को सोम के लिए मारा था। रामायण मे कहा गया है कि देवगण वारुणी ग्रहण के कारण अपने वैमात्र असुरों से अधिक बलवान और प्रमुदित थे[3]। महाभारत के भीष्मपर्व मे उत्तर कुरु का वर्णन करते हुए कहा गया है कि वहाँ के निवासी गौरवर्ण, अभिजात, संपन्न, निरोग और दीर्घजीवी होते है। प्राचीन आर्यों की ही एक शाखा मे हिट्टाइट या खित्ती (क्षत्रिय) जाति थी। हीरेनगा ने लिखा है कि एशिया माइनर मे सबसे पहले लोहे की खान खोदने वाले इसी जाति के लोग थे।[4]

१—वही—पृ० १६१।

२—वही—पृ० १६९–७०।

३—असुरास्तेन दैतेया सुरास्तेनादिते सुता।
हृष्टा प्रमुदिता आसन् वारुणीग्रहणात्सुरा॥ रामायण

४—कोशोत्सव स्मारक संग्रह,—पादटिप्पणी, पृ० १८८।

प्रसाद जी ने अनेक प्रमाण देकर सिद्ध किया है कि अश्वपालन, वास्तुकला, युद्धकला तथा सभ्यता के अन्य क्षेत्रों में ये अग्रजन्मा आर्य बहुत बढ़ चढ़े थे और उन्होंने सभी जातियों और देशों में इनका प्रचार किया। इसके समर्थन में उन्होंने मनुस्मृति का यह श्लोक उद्धृत किया है —

एतद्देशप्रसूतस्यस सकाशादग्रजन्मन ।
स्व स्व चरित्र शिक्षेरन् पृथिव्या सवमानवा ॥
—मनुस्मृति २–२०

पौराणिक कथाओं में सर्वत्र यह कहा गया है कि देवता अमर, नित्य विलासी, समृद्ध और ऐश्वर्यशाली थे, उनके यहाँ नन्दनवन, कल्पवृक्ष, स्वर्गंगा, अप्सरायें, नृत्य संगीत में निष्णात गन्धर्व, किन्नर आदि थे, उन्हें किसी बात की कमी नहीं थी। प्रसाद जी ने इन बातों को पौराणिक विश्वास के रूप में नहीं अपनाया है, बल्कि ऐतिहासिक शोध के आधार पर उन्होंने वैदिक और पौराणिक गाथाओं में निहित देवताओं और स्वर्ग से सम्बन्धित सत्य का पता लगाने का प्रयत्न किया है और इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि "यह एतिहासिक प्रसंग ७५ सौ वर्ष ईसा पूर्व से भी पहले का है। यह आर्य सभ्यता के इतिहास का आरम्भिक अध्याय है जब इन्द्र ने आत्मवाद का प्रचार किया, जब असुरों पर विजय प्राप्त की और आर्यावर्त में साम्राज्य स्थापन किया। त्रिसप्तक प्रदेश की बसने वाली भिन्न भिन्न आर्य संस्थाओं का, जो अपना स्वतन्त्र शासन करती थीं और आपस में लड़ती थीं, सम्राट बनकर इन्द्र ने एक में व्यूहन किया और वैदिक काल की भरत, तृत्सु पुरु आदि वीर मण्डलियाँ एक इन्द्रध्वज की छाया से अपनी उन्नति करने लगीं।"[1] इन्द्र के समय में ही इस देव जाति ने अत्यधिक भौतिक उन्नति कर ली थी। आत्मवादी होने से इस जाति में भोग की प्रवृत्ति प्रबल थी, भौतिक साधनों की सम्पन्नता के कारण वह धीरे धीरे अतिशय विलासी, दम्भी, उच्छृङ्खल होती गयी। संक्षेप में देवता, उनके स्वभाव, निवासस्थान आदि के बारे में प्रसाद जी का यही मान्यता थी। कामायनी में उन्होंने देवजाति का जो वर्णन किया है वह पौराणिक विश्वास पर नहीं बल्कि उपर्युक्त ऐतिहासिक शोधों पर आधारित है। उन्होंने देवताओं को अमर कहा है जिसका तात्पर्य यही है कि यह जाति परवर्ती काल में इतनी दम्भी हो गयी था कि अपने को अमर समझती थी। पौराणिक कथाओं में ऐतिहासिक सत्य छिपा रहता है। अतः प्रसाद जी ने पुराणों में वर्णित देवताओं की

१—वही, पृ० १९४।

विलासिता, उच्छृङ्खलता और अहवृत्ति को उपयुक्त तर्को के आधार पर ऐतिहासिक सत्य के रूप मे स्वीकार कर लिया है।

जलप्लावन

कामायनी मे प्रारभ मे ही देवजाति की विलासिता का वर्णन करने के बाद प्रलयकालीन जलप्लावन का अत्यत रोमाचकारी वर्णन किया गया है। जलप्लावन की घटना को भी प्रसाद जी ने ऐतिहासिक सत्य के रूप म स्वीकार किया है, पौराणिक विश्वास के रूप मे नही। यह एक ऐसी अद्भुत कथा है कि ससार की अधिकाश प्राचीन जातियों के साहित्य मे उसका वर्णन किसी न किसी रूप मे अवश्य मिलता है। ससार की जलप्लावन सबधी सभी पौराणिक कथाओं मे प्रलय का कारण ईश्वर या अन्य देवताओ का कोप बताया गया है। किन्तु कामायनी में प्रसाद जी ने जलप्लावन को एक प्राकृतिक कोप मात्र माना है। उनका आधार ग्रथ शतपथ ब्राह्मण था। भारतीय साहित्य मे सबसे पहले शतपथ ब्राह्मण मे ही जलप्लावन की कथा आयी है। उसके अष्टम अध्याय के प्रथम ब्राह्मण मे कहा गया है कि 'एक दिन प्रात काल जब मनु ने आचमन के लिए हाथ मे जल लिया तो उसमे एक छोटी सी मछली दिखाई पडी। उसने मनु से कहा कि मेरा पालन करो, मै तुम्हारी रक्षा करूगी। मनु के यह पूछने पर कि तुम कैसे मेरी रक्षा करोगी, मत्स्य ने बताया कि जलप्लावन होने वाला है जिसमे सभी प्रजा (प्राणी) नष्ट हो जायगी, मै उसी स तुम्हारी रक्षा करूगी। मनु ने उसे पहले कुम्भ मे, फिर गड्ढे मे रखा और अन्त मे उसे समुद्र मे छोड दिया। वहाँ महामत्स्य बनकर उसने मनु से कहा कि अमुक वर्ष अमुक तिथि को जल प्रलय होगा, तुम एक नाव तैयार करके उसमे बैठ जाना। मनु ने ऐसा ही किया। जलप्लावन प्रारभ होने पर वह महामत्स्य मनु की नाव के पास आया, मनु ने एक रस्सी से नाव को मत्स्य की सीग से बाध दिया। मत्स्य उसे खीच कर उत्तर गिरि के पास ले गया और मनु से कहा कि अब मैने तुम्हारी रक्षा कर दी, अपनी नाव वृक्ष से बाध दो, ज्यो ज्यों जल नीचे उतरता जाय त्यों त्यो नाव द्वारा तुम भी नीचे उतरते जाना। मनु ने ऐसा ही किया और इसीलिए उस स्थान या अवतरण पथ को "मनोरव सपण" कहा जाता है। ओघ के समाप्त होने तक सारी प्रजा नष्ट हो चुकी थी, अकेले मनु बचे रह गये।" यही कथा कुछ परिवर्तन के साथ महाभारत (वनपर्व—मत्स्योपाख्यान) मे भी आयी है, पर उसमे मनु के साथ सप्तर्षियों की भी नाव मे रक्षा की बात कही गयी है। पुराणों मे भी यह कथा वर्णित है। पर उनमें मनु को राजा और मत्स्य को ब्रह्म

का अवतार (मत्स्यावतार) बना दिया गया है ।[१]

शतपथ ब्राह्मण की जलप्लावन कथा अनेक पाश्चात्य विद्वानो के मत से सेमेटिक स्रोतो से ग्रहण की गयी है[२] । किन्तु मैक्डानल ने इस मत को स्वीकार नही किया है[3] । प्रसाद जी ने तो और आगे बढ कर अनेक प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध किया हे कि जलप्लावन की घटना वस्तुत भारतवर्ष (ब्रह्मावर्त) मे ही ऋग्वेद की रचना के बहुत बाद घटित हुई । इसी कारण ऋग्वेद मे इसका वर्णन नही है, किंतु प्राचीन मिस्र, प्राचीन फारस, बेबीलोन, असीरिया आदि देशो के साहित्य मे उसके जो उल्लेख मिलते हैं वे परस्पर बहुत भिन्न हैं । इससे यह सहज ही प्रतीत होता है कि विभिन्न जातियो ने इस घटना की स्मृति को सुरक्षित रखने के लिए उससे सम्बधित कथा को स्वतन्त्र रूपों मे भिन्न भिन्न ढग से विकसित किया है । ओल्डटेस्टामेण्ट मे प्रारभ में ही जलप्लावन का वर्णन है जिसमे बताया गया हे कि संसार मे जब पाप और अत्याचार बहुत बढ गया तो ईश्वर ने प्राणी मात्र को नष्ट करने का निश्चय किया और पवित्रात्मा नोआ को जलप्लावन की बात बताई और नाव बना कर उसमे सपरिवार बैठ जाने की आज्ञा दी । इस प्रकार नोआ ने नाव मे सभी प्राणियो का एक एक जोडा रखकर जलप्लावन के बाद नई सृष्टि का विस्तार किया ।[५] प्राचीन यूनानी साहित्य मे जलप्लावन की कथा दो रूपों मे कही गयी है, एक मे ऐटिका के जलमग्न होने और दूसरे मे जीयस द्वारा ड्यूकालियन के विनाश के लिए जलप्लावन लाने की कथा वर्णित है । दूसरी कथा के अनुसार ताम्र युग का व्यक्ति ड्यूकालियन एक कक्ष बना कर अपनी पत्नी पीरा (Pyrrha) के साथ उसम बैठ गया । जलप्लावन के नो दिन बाद वह पारनैसस (Parnassus) नामक स्थान पर पहुँचा

१—देखिये = मत्स्यपुराण १–१२०, अग्निपुराण १–१०, पद्मपुराण १–३६, विष्णुपुराण ५–१०, ६–३, भागवतपुराण ८–२४, १२–८, ९, स्कन्दपुराण (वैष्णव खण्ड पुरुषोत्तम महात्म्य खण्ड २), भविष्य पुराण (प्रति सर्ग पर्व–अ ४) कालिकापुराण (अध्याय २५,३४), वायुपुराण (अध्याय ६ सृष्टि प्रकरण) आदि ।

२—एम० विन्टरनित्स–ए हिस्ट्री आव इण्डियन लिटरेचर—प्रथम भाग—इगलिश एडिशन, पृ० २०९–१० ।

३—मैकडानेल, वैदिक माइथोलाजी, पृ० १६० ।

४—काशोत्सव स्मारक सग्रह पृ० १६० ।

५—द ओल्डटेस्टामेण्ट, द फर्स्ट बुक आव मोजेज, चैप्टर ६, ७, ८, ९ ।

और बाद को प्लावन कम होने पर देवताओं के लिए अपने अगरक्षक की बलि दी जिससे प्रसन्न होकर जीयस (Zeus) ने उसकी सन्तान की कामना पूरी होने का वरदान दिया। इसके बाद उन्ही से नई सृष्टि का विकास हुआ।[१] इसी तरह बेबीलोनिया, सुमेरिया और प्राचीन फारस के साहित्य मे भी जल प्लावन सम्बन्धी अनेक कथाएँ मिलती हैं।[२] प्रसाद जी इनमे से अधिकाश कथाओ से परिचित थे, क्योकि उन्होंने अपने उपयुक्त लेख मे बाईबिल, अवेस्ता और सुमेरिया की जल प्लावन सम्बन्धी कथाओं का उल्लेख किया है।[३] उन्होने जल प्लावन की घटना को ऐतिहासिक सत्य मानते हुए लिखा है, "जलप्लावन भारतीय इतिहास में एक ऐसी प्राचीन घटना है वह इतिहास ही है।"[४] उन्होने अपने इस मत की पुष्टि के लिए भूगभशास्त्रीय खोजो का भी सहारा लिया है। इस सम्बन्ध मे उन्होने लिखा है कि 'हिमालय की खोज करके लौटे हुए डा० इट्रिंक्लर का अभिमत १९ अक्तूबर सन् २८ के पायनियर मे प्रकाशित हुआ है। उनका विचार है कि बालू मे दबे हुए प्राचीन नगरों के चिह्न इस बात को प्रमाणित करते हैं कि हिमालय और उसके प्रान्त मे भी जलप्रलय वा ओघ का होना निश्चित सा है।[५]

मनु—

जलप्लावन की घटना के साथ ही उसमे बचे हुए आदि पुरुष की अनुश्रुति भी भारतीय और अन्य देशों के प्राचीन साहित्य मे समान रूप से मिलती है। शतपथ ब्राह्मण म जलप्लावन मे बच रहने वाले आदि पुरुष का नाम वैवस्वत मनु है, बाइबिल मे आदि पुरुष का नाम नोआ, अवेस्ता मे यीमा (यम), सुमेरियन साहित्य मे जि उ सुद्द (Zı u sudda), बेबीलोनियन में जिसुथ्रास (Zısuthros) और यूनानी साहित्य मे ड्यूकालिय (Deudkalıa) है। वर्तमान मन्वन्तर या नये युग के प्रवर्तक भी यही वैवस्वत मनु कहे जाते हैं। युग प्रवर्तक के रूप मे यूनान में माइनास (Mınos) और मिस्र में म्युनिस (Munıs) का नाम हमारे मनु के नाम से बहुत साम्य रखता है। मिस्र के म्युनिस के बारे मे सर विलियम जोन्स ने लिखा है कि वह मिस्र का प्रथम नियामक (Law gıver) माना जाता है और कहा जाता है कि देवताओं

१—एपोलोडाम्र्स बिब्लिओथिका—१–७–२।
२—डा० प्रेमशकर तिवारी—आलोचना–जुलाई १९५३, पृ० ३१।
३—कोशोत्सव स्मारक सग्रह—पृ० १५९–१६०।
४—कामायनी—भूमिका।
५—कोशोत्सव स्मारक सग्रह, पृ० १६०–१६१।

और वीरो का युग समाप्त होने पर नव युग का प्रारभ करने वाला नवीन मानव संस्कृति का प्रवर्तक वही था, क्रीट (यूनान) मे माइनास को जुपिटर का पुत्र माना जाता है पर वह वस्तुत ब्रह्मा पुत्र और प्रथम भारतीय नियामक मनु ही हैं जिसे जातीय भावना से क्रीट वालो ने अपना मान लिया है। ए० एल० जैकोलियट का कथन है कि यूनान और मिस्र ही नहीं, हेब्रू साहित्य मे भी प्रथम नियामक मूसा (Moses) भारतीय मनु के ही रूपान्तर हैं। इस तरह मनु एक ऐसे व्यक्ति हैं जिनका इतिहास निज वरी रूप धारण करके विभिन्न जातियो के प्राचीन साहित्य में विविध रूपो मे बिखरा हुआ है। भारतीय साहित्य मे मनु के दो रूप मिलते हैं, प्रजापति रूप और स्मृतिकार रूप। अन्य देशो मे जलप्लावन के बाद नई सृष्टि रचने वाले और समाज का नियम बनाने वाले भिन्न भिन्न व्यक्ति हैं। भारत मे प्रजापति मनु और स्मृतिकार मनु एक ही हैं या भिन्न भिन्न इस सबध मे विभिन्न मत हैं। श्रीमती महादेवी वमा ने इस सबध मे लिखा है, "हमारे यहाँ भी मन्वन्तर के प्रवर्तक मनु और मानव धमशास्त्र के प्रणेता मनु के एक या भिन्न अस्तित्व के सबध मे पयाप्त मतभेद है। परन्तु वेद मे मनु की स्थिति की परीक्षा के उपरान्त यह मान लेने के लिए बहुत अवकाश रह जाता है कि मनुस्मृति के प्रणेता और मन्वन्तर के प्रवर्तक भिन्न हो सकते हैं।"[1] प्रसाद जी ने कामायनी म प्रजापति मनु और नियामक मनु को एक ही माना है। उनके अनुसार "मन्वन्तर के अथात् मानवता के नवयुग के प्रवर्तक के रूप मे मनु की कथा आर्यों की अनुश्रुति मे दृढता से मानी गयी है। इसलिए वैवस्वत मनु को ऐतिहासिक पुरुष के रूप म ही मानना उचित है" और "जलप्लावन भारतीय इतिहास म एक ऐसी ही प्राचीन घटना है जिसने मनु को देवो से विलक्षण मानवो की एक भिन्न संस्कृति प्रतिष्ठित करने का अवसर दिया।" मनुस्मृति से ही प्रसाद जी के मत की पुष्टि होती है। मनुस्मृति का अन्य नाम मानव धमशास्त्र भी है अथात् वह मानव जाति के लिए निर्मित हुई है। उसके प्रणेता वैवस्वत मनु ही हैं क्योंकि सात मन्वन्तरों म सात मनु हुए। उन्होंने अपने अपने समय मे सपूर्ण चर अचर सृष्टि उत्पन्न करके उसके लिए नियम बनाये।

स्वायम्भुवस्यास्य मनो षडवश्यामनवो ऽपरे।
सृष्टवन्त प्रजा स्वा स्वामहात्मनौमहौजस ॥

1 महादेवी वर्मा—कामायनी एक परिचय—(लेखक गंगा प्रसाद पाण्डेय) भूमिका, पृष्ठ—1

स्वारोचिषश्चौतमश्चतामसोरैवतस्तथा।
चाक्षुषश्च महातेजा विवस्वतसुत एवच॥
स्वायम्भुवाद्या सप्तैतेन नवोभूरितेजस।
स्वेस्वेन्तरेसर्वमिदमुपाद्यापुश्चराचरम्॥

मनुस्मृति--१—६१, ६२, ६३,।

अत सातवें मन्वन्तर मे प्रचलित मनुस्मृति इसी सात वे मनु—वैवस्वत मनु—की ही रचना है। कामायनी कथा के नायक यही वैवस्वत मनु हैं। अत प्रसाद जी ने प्रजापति और नियामक दोनो ही रूपों मे उनका वर्णन किया है। श्रद्धा के साथ वे कुमार को उत्पन्न करते हैं और इडा के साथ प्रजा का सगठन, नियमन और श्रम विभाजन आदि करते हैं।

किन्तु यहाँ एक बात ध्यान मे रखने की है कि प्रसाद जी का दृष्टिकोण पौराणिक नही, ऐतिहासिक और वैज्ञानिक था। अत जलप्लावन और मन्वन्तर को उन्होने पौराणिक कथाओ से भिन्न रूप मे लिया है। वैवस्वत मनु के पूव और कितने मनु और कितने मन्वन्तर हुए, इससे उनको कोई प्रयोजन नही है। उनकी मान्यता तो इतनी ही है कि प्राचीनतम आर्यो की जाति देव जाति थी, ऋग्वेद का अधिकाश भाग उसी जाति के लागो द्वारा रचा गया था और जलप्लावन की घटना ऋग्वेद के बाद की है।[1] जलप्लावन के बाद देव-जाति के अवशिष्ट व्यक्ति वैवस्वत मनु ने नवीन सस्कृति का प्रवर्तन किया। मनु वेदो मे ऋषि रूप मे भी दिखाई पडते हैं[2], पर ऋग्वेद के उन मन्त्रों के रचयिता वैवस्वत मनु ही हैं या कोई अन्य मनु, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। कामायनी मे मनु, श्रद्धा, इडा और किलात आकुलि सभा जल प्लावन से बचे हुए व्यक्ति बताये गये हैं। अत ऋग्वेद मे इन्ही मनु और श्रद्धा का मत्र द्रष्टा होना सम्भव हो सकता है।

मनु और श्रद्धा का सम्बन्ध

कामायनी के अनुसार जलप्लावन के बाद जब मनु एकाकी चिता और आशा के बीच झूला झूल रहे थे, अचानक श्रद्धा उनका बलि अन्न देखकर वहाँ पहुँची और अपना परिचय दिया। प्रसाद जी ने कामायनी मे श्रद्धा को भी देव जाति की स्त्री आर काम की पुत्री बताया है। 'वासना' सर्ग मे मनु स्वय कहते हैं कि काम बाला उनकी जन्म संगिनी थी। वही श्रद्धा, जो गन्धर्वों के देश मे

१—जयशकर प्रसाद—कोशोत्सव स्मारक सग्रह—पृष्ठ १६०
२—ऋग्वेद —८-२७-२, ८-२८-२५, ८-३०-३

ललित कला सीखने गयी थी और इसीसे प्रलय से बच गयी थी, मनु से मिलती है, पर नये पर्वतीय वेश में होने से उसे मनु नहीं पहचान पाते। बाद मे श्रद्धा मनु को आत्मसमर्पण करती और उसके गर्भ से एक पुत्र उत्पन्न होता है। निष्कर्ष यह कि कामायनी की श्रद्धा मनु की ज म सगिनी और बाद मे उनकी पत्नी है। कहा जा चुका है कि श्रद्धा भी ऋग्वेद म ऋषि या मत्र द्रष्टा के रूप मे दिखाई पडती है और उसमे उसे कामायनी भी कहा गया है —

ऋषि श्रद्धा कामायनी।। देवता श्रद्धा।
श्रद्धयाग्नि समिध्यते श्रद्धया हूयते हवि
श्रद्धा भगस्य मूर्धनि वचसा वेदयामास। ऋ० १०-१५१ १

ऋग्वेद मे श्रद्धा की सत्य भावना या सत्य धारणा के रूप मे स्तुति भी की गयी है —

प्रिय श्रद्धे ददत प्रिय श्रद्धे दिदासत ।
प्रिय भोजेषु यज्वस्विद म उदित कृधि। ऋ० १० १५१ २

मनु और श्रद्धा सबधी मत्रो के सबध मे श्रीमती महादेवी वर्मा ने लिखा है कि 'मनु और श्रद्धा के नाम से सबद्ध सूक्तों में ऐसा स्पष्ट अन्तर है कि हम एक मे मननशील पुरुष स्वभाव और दूसरे मे विश्वासमयी नारी की प्रकृति का सहज ही परिचय पा सकते हैं। मनु जीवन के प्रति व्यावहारिक दृष्टिकोण रखते हैं, समृद्धि और अनुशासन को विशेष महत्व देते हैं और बाह्य जीवन की स्थिति के प्रति निरतर जागरूक हैं। इसके विपरीत श्रद्धा अन्तर्जगत को विशेष महत्व देती है, विश्वास के प्रति विशेष सजग है और जीवन की अन्त स्थिति के प्रति विशेष आस्थावान है।"[1]

कामायनी में मनु और श्रद्धा का जो सबध दिखाया गया है उसका मूल आधार शतपथ ब्राह्मण है। उसके प्रथम काण्ड के प्रथम अध्याय (प्र० १— ब्रा० ४) मे असुरघ्न वाग्देवी का महत्व समझाते हुए उदाहरण रूप में मनु के यज्ञ का उल्लेख हुआ है। उसम कहा गया है कि यज्ञ के समय मनु के अभिमन्त्रित वृषभ के बोलने से यज्ञ विघाती असुर पुरोहित किलात आकुलि बाध्य होकर वहाँ से भाग गये। उन्होंने परस्पर परामर्श किया कि इस बैल के कारण हमारी पराजय हुई, अत इसकी हिंसा होनी चाहिये। उन्होंने मनु के मन का अभिप्राय जान कर उनसे कहा कि इस वृषभ का यजन कीजिये। ऐसा होने पर वाग्देवी मनु की जाया (पत्नी) मनावी मे प्रविष्ट हो गयी। मनावी की मानुषी वाणी से भयभीत होकर वे असुर पुरोहित वहाँ से फिर भागे और श्रद्धा-

१—महादेवी वर्मा—कामायनी एक परिचय—भूमिका, पृ० ५।

देव (श्रद्धालु) मनु से बोले कि अपनी जाया को भी यजन करो। यज्ञ में मनावी की भी बलि किये जाने पर वाग्देवी यज्ञपात्र मे प्रविष्ट हो गयी । उन पात्रों मे स्थित असुरघ्न वाक् को वे असुर पुरोहित न हटा सके । यह कथा यज्ञपात्र की ध्वनि से असुर राक्षसादि की निवृत्ति के उदाहरण के रूप मे कही गयी है। प्रसाद जी ने इसी कथा को परिवर्तित कर या उसकी नये ढग से व्याख्या करके कामायनी में अपनाया है। "श्रद्धा देवो वै मनु" का अर्थ शतपथ ब्राह्मण के भाष्यकार सायणाचार्य ने "श्रद्धैव देवो यस्य स श्रद्धादेव श्रद्धालुरित्यर्थ" किया है। प्रसाद जी ने श्रद्धादेव का अर्थ श्रद्धा का पति मानते हुए लिखा है कि "शतपथ ब्राह्मण मे उन्हे श्रद्धादेव कहा गया है भागवत मे इन्हीं को वैवस्वत मनु और श्रद्धा से मानवीय सृष्टि का प्रारंभ माना गया है—

ततो मनु श्राद्धदेव सज्ञायामास भारत
श्रद्धाया जनयामास दशपुत्रान् स आत्मवान्। (भाग० ९-१-११)"

इस तरह प्रसाद जी ने शतपथ ब्राह्मण के "श्रद्धादेव और मनु जाया मनावी" के आधार पर तथा भागवत के उपर्युक्त श्लोक के आधार पर श्रद्धा का मनु की पत्नी मान लिया है । शतपथ मे मनु किलात आकुलि के बहकाने से अपने वृषभ की हिंसा तो करते ही हैं, अपनी पत्नी का भी यजन कर डालत हैं। प्रसाद जी ने वृषभ नाम न लेकर पशु ही कहा है और मनु द्वारा केवल उसी का हनन कराया है। वे श्रद्धा का मनु द्वारा हनन नहीं, परित्याग कराते हैं। सोम पान करने का आग्रह और अन्य बातें प्रसाद जी द्वारा कल्पित हैं। निष्कर्ष यह कि प्रसाद जी ने मनु और श्रद्धा को पती पत्नी बनाने के लिए ऐतिहासिक से अधिक भावात्मक सत्य का सहारा लिया है। किलात-आकुलि द्वारा प्रेरित होकर मनु के पशु यज्ञ करन के बाद की कथा कामायनी मे शतपथ ब्राह्मण से बिना अधिक परिववर्तन के ली गया है। कामायनी मे किलात आकुलि इडा की प्रजा क सेना नायक के रूप मे मनु से युद्ध करते हुए भी दिखाये गये हैं जो सभवत प्रसाद की अपनी कल्पना है।

मनु और इडा

कामायनी में इडा को पौराणिक आख्यानों से भिन्न ढग का व्यक्तित्व प्रदान किया गया है। उसे सारस्वत प्रदेश का स्वामिनी, जनपदकल्याणी और मनु को शासन और नियम के लिए प्रेरित करने वाली बताया गया है। इस सम्बन्ध में प्रसाद जी के प्रेरणा स्रोत ऋग्वद के इडा सम्बन्धी मन्त्र और शतपथ ब्राह्मण हैं। कामायनी की भूमिका मे उन्होने लिखा है कि 'ऋग्वद म इडा का

कई जगह उल्लेख मिलता है। यह प्रजापति मनु की पथप्रदर्शिका, मनुष्यों का शासन करनेवाली कही गयी है।' उन्होंने निम्नलिखित मत्र उद्धृत किये हैं –

"इडामकृण्वन्मनुषस्य शासनीम।—ऋ० १-३१-११
सरस्वती साधयन्ती धिय न इडा देवी भारती विश्वमूर्ति
तिस्रो देवी स्वधयाबर्हि रेदमच्छिद्र यान्तु शरण निपद्य।"
ऋ० -२-३-८
आनो यज्ञ भारती तूय मेत्विडा मनुष्यदिह चेतयन्ती।
तिस्रो देवीबर्हिरेद स्योन सरस्वती स्वपस सदन्तु।
ऋ०-१०-११०-८

पर ऋग्वेद मे मनु और इडा का वह सम्बन्ध नही दिखाइ पडता जो कामायना म दिखाया गया है। वहाँ वह नारी या ऋषि रूप म नही, बुद्धि, सरस्वती, भारती के रूप मे ही दिखाई पडती है।

"इडा सरस्वती मही तिस्रो देवीमयोभुव
वर्हि सीदन्त्वस्रिध।" ऋ० ५-५-८

शतपथ ब्राह्मण मे वह अवश्य स्त्री रूप मे आयी है, पर वहाँ उसे मनु की पुत्री बताया गया है।[१] उसके अनुसार जलप्लावन के बाद एकाकी मनु ने 'प्रजा' की कामना से तप किया। उनके पाक यज्ञ के घृत, दधि आदि से वर्ष भर बाद एक सुन्दरी स्त्री उत्पन्न हुइ। मित्र वरुण द्वारा परिचय पूछे जाने पर उस योषिता ने बताया कि मै मनु की दुहिता हूँ क्योकि उनके घृत दधि आदि से पोषित हुई हूँ। मित्र वरुण ने कहा कि तुम कहो कि तुम हमारी हो। उस योषिता ने मित्र वरुण की बात अस्वीकार कर दी ओर मनु के पास पहुँची। मनु द्वारा पूछे जाने पर भी उसने कहा कि मै आपकी पुत्री हू क्योकि आपके घृतादि से उत्पन्न हूँ। मे वरदान हूँ। यज्ञ मे मेरा उपयोग कीजिये, इससे आपके पास बहुत सी सन्तान ओर पशु आदि हो जायँगे। आप मेरे माध्यम से जो भी इच्छा करेंगे वह पूरी होगी। यही योषिता मनु की पुत्री इडा थी जिसके द्वारा मनु ने प्रजा की उत्पत्ति की। आज की मानव जाति उसी की वश परपरा मे है। यज्ञ मे इसी से इडा कर्म होता है। वहाँ इडा का अर्थ स्त्री, इडा कर्म ओर पशु तीनो होता है।

शतपथ ब्राह्मण मे ही अन्यत्र कहा गया है कि प्रजापति ने अपनी दुहिता के साथ व्यभिचार किया —

१—शतपथ ब्राह्मण —प्रथम काण्ड—८-१-७,८,९,१०,११,१२।

'प्रजापतिर्ह वै स्वा दुहितर अभिदध्यौ। दिव वोषस वा मिथुन्ये नया स्यामिति ता सम्बभूव।" शत० ब्रा०–प्रथम काण्ड, अ० ७–ब्रा० ४।

यही बात प्राय इन्ही शब्दो म ऐतरेय ब्राह्मण म भी कही गयी है।[1] ऋग्वेद मे मनु द्वारा रचित एक मत्र म इडा की स्तुति करते हुए कहा गया है कि प्रजावती इडा गृह मे स्थित रहने वाली पत्नी या गाय के समान सुख प्रदान करती है।[2] इस प्रकार ऋग्वेद और ब्राह्मण ग्र थों मे इडा के दो रूप मिलते हैं। एक रूप मे तो वह सरस्वती, बुद्धि या वाग्देवी है और दूसरे रूप मे वह प्रजापति की पुत्री और पत्नी दोनो है और उसी से प्रजापति प्रजा का विस्तार करत हैं। निरुक्त ओर मीमासावार्तिक मे प्रजापति द्वारा अपनी पुत्री के साथ मैथुन करने का रूपकात्मक अर्थ किया गया है। मीमासावार्तिक के अनुसार प्रजा पालन के अधिकार से आदित्य को प्रजापति कहा जाता है। आदित्य का अरुणोदय बेला मे उषा के साथ जो समागम होता है उसे ही रूपक की भाषा मे प्रजापति का अपनी दुहिता के साथ मैथुन करना कहा गया है।[3] श्री सत्यव्रत सामश्रमी ने भी इसी मत का समर्थन करते हुए निरुक्तालोचनम् मे लिखा है कि इतिहास-पुराण के ऐसे रूपकात्मक वर्णनो मे ऐतिहासिक तथ्य ढूँढना व्यर्थ है।[4] शतपथ ब्राह्मण के सप्तम अध्याय के, जिसमे उक्त आख्यान है, टीकाकार हरि स्वामी ने भी प्रजापति का अर्थ ब्रह्मा और पुत्री का अर्थ दिवा, उषा और रोहिणी किया है, उन्होंने इस आख्यान को मनु और इडा से नही जोडा है।[5] प्रसाद

१—'प्रजापतिर्वै स्वा दुहितरमभ्यध्यायत्। दिव मित्यन्य आहु रुषस मित्यन्ये।" ऐ० ब्रा०—३–३–९

२—"अस्य प्रजावती गृहेऽसचन्ती दिवे दिवे इडा धनुमती दुहे।"
ऋ० ८–३१–४

३—श्री सत्यव्रताचार्य सामश्रमी—निरुक्तालोचन (उद्धरण) पृ० ५४।
कलकत्ता १९०७।

४—वही, पृ० वही।

५—"ब्राह्मणा च सवितृ प्रसूतेन बृहस्पतिरूपेण प्राशनीयमित्येतदाख्यानेन दर्श्यते। 'प्रजापति' प्राणपिण्डलोककालपक्षात्मा अभिध्यातवान, दिवम् वा उषस वा लोकात्मना दिवम्, कालात्मना उससम्, प्राणपिण्डात्मना ऋक्षेभ्यो, मृगो रोहितम् रोहिणा नाम नक्षत्रम् यज्ञात्मना वाचम्। कथमभिदध्यौ? 'मिथुनी' मिथुनवान 'एनया' 'स्यामिति' 'ता' 'सम्वभूव' सङ्गत।"
शतपथ ब्राह्मण—भाग १—खण्ड १ पृष्ठ—५१८
आचार्य सत्यव्रत सामश्रमी द्वारा सम्पादित—कलकत्ता—१९०३

जी का मत रूपकार्थवादियों से नही, ऐतिहासिको से मिलता है। उन्होंने लिखा है कि "अब भी सनातन धर्म का बहुदेववाद मूल म प्राचीन ऐतिहासिकों का अनुयायी है और आर्य समाज एकेश्वरवादी निरुक्त का अनुगमन करता है जिसके अनुसार देवों को व रूपक द्वारा मूर्तिमान की गयी सर्वशक्तिमान की शक्तियाँ मानते हैं।[1] निष्कर्ष यह है कि प्रसाद जी शतपथ के प्रजापति को वैवस्वत मनु मानते हैं और यह भी स्वीकार करते हैं कि मनु ने इडा के साथ प्रजा का पालन और नियमन किया तथा उस पर अधिकार करने या बलात्कार करने का भी प्रयत्न किया। वे इडा को मनु की पुत्री नही कहते, यद्यपि शतपथ ब्राह्मण उसे मनु की हविष्योत्पन्न पुत्री बताता है।

शतपथ ब्राह्मण मे प्रजापति द्वारा अपनी पुत्री पर बलात्कार करने के अपराध पर रुद्र आदि देवताओं के क्रुद्ध होकर प्रजापति को दण्ड देने की बात भी कही गयी है। उसके अनुसार देवताओं ने पशुपति रुद्र से कहा कि प्रजापति ने अपनी पुत्री और हमारी स्वसा (बहिन) के साथ ऐसा करके घोर पाप किया है। अत आप उन्हे 'बिद्ध' कीजिये। रुद्र ने निशाना लगाकर प्रजापति को शल्य से बिद्ध कर दिया। जब देवताओं का क्रोध शान्त हो गया तो उन्होंने प्रजापति को अच्छा कर दिया[2]। प्रसाद जी ने इस घटना का वर्णन कामायनी के स्वप्न और संघर्ष शीर्षक सर्गों मे किया है। उनके वर्णन का मूल आधार शतपथ की उपर्युक्त कथा ही है। प्रसाद जी ने देव शक्तियों के क्रुद्ध होने और रुद्र द्वारा मनु पर आक्रमण किये जाने की बात लिखी है —

आलिंगन फिर भय का क्रन्दन वसुधा जैसे काँप उठी।

× × ×

अरे आत्मजा प्रजा! पाप की परिभाषा बन शाप उठी।
उधर गगन मे क्षुब्ध हुईं सब देव शक्तियाँ क्रोध भरी।
रुद्र नयन खुल गया अचानक, व्याकुल काँप रही नगरी।
अतिचारी था स्वयं प्रजापति देव अभी शिव बने रहे।
नहीं, इसी से चढ़ी शिंजिनी अजगव पर प्रतिशोध भरी।—स्वप्न सर्ग।

प्रसाद जी ने शतपथ की कथा की प्रधान बातें ग्रहण कर ली हैं पर उसमे से अनेक बातें छोड दी हैं और कई नयी बातें जोड भी दी हैं। उदाहरणार्थ उन्होंने

१—जयशंकर प्रसाद
'प्राचीन आर्यावर्त और उसका प्रथम सम्राट'
कोशोत्सव स्मारक संग्रह—पृष्ठ १७६

२—शतपथ ब्राह्मण—प्रथम काण्ड—७ ४ १, २, ३, ४, ५।

राजद्वार पर प्रजा के इकट्ठा होने और द्वार तोड कर मनु पर आक्रमण करने तथा मनु का किलाताकुलि के नेतृत्व मे इकट्ठी प्रजा के साथ युद्ध का वर्णन किया है जो शतपथ की कथा मे नहीं है । प्रसाद जी ने प्रजा के विद्रोह की घटना का योजना इसलिए की है कि मनु स्वेच्छाचारी हो गये थे ओर नियामक होते हुए भी स्वय नियमोंका उल्लघन करना चाहते थे । इस घटना के वर्णन मे प्रसाद जी आधुनिक लोकतत्र की भावना से प्रभावित प्रतीत होते हैं। उन्होंने इडा को मनु की पुत्री नहीं बल्कि सारस्वत प्रदेश की स्वामिनी और जनपद कल्याणी कहा है। इस कल्पना का ऐतिहासिक आधार इतना ही है कि प्राचीन काल मे मातृ सत्तात्मक समाज और गणराज्य की प्रथा प्रचलित थी। मातृसत्तात्मक समाज मे शासनाधिकार स्त्रियों के हाथ में होता था। गण ाज्यों म प्रातिनिधिक शासन प्रचलित था और प्रजा द्वारा निवाचित सभापति या अधिकारी ही राज्य का नियमन करते थे। कुछ राज्यो मे राज्य की सर्वश्रेष्ठ सु दरियो का चुनाव होता था जो जनपद कल्याणी कही जाती थीं। जनपद कल्याणी का गणराज्य मे बडा समान होता था और वह राजपुरुषों को प्रेरणा देनेवाली तथा राज्य व्यवस्था मे हाथ बँटाने वाली होती थी। इन्हीं प्राचीन ऐतिहासिक प्रथाओ के आधार पर प्रसाद जी ने सारस्वत प्रदेश मे इडा की प्रेरणा से प्रजापति मनु को नवीन शासन व्यवस्था स्थापित करने की कल्पना की है। इस कल्पना को उन्होंने शतपथ ब्राह्मण की मनु इडा की कथा से मिला दिया है।

कामायनी मे 'सघर्ष' सर्ग मे नियम और अधिकार के प्रश्न को लेकर मनु और इडा का विवाद दिखाया गया है। इस सवाद की योजना भी प्रसाद जी ने शतपथ ब्राह्मण के आधार पर ही की है, यद्यपि शथपथ ब्राह्मण में मनु और इडा के बीच नहीं, बल्कि मन आर वाक् के बीच विवाद हुआ है। उसमे यज्ञ विधि बताते हुए कहा गया है कि एक बार मन और वाक् मे विवाद हुआ। दोनों ने अपने अपने को बडा बताया। मन ने वाणी से कहा कि मै तुमसे श्रेष्ठ हूँ, क्योकि तुम मेरी अनुगामिनी हो, क्योकि तुम मुझ से अनभिगत बात नही बोल सकती। वाक् ने कहा कि मै श्रेष्ठ हूँ क्योकि तुम जो जानते हो मैं उसे दूसरों तक सज्ञापित करती या पहुँचाती हूँ। दानो निर्णय कराने के लिए प्रजापति के पास गये। प्रजापति ने मन क पक्ष मे निर्णय दिया और वाक् से कहा कि तुम मन के कार्यो का अनुगमन करती हो आर अनुगमन करने वाला छाटा होता है। वाक् अपमान का अनुभव करके भग्नवीया हो गयी और प्रजा पति से कहा कि आगे से तुम्हारे यज्ञ मे मेरा व्यवहार नहीं रहेगा। इसीलिए

प्रजापति यज्ञ वाग्व्यापार रहित होता है[1] । कामायनी मे मन और वाक् की जगह मनु और इडा का विवाद है क्योंकि प्रसाद जी के अनुसार ये क्रमश मन और बुद्धि या वाणी के प्रतीक हैं । उन्होंने लिखा है कि "इस इडा या वाक् के साथ मनु के एक और विवाद का भी शतपथ मे उल्लेख मिलता है जिसमे दोनो अपने महत्व के लिए झगडते है[2] । शतपथ के इस विवाद को रूपकात्मक मान कर प्रसाद जी ने उसम ऐतिहासिक सत्य का आभास पाया है और इसीलिए जब उन्होंने मनु और इडा को ऐतिहासिक पात्र माना तो इस विवाद के स्वरूप को भी बदल दिया । फलस्वरूप सघर्ष सर्ग म मनु और इडा का विवाद शतपथ के मन वाक् सवाद की ओर सकेत भर करता है, अन्यथा दोनो विवादो के विषय सवथा भिन्न है । प्रसाद जी ने इस सर्ग मे तर्कपूर्ण ढग से दिखाया है कि नियम, अधिकार और कर्तव्य के प्रश्न को लेकर विवाद होते हैं और विवाद के फलस्वरूप सघष होता है ।

कामायनी की कथा के मूल स्रोतो के इस सक्षिप्त अध्ययन से हम इस निष्कष पर पहुँचते हैं कि प्रसाद जी की दृष्टि पुराणो से अधिक वैदिक साहित्य की ओर रही है । उन्होंने कामायनी म अपनी महाकवि की प्रतिभा का ही नहीं, गंभीर ऐतिहासिक शोधवृत्ति का भी परिचय दिया है । वैदिक साहित्य–विशेषकर शतपथ ब्राह्मण–म मनु का उल्लेख बहुत अधिक हुआ है । अत मनु को आधार बना कर और इडा तथा श्रद्धा सबधी उल्लेखों की ऐतिहासिक व्याख्या करके मनु के साथ उन्हे सयोजित कर उन्होंने कामायनी की कथा का ढाँचा प्रस्तुत किया है । इस तरह वे मैक्समूलर, बेवर, पार्जिटर, विलियम जोन्स, मैकडानेल, तिलक, दिक्षितार, अविनासचन्द्रदास, काशीप्रसाद जायसवाल आदि उन प्राच्यविद्याविदो की श्रेणी मे आते हैं जिन्होंने प्राचीन भारतीय साहित्य का अध्ययन करके भारत के सुदूर अतीत का इतिहास लिखने का स्तुत्य प्रयत्न किया है । उनकी कथा का आधार पौराणिक अवश्य है पर उनकी दृष्टि ऐतिहासिक है, पौराणिक नहीं । इसीलिए कामायनी मे पौराणिकता की गध भी नहीं मिलती ।

कामायनी का रूपकत्व

कामायनी रूपकात्मक काव्य है या नहीं, इस सबध म प्रसाद जी ने स्वय सकेत कर दिया है । उन्होंने लिखा है कि "यह आख्यान इतना प्राचीन है कि

१—वही—प्रथम काण्ड ४–५–९, १०, ११, १२ ।

२—कामायनी भूमिका–पृ० ५ ।

इतिहास मे रूपक का भी अद्भुत मिश्रण हो गया है। इसीलिए मनु, श्रद्धा और इडा इत्यादि अपना ऐतिहासिक अस्तित्व रखते हुए साकेतिक अथ की भी अभिव्यक्ति करें तो मुझे कोई आपत्ति नहीं। मनु अर्थात् मन के दोनों पक्ष हृदय और मस्तिष्क का सबध क्रमश श्रद्धा और इडा से भी सरलता से लग जाता है।"[1] प्रसाद जी के इस कथन से तीन बाते स्पष्ट होती हैं —

१—कामायनी की कथा मूलत ऐतिहासिक है।

२—प्राचीनता के कारण इस ऐतिहासिक आख्यान मे बहुत पहले ही रूपक का मिश्रण हो गया था।

३—प्राचीन रूपक को ग्रहण करते हुए कवि ने उसमें नवीन रूपकत्व या साकेतिक अर्थ की भी योजना की है।

रूपककथा के कई रूप होते हैं और अग्रेजी म सबको 'एलिगरी' कहा जाता है। एलिगरी ऐसा लम्बा या कथात्मक रूपक है, जिसमे एक कथा दूसरी कथा के आवरण मे छिपा कर कही जाती है और जिसकी घटनायें प्रतीकात्मक होती हैं और पात्र भी प्राय मानवीकृत अथवा 'टाइप' होते हैं।[2] उसमे या तो भावों, मनोवृत्तियों, सूक्ष्म अशरीरी वस्तुओं और शक्तियो को मानवीकृत करके कथा का पात्र बनाया जाता है या किसी भी पात्र के माध्यम से कथा रूप मे कोई सैद्धातिक, नैतिक या राजनीतिक बात कही जाती है। इस तरह रूपककथा के निम्नलिखित प्रकार हैं —

१—जिसम पात्र सूक्ष्म भावनाओ या वस्तुओं के मानवीकृत रूप होते हैं जैसे सस्कृत में प्रबोधचन्द्रोदय, मोहराजपराजय आदि नाटक और हिन्दी मे प्रसाद कृत 'कामना' और 'एक घूट' नाटक। ऐसे काव्यो मे मानवीकृत भावनाओ की व्याख्या कथा के माध्यम से की जाती है। अत उनमें चरित्र चित्रण, घटना विस्तार तथा यथार्थ जीवन व्यापारो के वर्णन के लिए अधिक अवकाश नही रहता।

२—जिसमे पात्र मानवीकृत तो नहीं होते, पर प्रतीकात्मक अवश्य होते हैं, इसमे घटनाएँ तथा अनेक वर्ण्य वस्तुएँ भी साकेतिक या प्रतीकात्मक होती हैं।

१—वही, भूमिका पृ० ६।

२— 'An allegory is a prolonged metaphor in which typically a series of actions are symbolic of other actions while the characters often are type or personifications "
Webster's New International Dictionary P 68

इसी प्रकार की प्रतीकात्मक कथाओ मे प्रस्तुत अर्थ के साथ ही अप्रस्तुत अर्थ का भी सकेत मिलता चलता है ।

३—जिसमे पात्र मानवेतर जीवित प्राणी या जड पदार्थ होते हैं । वे पात्र मानव भाषा बोलते, समझते और मानवो से भी बातचीत करते हैं । पचतत्र और ईसप की कहानियाँ तथा कवि खलील जिब्रान की लघुकथाए और टालस्टाय की अनेक नैतिक कहानियाँ इसी प्रकार की हैं । पशु कथा (बीस्ट फेबुल) इसी प्रकार की एलिगरी होती है । इस प्रकार की कथाओ का उद्देश्य कोई नैतिक पाठ पढाना या धार्मिक आध्यात्मिक उपदेश देना होता है ।[1]

४—जिसमें पात्र तो स्वाभाविक मानव होते हैं, घटनाये भी यथार्थ और कभी कभी ऐतिहासिक होती हैं, पर उसका समष्टि प्रभाव गूढार्थ व्यजक होता है। उसमे लेखक पात्रो का ऐसा मनोवैज्ञानिक और यथार्थ चरित्र चित्रित करता है, और ऐसी घटनाओ और परिस्थितियों का चुनाव करता है कि पूरी कथा मानव-जीवन क किसी चिरन्तन सत्य की ओर भी सकेत करती है । यह संकेत पूरी कथा के समन्वित प्रभाव द्वारा प्रतिभासित होता है । बेवर ने वाल्मीकि रामायण को इसी ढग की साकेतिक कथा माना था । वैदिक और पौराणिक साहित्य में अनेक कथायें ऐसी ही हैं जो समग्र प्रभाव द्वारा साकेतिक अर्थ भी व्यक्त करती हैं ।

इस तरह पाश्चात्य रूपककथाओं के अनेक रूप दिखाई पडते हैं किन्तु सबमें एक सामान्य बात यह हाती है कि उनमे प्रस्तुत कथा के भीतर कोई गूढार्थ अवश्य निहित रहता है, चाहे वह प्रधान रूप मे हो या गौण रूप मे । रूपक अलकार और रूपककथा मे अ तर यह है कि एक मे प्रस्तुत में अप्रस्तुत का अभेद आरोप कुछ वाक्यों तक ही सीमित रहता है पर दूसरे मे अभेद आरोप का निवाह लम्बी कथा मे, यहाँ तक कि सूक्ष्म विवरणो म भी किया जाता है । वस्तुत रूपककथा म मानवीकरण, रूपक, अन्योक्ति, समासोक्ति और श्लेष अलकारों का याग हाता है । किन्तु इन अलकारों द्वारा चमत्कार उत्पन्न करना रूपककथा का उद्देश्य नहीं होता । उसका उद्देश्य बडा होता है जो प्राय अप्रस्तुत कथा के रूप मे ध्वनित होता है । बिना इस गम्भीर उद्देश्य वाली अप्रस्तुत कथा के रूपककथा हो ही नहीं सकती । जैसा ऊपर कहा जा चुका है, रूपककथा का अप्रस्तुत या प्रतीकात्मक अर्थ व्यक्त करने के लिए कई शैलियाँ अपनाई जाती है । कही पात्र मानवीकृत होत हैं जिससे उनके नाम से तथा उनके

1 The fable or parable is a short allegory with one definite moral " Encyclopaedia Britanica—See Allegory

कार्यों और वाणी से अप्रस्तुत कथा प्रारम्भ से ही स्पष्ट होने लगती है। ऐसी रूपक-कथा मे मानवीकरण अलकार का ही प्रधान योग होता है। कुछ मे पात्र मानवीकृत न होकर प्रतीकात्मक या 'टाइप' होते हैं ओर घटनाये या वस्तुएँ भी प्रतीकवत् होती हैं। स्पष्ट ही इन कथाओ मे रूपकातिशयोक्ति या साध्यवसान रूपक अल-कार का अधिक योग होता है, क्योकि उनम अप्रस्तुत कथा ही प्रधान होती है जो प्रस्तुत मे अध्यवसित होती है। अन्योक्तिप्रधान रूपककथा की प्रत्येक घटना, परिस्थिति और पात्र का अप्रस्तुतार्थ होता है और वह दूसरा अर्थ ही प्रधान होता है, प्रस्तुत अर्थ अपने आप मे कोई महत्व नही रखता। समासोक्तिप्रधान रूपक-कथा मे प्रस्तुत कथा ही प्रधान होती है पर उससे बीच बीच मे और अन्त मे समष्टि रूप मे भी अप्रस्तुत अर्थ स्फुरित होता है। उसमे प्रत्येक घटना, पात्र या वस्तु का साकेतिक अथ होना आवश्यक नही है। नैतिक, मनो-वैज्ञानिक दार्शनिक या राजनीतिक निष्कर्ष वाली रूपककथाओं मे लक्षणा व्यजना और ध्वनि की सहायता से अप्रस्तुत कथा व्यजित होती है। ऐसी कथाओ मे यदि लेखक स्वय निष्कर्ष दे देता है तो उसका सौन्दर्य विकृत हो जाता है और वे उदाहरण कथा (उपमित कथा) का रूप धारण कर लेती हैं।

उपर्युक्त विवेचन के प्रकाश में कामायनी के काव्य कौशल की परीक्षा करने पर ज्ञात होता है कि प्रसाद जी ने उसमे प्रबोधचन्द्रोदय वाली प्राचीन भारतीय रूपककथा की शैली नही अपनायी है। अग्रेजी मे बीसवीं शताब्दी तक रूपककथा की शैली मे जो विकास हुआ तथा वैदिक और पौराणिक साहित्य मे जो रूपक पद्धति अपनायी गयी, कामायनी मे उन दोनों का समन्वित रूप दिखाई पडता है। अत कामायनी के रूपकत्व की परीक्षा अन्योक्ति, समासोक्ति, रूपक, रूपकातिशयोक्ति आदि अलकारो के आधार पर नहीं की जा सकती। ऊपर जिन चार प्रकार की रूपककथाओ की चर्चा की गयी हैं, कामायनी मे उनम से चोथे प्रकार का रूपकत्व दिखाई पडता है। उसके पात्र स्वाभाविक और यथाथ मानव हैं ओर प्रसाद जी के अनुसार उसकी घटनाये भी ऐतिहासिक हैं। यद्यपि उसके पात्र मानवीकृत प्रतीत होते है पर वे प्रबोधचन्द्रोदय के पात्रो की भाँति अयथाथ ओर मन की सूक्ष्म प्रवृत्तियो के मूर्त पुतले नहीं हैं, वे रक्त मॉस के बने, मानवीय चेतना ओर निजी व्यक्तित्व से युक्त चरित्र हैं। पद्मावत की तरह उसम बीच बीच म प्रतीकात्मक ढग से अप्रस्तुत अर्थ की ओर सकेत भी नही किया गया है और न उसके पात्र ही "फेयरी क्वीन" के पात्रो की तरह प्रतीकात्मक हैं। प्रस्तुत कथा के भीतर

जो प्रतीकात्मक पात्र होते हैं वे अपने आपमे तो महत्वहीन और व्यक्तित्व रहित होते हैं पर उनका अप्रस्तुत अर्थ या प्रतीकार्थ बहुत महत्व का होता है। कामायनी के पात्रो का उनसे भिन्न कोइ अन्य अर्थ नही है। फिर भी उसमे 'पिलग्रिम्स प्राग्रेस' की तरह मानव मन की आध्यात्मिक यात्रा, और उसमे उपस्थित होने वाली बाधाओं की ओर सकेत किया गया है। साथ ही उसमे स्टीवेसन के डा० जैकिल और मिस्टर हाइड की तरह मनु का दुहरा व्यक्तित्व दिखाई पडता है, एक व्यक्तित्व किलात आकुलि और इडा से प्रभावित है और दूसरा श्रद्धा से। अन्त मे दूसरा व्यक्तित्व ही स्थायित्व ग्रहण करता है।

इस बात को स्पष्ट करने के लिए प्रसाद जी के उपयुक्त कथन की व्याख्या करनी होगी जिसमे उन्होने कामायनी के रूपकत्व की ओर सकेत किया है। उन्होने स्पष्ट कहा है कि कामायनी की कथा और उसके पात्र मूलत ऐतिहासिक हैं। ऐतिहासिक और वैज्ञानिक दृष्टि की प्रधानता के कारण कोरा रूपकात्मक काव्य लिखना प्रसाद का उद्देश्य नहीं था। कामायनी कथा के मूल स्रोतो पर विचार करते हुए हम देख चुके हैं कि उसके सभी पात्र और सभी प्रमुख घटनाये ऐतिहासिक हैं। प्रसाद जी ऐतिहासिक तथ्यो मे रूपक का मिश्रण पसन्द नहीं करते थे और इसीलिए प्राचीन पौराणिक आख्यानो की रूपकात्मक व्याख्या करने वाले नैरुक्तको, आधुनिक आर्यसमाजियो और प्राचीन भारतीय इतिहास को गप्प या माइथालोजी कहने वाले पाश्चात्य विद्वानो को उन्होंने एक ही श्रेणी मे रखा है[१]। अत कामायनी की प्रस्तुत कथा को महत्वहीन बनाकर उसके अप्रस्तुत अर्थ को ही प्रधान बनाना प्रसाद जी का लक्ष्य नही हो सकता था। वे ऐतिहासिक कथानक द्वारा प्राचीन भारतीय संस्कृति की उच्चतम उपलब्धियो की कहानी सीधे सीधे कहना चाहते थे।

किन्तु प्रसाद जी ने साथ ही यह भी कह दिया है कि यदि कामायनी कथा मे किसी को साकेतिक अर्थ भी दिखाइ पडे तो उन्हे कोइ आपत्ति नही होगी। इससे स्पष्ट है कि वे कामायनी मे रूपकत्व की सत्ता स्वीकार

१— 'पश्चिमी विद्वानो ने हमारे उस प्राचीन इतिहास को 'माइथालोजी' मान रखा है। उनमे इस धारणा का कारण हमारे निरुक्तकार भी है।

वेदो का अध्ययन करने वाले पाश्चात्य विद्वानो ने भ्रमवश प्राचीन तर ऐतिहासिक सप्रदाय को न मानकर हमारा इतिहास भ्रामक बना देने के लिये निरुक्त के अर्थ को भी पथप्रदर्शक माना है।''—प्राचीन आर्यावर्त और उसका प्रथम सम्राट—कोशोत्सव स्मारक सग्रह, पृ० १७६।

करते हैं पर उनका विशेष बल उसकी प्रस्तुत कथा पर ही है, अर्थात् प्रसाद जी के अनुसार कामायनी मे प्रस्तुत कथा प्रधान और अप्रस्तुत कथा गौण है। कामायनी की कथा का अध्ययन करने से भी यही बात प्रमाणित होती है। उसकी प्रस्तुत कथा मे अप्रस्तुत अर्थ व्यक्त करने के लिये कवि ने अपनी ओर से अधिक प्रयत्न नहीं किया है क्योकि उसमे प्राचीन काल से ही रूपक तत्त्व भर दिया गया था। कवि ने इतना ही किया है कि उसके ऐतिहासिक स्वरूप को उद्घाटित करते हुए गौण रूप मे उसके प्राचीन रूपकात्मक स्वरूप को भी स्वीकार कर लिया है क्योकि उस प्राचीन आख्यान मे निहित "इतिहास मे रूपक का भी अद्भुत मिश्रण हो गया है" और प्रसाद जी उसके भावना मूलक रूपक तत्त्व को स्वीकार करने का मोह नही छोड सके हैं। प्राचीन गाथाओं मे इतिहास और रूपक का समिश्रण इसलिए हुआ कि प्राचीन वैदिक कालीन व्यक्तियो और घटनाओ को परवर्ती युगो मे तत्कालीन परिस्थितियो और बदले हुए विश्वासो के अनुरूप मोडने के लिए उनका नवीनीकरण किया गया और कल्पना के योग से उनकी नयी व्याख्या की गयी। उदाहरणार्थ ऐतरेय और शतपथ ब्राह्मण में प्रजापति द्वारा अपनी कन्या इडा के साथ बलात्कार करने की प्राचीन कथा का ऐतिहासिक सत्य के रूप मे स्वीकार करते हुए भी रूपक का सकेत कर दिया गया है, यथा "प्रजापतिर्वै स्वा दुहितर अभ्यध्यायत्, दिवमित्यन्य आहुरुषसमित्यन्ये।" अर्थात् प्रजापति ने दुहिता गमन किया, उस दुहिता को कोई दिवा कहता है कोई उषा।[1] उसके आगे फिर उस आख्यान मे इस रूपक की कोई बात नही आई है। मीमासावार्तिक मे इसकी व्याख्या यों की गई है कि प्रजा पालन के अधिकार से आदित्य को ही प्रजापति कहा जाता है। उसके आगमन से उषा उत्पन्न होती है, अत उषा उसकी दुहिता हुई। आदित्य उसी उषा के साथ सयोग करता हुआ अरुण किरणो का बीज निक्षेप करता है।[2] शतपथ मे ही मन और वाक् का विवाद दिखाया गया है जिसकी

१—शतपथ ब्राह्मण—१–७–४।
ऐतरेय ब्राह्मण—३–३९।

२—"प्रजापतिस्तावत् प्रजापालनाधिकारदादित्य एवोच्यते। स चारुणोदय बेलायामुषसमुद्यन्नभ्येति। सा तदागमनादेवो—पजायत इति तद्दुहितृत्वेन व्यपदिश्यते। तस्याञ्चारुणकिरणाख्य बीजनिक्षेपात् स्त्रीपुरुषसयोगवदुपचार।" सत्यव्रताचार्य सामश्रमी—निरुक्तालोचनम्—उद्धरण—पृ० ५४०, कलकत्ता १९०७।

चर्चा ऊपर हो चुकी है। प्रसाद जी ने सभवत उसे भी मनु और इडा के ऐतिहासिक संघर्ष का रूपकात्मक या साकेतिक वर्णन मान कर ही उस कथा को कामायनी मे समाविष्ट किया है। इस प्रकार कामायनी मे अधिकाश घटनाएँ ऐतिहासिक हैं या ऐतिहासिक सत्य के रूप मे उपस्थित की गई हैं, साकेतिक रूप मे नही।

फिर भी पूर्व प्रचलित साकेतिक कथा से रूपक तत्त्व को बिलकुल निकाल बाहर करना अत्यत कठिन कार्य था। वैदिक साहित्य मे मनु और श्रद्धा ऋषि हैं और शतपथ मे मनु को श्रद्धादेव कहा गया है, जिसका श्रद्धालु और श्रद्धा का पति दोनो अर्थ हो सकता है। भागवत् मे श्रद्धा मनु की पत्नी है और उससे दस पुत्र उत्पन्न होते हैं। छान्दोग्य उपनिषद् मे मनन, मति, श्रद्धा और निष्ठा द्वारा विज्ञान (सत्य) को जानने की बात कही गयी है।[२] इसे ही प्रसाद जी ने कामायनी की भूमिका मे मनु और श्रद्धा की भावमूलक व्याख्या कहा है। इस प्रकार वैदिक साहित्य मे मनु, श्रद्धा और इडा सबंधी जो बातें मिलती हैं उनकी ऐतिहासिक और भावमूलक या मनोवैज्ञानिक (दार्शनिक) दोनों ही व्याख्याये हो सकती हैं। अत प्रसाद जी ने कामायनी के पात्रों को यद्यपि प्रधानतया ऐतिहासिक व्यक्तित्व प्रदान किया है पर उसमे रूपकत्व की भी प्रतिष्ठा स्वयमेव हो गयी है। इसीलिये कामायनी की भूमिका में प्रसाद जी ने लिखा है कि 'यदि श्रद्धा और मनु अर्थात् मनन के सहयोग से मानवता का विकास रूपक है तो भी बडा ही भावमय और श्लाघ्य है। यह मनुष्यता का मनोवैज्ञानिक इतिहास बनने मे समर्थ हो सकता है।' इससे स्पष्ट है कि कामायनी की कथा मे ऐतिहासिक सत्य का आधार तो लिया ही गया है, उसमे मनुष्यता का मनोवैज्ञानिक इतिहास भी उद्घाटित किया गया है। मनु इडा श्रद्धा सबधी प्राचीन आख्यानो मे जो रूपक तत्त्व निहित हैं उसी के सहारे कामायनी मे प्रस्तुत कथा के आवरण मे मानव के सामाजिक और मनोवैज्ञानिक विकास की कथा कही गयी है और यह रूपक योजना प्रसाद जी की अपनी कल्पना की उपज और उनकी मौलिक देन है। जलप्लावन के बाद मनु ने श्रद्धा और इडा से मिलकर नवीन मानव सृष्टि का विकास किया, यह तो

२—"यदा वै मनुतेऽथ विजानाति नामत्वा विजानाति मत्वैव विजानाति मतिस्त्वेव विजिज्ञासितव्येति मतिं भगवो विजिज्ञास इति। यदा वै श्रद्दधात्यथ मनुते नाश्रद्दधन्मनुते श्रद्दधदेव मनुते श्रद्धात्वेव विजिज्ञासितव्येति श्रद्धां भगवो विजिज्ञास इति।" छांदोग्य—७–१७, १९।

ऐतिहासिक कथा हुई जो कामायनी की प्रस्तुत कथा है। शतपथ ब्राह्मण मे मनु और इडा को मन और वाक् के रूप मे भी उपस्थित किया गया है और छान्दोग्य म कहा गया है कि जो मनन करता है वह विज्ञान को जानता है, मति से जानता है क्योंकि मति विज्ञान कारिणी है, किन्तु साथ ही श्रद्धा द्वारा भी मनन करना चाहिये क्योंकि श्रद्धा आस्तिक्य बुद्धि है, फिर श्रद्धा भी निष्ठा द्वारा उत्पन्न होती है और निष्ठा का उत्पति हेतु कृति (इद्रिय सयम, चित्त एकाग्रता आदि) है। इस तरह कृति, निष्ठा, श्रद्धा और मति इन चारों वृत्तियों को साधन बनाकर, चारो के विकास और समन्वय से विज्ञान को जाना जा सकता है। प्रसाद ने मनु की कथा मे इसी दार्शनिक पद्धति का अध्यवसान किया है। यह तो स्पष्ट है कि छान्दोग्य उपनिषद् मे मनन, मति, श्रद्धा, निष्ठा और कृति का जो आध्यात्मिक विवेचन किया गया है वह रूपक नही है और न मनु, इडा और श्रद्धा की ऐतिहासिक कथा से उसका सबध है। यह सबध प्रसाद जी ने अपनी ओर से जोडा है। परिणाम स्वरूप कामायनी मे रूपकत्व संबधी एक ऐसी विशेषता आ गयी है जो भारतीय या पाश्चात्य किसी रूपककथा मे नहीं मिलती। वह यह है कि उसके तीन प्रधान पात्र मनु, इडा, श्रद्धा ऐतिहासिक व्यक्ति भी हैं और साथ ही मन, बुद्धि और श्रद्धा के मानवीकृत रूप भी हैं।

इस प्रकार कामायनी की प्रस्तुत कथा मे मानव सृष्टि के विकास के साथ उसके नायक द्वारा चरम शान्ति और परमानन्द की प्राप्ति दिखाई गई है और अप्रस्तुत कथा भी जीव के अन्नमय कोश से आनन्दमय कोश तक आध्यात्मिक यात्रा, मानसिक सघर्ष और इच्छा ज्ञान क्रिया के सम वय द्वारा अखण्ड घन आनन्द की प्राप्ति मे ही पयवसित हुई है। निष्कर्ष यह कि मनु कि कथा मे मन की कथा इस तरह पिराई गयी है कि दोनों कथाये अभिन्न सी हो गयी हैं। कारण यह है कि मनुष्य की कथा मन की ही कथा होती है। आधुनिक युग मे वैज्ञानिक और मनावैज्ञानिक ज्ञान के विस्तार के साथ कथा साहित्य मे जिस तरह मानसिक उलझना, सघषा ओर क्रिया प्रतिक्रियाओ की अभिव्यक्ति प्रधान हो उठी है और स्थूल घ^नावलो का वर्णन बहुत कम हो गया है, उसी तरह कामायनी मे भी मनोवैज्ञानिक सत्यो का, मनु की कथा के माध्यम से, काव्यात्मक रूप म उद्घाग्न और विवेचन किया गया है। फलस्वरूप उसमे रूपक तत्त्व बहुत गोण है क्योकि प्रस्तुत और अप्रस्तुत कथा मे बहुत कम भेद रह गया है। बिना भेद क प्रस्तुत मे अप्रस्तुत का आरोप नहीं हो सकता। इसी बात को ध्यान मे रख कर श्री नन्ददुलारे वाजपेयी ने लिखा है कि "प्रसाद ने मानव वृत्तियों का निरूपण करने वाले अपने

काव्य मे दार्शनिकता का आभास अवश्य दिया है पर वह दार्शनिकता काव्य का अग बन कर आयी है और उसकी प्रकृत भावना भूमि पर ही अधिष्ठित है। वह काव्य के वस्तु वर्णन और उसके भावात्मक स्वरूप को किसी प्रकार ठेस नही पहुँचाती। इस प्रकार हम देखते है कि कामायनी काव्य अन्योक्ति तो हे ही नही, उसे समासोक्ति भी नही कहा जा सकता। उसमे एक दार्शनिक अन्तधारा मिलती है। वह काव्य की स्वाभाविक धारा से अभिन्न और तदरूप होकर आयी है।"[१]

यह तो ठीक है कि कामायनी के मनु, श्रद्धा और इडा मन, तर्क या व्यवहार बुद्धि और आस्तिक्य बुद्धि के मानवीकृत रूप हैं, पर उसके अन्य पात्र—आकुलि, किलात, कुमार आदि—न तो मानवीकृत हैं न उनके सांकेतिक अर्थ ही हैं। घटनाओ मे भी सभी प्रतीकात्मक या साकेतिक नही है। जलप्लावन वर्णन, देवसृष्टि वर्णन, मनु का काम यज्ञ, सारस्वत प्रदेश की शासन व्यवस्था आदि का कोई अप्रस्तुतार्थ नहीं है। काम और लज्जा मानवीकृत पात्र पात्री नही बल्कि मन के भीतर की वृत्तियाँ हैं जिनकी छाया—प्रतिमा (हैलुमिनेशन) का दर्शन क्रमश मनु और श्रद्धा को होता है और अपने मन के भीतर का ही स्वर उन्हे सुनाई पडता है। मानसरोवर रहस्यवादी सप्रदाय मे योग के ब्रह्मरध्र या शिवलोक का प्रतीक अवश्य है पर कामायनी मे उसका वर्णन प्रतीक रूप मे नहीं हुआ है। वह स्वय सिद्धिपीठ है और प्रस्तुत रूप मे ही उसका वर्णन हुआ है। त्रिपुर (तीन गोलक) के वर्णन मे भी साकेतिकता नही रह जाती क्योकि श्रद्धा उनका अर्थ समझा देती है। इस प्रकार कामायनी मे प्रतीकात्मक या साकेतिक पद्धति बहुत अधिक नही अपनाइ गई है। केवल रहस्य सर्ग ऐसा है जिसमे साकेतिक पद्धति दिखाई पडती है। उसमे कैलाश की यात्रा साधक की आध्यात्मिक साधना यात्रा की ओर सकेत करती है। पर वहाँ भी वर्णन समासोक्तिमूलक ही है, अन्योक्तिमूलक नहीं। इस सर्ग मे योग साधना के मार्ग के व्यवधान, मधुमती भूमिका और आनन्दमय कोश की आनन्दावस्था की ओर, कैलाश यात्रा के वर्णन के माध्यम से, सकेत किया गया है।

वस्तुत सच्ची रूपक कथा तो वही होती है जिसमे प्रस्तुतार्थ बिलकुल महत्वहीन हो और अन्योक्ति के सहारे अप्रस्तुत अर्थ को प्रधानता दी गइ हो। कामायनी मे यह बात नही दिखाई पडती। समासोक्ति और प्रतीक पद्धति द्वारा भी उसमे रूपकत्व की प्रतीष्ठा नहीं हुई है। फिर भी उसमे गोण रूप मे

१—नन्ददुलारे वाजपेयी—आधुनिक साहित्य—प्रयाग स० २००७, पृ० १७२

ही सही, रूपकत्व है और वह भी दुहरा है अर्थात् उसमे प्रस्तुत वाक्य के भीतर ही अ तस्सलिला की धारा की तरह दो अ य कथायें भी छिपी हुई हैं। पर इन दोनों अप्रस्तुत कथाओ का ज्ञान पाठक को पूरे काव्य के निष्कर्ष के रूप मे होता है। पूरा काव्य पढ लेने के बाद पाठक को यह प्रतीत होता है कि यह तो मनु की ही कथा नही है बल्कि मानव मन की सकल्पात्मक विकल्पात्मक वृत्तियो के सघर्ष और उसकी परिशान्ति की कथा भी है और इतना ही नहीं, उसमे मानव सस्कृति के विकास का इतिहास भी सक्षेप म अप्रत्यक्ष रूप से कहा गया है।

इस तरह कामायनी कथा से जो दो अ य अप्रस्तुत कथायें ध्वनित होती हैं, वे ये हैं —

१—जीव के अन्नमय कोश से आनन्दमय कोश तक पहुँचने की कथा।

२—मानव के सामाजिक और सास्कृतिक विकास की कथा।

पहली अप्रस्तुत कथा मे यह बात दिखाई गई है कि जीव अन्नमय कोश मे स्थित रहकर चिन्ता, आशा, काम, वासना, ईर्ष्या और कर्म आदि मे आसक्त होता है। भारतीय दर्शन मे अन्नमय आदि कोशों का विभाजन इस प्रकार किया गया है—

स्थान	कोश	उपाधि
१—स्थूल शरीर	अन्नमय कोश	स्थूलोपाधि
२—प्राण	प्राणमय कोश	
३—मन (इच्छा)	मनोमय कोश	सूक्ष्मोपाधि
४—मन (विज्ञान)	विज्ञानमय कोश	
५—बुद्धि	आनन्दमय कोश	कारणोपाधि
६—आत्मा	आत्मा	आत्मा

तैत्तिरीयोपनिषद् के अनुसार शरीर मे अन्नमय कोश निवास करता है। अन्न से ही प्रजा की उत्पत्ति हाती है, अत जो अन्न-ब्रह्म की उपासना करते हैं वे भौतिक दृष्टि से सपन्न बनते हैं। कामायनी मे प्रजापति मनु प्रारम्भ मे अन्नमय कोश मे स्थित जीव के रूप मे हैं और काम यज्ञ, प्रजा की उत्पत्ति और विकास करने के साथ ही साथ भौतिक सुख और अधिकार के लिए सघर्ष करते हैं। वे अपने प्रयत्नां मे बहुत कुछ सफलता भी प्राप्त करत हैं। मनुष्य केवल अन्नमय कोश से ही जीवित नहीं है, बल्कि उसके भीतर निहित, सपूर्ण पिण्ड मे व्याप्त प्राण-मय कोश से आत्मवान है। इसी तरह प्राणमय कोश के भीतर मनोमय कोश, उसके भीतर विज्ञानमय काश और विज्ञानमय कोश के भीतर आनन्दमय कोश स्थित

है। इसी अन्तिम कोश मे आत्मा निवास करती है[१]। मनु की जीवन-कथा मे जीव के क्रमश अन्नमय कोश से आनन्दमय कोश तक पहुँचने का विकास क्रम दिखाई पडता है। इडा मनु का मनोमय और विज्ञानमय कोश तक ही सीमित रखती और न्याय के आधार पर उनसे कर्म कराना चाहती है। मनु मे जब अन्नमय कोश प्रबल होता है तो वे इडा पर भी अधिकार करना चाहते हैं। अन्त मे श्रद्धा या आस्तिक्य बुद्धि जीवन को निरन्तर अन्नमय कोश से आनन्दमय कोश मे ले जाकर आत्मस्थ करने का प्रयत्न करती और सफल होती है। आनन्द मयकोश मे पहुँचकर इच्छा, ज्ञान और क्रिया क बीच की दूरी मिट जाती है, तीनों मे समन्वय हो जाता है। इस प्रकार कामायनी के प्रजापति मनु आरम्भ से अन्नमय कोश मे स्थित मन हैं और सकल्प विकल्प उनकी प्रजा हैं। अन्त मे वे मध्यवर्ती कोशों को पार कर आनन्दमय कोश में पहुँच कर आत्मलीन आनन्दस्वरूप शिवत्व की प्राप्ति करते हैं।

कामायनी की दूसरी अप्रस्तुत कथा मे मनु यथार्थ मानव या समूची मानव जाति के प्रतीक हैं। देव सृष्टि के ध्वसावशेष पर नवीन मानवीय सस्कृति और नयी समाज व्यवस्था के प्रवर्तन का उत्तरदायित्व उन पर है। यथार्थ मानव की तरह वे गलतियाँ करते, फिर उन्हे सुधारते और इस तरह अधकार लोक से प्रकाश लोक म पहुँचते हैं। देव युग क स्थूल ऐश्वय और भौतिक सुख साधनों की समाप्ति हो गयी है पर उसके विचार और सस्कार मनु में हैं। अत वे अतीत की भूलों के प्रकाश मे नवीन युग की स्थापना के लिए चिंतन करते हैं। आशा बँधती है और तभी सहायता के लिए श्रद्धा मिल जाती है। आदिम मानव समाज सहज श्रद्धालु था और मृगया, अन्न सग्रह, गुफावास आदि उसक जीवन साधन थे। वह काम, क्षुधा आदि सहजात वृत्तियों की प्रेरणा से कार्य करता था, यह बात कर्म, काम, वासना, और ईर्ष्या सर्गों में बहुत अच्छी तरह दिखाई गयी है। यह देव जाति की भौतिक उन्नति से ऊबे हुए मनु और श्रद्धा के प्राकृतिक और सरल जावन बिताने की बात रूसो वाल्टेयर, टालस्टाय और गान्धी के प्रकृतिवाद का प्रभाव व्यक्त करती है। पर यथाथ मानव का भाँति मनु इस एकरस, अपरिवर्तनीय और स्वादहीन जीवन से ऊबकर कामयज्ञ, हिंसा, ईर्ष्या आदि मे लीन होते और श्रद्धा का त्याग करते हैं अर्थात् वे आदिम मानव जीवन की निष्प्राणता और सहजता से ऊबकर हलचल और कर्म कोलाहलमय जीवन की कामना करते हैं। सारस्वत

१—तैत्तिरीय उपनिषद्—द्वितीय वल्ली, अनुवाक् २, ३, ४, ५।

प्रदेश (बुद्धि का देश) मे इडा से भेंट होती है, अर्थात् उनकी अपनी ही बुद्धि प्रजा को सगठित करने, वैज्ञानिक आविष्कारों की सहायता से औद्योगिक उन्नति करने, कानून बनाने और वर्ग विभाजन करने की प्रेरणा देती है। यह सब होता है पर परिणामस्वरूप अहकार और निरकुशता की भावना भी सहज ही उदित होती है जो आजकल लाकतत्र के भीतर भी तानाशाही (डिक्टेटरशिप) क रूप मे दिखाई पडती है। उसकी सहज परिणति सघर्ष और युद्ध मे होती है। बुद्धि का अतिशय विकास मानव के नाश का कारण बनता है। यह बात स्वप्न और सघर्ष सगो मे बताई गई है। इस विनाश को रोकने का एक यही रास्ता है कि मानव का एकागी विकास—श्रद्धाहीन बौद्धिक विकास—रोका जाय और बौद्धिकता और आध्यात्मिकता, तकबुद्धि और आस्तिक्य बुद्धि का समन्वय हो। कामायनी मे सघर्ष मे टूटे हुए मनु (मानव) को श्रद्धा आध्यात्मक उन्नति का म र्ग बताती है और अपने पुत्र कुमार को, जो उसी का प्रतिरूप या प्रतिनिधि है, इडा के पास उससे मिलकर सारस्वत प्रदेश मे श्रद्धा और बुद्धि के समन्वय पर आधारित नवीन समाज व्यवस्था स्थापित करने के लिए छोड जाती है। इस प्रकार बौद्धिकता और आध्यात्मिकता विकल्पात्मक और सकल्पात्मक अनुभूति के समन्वय से अर्थात् इच्छा, ज्ञान और क्रिया के समन्वय से ही स्थायी शान्ति और सर्वागपूर्ण संस्कृति की प्रतिष्ठा हो सकती है, यही प्रसाद जी का जीवन सन्देश है। मानव का विकास अभी बौद्धिक और भौतिक क्षेत्र मे ही हुआ है। आध्यात्मिक क्षेत्र में वह आज भी शून्य है। प्रसाद ने मानव जाति के विकास के इस अगले कदम की ओर भी सकेत कर दिया है।

कामायनी का महाकाव्यत्व

प्राय सभी विद्वान् एक मत से स्वीकार करते हैं कि कामायनी एक नये ढङ्ग का महाकाव्य है। कुछ लोग तो उसे आधुधिक युग का प्रतिनिधि अथवा सर्व श्रेष्ठ महाकाव्य मानते हैं। प्रमुख आलोचक आचाय नन्ददुलारे बाजपेयी का मत है कि "परपरागत महाकाव्य के लक्षणो की पूर्ति न करने पर भी कामायनी को नये युग का प्रतिनिधि महाकाव्य कहने में हमे कोई हिचक नहीं होती।"[१] प्रो० विनयमाहन शर्मा ने लिखा है कि "कामायनी प्रसाद की अन्तिम कृति है और छायावाद का प्रथम महाकाव्य।[२]" एक दक्षिणी अहिन्दी प्रा त के साहित्यकार श्री वाराणसी राममूर्ति 'रेणु' का मत और भी महत्वपूर्ण है क्योकि उन्होने दक्षिण की भाषाओं

१—नन्ददुलारे बाजपेयी—आधुनिक साहित्य, प्रयाग स० २००७, पृ० ८०।

२—विनयमोहन शर्मा साहित्यावलोकन, प्रयाग सन् १९५२ ई०, पृ० ७३।

कामायनी मे बौद्धिकता और भोतिकता के अतिरेक से पीडित और विविध प्रकार के सघर्षो मे टूटे हुए विश्व मानव को चरम शान्ति का मार्ग बताना ही कवि का महदुद्देश्य है। मानव की इस सास्कृतिक ऊँचाई की उस अवस्था मे, जिसम वर्ग, वर्ण, राष्ट्र आदि के बन्धन टूट गये रहगे और ईष्या, द्वेष, सघर्ष की जगह चरम भौतिक और आध्यात्मिक शान्ति का साम्राज्य होगा, सभी समसुख, समभाव, समदृष्टि और आनन्दस्वरूप होगे, पहुँचाने वाली शक्ति मानव की अन्तरात्मा की आवाज उसकी जीवनास्था ही है जिसे प्रसाद जी ने 'श्रद्धा' कहा है। उसी की सहायता से अथात् बौद्धिकता को श्रद्धा से सयमित करके ही अखण्ड आनन्द की उपलब्धि और विश्व शाति की स्थापना हो सकती है। इस तरह श्रद्धा ही वह साधन है जिससे प्रसाद जी के उच्च आदर्श तक पहुँचा जा सकता है। यह साधन भी उस लक्ष्य के समान ही महान और पवित्र है। अन आध्यात्मिक और व्यावहारिक जीवन तथा ज्ञान, इच्छा और क्रिया के बीच सामजस्य स्थापित करना और इस तरह मानव मानव के बीच की दूरी को मिटाकर पूर्ण मानवता की प्रतिष्ठा करना ही कामायनी का महदुद्देश्य है। पूर्ण मानवत्व का प्रतिष्ठा न तो केवल बौद्धिक और वैज्ञानिक विकास को चरम सीमा पर पहुँचाने से होगी, न बुद्धि को बिलकुल छोडकर आदिम मानव की तरह सहजात वृत्तियो की प्रेरणा का अनुगमन करने से। आज का विश्व बौद्धिक दृष्टि से इतना आगे बढ गया है कि प्रकृति के अधिकाश रहस्य उसे ज्ञात हो गये हैं, वैज्ञानिक विकास द्वारा सुख के समस्त साधनों को उसने सुलभ बना दिया है। फिर भी युद्ध, पारस्परिक होड, सन्देह, भयानक युद्धास्त्रो के आविष्कार और प्रयोग आदि के कारण आज के विश्व मानव का जीवन नरक तुल्य हो गया है और सच्ची मनुष्यता लुप्त सी हो गयी है। ऐसे विश्व मानव को 'प्रेम कला' अर्थात् मानवीय हृदय को कोमल और सात्विक भावनाओं की आवश्यकता है जो अपने चिर परितप्त हृदय को फिर से शीतल बनावे। प्रसाद ने काम के मुँह से उसी का सदेश दिया है—

यह लीला जिसकी विकस चली वह मूल शक्ति थी प्रेम कला।
उसका सदेस सुनाने को ससृति मे आई वह अमला।

उस मूल शक्ति या आदि शक्ति का, जिसकी चेष्टा या सक्रियता से ब्रह्म ने विश्व को अभिव्यक्त किया है, सदेश सुनाकर मानव को सही रास्ते पर ले जाने वाली और जडत्व मे चेतना उत्पन्न करने वाली श्रद्धा या आस्तिक्य बुद्धि है। उसे ही मानवता का मूल मत्र मान कर प्रसाद ने कामायनी द्वारा विश्व की शान्ति का मार्ग बताया है। अत प्रसाद की लोक मगल भावना तुलसी से बहुत आगे

बढी हुइ है। यह हिन्दू जाति या भारतीय समाज के लिए ही नही, समूचे विश्व के लिए है।

शास्त्रीय लक्षणा के अनुसार महाकाव्य का महदुद्देश्य चतवर्ग फल की प्राप्ति होता है। कामायनी मे अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष चारो फलो की सिद्धि दिखाइ गयी है किन्तु प्रधानता मोक्ष की है। यहाँ मोक्ष का तात्पर्य स्वर्ग प्राप्ति या निर्वाण नहीं बल्कि जीवन को दुख सुख, हर्ष विषाद आदि द्वन्दों की स्थिति से निकाल कर परम शान्ति, शिवत्व या अखण्ड आनन्द मे लीन करना है। इसे जीवन्मुक्ति की दशा भी कह सकते हैं। आध्यात्मिक दृष्टि से जीवन्मुक्त दशा उस दिव्य दृष्टि की प्राप्ति है जिसके कारण शिव का ताण्डव नृत्य दिखाई पडता है और सब शाप ताप नष्ट हो जाते हैं —

उस शक्ति शरीरी का प्रकाश, सब शाप पाप का कर विनाश—
नर्तन मे निरत, प्रकृति गल कर, उस कान्ति सिन्धु मे घुल मिल कर,
अपना स्वरूप धरती सुन्दर, कमनीय बना था भीषणतर,
हीरक गिरि पर विद्युत विलास, उल्लसित महा हिम धवल हास।

किन्तु यह तो नटेश का प्रथम दर्शन था। शिवलोक कैलाश मे पहुँच कर त्रिपुर—इच्छा लोक, कर्मलोक और ज्ञान लोक—का दर्शन मनु की आध्यात्मिक यात्रा का अन्तिम लक्ष्य था। वहा त्रिपुर दाह के बाद इच्छा, क्रिया और ज्ञान का जो समन्वय हुआ, वही मनु का मोक्ष दशा थी—

स्वप्न स्वाप, जागरण भस्म हो इच्छा क्रिया ज्ञान मिल लय थे।
दिव्य अनाहत पर निनाद मे श्रद्धायुत मनु बस तन्मय थे।
—रहस्य सर्ग

उस दशा मे पहुचने पर मनु के लिए सब कुछ चैतन्य, आनन्दमय और सुन्दर था—

समरस थे जड या चेतन सुन्दर साकार बना था।
चेतनता एक विलसती आनन्द अखण्ड घना था।—आनन्द सर्ग

अत प्रसाद जी के अनुसार समरसता और अखण्ड आनन्द की प्राप्ति ही मोक्ष है और वही कामायनी का 'फल' है। आध्यात्मिक क्षेत्र का यह फल व्यावहारिक जगत मे ही प्राप्य है, क्योंकि शिव और कैलास प्रत्येक व्यक्ति के भीतर ही है, उन्हें प्राप्त करने के लिए मानसरोवर की यात्रा करने या वृषभ उत्सर्ग करने अर्थात् बाह्य धर्माचार मे लीन होने की आवश्यकता नही है। प्रसाद जी ने अखण्ड आनन्द को व्यक्ति का नहीं, समाज का उद्देश्य माना है, और उसकी

प्राप्ति का व्यावहारिक मार्ग भी निर्दिष्ट कर दिया है। वह मार्ग है बुद्धि और श्रद्धा का समन्वय जिसके द्वारा मानव के भाग्य का उदय हो सकता है —

यह तर्कमयी तू श्रद्धामय, तू मननशील कर कर्म अभय,
इसका तू सब संताप निचय, हर ले, हो मानव भाग्य उदय।
सब की समरसता का प्रचार, मेरे सुत, सुन माँ की पुकार।—दर्शन सर्ग

इस तरह मानव मात्र को आनन्दमय लोक अर्थात् व्यावहारिक मोक्ष की स्थिति मे पहुँचना ही कामायनी का महदुद्देश्य या प्रधान फल है। अन्य तीनों फल—धर्म, अर्थ और काम—भी कामायनी मे हैं पर वे गौण हैं। यद्यपि ये तीनो ही मोक्ष के साधन हैं पर प्रसाद जी ने काम को मोक्ष का प्रधान साधन माना है। 'कामायनी' नाम से तो यही ध्वनित होता है कि उसमें 'काम' ही प्रधान फल होगा। पर काम का स्थान उसमे मोक्ष के बाद ही आता है। शुक्ल जी तो कामायनी मे मधुचर्या का अतिरेक मानते हैं। पर वैष्णव आदर्शवाद की दृष्टि से न देख कर यदि कामायनी को मनोवैज्ञानिक, दार्शनिक तथा व्यावहारिक दृष्टि से देखा जाय तो उसमे काम मधुचर्या के रूप मे नही, बल्कि जीवन की मूल प्रेरक शक्ति के रूप मे दिखाई पडता है। कामायनी में देवजाति के वर्णन मे तथा श्रद्धा, काम, वासना, लज्जा, स्वप्न और संघर्ष नामक सर्गों मे काम का वर्णन अधिक विवृत और मनोवैज्ञानिक रूप मे हुआ है, किन्तु वस्तुतः वह पूरे काव्य मे सूक्ष्म रूप मे व्याप्त है। प्रसाद ने काम को बडा ही व्यापक, उदात्त और शक्तिमान माना है। प्रसाद का 'काम' किसी भी तरह घृणित या त्याज्य नहीं है, वह धर्म और मोक्ष का बाधक नही, साधक है। इसीलिए प्रसाद जी ने श्रद्धा को काम की पुत्री कहा है क्योंकि श्रद्धा के कारण ही मानव-जाति को देव और असुरों से, जो श्रद्धा विवेकहीन थे, विशिष्ट बनाया है। शुक्ल जी ने लिखा है कि "श्रद्धा और धर्म का संबंध अत्यन्त प्राचीन काल से प्रतिष्ठित है। महाभारत मे श्रद्धा धर्म की पत्नी कही गयी है।" शुक्ल जी की यह शिकायत है कि "श्रद्धा के मंगलमय योग से किस प्रकार कर्म धर्म का रूप धारण कर लेता है, यह भावना कवि से दूर ही रही।" शुक्ल जी को यह शिकायत इसलिए है कि वे कामायनी मे स्थूल सक्रियता या घटनावली का अभाव पाते हैं तथा मानसिक और भावात्मक क्रिया प्रतिक्रिया को सक्रियता नही मानते। यह तो सही है कि कामायनी मे स्थूल कर्मों के भीतर श्रद्धा और धर्म का योग नहीं दिखाई पडता, किन्तु जो श्रद्धा, करुणा, सेवा, अहिंसा, प्रेम और ममता की मूर्ति है, जो मनु ही नहीं सारस्वत प्रदेश के निवासियो को भी समरसता के लोक में पहुँचाती है, क्या उसको धर्म की साधिका नहीं कहा जायगा? निष्कर्ष यह कि कामायनी

मे काम, धम और मोक्ष तीन फल प्रमुख हैं, चोथा फल अर्थ केवल स्वप्न और सघष सर्गा मे दिखलाइ पडता है। पर इन सब मे भी प्रधान स्थान मोक्ष का हा है और समान्वत प्रभाव की दृष्टि से कामायनी का फल वहा है।

महाकाव्य म महान उद्देश्या क अनुरूप कोई शक्तिमती प्रेरणा भी निहित होती है। उस महती प्रेरणा से अभिभूत हो कर हा महाकवि महान चरित्रा और महान आदर्शा की विराट् कल्पना करता है आर वही प्रेरणाशक्ति युग युग मे उस महाकाव्य के पाठका के अन्तरतम को गहराइ तक प्रभावित करती तथा उनकी आत्मा का प्रबोध और शान्ति प्रदान करती है। कामायनी की प्रेरणाशक्ति भारतीय सस्कृति की वह उदारता, व्यापकता और 'कल्याणाभि निवेशा' दृष्टि है जिसका केन्द्रबिन्दु 'समन्वय' है। भारतीय सस्कृति को प्रसाद ने अत्यत प्रगतिशील माना है क्योकि उसमे युग की आवश्यकताओ के अनुकूल अपने को ढाल लेने की अद्भुत क्षमता है। अत प्रसाद क समूचे साहित्य मे जो जीवन दृष्टि दिखाइ पडती है वह समन्वयात्मक है। उनकी प्रेरणा का स्रोत भारत का अतीत ज्ञान गोरव और ऐश्वर्य महिमा ही है। फिर भी वे अतीतोन्मुखी या पुनरुत्थानवादी नहा है। इसके विपरीत उन पर राष्ट्रीयता, वैज्ञानिकता और लोकतन्त्रात्मक मानवतावाद का गहरा प्रभाव है। इस तरह प्रसाद साहित्य म प्राचीनता और नवीनता, आध्यात्मिकता और भौतिकता, यथार्थवाद तथा आदर्शवाद का सुन्दर समन्वय हुआ है। किन्तु कामायनी मे प्रसाद के समन्वयात्मक दृष्टिकोण का और भी विकसित और पूर्ण रूप दिखाइ पडता है। उसम प्रसाद जा ने भारतीय सस्कृति को विश्व मानव की सस्कृति मे, राष्ट्रीयता को अन्तरराष्ट्रीयता मे, व्यक्ति चेतना को समष्टि चेतना मे विलीन करके मानवतावाद का नवीन और आदर्श रूप उपस्थित किया है। समन्वय का अथ दो विरोधी तत्त्वों का मिश्रण नहीं है। दो तत्त्वो के सत्पक्षों को ग्रहण करके जो तीसरा अभिनव रूप निर्मित होता है और जिसका उद्देश्य मानव का महत्तम कल्याण होता है, उसे ही सच्चे अर्थ म 'समन्वयवाद' कहा जा सकता है। यही समन्वयवाद, जो मानवतावाद का नवीनतम और आदर्श रूप है, कामायनी की प्रेरणा शक्ति है। यह महती प्रेरणा भारतीय सस्कृति के चिरन्तन तत्त्वों से पोषित और लोकतन्त्रात्मक मानवतावादी विचारधाराओं से अनुप्राणित है।

महान उद्देश्यों के वाहक और महती प्रेरणा के आश्रय महाकवि की काव्य-प्रतिभा भी उतनी ही महायसी होती है। प्रसाद की अद्भुत और असाधारण काव्यप्रतिभा का ही परिणाम है कि कामायनी में उद्देश्य और दृष्टिकोण संबधी

इतनी विराटता, व्यापकता एव गहराई दिखाई पडती है। प्रसाद जी क्रान्तदर्शी कवि थे। कामायना मे उन्होने द्रष्टा ऋषि की भाँति मानव—जीवन को आदि से अन्त तक हस्तामलकवत् देख कर उसके मूल रहस्य—आत्मा की अनुभूति—का, उसके समग्र रूप में, उद्घाटन किया है। उसी काव्यप्रतिभा के बल से उन्होंने मानवजाति के इतिहास की विशाल पटभूमि को तथा मानव मन की अतुल गहराई को कल्पना की क्रीडा भूमि बनाया है। उन्होने अपनी अतलभेदिनी अन्तर्दृष्टि द्वारा अतीत के अन्धगर्भ में बन्दी अमर प्रकाश को मुक्त किया है और वर्तमान के विक्षुब्ध सागर के तट पर बहुत ऊँचाई पर उसका प्रकाशमय दीप स्तम्भ प्रतिष्ठित किया है, ताकि देशों की दूरी तथा जातियो, और वर्गों के व्यवधान को पार कर उसकी किरणें उन्मुक्त रूप मे विकीर्ण होती रहें। कामायनी मे प्रसाद की यह काव्यप्रतिभा उनकी सम वय बुद्धि के रूप मे दिखाई पडती है। इस सबध म श्री नन्ददुलारे वाजपेया ने बिल्कुल सही लिखा है कि "आध्यात्मिक ओर व्यावहारिक तथ्यो के बाच सतुलन स्थापित करने की सर्वप्रथम चेष्टा इस काल मे की गयी है। इस काय मे सफलता प्राप्त करने के लिए मानवीय वस्तुस्थिति से परिचय रखने वाली जिस मर्मभेदिनी प्रकृति की आवश्यकता है वह प्रसाद जी को प्राप्त थी। उ होने अपनी प्रतिभा के बल से शरीर, मन और आत्मा कर्म, भावना और बुद्धि, क्षर, अक्षर और उत्तम तत्त्वों को सुसगठित कर दिया है। यही नहीं, उन्होंने इन तीना तत्त्वों के भेद को मिटाकर इन्हें पयायवाची भी बना दिया है।"[1] इसी समन्वयवाद की पूर्णता के फलस्वरूप कामायनी आत्मा के महान शिल्पी प्रसाद की काव्यप्रतिभा की सर्वोत्कृष्ट कृति और भारतीय साहित्य को उनकी अमर देन हो गयी है।

२—गुरुत्व, गाम्भीर्य और महत्व

कामायनी मे कवि की प्रतिभा, प्रेरणा और उद्देश्य की जो महानता दिखाई पडती है, उसी के फलस्वरूप उसमें वह गुरुत्व, गाम्भीर्य और महत्व भी आ सका है जिसके कारण ही कोई काव्य महाकाव्य कहलाता और युग युग के लिए साहित्य की अमर सपत्ति और जातियों या राष्ट्रों का गौरव बन जाता है। अलकृत महाकाव्यों में गुरुत्व का एक और भी महत्वपूर्ण कारण होता है। वह है उनकी प्रौढता और विचार गरिमा। कामायनी का गुरुत्व उसकी सुदृढ दार्शनिक विचार पीठिका पर आधारित है। विचार गाम्भीर्य के कारण ही कुछ लोगों को यह काव्य अत्यन्त क्लिष्ट तथा दर्शन या मनोविज्ञान का 'ट्रीटाइज'

१—आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी—आधुनिक साहित्य—प्रयाग, स० २००७, पृ० २९।

जैसा लगता है परन्तु यह ध्यान देने की बात है कि अंग्रेजी साहित्य के सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य, मिल्टन के 'पैरेडाइज लास्ट' के बारे में भी बहुत से लोगों की यही धारणा है। उसके सम्बन्ध में डा० जानसन ने कहा था कि "पैरेडाइज लास्ट ऐसे ग्रन्थों में से है जिसे पढ़ कर पाठक प्रशंसा करता, फिर उठा कर रख देता, और दुबारा कभी नहीं पढ़ता है। उसे लोग आनन्द के लिए नहीं, कर्तव्य भावना से या उपदेश ग्रहण करने के लिए पढ़ते हैं और उसके बाद मनोरञ्जन के लिए अन्य साधना का सहारा लेते हैं।"[1] मेकाले ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि 'मिल्टन के काव्यों को समझना या उनमें रस लेना तब तक सम्भव नहीं है जब तक पाठक का मन मिल्टन के साथ सहयोग न करे।"[2] काव्य के पाठक प्रायः इतना कष्ट उठाने को प्रस्तुत नहीं होते या इतने शिक्षित और संस्कृत नहीं होते जो ऐसे गुरुत्व वाले काव्यों की विचारधारा को सहज ही हृदयङ्गम कर सकें। कामायनी के बारे में भी बहुत कुछ यही बात लागू होती है। भारतीय संस्कृति के मूल तत्वों और अद्वैतवाद, शैवागम के प्रत्यभिज्ञा दर्शन, आधुनिक मनोविज्ञान, फ्रायड के काम-सिद्धान्त, मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद, डार्विन के विकासवाद और भौतिक विज्ञान के विभिन्न सिद्धान्तों से जिनका सामान्य परिचय भी नहीं होगा वे निश्चय ही कामायनी में उतना आनन्द नहीं प्राप्त कर सकेंगे। वे सम्भवतः उसे पढ़ते पढ़ते ऊब कर अलग रख देंगे। अतः कामायनी के पाठक के लिए यह आवश्यक है कि उसका बौद्धिक और सांस्कृतिक स्तर सामान्य या अपढ़ जनता के मानसिक धरातल से पर्याप्त ऊँचा हो।

किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि कामायनी काव्य न होकर शास्त्र या शास्त्र काव्य है। भट्टि के रावण वध या हेमचन्द्र के द्वाश्रय काव्य में जिस तरह काव्य के भीतर व्याकरण के नियम बताये गये हैं उस तरह कामायनी में शास्त्रीय सिद्धान्तों का विवेचन नहीं किया गया है। अतः वह दर्शन या मनोविज्ञान का 'ट्रीटाइज' नहीं है। पर जो केवल कथा या रोमांचक वर्णनों के लिए महाकाव्य पढ़ते हैं उन्हें यह अतिशय गम्भीर और कष्ट साध्य अवश्य प्रतीत होगा। दर्शन, मनोविज्ञान, विज्ञान, इतिहास आदि स्वयं में साध्य नहीं बल्कि किसी महान उद्देश्य के साधन ही हैं। उसी तरह काव्य भी साध्य नहीं साधन है। अतः उद्देश्यमूलक दृष्टि से देखने पर काव्य और शास्त्र के बीच विरोध

१—पैराडाइज लास्ट—सम्पादक—मैकमिलन, पृ० २४।

२— The works of Milton cannot be comprehended or enjoyed unless the mind of the reader cooperates with that of the writer"—Ibid" p 24

नहीं दिखाई देता। समान उद्देश्य होने पर एक विशेष ऊँचाई पर पहुँच कर काव्य और शास्त्र की सीमा ये मिल भी जाती हैं, दोनों एक दूसरे मे विलीन हो जाते हे। यही कारण है कि महाभारत रामायण, पैराडाइज लास्ट और रामचरित-मानस महाकाव्य होते हुए भी दशन ओर धर्म के क्षेत्र मे समाज के पथ प्रदर्शक माने जाते हैं। कामायनी भी इन्ही महाका यो की श्रेणी मे आती है।

अत क्षणिक, ऐन्द्रिक और ऊपरी आनन्द की खोज करने वालो के लिए कामायनी नही है। पर जो तात्विक और शाश्वत आनन्द के अन्वेषक हैं, उनके लिए यह महाकाव्य ऊबाने थकाने वाला नही हो सकता, न इसका गुरुत्व ही उनकी मानसिक तृप्ति म बाधक हो सकता है। इसके विपरीत उनके आनन्द का वही प्रधान स्रोत है। प्रसाद की दार्शनिक विचारधारा प्रधानतया शैवागम के प्रत्यभिज्ञा दर्शन पर आधारित है। काश्मीर के शैवागम दर्शन को त्रिक् शास्त्र या त्रिक् शासन भी कहा जाता है क्योकि उसमे तीन प्रकार के शास्त्र ग्र थ मान्य हे—(१) आगम या तन्त्रशास्त्र (२) स्पन्द शास्त्र और (३) प्रत्यभिज्ञा शास्त्र। इनमे से प्रत्यभिज्ञा शास्त्रो मे ही त्रिक् शासन का वास्तविक दर्शन दिखाई पडता है। इस दर्शन के प्रधान ग्रन्थ सिद्ध सोमानन्द कृत शिवदृष्टि, उत्पल कृत ईश्वरप्रत्यभिज्ञा और उसकी वृत्ति, अभिनवगुप्त कृत प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी, प्रत्यभिज्ञा वृत्तिविमर्शिनी तन्त्रालोक, तन्त्रसार, शिवदृष्ट्यालोचन, परमार्थसार और क्षेमराजकृत शिवसूत्र वृत्ति, प्रत्यभिज्ञा हृदय आदि हैं। इन ग्रथों मे अद्वैतमूलक शैव मत के दार्शनिक और साम्प्रदायिक सिद्धांतों, उपासना पद्धतियों आदि का पूर्ण विवेचन हुआ है। प्रसाद जी शैव दर्शन को मानने वाले थे और उन्होने इनम से अधिकाश ग्रथों का सम्यक् अध्ययन किया था। अत उनकी परवर्ती रचनाओ, विशेषकर 'कामायनी' में शैवागम क रहस्यवाद ओर प्रत्यभिज्ञादर्शन की छाया दिखाई पडती है, पर है वह छाया ही। प्रसाद जी ने साम्प्रदायिक कवियो की भाँति अपने मत के प्रचार के लिये प्रासगिकता का ध्यान रखे बिना प्रत्यभिज्ञादर्शन का सैद्धातिक विवेचन नही किया है। कामायनी मे प्रथम तो प्रत्यभिज्ञा-दर्शन की सभी बाते आयी नही हैं ओर जो आयी हैं वे कथा या वस्तु वर्णन के प्रसग के भीतर घुल मिल कर आयी हैं।

प्रत्यभिज्ञा दर्शन—

इस बात को ओर स्पष्ट करने के लिए यह देख लेना आवश्यक है कि कामायनी प्रत्यभिज्ञादर्शन से किस सीमा तक प्रभावित है। प्रत्यभिज्ञादर्शन के अनुसार आत्मन् या परमात्मा विश्व के प्रत्येक जड चेतन पदार्थ क भीतर

अलग अलग और समष्टिरूप मे विश्व मे भी अन्तस्थित है। इसी का नाम चैतन्य, परासंवित्, परमेश्वर और परमशिव भी है। यह परमशिव अनन्त, चिरन्तन और देश, काल, नाम, रूप आदि भेदात्मक उपाधियों से रहित अभेद्य और अखण्ड है[1]। वह विश्वरूप म भी है और विश्व से परे भी है, वस्तुत यह समस्त नाम-रूपात्मक जगत् उसी परम शिव की आत्माभिव्यक्ति है[2]। चैतन्य की चितिशक्ति ही सङ्कुचित होकर उसे विश्वात्मक रूप में लाती है। इस अवस्था में चैतन्य भी सङ्कुचित हो जाता है, अत शिव तथा जीव मे कोई भेद नहीं है[3]। परमशिव अपनी शक्ति से स्वेच्छया जगत् की अभिव्यक्ति करता है। वह और उसकी शक्ति भिन्न भिन्न नही हैं, शक्ति उसकी सृजनात्मक सत्ता है[4]। शिव की शक्तियाँ तो असंख्य हैं पर उनम पाँच प्रधान हैं। परम शिव की स्वतन्त्रता ही उसकी आनन्द शक्ति, चमत्कार ही इच्छा शक्ति, प्रकाशरूपता चित् शक्ति, आमर्शात्मकता ज्ञान शक्ति और सर्वाकारयोगित्व क्रिया शक्ति है।

१—अभिनवगुप्ताचार्य—'स च सर्वभावना प्रकाश रूप एव स च नानेक देशकालावपि च अस्य न भेदको।'—तन्त्रसार—अध्याय १ उपोद्घात।

२—क्षेमराज—

"क्षितिपर्यन्तावस्थितानां तु सकलाना सर्वतो भिन्नाना परिमिताना तथा-भूतमेव प्रमेयम्। तदुत्तीर्णं शिवभट्टारकस्य प्रकाशैकवपुष प्रकाशैकरूपा एव भावा। श्रीमत्परमशिवस्य पुन विश्वोत्तीर्ण विश्वात्मक परमानन्दमय प्रकाशैकघनस्य एवंविधमेव शिवादि धरण्यन्तम् अखिलं अभेदेनैव स्फुरति अपि तु श्री परमशिव भट्टारक एव इत्थ नानावैचित्र्यसहस्रै स्फुरति।"—प्रत्यभिज्ञा-हृदयम्—सूत्र ३ वृत्ति।

३—क्षेमराज—

(क)—"चितिसंकोचात्मा चेतनोपि सकुञ्चित विश्वमय।"

वही—सूत्र ४

(ख)—"शिव जीवयोरभेद एव उक्त।"

वही—सूत्र वही—वृत्ति

४—सोमानन्द—

"न शिव शक्तिरहितो न शक्तिर्व्यतिरेकिणी।
शिव शक्त तथाभावान् इच्छया कर्तुमीहते।
शक्ति शक्तिमतोर्भेद शैवे जातु विवर्ण्यते।—शिवदृष्टि—३-२ ३

इनमें से भी इच्छा, ज्ञान और क्रिया, ये तीन ही शक्तियाँ प्रमुख हैं।[1] शिव की इन शक्तियो को चिति या महाचिति भी कहा जाता है। वह स्वतन्त्र और विश्व सिद्धि का कारण है और स्वेच्छा से, बिना किसी उपादान के, विश्व का उन्मील्न या उन्मेष करती है।[2] उन्मीलन का अर्थ अन्त स्थित वस्तु को प्रकटित या आभासित करना है, अत विश्व के जड चेतन पदार्थ आभास रूप हैं।[3] माया भी शक्ति का ही एक रूप है जिसके कारण सत्य का तिरोधान होता और भेद से विश्व आभासित होता है।[4] यह माया आत्मन् के उपर मल या विकृति का आवरण डाल देती है जिससे वह अपने दिव्य स्वरूप और ऐश्वय को निद्रित व्यक्ति के समान भूल जाता है। माया के आवरण पाच प्रकार के हैं, काल, नियति, राग, विद्या और कला। इनके द्वारा आबद्ध आत्मन् पुरुष, अणु या व्यक्ति कहलाता है। इस तरह आभास या उन्मील्न की प्रक्रिया द्वारा परमशिव या परा सवित ही पुरुष बन जाता है जो अपने से अनेक को उत्पन्न करता है।[5] पुरुष का नाम अणु भी है। परमशिव का चित् रूप पुरुष का

१ अभिनवगुप्ताचार्य—

"तस्य च स्वातन्त्र्यम् आनन्दशक्ति, तच्चमत्कार इच्छाशक्ति, प्रकाश रूपता चिच्छक्ति, आमर्शात्मकता ज्ञानशक्ति, सर्वाकारयोगित्व क्रियाशक्ति, इत्येव मुख्याभि शक्तिभि युक्तोपि वस्तुत इच्छाज्ञानक्रियाशक्तियुक्त अन वच्छिन्न प्रकाशो निजानन्दविश्रान्त शिवरूप " तन्त्रसार—प्रथम अध्याय उपोद्घात।

२ क्षेमराज "चिति स्वतन्त्रा विश्वसिद्धि हेतु।
स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति।"
प्रत्यभिज्ञाहृदयम्—सूत्र १, २

३ (क) "उन्मीलन च अवस्थितस्यैव प्रकटीकरणम्।"
वही—सूत्र वही—वृत्ति।

(ख) "तत्र आभासरूपा एव जड़चेतन पदार्था।"—प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी—३—२—१

४ अभिनवगुप्ताचार्य—"मायाशक्त्या विभो सैव भिन्नसवेद्यगोचरा।"
ईश्वरप्रत्यभिज्ञा—१—५—१८।
"तिरोधानकरी मायाभिधा पुन।"—वही—३—१—७।

५ अभिनवगुप्ताचार्य—तन्त्रसार—आह्निक ८।

ऐश्वर्य और अचित् रूप उसका मल है। पुरुष जब प्रकृति के योग से जाग्रत होता है तो उसमें जो चेतना उदित होती है, वही बुद्धि है। उसमें सत् गुण की प्रधानता होती है[1]। बुद्धि परमाशिव की शुद्ध क्रिया का स्मृति रूप है। बुद्धि से अहंकार की उत्पत्ति होती है जिसमें अपनी पृथक् सत्ता का ज्ञान होता है। उसमें रज गुण की प्रधानता होती है। अहंकार से मन की उत्पत्ति होती है जिसमे क्रियाशीलता और कल्पना की प्रवृत्ति होती है। वह तमोगुण प्रधान होता है[2]। परमाशिव की ज्ञान, क्रिया और इच्छा नामक शक्तियाँ क्रमश पुरुष (अणु) की बुद्ध, अहंकार और मन में निहित होती हैं। इस प्रकार इस त्रितय का रूप यह है—

ज्ञानशक्ति——सत्वगुण——बुद्धि
क्रिया शक्ति——रजोगुण——अहंकार
इच्छाशक्ति——तमोगुण——मन

यह त्रितय अलग अलग रह कर फल भेद से जगत् के वैषम्य और भेद का कारण बनता है। अत इनके ऐक्य के बिना भेदरहित सामरस्य स्थिति—शिवत्व की प्राप्ति—नहीं हो सकती—

इच्छा ज्ञान क्रिया चेति यत्पृथक्पृथगव्युज्यते। १०६
तदेव शक्तिमत्स्यै स्वैरिष्यमाणादिकै स्फुटम्।
एतत्त्रितयमैक्येन यदा तु प्रस्फुरेत्तदा। १०७
न केनचिदुपायेय स्व स्व विप्रतिषेधत।
लोलीभूतमत शक्तित्रितय तत्त्रिशूलक॥ १०८—तन्त्रालोक तृतीय आह्निक

इन शक्तियों के ऐक्य का ज्ञान अतीन्द्रिय और प्रातिभ होता है[3]। इस अभेद ज्ञान की उपलब्धि के बाद पुरुष अपने भीतर और बाहर सर्वत्र दर्पण में अपनी छाया की तरह 'शिव' का दर्शन करने लगता है और सब भावों से पराङ्मुख होकर

१—"ज्ञानमपि सत्त्वस्वरूपा निर्णयबोधस्य कारण बुद्धि।" तत्त्व सन्दोह—१५

२—अभिनवगुप्त—तन्त्रसार, आह्निक ८।

३—अभिनवगुप्ताचार्य—विवेकोऽतीन्द्रियस्त्वेष यदापाति विवेचनम्।
पशुपाशपतिज्ञान स्वय निर्भासते तदा।
प्रातिभे तु समायाते ज्ञानमन्यत्तु सेन्द्रियम्।
वागक्षिश्रुतिगम्य तु अन्यापेक्ष्य वरानने।
तन्त्रालोक—आह्निक १३—श्लोक १७७, ७८

शिव भाव से ही भावित रहता है ।[1] प्रातिभ विवेक का अर्थ मन और बुद्धि का त्याग नही है । उनके त्याग से तो ज्ञान की उपलब्धि हो ही नही सकती । अत विवेक का अथ सब भावो को शुद्ध भाव बनाना है ।[2] बुद्धि त्रिगुणात्मिका होने से अणिमादिक भोग जालों मे आसक्त कराने वाली और जड इन्द्रियो के बन्धन का कारण होती है । अत प्रातिभ ज्ञान या विवेक के बिना उससे मुक्ति नहीं मिल सकती ।[3] जिसे यह विवेक प्राप्त हो जाता है वह समस्त व्यावहारिक कार्य करता हुआ भी उनसे विरक्त रहता है अर्थात् उन्हे क्रीडा समझता है ।[4] प्रकृति और पुरुष का विवेक हो जाने पर जीव पूर्णता प्राप्त कर शिवत्व लाभ करता है ।[5] इस दशा मे विकल्पात्मक अनुभूति सकुचित हो जाती है और अविकल्प (सकल्पात्मक) अनुभूति प्रकाशित होती है ।[6] यही जीवन्मुक्ति या चिदानद लाभ की स्थिति है क्योकि इसम आत्मस्वरूप शिवत्व—का प्रत्यभिज्ञान हो जाता है —

"चिदानन्द लाभे देहादिषु चेत्य मानेष्वपि चिदैकात्म्यप्रतिपत्तिदार्ढ्यं जीवन्मुक्ति ।"—प्रत्यभिज्ञा—हृदयम्—सूत्र १६

यही शिवदृष्टि या समरसता की स्थिति है जिसमे समस्त विरोधों और वैषम्य का नाश हो जाता है और सब मे समता दिखाई पडती है —

"समता सवभावाना वृत्तीना चैव सर्वश ।
समता सर्वदृष्टीना द्रव्याणा चैव सर्वश

---

१ वही—श्लोक १७९, १८०, १८१ ।

२ "न मनोबुद्धिहीनस्तु ज्ञानस्याधिगम प्रिये ।
परभावात्तु तत्सूक्ष्म शक्तितत्त्व निगद्यते ।
विवेक सर्वभावाना शुद्धभावान्महाशय ।"—वही—श्लोक १९१, १९२ ।

३ वही—श्लोक १९२, १९३ ।

४ वही—श्लोक २११ ।

५ "प्रकृति पुरुष विवेको वा येन प्रधानाधो न ससरेत् । मलपुरुष विवेके तु शिव समानत्व पुरुष पूणता दृष्टौ तु शिवत्वमवेतु ।"—तन्त्रसार—आह्निक ८ ।

६ "इह ज्ञान मोक्षकारण बन्धनिमित्तस्य अज्ञानस्य विरोधकत्वात् । तदेव च अभ्यस्यमान पौरुषमपि अज्ञान निहन्ति, विकल्पसविदभ्यासस्य अविकल्पान्ततापर्यवसानात् । विकल्पासकुचित सवित्प्रकाशरूपो हि आत्मा शिवस्वभावइतिसर्वथा समस्तवस्तुनिष्ठ सम्यङ् निश्चयात्मक ज्ञानमुपादेयम् ।"—तन्त्रसार—१-१ ।

भूमिकाना च सर्वाभाभोवल्लीना च सर्वश
समता सर्व देवाना वर्णाना चेत्र सर्वश ॥''[1]

यहाँ प्रत्यभिज्ञा दर्शन की यह सक्षिप्त व्याख्या इसलिए की गयी है कि कामायनी के दार्शनिक तत्वों पर उसका प्रभाव देखा जा सके। कामायनी का लक्ष्य वही है जो प्रत्यभिज्ञा दर्शन का है। दोनों मे 'चिदानन्द लाभ' ही अतिम फल माना गया है और दोनों के साधन मे समरसता को चिदानन्द प्राप्ति की अवस्था कहा गया है। पर दोनों के साधन में कुछ अतर दिखाई पडता है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन मे प्रातिभ ज्ञान या विवेक को समरसता का साधन कहा गया है और कामायनी में वह साधन 'श्रद्धा' है। सभवत प्रत्यभिज्ञा दर्शन के बुद्धितत्त्व और प्रातिभ ज्ञान ही कामायनी मे क्रमश इडा और श्रद्धा हैं। कामायनी का त्रिपुर भी प्रत्यभिज्ञा दर्शन का त्रितय तत्त्व ही है पर प्रसाद ने उसकी व्याख्या अभिनवगुप्त से भिन्न ढग से की है और इच्छा-ज्ञान क्रिया के समन्वय पर अधिक बल दिया है। कामायनी के मनु प्रत्यभिज्ञा दर्शन के पुरुष (अणु) हैं जो माया (प्रकृति) के आवरण के कारण बुद्धि अहकार और मन द्वारा प्रेरित होकर ज्ञान, क्रिया और इच्छा शक्तियों द्वारा अलग अलग कालो में भिन्न भिन्न रूप मे परिचालित होते हैं। कथा के अतिरिक्त कामायनी के वस्तु वर्णन में भी प्रत्यभिज्ञा दर्शन का प्रभाव दिखाई पडता है। 'आशा' सर्ग मे सृष्टि विकास का जो चित्रण हुआ है उसमे परमशिव की अपनी इच्छा से विश्वरूप में अभिव्यक्त होने की बात साकेतिक रूप मे कही गयी है —

यह सकेत कर रही सत्ता किसकी सरल विकासमयी।
जीवन की लालसा आज क्यो इतनी प्रखर विलासमयी।

प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अनुसार विश्व परमशिव में ही अव्यक्त रूप मे आवृत रहता है जो उसकी शक्ति द्वारा स्वयमेव उन्मीलित या प्रकाशित होता है —

नेत्र निमीलन करती मानो प्रकृति प्रबुद्ध लगी होने
× × ×
वह विराट था हेम घोलता नया रंग भरने को आज !
× × ×
एक यवनिका हटी, पवन से प्रेरित माया पट जैसी
और आवरणमुक्त प्रकृति थी हरी भरी फिर भी कैसी।

1—महेश्वरानंद—महार्थमंजरी, सपादक, महामहोपाध्याय गणपति शास्त्री, त्रिवेन्द्रम, सन् १९१९, पृ० १७४।

अहकार तत्त्व के उदय होने पर "मै हूँ" और "मै यह हूँ" की भावना उत्पन्न होती है —

मै हूँ यह वरदान सदृश क्यो लगा गूँजने कानो मे।
मै भी कहने लगा "मै रहूँ" शाश्वत नभ के गानों मे।

पुरुष तो अकर्मण्य होता है, प्रकृति ही उससे सब कम कराती है —

अर्द्ध प्रस्फुटित उत्तर मिलते प्रकृति सकर्मक रही समस्त।
निज अस्तित्व बना रखने मे जीवन आज हुआ था व्यस्त।

इसके बाद मन और इन्द्रियो की उत्पत्ति होती है और मन इन्द्रियो के सहयोग से वासना और सवेदन की पीडा का अनुभव करता है —

नव हो जगी अनादि वासना मधुर प्राकृतिक भूख समान।
चिर परिचित सा चाह रहा था द्वद्व सुखद करने अनुमान।
मनु का मन था विकल हो उठा सवेदन से खाकर चोट।
सवेदन, जीवन जगती को जो कटुता से देता घोट।

इस प्रकार आशा सर्ग मे पुरुष की चेतना के तीना तत्वो—बुद्धि, अहकार और मन के गुणों का विकास दिखाया गया है। ज्ञान, क्रिया और इच्छा का बिलगाव मनु के जीवन मे तब तक बना रहता है जब तक कि वे सारस्वत प्रदेश से भागने के बाद 'नटेश' का ताण्डव नृत्य नही देख लेते। यही उनके प्रातिम ज्ञान का उदय होता है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन मे गुरुदीक्षा और अभ्यास का भी बहुत महत्व माना गया है।[1] परन्तु प्रातिम ज्ञान के उदय बिना दीक्षा भी बेकार सिद्ध होती है। कामायनी मे 'श्रद्धा' सर्ग मे मनु को श्रद्धा का उपदेश और 'काम' सर्ग मे काम का उपदेश गुरुदीक्षा के रूप में ही है पर मनु के जीवन पर उसका कोई प्रभाव नहीं पडता। विश्व के दुखो का कारण परमशिव की उपयुक्त तीनो शक्तियों ज्ञान, क्रिया और इच्छा का बिलगाव ही है। जब तक मानव जाति उनमे समन्वय स्थापित नही करती तब तक वह वैषम्य जनित दुखों की ज्वाला मे जलती रहेगी। प्रत्यभिज्ञादर्शन के इस तथ्य को प्रसाद जी ने मनु को दिये जाने वाले 'काम' के शाप के रूप में निरूपित किया है। परमशिव की अमोघ असीम शक्ति जब मल से आवृत्त होकर सकुचित हो जाती है तो इच्छा, ज्ञान और क्रिया नाना दुखों, भेदों और सघर्षों का सृजन करती हैं —

१—अभिनवगुप्ताचार्य—तन्त्रालोक—आह्निक १३–२४८ से २५३।

यह अभिनव मानव प्रजा सृष्टि।
द्वयता में लगी निरन्तर ही वर्णों की करती रहे वृष्टि।

× × ×

कोलाहल कलह अनन्त चले एकता नष्ट हो बढ़े भेद।
अभिलषित वस्तु तो दूर रहे हाँ मिले अनिच्छित दुखद खेद।

प्रत्यभिज्ञा दर्शन में परमशिव की शक्ति के संकुचित हो जाने पर माया की जिन पाँच उपाधियों का विवेचन किया गया है, काम के शाप में उनका भी उल्लेख हुआ है —

संकुचित असीम अमोघ✿ शक्ति।
जीवन को बाधामय पथ पर ले चले भेद से भरी भक्ति।
या कभी अपूर्ण अहंता में हो रागमयी सी महाशक्ति।
व्यापकता✿ नियति प्रेरणा बन अपनी सीमा में रहे बन्द।
सर्वज्ञ ज्ञान✿ का क्षुद्र अंश विद्या बन कर कुछ रचे छन्द।
कर्तृत्व✿ सकल बन कर आवे नश्वर छाया सी ललित कला।
नित्यता✿ विभाजित हो पल पल में काल विभाजित चले ढला।

—इड़ा सर्ग

परमशिव या शिव, स्वच्छन्द या स्वतंत्र और भेद रहित होता है। उसे पुरुष रूप में लाने के लिए माया पंचकंचुकों की सृष्टि करती है जिनके कारण पुरुष (जीव) की असीम शक्ति सीमित हो जाती है अर्थात् उसकी विशेषतायें ही माया के बल से संकुचित होकर पंचकंचुकों में बदल जाती हैं। उपर्युक्त छंद में यही दिखाया गया है कि शुद्ध विद्या की दशा में परमशिव के पूर्णत्व आदि गुण किस तरह अपूर्ण अहंता (पुरुष या अणु) के राग आदि पाँच मायोपाधियों के रूप में बदल जाते हैं। उपर्युक्त पद में पुष्पांकित शब्द परमशिव के गुण और रेखांकित शब्द पुरुष या अणु की मायोपाधियाँ हैं। स्पष्टता के लिए उन्हें निम्न लिखित रूप में उपस्थित किया जा रहा है —

परमशिव के गुण	पुरुष या अणु की मायोपाधियाँ
१—नित्यतृप्तित्व (पूर्णत्व)	१—राग
२—व्यापकत्व	२—नियति
३—सर्वज्ञत्व	३—विद्या
४—सर्वकर्तृत्व	४—कला
५—नित्यत्व	५—काल

जीव के लिए इस भेद और वैषम्य से उत्पन्न दुख की अवस्था से मुक्ति का एक मात्र उपाय यही है कि उसे आत्मज्ञान हो अर्थात् वह आत्मस्थित शिव शक्ति को पहचान कर चिदानन्द लाभ करे। प्रातिभ ज्ञान के उदय होने और गुरु आदि की दीक्षा से शिवरूप का प्रत्यभिज्ञान हो सकता है। कामायनी में शिव और उनकी शक्ति के स्वरूप का भी वर्णन हुआ है। उसम शिव के विश्वात्मक और विश्वोत्तीर्ण दोनो रूपो का दर्शन कराया गया है जो प्रत्यभिज्ञा दशन के अनुरूप है पर शिव शक्ति की आद्यावस्था का स्वरूप प्रत्यभिज्ञा दर्शन से कुछ भिन्न, बृहदारण्यक उपनिषद् अथवा त्रिपुरा मत के अनुसार है। 'काम' सर्ग में काम ने मनु को परमशिव और आदि शक्ति का रहस्य भी समझाया है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन मे तो इतना ही कहा गया है कि परमशिव और उसकी शक्ति अभिन्न हैं, शक्ति शिव का हृदय या प्रेयसी है। प्रसाद जी ने जो वर्णन किया है वह बृहदारण्यक उपनिषद् के उस रूपक के अनुसार है जिसमे कहा गया है कि वह उस अवस्था मे उसी प्रकार प्रज्ञा से मिला था जैसे पुरुष स्त्री आलिंगनबद्ध अवस्था मे रहते हैं, प्रियालिंगित पुरुष के समान ब्रह्म भी उस समय अपने अन्तर और बाह्य को भुला देता है।[1] प्रसाद जी ने इसी आधार पर शिव और शक्ति को, जो व्यक्तावस्था म पुरुष और प्रकृति हैं, काम और रति के रूप में व्यक्त किया है —

जो आकर्षण बन हँसती थी रति थी अनादि वासना वही।
अव्यक्त प्रकृति उन्मीलन के अन्तर मे उसकी चाह रही।
हम दोनो का अस्तित्व रहा उस आकस्मिक आवर्तन सा।
जिससे संसृति का बनता है आकार रूप के नर्तन सा।

रति ही वह मूल शक्ति है जिसकी सक्रियता से काम पुरुष (प्रजापति या पशुपति शिव) एक से अनेक बना और सृष्टि माया द्वारा विकम्पित हुई —

वह मूल शक्ति उठ खडी हुई अपने आलस का त्याग किये।
परिमाणु बाल सब दौड़ पडे जिसका सुन्दर अनुराग लिये।

परमशिव का विश्वात्मक रूप तो उसकी उन्मीलितावस्था या उन्मेषावस्था का रूप हैं जो आभासित होता है। मनु को प्रातिभ ज्ञान होने के पूर्व ही उसका आभास मिलता था जो उनकी बुद्धि का स्मृत्याभास ही था —

१—'सह एतावान् आस यथा स्त्रीपुमांसौ सम्परिष्वक्तौ।'—बृह० उ० १–४–३।
"तद्यथा प्रियया स्त्रिया सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरम् एवमेव अयं पुरुष प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरम्।"
बृह० उ०–४–३–२१।

नील गरल से भरा हुआ यह चन्द्र कपाल लिये हो।
इन्हीं निमीलित ताराओं में कितनी शान्ति पिये हो।
अचल अनन्त नील लहरों पर बैठे आसन मारे।
देव कौन तुम झरते तन से श्रम कण से ये तारे।—कर्म सर्ग

विश्व का यह नियति रूप माया के पंचकंचुकों और इच्छा ज्ञान क्रिया के प्रबल पाश में बंध कर सतत और निर्बाध नूतन परिवर्तन की अवस्था में रहता है क्योंकि सृष्टि ही परमात्मा की भोगावस्था है —

विश्व एक बन्धन विहीन परिवर्तन तो है।
इसकी गति में रवि शशि तारे ये सब जो हैं,
रूप बदलते रहते वसुधा जल निधि बनती।—संघर्ष सर्ग

शिव के विश्वोत्तीर्ण रूप का दर्शन प्रातिभ ज्ञान के उदय या गुरु की दीक्षा के बिना नहीं हो सकता। कामायनी में श्रद्धा मनु का पथ प्रदर्शन करनेवाली उनकी गुरु भी है। पहले वे तो उसके उपदेशों की अवहेलना करते हैं पर प्रातिभ ज्ञान और विवेक भावना के उदय होने पर उन्हें श्रद्धा के उपदेशों का महत्त्व समझ में आता है और वे सबको छोड़कर शान्ति खोजने निकल पड़ते हैं। इस अवस्था में अर्थात् "मधुमती भूमिका" में पहुँचने पर उन्हें चैतन्य (परमशिव) का दर्शन नटेश के ताण्डव नृत्य के रूप में होता है। मातृमूर्ति और विश्वमूर्ति श्रद्धा के संस्पर्श के कारण ही वे नीलांजन शून्य के अवकाश पटल पर निरंजन को देखते हैं, माया की सत्ता—पंचकंचुक—का आवरण हट जाता है और आलोक पुरुष दिखाई पड़ता है जो अपने विश्वोत्तीर्ण रूप में चित् और आनन्द के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

था अचल महा नीला अंजन,
भूमिका बनी वह स्निग्ध मलिन।
× ×
सत्ता का स्पन्दन चला डोल,
आवरण पटल की ग्रन्थि खोल।
× ×
थी शून्य भेदिनी सत्ता चित्।
× ×
लीला का स्पन्दित आह्लाद,
वह प्रभा पुंज चितिमय प्रसाद,
आनन्द पूर्ण तांडव सुन्दर।

मनु श्रद्धा के पीछे पाछे नटेश के चरणो की ओर ऊँचे से ऊँचे चढते गये, एक बार फिर उनका मन चचल हुआ, पाँव डगमगाये, पर श्रद्धा की प्रेरणा से फिर आगे बढे और उस अचित्य, केवल अनुभवगम्य, मानसिक भूमिका मे पहुँचे जहाँ देश काल की सीमाये और भेद मिट गये थे। वहाँ उन्हे ज्ञान, क्रिया और इच्छा के विच्छिन्न लोक दिखाई पडे जो श्रद्धा की एक स्मिति से सश्लिष्ट हो गये। प्रत्यभिज्ञा दर्शन मे प्रातिभ ज्ञान और गुरु दीक्षा के बाद अभ्यास द्वारा जिस सामरस्य की स्थिति मे पहुँचने की बात कही गयी है वह यही है। 'रहस्य' सग म इच्छा, ज्ञान, क्रिया इन तीना शक्तियो का वर्णन प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अनुसार ही हुआ है। उस अवस्था म पहुँच कर मनु ने फिर शक्ति तरगित महाकाल का ताडव नृत्य देखा और उसकी लय मे अपने को विलीन कर दिया —

स्वप्न स्वाप जागरण भस्म हो इच्छा क्रिया ज्ञान मिल लय थे।
दिव्य अनाहत पर निनाद मे श्रद्धायुत मनु बस तन्मय थे।

यही सामरस्य अवस्था है जिसम जीव आत्मस्वरूप मे लीन होकर चिदानन्द लाभ करता है। वहाँ सब प्रकार के भेद मिट जाते हैं, सब भावो मे एक ही शुद्ध भाव प्रतिष्ठित होता है और वैषम्यजन्य शाप ताप से मुक्ति मिलती है —

शापित न यहाँ है कोई तापित पापी न यहाँ है।
जीवन वसुधा समतल है समरस है जो कि जहाँ है।

× × ×

वैसे अभेद सागर मे प्राणो का सृष्टि क्रम है
सबमे घुल मिल कर रसमय रहता यह भाव चरम है। आनन्द सर्ग

समरसता की अवस्था वस्तुत मोह से मुक्ति की अवस्था है जिसमे द्वैत के भीतर ही अद्वैत की कल्पना की जाती है और इस तरह जो समरसानन्द उत्पन्न होता है उसम द्वैत भी अमृतोपम बन जाता है, जीवात्मा परमात्मा मे मैत्री भाव और एकत्व स्थापित होता है[1] और द्वयता विस्मृत हो जाती है। प्रसाद जी ने प्रत्यभिज्ञा दर्शन के इस सिद्धान्त को व्यावहारिक बना कर मनु द्वारा 'आनन्द' सर्ग मे व्यक्त कराया है —

१—नरहरि—'द्वैत मोहाय बोधात् प्राक् प्राप्ते बोधे मनीषया।
भक्त्यर्थं कल्पित द्वैतमद्वैतदपि सुन्दरम्।
जाते समरसानन्दे द्वैतमप्यमृतोपमम्।
मित्रयोरिव दम्पत्यो जीवात्मपरमात्मनो'। बोधसार—पृ० २०० २०१

राब की सेवा न पराई वह अपनी सुख ससति है।

× × ×

मै की मेरी चेतनता सब को ही स्पर्श किये सी।

इस अद्वैत की स्थिति म परमशिव का व्यक्त रूप यह जगत, जो पहले सुख दुख से व्याकुल प्रतीत होता था, सत्य, शिव और सुदर महाचिति का विराट् चिदात्मक रूप बन जाता है, मानव उस सत्य का दर्शन करने लगता है और जगत म रहते हुए भी स्वय चैतन्य बन जाता है —

अपने सुख दुख से पुलकित यह मूर्त विश्व सचराचर।
चिति का विराट वपु मगल यह सत्य सतत चिर सुन्दर।

× × ×

चेतन का साक्षी मानव हो निर्विकार हसता सा,
मानस के मधुर मिलन मे गहरे गहरे धसता सा।
सब भेद भाव भुलवा कर दुख सुख को दृश्य बनाता,
मानव कह रे यह 'मै हू', यह विश्व नीड बन जाता। आनन्द सर्ग।

प्रत्यभिज्ञा का अर्थ 'ज्ञात का फिर से ज्ञान' है। पुरुष 'चिदानन्द' रूप होते हुए भी 'पञ्चकचुका' के कारण उस स्वरूप ज्ञान को भूल जाता है। समरसता द्वारा वह फिर अपने उस चित् और आनन्द शक्ति वाले परमशिव रूप का ज्ञान लाभ करता है। इस ज्ञान के बाद जड चेतन सभी चैतन्य और आनन्द स्वरूप दिखाई पडने लगते हैं। मनु, श्रद्धा, इडा, कुमार तथा सारस्वत प्रदेश के अन्य निवासियो को, जो कैलास यात्रा के लिए गये थे, सच्चिदानन्द लाभ हुआ, व जीवन्मुक्त हो गये —

सुख सहचर दुख विदूषक परिहासपूर्ण कर अभिनय।
सबकी विस्मृति के पट मे छिप बैठा था अब निर्भय॥

× × ×

समरस थे जड़ या चेतन सुन्दर साकार बना था।
चेतनता एक विलसती आनन्द अखण्ड घना था॥ आनन्द सर्ग।

इस तरह कामायनी की विचारधारा पर प्रत्यभिज्ञा दर्शन का गहरा प्रभाव दिखाई पडता है किन्तु प्रसाद ने दार्शनिकता को काव्यात्मकता म इस प्रकार घुला मिला दिया है कि प्रत्यभिज्ञा दर्शन से पूर्णतया अपरिचित व्यक्ति भी केवल विशुद्ध काव्य की दृष्टि से कामायनी को पढकर आनन्द उठा सकता है, हाँ उसकी दृष्टि सूक्ष्म और मानसिक स्तर ऊचा अवश्य होना चाहिये। जिस तरह रामचरितमानस के सभी पाठक विशिष्टाद्वैत के जानकार नही होते फिर भी

'मानस' के व्यावहारिक दर्शन को समझते हैं, उसी तरह कामायनी मे भी व्याव हारिक दर्शन है जो सभी पाठको के लिए बोधगम्य है। इसका कारण यही है कि प्रसाद ने कामायनी मे न तो प्रत्यभिज्ञा दर्शन की सभी बातो को अपनाया है, न उसकी विवेचनात्मक और तर्कमयी पद्धति अपनायी है और न त्रिक् शास्त्र के ग्रथों की उद्धरणी उपस्थित करके पाडित्य का आडम्बर खडा किया है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन से उन्होंने प्रधानरूप से चार बाते ली हैं, १ शिव तत्त्व २ शक्ति तत्त्व और ज्ञान इच्छा क्रिया की शक्तियाँ ३ पचकचुक और मन बुद्धि अहकार का सिद्धान्त ४ समरसता और चिदानन्द लाभ का सिद्धान्त। वस्तुत प्रत्यभिज्ञा दर्शन का सार तत्त्व भी यही है। प्रसाद जी ने दार्शनिक ऊहापोह मे न पडकर उस सार तत्त्व का व्यावहारिक रूप प्रदान किया है अर्थात् विवेच नात्मक पद्धति से न कह कर कथात्मक रूप म उन सिद्धान्तों का जीवन के भीतर व्यवहृत होते हुए दिखाया है। अत गूढ और सूक्ष्म विचारो का प्राधान्य होते हुए भी कामायनी म सहजता, अनुभूति की सचाई और भावात्मकता का पूर्ण योग दिखाइ पडता है। उसके विचार कृत्रिम या 'मानस' के आदि और अन्त के दार्शनिक विवेचनो की तरह अलग से चिपकाये हुए नही प्रतीत होते। उनका उद्गमस्थल भी कवि का वह हृदय ही है जहाँ से उसकी भावनाये उद्भूत हुइ हैं। इस तरह कामायनी का दार्शनिक पक्ष इतना सशक्त, स्वाभाविक और गभीर है कि उसम उसके महान उद्देश्य के अनुरूप गुरुत्व की प्रतिष्ठा सहज ही हो गयी है।

कामायनी मे विचारो की जितनी ऊचाई दिखाइ पडती है, उसकी भावनाओ मे उतनी ही गहराइ भी है। अत जिस तरह उसका दार्शनिक पक्ष उसके गुरुत्व का कारण है उसी तरह उसका मनोवैज्ञानिक पक्ष उसके गाम्भीर्य का कारण है। विचारों की दृष्टि से कामायनी का प्रधान प्रतिपाद्य निर्मल ज्ञान है तो भावो की दृष्टि मे परिशोधित काम और श्रद्धा है। अलकार शास्त्र मे शृगार का स्थायी भाव रति है पर प्रसाद जी ने रति भाव को अत्यत व्यापक बनाकर उसे 'काम' कहा है। यह 'काम' पुरुष की उद्दाम जिजीविषा का व्यक्त रूप है। यही परमशिव की आदि शक्ति है जो इच्छा, क्रिया, ज्ञान, चित् और आनन्द आदि अनेक रूप धारण करके विश्व का सृजन और विकास करती है। यदि इस मूढ सहजात वृत्ति का, जैसी वह है उसी रूप मे न स्वीकार करके, उन्नयन और परिशोधन किया जाय, उसे 'कला' का रूप प्रदान किया जाय तो वही अमृतफलदायिनी बन जाती है। प्रसाद ने इसी पद्धति द्वारा कामायनी में 'काम' के निम्नतम स्वरूप से उसके उदात्ततम

स्वरूप तक के विकास का क्रम दिखलाया है। उसमे काम का अवम रूप ईर्ष्या, द्वेष, शारीरिक कामवासना, अहकार, स्वार्थ, स्वेच्छाचार आदि मे, उसका म यम रूप आशावाद, दाम्पत्य प्रेम, गार्हस्थ्य धम, समाज सघटन आदि मे और उत्तम रूप श्रद्धा, विश्वास, सेवा धम, आध्यात्मिक विकलता और जिज्ञासा, सामरस्य भावना और चिदानन्द की उपलब्धि के रूप मे दिखाया गया है। काम का विकास प्रथम अवस्था मे विशुद्ध सहजात वृत्ति, दूसरे म काम कला और तीसरे म परिशुद्ध और सिद्धि प्रदायक साधन क रूप म दिखाया गया है। इस तरह काम को प्रसाद जी ने मोक्ष का प्रधान साधन बना कर उपस्थित किया है। काम के इस स्वरूप को उन्होने वेदिक साहित्य, आगम तन्त्र और फ्रायड के मनोविश्लेषणशास्त्र से ग्रहण किया है। उन्होने स्वय लिखा है कि "काम का धम में अथवा सृष्टि के उद्गम मे बहुत बडा प्रभाव ऋग्वेद के समय मे ही माना जा चुका है 'कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेत प्रथमा यदासीत्।' यह काम प्रेम का प्राचीन वैदिक रूप है। प्रेम से यह शब्द अधिक व्यापक भी है। जब से हमने प्रेम को 'लव' या 'इश्क' का पर्याय मान लिया, तभी से 'काम' इस शब्द की महत्ता कम हो गयी। सम्भवत विवेकवादियो की आदर्श भावना के कारण इस शब्द म केवल स्त्री पुरुष सम्बन्ध के अर्थ का ही भान होने लगा। किन्तु काम म जिस व्यापक भावना का समावेश है, वह इन सब भावो को आवृत कर लेता है। इस वेदिक काम की आगम शास्त्रों म, काम कला के रूप म उपासना भारत म विकसित हुई थी। यह उपासना सौंदर्य, आनन्द और उन्मद भाव की साधना प्रणाली थी।"[1] उन्मद भाव या माधुर्य भाव से परमात्मा की उपासना सूफियो और कृष्णोपासक भक्तों म प्रचलित थी। प्रसाद ने उपासना का यह स्वरूप नही अपनाया है। उनकी साधना—पद्धति सहज जीवन और सहज आनन्द का है जिसमे परिशुद्ध काम श्रद्धा बन कर जीवन को प्रेरणा देता है। उन्होने कामायनी म स्पष्ट कर दिया है कि देवो के विनाश का कारण उनकी निम्न कोटि की कामोपासना या शरीरोपासना थी, असुरों के नाश का कारण उनकी प्राण पूजा थी, एक मन के दास और दूसरे बुद्धि के दास थे। प्रलय के बाद मनु ने श्रद्धा के योग से मानव जाति म आनन्दोपासना की पद्धति शुरू की जिसका प्रधान साधन श्रद्धा या निष्ठा मूलक विश्वास था। इस तरह कामायनी म काम का चरम उदात्तीकरण

१ जयशकरप्रसाद—'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध'—तृतीय सस्करण, प्रयाग २००५, पृ० ४७।

श्रद्धा के रूप मे हुआ है जिसका अतिम फल चरम आन द है और जिसे आध्यात्मिक शब्दावली मे 'सच्चिदानन्द लाभ' कहा जाता है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कामायनी मे मधुचर्या का अतिरेक देखा है, पर मधुचर्या क्या कालिदास के कुमारसभव और मेघदूत मे कम है? कामायनी की मधुचर्या रीतिकालीन श्रृगारी कवियो जैसी नही है, वह सूर मीरा की माधुर्य भावना जैसी विशुद्ध आदर्शवादी भी नही है। उन दोनो मे काम को दाम्पत्य प्रेम तक ही सीमित कर दिया गया है। प्रसाद ने काम को व्यापक और परिमार्जित बनाकर उसे तुलसी की दास्य भक्ति के समकक्ष रख दिया है क्योकि मानस और कामायनी दोनो ही मे मूल प्रेरणा शक्ति श्रद्धा ही है जो काम का ही उदात्तीकृत भाव है। कालिदास मे भी काम का वैसा उदात्त रूप नही दिखाई पडता जैसा कामायनी मे है। कुमारसंभव मे एक ओर तो घोर शारीरिक काम केलि का वणन हुआ है, दूसरी ओर उसे तप पूत और अलौकिक भी बना दिया गया है क्योंकि उसम काम के आलम्बन दिव्य व्यक्ति हैं। शाकुन्तल मे अवश्य वासनात्मक काम की विशुद्ध प्रेम म परिणति दिखाई गयी है जिसमे तपस्या और साधना की आग मे काम का कलुष जल गया है और उसका विशुद्ध प्रेमरूप निखर आया है। फिर भी कुमारसभव और शाकुन्तल में काम का स्वरूप सीमित ही है, वह स्थूल शारीरिक वासना स निमल प्रेम में विकसित होकर ही रह जाता है। किन्तु कामायनी का 'काम' उससे बहुत आगे बढा हुआ है। कामायनी मे प्रारभ मे देवों की काम वासना का दुष्परिणाम और मनु की तद्विषयक चिन्ता का वर्णन यही सकेत करता है कि शारीरिक काम का स्थूल स्वरूप कवि को ग्राह्य नहीं है। 'श्रद्धा' सर्ग मे काम का अविकृत और सहज रूप प्रस्फुटित होता है और यहीं से उसकी दो धारायें हो जाती हैं। एक धारा ऊर्ध्वगामी है और श्रद्धा उसका आश्रय है। दूसरी धारा निम्नगामी है जिसके आश्रय मनु हैं। निम्नगामी धारा वासना, पशु बलि, काम यज्ञ, ईर्ष्या, बुद्धिवाद, कम सकुलता, उच्छृङ्खलता और सघष म अपने को अभिव्यक्त करती है और दूसरी धारा सात्विक दाम्पत्य प्रेम, लज्जा, विशुद्ध काम, सन्तति प्रेम, विरह वेदना, सेवा–भावना, विश्वकल्याण भावना, विश्व मैत्री आदि म अपना विस्तार करती हुई अन्त मे पहली धारा को अपने में समेट लेती है। गगा की पावन धारा मे गदा जल भी मिल कर जैसे पवित्र बन जाता है, उसी तरह श्रद्धा के साधन पूत उदात्त काम मे इतना तीव्र आकषण है कि मनु का अधोमुखा काम भी बरबस खिच कर उसमे मिल जाता और पवित्र बन जाता है। इस तरह कामायनी में काम का बडा ही व्यापक

स्वरूप तक के विकास का क्रम दिखलाया है। उसमे काम का अधम रूप ईर्ष्या, द्वेष, शारीरिक कामवासना, अहंकार, स्वार्थ, स्वेच्छाचार आदि में, उसका मध्यम रूप आशावाद, दाम्पत्य प्रेम, गार्हस्थ्य धर्म, समाज सघटन आदि मे और उत्तम रूप श्रद्धा, विश्वास, सेवा धर्म, आध्यात्मिक विकलता और जिज्ञासा, सामरस्य भावना और चिदानन्द की उपलब्धि के रूप मे दिखाया गया है। काम का विकास प्रथम अवस्था म विशुद्ध सहजात वृत्ति, दूसरे म काम कला और तीसरे म परिशुद्ध और सिद्धि प्रदायक साधन के रूप म दिखाया गया है। इस तरह काम को प्रसाद जी ने मोक्ष का प्रधान साधन बना कर उपस्थित किया है। काम के इस स्वरूप को उन्होने वैदिक साहित्य, आगम तन्त्र और फ्रायड के मनोविश्लेषणशास्त्र स ग्रहण किया है। उन्होने स्वयं लिखा है कि "काम का धर्म में अथवा सृष्टि के उद्गम मे बहुत बडा प्रभाव ऋग्वेद के समय से ही माना जा चुका है 'कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेत प्रथमा यदासीत्।' यह काम प्रेम का प्राचीन वास्तव रूप है। प्रेम से यह शब्द अधिक व्यापक भी है। जब से हमने प्रेम का 'लव' या 'इश्क' का पर्याय मान लिया, तभी से 'काम' इस शब्द की महत्ता कम हो गयी। सम्भवत विवेकवादियो की आदर्श भावना के कारण इस शब्द म केवल स्त्री पुरुष सम्बन्ध के अर्थ का ही भान होने लगा। किन्तु काम मे जिस व्यापक भावना का समावेश है, वह इन सब भावो को आवृत कर लेता है। इस वैदिक काम की आगम शास्त्रों म, काम कला के रूप म उपासना भारत म विकसित हुई थी। यह उपासना सौन्दर्य, आनन्द और उन्मद भाव की साधना प्रणाली थी।"[१] उन्मद भाव या माधुर्य भाव से परमात्मा की उपासना सूफियो और कृष्णोपासक भक्तों म प्रचलित थी। प्रसाद ने उपासना का यह स्वरूप नहीं अपनाया है। उनकी साधना—पद्धति सहज जीवन और सहज आनन्द की है जिसम परिशुद्ध काम श्रद्धा बन कर जीवन को प्रेरणा देता है। उन्होने कामायनी म स्पष्ट कर दिया है कि देवो के विनाश का कारण उनकी निम्न कोटि की कामोपासना या शरीरोपासना था, असुरो के नाश का कारण उनकी प्राण पूजा थी, एक मन के दास और दूसरे बुद्धि के दास थे। प्रलय के बाद मनु ने श्रद्धा के योग से मानव जाति मे आनन्दोपासना की पद्धति शुरू की जिसका प्रधान साधन श्रद्धा या निष्ठा मूलक विश्वास था। इस तरह कामायनी म काम का चरम उदात्तीकरण

१ जयशंकरप्रसाद—'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध'—तृतीय संस्करण, प्रयाग २००५, पृ० ४७।

श्रद्धा के रूप मे हुआ है जिसका अतिम फल चरम आनन्द है और जिसे आध्यात्मिक शब्दावली मे 'सच्चिदानन्द लाभ' कहा जाता है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कामायनी मे मधुचर्या का अतिरेक देखा है, पर मधुचर्या क्या कालिदास के कुमारसभव और मेघदूत मे कम है? कामायनी की मधुचर्या रीतिकालीन शृगारी कवियो जैसी नही है, वह सूर मीरा की माधुर्य भावना जैसी विशुद्ध आदर्शवादी भी नही है। उन दोनो मे काम को दाम्पत्य प्रेम तक ही सीमित कर दिया गया है। प्रसाद ने काम को व्यापक और परिमार्जित बनाकर उसे तुलसी की दास्य भक्ति के समकक्ष रख दिया है क्योकि मानस और कामायनी दोनों ही मे मूल प्रेरणा शक्ति श्रद्धा ही है जो काम का ही उदात्तीकृत भाव है। कालिदास मे भी काम का वैसा उदात्त रूप नही दिखाई पडता जैसा कामायनी मे है। कुमारसभव मे एक ओर तो घोर शारीरिक काम केलि का वर्णन हुआ है, दूसरी ओर उसे तप पूत और अलौकिक भी बना दिया गया है क्योंकि उसमे काम के आलम्बन दिव्य व्यक्ति हैं। शाकुन्तल मे अवश्य वासनात्मक काम का विशुद्ध प्रेम मे परिणति दिखाई गयी है जिसमे तपस्या और साधना की आग मे काम का कलुष जल गया है और उसका विशुद्ध प्रेमरूप निखर आया है। फिर भी कुमारसभव और शाकुन्तल मे काम का स्वरूप सीमित हो है, वह स्थूल शारीरिक वासना से निर्मल प्रेम मे विकसित होकर ही रह जाता है। किन्तु कामायनी का 'काम' उससे बहुत आगे बढा हुआ है। कामायनी मे प्रारभ मे देवों की काम वासना का दुष्परिणाम और मनु की तद्विषयक चिन्ता का वर्णन यही सकेत करता है कि शारीरिक काम का स्थूल स्वरूप कवि को ग्राह्य नहीं है। 'श्रद्धा' सर्ग मे काम का अविकृत ओर सहज रूप प्रस्फुटित होता है और यही से उसकी दो धारायें हो जाती हैं। एक धारा ऊर्ध्वगामी है और श्रद्धा उसका आश्रय है। दूसरी धारा निम्नगामी है जिसके आश्रय मनु हैं। निम्नगामी धारा वासना, पशु बलि, काम यज्ञ, ईर्ष्या, बुद्धिवाद, कम सफलता, उच्छृङ्खलता और सघर्ष मे अपने को अभिव्यक्त करती है और दूसरी धारा सात्विक दाम्पत्य प्रेम, लज्जा, विशुद्ध काम, सन्तति प्रेम, विरह वेदना, सेवा—भावना, विश्वकल्याण भावना, विश्व मैत्री आदि मे अपना विस्तार करती हुई अन्त में पहली धारा को अपने में समेट लेती है। गगा की पावन धारा मे गदा जल भी मिल कर जैसे पवित्र बन जाता है, उसी तरह श्रद्धा के साधन पूत उदात्त काम मे इतना तीव्र आकर्षण है कि मनु का अधोमुखा काम भी बरबस खिच कर उसमे मिल जाता और पवित्र बन जाता है। इस तरह कामायनी में काम का बडा ही व्यापक

प्रसार दिखाया गया है, वह वासना से आनन्द तक प्रसरित है। उसका एक छोर मिट्टी की गहराई में और दूसरा आदर्श के आकाश की नीलिमा में है। महाकवि दांते ने 'डिवाइना कामेडिया' में प्रेम की शक्ति से धरती और स्वर्ग के बीच की दूरी मिटा दी है, पर प्रसाद ने 'काम' की शक्ति से स्वर्ग को ही धरती पर उतार दिया और जीवन को स्वर्गीय आनन्द से भर दिया है। श्रद्धा का ही दूसरा नाम कामायनी है। पर प्रसाद ने अपने काव्य का नाम 'कामायनी' केवल इसी लिए नहीं रखा कि वह कामायनी प्रधान महाकाव्य है। इस नामकरण का प्रधान कारण यह है कि कामायनी में काम का व्यापक प्रसार दिखाया गया है। वस्तुतः प्रसाद ने काम को कामना के रूप में लिया है जिससे सभी स्थायी और सञ्चारी भाव इसके अंग होने के कारण इसके भीतर समाविष्ट हो जाते हैं। इस व्यापकता में गहराई भी बहुत अधिक है। प्रसाद ने जिस भावना को लिया है उसके अन्तर्तम में प्रवेश कर उसके मर्म का उद्घाटन किया है। कवि की अनुभूति की सच्चाई और तीव्र मनोवैज्ञानिक दृष्टि के कारण कामायनी की भाव-व्यंजना में मर्मस्पर्शिता, गम्भीरता और ताजगी बहुत अधिक है। काम की प्रधानता होने से कामायनी में वीरता, क्रोध, भय, जुगुप्सा आदि अन्य भावों को अभिव्यक्ति के लिए अवकाश नहीं था। पर शोक, निर्वेद वात्सल्य, करुणा, क्षमा, उदारता, ईर्ष्या, स्पर्द्धा आदि भावों की काम के विविध रूपान्तरों के रूप में समुचित अभिव्यक्ति हुई है। इस तरह कामायनी में नाना भावनाओं का वैविध्यपूर्ण विस्तार तो नहीं है, पर एक ही भाव 'काम' का जितना व्यापक प्रसार हुआ है और उसमें जितनी अधिक गहराई है उतनी अन्य किसी भी हिन्दी के महाकाव्य में नहीं है। इस दृष्टि से कामायनी की तुलना केवल सूरसागर से की जा सकती है यद्यपि दोनों के दृष्टिकोण में बहुत अन्तर है।

महाकाव्योचित महत्ता की दृष्टि से भी हिन्दी में रामचरितमानस के अतिरिक्त अन्य किसी काव्य की तुलना कामायनी से नहीं की जा सकती। कामायनी के काव्य विषय, चरित्र और उद्देश्य, तीनों में यह महानता समान रूप में दिखाई पड़ती है। उद्देश्य की महानता पहले दिखाई जा चुकी है। चरित्रों के सम्बन्ध में आगे विचार किया जायगा। जहाँ तक काव्य विषय का सम्बन्ध है, उसकी महानता में सन्देह नहीं किया जा सकता। प्रलय के बाद मनु द्वारा मानव सृष्टि और नवीन मानव संस्कृति का विकास ही कामायनी का प्रधान वर्ण्य विषय है पर इस कथा के माध्यम से उसमें मानव के मन की अतल गहराइयों में निहित रहस्यों का उद्घाटन, हृदय की भावनाओं का उदात्तीकरण और

शाश्वत मानव मूल्यों की प्रतिष्ठा भी की गयी है। इस तरह प्रसाद ने प्रथम कोटि का विषय लेकर प्रथम कोटि के महाकाव्य की रचना की है। अपनी विराट् कल्पना द्वारा उन्होंने मानव जाति और मानव मन के विकास के इतिहास को कथा का रूप दिया है और इस तरह देवत्व से भी आगे बढ़ी हुई, सुख दुःख समन्वित और जीवनास्थागर्भित मनुष्यता की पूर्णता का आदर्श चित्र उपस्थित किया है। अतः कामायनी के काव्य विषय की महत्ता स्वतः सिद्ध है।

३ महत्कार्य और समग्र युग जीवन का चित्रण

सुखान्त महाकाव्यों में भी नाटकों की भाँति 'कार्य' और 'फलागम' का विधान होता है। कामायनी की कथा में कुछ ऐसी विचित्रता है कि वह सुखान्त या दुःखान्त दोनों ही नहीं है। आध्यात्मिक दृष्टि से कामायनी का कार्य शिवत्व की प्राप्ति या चिदानन्द लाभ है। वह सुख दुःख दोनों से परे की 'समरसानन्द' की स्थिति है। कार्यवस्थाओं की दृष्टि से यही उसका फलागम भी है। सुखान्त काव्यों में नायक के अभ्युदय को ही 'कार्य' या 'फल' के रूप में उपस्थित किया जाता है। पर कामायनी में नायक का अभ्युदय नहीं, उसका निःश्रेयस दिखाया गया है। लौकिक दृष्टि से तो कामायनी में मनु का अभ्युदय हुआ ही नहीं है। सारस्वत नगर के विकास, व्यवस्थापन और नियमन तक तो वे अभ्युदय की ओर बढ़ते हैं, पर इडा पर अधिकार करके स्वेच्छाचारी और विलासी राजा बनने की उनकी दुर्वासना के कारण देवगण और समस्त प्रजा जन उनके विरोधी हो जाते हैं। भयंकर संघर्ष होता है, मनु पराजित और घायल होकर मुमूर्षु हो जाते हैं और श्रद्धा की सेवा से स्वस्थ होने के बाद वहाँ से भाग खड़े होते हैं। इस तरह बाह्य क्रियात्मक जीवन में मनु पूर्णतया असफल होते हैं, उनका अभ्युदय नहीं होता। किन्तु उनके भीतर जो सत् और असत् का संघर्ष प्रारम्भ हो से चल रहा था वह यहाँ से एक नवीन मोड़ लेता है, उसमें निर्वेद भावना उदित होती है और उनका सत्पक्ष विशेष प्रबल हो उठता है। यहाँ से वे अभ्युदय से आगे निःश्रेयस की ओर बढ़ते हुए दिखाई पड़ते हैं। अतः वे शिव के विश्वातीत रूप का प्रथम बार देखकर निःश्रेयस के पथ पर तीव्र गति से चल पड़ते हैं और श्रद्धा के पथ प्रदर्शन के फलस्वरूप कैलास लोक में पहुँच कर त्रिपुर दाह और परमशिव का पुनः ताडव नृत्य देखते हैं। इस प्रकार वे 'मधुमती भूमिका' में पहुँचकर सत्य, शिव, सुन्दर चिदानन्द में लीन हो जाते हैं। यहाँ सुख दुःख से परे, अनुकूल और प्रतिकूल वेदना से

ऊपर उठा हुआ, पूर्ण आनन्द मनु का [illegible] या 'ब्रह्मानन्द' है, वही कामा[illegible] का कार्य या फल है।

[illegible] ने इस आन[illegible] को [illegible], उसे सामाजिक भी बनाया है। [illegible] 'आनन्द' या 'चिदानन्द' [illegible] व्यावहारिक [illegible] सामूहिक आनन्द [illegible] कल्पना की गयी है जिसमें समस्त [illegible] समाप्त हो [illegible] तथा मानव जाति की सहधर्मिता [illegible] जायगी। [illegible] इच्छा ज्ञान क्रिया शक्तियों में पूर्ण सामञ्जस्य स्थापित हो जायगा और [illegible] भोग में कर्म तथा कर्म में भोग करता हुई [illegible] असीम आनन्द प्राप्त करेगी। उस समाज में कोई [illegible], [illegible], [illegible], अच्छा या बुरा नहीं होगा [illegible] आनन्दित होंगे। यह कल्पना तुलसी के रामराज्य [illegible] सर्वकल्याणाभिनिवेशी है। [illegible] महत्कार्य है उसी तरह कामायनी का महत्कार्य आनन्द राज्य की स्थापना है।

यदि महत्कार्य का अर्थ कोई ऐसी घटना या महत्वपूर्ण रचना माना जाय जो महाकाव्य की कथा की चरम सिद्धि हो तो इस दृष्टि से भी कामायनी का महत्कार्य मानवता की पूर्णता की सिद्धि है। प्रलय के बाद सुर संस्कृति नष्ट हो चुकी है और देव जाति के बचे हुए [illegible], [illegible] और उसके ऊपर नियति ने [illegible] कि वे नवीन समाज और संस्कृति का निर्माण करें। मनु को इस बात का ज्ञान है कि सुर संस्कृति के विनाश का कारण उसका सुविलास [illegible] भोग [illegible] था। प्रलय में असुर संस्कृति भी नष्ट हुई थी और उसके नाश का कारण दूसरा [illegible] भावना [illegible] थी, क [illegible] प्राणोपासना—था। मनु को इन दोनों अतियों को छोड़कर मध्यम मार्ग निकालना और प्रत्येक दृष्टि से पूर्ण मानव संस्कृति का निर्माण करना था। इसके लिए उन्होंने प्रयोग शुरू किये। कभी काम वश का सहारा लिया, कभी वासना का पथ पकड़ा, कभी तप किया, कभी इड़ा के सहारे कर्म मार्ग में प्रवृत्त हुए पर आन्तरिक और बाह्य विरोधों और वैषम्य का शमन नहीं हुआ, शान्ति उनसे दूर ही रही। अन्त में श्रद्धा का अवलम्बन लेकर उन्होंने मानव की पूर्णता का रास्ता खोज लिया। इस तरह पथ की खोज में भटकते हुए मनु को जो निःश्रेयस का पथ प्राप्त हुआ, वही कामायनी का सबसे महत्वपूर्ण कार्य माना जायगा। यह महत्वपूर्ण कार्य त्रिपुर दाह की घटना है, उसके पूर्व

की कोई बात मनु को शान्ति नही दे पाती, अत उनके प्रयोग भी नहीं रुकते पर अन्त मे त्रिपुरदाह मे उन्हें गौतम बुद्ध की तरह प्रकाश प्राप्त होता है। पर इस सिद्धि के बाद वे गौतम की तरह शुद्ध नही बनते बल्कि आनदमय बन जाते हैं। अत 'सबुद्धत्व' जिस प्रकार गौतम बुद्ध के जीवन की अत्यन्त महान घटना है उसी तरह कामायनी मे मनु की 'पूर्णत्व प्राप्ति' उनके जीवन की सबसे महान घटना है। त्रिपुरदाह, इच्छा क्रिया ज्ञान का समन्वय और चिदानन्द की उपलब्धि ही वह महान घटना है जिसके लिए कामायनी की कथा के अन्य सभी कार्य—व्यापारों की योजना हुई है। 'मानस' मे राक्षसों की पराजय और रावण वध के बाद रामराज्य के रूप मे नायक का अभ्युदय दिखाया गया है अर्थात् उसमे महान घटना राम रावण युद्ध है पर कामायनी मे इसकी उल्टी बात दिखाई पडती है। उसमे इडा मनु सघर्ष के बाद मनु पराजित होते हैं पर मानसिक सघर्ष मे उनके निर्वेद भाव की विजय होती है जिसका फल उनकी पूर्णता की सिद्धि है। अत इडा मनु सघर्ष उतना महत्वपूर्ण नही है जितना मनु के भीतर का सत्—असत्पक्षो का द्वन्द्व। उनके दो विरोधी व्यक्तित्वों का सघर्ष महत्वपूर्ण है। इस सघर्ष का चरम बिन्दु तब दिखाई पडता है जब वे इडा के पीछे पीछे कैलास की ओर जाते समय फिर पीछे की ओर लौटना चाहते हैं —

> लौट चलो इस वात चक्र से मै दुर्बल अब लड न सकूँगा।
> श्वास रुद्ध करने वाले इस शीत पवन से अड न सकूँगा।
> मेरे हाँ वे सब मेरे थे जिनसे रूठ चला आया हूँ।
> वे नीचे छूटे सुदूर पर उनको भूल नही पाया हूँ।—रहस्य सर्ग

और उसी समय इच्छा ज्ञान क्रिया के आलोक बिन्दु—त्रिदिक् विश्व—दिखाई पडते हैं जो विश्लिष्ट होकर आतरिक और बाह्य सभी प्रकार के सघर्षों का कारण बनते हैं —

> त्रिदिक विश्व आलोक बिन्दु भी तीन दिखाई पडे अलग वे।
> त्रिभुवन के प्रतिनिधि थे मानो वे अनमिल थे किन्तु सजग थे।
> रहस्य सर्ग

इस तरह पाश्चात्य नाटको की कार्यावस्थाओं की दृष्टि से कामायनी—कथा मे सघर्ष का चरम बिन्दु त्रिपुर दर्शन है। त्रिदिक् विश्व का दाह ही उस सघर्ष का शमन और मनु की आध्यात्मिक विजय है जो पाश्चात्य नाटको की निगति या अवसान के ढग का नहीं बल्कि भारतीय नाटकों के फलागम के ढग का है।

महाकाव्य मे मानव जीवन का चित्रण उसकी समग्रता मे होना चाहिये। कामायनी रूपककथात्मक और प्रगीतात्मक शैली का अलकृत महाकाव्य है, अत

ऊपर उठा हुआ, पूर्ण आनन्द मनु का निःश्रेयस या 'आनन्द' है, यही कामायनी का कार्य या फल है।

प्रसाद ने इस आनन्द का [illegible], उसे सामाजिक भी बनाया है। [illegible] 'आनन्द' या 'चिदानन्द' की [illegible] सामूहिक आनन्द भी [illegible] कल्पना की गयी है जिसमें समस्त [illegible] और [illegible] समाप्ति हो जायगी तथा मानव जाति की अहमात्मिका वृत्ति शान्त हो जायगी। [illegible] शक्तियों में पूर्ण सामञ्जस्य स्थापित हो जायगा और वह [illegible] तथा कर्म में भोग करती हुई [illegible] असीम आनन्द प्राप्त करेगी। उस समाज में कोई शापित, तापित, [illegible] गरीब, अच्छा या बुरा नहीं होगा अर्थात् सब समान रूप में आनन्दित होंगे। यह कल्पना तुलसी के रामराज्य की कल्पना के समान ही [illegible] और [illegible] कल्याणाभिनिवेशी है। अतः जिस तरह [illegible] का महत्कार्य है उसी तरह कामायनी का महत्कार्य आनन्द राज्य की स्थापना है।

यदि महत्कार्य का अर्थ कोई ऐसी बड़ी या महत्वपूर्ण घटना माना जाय जो महाकाव्य की कथा का चरम बिन्दु हो तो इस दृष्टि से भी कामायनी का महत्कार्य मानना [illegible] सिद्ध हो [illegible]। प्रलय के बाद सुर संस्कृति नष्ट हो चुकी है और देव जाति के अन्तिम प्रतिनिधि मनु, श्रद्धा और इड़ा के ऊपर नियति ने यह उत्तरदायित्व डाल दिया है कि वे नये समाज और संस्कृति का निर्माण करें। मनु को इस बात का ज्ञान है कि सुर संस्कृति के विनाश का कारण उसका बुद्धिवाद से रहित भोगवाद था। प्रलय में असुर संस्कृति भी नष्ट हुई थी और उसके नाश का कारण [illegible] भावनाहीन बौद्धिक प्राणोपासना—था। मनु को इन दोनों अतिवादों को छोड़कर मध्य मार्ग निकालना और प्रत्येक दृष्टि में पूर्ण मानवता का निर्माण करना था। इसके लिए उन्होंने प्रयोग शुरू किये। कभी काम यज्ञ का सहारा लिया, कभी वासना का पथ पकड़ा, कभी तप किया, कभी इड़ा के सहारे कर्म मार्ग में प्रवृत्त हुए पर आन्तरिक और बाह्य विरोधों और वैषम्य का शमन नहीं हुआ, शान्ति उनसे दूर ही रही। अन्त में श्रद्धा का अवलम्बन लेकर उन्होंने मानव की पूर्णता का रास्ता खोज लिया। इस तरह पथ की खोज में भटकते हुए मनु को जो निःश्रेयस का पथ प्राप्त हुआ, वही कामायनी का सबसे महत्वपूर्ण कार्य माना जायगा। यह महत्वपूर्ण कार्य त्रिपुर दाह की घटना है, उसके पूर्व

की कोई बात मनु को शान्ति नही दे पाती, अत उनके प्रयोग भी नहीं रुकते पर अन्त मे त्रिपुरदाह मे उन्हे गौतम बुद्ध की तरह प्रकाश प्राप्त होता है। पर इस सिद्धि के बाद वे गौतम की तरह शुद्ध नही बनते बल्कि आनदमय बन जाते हैं। अत 'सबुद्धत्व' जिस प्रकार गौतम बुद्ध के जीवन की अत्यन्त महान घटना है उसी तरह कामायनी मे मनु की 'पूणत्व प्राप्ति' उनके जीवन की सबस महान घटना है। त्रिपुरदाह, इच्छा क्रिया ज्ञान का समन्वय और चिदान द की उपलब्धि ही वह महान घटना है जिसके लिए कामायनी की कथा के अन्य सभी कार्य—व्यापारों की योजना हुई है। 'मानस' मे राक्षसों की पराजय और रावण वध के बाद रामराज्य के रूप मे नायक का अभ्युदय दिखाया गया है अथात् उसमे महान घटना राम रावण युद्ध है पर कामायनी मे इसकी उल्टी बात दिखाइ पडती है। उसमे इडा मनु सघर्ष के बाद मनु पराजित होते हैं पर मानसिक सघष मे उनके निर्वेद भाव की विजय होती है जिसका फल उनकी पूर्णता की सिद्धि है। अत इडा मनु सघर्ष उतना महत्वपूर्ण नहीं है जितना मनु के भीतर का सत्—असत्पक्षो का द्वन्द्व। उनके दो विरोधी व्यक्तित्वों का सघर्ष महत्वपूण है। इस संघष का चरम बि दु तब दिखाई पडता है जब वे इडा के पीछे पाछे कैलास की ओर जाते समय फिर पीछे की ओर लौटना चाहते हैं —

लौट चलो इस वात चक्र से मै दुर्बल अब लड न सकूँगा।
श्वास रुद्ध करने वाले इस शीत पवन से अड न सकूँगा।
मेरे हॉ वे सब मेरे थे जिनसे रूठ चला आया हूँ।
वे नीचे छूटे सुदूर पर उनको भूल नही पाया हूँ।—रहस्य सर्ग

और उसी समय इच्छा ज्ञान क्रिया के आलोक बिन्दु—त्रिदिक् विश्व—दिखाई पडते हैं जो विश्लिष्ट होकर आतरिक और बाह्य सभी प्रकार के सघर्षों का कारण बनते हैं —

त्रिदिक विश्व आलोक बिन्दु भी तीन दिखाई पडे अलग वे।
त्रिभुवन के प्रतिनिधि थे मानो वे अनमिल थे किन्तु सजग थे।
रहस्य सर्ग

इस तरह पाश्चात्य नाटको की कायावस्थाओं की दृष्टि से कामायनी—कथा मे सघर्ष का चरम बिन्दु त्रिपुर दर्शन है। त्रिदिक् विश्व का दाह ही उस सघर्ष का शमन और मनु की आध्यात्मिक विजय है जो पाश्चात्य नाटको की निगति या अवसान के ढग का नही बल्कि भारतीय नाटकों के फलागम के ढग का है।

महाकाव्य मे मानव जीवन का चित्रण उसकी समग्रता मे होना चाहिये। कामायनी रुपककथात्मक और प्रगीतात्मक शैली का अलकृत महाकाव्य है, अत

उसमें जीवन और जगत के उतने अधिक पक्षों और व्यापारों का चित्रण नहीं हुआ है जितने का रामायण, महाभारत आदि विकसनशील महाकाव्यों या पद्मचरित और रामचरितमानस जैसे पौराणिक शैली के चरितात्मक महाकाव्यों में हुआ है। संस्कृत के शास्त्रीय शैली के महाकाव्यों में कवियों का ध्यान नायक के पूरे जीवन पर नहीं रहता बल्कि नायक के जीवन के किसी एक पक्ष पर रहता है। अतः उसमें समग्र जीवन के नानाविध कार्यों का वैविध्य उतना अधिक नहीं होता जितना सीमित अवधि के भीतर घटित होने वाली घटनाओं का विस्तृत वर्णन तथा प्रासंगिक वस्तु व्यापारों की योजना तथा भावाभिव्यक्ति की गंभीरता और व्यापकता होती है। इस दृष्टि से कामायनी भी कुमारसम्भव, शिशुपालवध और किरातार्जुनीय जैसे शास्त्रीय महाकाव्यों की श्रेणी में आता है। उन्हीं की तरह इसमें भी कवि का उद्देश्य नायक का पूर्ण जीवन चरित उपस्थित करना नहीं बल्कि उसके जीवन की एक सीमित अवधि की घटनाओं का वर्णन करना है। चरितात्मक काव्यों में कथा की काल परिधि बहुत विस्तृत होती है, अतः स्वभावतः उसमें घटनाओं का वैविध्य और अवान्तर कथाओं की योजना होती है पर शास्त्रीय शैली के इस प्रकार के काव्यों में घटनाओं का चुनाव किया जाता है और कलात्मक ढंग से उन्हें इस तरह सजो कर रखा जाता है कि उनसे निर्मित कथा अपने आप में जीवन का एक संपूर्ण चित्र उपस्थित करती है। उस सीमित काल परिधि के भीतर ही उस कथा में जीवन के सभी पक्षों का यथाक्रमानुसार उद्घाटन किया जाता है और इस तरह वस्तु वर्णन और भाव व्यंजना में शैली महाकाव्य के लक्षणों का रूढ़ि रूप में पालन किया जाता है। कामायनी में सीमित काल परिधि और घटनाओं के कलात्मक चुनाव में तो कुमारसंभव, शिशुपालवध आदि महाकाव्यों से समानता दिखाई पड़ती है पर वस्तु वर्णन और भाव व्यंजना में शास्त्रीय महाकाव्यों की रूढ़ियों का पालन न करके स्वतंत्र पथ अपनाया गया है। वह घटनाप्रधान और इतिवृत्तात्मक महाकाव्य नहीं है और न स्थूल घटना की योजना द्वारा कथा कहना ही कामायनी का लक्ष्य है। वह एक भावप्रधान मनोवैज्ञानिक महाकाव्य है, अतः स्वभावतः उसमें मानव मन के विविध पक्षों का उद्घाटन और विशद् व्याख्या ही प्रधान वस्तु है, घटना वैचित्र्य का उसमें अभाव है।

कामायनी की कथा जलप्रलय के महानाश की घटना से प्रारम्भ होती है और इड़ा, कुमार आदि की कैलास यात्रा तथा उनकी आनन्दानुभूति के वर्णन से समाप्त होती है। उसकी प्रमुख घटनायें ये हैं —

जल प्रलय, मनु की मत्स्य द्वारा रक्षा, मनु की चिन्ता, श्रद्धा से भेट और प्रणय सम्बन्ध, मनु का पशु यज्ञ, श्रद्धा का गार्हस्थ्य जीवन, मनु द्वारा श्रद्धा का त्याग और सारस्वत प्रदेश में इडा से भेट, काम का शाप, सारस्वत प्रदेश मे नवीन जीवन विधि की व्यवस्था, इडा मनु संघर्ष और मनु का घायल होना, श्रद्धा द्वारा मनु की खोज और पुनर्मिलन, मनु का सारस्वत प्रदेश से पलायन, श्रद्धा से पुन भेट और नटेश का ताडव नृत्य देखना, श्रद्धा का अनुगमन करते हुए कैलाश की यात्रा, ... , पुन ताडव नृत्य दर्शन और चिरन्तन सत्य आत्मानन्द की उपलब्धि, इडा, कुमार आदि का कैलासयात्रा और मनु द्वारा उन्हे समरसता का उपदेश। इन घटनाओ के घटित होने का काल कामायनी मे बताया नहीं गया है पर ... ये सभी घटनाये तीस पच्चीस वर्ष या इससे भी कम समय के भीतर घटित ... । अर्थात् मनु के जीवन के मध्य भाग की कथा ही कामायनी में कही गयी है। ... के पुत्र के सुर जीवन और कैलास में जीवनमुक्ति प्राप्त ... से कामायनी का कोई सम्बन्ध नहीं है। इस ... मनु ... जाने कितने लोगो से सम्पर्क हुआ होगा, कितनी और ... घटनाये घटित हुई होगी पर उनकी कल्पना भी प्रसाद ने नहीं की है। उन्होने केवल ऐसी घटनाओ का सकलन किया है जो उनके ... से सम्बन्धित है और जो महत्कार्य तक कथा को आगे ... और श्रद्धा की चारित्रिक विशेषताओं को प्रस्फुटित करने में ... सहायक हैं। अत कलात्मक सकलन प्रवृत्ति के कारण कामायनी मे घटनाओ का बाहुल्य नही हो पाया है। घटना बाहुल्य न होने का एक कारण यह भी है कि प्रसाद जी घटनाओ से अधिक उनके भीतर निहित भावसत्य को महत्व देते हैं। इसलिए उसमे घटना वैविध्य तो नहीं है पर उन भावसत्यो की व्यापकता और गहराई अवश्य है जो मनु, श्रद्धा और इडा तक ही सीमित नहीं हैं बल्कि जो प्रत्येक युग के समष्टि मानव मे समान रूप से वर्तमान रहते हैं। अत कामायनी मे समग्र जीवन का चित्रण घटनाओ के माध्यम से नहीं, भावनाओ के माध्यम से हुआ है।

जीवन की समग्रता का अर्थ यह भी है कि कवि पात्रो को जीवन की प्रत्येक परिस्थिति ... बाह्य और आन्तरिक क्रिया प्रतिक्रिया की अभिव्यक्ति ... के जितने रूप हो सकते हैं सबको सम्यक् ढग से ... । इस प्रकार के व्यापक जीवन चित्र रामायण महाभारत और ... जैसे कुछ इने गिने काव्यो को छोडकर अन्य किसी महाकाव्य मे नहीं मिलते। अत महाकाव्य के इस लक्षण का अर्थ इतनी

ही इस तक सीमित रखना होगा कि उसमें जीवन का एकांगी या अपूर्ण चित्रण नहीं होना चाहिये। पूर्णता सापेक्ष शब्द है। प्रत्येक युग में जीवन की पूर्णता का स्वरूप उस युग की परिस्थितियों के अनुरूप भिन्न हो सकता है। कामायनी के सम्बन्ध में यह बात सदा ध्यान में रखने की है कि उसमें एक ऐसे काल खंड की कथा कही गयी है जिसमें पुरातन मानव सृष्टि प्रायः नष्ट हो चुकी थी और नवीन मानव-समाज की रचना हो रही थी। वह युग परवर्ती महाभारत रामायण या 'मानस' के युगों की तुलना में निश्चित रूप से अपूर्ण या कम विकसित रहा होगा। अतः कामायनी पर यह दोषारोपण निराधार होगा कि उसमें भाई भाई, पिता पुत्र, गुरु शिष्य, पति पत्नी, सास बहू दास स्वामी और राजा प्रजा आदि के विविध संबंधों तथा सामाजिक जीवन के नाना कार्य व्यापारों की योजना और वर्णन नहीं हुआ है। प्रजापति मनु ने स्वयं नवीन मानव जाति का प्रारंभ किया अतः उन्हें उक्त संबंधों और परिस्थितियों के बीच रखना नितान्त अस्वाभाविक होता। क्या कामायनी कथा में मनु के भाई, पिता माता या गुरु की कल्पना की जा सकती है। वस्तुतः मनु के युग को उस आदिम युग के रूप में लेना होगा जिसमें जन संख्या विरल थी तथा नवीन सामाजिक संबंधों की स्थापना और शाश्वत जीवन मूल्यों की खोज हो रही थी। वैदिक काल के वातावरण में उसका कुछ आभास पाया जा सकता है। ऐसे युग के जीवन के चित्रण में समग्रता का अर्थ संबन्ध विस्तार या घटना बहुलता नहीं बल्कि भाव विस्तार और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की प्रधानता ही हो सकती है। कामायनी में यही बात दिखाई पड़ती है।

कहा जा चुका है कि वस्तु वर्णन और भाव व्यंजना में प्रसाद ने महाकाव्य के शास्त्रीय लक्षणों और चिराचरित रूढ़ियों का पालन नहीं किया है। पर उनकी कथा के क्रम में स्वाभाविक और प्रासंगिक रूप से जिन वस्तु व्यापारों और भावानुभूतियों के वर्णन का अवसर मिला है, उनमें पर्याप्त वैविध्य और मर्मस्पर्शिता दिखाई पड़ती है। फलस्वरूप आलंकारिकों द्वारा निर्दिष्ट बहुत से वस्तु व्यापारों और भावों का समावेश कामायनी में अनायास हो गया है।

आलंकारिकों के अनुसार महाकाव्य में कुमारोदय, विवाह, राज्याभिषेक तथा उनसे सम्बन्धित उत्सवों का वर्णन होना चाहिये। कामायनी में कुमारोदय और विवाह से सम्बन्धित बातों का बड़े ही मनोवैज्ञानिक और नवीन ढंग से वर्णन हुआ है यद्यपि उस प्रसंग में किसी उत्सव या रीति रिवाज का वर्णन नहीं हुआ है। मनु और श्रद्धा मिलते हैं, परस्पर आकर्षित होते हैं, मैत्री

सम्बन्ध स्थापित होता है और फिर वे प्रणय सूत्र म आबद्ध हो जाते हैं। विवाह का यह रूप जल प्रलय के बाद की परिस्थिति म अत्यन्त स्वाभाविक प्रतीत होता है। वहाँ न तो विवाह कराने वाले पुरोहित थे, न बाराती थे, न ज्योनार, नृत्य, गान, वाद्य आदि का प्रबन्ध था और न सजावट करने के लिए नगर और महल था। निष्कर्ष यह कि विवाह का यह स्वरूप आदिम मानव जाति में प्रचलित था और आज भी पाश्चात्य देशों मे प्रचलित है। अत मनु और श्रद्धा का परस्पर समर्पण भाव ही उनका विवाह है —

श्रद्धा—समर्पण लो सेवा का सार सजल ससृति का यह पतवार
आज से यह जीवन उत्सग इसी पद तल मे विगत विकार।
श्रद्धा सर्ग

मनु—आज ले लो चेतना का यह समर्पण दान।
विश्व रानी! सुन्दरी नारी जगत की मान। वासना सर्ग

विवाह के बाद कुमारोदय का प्रसग आना स्वाभाविक है। इसका वणन भी कामायनी मे आदिम मानव समाज की परिस्थितिया को ध्यान मे रख कर अत्यन्त मनोवैज्ञानिक ढग से हुआ है। कुमारोदय के प्रसग मे गभवती स्त्री ओर उसकी दोहद कामना का वर्णन अनेक प्राचीन काव्यों मे मिलता है। प्रसाद जी ने गर्भवती स्त्री के रूप सौन्दर्य ओर भावी शिशु के लिए उसके मन मे उठने वाली भावनाओ का विस्तार से वर्णन किया है —

केतकी गर्भ सा पीला मुँह आँखों मे आलस भरा स्नेह

× × ×

मातृत्व बोझ से झुके हुए बँध रहे पयोधर पीन आज।
दुर्भर था गभ, मधुर पीडा झेलती जिसे जननी सलील।

भावी शिशु के सम्बन्ध मे स्त्रियाँ जो कल्पना करती हैं उसका भी वर्णन कामायनी में अत्यन्त मर्मस्पर्शी ढग से हुआ है —

झूले पर उसे झुलाऊँगी दुलरा कर लूँगी बदन चूम
मेरी छाती से लिपटा इस घाटी मे लेगा सहज घूम
ईर्ष्या सर्ग

इसके बाद पुत्र जन्म और उससे सम्बन्धित उत्सव आदि का वर्णन न करके शिशु क्रीडा का वर्णन हुआ है। वन्य वातावरण मे अकेली नारी ने पुत्र प्रसव किया, जहाँ उसकी सहायता करने वाला और मगल गीत गाने वाला कोई न था। इसका वर्णन कवि क्या करता? अत वह इस प्रसग को पाठकों की

कल्पना के लिए छोड़कर 'स्वप्न' सर्ग में सीधे कुमार के बाल चरित के वर्णन में प्रवृत्त हो जाता है।

इस प्रकार कामायनी में सामाजिक सम्बन्धों, उत्सवों और रीति रिवाजों का वर्णन नहीं हुआ है क्योंकि उसके कथा काल में समाज का रूप नहीं निर्मित हुआ था। सारस्वत प्रदेश में मनु ने समाज का विकास और व्यवस्थापन अवश्य किया पर उसका वर्णन कवि ने श्रद्धा के स्वप्न के रूप में किया है। अतः उसमें रीति रिवाजों और सामाजिक सम्बन्धों के साश्लिष्ट चित्रण के लिए अवकाश न था। प्रसाद ने यदि रूढ़ि पालन के लिए वस्तु वर्णन किया होता तो सारस्वत प्रदेश के प्रसंग में और अनेक सामाजिक उत्सवों और रीति रिवाजों के वर्णन का अवसर अवश्य निकाल लिया होता। पर उनकी दृष्टि मनु, इड़ा और श्रद्धा के जीवन पर इतनी अधिक केन्द्रित थी कि वे प्रासंगिक और अवान्तर वस्तु वर्णन द्वारा कथा धारा को अवरुद्ध नहीं करना चाहते थे। शिशुपाल वध में कृष्ण द्वारका से हस्तिनापुर की यात्रा करते हैं पर रास्ते में रैवतक पर्वत पर ठहर कर जलक्रीड़ा, उद्यान विहार, पान गोष्ठी, मृगया आदि में प्रवृत्त हो जाते हैं। माघ ने यहाँ आलंकारिकों द्वारा निर्दिष्ट वस्तु व्यापारों के वर्णन का अवसर बलपूर्वक निकाल लिया है यद्यपि वे वर्णन मुख्य कथा के भीतर किसी भी तरह प्रासंगिक नहीं प्रतीत होते। प्रसाद ने स्वाभाविकता लाने के लिये अनावश्यक वस्तु वर्णना की ठसठाँस नहीं की है। उदाहरण के लिए आलंकारिकों द्वारा निर्दिष्ट आमोद प्रमोद के कार्यों, मृगया, पुष्पावचय, पान गोष्ठी आदि का सांगोपांग वर्णन कामायनी में नहीं हुआ है यद्यपि उनका उल्लेख यत्र तत्र अवश्य हुआ है। मृगया का उल्लेख करते हुए कवि ने उसकी निन्दा भी की है क्योंकि उसमें पशु हिंसा होती है। आलंकारिकों द्वारा निर्दिष्ट कुछ वस्तुओं जैसे नगर, समुद्र, नदी, वन, पर्वत, स्वर्ग, शाप, यात्रा, उषा, संध्या, रात्रि, चन्द्र, सूर्य, नक्षत्रादि, वसन्त ऋतु, युद्ध, विप्रलम्भ और संयोग शृंगार आदि का कामायनी में बड़ा ही विशद और सांगोपांग वर्णन हुआ है। इनमें भी सबसे अधिक उल्लास से कवि ने प्राकृतिक वस्तुओं और शृंगार के विविध अवयवों का वर्णन किया है। आशा, रहस्य और आनन्द सर्ग में हिमालय और उसके वातावरण का बड़ा ही विराट और चित्रात्मक वर्णन हुआ है। कुमारसम्भव में कालिदास ने जिस तरह हिमालय का वर्णन आलम्बन रूप में किया गया है उसी तरह कामायनी को 'आशा' सर्ग का हिमालय वर्णन भी है। कालिदास ने हिमालय को 'पृथ्वी का मानदण्ड' कहा पर प्रसाद ने उसे

डूबती पृथ्वी का अवलम्बन और विश्व कल्पना जैसा उच्च बताया जो उनके विषय के अनुरूप ही है —

विश्व कल्पना सा ऊँचा वह सुख शीतल संतोष निदान।
और डूबती सी अचला का अवलम्बन मणि-रत्न निधान।
अचल हिमालय का शोभनतम लता कलित शुचि सानु शरीर।

—आशा सर्ग

हिमालय वर्णन मे प्रसाद ने यदि विराट् सौंदर्य को मूर्तिमान किया है तो आशा और स्वप्न सर्गो मे उषा, सन्ध्या, चाँदनी, नक्षत्र मालिनी निशा आदि का बडा ही कोमल और कमनीय रूप भी चित्रित किया है। प्रकृति वर्णन मे कवि की वृत्ति सबसे अधिक इसलिए रमी है कि उसकी कथा की भूमिका प्रकृति ही है, अत उसने उसके विराट् और लघु, उग्र और कोमल, जड और चेतन, स्थूल और सूक्ष्म, आकर्षक और अद्भुत सभी रूपो का यथावसर उद्घाटन किया है। वह प्रकृति को चेतन सत्ता परम शिव का शरीर मानता है और मानव को उसकी गोद मे खेलने वाले अबोध शिशु के रूप मे देखता है। इसलिए उसने आलम्बन, उद्दीपन, प्रतीक सकेत और अलकार आदि सभी रूपो मे प्राकृतिक वस्तुओ को चित्रित किया है।

कोमल और विराट् रूप के साथ प्रकृति के उग्रतम रूप का वर्णन भी कामायनी मे हुआ है। प्रारम्भ मे ही जल प्रलय का जैसा वर्णन हुआ है और उसके भयानक और रौद्र रूप को कवि ने जिस प्रकार भाषा मे मूर्त किया है वैसा शायद ही किसी महाकाव्य म मिले। उपयुक्त शब्दो के चयन से कवि ने किस प्रकार प्रलय की कल्पना को साकार कर दिया है, यह दर्शनीय है —

दिग्दाहो से धूम उठे या जल धर उठे क्षितिज तट के।
सघन गगन मे भीम प्रकम्पन झझा के चलते झटके।
पचभूत का भैरव मिश्रण शम्पाओ का सकल निपात।
उल्का लेकर अमर शक्तियाँ खोज रही ज्यो खोया प्रात।
उधर गरजती सिन्धु लहरियाँ कुटिल काल क जालो सी।
चली आ रही फेन उगलती फन फैलाये व्यालो सी।
धँसती धरा धधकती ज्वाला ज्वालामुखियो के निश्वास।

—चि ता सर्ग

आलकारिको ने महाकाव्य मे स्वर्ग, नगर और द्वीप आदि के वर्णन का भी निर्देश किया है। कामायनी मे द्वीप वर्णन तो नहीं हुआ है पर स्वर्ग और

नगर का बहुत विशद् वर्णन किया गया है। परन्तु कामायनी का स्वर्ग पुराणों का स्वर्ग नहीं है जहाँ पर मरने लोग अपने पुण्य का भोग करने जाते हैं। पहले यह कहा जा चुका है कि प्रसाद जी स्वर्ग को पृथ्वी पर स्थित सप्त सिंधु को ही प्राचीनतम आर्यों के निवास स्थान के रूप में मानते थे और वहाँ के निवासी देव जाति के लोग थे। उनकी विलासिता और प्रकृति पर विजय करने की महत्वाकांक्षा ही प्रलय का कारण बनी। 'चिन्ता' सर्ग में उसी देव जाति के स्वच्छन्द और निर्बाध विलास का वर्णन अत्यन्त विशदता के साथ हुआ है। नगर का वर्णन स्वप्न और सघर्ष सर्गों में विशद् रूप में हुआ है। सारस्वत नगर का वर्णन वाल्मीकि रामायण के अयोध्या वर्णन से तुलनीय है। अन्य महाकाव्यों में नगरों का वर्णन रूढ़ि रूप में होने से यथार्थ नहीं प्रतीत होता परन्तु रामायण और कामायनी का नगर वर्णन स्वाभाविक और यथार्थ पर आधारित है। पुराने महाकाव्यों में मन्त्रणा, दूत कार्य, सेना प्रयाण, स्कन्धावार, नगरावरोध और युद्ध का वर्णन अवश्य होता था। पाश्चात्य देशों में महाकाव्य को वीर काव्य का समानार्थी माना जाता था और यह धारणा प्रचलित थी कि बिना युद्ध के महाकाव्य हो ही नहीं सकता। आधुनिक युग में यह मान्यता बदल गयी है और महाकाव्य में युद्ध वर्णन आवश्यक नहीं रह गया है। कामायनी में सघर्ष सर्ग में जो संक्षिप्त युद्ध वर्णन मिलता है उसमें प्राचीन परंपरा और आधुनिक मान्यता दोनों का प्रभाव दिखाई पड़ता है। सघर्ष सर्ग का युद्ध वस्तुत युद्ध न होकर प्रजा का सशस्त्र विद्रोह और देवगण के कोप का परिणाम है। मनु एक ओर अकेले अत्यंत साहस और वीरता का प्रदर्शन करते हुए लड़ रहे हैं और दूसरी ओर आकुलि किलात के नेतृत्व में प्रजा उन पर वार कर रही है। मनु आकुलि, किलात को घायल कर देते पर अंत में रुद्र के अग्नि बाण से घायल होकर गिर जाते हैं। यह दो राजाओं या राष्ट्रों का युद्ध नहीं बल्कि शासक और प्रजा तथा मानव और प्रकृति के सघर्ष का सांकेतिक वर्णन है जो शास्त्रीय लक्षणों के युद्ध वर्णन की शर्त भी पूरी कर देता है। पर लाक्षणिक और संक्षिप्त होते हुए भी यह युद्ध वर्णन बड़ा ही ओजपूर्ण है। इस के अतिरिक्त युद्ध संबंधी अन्य बातों—मंत्रणा, दौत्य, सेना प्रयाण, नगरावरोध आदि—का वर्णन कामायनी में नहीं हुआ है और न इनके लिए कामायनी कथा में कहीं अवकाश ही था। वस्तुत कामायनी युद्ध का नहीं, सघर्ष का काव्य है जिसमें मानव का प्रकृति के साथ और बुद्धि का हृदय के साथ सघर्ष दिखाया गया है। लज्जा सर्ग में इस बात को स्पष्ट शब्दों में कह दिया गया है और वहीं उसके शमन का उपाय भी बताया गया है —

देवों की विजय दानवों की हारों का होता युद्ध रहा।
संघर्ष सदा उर अन्तर में जीवित रह नित्य विरुद्ध रहा।
आँसू से भीगे अंचल पर मन का सब कुछ रखना होगा।
तुम को अपनी स्मित रेखा से यह सन्धि पत्र लिखना होगा। लज्जा सर्ग

जीवन को समग्र रूप में चित्रित करने के लिए केवल बाह्य वस्तु व्यापारों और घटनाओं का ही नहीं, हृदय की भावनाओं और मानसिक वृत्तियों की क्रिया प्रतिक्रिया का वर्णन भी आवश्यक है। इसीलिए आलंकारिकों ने महाकाव्य में रस भाव का नैरन्तर्य तो आवश्यक माना ही है, उसमें भी विप्रलम्भ और संयोग शृंगार के वर्णन को प्रमुखता दी है। कामायनी के भाव गाम्भीर्य के सम्बन्ध में पहले विचार किया जा चुका है।

रस की दृष्टि से उस पर आगे विचार किया जायगा। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि कामायनी में संयोग और विप्रलंभ शृंगार तथा उसके आलम्बन शारीरिक सौन्दर्य—और संचारी भावों और अनुभावों का बहुत ही विवृत वर्णन हुआ है। श्रद्धा सर्ग से लेकर ईर्ष्या सर्ग तक मनु और श्रद्धा के प्रणय—सम्बन्ध तथा उससे सम्बन्धित विविध मनोभावनाओं और अन्तर्दशाओं का वर्णन किया गया है, साथ ही वासना और काम सर्गों में सांकेतिक रूप में उनकी विलास लीला और सम्भोग का चित्रण भी हुआ है। यद्यपि यह वर्णन कुमारसम्भव के आठवें सर्ग की तुलना में कुछ भी नहीं है फिर भी यथार्थवादी दृष्टि होने कारण प्रसाद ने संभोग वर्णन में संकोच का अनुभव नहीं किया है—

और एक फिर व्याकुल चुम्बन रक्त खौलता जिससे।
शीतल प्राण धधक उठता है तृषा तृप्ति के मिस से।
दो काठों की सन्धि बीच उस निभृत गुफा में अपने।
अग्नि शिखा बुझ गई, जागने पर जैसे सुख सपने।

विप्रलंभ शृंगार का वर्णन स्वप्न और निर्वेद सर्ग में सांगोपांग रूप में हुआ है। पर कामायनी में श्रद्धा का विरह वर्णन पुराने महाकाव्यों के विरह वर्णन जैसा गतानुगतिक ढंग का और पिटेपिटाये उद्दीपनों और अनुभावों से युक्त नहीं है। प्रसाद ने मनोवैज्ञानिक ढंग से विरह वर्णन किया है जो उनके 'आँसू' के वर्णनों जैसा है। इसमें श्रद्धा की वेदना भरी उक्तियाँ अत्यंत मार्मिक और संयमित हैं —

इस पतझड़ की सूनी डाली और प्रतीक्षा की संध्या।
कामायनि! तू हृदय कड़ा कर धीरे धीरे सब सह ले।

सब अतीत मे लीन हो चली आशा मधु अभिलाषाये ।
प्रिय की निष्ठुर विजय हुई पर यह तो मेरी हार नही ।
आज विश्व अभिमानी जैसे रूठ रहा अपराध बिना ।
किन चरणो को धोवेगे जो अश्रु पलक के पार बहे । स्वप्न सर्ग

विप्रलम्भ शृंगार मे उद्दीपनो क वर्णन म भी अत्यधिक स्वाभाविकता और नवीनता है । विरहिणी के दिवास्वप्न का यह चित्र दर्शनीय है —

जब शिरीष की मधुर गध से मानभरी मधुऋतु राते ।
रूठ चली जाती रक्तिम मुख, न सह जागरण की घाते ।
दिवस मधुर आलाप कथा सा कहता छा जाता नभ मे
वे जगते सपने अपने तब तारा बन कर मुसकाते ।

शृंगार का आलम्बन सौन्दर्य है । यह सान्दर्य बाह्य आर आन्तरिक दोनों ही प्रकार का होता है । लज्जा सर्ग मे प्रसाद ने सौन्दर्य का जो चित्रण किया है वह किसी व्यक्ति विशेष के सौदर्य का नही बल्कि समष्टिगत सौन्दर्य या सौन्दर्य की साकार मूर्ति का चित्रण है । जायसी ने पद्मावत के सौन्दर्य की जो विराट् कल्पना की है वह फिर भी बाह्य आकृति तक ही सीमित है । प्रसाद ने नखशिख वर्णन द्वारा बाह्य रूप का चित्रण न करके सौन्दर्य के आन्तरिक गुणो का उद्घाटन किया है । यह सौन्दर्य 'सत्य शिव सुन्दर' का समन्वित रूप है जिसमे श्री, मगल, सौभाग्य आनन्द सभी एक साथ समाविष्ट हैं —

मगल कुकुम की श्री जिसमे निखरी हो ऊषा की लाली ।
भोला सुहाग इठलाता हो ऐसी हो जिसमे हरियाली ।
हो नयनों का कल्याण बना आनन्द सुमन सा विकसा हो ।

× × ×

उज्वल वरदान चेतना का सौन्दर्य जिसे सब कहते है ।
जिसमे अनन्त अभिलाषा के सपने सब जगते रहते है ।—लज्जा सर्ग

अनुभाव और संचारी भाव के रूप मे लज्जा का जैसा मनोवैज्ञानिक और पूर्ण चित्रण कामायनी म हुआ है वैसा और कहीं भी हुआ हो, यह हमे ज्ञात नहीं है । कामायनी की लज्जा कामोद्दीपन के साधन अथवा स्त्री के सहज स्वभाव के रूप मे ही नही बल्कि सौन्दर्य की रखवाली करने वाली और चारित्रिक उत्कर्ष की साधन के रूप मे भी है —

वरदान सदृश हो डाल रही नीली किरनों से बुना हुआ ।
यह अचल कितना हलका सा कितने सौरभ से सना हुआ !

× × ×

मै उसी चपल की धात्री हूँ गौरव महिमा हू सिखलाती
ठोकर जो लगने वाली है उसको धीरे से समझाती।

इस प्रकार आलङ्कारिकों द्वारा निर्दिष्ट वस्तु व्यापारों और भावो मे से अधिकाश का वर्णन कामायनी मे अनायास ही हो गया है। किन्तु कामायनी का महाकाव्यत्व इस बात पर नहीं निर्भर करता है कि उसमे महाकाव्य के सभी शास्त्रीय लक्षण मिलते हैं या नहीं। समग्र जीवन के चित्रण की दृष्टि से प्रलय काल के बाद की परिस्थितियों को ध्यान मे रखते हुए उसमे कोई विशेष न्यूनता नहीं दिखाई पडती क्योंकि बाह्य घटनाओं और जीवन की विभिन्न परिस्थितियों का उसमे बाहुल्य न होने पर भी भावनाओं और अन्तदशाओं का पर्याप्त वैविध्य है।

४—सुसगठित और जीवन्त कथानक

कामायनी कथा के मूल स्रोतों के प्रसग मे उसकी ऐतिहासिकता पर पहले ही विचार किया जा चुका है। अत यहाँ यह बात दुहराने की आवश्यकता नहीं है कि कामायनी का वृत्त ख्यात है। पर उसमे अनेक बातें उत्पाद्य भी हैं। अतएव उसका कथानक मिश्र ढग का माना जायगा क्योंकि कथानक का मूल ढाँचा तो अनुत्पाद्य है पर उस ढाँचे को मासल बनाने के लिए उसमे जिन वस्तु व्यापारों, भावानुभूतियों और छोटी मोटी अन्य घटनाओ की योजना हुई है वे उत्पाद्य या कवि कल्पित हैं। प्रसाद के सामने मनु से सम्बन्धित उस प्रकार की कोई पहले ही से बनी बनाई कथा नहीं थी जैसी कृष्ण-कथा या राम कथा को लेकर महाकाव्य लिखने वालों के सामने थी। अत प्रसाद ने ऐसी सावधानी और कौशल से कामायनी की कथा का वस्तु विन्यास किया है जिससे प्राचीन उलझे हुए और अस्पष्ट कथासूत्रो को सुलझा कर एक सुसगठित कथानक भी निर्मित हो सके और कथा की ऐतिहासिकता पर भी आँच न आने पावे। इसके लिए उन्होंने आधुनिक साहित्य में प्रचलित मनोवैज्ञानिक शैली का सहारा लिया है। मनोवैज्ञानिक उपन्यासो, कहानियों और नाटकों में स्थूल घटनाओं की अधिकता नहीं होती। उनमे मानसिक वृत्तियों की क्रिया प्रतिक्रिया, सघर्ष और उनकी व्याख्या करते हुए कथा को आगे बढाया जाता है। अत उनमें कथासूत्र बहुत ही क्षीण होता है। फिर भी ऐसे मनोवैज्ञानिक उपन्यासों और समस्या-नाटकों में पाठकों की जिज्ञासा-वृत्ति उतनी ही रमती है जितनी घटना प्रधान उपन्यासों और नाटकों में। घटना-प्रधान कथानक में भी यदि पात्रों के मन को अछूता छोड दिया जाय, केवल घटनाओं की ही

निवृति हो तो वह इतिवृत्तात्मक कथानक पाठकों को सन्तोष नही दे सकता। अत घटना प्रधान कथानक और मनोवैज्ञानिक कथानक मे अन्तर इतना ही है कि एक म लेखक का ध्यान घटना क्रम पर अधिक रहता है और दूसरे मे मानसिक वृत्तियों पर। कामायनी का कथानक इसी दूसरे प्रकार का है। पर उसकी विशेषता यह है उसम स्थूल घटना क्रम महत्वहीन और अधिक क्षीण नहीं है और कथा को अलग छाड कर लेखक कही भी बहुत देर तक मनोवैज्ञानिक विवेचन म तल्लीन नहा हुआ है।

ऐसे काव्यो का कथानक जटिल नहीं हो सकता और न उसमें बहुत अधिक मोड ही मिल सकते हैं। इसीसे कामायनी के कथानक मे सरलता और मर्मस्पर्शिता बहुत अधिक है। उसम एक भी अवान्तर कथा नहीं है, न तो नायक का कार्य क्षेत्र ही बहुत विस्तृत है और न पुराने महाकाव्यो मे पाइ जाने वाली चिराचरित कथानक रूढिया का ही सहारा लिया गया है। उसमे केवल एक आधिकारिक और एक ही प्रासगिक कथा है और उसम भी पचीदगी या उलझन नही है। इसका कारण यह है कि कवि का ध्यान सबसे अधिक कथा की कार्यान्विति पर ही है। उसने इस बात का सफल प्रयास किया है कि कामायनी म कोई भी ऐसी घटना या वर्णन न आने पाये जिसे आसानी से छोडा जा सकता है और जिसके बिना भी काव्य का सौन्दर्य और महत्व कम नहीं हो सकता। आधुनिक कहानी म जितनी बात कही जाती हैं उससे कहीं अधिक अनकहा रह जाती हैं। फिर भी पाठक उन अनकही बातो की कल्पना स्वत कर लेता है। कामायनी म यही कथा कौशल (टेकनीक) अपनाया गया है। कहानी म बहुधा मध्य से या अन्त से कथा प्रारम्भ होती है और पूर्व की बातें स्मृति-रूप म अथवा दो पात्रो के बीच कथोपकथन के रूप मे कह दी जाती हैं। कामायनी का आरम्भ भी कथा के आदि भाग स नही होता। देवजाति, स्वर्ग म मनु का निवास, कामपुत्री श्रद्धा के साथ मनु की बाल मैत्री, देवजाति की यज्ञ-क्रिया, शक्ति सचय और विलास, जल प्रलय, मनु की मत्स्य को सहायता से नाव मे रक्षा आदि बातों का वर्णन मनु की चिन्ता और स्मृति के रूप म किया गया है। कथारम्भ जल-प्रलय के बाद बाढ घटने पर मनु की चिन्ता से होता है। यह कौशल केवल आवश्यक तथ्यों के सकलन और अनावश्यक विस्तार को रोकने के लिए अपनाया गया है। इसी तरह कथा के भीतर भी अनेक बातें, जिनका विस्तार के साथ वर्णन करके कथानक को स्फीत किया जा सकता था और अनेक अवान्तर और प्रासगिक कथाओं की योजना हो सकती थी, या तो छोड दी गयी हैं या साकेतिक रूप मे व्यक्त कर दी गयी हैं। उदा

२रणार्थ इन शकाओ को सुलझाने के निमित्त कामायनी मे एक एक सर्ग की रचना हो सकती थी—मनु की प्रलय से कैसे रक्षा हुई ? किलात आकुलि कौन थे और प्रलय से कैसे बचे ? इडा कौन थी और सारस्वत प्रदेश से उसका क्या सम्बन्ध था ? सारस्वत प्रदेश का क्या महत्व था और वहाँ इन्द्र वृत्र युद्ध क्यो और कैसे हुआ था ? इन सब के बारे मे कामायनी मे साकेतिक रूप म उल्लेख हुआ है जिससे कथा सूत्र जुड जाता है और उनके विस्तृत वर्णन के अभाव से कथा प्रवाह मे बाधा भी नही पडती। इसके विपरीत वह और भी गतिशील और सरल बन गया है।

कथानक की जीवन्तता का जो लक्षण अरस्तू ने बताया है वह कामायनी मे वर्तमान है। उसके कथानक मे आदि, मध्य और अन्त का सुन्दर विधान हुआ है और पूरी कथा एक इकाई के रूप मे एक दृष्टि मे देखी जा सकती है। कथानक मे आदि भाग मे जल प्रलय के बाद से लेकर मनु द्वारा श्रद्धा के त्याग तक की घटनायें आती हैं। सारस्वत प्रदेश मे इडा मनु मिलन से लेकर घायल होने के बाद मनु के सारस्वत नगर से पलायन तक की घटनाये मध्य भाग मे आती हैं। मनु द्वारा प्रथम बार नटेश का ताण्डव नृत्य देखने के बाद से अन्त तक की घटनाये अन्त भाग मे आती हैं। इन तीनो भागो का अनुपात घटनाओं की दृष्टि से समान है यद्यपि वर्णन विस्तार आदि के कारण आदि भाग म ८ सर्ग, मध्यभाग मे ३ सर्ग और अन्त भाग मे ४ सर्ग हैं। तीनो भागो की घटनाये कार्यकारण श्रृंखला के रूप मे एक दूसरे से इस तरह सम्बद्ध हैं कि कथानक की धारा कहीं टूटी हुई या अस्वाभाविक रूप से जुडी हुई नहीं प्रतीत होती। प्रत्येक घटना कथा को आगे बढाने और उसे अन्तिम परिणाम तक पहुँचाने मे किसी न किसी सीमा तक प्रत्यक्ष रूप मे योग देती है। उदाहरण के लिए लज्जा सर्ग मे श्रद्धा के मन के भीतर उठने वाले विवेक और भावुकता के सघर्ष का चित्रण किया गया है और अन्त मे लज्जा श्रद्धा को जो उपदेश देती है उसे ही दृढता पूर्वक पकड कर श्रद्धा अपने चरित्र को इतना ऊँचा उठा लेती है कि मनु तथा अन्य लोगो को भी आनन्द लोक मे पहुँचाने मे समर्थ होती है। यही बात अन्य घटनाओ और वर्णनों के बारे मे भी समझनी चाहिये। निष्कर्ष यह है कि कामायनी म कार्यान्विति समुचित रूप में वर्तमान है। साकेतिक पद्धति और नवीन मनोवैज्ञानिक कथा शिल्प के प्रयोग तथा अवान्तर कथाओं और अनावश्यक वर्णन विस्तार के त्याग के कारण उसका कथानक बहुत ही चुस्त, श्रृंखलित और सुसघटित है।

आधुनिक कहानी मे बेहोशी और स्वप्न के माध्यम से भी कुछ बातें

विवृति हो तो वह इतिवृत्तात्मक कथानक पाठकों को सन्तोष नहीं दे सकता। अत घटना प्रधान कथानक और मनोवैज्ञानिक कथानक म अन्तर इतना ही है कि एक म लेखक का ध्यान घटना क्रम पर अधिक रहता है और दूसरे मे मानसिक वृत्तियों पर। कामायनी का कथानक इसी दूसरे प्रकार का है। पर उसकी विशेषता यह है उसम स्थूल घटना क्रम महत्वहीन और अधिक क्षीण नहीं है और कथा को अलग छोड कर लेखक कही भी बहुत देर तक मनोवैज्ञानिक विवेचन म तल्लीन नहीं हुआ है।

ऐसे काव्यों का कथानक जटिल नहीं हो सकता और न उसमे बहुत अधिक मोड ही मिल सकते हैं। इसीसे कामायनी के कथानक मे सरलता और मर्मस्पर्शिता बहुत अधिक है। उसम एक भी अवान्तर कथा नहीं है, न तो नायक का कार्य क्षेत्र ही बहुत विस्तृत है और न पुराने महाकाव्यो मे पाइ जाने वाली चिराचरित कथानक रूढियो का ही सहारा किया गया है। उसम केवल एक आधिकारिक और एक ही प्रासगिक कथा है और उसम भी पेचीदगी या उलझन नहीं है। इसका कारण यह है कि कवि का ध्यान सबसे अधिक कथा की कार्यावलि पर ही है। उसने इस बात का सफल प्रयास किया है कि कामायनी म कोइ भी ऐसी घटना या वर्णन न आने पाये जिसे आसानी से छोडा जा सकता है और जिसके बिना भी काव्य का सौन्दर्य और महत्व कम नहीं हो सकता। आधुनिक कहानी म जितनी बात कही जाती हैं उससे कहीं अधिक अनकही रह जाती हैं। फिर भी पाठक उन अनकही बातो की कल्पना स्वत कर लेता है। कामायनी म यही कथा कौशल (टेकनीक) अपनाया गया है। कहानी मे बहुधा मध्य से या अ त से कथा प्रारम्भ होती है और पूर्व की बातें स्मृति रूप म अथवा दो पात्रो के बीच कथोपकथन क रूप म कह दी जाती हैं। कामायनी का आरम्भ भी कथा के आदि भाग स नहीं होता। देवजाति, स्वर्ग मे मनु का निवास, कामपुत्री श्रद्धा क साथ मनु की बाल मैत्री, देवजाति की यज्ञ-क्रिया, शक्ति सचय और विलास, जल प्रलय, मनु की मत्स्य को सहायता से नाव मे रक्षा आदि बातो का वर्णन मनु की चिन्ता और स्मृति के रूप मे किया गया है। कथारम्भ जल-प्रलय के बाद बाढ घटने पर मनु की चिन्ता से होता है। यह कौशल केवल आवश्यक तथ्यों के सकलन और अनावश्यक विस्तार को रोकने क लिए अपनाया गया है। इसी तरह कथा के भीतर भी अनेक बातें, जिनका विस्तार के साथ वर्णन करके कथानक को स्फीत किया जा सकता था और अनेक अवान्तर और प्रासगिक कथाओं की योजना हो सकती थीं, या तो छोड दी गयी हैं या साकेतिक रूप में व्यक्त कर दी गयी हैं। उदा

निवृति हो तो वह इतिवृत्तात्मक कथानक पाठकों को सन्तोष नही दे सकता। अत घटना प्रधान कथानक और मनोवैज्ञानिक कथानक म अन्तर इतना ही है कि एक म लेखक का ध्यान घटना क्रम पर अधिक रहता है और दूसरे मे मानसिक वृत्तियों पर। कामायनी का कथानक इसी दूसरे प्रकार का है। पर उसकी विशेषता यह है उसम स्थूल घटना क्रम महत्वहीन और अधिक क्षीण नहीं है और कथा को अलग छोड कर लेखक कही भी बहुत देर तक मनोवैज्ञानिक विवेचन म तल्लीन नहा हुआ है।

ऐसे काव्यों का कथानक जटिल नही हो सकता और न उसमें बहुत अधिक मोड ही मिल सकते हैं। इसीसे कामायनी के कथानक मे सरलता और मर्मस्पर्शिता बहुत अधिक है। उसम एक भी अवान्तर कथा नहीं है, न तो नायक का कार्य क्षेत्र ही बहुत विस्तृत है और न पुराने महाकाव्यो म पाइ जाने वाली चिराचारित कथानक रूढिया का ही सहारा लिया गया है। उसमे केवल एक आधिकारिक और एक ही प्रासगिक कथा है और उसम भी पेचीदगी या उलझन नही है। इसका कारण यह है कि कवि का ध्यान सबसे अधिक कथा की कार्यान्विति पर ही है। उसने इस बात का सफल प्रयास किया है कि कामायनी म कोइ भी ऐसी घटना या वर्णन न आने पाये जिसे आसानी से छोडा जा सकता है और जिसके बिना भी काव्य का सौन्दर्य और महत्व कम नहीं हो सकता। आधुनिक कहानी म जितनी बात कही जाती हैं उससे कहीं अधिक अनकहा रह जाती हैं। फिर भी पाठक उन अनकही बातो की कल्पना स्वत कर लेता है। कामायनी म यही कथा कौशल (टेकनीक) अपनाया गया है। कहानी म बहुधा मध्य से या अन्त से कथा प्रारम्भ होती है और पूर्व की बातें स्मृति-रूप म अथवा दो पात्रो के बीच कथोपकथन के रूप मे कह दी जाती हैं। कामायनी का आरम्भ भी कथा के आदि भाग स नही होता। देवजाति, स्वर्ग म मनु का निवास, कामपुत्री श्रद्धा के साथ मनु की बाल मैत्री, देवजाति की यज्ञ-क्रिया, शक्ति सचय और विलास, जल प्रलय, मनु की मत्स्य की सहायता से नाव मे रक्षा आदि बातो का वर्णन मनु की चिन्ता और स्मृति के रूप मे किया गया है। कथारम्भ जल-प्रलय के बाद बाढ घटने पर मनु की चिन्ता से होता है। यह कौशल केवल आवश्यक तथ्यों के सकलन और अनावश्यक विस्तार को रोकने के लिए अपनाया गया है। इसी तरह कथा के भीतर भी अनेक बातें, जिनका विस्तार के साथ वर्णन करके कथानक को स्फीत किया जा सकता था और अनेक अवान्तर और प्रासगिक कथाओं की योजना हो सकती थी, या तो छोड दी गयी हैं या सांकेतिक रूप में व्यक्त कर दी गयी हैं। उदा-

हरणाथ इन शकाओ को सुलझाने के निमित्त कामायनी मे एक एक सर्ग की रचना हो सकती थी—मनु की प्रलय से कैसे रक्षा हुइ ? किलात आकुलि कौन थे ओर प्रलय से कैसे बचे ? इडा कोन थी और सारस्वत प्रदेश से उसका क्या सम्बन्ध था ? सारस्वत प्रदेश का क्या महत्व था और वहा इन्द्र वृत्र युद्ध क्यो ओर कैसे हुआ था ? इन सब के बारे मे कामायनी म साकेतिक रप मे उल्लेख हुआ है जिससे कथा सूत्र जुड जाता है और उनके विस्तृत वर्णन के अभाव से कथा प्रवाह म बाधा भी नही पडती। इसके विपरीत वह और भी गतिशील और सरल बन गया है।

कथानक की जीवन्तता का जो लक्षण अरस्तू ने बताया है वह कामायनी मे वर्तमान है। उसके कथानक मे आदि, मध्य और अन्त का सुन्दर विधान हुआ है ओर पूरी कथा एक इकाइ के रूप मे एक दृष्टि मे देखी जा सकती है। कथानक म आदि भाग म जल प्रलय के बाद से लेकर मनु द्वारा श्रद्धा के त्याग तक की घटनायें आती हैं। सारस्वत प्रदेश मे इडा मनु मिलन से लेकर घायल होने के बाद मनु के सारस्वत नगर से पलायन तक की घटनाये मध्य भाग मे आती हैं। मनु द्वारा प्रथम बार नटेश का ताण्डव नृत्य देखने के बाद से अन्त तक की घटनायें अन्त भाग मे आती हैं। इन तीनो भागो का अनुपात घटनाओं की दृष्टि से समान है यद्यपि वणन विस्तार आदि के कारण आदि भाग म ८ सर्ग, मध्यभाग म ३ सर्ग और अन्त भाग म ४ सर्ग हैं। तीनो भागो की घटनाये कार्यकारण शृखला के रूप मे एक दूसरे से इस तरह सम्बद्ध हैं कि कथानक की धारा कही टूटी हुई या अस्वाभाविक रूप से जुडी हुइ नहीं प्रतीत होती। प्रत्येक घटना कथा को आगे बढाने और उसे अन्तिम परिणाम तक पहुँचाने म किसी न किसी सीमा तक प्रत्यक्ष रूप म योग देती है। उदाहरण क लिए लज्जा सर्ग म श्रद्धा क मन क भीतर उठने वाले विवक ओर भावुकता के सघष का चित्रण किया गया है ओर अन्त म लज्जा श्रद्धा को जो उपदेश देती है उसे ही दृढता पूवक पकड कर श्रद्धा अपने चरित्र को इतना ऊँचा उठा लेती है कि मनु तथा अन्य लोगो को भी आनन्द लोक म पहुँचाने मे समथ होती है। यही बात अन्य घटनाओ ओर वर्णनो के बारे म भी समझना चाहिये। निष्कर्ष यह है कि कामायनी मे कार्यान्विति समुचित रूप मे वर्तमान है। साकेतिक पद्धति और नवीन मनोवैज्ञानिक कथा शिल्प के प्रयोग तथा अवान्तर कथाओं ओर अनावश्यक वणन विस्तार के त्याग के कारण उसका कथानक बहुत ही चुस्त, शृखलित और सुसघटित है।

आधुनिक कहानी मे बेहोशी और स्वप्न के माध्यम से भी कुछ बातें

कही जाती हैं। कामायनी के कुछ सर्गों मे यह कोशल अपनाया गया है। मनोवैज्ञानिक तथ्यो के उद्घाटन की दृष्टि प्रधान होने से कही कही कुछ मानसिक वृत्तियो को मानवीकृत करने की भी आवश्यकता पडी है। काम सर्ग मे स्वप्न मे मनु के उपचेतन मे अन्त सलिला की धारा सा गुप्त काम ऊपर आ जाता और मनु से सलाप करता है। यहाँ स्वप्नविज्ञान का इच्छा-पूर्ति का सिद्धान्त लागू होता है।[१] स्वप्न द्वारा कथा कहने की पद्धति अस्वाभाविक और अवैज्ञानिक न प्रतीत हो, अत प्रसाद ने फ्रायड के अवचेतन-मन के सिद्धान्त का भी उल्लेख कर दिया है —

जागरण लोक था भूल चला स्वप्नो का सुख सचार हुआ।

× × ×

था व्यक्ति सोचता आलस मे चेतना सजग रहती दुहरी।
कानों के कान खोल करके सुनती थी कोई ध्वनि गहरी।

—काम सर्ग

स्वप्न द्वारा कथा कहने की यही पद्धति स्वप्न सर्ग मे भी अपनायी गयी है। वहाँ श्रद्धा स्वप्न म सारस्वत नगर और वहाँ होने वाली घटनाओं को देखती है। इसका रहस्य भी कवि ने स्वप्न विज्ञान के आधार पर स्पष्ट कर दिया है —

मधुर चाँदनी सी तन्द्रा जब फैली मूर्छित मानस पर।
तब अभिन्न प्रेमास्पद उसमे अपना चित्र बना जाता।
कामायनी सकल अपना सुख स्वप्न बना सा देख रही।

× × ×

श्रद्धा काँप उठी सपने मे सहसा उसकी आँख खुली।

—स्वप्न सर्ग

× × ×

श्रद्धा का था स्वप्न किन्तु वह सत्य बना था।

—सघर्ष सग

स्वप्न विज्ञान के अनुसार कभी कभी स्वप्न में सुदूरवर्ती सत्य घटनाये चाक्षुष प्रत्यक्ष हो जाया करती हैं जैसे किसी मनुष्य ने स्वप्न में यह देखा कि दूर देश में एक कारखाने में काम करने वाला उसका भाइ मशीन से कट कर मर गया है। जागने क थाडी देर बाद उस तार मिला

१, डा० सम्पूर्णानन्द—'स्वप्न दर्शन' की भूमिका—ले० राजाराम शास्त्री, भूमिका लेखक डा० सम्पूर्णानन्द, काशी स० २००४। पृ० ५।

कि सचमुच उसका भाई कट कर मर गया। स्वप्न विज्ञान वेत्ता इस रहस्य का समाधान यह उपस्थित करते हैं कि विचार प्रेषण और दिव्य-दृष्टि की प्रक्रिया से किसी व्यक्ति के मन के विचार और उससे सम्बधित घटनाये उसके किसी दूरस्थ प्रिय व्यक्ति को, तीव्र हार्दिक सम्बन्ध होने से, स्वप्न मे दिखलाई पडने लगती हैं।[1] अत कामायनी मे काम और स्वप्न सर्ग मे कथा को आगे बढाने के लिए स्वप्नगत दिव्यदृष्टि का सहारा लेने का कौशल अस्वाभाविक और अवैज्ञानिक नहीं, मनोविज्ञान सम्मत है। मनोविज्ञान मे विकल्प (Hallucination) भी एक मान्य सिद्धा त है। उसके अनुसार अपने मन की भावना के अनुरूप मूर्त रूप दिखाई पडते हैं। भूत प्रेत, देवी-देवता आदि का प्रत्यक्ष दर्शन इसी प्रकार का विकल्प है जो सत्य नहीं, प्रतीति मात्र होता है। कामायनी मे इस सिद्धान्त का भी सहारा लिया गया है। लज्जा सर्ग मे लज्जा का मानवीकरण किया गया है। लज्जा नारी रूप में उपस्थित होकर श्रद्धा को समझाती है पर सचमुच श्रद्धा के सामने कोई नारी नहीं आयी थी। वह तो वस्तुत श्रद्धा के मन की ही निर्मिति—एक छायाकृति—थी —

सध्या की लाली मे हँसती उसका ही आश्रय लेती सी।
छाया प्रतिमा गुनगुना उठी श्रद्धा का उत्तर देती सी।

—लज्जा सर्ग

कामायनी के दर्शन सर्ग मे नटेश का ताण्डव नृत्य, रहस्य सर्ग मे त्रिपुर-दाह और 'महाकाल का विषम नृत्य' तथा आनन्द सर्ग मे मासल प्रकृति का लास्य नृत्य और पुरातन पुरुष का स्पन्दन मनु, श्रद्धा तथा अन्य लोगों ने देखा। इस प्रकार के अलौकिक दृश्य सबको और सब समय नही दिखाई पडते। इस प्रकार का दर्शन भी स्वयप्रकाश ज्ञान और सत्याभास का ही परिणाम है। अत कामायनी में ऐसे अलौकिक दृश्यो की योजना मनोविज्ञान और योगशास्त्र के सिद्धान्तो के आधार पर हुई है। ऐसे दृश्यों और घटनाओं से कामायनी के कथानक मे रहस्यात्मकता और रोमाचकता उत्पन्न हुई है जिससे पाठकों की जिज्ञासा वृत्ति और आश्चर्य भावना की तृप्ति होती है। महाकाव्य में इस प्रकार

१—प्रो० राजाराम शास्त्री—

"दिव्य दृष्टि का अर्थ यह है कि एक व्यक्ति के विचार नहीं बल्कि उस व्यक्ति से सबध रखनेवाली किसी घटना का ज्ञान दूसरे दूरस्थित व्यक्ति को बिना सूचना के आप ही आप हो जाय।" स्वप्न दर्शन—पृष्ठ १४२।

के कथा शिल्प का प्रयोग हिन्दी साहित्य को प्रसाद की बहुत बड़ी और बिलकुल नयी देन है।

भारतीय और पाश्चात्य साहित्यशास्त्रों में कथा में जो पाँच कार्यावस्थायें मानी गयी हैं उनमें से चार कामायनी में वर्तमान हैं। उसकी प्रकृत कथा का प्रारम्भ तीसरे सर्ग में मनु श्रद्धा के मिलन से होता है, पर पूर्व कथा को भी यदि प्रमुख कथा का ही अंग माना जाय तो उसकी प्रारम्भावस्था प्रथम सर्ग के प्रथम छन्द से लेकर तृतीय सर्ग के अन्त तक व्याप्त है। इसमें प्रलय के बाद की मनु की अवसन्नावस्था धीरे धीरे दूर होती, उनके मनमें चिर तन सत्य और आनन्द की खोज की जिज्ञासा उत्पन्न होती है और अन्त में श्रद्धा उन्हें नवीन सृष्टि प्रारम्भ करने की प्रेरणा देती है —

बनो संसृति के मूल रहस्य तुम्हीं से फैलेगी यह बेल।
× × ×
समन्वय उसका करे समस्त विजयिनी मानवता हो जाय।
—श्रद्धा सर्ग

काम सर्ग से लेकर इडा सर्ग के युद्ध वर्णन तक की घटनायें प्रयत्नावस्था के अन्तर्गत आती हैं क्योंकि इस अवस्था में मनु चिरन्तन सत्य और परम सत्य को खोजने के लिए विविध प्रकार के प्रयोग और प्रयत्न करते हैं। काम यज्ञ, शारीरिक भोग विलास, पशु यज्ञ और स्वार्थपूर्ण एकाधिकार और बुद्धि के योग से भौतिक विकास, नियन्त्रित शासन और अन्त में स्वेच्छाचारी शासन में वे बारी बारी से स्थायी आनन्द और मानव जाति के चरम लक्ष्य की खोज करने का प्रयत्न करते हैं। यह ध्यान देने की बात है कि प्रयत्न का यह स्वरूप पूर्णतः भारतीय ढंग का नहीं है क्योंकि श्रद्धा सर्ग से पूर्व मनु में जो कर्मशीलता और ज्ञान समन्वित भावुकता दिखलाई पड़ती है वह आरम्भ को आगे बढ़ाने वाली और 'फल' के अनुरूप तो है पर मनु का मन उस दिशा में आकर्षित होता नहीं है। फलस्वरूप वे अन्य प्रयत्न करते और सभी में असफल होते हैं। उनके संघर्ष की अन्तिम परिणति संघर्ष सर्ग में दिखाई पड़ती है जहाँ वे चिर आनन्द की खोज करते करते क्षोभ, ग्लानि और पराजय के गहरे गर्त में गिर पड़ते और घायल होकर मुमूर्षु हो जाते हैं। यहाँ से प्राप्त्याशा की अवस्था होनी चाहिये पर इसमें वह बिलकुल है ही नहीं। निर्वेद सर्ग में मनु पश्चाताप, ग्लानि, उदासी और वेदना से घबरा कर सबको छोड़कर भाग जाते हैं। अतः यहाँ दुःख और निराशा की अधिकता होने और आशा की एक भी किरण नहीं दिखाई पड़ने

से प्राप्त्याशा नामक कार्यावस्था का कामायनी मे अभाव है। दर्शन सर्ग मे शिव का ताण्डव नृत्य देखकर मनु आतुर होकर उन चरणो की ओर जाना चाहते हैं। परमशिव का प्रथम दर्शन ही यह व्यक्त करता है कि चरम लक्ष्य—आनन्द—की प्राप्ति अब निश्चित है। अत दर्शन सर्ग मे नियताप्ति नामक कार्यावस्था अचानक आ जाती है जो रहस्य सर्ग के अन्त तक चलती है। आनन्द सर्ग मे मनु को अपने लक्ष्य की प्राप्ति हो जाती है अत उसमे फलागम नामक कार्यावस्था है। इस प्रकार भारतीय सुखान्त नाटको के लिए मान्य सभी कार्यावस्थायें कामायनी मे नहीं है।

पाश्चात्य ढग की कार्य की अवस्थाओ की दृष्टि से देखने पर पता चलता है कि उनम से भी सब की सब कामायनी मे नहीं हैं। उसका प्रारम्भ भयकर ध्वस और तज्जन्य घनीभूत वेदना और चिन्ता से हुआ है। मनु के मन मे आशा और निराशा का यह सघर्ष बीज रूप मे आशा सर्ग तक चलता है। अत यहाँ तक पाश्चात्य ढग की प्रारम्भ नामक कार्यावस्था है। उसके बाद मनु के मन का सघर्ष बढता ही जाता है और वे आशा निराशा, सवेदना और आस्था, काम और कर्म तथा बुद्धि और भावना के विरोधी तत्त्वो मे से कभी एक को अपनाते हैं कभी दूसरे को और अन्त मे नियति उन्हे श्रद्धा से दूर हटा कर इडा के पास पहुँचा देती है। अत ईर्ष्या सर्ग के अन्त तक पाश्चात्य ढग की विकास की अवस्था है जिसमे मनु का आन्तरिक विरोध बढता ही जाता है। इडा सर्ग मे विरोध और वैषम्य की चरम सीमा दिखाई पडती है क्योकि वहाँ मनु पूर्णतया स्थूल बुद्धि से अभिभूत हो उठते और श्रद्धा को बिलकुल भूल जाते हैं। काम के शाप से यह स्पष्ट हो जाता है कि मनु जिस लक्ष्य—मानवता का चरम आनन्द तक जाना चाहते हैं वह उनके लिए बहुत दूर हो गया है। अत यहाँ तक पाश्चात्य ढग की चरमावस्था (Climax) है। स्वप्न और सघर्ष सर्गो मे मनु पतन के गर्त की ओर तीव्र गति से गिरते हुए दिखाई पडते हैं। अतृप्त वासना, बौद्धिकता का अतिरेक, वर्ग विभाजन, सुरा पान, इडा को प्राप्त करने की तीव्र अभिलाषा, उस पर बलात्कार, प्रजा विद्रोह, देवगण का कोप, भयकर युद्ध आदि घटनाओ की स्वाभाविक परिणति मनु की पराजय और मुमूर्ष अवस्था मे होती है। यह पाश्चात्य ढग की चतुर्थ कार्यावस्था निगति (Denoument) है जो निर्वेद सर्ग के अन्त तक चलती है। इसके बाद सभी आशा समाप्त हो जाती है और पाठक भयकर 'अवसान' की प्रतीक्षा करने लगता है। तभी दर्शन सर्ग मे परिस्थिति एकाएक बदल जाती है, यहाँ से आन्तरिक और बाह्य सभी प्रकार के विरोध शान्त होने

लगते हैं, श्रद्धा अपनी शक्ति से इडा और मनु दोनों को उचित मार्ग पर अग्रसर करती है और कथा का अ त चरम आनन्द म होता है। अत पाश्चात्य ढंग की 'अवसान' की अवस्था इसमे नहीं है ।

भारतीय और पाश्चात्य ढंग की कार्यावस्थाओ की दृष्टि से कामायनी के कथानक का विश्लेषण करने के बाद हम इस निष्कष पर पहुँचते हैं कि उसमे पाश्चात्य ढंग के दु खान्त कथानकों के तत्त्व अधिक मात्रा मे है। वस्तुत उसमें प्रारम्भ से लेकर निर्वेद सर्ग तक पाश्चात्य ढग की चार कायावस्थाओ का जितना सफल निवाह हुआ है उतना भारतीय ढग की कायावस्थाओ का नहीं। उसी तरह अन्तिम तीन सर्गों मे भारतीय ढंग की नियताप्ति और फलागम नामक कायावस्थाये ही मिलती हैं, पाश्चात्य ढग की पाँचवी कायावस्था 'अवसान' उसम है ही नहीं। यदि भारतीय नाट्यशास्त्रीय अर्थप्रकृतियों की दृष्टि से देखा जाय तो यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है कि प्रारम्भ से निर्वेद सर्ग तक की कथा भारतीय सुखान्त नाटकों के कथानक जैसी नहीं है। पाँच अर्थ प्रकृतियो म कार्य नामक अन्तिम अथ प्रकृति तो उसम बहुत ही स्पष्ट है जिसके बारे में पहले विस्तार से विचार किया जा चुका है। बीज, बिन्दु, पताका और प्रकरी नामक अथप्रकृतियाँ कथा को 'कार्य' तक पहुँचाने वाला होता हैं। कामायनी म प्रारम्भ के दो सर्गों–चिन्ता और आशा–मे कार्य के बीज का पता नहीं चलता। तीसरे सग म श्रद्धा से मिलने के बाद बीज दिखलाई पडता है जो काम, वासना और लज्जा सर्ग म अकुरित और विकसित होता है अत वहाँ तक बिन्दु नामक अथप्रकृति है। फिर कर्म सर्ग म किलात, आकुलि के पौरोहित्य द्वारा मनु को पशु यज्ञ की कथा और इडा, स्वप्न और सघष सर्ग मे इडा मनु की कथा प्रासगिक रूप म आती है, पर उनके काय की सिद्धि म सहायता मिलने की जगह बाधा ही उपस्थित होती है। अत उन्हें विशुद्ध रूप मे पताका नहीं माना जा सकता। प्रकरी के रूप म तो उसम कोइ कथा है ही नहीं। निष्कष यह कि कामायनी के कथानक मे भारतीय और पाश्चात्य कथानक शिल्प का समन्वय हुआ है। यद्यपि उसका प्रारम्भिक तीन चौथाई भाग दु खान्त कथा के ढग का है पर अन्त मे उसे आनन्द में पर्यवसित करके सुखान्त कथा के भारतीय आदर्श का निवाह भी किया गया है। इस सम्बन्ध में श्री नन्ददुलारे वाजपेयी का यह कथन सर्वथा उचित है कि "कामायनी काव्य यद्यपि दु खान्त सृष्टि के अनुकूल वस्तुविन्यास धारण किये है और इस दृष्टि से कामायनी की वस्तु मे पश्चिमी दु खान्त रचनाओं की अनुरूपता पाई जाती है, परन्तु कवि की भारतीयता यहाँ अपना अनोखा चमत्कार दिखाती है।

स्वर्गस्था शकुन्तला और उसके पुत्र भरत की भाँति कामायनी और उसका पुत्र मानव नये और अप्रत्याशित जीवन दृश्य की झाँकी दिखाते हैं। दुष्यन्त की भाँति मनु को भी स्वर्गीय शान्ति और समाधान प्राप्त होता है।"

आलकारिको ने महाकाव्य मे नाटक की पाँच सधियो का होना भी आवश्यक माना है। कामायनी में उन संधियों की योजना इस प्रकार हुई है —

१—**मुख सन्धि**—आशा सर्ग म 'जलने लगा निरन्तर उनका अग्निहोत्र सागर के तीर' से लेकर श्रद्धा सर्ग के अन्त तक मुख सन्धि है क्योंकि यहीं प्रारम्भ और बीज का मेल होता है और कथा का लक्ष्य क्या है, इसका आभास मिल जाता है।

२—**प्रतिमुख सन्धि**—काम सर्ग से कर्म सर्ग तक की घटनाये प्रतिमुख सन्धि के अन्तर्गत आती हैं क्योकि फल के बीज का यहाँ कुछ लक्ष्य और कुछ अलक्ष्यरूप मे विकास हुआ है। मनु और श्रद्धा का आकर्षण, उल्लास और प्रणय सम्बन्ध उस विकास के लक्ष्य रूप और पशुबलि, श्रद्धा का रूठना, मनु का सोमपान, दोनो का मतभेद आदि उसके अलक्ष्य रूप को व्यक्त करते हैं।

३—**गर्भ सन्धि**—ईर्ष्या सर्ग के प्रारम्भ से लेकर इडा सर्ग के अन्त तक गर्भ सन्धि दिखाई पडती है क्योंकि पूर्व सन्धियो मे मनु ने फल प्राप्ति के जो उपाय किये उनका यहाँ मनु की महत्वाकाक्षा, सुख की खोज की तीव्र जिज्ञासा तथा अन्य प्रयत्नों के रूप मे विकास हुआ है पर उनकी ईर्ष्या, पलायन, चिन्ता, इडा के प्रति तीव्र आकर्षण और काम के शाप आदि मे उनका ह्रास भी हुआ है।

४—**विमर्श सन्धि**—स्वप्न, सघर्ष और निर्वेद सर्ग की घटनाये इस सन्धि के अन्तर्गत आती हैं यद्यपि इस सन्धि की योजना कामायनी मे सम्यक रूप मे नहीं हुई है। कारण यह है कि इन सर्गों मे मनु लक्ष्य भ्रष्ट होकर विपरीत मार्ग पर चलने लगते हैं और अन्त में युद्ध मे घायल होकर गिर पडते हैं जिससे पूर्व सन्धि के फलप्रधान उपाय का विकास नहीं होता। किन्तु फल प्राप्ति के बीच का अन्तराय इतना बढ जाता है कि फल का बीज ही लुप्तप्राय हो जाता है। निर्वेद सर्ग मे श्रद्धा और मानव पहुँचकर मनु की सेवा और प्राण रक्षा करते हैं जिससे फिर फल सिद्धि की आशा संचरित होती है। अत इस सन्धि की योजना पूर्ण नहीं मानी जा सकती। प्राप्त्या और प्रकरी के अभाव के कारण ही ऐसा हुआ है।

५—**निर्वहण सन्धि**—प्रथम बार शिव ताण्डव का दर्शन, मनु श्रद्धा की कैलास यात्रा, त्रिपुर-दाह, और इडा मानव आदि की कैलास यात्रा आदि घटनायें इस सन्धि के अन्तर्गत आती हैं। इस सन्धि की अवस्था में सभी प्रकार के

आन्तरिक और बाह्य विरोध शान्त हो जाते हैं, सभी पात्र एक लक्ष्य पर पहुँच जाते हैं और पूर्व सन्धियों में बिखरे हुए प्रयोजनों का अन्त में प्रधान प्रयोजन 'चिदानन्द लाभ' में समाहार हो जाता है।

अस्तु, सन्धि योजना की दृष्टि से कामायनी का कथानक पूर्ण शृङ्खलित सुसंघटित और जीवन्त है।

५—महच्चरित्र

'कामायनी' चरित्र प्रधान और काल्पनिक आदर्शवाद पर आधारित महाकाव्य नहीं है और न व्यक्तिवादी तथा विचित्र चरित्रों की सृष्टि करके केवल कुतूहल उत्पन्न करना उसका लक्ष्य है। प्रसाद जी अतिवादी नहीं थे। आदर्शवाद तथा यथार्थवाद और रसात्मकता तथा चरित्र वैचित्र्य के समन्वय द्वारा, आधुनिक युग की आवश्यकताओं और प्रवृत्तियों के अनुरूप, नवीन ढंग की साहित्य सृष्टि में उनका विश्वास था। अपने नाटकों, उपन्यासों और कामायनी में उन्होंने इसी समन्वय के सिद्धान्त का सफल प्रयोग किया है। यद्यपि उनका अधिक झुकाव रसवाद की ओर ही था फिर भी वे चरित्र वैचित्र्य की अवहेलना अनुचित समझते थे। इस सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है, "कुछ लोग प्राचीन रस सिद्धान्त से अधिक महत्व देने लगे हैं चरित्र चित्रण पर। उससे भी अग्रसर हुआ है दूसरा दल जो मनुष्यों के विभिन्न मानसिक आकारों के प्रति कुतूहल पूर्ण है, अथच व्यक्तिगत चरित्र वैचित्र्य पर विश्वास रखने वाला है। ये लोग अपनी समझी हुई कुछ विचित्रता मात्र को स्वाभाविक चित्रण कहते हैं, क्योंकि पहला चरित्र चित्रण तो आदर्शवाद से बहुत घनिष्ठ हो गया है, चारित्र्य का समर्थक है, किन्तु व्यक्ति वैचित्र्य वाले अपने को यथार्थवादियों में ही रखना चाहते हैं।"[1] इससे स्पष्ट है कि प्रसाद जी न तो आदर्शवादी चरित्र वैशिष्ट्य के समर्थक थे और न यथार्थवादी व्यक्तिवैचित्र्यवाद के। वे प्रबन्ध साहित्य में रस को प्रधान मानते थे और चरित्रचित्रण को गौण। अपना मत स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है कि "आत्मा की अनुभूति व्यक्ति और उसके चरित्र वैचित्र्य को लेकर ही अपनी सृष्टि करती है। भारतीय दृष्टिकोण रस के लिए इन चरित्र और व्यक्ति वैचित्र्यों को रस का साधन मानता रहा, साध्य नहीं। रस में चमत्कार ले आने के

१—जयशंकर प्रसाद—काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध—पृ०—८४ तृतीय संस्करण।

लए इसको बीच का माध्यम ही मानता आया।"[1] अस्तु, कामायनी मे उन्होने रस को साध्य और चरित्र चित्रण को साधन रूप म रखा है और चरित्रो को न तो उस प्रकार का आदर्श रूप दिया है जैसा अलकारशास्त्रों म मान्य है और न वैसा व्यक्ति वैचित्र्ययुक्त बनाया है जैसा आधुनिक समस्या नाटको मे पाये जाते हैं। इसके विपरीत उन्होंने आदर्शवाद और यथार्थवाद के अतिवादी स्वरूपो का त्याग कर दोनो के समन्वय का प्रयत्न किया है। अपने इस समन्वय सिद्धान्त को स्पष्ट करते हुए उन्होने लिखा है कि "साहित्य, समाज की वास्तविक स्थिति क्या है, इसको दिखाते हुए भी उसमे आदर्शवाद का सामजस्य स्थिर करता है। दुःख दग्ध जगत और आनन्दपूर्ण स्वर्ग का एकीकरण साहित्य है।"[2] इसी समन्वय सिद्धान्त के आधार पर उन्होने कामायनी म चरित्रों का अवतारण की है।

भारतीय आलकारिकों ने महाकाव्य मे नायक के चरित्र का धीरोदात्त-गुण समन्वित होना आवश्यक माना है जिसका तात्पर्य यह है कि उसे उन नैतिक सामाजिक और धार्मिक आस्था का प्रतीक होना चाहिये जिन्हें तत्कालीन सामन्ती समाज मे मान्यता प्राप्त थी। आदर्श चरित्रों की मध्ययुगीन कल्पना यह थी कि व्यक्ति प्रारम्भ से अन्त तक आदर्शो का निर्वाह करे, कभी कोई गलती न करे, उन आदर्शो से च्युत न हो और वैयक्तिक विशेषताओं का उसके चरित्र म कोई स्थान न हो। ऐसे चरित्र यथार्थ जीवन मे नहीं होते क्योंकि मनुष्य होकर गलतियाँ कौन नहीं करता? अचिन्त्य परिस्थितियो मे पड़कर विपरीत आचरण कर बैठना, मानसिक संघर्ष, सकल्प विकल्प आदि मनुष्य के स्वाभाविक धर्म हैं। जो ऐसा नहीं करता वह या तो मनुष्य से ऊपर उठा हुआ –देवता–है या कठपुतली की तरह आचरण करने वाला निर्जीव व्यक्ति है। ऐसे व्यक्ति यथार्थ जीवन में न मिलकर साहित्य जगत मे ही मिलते हैं और उनके जीवन मे उतार चढाव या विकास क्रम नहीं दिखाई पडता। आधुनिक युग मे चरित्रो की मान्यता मे परिवर्तन हो गया है। आज तो यह माना जाता है कि चरित्रो को मनुष्य पहले होना चाहिये और आदर्श या यथार्थ बाद मे। उसी तरह आज आदर्शवाद का अर्थ मानवतावादी आदर्शवाद हो गया है जिसमे कोई व्यक्ति मानव सहज दुर्बलताओ से सघर्ष करता हुआ, बार बार पापपक में फँसकर उससे निकलता हुआ, मानव पूर्णता की ओर अग्रसर होता और लक्ष्य प्राप्त करता है। उस लक्ष्य पर पहुँच कर उसके वैयक्तिक सुख-दुख लोक क

१—वही पृ० ८५।
२—वही पृ० १२३।

सुख दु ख म लीन हो जाते है। अत महान या आदर्श व्यक्ति आज वही है जिसका चरित्र स्थिर नहीं, गतिशाल आर विकासोन्मुख है और जो अपने को अधिक से अधिक नि स्व करके लोकहित के लिए आत्मार्पण कर देता है। इस तरह मानवतावादी आदर्शवाद म यथाथ आर आदर्श का अत्यन्त सुन्दर सम वय है। कामायनी के चरित्रो का सृष्टि इसी मानवतावादी आदर्शवाद की प्रेरणा से हुइ है। उसम काइ भी चरित्र ऐसा नही है जिसका व्यक्तित्व आदर्शों के बोझ से दबकर पगु हो गया हो या जिसका मानव सुलभ-सहज विकासोन्मुख और गतिशील जीवन न हो। इसका अथ यह भी नहीं है कि कामायनी के चरित्र ऐसे यथार्थ की अभिव्यक्ति करत हैं जिसम विकास की जगह ह्रास, गतिशीलता की जगह पतन आर सामाजिकता की जगह व्यक्तिवाद की प्रमुखता हाती है। साराश यह कि कामायनी म मनुष्य को न तो देवता बनाने का प्रयत्न किया गया है और न उसे भयकर राक्षस, निरे पशु या नियतिचालित प्राणी के रूप मे ही उपस्थित किया गया है। इसके विपरीत उसके सभी चरित्र नीचे से ऊपर उठते हुए, मनोमय कोश से आनन्दमय कोश की ओर अग्रसर होते हुए और अन्त मे पूणता की प्राप्त करते हुए दिखाये गये हैं।

किन्तु कामायनी मे चरित्रों का लक्ष्य-बिन्दु एक होने पर भी सब मे एक रूपता नही है। यों भी उसमे पात्रों की भीड़ नहीं है। उसमे कुल ये पात्र हैं, मनु, श्रद्धा, इडा, मानव, किलात और आकुलि। उसमे किलात' आकुलि को खल चरित्र के रूप मे रखा गया है पर उनकी कथा इतनी अल्प है कि खल नायक क्या, सामान्य पात्र के रूप भी वे महत्वहीन हैं। उसी तरह मानव या कुमार का उल्लेख तो कइ बार हुआ है पर उसके चरित्र पर कुछ भी प्रकाश नही डाला गया है। इस तरह कहने को तो कामायनी मे कुल छ पात्र हैं पर प्रमुखता कवल तीन पात्रों मनु-श्रद्धा और इडा, की ही है। ये छहो पात्र अपना अलग अलग व्यक्तित्व और स्वभाव लिये हुए अपनी भूमिका पूरी करते हैं। अत घटना प्रधान या चरित्र प्रधान महाकाव्यों की तरह चरित्र बाहुल्य न होते हुए भी कामायनो मे चरित्रगत वैविध्य दिखाइ पडता है। यदि तीन प्रमुख पात्रों को ही लिया जाय तो उनके चरित्र में एक दूसरे से बहुत अधिक भिन्नता दिखाइ पडती है। इडा और श्रद्धा का चरित्र परस्पर विरोधी तत्त्वों से निर्मित हुआ है। वे दोनों भिन्न भिन्न दिशाओं में चलने वाली हैं और उनके चरित्र में काफी दूर तक एकागिता वर्तमान रहती है पर मनु के चरित्र में लचीलापन और अत्यधिक परिवर्तनशीलता है, वे बहुत जल्दी जल्दी अपना मार्ग बदलते हैं।

महाकाव्य के चरित्रों के सम्बन्ध मे एबरक्रोम्बी का मत है कि महाकाव्य मे एक या एकाधिक चरित्र ऐसे अवश्य होने चाहिये जिनमे किसी युग की समस्त अच्छाइया और असफलताये केन्द्राभूत हो, महदुद्देश्य से अनुप्राणित और गौरवान्वित कोई भी महाकाव्य उन उद्देश्यो को वहन करने योग्य महान चरित्रों के बिना नहीं निमित हो सकता[1]। इस दृष्टि से कामायनी के तीनो चरित्र मनु, श्रद्धा और इडा ऐसे हैं जो आधुनिक युग के समस्त जीवन मूल्यो, सफल्ताओं और असफलताओ का प्रतिनिधित्व करते हैं। निस्सन्देह ये तीनों ही अपने अपने ढग के महान चरित्र हैं। इनमे से सबसे अधिक व्यापक, सघर्षमय और यथार्थ सम्पृक्त चरित्र मनु का है जो अपनी तमाम कमजोरियो और अभावो के होते हुए भी अन्त मे लक्ष्य—प्राप्ति करते हैं। अत वे ही कामायनी के नायक हैं। जिस तरह अनादि काल से आधिभौतिक और आधिदैविक प्रलय तूफान और आपत्ति विपत्ति से सघर्ष करता हुआ मानव आज तक जीवन पथ पर बढता आया और उसने अपनी जीवनास्था कभी नहीं छोडी और इस अनन्त जीवन पथ मे निरन्तर उन्नति के पथ पर बढता हुआ आज वह सफलता के शिखर पर पहुँच चुका है, उसी तरह मनु भी आन्तरिक और बाह्य सघषो का दुर्गम पथ पार करते हुए, उठ कर गिरते और गिरकर उटते और फिर आगे बढते हुए 'आनन्द शिखर' पर पहुँचते हैं। वे जल प्रलय के बाद नवीन मानव समाज की रचना करन वाले अथवा नवीन मानव सभ्यता का प्रवर्तन करने वाले प्रजापति हैं। इनकी शक्ति, साहस और पौरुष की सीमा नहीं है। इसीलिए श्रद्धा और इडा दोनो उन्हीं का अवलम्बन लेकर अपना उद्देश्य सिद्ध करना चाहती हैं। इडा की प्रेरणा और सहयोग से वे सारस्वत प्रदेश का पुनर्निर्माण और उसकी भौतिक उन्नति करके वैज्ञानिकता और वर्ग विभाजन के आधार पर नवीन समाज व्यवस्था का प्रवर्तन करते हैं और श्रद्धा की प्रेरणा और सहयाग से आध्यात्मिक उन्नति का पथ प्रशस्त करते हैं। अत कामायनी में सबसे महत्वपूर्ण चरित्र मनु का ही है। यद्यपि वे महाकाव्य के शास्त्रीय लक्षणों के अनुरूप धीरोदात्त गुणो से युक्त नहीं है, अधैर्य उनकी एक प्रधान प्रवृत्ति है और हिसा, स्वार्थ, पलायन और कभी कभी पस्तहिम्मती की प्रवृत्तियाँ भी उन पर अधिकार जमाती हैं पर अन्त में वे जिस समरसता की स्थिति में पहुँच जाते हैं, वह पाप पुण्य, अच्छा बुरा, सुख दुख, सत्प्रवृत्ति और असत्प्रवृत्ति सब से ऊपर उठी हुई स्थिति है। इस तरह बाह्य सघर्ष और प्रजा के साथ होने वाले भयंकर युद्ध में अतुलनीय पराक्रम दिखाने के बाद यद्यपि

१—एबरक्रोम्बी—दी एपिक—पृ० ५०

वे पराजित हो जाते हैं पर आ तरिक सघर्ष मे उनकी पूर्ण विजय होती है।

केवल आदर्श चरित्र ही महान होते हैं, यह मान्यता आज अस्वीकृत हो चुकी है। प्रसाद जी के ही श दो मे 'आरम्भ म जिस आ ार पर साहित्यिक न्याय की स्थापना होती है—जिसम राम की तरह आचरण करने के लिए कहा जाता है, रावण की तरह नहा—उसम रावण की पराजय निश्चित है। साहित्य मे ऐसे प्रतिद्वन्द्वी पात्र का पतन आदशवाद क स्तम्भ मे किया जाता है। किन्तु यथार्थवादियो के यहाँ कदाचित यह भी माना जाता हे कि मनुष्य मे दुर्बलताये होती ही है, ओर वास्तविक चित्रो म पतन का भी उल्लेख आवश्यक है। तथ्यवादी पतन ओर स्खलन का भी मूल्य जानता है। ओर वह मूल्य है, स्त्री नारी है, पुरुष नर है, इनका परस्पर केवल यही सम्बन्ध है। यथार्थवाद क्षुद्रो का ही नही अपितु महानो का भी है।"[1] वस्तुत मनोवैज्ञानिक तत्वान्वेषण के आ ार पर यह बात सिद्ध हो चुकी है कि दुर्बलताओ, कुप्रवृत्तियो ओर असफलताओ के गर्भ म ही महानता, सत्प्रवृत्ति ओर सफलता के बीज छिपे रहते हैं। अत राम जेसे व्यक्ति का सदा आदर्श बने रहना ओर विजयी होना ओर रावण जेसे व्यक्ति का सदैव पतित बने रहना ओर पराजित होते रहना स्वत सिद्ध ओर अनिवार्य नही है क्योकि इस बात की सम्भावना सदा बनी रहती है कि राम रावण बन सकता है ओर रावण राम बन सकता है। राम चरितमानस मे मन्दोदरी, विभीषण आदि बार बार रावण को समझाते हैं पर वह पर अ त तक नहीं आता क्योकि उसके मन के भीतर असत् ओर सत् का सन्मार्ग सघर्ष विद्यमान नहीं है। कारण यह ह कि उस यथार्थ मानव क रूप मे चित्रित ही नही किया गया है। कामायनी म मनु भी इडा सर्ग तक जिस मार्ग पर चलते हैं वह रावण क माग स अधिक भिन्न नहा है। उन्हें भी श्रद्धा ओर काम काफी समझाते है पर उन पर उसका कोई प्रभाव नहीं पडता। फिर मनु यथार्थ मानव है, उनके मन म सत् ओर असत् अधिकार ओर कर्तव्य का सघर्ष होता है, वे एक ही साथ सशक्त ओर दुर्बल, बुद्धिवादी ओर भावुक दोनों हैं। अत उनके भीतर सुधरने ओर महान बनने की पूरी सम्भावना निहित है। पराजय ओर अपमान की चोट खाने ओर श्रद्धा के शीतल ओर हार्दिक स्नेहोपचार के बाद वे पश्चाताप ओर ग्लानि से व्याकुल हो उठते हैं ओर श्रद्धा की सहायता से उन्हें सही रास्ता मिल जाता है। उस मार्ग पर चल कर अपनी पिछली दुर्बलताओं, बलात्कार जेसे पाप कर्म, और बुद्धिवाद की प्रवचना से

मुक्त होकर सफलता के सर्वोच्च शिखर पर पहुँचते हैं। आधुनिक युग के महानतम पुरुषों—टालस्टाय, रूसो, महात्मा गान्धी आदि—के जीवन मे हमें विकास का यही क्रम दिखाई पडता है। अत मनु शास्त्रीय लक्षणो के अनुसार भले ही धीरोदात्त, आदर्श और महान नायक न हो पर आधुनिक युग की मान्यताओं और प्रसाद जी के सिद्धान्त के अनुसार वे अवश्य महाकाव्योचित महान चरित्र हैं।

कामायनी की नायिका श्रद्धा है और महानता की दृष्टि से कामायनी के पात्रो मे उसका चरित्र सबसे ऊँचा है। मनु की महानता यदि यथार्थ जीवन के भीतर से विकसित हुइ है तो श्रद्धा के चरित्र की महानता उसके आदर्शात्मक विशेषताओं पर आधारित है। यद्यपि विकास क्रम उसके चरित्र मे भी दिखाई पडता है फिर भी प्रसाद ने मानो उसके साथ पक्षपात करते हुए उसे नारी के समस्त गुणो का प्रतीक बना दिया है। नारी क स्वाभाविक गुण उसकी सरलता, निष्कपटता, अगाध विश्वास, सेवा, दया, ममत्व, क्षमा, पातिव्रत्य, सौकुमार्य, भावुकता आदि हैं। श्रद्धा मे ये प्रारम्भ से ही वर्तमान हैं। प्रथम दर्शन मे ही मनु उसके सौन्दर्यमय व्यक्तित्व से अभिभूत हो उठते हैं। प्रलय की सर्वग्रासी ध्वसलीला के उपरान्त दो एकाकी व्यक्ति सहसा मिल जाते हैं और वह हृदय की सहज प्रेरणा से अथवा भयकर परिस्थिति के दबाव से अयाचित रूप से मनु को अपनी सेवाये और अपना जीवन अर्पित कर देती है। इस समर्पण मे उसका एक महान उद्देश्य भी छिपा है। वह एकाकी तप, अवसाद, पुरातनता, और रूढिवादिता का विरोध करती और प्रलय के ध्वस से निराश न होकर नवीन सृष्टि का प्रारम्भ करने की दृष्टि से बिना अधिक सोचे विचारे आत्मसमर्पण कर देती है, साथ ही मनु को निर्भयता, विजय, उल्लास और शक्ति का सन्देश देती है—

तप नही केवल जीवन सत्य, करुण यह क्षणिक दीन अवसाद।

× × ×

पुरातनता का यह निर्मोक सहन करती न प्रकृति पल एक।

× × ×

बनो ससृति के मूल रहस्य तुम्ही से फैलेगी यह बेल।

× × ×

डरो मत अरे अमृत सन्तान, अग्रसर है मंगल मय वृद्धि।

—श्रद्धा सर्ग

वस्तुत श्रद्धा काम वाला और मनु की बाल सहचरी है। मनु प्रारम्भ में उसे नहीं पहचानते पर वह पहचान लेती है और नूतन सृष्टि रचना के महदुद्देश्य से तप का विरोध करती हुई मनु को कर्मशील और आनन्दमय जीवन बिताने का उपदेश देती हुई आत्मसमर्पण करती है। अत उसका यह कार्य अस्वाभाविक नहीं है। किन्तु यहाँ वह जो गम्भीर दार्शनिक प्रवचन करती है उससे प्रारम्भ में ही स्पष्ट हो जाता है कि वह सामान्य नारी नहीं है। उसकी शिक्षा, संस्कार और मानसिक स्तर मनु से बहुत ऊँचा है। फिर भी वह सृष्टि विस्तार के लिए अकेले कुछ नहीं कर सकती। मनु यदि परमशिव के समान निश्चेष्ट और निष्क्रिय हैं तो श्रद्धा शिव की आदि शक्ति के समान उनमें सक्रियता और इच्छा उत्पन्न करनेवाली है। निष्कर्ष यह कि श्रद्धा प्रसादजी की आदर्श और प्रतीक चरित्र सृष्टि है।

किन्तु आदर्श चरित्र होने का यह अर्थ नहीं है कि श्रद्धा सीता सावित्री की तरह मानव दुर्बलताओं से रहित है या दुर्बल व्यक्ति को त्याज्य और घृणित समझती है। वह प्रारम्भ में ही दुर्बलताओं और पराजय को शक्ति और विजय की जननी बताते हुए मनु को प्रोत्साहित करती है जिससे उसके मानवतावादी आदर्शवाद पर प्रकाश पड़ता है —

विश्व की दुर्बलता बल बने, पराजय का बढ़ता व्यापार।
हँसाता रहे उसे सविलास शक्ति का क्रीड़ामय संसार।

—श्रद्धा सर्ग

उसमें यदि जीवन के प्रति पूर्ण विश्वास, भविष्य में आस्था और कल्याण मार्ग की दिव्य दृष्टि है तो शारीरिक दृष्टि से उसमें नारी सुलभ ऐन्द्रिक दुर्बलता भी है जिसे वह स्वयं कई बार स्वीकार करती है —

आह मैं दुर्बल, कहो क्या ले सकूँगी दान ?

—वासना सर्ग

× × ×

यह आज समझ तो पाई हूँ मैं दुर्बलता में नारी हूँ।
अवयव की सुन्दर कोमलता लेकर मैं सबसे हारी हूँ।
पर मन भी क्यों इतना ढीला अपने ही होता जाता है।

—लज्जा सर्ग

इसका कारण यह है कि विदुषी और लोकमंगल की भावना से अनुप्राणित होते हुए भी सबसे पहले वह नारी है। इस दुर्बल नारी का एक

दूसरा पक्ष भी है जो उसकी और उसकी ही नहीं, सारे विश्व की सबसे बडी शक्ति है—वह है उसका अडिग विश्वास और आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति। इसका ज्ञान श्रद्धा को सबसे पहले लज्जा के सलाप से प्राप्त होता है —

क्या कहती हो ठहरो नारी सकल्प अश्रु जल से अपने,
तुम दान कर चुकी पहले ही जीवन के सोने से सपने।
नारी तुम केवल श्रद्धा हो विश्वास रजत नग पगतल मे
पीयूष स्रोत सी बहा करो जीवन के सुन्दर समतल मे।

श्रद्धा की दुर्बलताओ का काल शीघ्र ही समाप्त हो जाता है, कर्म और ईर्ष्या सर्ग मे वह कुछ कडी पडती है और मनु के साथ उसका मतभेद भी होता है। पर लज्जा का दिया हुआ यह मत्र उसके बाद के समूचे जीवन का आदर्श वाक्य बन जाता है —

आँसू से भीगे अचल पर मन का सब कुछ रखना होगा,
तुमको अपनी स्मित रेखा से यह सन्धि पत्र लिखना होगा।

इसके बाद का उसका जीवन अश्रु और अवसाद से भरा है, पर वह हसते हँसते दुःखो को सहन करती और निर्मोही पति को स्वप्न मे विपत्ति ग्रस्त देख कर उसकी सहायता के लिए पुत्र को साथ लेकर चल पडती है। विरह की अवस्था उसकी तपस्या और साधना की अवस्था है जिसम से वह तप पूत बन कर निकलती है। तपस्या उसे नारी से माता बना देती है। नारी का सर्वश्रेष्ठ स्वरूप उसका मातृ रूप है जिसमे दया, ममता, त्याग, सेवा, और सदाचार आदि गुणो के विकसित होने का अधिक अवसर रहता है। प्रसाद जी यथार्थवाद स यहाँ तक सहमत हैं कि 'स्त्री नारी है और पुरुष नर' पर इससे आगे बढकर व यह मानने को तैयार नहीं हैं कि इनका परस्पर केवल यही सम्बन्ध हैं, वे नारीत्व को पूर्णता मातृत्व भावना में मानते हैं। यथार्थवाद क उपर्युक्त अतिवादी स्वरूप से अपना मतभेद प्रकट करत हुए उन्होने लिखा है, 'स्त्रियो के सम्बन्ध में नारीत्व का दृष्टि ही प्रमुख होकर मातृत्व म उत्पन्न हुए सब सम्बन्धो का तुच्छ कर देती है। वर्तमान युग की ऐसी प्रवृत्ति है। जब मानसिक विश्लेषण के इस नग्न रूप मे मनुष्यता पहुँच जाती है तब उन्हीं सामाजिक बन्धनो की बाधा घातक समझ पडती है।"[१] इसमे प्रसाद जी ने परोक्ष रूप से फ्रायड के इस सिद्धान्त का विरोध किया है कि सभी सम्बन्धों के मूल मे यौन प्रवृत्ति ही वर्तमान रहती है। इस प्रकार

प्रसाद जी ने अपने समन्वय सिद्धा त के अनुसार कामायनी म श्रद्धा के चरित्र द्वारायह प्रतिपादित किया है कि यद्यपि यान प्रवृत्ति अत्यन्त प्रबल है जो विदुषी और आदर्शवादी नारी को भी अभिभूत करके दुर्बल बना देती है पर मातृत्व शक्ति के उदित होने पर गोन प्रवृत्ति या काम को परिशुद्ध करके उसे करुणा और विश्व मैत्री के रूप मे बदल देना ही मानव संस्कृति की सबसे बडी विशेषता है। नारीत्व म मातृत्व की प्रतिष्ठा वेदना और तपस्या के बिना नहीं हो सकती। श्रद्धा दान और तपस्या द्वारा अपने भीतर उसी मातृ शक्ति का विकास करती है —

तुम देवि आह कितनी उदार
यह मातृमूर्ति है निर्विकार !
हे सर्वमगले तुम महती
सब का दुख अपने पर सहती !

—दर्शन सर्ग

इस तरह श्रद्धा अपने भीतर अपार स्नेह और अखण्ड विश्वास द्वारा ऐसी अलौकिक शक्ति उत्पन्न करती है कि बाद म मनु और इडा दोनों के चरित्रो मे आश्चर्यजनक परिवर्तन उपस्थित कर देती है। वह सहज रूप मे अपने पुत्र को इडा के हाथ मे सौप कर मनु को खोजने निकल पडती है, साथ ही अपने उपदेश और व्यक्तित्व के दिव्य प्रभाव से इडा की जीवन-धारा को भी मोडती जाती है। निर्वेद सर्ग के बाद मनु का चरित्र श्रद्धा द्वारा ही निमित होता है, वह उन्हे नटेश का ताण्डव नृत्य दिखाती, कैलास की ओर ले जाती, त्रिपुर दर्शन कराती और शा इच्छा क्रिया का समन्वय दिखा कर समरसानन्द की उपलब्धि कराती है। अन्त मे उसी की कृपा से इडा, मानव और सारस्वत नगर के वासियों को भी कैलास म पहुँच कर अखण्ड आनन्द और परम शान्ति की प्राप्ति होती है। इस प्रकार श्रद्धा मे प्रसाद जी ने अपने मानवतावादी आदर्शवाद की कल्पना को ही जैसे साकार कर दिया है। परिणामस्वरूप श्रद्धा 'कामायनी' का सर्वश्रेष्ठ और सबसे महत्वपूर्ण चरित्र तो है ही, समस्त भारतीय साहित्य में भी उसकी तुलना के चरित्र नहीं मिलेंगे। वह शकु तला, पार्वती, द्रौपदी, सावित्री, दमय ती, सीता, मन्दोदरी आदि आदर्श भारतीय नारी पात्रो से भिन्न और आज की दृष्टि से उनसे भी उच्च विश्व-कल्याणमयी माँ के रूप मे मानी जायगी, इसमे तनिक भी सन्देह नहीं है।

कामायनी में तीसरा महत्वपूर्ण चरित्र इडा का है। यद्यपि प्रसाद ने उसके चरित्र का अधिक परिस्फुट और व्यापक नहीं बनाया है और उसे विशेषरूप,

से प्रतीक पात्र की भूमिका मे ही रखा है, फिर भी उसके व्यक्तित्व की रेखायें, सीमित रूप से ही सही पर्याप्त स्पष्ट हैं। श्रद्धा की तरह वह भी प्रारम्भ मे ही अपनी प्रधान विशेषता—बौद्धिकता और कर्मशीलता लिए हुए प्रकट होती है। उसके प्रधान साधन ज्ञान-विज्ञान हैं, वह त्रिगुणात्मकता, चचलता और गति-शीलता की सकार प्रतिमा प्रतीत होती है —

बिखरी अलकें ज्यो तर्क जाल।

× × ×

वक्षस्थल पर एकत्र धरे ससृति के सब विज्ञान ज्ञान।
था एक हाथ मे कर्म कलश वसुधा जीवन रस सार लिये।
दूसरा विचारो के नभ को था मधुर अभय अवलम्ब दिये।
त्रिवली थी त्रिगुण तरगमयी, आलोक वसन लिपटा अराल।
चरणो मे थी गति भरी ताल।

—इडा सर्ग

वह आधुनिक युग की भौतिकता और व्यवसायात्मिका बुद्धि का प्रतीक है जो राष्ट्र निर्माण और भौतिक उन्नति के महान उद्देश्य के सम्मुख भावुकता, कोमलता, विश्राम और आत्मिक शान्ति आदि को तनिक भी महत्व नहीं देती। प्रारम्भ में उसका यही रूप प्रधान है और प्रथम मिलन मे ही वह मनु को जो उपदेश देती है उससे ऐसा लगता है मानो आधुनिक पूँजीवादी व्यक्तिवाद और वैज्ञानिक विकासवाद की आत्मा ही बोल रही है —

हाँ, तुम ही हो अपने सहाय।
जो बुद्धि कहे उसको न मान कर फिर किस की नर शरण जाय।

× × ×

यह प्रकृति परम रमणीय अखिल ऐश्वर्य भरी शोधक विहीन,
तुम उसका पटल खोलने मे परिकर कस कर बन कर्म लीन,
सब का नियमन शासन करते बस बढा चलो अपनी क्षमता।
तुम ही इसके निर्णायक हो, हो कहीं विषमता या समता।

—इडा सर्ग

उसकी इस प्रेरणा के अनुसार ही मनु सारस्वत प्रदेश की उन्नति और वर्ग विभाजन पर आधारित व्यवस्था मे लीन होते हैं जिसका स्वाभाविक परिणाम यान्त्रिक विकास, शोषण, अधिनायक तन्त्र आदि हुआ करता है। सारस्वत प्रदेश में भी ये परिणाम घटित होते हैं। मनु व्यक्तिवादी तथा दम्भ और अहम्मन्यता

के पुतले बन कर स्वेच्छाचारी अधिनायकवाद की ओर बढ़ना चाहते है, जनता यन्त्रों का दास बन जाती है, प्रकृति के साथ संघर्ष होता है, गरीबों का शोषण होता है। इन सब का उत्तरदायित्व इडा पर ही है, मनु पर नहीं —

तुमने ही संघर्ष भूमिका मुझे सिखायी।
प्रकृति संग संघर्ष निरन्तर, अब कैसा डर ?
× × ×
प्रकृत शक्ति तुमने यन्त्रों से सबकी छीनी।
शोषण कर जीवनी बना दी जर्जर झीनी।
—संघर्ष सर्ग

यह तो इडा के चरित्र का स्थूल पक्ष है जो भौतिक सभ्यता के बाह्य रूप—पूँजीवादी वैज्ञानिक उन्नति और राज्य व्यवस्था—से सम्बन्धित है और जिसकी चरम परिणति युद्ध और नाश मे होती है। पर उसके चरित्र का एक सूक्ष्म पक्ष भी है, वह यह कि बुद्धिवाद और भौतिकता अपने आप मे बुरे नहीं हैं, उनके महदुद्देश्य म सन्देह नहीं किया जा सकता। वह उद्देश्य भी राष्ट्र हित और मानव कल्याण ही है जो आध्यात्मिक उद्देश्य से अधिक भिन्न नहीं है। अत इडा मार्क्सवादियों की तरह संघर्ष और द्वन्द्व को 'भूत' का स्वभाव मानते हुए निर्बाधित अधिकार का विरोध करती है और व्यक्तिवाद के आधार पर लोक कल्याण का स्वप्न देखती है —

निर्बाधित अधिकार आज तक किसने भोगा ?
× × ×
स्पर्धा मे जो उत्तम ठहरें वे रह जावें।
संसृति का कल्याण करें शुभ मार्ग बतावें।
× × ×
अपना जिसमे श्रेय वही सुख की आराधना।
लोक सुखी हो आश्रय ले यदि उस छाया मे,
प्राण सदृश तो रमो राष्ट्र की इस काया मे।
—संघर्ष सर्ग

इस तरह वह द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के आधार पर आगे बढ़ते हुए व्यक्ति को देश काल की परिधि मिटा कर महाचेतना के साथ सहयोग करने को कहती है —

देश कल्पना काल परिधि मे होती लय है।
काल खोजता महा चेतना मे निज लय है।
× × ×
ताल ताल पर चलो नही लय छूटे जिसमे
तुम न विवादी स्वर छेडो अनजाने इसमे।

—सघर्ष सर्ग

किन्तु इसके आगे इडा की गति नही है। जहाँ तक बुद्धि जा सकती है, इडा वहा तक सोच सकती है पर जो इद्रिय, मन और बुद्धि से परे है, उसकी चिता इडा को नही है। प्रसाद जी का पक्ष यह है कि केवल बुद्धिवाद और भौतिक उन्नति से ही विश्वकल्याण और स्थिर द्वन्द्वो की शान्ति नहीं हो सकती, उसके लिए तो बुद्धि और हृदय के समन्वय की आवश्यकता है। इसीलिए वे श्रद्धा के मुँह से इडा को 'सिर चढी' और हृदयहीन कहवाते हैं —

सिर चढी रही पाया न हृदय,
तू विकल कर रही है अभिनय।
ओ तर्कमयी, तू गिने लहर,
प्रतिबिम्बित तारा पकड़ ठहर।

—दर्शन सर्ग

किन्तु श्रद्धा के अलौकिक व्यक्तित्व के प्रभाव तथा सघर्ष के भयकर परिणाम की प्रतिक्रिया के फल स्वरूप इडा की जीवन धारा सहसा बिलकुल विपरीत दिशा मे मुड जाती है। मनु के समान वह भी श्रद्धा के सम्मुख पश्चाताप और ग्लानि से विगलित होती और अनजान में श्रद्धा का सुहाग छीनने के अपराध के लिए उससे क्षमा माँगती है। श्रद्धा वरदान स्वरूप अपने पुत्र मानव को इडा के हाथ मे सौप देती है। पर इसमे भी उसका महान उद्देश्य निहित है जो वह स्वय व्यक्त भी कर देती है —

यह तर्कमयी, तू श्रद्धामय।
× ×
इसका तू सब सन्ताप निचय
हर ले, हो मानव भाग्य उदय।

—दर्शन सर्ग

इडा इस आशीवाद को विश्वासपूर्वक ग्रहण करती हुई श्रद्धा के चरणों की धूल लेती है। कभी न झुकने वाली, उद्दाम शक्ति के आवेग से तरगित पहले वाली इडा अब द्रवित होकर क्षमा, ममता, करुणा और शान्ति की मूर्ति

बन जाती है। अन्त में जब वह कैलाश यात्रा करने जाती है तो उसका बुद्धिवाद का अभिमान बिलकुल समाप्त हो गया रहता है। वह फिर मातृमूर्ति श्रद्धा के पावों पर झुकती और अपने बुद्धिवाद की व्यर्थता स्वीकार करती है।—

> हे देवि तुम्हारी ममता बस मुझे खींचती लाती।
> भगवति, समझी मैं सचमुच कुछ भी न समझ थी मुझको,
> सब को ही भुला रही थी अभ्यास यही था मुझको।

—आनन्द सर्ग

इस प्रकार इडा का चरित्र भी विकासशील है। वह भी मनु की तरह श्रद्धा की अलौकिक आत्मिक शक्ति के द्वारा आकर्षित होकर कैलाश में पहुँचती, वहाँ श्रम के प्रतिनिधि मानव का उत्सर्ग करती और समरसावस्था में लीन होकर 'अखण्ड आनन्द' का अनुभव करती है। प्रसाद जी ने उसे प्रारम्भ में आधुनिक युग की शिक्षिता और विदुषी समालोचिका के रूप में और बाद में आत्मिक आनन्द की प्राप्ति के लिए वैराग्य धारण करने वाली अभिप्राणा नारी के रूप में चित्रित किया है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कामायनी के तीनों प्रमुख पात्र महाकाव्योचित महानता से युक्त, एक दूसरे के चरित्र के पूरक अथच उन्नायक और कथा की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। इनमें से श्रद्धा ही ऐसी है जिसमें कवि ने पूर्णत्व की प्रतिष्ठा की है और उसे वह गौरव प्रदान किया है जिसके कारण यह महाकाव्य भी गौरवान्वित हो उठा है। रवि बाबू ने महाकाव्य के महच्चरित्र के जो लक्षण बताये हैं (देखिये अध्याय ८ में टिप्पणी) वे श्रद्धा में वर्तमान हैं अतः कामायनी का गौरव और उसके महाकाव्यत्व का प्रधान कारण श्रद्धा ही है। श्री नन्ददुलारे वाजपेयी का यह कथन सर्वथा उचित है कि "कामायनी या श्रद्धा का चरित्र अपनी आदर्शात्मक विशेषता के कारण काव्य का सर्वप्रमुख चरित्र है। कामायनी को नायिका प्रधान काव्य कहा जा सकता है।"[1]

६—गरिमामयी उदात्त शैली

शैली की दृष्टि से कामायनी हिन्दी में अपने ढंग का अकेला और निराला महाकाव्य है। उसमें शैली की वह गरिमा, भव्यता और उदात्तता पूर्ण मात्रा में वर्तमान है जिसके बिना कोई काव्य महाकाव्य पद का अधिकारी हो ही नहीं सकता। यदि केवल शैली की पूर्णता को ध्यान में रखकर निर्णय देना हो तो बिना हिचक के कहा जा सकता है कि कामायनी हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ

१—आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी—आधुनिक साहित्य—पृ० ६८।

अलकृत महाकाव्य है । 'शैली' शब्द इतना व्यापक अर्थ व्यक्त करने वाला है कि उसके विभिन्न अवयवो की व्याख्या तो की जा सकती है किन्तु उसके समग्र प्रभाव की दृष्टि से उसका अनुभव और अनुमान ही किया जा सकता है । अत जब कामायनी की शैली मे भव्यता, गरिमा और उदात्तता की पूर्णता की बात कही जाती है तो इसका अर्थ यही है कि उसकी इन विशेषताओ की पहिचान समग्र प्रभाव के बाद ही होती है । यदि समग्र प्रभाव की दृष्टि से उस पर विचार किया जाय तो इस बात की आशका बनी रहेगी कि शैली के विभिन्न स्वरूपो के आधार पर उसे भिन्न भिन्न शैलियो का महाकाव्य कहा जायगा । कारण यह है कि उसमे अनेक शैलियो का सुन्दर समन्वय हुआ है और ध्यान से न देखने पर उसमे एक ही शैली स्पष्ट दिखाई पड सकती है जिससे उसको उसी शैली का महाकाव्य मान लिया जा सकता है । इस अध्याय के शीर्षक मे हमने कामायनी को रूपककथात्मक महाकाव्य कहा है । किन्तु यह भी सही है कि कामायनी मे प्रगीत शैली का भी पर्याप्त योग है । अब यदि देखने वाले की दृष्टि प्रगीत शैली पर ही केन्द्रित हो और वह उसके रूपक तत्त्व को दृष्टि से ओझल कर दे तो वह विश्वास के साथ उसे प्रगीतात्मक शैली का ही महाकाव्य कहेगा । इसी तरह उसे मनोवैज्ञानिक शैली, स्वच्छन्दतावादी शैली अथवा 'क्लैसिकल' शैली का महाकाव्य भी कहा जा सकता है । भावात्मकता, वर्णन वैशिष्ट्य और अभिव्यक्ति प्रणाली की दृष्टि से कोई उसे भावात्मक, वर्णनात्मक और लाक्षणिक या चित्रात्मक शैली का काव्य भी कह सकता है । इससे यह स्पष्ट है कि कामायनी मे शैली के विविध तत्त्वों और पक्षो तथा अभिव्यक्ति के विविध स्वरूपों की पूर्णता है और इन सबके सामजस्य से ही उसमे शैलीगत गरिमा और उदात्तता की प्रतिष्ठा हुई है ।

इस कथन को और स्पष्ट करने के लिए उसमे वर्तमान कतिपय शैलीगत तत्त्वो पर विचार कर लेना आवश्यक है । दूसरे अध्याय मे कहा जा चुका है कि अलकृत महाकाव्यो मे कम शब्दो मे अधिक अर्थ व्यक्त करने, थोडे मे अधिक कहने की प्रवृत्ति प्रधान होती है । इसका अर्थ यह है कि श्रेष्ठ कलात्मक या अलकृत महाकाव्य मे तथ्य कथन और विवरण उपस्थित करने की ओर कवि का उतना ध्यान नहीं रहता जितना सौन्दर्यानुभूति और भाव सत्य की पूर्ण अभिव्यक्ति तथा कल्पना की मनोरम सृष्टि की ओर होता है । इसी की व्याख्या आलकारिको ने अलकार, गुण, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति आदि के रूप मे की है । कामायनी मे भावनाओं की सचाई, व्यापकता और गहराई इतनी अधिक है कि उसका बाह्य कथा शरीर उपेक्षित सा प्रतीत होता है । यद्यपि

प्रसाद जी ने वास्तविकता या इतिहास का समर्थन किया है पर मूलत वे वस्तु जगत के नहीं, भाव जगत के ही कवि हैं। महाकाव्य प्राय विषय प्रधान और बाह्यार्थ निरूपक काव्यरूप माना जाता है। पर कामायनी इस अर्थ मे सवथा नवीन प्रयोग है कि भाव प्रधान और अन्तवृत्ति निरूपक होते हुए भी वह एक रचनाकृति का महाकाव्य है। वस्तुत भावप्रवणता और अन्तर्वृत्ति निरूपण प्रगीत काव्य के गुण हैं। अत इसी बात को ध्यान में रखकर उसे कुछ लोग भावात्मक या प्रगीतात्मक शैली का महाकाव्य कहते हैं। यह बात बहुत अशों मे सही भी है। दूसरे अध्याय मे हम दिखा चुके हैं कि अनेक प्रगीत मुक्तको मे भाव गाम्भीर्य और उदात्त शैली के कारण महाकाव्यात्मक प्रभाव उत्पन्न करने की शक्ति होती है। इसी तरह अनेक महाकाव्यों मे प्रगीत काव्य के गुणों की प्रधानता होने से उनका प्रभाव प्रगीतात्मक ही होता है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने एक कविता मे ताजमहल को 'सृष्टि के कपोल पर एक अश्रु बिन्दु' कहा है जिसका अर्थ यही है कि ताजमहल मे विराटता होते हुए भी कोमलता है, विशालता और स्थूलता होते हुए भी आन्तरिक माधुर्य और सूक्ष्मता है। प्रगीतात्मक महाकाव्य में भी यही बात होती है। निष्कर्ष यह कि वास्तुकला के क्षेत्र मे जो स्थान ताजमहल का है, काव्य के क्षेत्र मे वही कामायनी का है। दोनों मे ही वस्तु सत्य और भाव सत्य, बाह्य जगत और अन्तर्जगत, विराटता और कोमलता, स्थूल और सूक्ष्म का आश्चर्यजनक सगम हुआ है। विराटता और कोमलता का यह समन्वय कामायनी के पहले ही छन्द मे दिखलाई पड जाता है —

हिमगिरि के उत्तुग शिखर पर बैठ शिला की शीतल छाँह।
एक पुरुष भीगे नयनो से देख रहा था प्रलय प्रवाह।
नीचे जल था ऊपर हिम था एक तरल था एक सघन।
एक तत्त्व की ही प्रधानता, कहो उसे जड़ या चेतन।

इसमें हिमालय की विराटता और ऊचाई, प्रलय की भयानकता और हिम की स्थूलता, जडता, और निर्जीवता के साथ अश्रु बिन्दुओं की करुणा, विह्वलता और वेदना, शीतल छाया की कोमलता, मधुरता और सूक्ष्मता तथा जल की, जीवन्तता और तरलता को इस प्रकार अगागी भाव से मिला दिया गया है कि जड और चेतन, विराट् और कोमल, स्थूल और सूक्ष्म का भेद ही मिट गया है। अत कामायनी के प्रारम्भ के ये दोनों छन्द एक प्रकार से पूरे काव्य की शैली के प्रतीक हैं। उन्हीं को पढ कर प्रारम्भ मे ही हम यह अनुमान कर लेते है कि कामायनी मे प्रगीत और महाकाव्य के तत्त्वों का समन्वय अवश्य हुआ होगा।

शैली की इस उदात्तता का कारण कामायनी की वह अभिव्यजना प्रणाली है जिसके द्वारा प्रसाद ने बाह्य तत्त्वों–ऐतिहासिक, सामाजिक और राष्ट्रीय सघर्ष और विकास–को पर्याप्त महत्व देते हुए उनमे अ तर्निहित चिरन्तन सूक्ष्म तत्वो—मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक सघष तथा विकास–का उद्घाटन और चित्रण अत्यन्त सफलता से किया है। कामायनी के रूप तत्त्व पर विचार करते हुए कहा जा चुका है कि उसम साकेतिकता अथवा ध्वनि के द्वारा प्रस्तुत मे अप्रस्तुत का आरोप हुआ है। यह पद्धति केवल कामायनी की कथा ही मे नही, उसके वणन म भी अपनाई गयी है। वर्णनो की अधिकता के कारण उसकी कथा वस्तु क्षीण हो गयी हे पर ये वर्णन बाह्य तत्त्वो के नहीं, आ तरिक तत्त्वों के हैं। अन्तर्वृत्तियो और सूक्ष्म अनुभूतियो की सफल अभिव्यक्ति अभिधा त्मक शैली मे नहीं हो सकती, उसक लिए लाक्षणिक और साकतिक पद्धति आवश्यक है। पहले कहा जा चुका है कि कामायनी छायावादी काव्य धारा का प्रतिनिधि महाकाव्य है। अत छायावादी कविता की अभिव्यजना प्रणाली का व्यवहार उसमे आद्यन्त हुआ है। छायावाद की विशेषताओं की व्याख्या करते हुए प्रसाद जी ने लिखा है, "छाया भारतीय दृष्टि से अनुभूति और अभिव्यक्ति की भगिमा पर अधिक निर्भर करती है। ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौन्दर्यमय प्रतीक विधान तथा उपचार वक्रता के साथ स्वानुभूति की विवृति छायावाद की विशेषताये हैं। अपने भीतर से मोती के पानी की तरह आन्तर स्पर्श करके भाव समर्पण करने वाली अभिव्यक्ति की छाया कान्तिमयी होती है।"[1] कहने की आवश्यकता नही कि कामायनी मे अनुभूति की सूक्ष्मता और जटिलता की अभिव्यक्ति के लिए अभिव्यजना के उन सभी कौशलों का उपयोग किया गया है जिनका उल्लेख प्रसाद जी के उपर्युक्त कथन में हुआ है।

ध्वन्यात्मकता

वस्तुत प्रसाद जी आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त के ध्वनिवाद और कुन्तक के वक्रोक्ति वाद से बहुत अधिक प्रभावित थे और वह प्रभाव कामायनी की अभिव्यजना प्रणाली पर स्पष्ट दिखाई पडता है। उसमे वैदग्ध्य भगी भणिति अथवा वचनवक्रता के सहारे अनुभूति की भगिमा को अभिव्यक्त करने की ओर कवि का जितना ध्यान है उतना किसी बात को सीधे साधे वाच्यार्थ के माध्यम से कहने की ओर नहीं। कारण यह है कि कामायनी का कवि आनन्दवर्धन के

1—जयशकर प्रसाद—काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध–पृष्ठ १२८–तृतीय सस्करण।

प्रसाद जी ने वास्तविकता या इतिहास का समर्थन किया है पर मूलत वे वस्तु जगत के नहा, भाव जगत के ही कवि हैं। महाकाव्य प्राय विषय प्रधान और बाह्यार्थ निरूपक काव्यरूप माना जाता है। पर कामायनी इस अर्थ मे सवथा नवीन प्रयोग है कि भाव प्रधान और अन्तवृत्ति निरूपक होते हुए भी वह एक रचनाशि का महाकाव्य है। वस्तुत भावप्रणता और अन्तर्वृत्ति निरूपण प्रगीत काव्य के गुण हैं। अत इसी बात को ध्यान में रखकर उसे कुछ लोग भावात्मक या प्रगीतात्मक शैली का महाकाव्य कहते हैं। यह बात बहुत अशो मे सही भी है। दूसरे अध्याय में हम दिखा चुके हैं कि अनेक प्रगीत मुक्तको मे भाव गाम्भीर्य और उदात्त शैली के कारण महाकाव्यात्मक प्रभाव उत्पन्न करने की शक्ति होती है। इसी तरह अनेक महाकाव्यों म प्रगीत काव्य के गुणों की प्रधानता होने से उनका प्रभाव प्रगीतात्मक ही होता है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने एक कविता मे ताजमहल को 'सृष्टि के कपोल पर एक अश्रु बिन्दु' कहा है जिसका अथ यही है कि ताजमहल म विराटता होते हुए भी कोमलता है, विशालता और स्थूलता होते हुए भी आन्तरिक माधुर्य और सूक्ष्मता है। प्रगीतात्मक महाकाव्य में भी यही बात होती है। निष्कर्ष यह कि वास्तुकला के क्षेत्र मे जो स्थान ताजमहल का है, काव्य के क्षेत्र मे वही कामायनी का है। दोनों मे ही वस्तु सत्य और भाव सत्य, बाह्य जगत और अन्तर्जगत, विराटता और कोमलता, स्थूल और सूक्ष्म का आश्चर्यजनक सगम हुआ है। विराटता और कोमलता का यह समन्वय कामायनी के पहले ही छन्द मे दिखलाई पड जाता है —

हिमगिरि के उत्तुग शिखर पर बैठ शिला की शीतल छाँह।
एक पुरुष भीगे नयनो से देख रहा था प्रलय प्रवाह।
नीचे जल था ऊपर हिम था एक तरल था एक सघन।
एक तत्त्व की ही प्रधानता, कहो उसे जड़ या चेतन।

इसमें हिमालय की विराटता और ऊँचाई, प्रलय की भयानकता और हिम की स्थूलता, जडता, और निर्जीवता के साथ अश्रु बिन्दुओं की करुणा, विह्वलता और वेदना, शीतल छाया की कोमलता, मधुरता और सूक्ष्मता तथा जल की, जीवन्तता और तरलता को इस प्रकार अगाधी भाव से मिला दिया गया है कि जड और चेतन, विराट् और कोमल, स्थूल और सूक्ष्म का भेद ही मिट गया है। अत कामायनी के प्रारम्भ के ये दोनों छन्द एक प्रकार से पूरे काव्य की शैली के प्रतीक हैं। उन्हीं को पढ कर प्रारम्भ मे ही हम यह अनुमान कर लेते हैं कि कामायनी मे प्रगीत और महाकाव्य के तत्त्वों का समन्वय अवश्य हुआ होगा।

शैली की इस उदात्तता का कारण कामायनी की वह अभिव्यजना प्रणाली है जिसके द्वारा प्रसाद ने बाह्य तत्वों–ऐतिहासिक, सामाजिक और राष्ट्रीय सघर्ष और विकास–को पर्याप्त महत्व देते हुए उनमे अन्तर्निहित चिरन्तन सूक्ष्म तत्वो—मनोवैज्ञानिक ओर आध्यात्मिक सघर्ष तथा विकास–का उद्घाटन और चित्रण अत्यन्त सफलता से किया है। कामायनी के रूप तत्व पर विचार करते हुए कहा जा चुका है कि उसमे साकेतिकता अथवा ध्वनि के द्वारा प्रस्तुत में अप्रस्तुत का आरोप हुआ है। यह पद्धति केवल कामायनी की कथा ही मे नही, उसके वर्णन मे भी अपनाई गयी है। वर्णना की अधिकता के कारण उसकी कथा वस्तु क्षीण हो गयी है पर ये वर्णन बाह्य तत्वा के नहीं, आन्तरिक तत्त्वों के हैं। अन्तर्वृत्तियो और सूक्ष्म अनुभूतियो की सफल अभिव्यक्ति अभिधात्मक शैली मे नहीं हो सकती, उसके लिए लाक्षणिक और साकेतिक पद्धति आवश्यक है। पहले कहा जा चुका है कि कामायनी छायावादी काव्य धारा का प्रतिनिधि महाकाव्य है। अत छायावादी कविता की अभिव्यजना प्रणाली का व्यवहार उसमे आद्यन्त हुआ है। छायावाद की विशेषताओं की व्याख्या करते हुए प्रसाद जी ने लिखा है, "छाया भारतीय दृष्टि से अनुभूति और अभिव्यक्ति की भगिमा पर अधिक निर्भर करती है। ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौन्दर्यमय प्रतीक विधान तथा उपचार वक्रता के साथ स्वानुभूति की विवृति छायावाद की विशेषतायें हैं। अपने भीतर से मोती के पानी की तरह आन्तर स्पर्श करके भाव समर्पण करने वाली अभिव्यक्ति की छाया कान्तिमयी होती है।"[1] कहने की आवश्यकता नही कि कामायनी में अनुभूति की सूक्ष्मता और जटिलता की अभिव्यक्ति के लिए अभिव्यजना के उन सभी कौशलों का उपयोग किया गया है जिनका उल्लेख प्रसाद जी के उपर्युक्त कथन में हुआ है।

ध्वन्यात्मकता

वस्तुत प्रसाद जी आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त के ध्वनिवाद और कुन्तक के वक्रोक्तिवाद से बहुत अधिक प्रभावित थे और वह प्रभाव कामायनी की अभिव्यजना प्रणाली पर स्पष्ट दिखाई पडता है। उसमे वैदग्ध्य भगी भणिति अथवा वचनवक्रता के सहारे अनुभूति की भगिमा को अभिव्यक्त करने की ओर कवि का जितना ध्यान है उतना किसी बात को सीधे सीधे वाच्यार्थ के माध्यम से कहने की ओर नहीं। कारण यह है कि कामायनी का कवि आनन्दवर्धन के

१—जयशकर प्रसाद—काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध—पृष्ठ १२८—तृतीय सस्करण।

इस मत को मानने वाला है कि महाकवियों की वाणी में प्रतीयमान अर्थ की प्रधानता होती है जो वाच्यार्थ से भिन्न कुछ और ही वस्तु होती है और जो रमणी के प्रसिद्ध अवयवों और अलङ्कारों से भिन्न उसके लावण्य के समान अलग ही प्रकाशित होता है।[1] इस मत के अनुसार प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति अभिधा, लक्षणा, और तात्पर्याख्या इन तीनों वृत्तियों से भिन्न व्यञ्जना नामक वृत्ति से होता है। यही प्रतीयमान अर्थ या व्यंग्यार्थ कामायनी की उक्तियों, वर्णनों और कथानक में प्रमुख बन कर अभिव्यक्त हुआ है जो कहीं वस्तु ध्वनि, कहीं अलङ्कारध्वनि और कहीं रस ध्वनि के रूप में दिखाई पड़ता है। कामायनी से उन सब के उदाहरण उपस्थित करना यहाँ सम्भव नहीं है। केवल कुछ उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं —

वस्तुध्वनि—

(क) निस्सम्बल होकर तिरती हूँ इस मानस की गहराई में।

इसमें 'मानस' शब्द से पहले सरोवर और फिर हृदय का अर्थ ध्वनित होने से अभिधामूलक शब्द शक्त्युद्भव वस्तुध्वनि है।

(ख) वरदान सदृश हो डाल रही नीली किरनों से बुना हुआ।
यह अंचल कितना हलका सा कितने सौरभ से सना हुआ।—लज्जा सर्ग

इसमें किरन, अंचल और सौरभ का वाच्यार्थ सर्वथा तिरस्कृत होने से लक्षण लक्षणा द्वारा लज्जा के सूक्ष्म आवरण की बात ध्वनित होती है, अतः यहाँ अत्यन्त तिरस्कृत अविवक्षित वाच्य ध्वनि है।

अलङ्कारध्वनि—

क्या कहती हो ठहरो नारी संकल्प अश्रुजल से अपने
तुम दान कर चुकी पहले ही जीवन के सोने से सपने। —लज्जा सर्ग

इसमें रूपक और उपमा अलङ्कार द्वारा नारी के आत्मोत्सर्ग, विश्वास आदि गुणों का महत्व ध्वनित होता है। नारी, संकल्प और दान शब्दों से व्यंग्यार्थ ध्वनित हुआ है, उनके पर्यायवाची शब्दों से उक्त ध्वनि नहीं निकल सकती थी। अतः यहाँ 'शब्द शक्त्युद्भव संलक्ष्यक्रम व्यंग्यध्वनि' है।

रसध्वनि—

हाहाकार हुआ क्रन्दनमय कठिन कुलिश होते थे चूर।
हुए दिगन्त बधिर, भीषण रव बार बार होता था क्रूर। —चिन्ता सर्ग

---

[1]—आनन्दवर्धन—

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव, वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत् यत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं, विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु। ध्वन्यालोक १—४।

इसम भयानक रस है। विभावादि से सीधे रस की व्यंजना होने से यहाँ 'असलक्ष्यक्रम व्यंग्यध्वनि' है।

लाक्षणिकता

यों तो छायावाद की काव्य शैली ही ध्वनि प्रधान है पर कामायनी ध्वनि काव्य की दृष्टि से छायावाद युग का सर्वोत्तम देन है। व्यंजना के साथ ही उसमें लाक्षणिक प्रयोगों की भी अधिकता है। इस तरह वचन वक्रता द्वारा कवि ने कम शब्दों में अधिक अर्थ भरने का सफल प्रयत्न किया है। अभिधा से शब्द के कुछ निश्चित अर्थों का बोध होता है जिन्हें शब्दकोश में देखा जा सकता है पर उसी शब्द का दूसरे रूप में व्यवहार करने से लक्षणा शक्ति द्वारा मुख्यार्थ से भिन्न और कभी कभी विपरीत अर्थों का बोध होता है। शब्दों के परस्पर सम्बन्ध में 'अयोग्यता' मालूम पड़ने पर रूढ़िवश या किसी प्रयोजन में मुख्यार्थ से सम्बन्धित या उस पर आधारित जिस अन्य अर्थ की उत्पत्ति होती है, वही लक्ष्यार्थ है। लक्षणायें कुल ८० मानी गयी हैं। कामायनी में इन के उदाहरण खोजे जा सकते हैं। यहाँ कुछ उदाहरण दिये जा रहे हैं —

(क) नारी का यह हृदय, हृदय में सुधासिन्धु लहरें लेता।
बाड़व जलन उसी में जलकर कंचन सा जल रंग देता।—निर्वेद सर्ग

इसमें मुख्यार्थ की बाधा यह है कि सुधा का सिन्धु नहीं होता और हो तो वह हृदय में लहरें नहीं ले सकता और न हृदय में बाडवाग्नि ही जल सकती है। अतः इसका लक्ष्यार्थ यह है कि नारी का हृदय पवित्रता, शांति और माधुर्य से पूर्ण होता है पर उसमें दुःख भी ज्वाला की तरह जलता रहता है जिसमें तप कर उसका जीवन सोने से भी सुन्दर और मूल्यवान बन जाता है। इस तरह इसमें प्रयोजनवती लक्षणा है। रूपक के कारण अलंकार होने से सारोपा लक्षणा भी है। उसी तरह उपमान उपमेय के सादृश्य और लक्षण साम्य के कारण इसमें गौणी और लक्षण लक्षणा भी है। इस तरह सब मिलाकर यह 'प्रयोजनवती सारोपा गौणी लक्षण लक्षणा' का सुन्दर उदाहरण है।

(ख) किरनों का रज्जु समेट लिया जिसका अवलम्बन ले चढ़ती।
रस के निर्झर में धँसकर मैं आनन्द शिखर के प्रति बढ़ती।—लज्जा सर्ग

इसमें पहली पंक्ति में उपमान में उपमेय के अध्यवसान के कारण साध्यवसाना और दूसरी पंक्ति में आरोप होने से सारोपा लक्षणा है। इसके अतिरिक्त उनमें सादृश्येतर सम्बन्ध होने से यहाँ शुद्धा लक्षणा भी है। अतः सब मिलाकर पहली पंक्ति में 'प्रयोजनवती शुद्धा साध्यवसाना लक्षणा' और दूसरी में 'प्रयोजनवती

शुद्धा सारोपा लक्षण लक्षणा' है। इस प्रकार कामायनी से लक्षणा के बहुत अधिक उदाहरण दिये जा सकते हैं जिनके लिए यहाँ अवकाश नहीं है।

प्रतीकात्मकता और चित्रात्मकता

लक्षणा-व्यंजना के कारण भाषा मे चित्रात्मकता और सांकेतिकता आती है। अत कामायनी म चित्रात्मक और सांकेतिक शैली की प्रधानता है। चित्रात्मकता के लिए अप्रस्तुत विधान मे कल्पना की अधिक आवश्यकता होती है। उसी तरह सांकेतिकता के लिए शब्द-शक्तियों का सहारा लेना पडता है। दूरारूढ या क्लिष्ट कल्पना से भाषा दुरूह और अव्यावहारिक हो जाती है पर सामान्यत कल्पनाशक्ति की सहायता के बिना भाषा उत्कृष्ट नही हो सकती। कामायनी म दूरारूढ कल्पनाएँ बहुत कम हैं। उसम कल्पनाशक्ति की सहायता अधिक ली गयी है जिससे उसकी शैली म सौन्दर्य वृद्धि हुई है और उसीके फलस्वरूप उसकी भाषा अत्यन्त चित्रात्मक और रमणीय बन सकी है। सांकेतिकता के भीतर प्रतीक योजना, लाक्षणिकता, व्यंजकता और ध्वनि सबका समाहार हो जाता है। कामायनी म लक्षणा, व्यंजना और ध्वनि का कितना अधिक सहारा लिया गया है, यह ऊपर दिखाया जा चुका है। यहाँ उसकी प्रतीक योजना और चित्रात्मकता के सम्बंध में संक्षेप मे विचार कर लेना आवश्यक है। प्रतीक दो प्रकार के होते हैं, परम्परागत या रूढ और नवीन। छायावाद युग और उसके बाद के कवियों ने नवीन प्रतीकों का ही प्रयोग अधिक किया है। छायावादी कवियों ने प्रतीक योजना म रूप गुण सादृश्य की ओर उतना ध्यान नही दिया जितना प्रभाव साम्य की ओर। 'शुद्धा सा यवसाना प्रयोजनवती लक्षणा' म इसी तरह के प्रभाव साम्य पर आधारित प्रतीकों का प्रयोग होता है। कामायनी की प्रतीक योजना इसी प्रकार की है यद्यपि उसम प्रतीकों का उपयोग अधिकतर अलंकार रूप म अथवा लाक्षणिकता लाने के लिए हुआ है जिससे वे दूरारूढ कल्पना से उद्भूत नही प्रतीत होते। कुछ उदाहरण दिये जा रहे हैं —

(क) अपनी ज्वाला से कर प्रकाश ।

(ख) जीवन निशीथ के अन्धकार !

× × ×

कलियाँ जिनको मैं समझ रहा वे काँटे बिखरे आस पास !

(ग) मधुमय वसन्त जीवन वन के ।

(घ) क्या तुम्हे देखकर आते यों मतवाली कोयल बोली थी ?

(ङ) देवों की विजय दानवों की हारों का होता युद्ध रहा !

(च) किरनो का रज्जु समेट लिया जिसका अवलम्बन ले चढती ।
(छ) स्वच्छन्द सुमन जो खिले रहे जीवन वन से हो बीन रही ।

इन पक्तियों मे प्रयुक्त प्रतीकात्मक शब्द और उनके प्रतीकार्थ ये हैं — ज्वाला = वेदना, प्रकाश = ज्ञान अथवा सुख, अन्धकार = दुख अथवा अज्ञान, कलियाँ = सुख के साधन, काँटे = कठिनाइयाँ अथवा दुख, कोयल = हृदय का उल्लास, देव = सत्प्रवृत्तियाँ, दानव = असत्प्रवृत्तिया, किरनों का रज्जु = कल्पनाये, स्वछ द सुमन = उन्मुक्त अभिलाषा ।

अलकार विधान—

सो दर्यमय प्रतीक विधान और मूर्तिविधायनी कल्पना के योग से कामायनी मे चित्रात्मकता और मूर्तिमत्ता बहुत अधिक दिखलाई पडती है । प्रसाद जी ने कल्पना द्वारा जड और स्थूल वस्तुओ को भी सजीव और चेतन तथा सूक्ष्म भावनाओं और अन्तर्वृत्तियो को भी सशरीरी बना दिया है । इसके लिए उन्होने भारतीय और पाश्चात्य अलकारो की भरपूर सहायता ली है । अलकारो के प्रयोग मे उनका उद्देश्य चमत्कार उत्पन्न करना नहीं, बलिक वर्ण्यवस्तु को सहज बोधगम्य और इन्द्रिय ग्राह्य बनाना है, उदाहरणार्थ श्रद्धा सर्ग मे उन्होने श्रद्धा के रूप चित्रण में नवीन उपमानो और मनोरम कल्पना द्वारा जो चित्र खडा किया है वह केवल रूप सौ दर्य का ही नहीं, श्रद्धा के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का चित्र है । उसम शारीरिक अवयवो, परिधान, मुसकान आदि का चित्र तो सामने आता ही है, उसकी आन्तरिक कान्ति और सुन्दरता भी मूर्त होकर सामने आती है । अगों की तुलना बिजली के फूल से करके उन्होने शारीरिक कान्ति की अतिशयता को पाठको के लिए जिस तरह इन्द्रिय ग्राह्य बना दिया है, वेसा अन्यत्र मिलना कठिन है —

नील परिधान बीच सुकुमार खुल रहा मृदुल अधखुला अग ।
खिला हो ज्यो बिजली का फूल मघवन बीच गुलाबी रग ॥

यहाँ अलकार तो पुराना (उत्प्रेक्षा) ही है किन्तु उपमाना की ताजगी, नवीनता और सादृश्य से चित्र सजीव हो उठा है । इसी प्रकार केवल उत्प्रेक्षा के सहारे श्रद्धा का रूप वर्णन बारह छन्दो म हुआ है । इसे आधुनिक ढग का रूप वर्णन भी कहा जा सकता है जिसम पुरान नख शिख वर्णना जेसा अवयव क्रम नही है और न पुराने घिस पिटे उपमाना का ही प्रयोग हुआ है ।

चित्रात्मकता लाने के लिए कामायनी म पाश्चात्य अलकार 'मानवीकरण' का भी बहुत अधिक उपयोग हुआ है —

(क) भयमय मौन निरीक्षक सा था सजग सतत चुपचाप खड़ा।
—निर्वेद सर्ग

(ख) सन्ध्या की लाली में हँसती उसका ही आश्रय लेती सी।
छाया प्रतिमा गुनगुना उठी श्रद्धा का उत्तर देती सी॥
—लज्जा सर्ग

(ग) सृष्टि हँसने लगी आँखों में खिला अनुराग—वासना सर्ग

(घ) शिथिल अलसाई पड़ी छाया निशा की कान्त।
सो रही थी शिशिर कण की सेज पर विश्रान्त॥ —वासना सर्ग

(ङ) अभिलाषा अपने यौवन में उठती उस सुख के स्वागत को।
—लज्जा सर्ग

विरोधाभास छायावादी कविता का बहु प्रयुक्त अलंकार है क्योंकि इसके द्वारा जो चमत्कार उत्पन्न होता है वह केवल उक्ति तक ही सीमित नहीं रहता, उसमें प्रभाव उत्पन्न करने की भी बहुत क्षमता होती है और सूक्ष्म तथा गुम्फित अनुभूतियों की अभिव्यक्ति भी उससे आसानी से हो जाती है। कामायनी में विरोधजन्य वचन वक्रता बहुत मिलता है। कुछ उदाहरण ये हैं —

(क) रस के निर्झर में धँस कर मैं आनन्द शिखर के प्रति बढ़ती।
—लज्जा सर्ग

(ख) जीवन का सन्तोष अन्य का रोदन बन हँसता क्यों?
—कर्म सर्ग

(ग) जागृत था सौन्दर्य यदपि वह सोती थी सुकुमारी। —कर्म सर्ग

(घ) लाली बन सरल कपोलों में आँखों में अँजन सी लगती।
—लज्जा सर्ग

मानवीकरण और विरोधाभास के उदाहरण उपस्थित करने का अभिप्राय यह दिखाना था कि अलंकारों के प्रयोग में भी प्रसाद जी की प्रवृत्ति नवीनता की ओर थी। उपमा, रूपक, रूपकातिशयोक्ति आदि अलंकारों का प्रयोग भी कामायनी में कम नहीं हुआ है पर उसकी अलंकृत अभिव्यक्ति सर्वत्र सहज और आन्तरिक कान्ति से युक्त है। छायावाद की अभिव्यञ्जना पद्धति के बारे में प्रसाद जी का यह कथन कामायनी पर सबसे अधिक लागू होता है, "इन अभिव्यक्तियों में जो छाया की स्निग्धता है, तरलता है, वह विचित्र है। अलंकारों के भीतर आने पर भी ये उनसे कुछ अधिक हैं।"[1] इसका कारण यह है कि

1—जयशंकर प्रसाद—काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध—पृष्ठ—१२७—द्वि स

कामायनी मे अलकार सा य रूप मे नहीं, साधन रूप मे प्रयुक्त हुए है। प्रसाद जी ने वस्तुत ध्वनि सम्प्रदाय की अलकार ध्वनि के रूप मे ही अलकारो को प्रतीयमान अर्थ या रस के साधन के रूप म अपनाया है।

भापा और शब्द चयन

कामायनी छायावाद की प्रौढतम रचना है, अत उसमे छायावाद युग की काव्य भाषा का सुन्दरतम आदर्श दिखाई पडता है। सस्कृत साहित्य के गहन अ ययन तथा साहित्य निमाण की यापक साधना क उपरान्त प्रसादजी ने कामा यनी कि रचना की थी। अत उसमे शब्द शिल्प की जैसी उत्कृष्टता और पूर्णता है वैसी छायावाद की अन्य किसी कृति मे नही दिखाइ पडती। ऊपर कामायनी की व्यजकता, लाक्षणिकता और चित्रात्मकता के सम्बन्ध म जो विचार किया गया है उससे स्पष्ट है कि उसकी भापा अत्यन्त शक्तिपूर्ण आर समृद्ध है आर उसमे अनु भूतियों की गम्भीरता, सूक्ष्मता और जटिलता को व्यक्त करने की पूर्ण क्षमता है। बाह्य से अधिक आन्तर सत्य की अभिव्यक्ति की प्रवृत्ति प्रधान होने से कामायनी के शब्द चयन और पद योजना मे नवीन कान्ति, नया सौदर्य और नयी आकर्षण शक्ति आ गयी है। शब्द योजना के सम्बन्ध मे प्रसाद जी ने लिखा है कि "शब्दो मे भिन्न प्रयोग स एक स्वतन्त्र अर्थ उत्पन्न करने की शक्ति है। समीप के के शब्द भी उस शब्द विशेष के नवीन अर्थ का द्योतन करने म सहायक होते हैं। भाषा के निमाण मे शब्दो के इस व्यवहार का बहुत हाथ होता है। अथ बोध व्यवहार पर निर्भर करता है।"[1] इससे स्पष्ट है कि प्रसाद जी का ध्यान शब्द शिल्प की ओर बहुत अधिक था। इसलिए कामायनी मे लक्षणा ओर व्यजना द्वारा उन्होने 'शब्द विन्यास' म ऐसा कौशल दिखाया है आर शब्दो की 'भगिमा' द्वारा एक ऐसा 'तडप' उत्पन्न करन का प्रयास किया है जिससे उसम सूक्ष्मातिसूक्ष्म अनुभूतिया की भी सहज और प्रभावपूर्ण अभिव्यक्ति हो सकी है।

महाकाव्य की परम्परागत प्रबन्धरूढियो की दृष्टि से देखने पर भी कामायनी म छायावाद युग के अनुरूप विद्रोह ओर नवीनता की प्रवृत्ति प्रधान रूप म दिखाई पडती है। उसम सर्गबद्धता तो अवश्य हे ओर सर्गो की सख्या भी ८ से अधिक है, पर प्रत्येक सर्ग का किसी भाव या मनोवृत्ति के नाम पर नामकरण नहीं किया गया है ओर न उनकी क्रम सख्या ही दी गयी है। पुराने महाकाव्यो

१—जयशकर प्रसाद—काव्य ओर कला तथा अन्य निबन्ध—तृतीय सस्करण, पृ० १२४

की तरह उसमे आदि मे मगलाचरण, वस्तु निदश, सज्जन दुर्जन चिन्ता, कवि का आत्मनिवेदन और विनम्रता प्रदर्शन, रचनाकाल निदश, नगरा वर्णन आदि रूढिया का पालन भी नही हुआ है। उसम कथा मावे सावे, वह भी प्रारम्भ से नहीं, बीच से शुरू होता है। कवि न प्रत्यक सर्ग म छन्द परिवर्तन अवश्य किया है पर शास्त्रीय नियम का पालन करने की दृष्टि से नहीं। इसम उसका उद्देश्य यह है कि विभिन्न छन्दा के प्रयोग से पाठको का मन काव्य मे रमता चले। कामायनी मे प्रत्येक सर्ग म आद्यन्त एक ही छद का प्रयाग हुआ है जो शास्त्रीय नियम के अनुकूल है पर सर्गान्त मे छन्द परिवर्तन नहीं हुआ है। इस तरह महाकाव्य के अस्थायी या बाह्य लक्षणों का उसम पूणत अभाव है। पर इस अभाव के कारण उसके महाकाव्यत्व में कोइ बाधा नहीं उपस्थित हुइ है, उल्टे इसमे उसक रूप शिल्प म नवीनता और आकषण उत्पन्न हुआ है। इस तरह सभी दृष्टियों से कामायनी म शैली की पूर्णता दिखाइ पडती है जिसके फलस्वरूप उसमे महाकाव्योचित भव्यता, गरिमा और उदात्तता आ गयी है।

७—तीव्र प्रभावान्विति और गम्भीर रसवत्ता

महाकाव्य मे प्रभावान्विति अथवा रसवत्ता की स्थिति कथानक के स्वरूप पर निभर करती है। यदि कथानक का सघटन पाश्चात्य दु खान्त रचनाओ के अनुरूप हुआ है ता उसमे समग्र प्रभाव तो तीव्र और समन्वित होगा पर भारतीय काव्या जेसी रसवत्ता नही होगी और यदि कथानक भारतीय काव्यो के ढग का है ता गम्भीर रसवत्ता तो होगी पर पाश्चात्य दु खान्त काव्यो जेसा तीव्र तथा झकझोर देने वाली प्रभावान्विति नहीं होगी। कामायनी के कथानक के सम्बन्ध म विचार करते हुए कहा जा चुका है कि उसमें भारतीय सुखान्त काव्यों और पाश्चात्य दुखान्त काव्या की परस्पर विपरीत कथानक शेलियों का औचित्य पूर्ण सामजस्य हुआ है। अत विचारणीय प्रश्न यह है कि उसे प्रभावान्विति प्रधान काव्य माना जाय या रसात्मक काव्य ?

हम पहले देख चुके हैं कि प्रसाद जी यथार्थ और आदर्श के समन्वय द्वारा आनन्दोपलब्धि या रसनिष्पत्ति को ही साध्य मानते थे और इसी सिद्धान्त के अनुसार कामायनी को उन्होने आनन्द पयवसायी बनाया है। पर आनन्द पयवसायी होते हुए भी कामायनी म विराग, सघष, वेदना और शोक की ही प्रधानता है। उसका प्रारम्भ ही शोक तथा तज्जन्य चिन्ता से होता है। आशा सर्ग म शोक की भावना कुछ दब जाती है और उत्साह, आशा और कामना का उदय होता है। ये ही भाव श्रद्धा, काम, वासना और लज्जा सर्ग मे शृङ्गार

रस के रूप मे और कम, इडा, स्वप्न और सघर्ष सर्ग मे वीर रस के रूप मे दिखाई पडते हैं। पर इन दोनो रसों का कामायनी में पूण परिपाक नहीं हुआ है क्योंकि सघष सर्ग तक मनु के मन मे कोई एक भाव स्थिर रूप मे नहीं रहता है। कभी तो वे रति भाव से भावित रहते हैं और कभी अहकारमूलक उत्साह भाव से प्रेरित होकर विविध प्रकार के कम करते हैं। सघर्ष सर्ग में उनके आन्तरिक और बाह्य विरोधो का चरमोत्कर्ष दिखाई पडता है, वे पूर्णतया पराजित और मृतप्राय हो जाते हैं। अत यहाँ फिर करुण रस आ जाता है जो निर्वेद सग तक व्याप्त रहता है। किन्तु करुण रस की भी पूर्ण निष्पत्ति नही हो पाती है क्योंकि शाघ्र ही मनु और श्रद्धा का पुन मिलन हो जाता है और श्रद्धा की परिचर्या से मनु पुन पूर्ण स्वस्थ और शान्तचित्त हो जाते हैं। इस तरह निर्वेद सर्ग विविध भावो और रसों का सगम स्थल है, उसमें शोक जब चरम सीमा पर पहुँचता है तो उसी समय श्रद्धा पहुँच जाती है जिससे शोक पूर्णतया करुण रस मे निष्पन्न नहीं हो पाता। यही श्रद्धा और मनु की रतिभावना फिर विकसित होकर सामने आती है और ऐसा प्रतीत होता है कि शृगार रस मे ही काव्य का पयवसान होगा। किन्तु तभी मनु के मनमे पश्चाताप, ग्लानि और निर्वेद की भावना प्रबल हो उठती है और वे सबको छोडकर भाग जाते हैं। अत शृगार रस की भी पूण निष्पत्ति नहीं हो पायी है। अन्त मे निर्वेद सर्ग में जो निवद भाव उदित होता है वह विकसित होता हुआ आनन्द सर्ग में पूर्णतया शान्त रस मे परिणत हो जाता है।

भारतीय सुखान्त काव्यों म कोइ एक रस अगी होता है जो आदि से अन्त तक विकसित होता दिखाइ पडता है और अन्य रस अग रूप मे बीच बीच म आते हैं। पर कामायनी म काइ एक रस आद्यन्त व्याप्त नही दिखाइ पडता है, साथ ही अन्य रसो की भी पूणता नहीं दिखाइ पडती और न वे अग रूप में किसी अगी रस का उत्कष और पोषण ही करते हैं। इसका यह अर्थ नही कि कामायनी म रसात्मकता है ही नही। यदि प्रबन्धकाव्य की दृष्टि से उसकी रसवत्ता पर विचार न किया जाय तो स्फुट स्थलो म उसम जितनी रसवत्ता है उतनी बहुत कम महाकाव्यों म मिलेगी। परन्तु सम्पूण महाकाव्य म प्रधान रस की खोज करने पर परम्परागत रस दृष्टि से कामायनी दोषपूर्ण प्रतीत होती है। महाकाव्य के लक्षणों म 'रस भाव का नैरन्तर्य' भी एक लक्षण माना गया है जिसका अर्थ यह है कि इसमे आद्यन्त रस और भाव का प्रसार होना चाहिए। कामायनी के गुरुत्व और गाम्भीर्य पर विचार करते हुए कहा जा चुका है कि उसमें भावों, अनुभूतियों और मनोवृत्तियों का ही चित्रण प्रधान रूप से हुआ

हैं। यह भी कहा जा चुका है कि कामायनी म ध्वन्यात्मकता अधिक है और उसमें लक्षणामूलाध्वनि के साथ ही असलक्ष्यक्रम व्यंग्य और सलक्ष्यक्रम व्यंग्य दोनों प्रकार की अभिधामूला ध्वनिया दिखाइ पडती हैं। रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि और भावशबलता अभिधामूला असलक्ष्यक्रम व्यंग्यध्वनि के अन्तगत आते हैं[1]। कामायनी मे इन सबकी योजना हुइ है पर प्रसाद जी की प्रधान प्रवृत्ति लक्षणामूला ध्वनि की ओर ही है। इस कारण उसम भावविभावादिको की वैसी सम्यक् योजना नहीं हुइ है जेसी अन्य रसवादी (अभिधामूला ध्वनि को मानने वाले) कवियों के काव्यों म मिलती है। आनन्दवधन के अनुसार ध्वनि ही काव्य की आत्मा है जो प्रतीयमान अथ अथवा रस क अतिरिक्त और कुछ नहीं है। प्रतीयमान के भी कइ भेद (वस्तुध्वनि, अलकारध्वनि और रसध्वनि) होते हैं पर उनमें प्रधानता रस ध्वनि की है और रसभाव द्वारा ही वस्तु और अलकार का भी ज्ञापन होता है[3]। निष्कर्ष यह कि ध्वनिप्रधान होने के कारण कामायनी आद्यन्त रसात्मक काव्य है। यद्यपि उनम वस्तु वर्णन और अलकृत भावादि चित्रण की अधिकता है पर वे भी रस क उपलक्षण ही हैं, अत उनसे भी रस निष्पत्ति होती ही है। इस प्रकार कामायनी म भले ही भाव, विभाव, सचारी और अनुभाव की सम्यक् योजना न दिखाइ पडे, पर ध्वनिवाद की दृष्टि से उसम रस भाव का नैरन्तर्य स्वीकार करना पडेगा।

आनन्दवधन ने प्रबन्ध क अन्तर्गत रसाभिव्यक्ति के लिए भी कुछ लक्षण निर्धारित किये हैं। अत उन लक्षणो के आधार पर भी कामायनी के रस तत्त्व पर विचार कर लेना चाहिये। आनन्दवर्धन के अनुसार प्रबन्ध या महाकाव्य मे रस क चारो अवयवो के औचित्य से कथा शरीर की रचना होना चाहिये,

१ आनन्दवर्धन—रसभावतदाभासतत्प्रशान्त्यादिरक्रम।
ध्वनेरात्माऽङ्गिभावेन भासमानो व्यवस्थित।
ध्वन्यालोक— २–३।

२ आनन्दवर्धन—
क "काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति"—ध्वन्यालोक—१–१
ख काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवे पुरा।
क्रौंचद्वन्द्ववियोगोत्थ शोक श्लोकत्वमागत'।—ध्वन्यालोक १ ५

३ 'प्रतीयमानस्य चान्यभेददर्शनेऽपि रसभावमुखेनैवोपलक्षण प्राधान्यात्।'
—वही—१–५–कारिका।

उसमे रस के प्रतिकूल स्थलो और प्रसगो को नहा ग्रहण करना चाहिये, केवल शास्त्रीय नियमों क पालन के लिए नहीं, बाल्क रसाभिव्यक्ति की दृष्टि से स ध्या दिकों की योजना हानी चाहिये, कथा के भीतर यथावसर रसा के उद्दीपन और प्रशमन की योजना तथा विश्रान्त होते हुए प्रधान रस के अनुसन्धान का सतत ध्यान होना चाहिये और अलकारो के प्रयोग की पूर्ण शक्ति होते हुए भा रस के अनुरूप ही अलकारो की योजना होनी चाहिये। प्रबन्धगत रस की अभिव्यजना के पाँच हेतु हैं।[1] इन लक्षणा का निमाण आनन्दवधन ने भरत आदि आचार्यों के प्रबन्ध नियमो के अनुसार ही किया है और उन्हीं की तरह यह निर्देश किया है कि प्रबन्ध मे भाव विभावादिकों की सम्यक् योजना द्वारा कोई एक प्रधान रस आद्यन्त व्याप्त रहना चाहिए। भले ही बीच बीच मे वह रस विच्छिन्न होता दिखाई पडे पर कवि को उसे सँभाल कर आगे बढाते रहना और उसी रस में काव्य का पर्यवसान करना चाहिये। ऐसा होने पर अन्य गौण रस उस प्रधान रस के अगभूत हाकर रहेंगे और उनका परस्पर विरोध नही होने पायेगा।

इस दृष्टि से देखने पर कामायनी मे दो बातें दिखाइ पडती हैं —

१—यदि उसकी प्रस्तुत कथा—मनु का ऐतिहासिक वृत्त—को लिया जाय तो उसमे कोई भी प्रधान रस आद्य त व्याप्त नहीं दिखाई पडता और अन्तिम भाग मे जो शान्त रस निष्पन्न होता है वह पूववर्ती कथा भाग के रसों से असम्बद्ध प्रतीत होता है। यदि यह मान लिया जाय की उसकी ऐतिहासिक कथा मे मनु का लक्ष्य अभिनव प्रजा सृष्टि और नियमित समाज व्यवस्था की स्थापना है तो हम देखते हैं कि मनु अपने लक्ष्य पर पहुँच कर भी पूर्ण शान्ति नही प्राप्त करते। व धीरोदात्त नायक नहीं है, अत अहकार, असन्तोष, अतृप्ति, चचलता, स्वाथ आदि भावनाओं के कारण वे लक्ष्य पर पहुँचकर भी पराजित और दु खी हाते हैं, उनका पूण अभ्युदय नही होता। अत कामायनी मे उत्साह भाव प्रधान और वीर रस अगी नहीं हो सकता। उसका जो उत्साह भाव है उसकी वीर रस म पूर्णतया निष्पत्ति भी नहीं हो पायी है। उसी तरह शृगार भी उसम प्रधान रस नही है यद्यपि पूरे महाका य मे काम भावना की व्याप्ति दिखाइ पडती है। यहाँ यह बात ध्यान देने की है यह काम भाव है, रति भाव नहीं, और शृगार रस—प्रधान होने के लिए प्रब ध मे रति भाव तथा शृगार के अ य अवयवों की सम्यक् योजना आवश्यक है। यदि यह मान लिया जाय कि मनु और श्रद्धा के पुनर्मिलन मे शृगार रस की परिणति दिखाइ पडती

१—ध्वन्यालोक—३—१० से १४ तक

है तो भी उसके पूर्व जो वीर रस अर्द्ध प्रस्फुटित रूप म आया है वह किसी प्रकार इस श्रृङ्गार रस का अग नहीं प्रतीत होता क्योंकि मनु का उत्साह भाव उनके मन मे स्थित श्रद्धा के प्रति रति भाव का सहायक नहीं, विरोधी ही है। वहाँ मनु का रति भाव इडा के प्रति है, श्रद्धा के प्रति नहीं। करुण रस भी कामायनी मे प्रधान नहीं है, बल्कि यह भी कह सकते हैं कि कामायनी म उसकी पूणता नहीं दिखाइ पडता जैसी प्रब वकाव्य में होनी चाहिये। यदि यह कहा जाय कि शान्तरस पर्यवसायी होने से उसमे शान्त रस को ही अगी मानना चाहिये तो इसमे भा बाधाये हैं। उसम चिन्ता सग मे निर्वेद भाव बीज रूप म अवश्य वर्तमान है परन्तु आशा, श्रद्धा ओर काम सर्गों म मनु काम की ओर उन्मुख होकर प्रजा सृष्टि म प्रवृत्त होत हैं ओर कम, इडा, स्वप्न तथा संघर्ष सगा में बुद्धि प्रेरित कमा मे लीन होकर समाज व्यवस्था करत हैं। ये दोनों ही प्रवृत्तियाँ निर्वेद भाव की विरोधिनी हैं। अत यद्यपि शान्त रस प्रारभ म अपरिस्फुट ओर अन्त म पूर्ण निष्पन्न रूप म दिखाइ पडता है पर बीच म उसकी याजना कहीं नहीं हुइ है आर न श्रृङ्गार तथा वीर रस ही उसके सहायक रूप मे नियोजित हुए हैं। करुण रस अवश्य निर्वेद का सहायक है। यही कारण है कि चिन्ता और निवद सर्ग में करुणर स का याजना क बाद निर्वेद भाव उदित होता आर अन्त मे शान्त रस पूर्ण रूप में निष्पन्न हाता है। अत समग्र रूप म देखने पर एक मात्र शान्त रस ही ऐसा है जिसका कामायनी म पूर्ण परिपाक हुआ है, करुण उसक सहायक के रूप मे है। अत आशिक रूप म ही सही, शान्त रस का ही कामायना का सवप्रमुख रस मानना उचित है।

२—यदि कामायनी की अप्रस्तुत कथा—मानव मन द्वारा चिरन्तन आनन्द की खोज ओर उसकी उपलब्धि—की दृष्टि से देखा जाय ता भी उसमें प्रधान रस शान्त ही दिखाई पडता है। यह पूरी कथा ही प्रतीयमान कथा है जिसकी प्रतीति व्यग्य रूप मे होती है। कामायना की प्रस्तुत कथा म चाहे जो रस प्रधान माना जाय पर अप्रस्तुत कथा म ता निर्विवाद रूप से शान्त रस ही आद्य त व्याप्त दिखाइ पडता है। अप्रस्तुत कथा स्वय व्यग्य द्वारा ध्वनित होती है, अत उसम कामायनी का विशिष्ट प्रतीयमान अर्थ विशुद्ध रूप मे दिखाइ पडता है। आधुनिक आलोचना की भाषा म इसे कामायना का सदेश या कवि का जीवन दर्शन कह सकते हैं। प्रसाद ने अपना जीवन दर्शन कामायनी की अप्रस्तुत कथा के रूप मे अभिव्यक्त किया है। कामायनी के रूपकत्व पर विचार करत हुए अप्रस्तुत कथा का निर्देश किया जा चुका है

और दिखाया जा चुका है कि उस दृष्टि से 'चिदानन्द लाभ, ही मनु (मानव मन) का अन्तिम लक्ष्य है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए मनुष्य आगे बढता है, रास्ते मे अनेक विघ्न बाधाये आती हैं और अहकार, वासना, सासारिक जजाल आदि मे फँस कर वह बार बार सत्य मार्ग मे डिग जाता है, पर तु अन्त मे प्रातिभ ज्ञान के उदय ओर श्रद्धा (आस्तिक्य बुद्धि) की सहायता से शिवत्व की प्राप्ति करता है। अत अप्रस्तुत कथा मे भी अ त म शा त रस का ही परिपाक दिखाई पडता है।

उपर्युक्त विवेचन मे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हें कि यद्यपि कामायनी मे गम्भीर रसवत्ता है पर उसकी अभिव्यजना भारतीय महाकाव्यो की परम्परागत पद्धति से न होकर भिन्न प्रकार से हुई है। आनन्दवर्धन ने रसाभिव्यक्ति के लिए सन्धियों की विशेष प्रकार से योजना करने की बात कही है। कामायनी के कथानक पर विचार करते हुए हम देख चुके हैं कि उसमे विमर्श सन्धि की योजना पूर्ण रूप मे नही हुई है। उसी तरह कार्यावस्थाओ मे से प्राप्त्याशा नामक कार्यावस्था उसम नही है। पर पाश्चात्य ढग की कार्यावस्थाओ में से प्रथम चार उसम वर्तमान हें जो प्रारम्भ से निर्वेद सर्ग तक प्रसरित हैं। इससे यह स्पष्ट है कि निर्वेद सर्ग तक कथा प्रधानतया पाश्चात्य ढग के दुखान्त प्रबन्धों के ढग की है। यही कारण है कि कामायनी मे निर्वेद सर्ग के पूर्व तक भारतीय प्रबन्धो जेसी रसाभिव्यक्ति की पद्धति नहीं दिखाई पडती है। कथा के उस अश म विरोध ओर सघर्ष का विकास दिखाया गया हे जिसका परिणाम दुख और शोक होता है। यदि कामायनी को प्रसाद ने निर्वेद सर्ग के मध्य मे ही समाप्त कर दिया होता तो वह पाश्चात्य ढग का एक सफल शोकान्त महाकाव्य होता और उसम उत्कृष्ट कोटि की प्रभावान्विति भी होती। प्रभावान्विति समग्र प्रभाव की उस तीव्रता को कहते हैं जो मन को उत्तेजित और विकल कर के मनन करने के लिए विवश करती है और नायक के प्रति सहानुभूति उत्पन्न कर के दुखो के कारणो का उन्मूलन करने के लिए प्रयत्न उत्पन्न करता है। कामायनी 'आनन्दान्त' काव्य है, अत यह तो स्पष्ट है कि उसम पाश्चात्य दुखान्त रचनाओ जेसी प्रभावान्विति नही है। पर उसकी विशेषता यह है कि दुखो की व्यापकता दिखा कर उन्हीं के बीच मे आनन्द को स्फुरित होते हुए दिखाया गया है। प्रसाद का जीवन दर्शन ही यही है जिसे उन्होंने श्रद्धा द्वारा इस प्रकार व्यक्त कराया है —

> दुख की पिछली रजनी बीच विकसता सुख का नवल प्रभात।
> एक परदा यह झीना नील छिपाये हे जिसमे सुख गात।

विपमता की पीडा से व्यस्त हो रहा स्पन्दित विश्व महान ।
यही सुख दुख विकास का सत्य यही भूमा का मधुमय दान !
नित्य समरसता का अधिकार उमडता कारण जलधि समान !
व्यथा से नीली लहरों बीच बिखरते सुख मणिगण द्युतिमान !
—श्रद्धा सर्ग

कहने की आवश्यकता नहीं कि कामायनी की कथा की योजना इसी सिद्धान्त के अनुसार हुई है । पाश्चात्य काव्यो मे यथार्थ जीवन के आधार पर केवल दुःख का दर्शन कराया जाता है और भारतीय काव्यो मे आदर्शवाद के आधार पर अधिकाशत सुख का ही आयोजन होता है । पर सच्चा सुख, जिसे आनन्द कहते हैं, सुख दुःख दोनों से ऊपर है । यद्यपि सुख दुःख दोनो अनिवार्य और विकास के कारण रूप हैं पर वे आनन्द स्वरूप नहीं हैं । आनन्द का कारण सुख दुःख मे समरसता की भावना है अर्थात् विश्व को खेल समझ कर सुख दुःखों को झेलते चलने से ही चिदानन्द लाभ हो सकता है —

तुमने हस कर मुझे सिखाया विश्व खेल है खेल चलो !

अत कामायनी कथा के पूर्वाश मे सुख दुःख की आँखमिचौनी दिखायी गयी है, उसमे दुःख जीतता है पर सहसा इसी दुःख की चरमावस्था म आनन्द का उदय होता है । इस प्रकार कामायनी मे पाश्चात्य प्रभावान्विति सिद्धान्त और भारतीय रस सिद्धान्त दोनो का अद्भुत समन्वय दिखाइ पडता है । इसलिए उसे सुखान्त या दुःखान्त काव्य न कह कर आनन्दान्त काव्य कहना अधिक उपयुक्त है । उसे पढने के बाद जो अनुभव होता है उसमे प्रभावान्विति और रसवत्ता का सुन्दर सामजस्य दिखाइ पडता है अर्थात् कामायनी मे जितनी तीव्र प्रभावान्विति है उतनी ही गम्भीर रसवत्ता भी है ।

८—अक्षुण्ण जीवनी शक्ति और सशक्त प्राणवत्ता

कामायनी बीसवीं शताब्दी का महाकाव्य है और उसे लिखे गये अभी बीस वर्ष भी पूरे नहीं हुए, परन्तु इतने कम समय मे ही उसकी इतनी ख्याति हो चुकी है कि राष्ट्र सघ की 'शिक्षा सस्कृति-परिषद्' द्वारा रामचरितमानस के साथ उसका भी ससार की विभिन्न भाषाओं म अनुवाद कराया जा रहा है । इसीसे उसकी जीवनी शक्ति और प्राणवत्ता का अनुमान किया जा सकता है । जीवनी शक्ति की परीक्षा समय द्वारा होती है । जो महाकाव्य काल और देश की बाधाओं को अस्वीकार कर जीवित रहते और दूर दूर तक प्रख्यात होते हैं, उनम अवश्य वह जीवनी शक्ति होती है जो कभी नष्ट नहीं होती । ऐसे ही

काव्य अमर काव्य का पद पाते हैं। कामायनी मे वह अक्षुण्ण जीवनी शक्ति है या नहीं, इसका उत्तर भविष्य देगा। पर विगत बीस वर्षो म उसके प्रचार और ख्याति को देखते हुए यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि उसम वह जीवनी शक्ति पयाप्त मात्रा में है। अनेक विद्वानो का मत है कि श्रेष्ठता और महानता मे हिन्दी महाकाव्यो मे रामचरितमानस के बाद कामायनी का ही स्थान है और इस बात म तो सन्देह करने का अवकाश ही नही है कि वह आधुनिक युग का हिन्दी का सवश्रेष्ठ महाकाव्य है।

जहाँ तक सशक्त प्राणवत्ता का प्रश्न है, वह भी उसमे पूर्ण रूप मे वर्तमान है। महाकाव्य की प्राणवत्ता कवि की प्राणवत्ता की ही अभिव्यक्ति होती है। प्राणवान व्यक्ति जिस तरह राजनीतिक और सामाजिक क्षेत्र मे अपनी प्राण शक्ति को ढाल कर देशो और जातियों का भाग्य बदल देते हैं उसी तरह महाप्राण कवि भी राष्ट्र या जाति के पथ प्रदशक, भाग्य निमाता और भविष्य द्रष्टा होते हैं। उनकी वाणी मे समाज का सुख दु ख, आशा निराशा, उत्थान पतन साकार हो उठता है जिसका अनुगमन करके राष्ट्र अथवा समाज अपना भविष्य निर्माण करते हैं। प्रसाद जी महाप्राण और द्रष्टा कवि थे। उन्होने कामायनी मे अपनी सम्पूर्ण प्राणवत्ता, अपना समस्त जीवन रस निचोड कर उपस्थित कर दिया है। उन्होंने भारतीय सस्कृति का अध्ययन, मन्थन और मनन करके उसके सार तत्त्व को आत्मसात कर लिया था। इसलिए उनके साहित्य मे भारत का राष्ट्रीय और सास्कृतिक गौरव पूर्ण रूप में अभिव्यक्त हुआ है। कामायनी उनकी रचनाओं मे शीर्ष स्थान पर प्रतिष्ठित है और उसमें कवि ने भारतीय सस्कृति के साथ ही मानव सस्कृति के उच्च आदर्शों की भी प्रतिष्ठा की है। अत कामायनी भारत का सास्कृतिक और जातीय महाकाव्य तो है ही, साथ ही वह विश्व काव्य भी है। उसका आदर्श सकुचित राष्ट्रीयता या सकीर्ण जातीयता का आदर्श नहीं है। मनुष्य जाति आज बाद्धिकता और विज्ञान के सहारे भोतिक उन्नति के शिखर पर पहुँच चुकी है पर इस उन्नति के क्रम म उसके हार्दिक गुणो का उत्तरोत्तर ह्रास होता गया है। परिणामस्वरूप महायुद्धों के बीच की अवधि कम होती जा रही है और उनकी भीषणता तथा उनकी प्रतिक्रिया और प्रभाव से उद्भूत निराशा और विभीषिका उत्तरोत्तर बढती जा रही है। दु ख सागर मे डूबते हुए मानव को अपनी रक्षा का कोई उपाय नही मिल रहा है, बचने का कोई रास्ता भी नहीं मिल पा रहा है और वह अन्धा बन कर नाश के अतल गर्त की ओर दौडता जा रहा है। ऐसे दु ख दग्ध विश्व मानव को प्रसाद ने एक महान

आशाजनक सन्देश दिया है जो भारतीय संस्कृति का प्राण-तत्व है, वह श्रद्धा या आध्यात्मिक आस्था का सन्देश है —

तुमुल कोलाहल कलह मे मै हृदय की बात रे मन !
चिर विषाद विलीन मन की
इस व्यथा के तिमिर वन की
मै उषा सी ज्योति रेखा, कुसुम विकसित प्रात रे मन
जहाँ मरु ज्वाला धधकती
चातकी कन को तरसती
उन्ही जीवन घाटियो की मै सरस बरसात रे मन !
पवन के प्राचीर मे रुक
जला जीवन जी रहा झुक
इस झुलसते विश्व दिन की मै कुसुमऋतु रात रे मन !

—निर्वेद सर्ग

इस प्रकार कामायनी श्रद्धा के रूप म अधकार के बीच प्रकाश फैलाती हुई विश्व मानव को गम्भीर जीवनास्था और सशक्त प्रेरणा प्रदान करती है। यह जीवनास्था और प्रेरणा इसी युग के लिए नहीं, आने वाले सभी युगा के लिए उपयोगी है। विश्व कल्याण और विश्व मैत्री कामायनी का उच्चतम आदर्श है जिसको अपना कर मानव जाति चिरन्तन आनन्द को प्राप्त कर सकेगी। उस अवस्था म पहुँच कर समस्त मानव जाति एक इकाइ के रूप मे बदल जायगी, अपना पराया, राष्ट्र वर्ग, जाति धम और रग वर्ण को भेद मिट जायेंगे —

बोले देखो कि यहाँ पर कोई भी नही पराया।
हम अन्य न और कुटुम्बी, हम केवल एक हमी है।
तुम सब मरे अवयव हो जिसमे कुछ नही कमी है।

यही विश्व मानव का उच्चतम आदर्श है, यही विश्व संस्कृति की महती कल्पना और कामायनी की सशक्त प्राणवत्ता है जो उसे युग युग तक मानव का अमर प्रकाश स्तम्भ बनाये रखेगा।



दसवाँ अध्याय

उपसंहार

अब तक हमने हिन्दी साहित्य के पाँच प्रतिनिधि महाकाव्यों के महाकाव्यत्व और रूप शिल्प के विधायक तत्त्वों के सम्बन्ध में विस्तार से विचार किया है। प्रश्न हो सकता है कि क्या हिन्दी में पाँच ही महाकाव्य हैं? इस सम्बन्ध में पहले यह देख लेना आवश्यक है कि हिन्दी में आदिकाल से अबतक लिखे जाने वाले प्रसिद्ध और महत्वपूर्ण प्रबन्धकाव्यों में से कितने ऐसे हैं जिन्हें साहित्य के इतिहासकारों, विद्वान अध्येताओं और सामान्य जनता ने महाकाव्य रूप में स्वीकार किया है। तत्पश्चात् हम उन काव्यों की परीक्षा द्वितीय अध्याय में निर्धारित महाकाव्य के स्थायी लक्षणों के आधार पर करेंगे और इस निश्चय पर पहुँचने का प्रयत्न करेंगे कि उन प्रबन्धकाव्यों को महाकाव्य मानना चाहिये या नहीं।

हिन्दी में प्रबन्धकाव्यों की संख्या कम नहीं है। आदिकाल से अबतक हजारों छोटे-बड़े प्रबन्धकाव्य लिखे गये होंगे जिनमें से न जाने कितने काल कवलित हो चुके, न जाने कितने हस्तलिखित पोथियों के रूप में ग्रन्थ भाण्डारों की एकान्त कोठरियों अथवा पुस्तक प्रेमियों के घरों में बेठनों में लिपटे पड़े होंगे। जो प्राचीन और नवीन प्रबन्धकाव्य आज तक प्रकाशित हो चुके हैं उनकी संख्या अधिक नहीं है। साथ ही कुछ ऐसे प्रबन्धकाव्य भी हैं जो प्रकाशित तो नहीं हैं पर खोज रिपोर्टों में उनका विवरण प्रकाशित हो चुका है अथवा इतिहासकारों और साहित्यान्वेषकों ने जिनके सम्बन्ध में कुछ न कुछ विवरण प्रकाशित कराया है।

इन प्रबन्धकाव्यों में से बहुत से सर्गबद्ध और आकार में बड़े हैं। पर विद्वानों ने इन सबको महाकाव्य नहीं माना है। संस्कृत में शास्त्रीय लक्षणों के अनुसार लिखे गये आठ से अधिक सर्गों वाले सभी प्रबन्धकाव्यों को महाकाव्य कहने की परिपाटी थी। दूसरे, तीसरे और चौथे अध्याय में कहा जा चुका है कि प्राकृत और अपभ्रंश में पौराणिक और रोमांचक शैली के प्रबन्धकाव्यों का प्रचलन हुआ जिनमें महाकाव्य के शास्त्रीय लक्षणों का पालन नहीं किया गया था और हिन्दी में प्रबन्धकाव्यों की जो धारा चली उसमें अधिकतर अपभ्रंश के प्रबन्धकाव्यों की रूढ़ियों को ही अपनाया गया। हिन्दी साहित्य पर लोक

आशाजनक सन्देश दिया है जो भारतीय सस्कृति का प्राण-तत्त्व है, वह श्रद्धा या आध्यात्मिक आस्था का सन्देश है —

तुमुल कोलाहल कलह मे मै हृदय की बात रे मन !
चिर विषाद विलीन मन की
इस व्यथा के तिमिर वन की
मै उषा सी ज्योति रेखा, कुसुम विकसित प्रात रे मन !
जहाँ मरु ज्वाला धधकती
चातकी कन को तरसती
उन्ही जीवन घाटियो की मै सरस बरसात रे मन !
पवन के प्राचीर में रुक
जला जीवन जी रहा झुक
इस झुलसते विश्व दिन की मै कुसुमऋतु रात रे मन !

—निर्वेद सर्ग

इस प्रकार कामायनी श्रद्धा के रूप म अधकार के बीच प्रकाश फैलाती हुई विश्व मानव को गम्भीर जीवनास्था और सशक्त प्रेरणा प्रदान करती है। यह जीवनास्था और प्रेरणा इसी युग के लिए नहीं, आने वाले सभी युगा के लिए उपयोगी है। विश्व कल्याण और विश्व मैत्री कामायनी का उच्चतम आदर्श है जिसको अपना कर मानव जाति चिरन्तन आनन्द को प्राप्त कर सकेगी। उस अवस्था मे पहुँच कर समस्त मानव जाति एक इकाइ के रूप मे बदल जायगी, अपना पराया, राष्ट्र वर्ग, जाति धम और रग वण को भेद मिट जायेंगे —

बोले देखो कि यहाँ पर कोई भी नही पराया।
हम अन्य न और कुटुम्बी, हम केवल एक हमी है।
तुम सब मेरे अवयव हो। जिसमे कुछ नही कमी है।

यही विश्व मानव का उच्चतम आदर्श है, यही विश्व सस्कृति की महती कल्पना और कामायनी की सशक्त प्राणवत्ता है जो उसे युग युग तक मानव का अमर प्रकाश स्तम्भ बनाये रखेगा।

दसवाँ अध्याय

उपसंहार

अब तक हमने हि दी साहित्य के पाँच प्रतिनिधि महाकाव्यो के महाकाव्यत्व और रूप शिल्प के विधायक तत्त्वो के सम्ब ध मे विस्तार से विचार किया है। प्रश्न हो सकता है कि क्या हिन्दी म पाँच ही महाकाव्य हैं? इस सम्बन्ध मे पहले यह देख लेना आवश्यक है कि हिन्दी में आदिकाल से अबतक लिखे जाने वाले प्रसिद्ध और महत्वपूर्ण प्रबन्धकाव्यो मे से कितने ऐसे हैं जि हे साहित्य के इतिहासकारो, विद्वान अध्येताओ और सामान्य जनता ने महाकाव्य रूप मे स्वीकार किया है। तत्पश्चात् हम उन काव्यो की परीक्षा द्वितीय अ याय म निधारित महाकाव्य के स्थायी लक्षणों के आधार पर करेंगे और इस निश्चय पर पहुँचने का प्रयत्न करेंगे कि उन प्रबन्धकाव्यों को महाकाव्य मानना चाहिये या नहीं।

हिन्दी मे प्रबन्धकाव्यों की संख्या कम नही है। आदिकाल से अबतक हजारों छोटे बडे प्रबन्धकाव्य लिखे गये होगे जिनम से न जाने कितने काल कवलित हो चुके, न जाने कितने हस्तलिखित पोथियो के रूप मे ग्रन्थ भाण्डारों की एकान्त कोठरियो अथवा पुस्तक प्रेमियो के घरों म बेठनों मे लिपटे पडे होंगे। जो प्राचीन और नवीन प्रबन्धकाव्य आज तक प्रकाशित हो चुके है उनकी सख्या अधिक नही है। साथ ही कुछ ऐसे प्रबन्धकाव्य भी है जो प्रकाशित तो नहीं हैं पर खोज रिपोर्टो मे उनका विवरण प्रकाशित हो चुका है अथवा इतिहासकारों और साहित्यान्वषको ने जिनके सम्ब ध मे कुछ न कुछ विवरण प्रकाशित कराया हे।

इन प्रबन्धकाव्यो म से बहुत से सर्गबद्ध और आकार म बडे हैं। पर विद्वाना ने इन सबको महाकाव्य नहीं माना है। सस्कृत म शास्त्रीय लक्षणा के अनुसार लिखे गये आठ से अधिक सर्गो वाले सभी प्रबन्धकाव्यो को महाकाव्य कहने की परिपाटी थी। दूसरे, तीसरे और चौथे अध्याय मे कहा जा चुका है कि प्राकृत और अपभ्रश म पौराणिक और रोमाचक शैली के प्रबन्धकाव्यो का प्रचलन हुआ जिनम महाकाव्य के शास्त्रीय लक्षणा का पालन नही किया गया था और हिन्दी म प्रबन्धकाव्यो की जो धारा चली उसमे अधिकतर अपभ्रश के प्रबन्धकाव्यों की रूढियों को ही अपनाया गया। हिन्दी साहित्य पर लोक-

जीवन का प्रभाव प्रारभ से ही बहुत अधिक रहा है। इस कारण हिन्दी के प्रबन्ध कवियो ने प्रारभ मे लोक साहित्य तथा लोकाश्रित अपभ्रश का या की परपरा को जितना ग्रहण किया उतना सस्कृत की शास्त्रीय और लोक विरहित प्रबन्ध परम्परा को नहीं। उनके काव्यों का रूप शिल्प अधिकाशत सस्कृत के शास्त्रीय शैली के महाकाव्यों से भिन्न था। अत न तो उन कवियो ने ही अपने प्रबन्ध-काव्यो को महाकाव्य कहा और न आचार्यो तथा आलोचको ने ही उ हे महा काव्य सिद्ध करने का प्रयत्न किया। वस्तुत हिन्दी की प्रबन्ध धारा सस्कृत की प्रबन्ध धारा से बहुत कुछ स्वतन्त्र दिशा म प्रवाहित हुई जिसक मूल म विविध सामाजिक, धामिक, राजनीतिक और भाषाशास्त्रीय कारण थे। आधुनिक युग मे जब सास्कृतिक पुनजागरण का आन्दोलन प्रारम्भ हुआ तो साहित्यिको की दृष्टि सबसे पहले संस्कृत साहत्य और उसके काव्यशास्त्र की ओर गयी। इस युग मे महाकाव्य के सम्बन्ध मे जो मान्यताये स्वीकृत हुईं वे संस्कृत साहित्यशास्त्र से पूणतया प्रभावित थी। उन्ह स्वीकार करने क पूर्व यह सोचने की आवश्यकता नही समझी गयी कि अपभ्रश आर हिन्दी की प्रबन्ध धारा सस्कृत के साहित्य शास्त्र से बहुत कुछ स्वतन्त्र है, अत उसकी जो निजी विशेषतायें और प्रबन्ध नियम हैं उनक आधार पर स्वतन्त्र लक्षणो का निमाण किया जाय। बीसवीं शताब्दी मे हिन्दी मे महाकाव्य नाम से जो काव्य लिखे गये उनमे भी सस्कृत के महाकाव्य सम्बन्धी लक्षणा का जितना ध्यान रखा गया उतना अपभ्रश और हिन्दी के प्राचीन प्रबन्धकाव्यों की परम्परा का नही। यही कारण है कि बीसवीं शताब्दी मे ही ऐस प्रब धकाव्य अधिक लिखे गये जिन्हें शास्त्रीय शैली का काव्य कहा जा सकता है। पूर्ववर्ती युगो में भी कुछ प्रबन्धकाव्य ऐसे अवश्य लिखे गये थे जिन पर सस्कृत साहित्यशास्त्र का प्रभाव था। केशव की रामचन्द्रिका ऐसा ही काव्य है। परन्तु ऐसे प्रबन्धकाव्या की सख्या बहुत कम है। हिन्दी के प्रेमाख्यानक काव्य तो सबके सब अपभ्रश के चरितकाव्य और अशत फारसी की मसनवी पद्धति से प्रभावित हैं हो, प्रशस्ति मूलक ऐतिहासिक प्रबन्ध काव्य आर पौराणिक शैली क चरितकाव्य भी महाकाव्य के शास्त्रीय नियमों के अनुसार नहीं लिखे गये हैं। सबसे आश्चर्य की बात तो यह है कि उत्तर मध्यकाल मे जहा रीति काव्य म सस्कृत के साहित्यशास्त्रो की उद्धरणी उपस्थित की गयी, वहीं सस्कृत के प्रबन्धकाव्यों की समृद्ध धारा का बहुत कम अनुसरण किया गया। सस्कृत साहित्यशास्त्र से पूणतया प्रभावित होती हुई भी रीति कालीन काव्य धारा मुक्तकप्रधान ही रही, प्रबन्धकाव्यो की रचना निर्बन्ध काव्य के अनुपात मे बहुत कम हुई।

आधुनिक युग से पहले के जितने प्रबन्धकाव्य प्राप्त हैं, उनमे बहुत से तो आकार की लघुता तथा विषय वस्तु की एकांगिता और महत्व हीनता के कारण ही महाकाव्य की सीमा म विचारणीय नहीं हैं। पद्मावत के अतिरिक्त अन्य सभी प्रेमाख्यानक काव्य इसी कोटि मे आते हैं। अन्य प्रकार के काव्या में बीसलदेवरास, बेलि क्रिसन रुक्मिनी री, हरिचरित्र, हम्मीरहठ आदि भी इसी प्रकार क लघु अथवा सामान्य साहित्यिक मूल्य के काव्य हैं। जो बडे आकार वाले प्रबन्धकाव्य ह उनमे से कुछ तो ऐसे हैं जिनमे ऐतिहासिक इतिवृत्त ही प्रधान है और विषय वस्तु, काव्य शैली, चरित्र चित्रण तथा उद्देश्य की महानता की दृष्टि से जिनका अधिक महत्व नही है। विजयपालरासो तथा खुमाणरासो ऐसे ही काव्य है। अत महाकाव्य के सम्बन्ध मे विचार करते समय उनका भी उल्लेख आवश्यक नहीं है। प्रशस्तिमूलक काव्यो—सूदन के सुजानचरित्र और पद्माकर की हिम्मतबहादुर विरुदावली, केशव क जहागीर जस चन्द्रिका और वीरसिंहदेव चरित आदि—के नायक इतने लोकप्रिय और उदात्त चरित वाले नही है कि उनका आश्रय लेकर महाकाव्य की रचना की जा सके। मध्यकाल के दरबारी कवि अपने आश्रयदाताओ अथवा उनके पूर्व पुरुषों से सबधित जो प्रशस्तिमूलक काव्य लिखते थे उनम उद्देश्य की महानता नही होती थी। वे कवि अर्थ प्राप्ति की दृष्टि से आश्रयदाताओ की प्रसन्नता क लिये काव्य रचना करते थे। ऐसे कवियो द्वारा महाकाव्य क्या, वास्तविक लघु प्रबन्धो या खण्डकाव्यों की रचना भी सभव नहीं है। इसी दृष्टि से प० विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने लिखा है कि "हिन्दी मे प्रबन्ध काव्यों की बहुत कमी है। वीर काव्य, उन प्रबन्धकाव्यो मे यदि रासा (पृथ्वीराजरासो) को छोड दे, तो केवल छत्र प्रकाश ही ऐसा रह जाता है जो कुछ जँचता है। सुर्जन चरित्र, हिम्मत बहादुर विरुदावली आदि वीर काव्य इसलिए गिनने योग्य नहीं हैं कि उनम नायक का ही उपयुक्त चुनाव नही है, रस के स्थान पर रसाभास होने लगता है।"[1]

पौराणिक शैली के मध्यकालीन प्रबन्धकाव्यो मे सबलसिंह चौहान का महाभारत, ब्रजवासीदास का ब्रजविलास, मधुसूदनदास का रामाश्वमेध, पद्माकर का रामरसायन, विश्वनाथ सिंह कृत रामायण, गुमान मिश्र की कृष्ण चन्द्रिका और केशवदास की रामचन्द्रिका प्रमुख हैं। इनमे से महाभारत और ब्रजविलास पर्याप्त बडे और लोकप्रिय ग्रंथ हैं पर उनमे काव्यात्मकता और

1—आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र—हिन्दी का सामयिक साहित्य—प्रथम सस्करण स० २००८, पृ० १३१।

मौलिकता का अभाव है। साधारण श्रेणी के भक्त पाठकों के लिए ही इनका महत्व है। इनमे तुलसी के 'मानस' की शैली का अनुकरण किया गया है जिससे ये सर्वसाधारण के लिए सहज बोधगम्य हैं। पद्माकर का रामरसायन वाल्मीकि रामायण के आधार पर लिखा गया है। वह काण्डो में विभक्त और रामचरितमानस की शैली में लिखा गया बडा चरितकाव्य है पर इसमे काव्यात्मकता साधारण कोटि की है जिससे पडित रामचन्द्र शुक्ल ने यह अनुमान किया है कि "सभव है यह इनका (पद्माकर का) न हो।"[1] रामाश्वमेघ रीतिकाल के अधिकाश प्रबन्धकाव्यो की अपेक्षा अधिक कवित्वपूर्ण एव परिमार्जित शैली का काव्य है। उसमे पद्मपुराण तथा वाल्मीकि रामायण के उत्तरकाण्ड की कथा का आधार ग्रहण करके तथा राम के अश्वमेघ यज्ञ को केन्द्रबिंदु बना कर कथा वस्तु का विन्यास किया गया है। इस काव्य पर रामचरितमानस की शैली का इतना अधिक प्रभाव है कि शुक्ल जी के शब्दो मे वह "सब प्रकार से गोस्वामी जी के रामचरितमानस का परिशिष्ट ग्रन्थ होने योग्य है।"[2] इसके काव्य सौष्ठव के सम्बन्ध मे शुक्ल जी ने लिखा है कि 'ग्रन्थ की रचना बिलकुल रामचरितमानस की शैली पर हुई है—पद विन्यास और भाषा सौष्ठव रामचरितमानस का सा ही है, गोस्वामी जी की प्रणाली के अनुसरण मे मधुसूदनदास जी को पूरी सफलता हुई है। इनकी प्रबन्ध कुशलता, कवित्व शक्ति और भाषा की शिष्टता तीनों उच्च कोटि की है।"[3] इससे स्पष्ट है कि रामाश्वमेघ का महत्व केवल इसी बात मे है कि वह 'मानस' का परिशिष्ट और उसकी शैली मे लिखा गया काव्य है। उसमे कवि ने न तो अपनी विशिष्टता और मौलिकता दिखाई है और न 'मानस' की शैली को ही और आगे बढाया है। यद्यपि उसके नायक राम जैसे महान पुरुष है और उसकी शैली भी उदात्त है पर उसमे उद्देश्य की वह महानता, जीवन की वह समग्रता और कवि की प्रतिभा की वह उत्कृष्टता नही दिखाई पडती जो 'मानस' मे है। राम के जीवन के एक लघु अश की कथा लेकर ही कवि ने वस्तु वर्णन द्वारा कथानक का अनावश्यक विस्तार किया है। अत केवल बृहत् आकार और वस्तु वर्णन विस्तार के कारण ही रामाश्वमेघ को महाकाव्य नहीं माना जा सकता।

१—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—हिन्दी साहित्य का इतिहास—आठवा सस्करण—पृ० ३०९

२— वही, पृ० ३७४।

३—वही, पृ० ३७५।

इस प्रकार मध्यकाल के कुल पाँच प्रबंधकाव्य ऐसे दिखाई पड़ते हैं जिनके महत्व को दृष्टि में रख कर यह विचार किया जा सकता है कि उनमें महाकाव्यत्व है या नहीं। वे ये हैं —

(१) केशव की रामचन्द्रिका
(२) मान कवि का राजविलास
(३) गोरेलाल का छत्रप्रकाश
(४) गुमान मिश्र की कृष्णचन्द्रिका
(५) जोधराज का हम्मीररासो

इनमें से रामचन्द्रिका को बहुत से विद्वानों ने महाकाव्य माना भी है। कृष्णचंद्रिका भी काव्य सौन्दर्य की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण प्रबन्धकाव्य है। अतः इन दोनों के संबंध में बाद में कुछ विस्तार से विचार किया जायगा। पहले अन्य तीनों काव्यों के बारे में विचार किया जा रहा है।

राजविलास—

यह एक ऐतिहासिक शैली का चरितकाव्य है जिसमें संस्कृत के प्रशस्तिमूलक चरितकाव्य—नवसाहसांकचरित, विक्रमांकदेवचरित आदि—तथा हिन्दी के पृथ्वीराजरासो की काव्य पद्धति अपनायी गयी है। ऐतिहासिक शैली के चरितप्रधान महाकाव्यों की भाँति इसमें भी प्रारंभ के दो सर्गों में महाराणा राजसिंह के वंश की उत्पत्ति, उनके पूर्व पुरुषों का इतिहास, नायक का जन्म आदि वर्णित है। उसके बाद अन्त तक नायक के विवाह, युद्ध, पराक्रम, उदारता आदि का वर्णन हुआ है। काव्य अपूर्ण प्रतीत होता है। इस संबंध में लाला भगवान दीन ने लिखा है, "पुस्तक का अन्तिम उल्लास पढ़ते पढ़ते भास होने लगता है कि कवि यहीं पर ग्रंथ को समाप्त नहीं करना चाहता था पर तु इसी वर्ष (सं० १७३७ वि०) महाराणा राजसिंह का देहान्त हो गया। इसलिये कवि ने अचानक ग्रंथ की समाप्ति की है।"[1] लाला जी का यह अनुमान सही है। यद्यपि अंतिम 'विलास' में नायक का पूर्ण अभ्युदय दिखाई पड़ता है पर प्राचीन काव्यों में अंत में जो उपसंहार पद्धति दिखाई पड़ती है वह इसमें नहीं है। अतः चाहे जिस कारण हो, राजविलास अपूर्ण रह गया है। किन्तु इसका विशेषता यह है कि कवि ने इसे ऐतिहासिक शैली का महाकाव्य बनाने का प्रयत्न किया है और इसमें महाकाव्य संबंधी प्रायः सभी शास्त्रीय लक्षणों का पालन किया है। इसमें कुल १८ विलास (सर्ग) हैं। प्रारंभ में विस्तार से सरस्वती

१—लाला भगवानदीन—राजविलास—भूमिका, काशी, १९१२ ई०, पृ० ७।

वन्दना की गयी है । साथ ही प्रस्तावना की सभी रूढ़ियों—वस्तु निर्देश, ग्रथारम्भ के कारण का उल्लेख, ग्रथारम्भ की तिथि का निर्देश, आत्म लघुता प्रदर्शन आदि—का विधान हुआ है । प्रथम और चतुर्थ विलास में प्रकृति चित्रण और वस्तु वर्णन सुन्दर हुआ है । युद्ध, विवाह, नगर, देश, राज्याभिषेक, धार्मिक कार्य आदि का भी बहुत अच्छा वर्णन हुआ है । इस तरह महाकाव्य के बाह्य लक्षणों की दृष्टि से देखने पर राजविलास महाकाव्य प्रतीत होता है । किन्तु ऐतिहासिक इतिवृत्त वर्णन ही इसका प्रधान उद्देश्य है जिससे इसमें न तो कथानक की अन्विति है न वीर रस के अतिरिक्त अन्य रसों की अंग रूप में योजना ही हुई है । यद्यपि राजसिंह के चरित्र में महाकाव्योचित महानता है पर कवि ने उसका सुनियोजित उपयोग करके तथा जीवन की विविध परिस्थितियों में नायक को रखकर उसके चरित्र का पूर्ण उत्कर्ष नहीं दिखलाया है । इन कारणों से तथा ग्रंथ के अपूर्ण रह जाने से राजविलास को महाकाव्य नहीं माना जा सकता ।

छत्रप्रकाश—

यह भी ऐतिहासिक शैली का प्रशस्तिमूलक चरितकाव्य है जिसकी रचना गोरेलाल ने महाराज छत्रसाल की आज्ञा से उनकी कीर्ति को स्थायी बनाने के लिए की थी । यद्यपि यह २६ अध्यायों में विभक्त है पर उसमें न तो जीवन की समग्रता और परिस्थितियों की विविधता है और न कथानक का सुनियोजित संघटन ही हुआ है । प्रकृति चित्रण, आलम्बन का रूप चित्रण, भावात्मकता और गांभीर्य का उसमें नितान्त अभाव है जिससे पूरे काव्य में ऊबा देने वाली एकरसता और नीरस ऐतिहासिक इतिवृत्तात्मकता दिखाई पड़ती है । केवल दो स्थलों पर यह एकरसता भंग हुई है, प्रारम्भ में छत्रसाल के जन्म और बाल चरित के वर्णन में तथा अन्त के तीन अध्यायों (२३, २४ २५) में प्राणनाथ प्रभु की आध्यात्मिक शिक्षा, औपनिषदिक ज्ञान और कृष्णावतार के वर्णन में । यद्यपि छत्रप्रकाश में युद्धों की भरमार है फिर भी वीर रस की वैसी योजना नहीं हुई है जैसी महाकाव्य में होती है । युद्ध वर्णन तो इतिहास में भी होता है पर उसे रसात्मक काव्य नहीं माना जाता । अतः आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का यह कथन पूर्णतया ठीक है कि "इतिहास की दृष्टि से 'छत्रप्रकाश' बड़े महत्व की पुस्तक है । इसमें सब घटनायें सच्ची और सब ब्यौरे ठीक ठीक दिये गये हैं ।" किन्तु उसके बाद ही शुक्ल जी ने यह कहा है कि "ग्रंथ की रचना प्रौढ़ और काव्य गुणयुक्त है । वर्णन की विशदता के अतिरिक्त लाल कवि में प्रबन्धपटुता पूरी थी । सम्बन्ध का निर्वाह भी अच्छा है और वर्णन विस्तार

के लिए मार्मिक स्थलों का चुनाव भी।"[1] इस कथन से, सम्भव है, बहुत से लोग सहमत न हों क्योंकि मार्मिक स्थलों के चुनाव के साथ ही जिस मर्मस्पर्शी भावव्यंजना की प्रबन्धकाव्य में आवश्यकता होती है, वह उसमें नहीं है। अतः 'छत्रप्रकाश' को महाकाव्य मानने का कोई आधार नहीं है।

हम्मीररासो—

यह उन्नीसवीं शताब्दी का, रासो ग्रंथों की परम्परा में सम्भवतः अन्तिम महत्वपूर्ण प्रबन्धकाव्य है। इसमें पृथ्वीराजरासो की भाषा, शैली और छन्द-विधान का अनुकरण किया गया है। यद्यपि यह बड़ा ग्रंथ है और इसमें कुल ९७९ छन्द हैं पर वह सर्गों में विभक्त नहीं है। इसे भी ऐतिहासिक शैली का प्रशस्तिमूलक चरितकाव्य कहा जा सकता है। प्रशस्ति काव्य या तो आश्रयदाता के जीवन से सम्बन्धित होते थे या उनकी आज्ञा से उनके पूर्वजों की कीर्ति रक्षा के लिए लिखे जाते थे। जोधराज ने भी अपने आश्रयदाता नीमराणा के राजा चन्द्रभान के अनुरोध से उनके पूर्वज हम्मीर देव के चरित का वर्णन करने के लिए इस काव्य की रचना की। अतः यह तो स्पष्ट है कि हम्मीर देव के महान चरित से प्रभावित होकर अथवा हिन्दू धर्म और भारतीयता के प्रेम की प्रेरणा से इस काव्य की रचना नहीं हुई। फलतः वीरकाव्य होते हुए भी इसमें उमंग और उत्साह का तीव्र स्वर तथा उद्देश्य की वह महानता नहीं दिखाई पड़ती जो पृथ्वीराजरासो में है। ऐतिहासिक चरितकाव्यों की भाँति इसमें भी प्रारम्भ में विभिन्न देवी देवताओं की स्तुति, गुरु वन्दना, आश्रयदाता की प्रशंसा, ग्रंथ-रचना का कारण निर्देश, अपने वंश और पिता का वर्णन, ग्रंथारम्भ की तिथि का निर्देश आदि बातों की योजना हुई है। उसके बाद चौहान वंश की उत्पत्ति और रणथम्भोरगढ़ के निर्माण का वर्णन हुआ है, साथ ही कथान्तर या कथामुख के रूप में पद्म ऋषि की कथा भी दी गयी है। तदुपरान्त आधिकारिक कथा प्रारम्भ होती है जिसमें हम्मीर के जन्म से लेकर मृत्यु तक का वृत्त वर्णन हुआ है। इस तरह हम्मीररासो पूर्णतया ऐतिहासिक चरितकाव्य है। साथ ही महाकाव्य की वस्तु वर्णन संबंधी अनेक रूढ़ियाँ, जैसे प्रकृति, युद्ध, संभोग और विप्रलंभ शृंगार, कुमारोदय, नगरावरोध, मृगया, यज्ञ, मन्त्रणा, दौत्य, स्कन्धावार, नगर, देश आदि के वर्णन की पद्धति भी इसमें अपनाई गई है। फिर भी उद्देश्य की महानता, महत्प्रेरणा, कथानक की संघटित योजना, तीव्र प्रभावान्विति, अनवरुद्ध जीवनी शक्ति आदि के अभाव में इसे महाकाव्य नहीं माना

[1] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ३३३।

जा सकता। यदि महाकाव्य के शास्त्रीय लक्षणों की ही दृष्टि से देखा जाय तो भी इसे महाकाव्य नहीं सिद्ध किया जा सकता क्योंकि न तो यह सर्गबद्ध है, न उसम नायक का अभ्युदय ही दिखाया गया है। नायक की पराजय और मृत्यु के कारण यह दु खान्त काव्य है। अत महाकाव्य के बाह्य या आन्तरिक, प्राचीन या अवाचीन किसी भी प्रकार के लक्षणों की दृष्टि से हम्मीररासो महाकाव्य नही प्रतीत होता।

पूर्व मध्यकाल और उत्तर मध्यकाल के जिन प्रबन्धकाव्यो को महत्त्वपूर्ण माना जाता है उनम से कृष्णचन्द्रिका और रामचन्द्रिका ही ऐसे काव्य हैं जिन पर महाकाव्य के सबध मे विचार करते समय विशेष रूप से दृष्टि निक्षेप करने की आवश्यकता है।

रामचन्द्रिका

रामचन्द्रिका के कवि केशवदास हिन्दी साहित्य के 'नवरत्नो' या नो महाकवियो मे माने जाते हैं और रामचन्द्रिका उनकी सर्वश्रेष्ठ कृति कही जाती है। किन्तु साथ ही यह भी सर्वमान्य तथ्य है कि केशव जितने बडे आचार्य या शास्त्रज्ञ हैं उतने बडे कवि नहीं। वे संस्कृत साहित्य के बहुत बडे पडित और अनेक लक्षण ग्रंथों के निर्माता थे और उस क्षेत्र में उनकी प्रतिभा और पांडित्य के महत्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। किन्तु यह भी सत्य है कि प्रबन्धकाव्यों मे केशव को उतनी सफलता नही प्राप्त हुई है। आचार्य और शास्त्रज्ञ होना एक बात है और कवि होना बिलकुल भिन्न बात है। अत यह तो स्वत सिद्ध है कि महाकाव्यकार के लिए पहले महाकवि होना आवश्यक है। इसीलिए दूसरे अध्याय म महाकाव्य का लक्षण निर्धारित करते हुए कहा गया है कि महाकाव्य म कवि की महती काव्यप्रतिभा और महत्प्रेरणा अवश्य दिखाई पडनी चाहिये। केशव की कृतिया मे उस काव्यप्रतिभा के दर्शन नहीं होते। उनकी काव्य शक्ति के बारे म आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है कि "केशव को कवि हृदय नही मिला था। उनम वह सहृदयता और भावुकता न थी जो एक कवि म होनी चाहिये।"[1] इस सबध म डा० पीताम्बरदत्त बडथ्वाल ने लिखा है, ये ग्रथ उन्हे आचार्य पद दिला सकते हैं, महाकवि नहीं बना सकते।'[2] अत जिस कवि में महती काव्यप्रतिभा ही न हो उसके लिखे किसी प्रबन्ध

१ वही—पृ० २०९।

२ डाक्टर पीताम्बरदत्त बडथ्वाल—सक्षिप्त रामचन्द्रिका, पचम सस्करण की भूमिका—स० २००७, पृ० ११।

काव्य मे महाकाव्यत्व दिखाई पडे, यह असभव बात है। ऐसा आज तक कहीं देखा नहीं गया है। यह तो हो सकता है कोइ महाकवि अपने जीवन भर मे एक भी महाकाव्य न लिख पाये, पर यह नहीं हो सकता कि जो महाकवि ही नही है वह किसी वास्तविक महाकाव्य की रचना कर दे। यही कारण है कि सैकडो सामान्य प्रतिभा वाले कवियो के लिखे बडे बडे प्रबन्धकाव्य महाकाव्य के शास्त्रीय लक्षणो से युक्त होते हुए भी वस्तुत महाकाव्य नहीं हैं। इस तर्क के अधार पर रामचन्द्रिका को भी महाकाव्य नही माना जा सकता। किन्तु यह तर्क नकारात्मक है। अत दूसरे अध्याय मे निर्दिष्ट महाकाव्य के स्थिर लक्षणों के आधार पर रामचन्द्रिका की परीक्षा करके उसके महाकाव्यत्व का निर्णय करना चाहिए।

महदुद्देश्य

केशव ने रामचन्द्रिका के आरम्भ ही मे कहा है कि वे आत्मसुख के लिए तथा पुरातन पापो को दूर करने के लिए रामचन्द्रिका की रचना कर रहे हैं —

कालत्रयदर्शी निर्गुण परसी होत विलम्ब न लागे।
तिनके गुण कहिहो सब सुख लहिहों पाप पुरातन भागे ॥१–२०

किन्तु पूरे ग्रन्थ से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि कवि का उद्देश्य राम जैसे महच्चरित्र का गुणगान करना नहीं, बल्कि अपने छन्द, अलकार आदि को शास्त्रीय ज्ञान तथा पाडित्य का प्रदर्शन करना है। उनका उद्देश्य तुलसी की तरह अपनी कविता को सर्वबोधगम्य बनाकर राम के महान आदर्श की प्रतिष्ठा द्वारा लोक मङ्गल का विधान करना नहीं है। सम्भवत तुलसीदास जी के काव्य का बढता हुआ प्रचार तथा उसका अमोघ प्रभाव देखकर ही केशव के मनमे रामचरित लिखने की उत्कठा हुई किन्तु वे स्वभावत भक्त नही शृगारी और आचार्य कवि थे। अत रामचरित का आश्रय लेकर भी उन्होने जिस काव्य की रचना की उसमे भक्त कवि की लोक मङ्गल साधना और आध्यात्मिक प्रेम विह्वलता नही है। फलत रामचन्द्रिका मे न तो किसी महान आदर्श की स्थापना हो सकी है और न उसमे ऐसी महत् प्रेरणा ही दिखाई देती है जिससे अभिभूत होकर कवि ने उसकी रचना की हो। इसी कारण रामचन्द्रिका का सामान्य हिन्दी भाषा भाषी जनता के हृदय मे कोई स्थान नहीं है और न ३–४ सो वर्ष के लोक जीवन को उसने किसी प्रकार प्रभावित ही किया है।

गुरुत्व, गाम्भीर्य और महत्त्व

महाकाव्य में जिस गाम्भीर्य और [illegible], [illegible] दृष्टिकोण तथा [illegible] महात्मा [illegible] है, रामचन्द्रिका में उसका सर्वथा अभाव है। [illegible] उतना [illegible] हित [illegible] नहीं। [illegible] ज्ञान भाण्डार का प्रदर्शन और [illegible] कल्पना का [illegible] नहीं है और रामचन्द्रिका में इन्हीं की प्रधानता है। [illegible] कल्पना ऐसी विराट नहीं है जो समस्त युग समाज के समस्त रूपों की विवेचना और प्रत्यक्षीकरण कर सके, इसी कारण रामचन्द्रिका में विचारों की ऊँचाई, भावनाओं की अतल गहराई और प्रभविष्णुता जन्य विराटता और महानता नहीं है।

महत्कार्य और समग्र युग जीवन का चित्रण

रामचन्द्रिका की रचना वाल्मीकि रामायण के आधार पर हुई है और उसमें रामायण के उत्तरकाण्ड तक की रामकथा का वर्णन हुआ है। १९वें प्रकाश में रावण वध और २०वें प्रकाश में राम के अयोध्या लौटने का वर्णन हुआ है। उसके बाद २६वें से २८वें प्रकाश तक तिलकोत्सव और रामराज्य का वर्णन हुआ है। प्रधान कथा यहीं समाप्त हो जाती है। किन्तु केशव ने राम के उत्तर चरित का भी वर्णन किया है और इस तरह ३९ सर्गों में काव्य समाप्त किया है। ३९वें सर्ग में राम सीता के पुनर्मिलन, राम द्वारा राज्य वितरण और राजनीति तथा धर्मसम्बन्धी उपदेश के साथ ग्रन्थ समाप्त होता है। इस तरह राम का वैराग्य ही रामचन्द्रिका का 'कार्य' है। तुलसी ने बड़े कौशल से रामराज्य वर्णन करके आधिकारिक कथा की समाप्ति की है। अतः वही 'मानस' का कार्य है और प्रारम्भ से अन्त तक की सभी घटनायें उसी कार्य की सिद्धि के लिए नियोजित हुई हैं। रामचन्द्रिका में यदि राम के वैराग्य को ही कार्य या फल माना जाय तो स्पष्ट है कि उसके पूर्व की सभी घटनायें कार्य की सिद्धि के लिए नहीं आयोजित हैं। रामचन्द्रिका की प्रधान भावना वैराग्य की नहीं है, न उसमें शान्त रस अंगीरस है। अतः यह मानना पड़ेगा कि उसमें 'कार्य' की समुचित योजना नहीं हुई है। यदि रावण वध या धर्म राज्य की स्थापना दिखाना ही केशव का लक्ष्य होता तो वे भी उसी को 'कार्य' रूप में नियोजित करते, और ग्रन्थ २८वें सर्ग में ही समाप्त हो जाता। इससे प्रतीत होता है कि उनके मन में महत्कार्य की कोई कल्पना ही नहीं थी। राम रावण युद्ध और रामराज्य की स्थापना रामकथा की सबसे महत्त्वपूर्ण घटनाएँ हैं, अतः केशव ने भी अनि-

वार्यत उनका वर्णन किया है पर वर्णन विधि से स्पष्ट है कि न तो उनका मन इसमे रमा है और न उन्हाने इन दोनो घटनाओं को रामकथा का केंद्र बिन्दु मान कर अत्यन्त विशद् रूप मे उन्ह उपस्थित ही किया है। निष्कर्ष यह कि राम जैसे महान चरित्र को नायक रूप मे स्वीकार करने तथा रामकथा का आश्रय लेकर भी केशव 'महत्कार्य की योजना नही कर सके हैं।

रामकथा के वर्णन मे जीवन के विविध पक्षो और उनके स्वरूप के उद्‌घाटन का जितना अवसर मिल सकता है उतना अ य किसी भी एक कथा मे शायद ही मिले। परन्तु केशव ने ऐसी कथा को अपना कर भी जीवन के वैविध्यपूर्ण चित्रण की ओर उतनी रुचि नही दिखाई है जितनी 'मानस' मे मिलती है। वे दरबारी कवि थे जिससे सामन्ती वातावरण और उच्च वर्ण के लोगो के जीवन तथा स्वभाव का उह जितना ज्ञान था उतना सामा य जनता के विविध स्वरूपो का नही। इसी कारण रामचन्द्रिका मे वस्तु वर्णन की प्रधानता होते हुए भी जीवन के विविध स्वरूपों का स्वाभाविक और ममस्पर्शी उद्घाटन नहीं हुआ है। इस सम्बन्ध मे शुक्ल जी का यह कथन सवथा उचित है कि "रामचन्द्रिका के लम्बे चौडे वर्णनो को देखने से स्पष्ट लक्षित होता है कि केशव की दृष्टि जीवन के गम्भीर और मार्मिक पक्ष पर न थी। उनका मन राजसी ठाटबाट, तैयारी, नगरो की सजावट, चहल पहल आाद क वर्णन म विशेषत लगता था।"[१] केशव ने जानबूझ कर वणनो का विस्तार किया है और यह प्रयत्न किया है कि आलकारिको न महाकाव्यों मे जिन वस्तुआ के वर्णन का निदश किया है वे तो रामचन्द्रिका मे आ ही जायँ, साथ ही सस्कृत अपभ्रश के पूर्ववता महाकाव्यों में वर्णन सम्ब धी जो रूढियाँ मिलती ह उनका भी पालन हो जाय। इस तरह उसमे जहाँ शास्त्रीय लक्षणों के अनुसार युद्ध, सेना प्रयाण, वन उपवन, नगरावरोध, विप्रलभ और सयोग शृगार आदि का अनावश्यक विस्तार के साथ वणन हुआ है वहीं अपभ्रश तथा हिन्दी क पूववता काव्यो की स्तोत्र, उपदेश, ज्ञान गोष्ठी आदि की वर्णन रूढि भी बहुत अधिक अपनाइ गयी है। वस्तु वर्णन म उन्हाने देश काल स्वभाव क औचित्य और प्रबन्ध कौशल का तनिक भी ध्यान नही रखा है। उदाहरणार्थ रामचन्द्रिका म राम वन गमन के समय अपनी माँ को पातिव्रत्य धम और विधवा क कतव्या की शिक्षा देते हैं। इसी प्रकार क अनपेक्षित वर्णनों द्वारा काव्य कलेवर को वृद्धि की गया है पर उनसे काव्य सौन्दर्य नष्ट हो गया है। कुछ सग तो इतने शुष्क, वणनात्मक और कथा से असम्बन्ध हैं कि उन्हें

१ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० २१२।

गुरुत्व, गाम्भीर्य और महत्व

महाकाव्य मे जिस गम्भीर जीवन दर्शन, लोककल्याणाभिनिवेशी दृष्टिकोण तथा आदर्शोद्भूत महानता की आवश्यकता होती है, रामचन्द्रिका मे उसका सवथा अभाव है। कवि का यान जितना पाडित्य प्रदशन की ओर है उतना जीवन की गम्भीर विवेचना ओर चिरतन सत्य की खाज करके उसे सवभूत-हित के लिये सहज बोधगम्य बनाने की ओर नही। गुरुत्व का अर्थ क्लिष्टता, ज्ञान भाडार का प्रदर्शन और कोरी कल्पना की उडान नही है और रामचन्द्रिका मे इन्ही की प्रधानता है। केशव की कल्पना ऐसी विराट नही है जो समस्त युग समाज के सदसत् रूपो की विवेचना ओर प्रत्यक्षीकरण कर सके, इसी कारण राम चन्द्रिका मे विचारों की ऊँचाइ, भावनाओ की अतल गहराइ और प्रभविष्णुता-जन्य विराटता ओर महानता नही है।

महत्कार्य और समग्र युग जीवन का चित्रण

रामचद्रिका की रचना वाल्मीकि रामायण के आधार पर हुइ है ओर उसमे रामायण के उत्तरकाण्ड तक की रामकथा का वणन हुआ है। १९वें प्रकाश मे रावण वध आर २०वें प्रकाश म राम के अयो या लाटने का वर्णन हुआ है। उसके बाद २६वें से २८वें प्रकाश तक तिलकोत्सव आर रामराज्य का वर्णन हुआ है। प्रधान कथा यहीं समाप्त हो जाती है। किन्तु केशव ने राम के उत्तर चरित का भी वर्णन किया है ओर इस तरह ३९ सर्गो मे काव्य समाप्त किया है। ३९व सर्ग म राम सीता क पुनर्मिलन, राम द्वारा राज्य वितरण ओर राजनीति तथा ब्रह्मसम्बन्धी उपदेश के साथ ग्रन्थ समाप्त होता है। इस तरह राम का वैराग्य ही रामचद्रिका का 'कार्य' है। तुलसी ने बडे कोशल से राम राज्य वर्णन करके आधिकारिक कथा की समाप्ति की है। अत वहो 'मानस' का कार्य है ओर प्रारम्भ से अन्त तक की सभी घटनाये उसी काय की सिद्धि के लिए नियोजित हुइ हैं। रामचन्द्रिका म यदि राम के वैराग्य को ही कार्य या फल माना जाय तो स्पष्ट है कि उसके पूव की सभी घटनाये कार्य की सिद्धि के लिए नहा आयोजित हैं। राम चन्द्रिका की प्रधान भावना वैराग्य की नही है, न उसमे शान्त रस अगीरस है। अत यह मानना पडेगा कि उसमे 'कार्य' की समुचित योजना नहीं हुइ है। यदि रावण वध या धम राज्य की स्थापना दिखाना ही केशव का लक्ष्य होता तो वे भी उसी को 'कार्य' रूप म नियोजित करते, ओर ग्रन्थ २८ वे सर्ग मे ही समाप्त हो जाता। इससे प्रतीत होता है कि उनके मन में महत्कार्य की कोइ कल्पना ही नहीं थी। राम रावण युद्ध ओर रामराज्य की स्थापना रामकथा की सबसे महत्वपूर्ण घटनाएँ हैं, अत केशव ने भी अनि

वार्यत उनका वर्णन किया है पर वर्णन विधि से स्पष्ट है कि न तो उनका मन इसमे रमा है और न उन्हाने इन दोनो घटनाओं को रामकथा का केद्र बिन्दु मान कर अत्यन्त विशद् रूप मे उन्ह उपस्थित ही किया है। निष्कर्ष यह कि राम जैसे महान चरित्र को नायक रूप म स्वीकार करने तथा रामकथा का आश्रय लेकर भी केशव 'महत्कार्य की योजना नही कर सके हैं।

रामकथा के वर्णन मे जीवन के विविध पक्षा और उनके स्वरूप के उद्घाटन का जितना अवसर मिल सकता है उतना अन्य किसी भा एक कथा मे शायद ही मिले। परन्तु केशव ने ऐसी कथा को अपना कर भी जीवन के वैविध्यपूर्ण चित्रण की ओर उतनी रुचि नहीं दिखाई है जितनी 'मानस' मे मिलती है। वे दरबारी कवि थे जिससे सामन्ती वातावरण और उच्च वर्ण के लोगो के जीवन तथा स्वभाव का उह जितना ज्ञान था उतना सामा य जनता के विविध स्वरूपो का नही। इसी कारण रामचन्द्रिका मे वस्तु वर्णन की प्रधानता होते हुए भी जीवन के विविध स्वरूपों का स्वाभाविक और मर्मस्पशी उद्घाटन नहीं हुआ है। इस सम्बन्ध मे शुक्ल जी का यह कथन सवथा उचित है कि "रामचन्द्रिका के लम्बे चौडे वणनो को देखने से स्पष्ट लक्षित होता है कि केशव को दृष्टि जीवन के गम्भीर और मार्मिक पक्ष पर न थी। उनका मन राजसी ठाटबाट, तैयारी, नगरो की सजावट, चहल पहल आाद के वर्णन मे विशेषत लगता था।"[1] केशव ने जानबूझ कर वणनो का विस्तार किया है और यह प्रयत्न किया है कि आलकारिको ने महाकाव्यो मे जिन वस्तुओं के वर्णन का निदश किया है वे तो रामचन्द्रिका मे आ ही जायँ, साथ ही सस्कृत अपभ्रश के पूर्ववता महाकाव्यों में वर्णन सम्बन्धी जो रूढियाँ मिलती हें उनका भी पालन हो जाय। इस तरह उसमे जहाँ शास्त्राय लक्षणों के अनुसार युद्ध, सेना प्रयाण, वन उपवन, नगरावरोध, विप्रलभ ओर सयोग शृगार आदि का अनावश्यक विस्तार के साथ वणन हुआ है वहीं अपभ्रश तथा हिन्दी के पूववता काव्यो की स्तोत्र, उपदेश, ज्ञान गोष्ठी आदि की वणन रूढि भी बहुत अधिक अपनाइ गयी है। वस्तु वर्णन मे उन्हाने देश काल स्वभाव क आचित्य और प्रबन्ध कोशल का तनिक भी ध्यान नही रखा है। उदाहरणार्थ रामचन्द्रिका म राम वन गमन के समय अपनी माँ को पातिव्रत्य धम और विधवा क कतव्या की शिक्षा देते हैं। इसो प्रकार क अनपेक्षित वर्णनो द्वारा काव्य कलेवर का वृद्धि की गया है पर उनसे काव्य सौ दय नष्ट हो गया है। कुछ सर्ग तो इतने शुष्क, वणनात्मक और कथा से असम्बन्ध हैं कि उन्ह

१ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० २१२।

निकाल देने पर उसका काव्य सौष्ठव बढ़ जा सकता है। वे सर्ग या प्रकाश ये हैं —२५, २७, २९, ३०, ३१, ३२ और ३४। अन्य प्रकाशों मे भी बहुत से निकालने योग्य वर्णन हैं। वस्तुवर्णन का उद्देश्य रसात्मकता उत्पन्न करने के साथ ही जीवन का वैविध्य चित्रित करना होता है। रामचन्द्रिका मे वस्तु-वर्णन का उद्देश्य पाडित्यप्रदर्शन करना है। शुक्ल जी के शब्दो मे 'वे बहुत से वर्णन यो ही बिना अवसर का विचार किये भरते गये हें। वे वणन वर्णन के लिये करते थे न कि प्रसग या अवसर की अपेक्षा से।"[1] इस प्रकार के वर्णनात्मक काव्य मे पात्रो को विविध अवस्थाओं के बीच उपस्थित करके उनकी विभिन्न मानसिक दशाओं, भावनाओं और क्रिया प्रतिक्रिया का सूक्ष्म और स्वाभाविक उद्घाटन नहीं हो सकता। रामचद्रिका की नीरस और उबा देने वाली वर्णनात्मकता उसके महाकाव्यत्व मे सबसे बडी बाधा है।

सुसघटित और जीवन्त कथानक

उपर्युक्त विवेचन के बाद यह स्पष्ट करने की आवश्यकता नहीं रह जाती कि रामचन्द्रिका में प्रब धत्व का अभाव है। केशव ने अपने प्रबन्ध के कथानक की सुनिश्चित योजना बनाकर रामकथा से उपयुक्त घटनाओ का सकलन नहीं किये हैं। उन्होने पूरी कथा वस्तु को लेकर अतिशयता के साथ वर्णन करने का प्रयास किया है। फलस्वरूप उसमे कथा के सूत्र स्थान स्थान पर टूट गये हैं और जहाँ कथा है भी, वहाँ उसके वर्णन मे इतनी शीघ्रता की गई है कि उसकी धारा और प्रवाह का पता नहीं चलता। असबध वर्णनों के बीच बार बार कथा धारा लुप्त हो जाती है, इस तरह उसमे कथात्मकता का गुण भी नहीं है। महाकाव्य का कथानक शृखलित और सुसम्बद्ध होता है। रामचद्रिका मे इस प्रकार की शृंखलाबद्धता का पूर्ण अभाव है जिसमे उसका कथानक सुसघटित और जीव त नहीं है। इस विशृखलता का प्रधान कारण यह है कि केशव ने कथा वस्तु के विन्यास मे नाटकीय सधियों और कार्यावस्थाओं की ओर ध्यान ही नहीं दिया है। इस तरह उसके कथानक सक्रियता, सम्बन्ध निर्वाह, विकास क्रम और कार्यान्विति में इन सभी गुणों का अभाव है।

महच्चरित्र

चरित्र चित्रण की दृष्टि से भी रामचद्रिका मे कोइ वैशिष्ट्य नहीं दिखाई पडता। राम जैसे महान जन नायक, मर्यादा पुरुषोत्तम और ब्रह्म के अवतार को अपने काव्य का नायक बना कर भी केशव ने उनके राजा रूप का ही

१ वही, पृ० वही

चित्रण प्रधान रूप से किया है। वे अपनी दरबारी सीमा के बाहर नही जा सके हैं जिससे रामचन्द्रिका मे राम का सर्वहितकारी, दीन रक्षक, जन प्रेमी रूप तो नहा ही स्पष्ट हुआ है, उनके पारिवारिक सम्बन्धो के बीच निखरने वाले शील-सौन्दर्य की भी कवि ने बिलकुल उपेक्षा की है। वस्तुत महदुद्देश्य और महती काव्य प्रतिभा के अभाव मे महच्चरित्र की कल्पना की ही नही जा सकती। राम तो वही ही हैं पर वाल्मीकि, स्वयभू और तुलसी के राम म जो महानता और चरित्रगत विराटता दिखाई पडती है वह रामचन्द्रिका के राम में नहीं है। अन्य चरित्रो की भी स्वभावगत विशेषताओ को उसमे उभार कर नही रखा गया है। सच तो यह है कि केशव मे मानव प्रकृति की पहचान तथा उसके सूक्ष्म निरीक्षण की दृष्टि ही नही थी। इसीसे रामचन्द्रिका चरित्र चित्रण की दृष्टि से महत्वहीन हो गइ है। केशव के मन मे यदि राम का महान आदर्श उदित हुआ होता और उसमे प्रेरित होकर उन्होने काव्य रचना की होती तो उनके राम इतने वैशिष्ट्यहीन और निष्प्राण न प्रतीत होते। केशव ने राम को जीवन के अन्तिम भाग मे विरक्त होते हुए दिखा दिया है, इससे प्रतीत होता है कि उन्होने जैन रामायणों से यह प्रभाव ग्रहण किया है। उन्होंने एक ओर तो राम को ब्रह्म का अवतार बताया है और दूसरी ओर उन्हे वशिष्ठ के उपदेश से प्रभावित होकर, विरक्त होते और राज्य का वितरण करते हुए दिखाया है। ये विरोधी बाते हैं। ब्रह्म के अवतार राम तो लीला पुरुष हैं, स्वय ब्रह्म हैं। उन्हे विरत हाकर सन्याम ग्रहण करने की क्या आवश्यकता है? जैनो ने अवश्य उन्हें जीवन के अ त में विरक्त होते दिखाया है पर वे उन्हे ब्रह्म अवतार मानते ही नहीं।

उदात्त शैली

आचार्य और रीतिवादी कवि होने के कारण केशव ने वाग्वैदग्ध और उक्ति चमत्कार क प्रदर्शन की ओर जितना अधिक ध्यान दिया है उतना काव्य की प्रेषणीयता की ओर नहीं। इसी कारण रामचन्द्रिका में प्रबुद्ध पाठकों को चमत्कृत करन का क्षमता तो ह पर उनकी भावनाओं को उद्बुद्ध करने की शक्ति नही है। रामचन्द्रिका का पाठक केशव के छन्द ज्ञान, आलकारिक प्रतिभा ओर कल्पना की विचित्रता को देखकर आश्चर्यचकित रह जाता है परन्तु कवि के हृदय के साथ उसका तादात्म्य नहीं हो पाता। अतिशय क्लिष्ट ओर अस्वाभाविक कल्पना स उद्भूत अलकारों क प्रयोग, अत्यधिक वस्तु परिगणना की प्रवृत्ति, नाना प्रकार के छ दों के प्रयोग ओर पाडित्य क आडम्बर के कारण रामचन्द्रिका अत्यन्त दुरूह ओर कृत्रिम काव्य बन गया है। इन्ही बातों के कारण केशव को 'कठिन काव्य का प्रेत' तक कहा जाता है। रामचन्द्रिका की दुरूहता का कारण

बताते हुए शुक्ल जी ने लिखा है, "पदो और वाक्यो की न्यूनता, अशक्त फालतू शब्दो का प्रयोग और सम्बन्ध के अभाव आदि के कारण भाषा भी अप्राञ्जल और उबड खाबड हो गई है और तात्पर्य भी स्पष्ट रूप से व्यक्त नहीं हो सका है। केशव की कविता जो कठिन कही जाती है उसका प्रधान कारण उनकी यही त्रुटि है, उनकी मौलिक भावनाओ की गम्भीरता या जटिलता नहीं।"[1] छन्दो का वैविध्य तो रामचन्द्रिका मे इतना अधिक दिखाई पडता है कि वह पिंगलशास्त्र का उदाहरण ग्रन्थ प्रतीत होती है। बहुत जल्दी जल्दी छन्द परिवर्तन होने से कथा की धारा टूटती जाती है और पाठको का मन रसमग्न नही हो पाता। इसी कारण आचार्यो ने महाकाव्य के प्रत्येक सर्ग मे आद्यन्त एक ही छन्द के प्रयोग का विधान रखा है। अत रामचन्द्रिका के महाकाव्यत्व मे उसका अत्यधिक छन्द परिवर्तन भी बहुत बाधक सिद्ध हुआ है। उसमे नाटकीय शैली के सवादो की इतनी अधिकता है कि कुछ लोगो ने उसे नाटकीय शैली का काव्य भी कहा है। सवादो मे पात्रो के नाम प्राय छन्द से अलग रखे गये हैं। सामान्य पाठक अथवा श्रोता काव्य के छन्दो को याद कर लेते हैं किन्तु वक्ताओ के नाम अलग होने पर उन नामो को याद करना कठिन होता है। इसीलिए रामचन्द्रिका मे श्रव्य काव्य का वह गुण नही आ सका है जो महाकाव्य की अपनी विशेषता है। महाकाव्य मे सवाद तत्त्व तो अवश्य होता है किन्तु वक्ताओ के नाम छन्द से अलग नहीं होते। इस दृष्टि से रामचन्द्रिका महाकाव्य न होकर छन्दोबद्ध नाटक प्रतीत होता है। महाकाव्य की बाह्य रूढियाँ सर्गबद्धता, मगलाचरण, वस्तु निर्देश, कवि द्वारा दी गई ता परिचय, प्रकृति चित्रण, आदि का पालन उसमे अवश्य किया गया है। किन्तु शैली की इन चिरपरिचित रूढियो के पालन मात्र से ही कोई काव्य महाकाव्य पद का अधिकारी नही हो सकता।

रसवत्ता और प्रभावान्विति

भावाभिव्यञ्जना, रसवत्ता और प्रभावान्विति की दृष्टि से रामचन्द्रिका और भी असफल काव्य है। पहले कहा जा चुका है कि केशव मे कथा के ममस्पर्शी स्थलों को पहचानने की क्षमता नही है और न उन्होने अपनी भावुकता और हृदय की सवेदनशीलता का ही परिचय दिया है। इस कारण रामचन्द्रिका मे उन्होने विविध मानसिक दशाओ और भावनाओं की मार्मिक अभिव्यक्ति की ओर ध्यान नही दिया है। फलत उसमे महाकाव्य के लिए आवश्यक रस भाव का नैरन्तर्य नहीं है। समष्टि रूप मे उसमे अगी रस का अभाव है। उसका

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास—पृ० २०९।

फलागम राम की विरक्ति और राज्य त्याग है पर प्रारम्भ, प्रयत्न आदि कायावस्थाएँ नायक क अभ्युदय या राज्य प्राप्ति को ध्यान मे रखकर सयाजित हुइ है। इससे उसमे वीर रस और शा त रस दोनो की सम्यक् योजना नहीं हो पाई है। कथा वस्तु का वि यास भारतीय ढग का होने से प्रभावान्विति का तो प्रश्न ही नहीं उठता। इस तरह रामच द्रिका मे महाकाव्योचित रसवत्ता ओर प्रभावा विति का अभाव है।

जीवनी शक्ति और प्राणवत्ता

महाका य की दृष्टि से रामचन्द्रिका के जिन अभावों और त्रुटियों का उल्लेख ऊपर कियो गया है उनके कारण यह सभव नही था कि उसमे वह जीवनी शक्ति और प्राणवत्ता होती जो किसी जाति के इने गिने महाकाव्यो मे पाई जाती है और जिनके कारण वे का य सदा सर्वदा के लिये अमर हो जाते हैं। उद्देश्य की महानता, चरित्रा की विराटता ओर शैली की उदात्तता तथा सहजता के कारण ही सामान्य जनता किमी काव्य को अपने हृदय मे स्थान देती है और जीवन निमाण मे उससे सदैव प्रेरणा ग्रहण करती रहती है। इन गुणा का अभाव होने से रामचन्द्रिका लाक हृदय मे अपना स्थान नहीं बना सकी है, भले ही साहित्य के विद्यार्थियों और शास्त्रज्ञ विद्वानो के बीच उमको परम्परागत रूप मे आदर मिलता आ रहा हो। उपयुक्त विवेचन का अर्थ यह है कि रामचन्द्रिका को महाकाव्य क्या, एक सफल प्रबन्धकाव्य भी नहीं माना जा सकता।

कृष्णचन्द्रिका

कृष्णचन्द्रिका की रचना बुन्देलखण्ड क कवि गुमानी मिश्र ने सं० १८८३ वि० मे की थी। कइ दृष्टियो से यह अत्य त महत्वपूर्ण काव्य हे। यद्यपि कृष्ण-चद्रिका का उतना प्रचार नही हुआ है पर यदि निष्पक्ष भाव से विचार किया जाय तो पद्मावत और रामचरितमानस क बाद प्रबन्धत्व और रसात्मकता की दृष्टि से म यकालान प्रब धकाव्या मे उसे सर्वश्रेष्ठ स्थान दिया जाना चाहिए। गुमाना मिश्र न कृष्णच द्रिका मे रामचरितमानस ओर रामचन्द्रिका की शैलियो का सु दर समन्वय किया है, साथ ही रामच द्रिका की त्रुटियाँ भी अपने काव्य मे नही आने दी हैं। यह २७ प्रकाशो मे विभक्त पौराणक शैली का काव्य है। उसम श्रीमद्भागवत की कथा के आधार पर कृष्ण के जन्म से लेकर कम वध और कृष्ण को राज्य प्राप्ति तक की कथा कही गयी है। कृष्णचन्द्रिका की सबसे बडी विशेषता यह है कि उसम महाकाव्य की शास्त्रीय शैली ओर पौराणिक शैली का सामंजस्य किया गया है। रामचरितमानस की तरह उसमें भी प्रारम्भ के तान सर्गो मे काव्य का प्रस्तावना दी गइ है। प्रथम प्रकाश के ५३ छन्दो

मे गणेश, सरस्वती, शिव, कार्तिकेय, दशावतार आदि विभिन्न देवी देवताओं की का०यात्मक पद्धति से वन्दना करने के बाद, काव्य रचना के कारण, अपने असा मर्थ्य, अपने वश तथा रचना तिथि का वर्णन किया गया है। दूसरे तीसरे प्रकाश मे भी पौराणिक शैली के काव्यों की तरह कथान्तर या कथामुख का वर्णन है जिसम कृष्ण जन्म के कारणो पर प्रकाश डाला गया है। आधिकारिक कथा का प्रारम्भ चौथे सर्ग मे कृष्ण ज म वर्णन से होता है। उसके बाद के सर्गो मे कृष्ण के प्रारम्भिक जीवन की घटनाओं, बाल्लीला तथा विभिन्न असुरों के वध आदि का कथात्मक शैला मे वर्णन हुआ है किन्तु कवि पौराणिक शैली को अपनाते हुए भी शास्त्रीय लक्षणो का पालन करना नहीं भूलता। अत ९, १०, ११ और १५ वे प्रकाश मे विभिन्न ऋतुओं के वर्णन के प्रसग मे प्राकृतिक वस्तुओं का बडा ही मनोहर चित्रण हुआ है। सयोग और विप्रलभ शृङ्गार तथा विभिन्न राक्षमो से कृष्ण के युद्धों के वर्णन की योजना भी शास्त्राय लक्षणो के अनुरूप हुई है। किन्तु इन सभी वर्णनों मे सहजता और स्वाभाविकता भरी हुई है। उनमे रामचन्द्रिका जेमी कृत्रिमता और पाडित्य का घटाटोप नहीं दिखाई पडता—रसात्मकता भी उसम आद्य त दिखाइ पडती है। पूरे काव्य मे वीर, शृङ्गार, वात्सल्य और शान्त रस की व्यंजना हुई है पर कृष्ण काव्य की परम्परा के अनुरूप उसमे शृगार ही अगी रस है। रीति काल की प्रवृति के विरुद्ध इस काव्य मे शृङ्गार अत्यन्त मर्यादित और भक्तिभावनायुक्त, रस मे निमग्न करने के लिए साधन रूप मे नियोजित हुआ है। अत गुमानी मिश्र रीतिकालीन विदग्ध भक्त कवियों—घनानन्द आदि—की श्रेणी म आते हैं। रसव्यंजना मे कवि ने विभावा के चित्रात्मक वर्णन मे पूर्ण सफलता पाइ है। प्रारम्भ मे ही शिव की स्तुति करते हुए उनके अर्द्ध नारीश्वर रूप का उत्कृष्ट चित्र दिखाई पडता है —

आधे सों सिन्दूर धूर आधे दिव्य धुनी पूर-
आधे मनचूड़ आधे चन्द्रचूड़ नाधे हैं।
आधे लाल माल आधे सोभत कपाल-माल
आधे मुक्त माल आधे बिस ज्वाल साधे हैं।
भनत 'गुमान' आधे राग आधे औ विराग
आधे बाहुबन्द आधे व्यालवृन्द बाँधे है।
आधे विज्जुछटा आधे सरद घटा से रग
ऐसो मिलि अग सिवा सम्भु आधे आधे है।

निष्कष यह कि यदि केवल महाकाव्य के शास्त्रीय लक्षणों की दृष्टि से देखा जाय तो कृष्णचन्द्रिका को महाकाव्य माना जा सकता है क्योकि उसका नायक धीरोदात्त सद्वश क्षत्रिय है, चतुर्वर्ग फल मे से काम और धम उसका फल है, उसमे रस भाव की निरन्तरता है, युद्ध मत्रणा यज्ञ कुमारोत्य, सध्या, प्रभात, वन, नदी आदि का वर्णन है, कथानक मे पच सन्धियों का विधान भी है और बहिरग–सर्गबद्धता, प्रस्तावना आदि–सस्कृत के शास्त्रीय महाकाव्यो जैसा है। शास्त्रीय दृष्टि से उसमे एक ही अभाव है, वह यह कि इसमे एक सर्ग मे एक ही छन्द का प्रयोग नहीं हुआ है। वस्तुत गुमानी मिश्र ने छन्द योजना मे केशव का अनुकरण किया है। किन्तु छन्द परिवतन से कृष्णचन्द्रिका मे पाठको की रुचि बदलती चलती है पर कथा में मन लगा रहता है, रामचन्द्रिका की तरह पाठक ऊबने नहीं लगता। इस सम्बन्ध मे बाबू गुलाबराय ने लिखा है कि "गुमानी मिश्र की कृष्णचन्द्रिका भी कृष्ण साहित्य की परम्परा मे एक विशेष स्थान रखती है। ऐसा विचार है कि इसकी शैली भी अन्य कृष्ण साहित्य से भिन्न है। कृष्ण चरित्र अधिकाश रूप में पदो मे ही लिखा गया है परन्तु इस पुस्तक मे केशव की रामचन्द्रिका की भाँति बदलते हुए छन्द हैं जो पाठक के मन मे एक सुखद वैविध्य उत्पन्न कर देते हैं।"[1] प्रत्येक सर्ग के प्रारम्भ मे एक दोहे में उस सर्ग की कथा का संकेत दे देने की पद्धति इसमे रामचन्द्रिका के अनुकरण पर ही अपनायी गई है।

यह सब होते हुए भी कृष्णचन्द्रिका वास्तविक महाकाव्य नहीं है। यद्यपि कृष्ण जैसे महान पुरुष उसके नायक हैं पर उनके जीवनव्यापी कार्यों का वर्णन नहीं किया गया है। इस कारण कृष्ण का योगी, नीतिज्ञ और वीर रूप इसमे नहीं चित्रित हुआ है और समग्र जीवन का चित्रण भी नहीं हो सका है। महाकाव्य के नायक मे जो महानता होती है वह कृष्णचन्द्रिका के कृष्ण मे नहीं है। इसका उद्देश्य भी 'मानस' की भाति लोककल्याणाभिनिवेशी और महान नहीं है किन्तु यह दोष कवि का नहीं, कृष्ण भक्ति परम्परा के ऐकान्तिक दृष्टिकोण का है जिसमे कृष्ण के मधुर रूप को ही प्रधानता दी जाती है, उनके वीर और नीतिज्ञरूप को नहीं। कृष्णचन्द्रिका मे नायक के अतिरिक्त अन्य किसी पात्र के चरित्र की रेखायें उभरी हुई नहीं हैं जिससे उसमें पात्रों की भीड रहते हुए भी वैशिष्ट्यपूर्ण चरित्रों की विविधता नहीं है। उसकी शैली यद्यपि

१ बाबू गुलाब राय—कृष्णचन्द्रिका, प्राक्कथन,—स० श्री उदयशकर भट्ट, लाहौर, सन् १९३५, पृ० १।

निर्दोष और आकर्षक है पर उसमें वह उदात्तता और गम्भीरता नहीं है जो कवि की महाप्राणता, विराटकल्पना और गम्भीर दृष्टिकोण से उद्भूत होती है। इन्हीं कारणों से उसमें वह सफल प्राणवत्ता और जीवनी शक्ति भी नहीं है जिनसे कोई काव्य युग युग में समूची जाति या राष्ट्र के हृदय देश में अधिकार किए रहता है।

[२]

जैसा पहले कहा जा चुका है, संस्कृत के शास्त्रीय शैली के महाकाव्यों की पद्धति का वास्तविक अनुकरण हिंदी में बीसवीं शताब्दी में प्रारम्भ हुआ। श्री अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने सन् १९१४ में 'प्रियप्रवास' की रचना खड़ी बोली हिन्दी में उसी पद्धति पर की। प्रियप्रवास के पूर्व आधुनिक युग में महाराज रघुराज सिंह भी 'राम स्वयंवर' नामक एक विशालकाय प्रबन्धकाव्य की रचना कर चुके थे। यह ब्रजभाषा में वर्णनात्मक शैली में लिखा गया है और उसमें वस्तु परिगणना की प्रवृत्ति इतनी अधिक है कि अन्य शास्त्रीय लक्षणों की सर्वथा उपेक्षा हो गया है। हरिऔध जी ने प्रियप्रवास की रचना में इस बात का ध्यान रखा कि वह शास्त्रीय शैली का महाकाव्य हो, उसकी भाषा खड़ी बोली हो, छंद संस्कृत के अतुकान्त वर्णवृत्त हो और पौराणिक बातों का बौद्धिकीकरण कर उन्हें आधुनिक युग के लिए विश्वसनीय बनाया जाय। उपाध्याय जी का यह प्रयास द्विवेदी युग की पुनरुत्थानवादी राष्ट्रीयता की प्रवृत्ति के सर्वथा अनुरूप था। इसी प्रवृत्ति के फलस्वरूप उन्होंने प्रियप्रवास में एक ओर तो आधुनिक युग की बौद्धिकता, सामाजिकता, लोकहित की भावना, मर्यादावाद, सुधारवाद आदि का सन्निवेश किया है, दूसरी ओर संस्कृत के शास्त्रीय महाकाव्यों की शैली, संस्कृतगर्भित भाषा, संस्कृत के वर्णवृत्त और पौराणिक कथा को भी अपनाया है। पुनरुत्थानवादी राष्ट्रीयता की इस प्रवृत्ति की प्रेरणा से ही आधुनिक युग में इसी शैली में अनेक बड़े प्रबन्धकाव्य लिखे गये। उन सभी प्रबन्धकाव्यों को उनके कवियों ने महाकाव्य माना है और उनकी रचना भी मूलतः महाकाव्य के शास्त्रीय लक्षणों को दृष्टि में रख कर ही हुई है।

आठवें अध्याय में रवीन्द्र नाथ ठाकुर का वह कथन उद्धृत किया जा चुका है जिसमें उन्होंने कहा है कि आजकल महाकाव्य लिखना एक फैशन हो गया है और कवि पहले ही से सरस्वती के साथ 'बन्दोबस्त करके' महाकाव्य रचना करने बैठ जाते हैं।[१] रवि बाबू की यह उक्ति आधुनिक युग के अधिकांश ऐसे

१—देखिये अध्याय ८–पृष्ठ ५११–पाद टिप्पणी।

प्रबन्धकाव्यो के कवियो पर सही उतरती है जि होने पहले ही से यह मान लिया है कि वे महाकाव्य की रचना कर रहे हैं। यही कारण है कि आधुनिक युग के अधिकाश बडे प्रबन्धकाव्यो को महाकाव्य का नाम देकर उपस्थित किया गया है। प्रियप्रवास खडी बोली का इस तरह का पहला बडा प्रबन्धकाव्य था जिसे कवि ने स्वय महाकाव्य कहा था, "मुझे एक ऐसे काव्य ग्र थ की आवश्यकता देख पडी जो महाकाव्य हो और ऐसी कविता मे लिखा गया हो जिसे भिन्न तुका त कहते हैं। अत मै इस न्यूनता की पूर्ति क लिये कुछ साहस के साथ अग्रसर हुआ और मैने अनवरत परिश्रम करके इस 'प्रिय प्रवास' नामक ग्रन्थ की रचना की मुझ म महाकवि होने की योग्यता नहीं, मेरी प्रतिभा ऐसी सवतोमुखी नहीं जो काव्य के लिए उपयुक्त उपकरण सग्रह करने मे कृत कार्य हो सके अतएव म किस मुख से कह सकता हूँ कि प्रिय प्रवास बन जाने से खडी बोली म एक महाकाव्य न होने की यूनता दूर हो गइ।"[१] इस विवेचन से तीन बातें स्पष्ट होती हैं —

१ हरिऔध जी ने आन्तरिक प्रेरणा से नहीं बल्कि हि दी मे महाकाव्य की कमी पूरी करने के लिए प्रियप्रवास की रचना की है।

२ उन्होने प्रयत्नपूवक प्रियप्रवास को महाकाव्य बनाना चाहा है और इसके लिये उन्ह बहुत परिश्रम करना पडा है। तात्पर्य यह कि उसे महाकाव्य बनाने के लिये उन्होंने शास्त्रीय लक्षणा का पालन करने का पयत्न किया है अथात् प्रियप्रवास स्वाभाविक प्रेरणा और प्रतिभा से उद्भूत काव्य नहीं है, बल्कि एक अभ्यासशील कवि की यत्नसाध्य कला कृति है।

३ आधुनिकता लाने के लिये हरिऔध जी ने मूल पौराणिक कथा को बुद्धि सगत और मानवीय बनाने का प्रयत्न किया है फिर भी पुनरुत्थानवादी आदर्श वाद और स्थूल नैतिकता को ही प्रियप्रवास मे प्रधानता मिली है।

ये बाते 'प्रियप्रवास' तक ही सीमित नहीं है बल्कि आधुनिक युग के अधिकाश हि दी प्रबन्धकाव्यो मे पायी जाती हैं। ८ से अधिक सर्गो वाले अधिकाश प्रबन्धकाव्यो को कवियो ने स्वय महाकाव्य कहा है और उनके मुख पृष्ठ पर इस प्रकार के विशेषण लिखे मिलते हैं—अ।यावत—ऐतिहासिक महा काव्य, हल्दीघाटी—वीर रस प्रधान आदि महाकाव्य, जौहर—वीर-करुण सिक्त अद्वितीय महाकाव्य, अगराज—२५ सर्गो का मौलिक महाकाव्य। अनेक प्रबन्ध काव्यों की भूमिका में भी उन काव्यो को महाकाव्य कहा गया है अथवा

२ अयोध्या सिंह उपाध्याय—प्रिय प्रवास, भूमिका पृ०

आचार्यो द्वारा बताये गये लक्षणो के आधार पर उन्हे महाकाव्य सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है। उदाहरणार्थ 'वर्द्धमान' की भूमिका म श्री अनूप शर्मा ने लिखा है, "श्री चौथमल तथा मनोहर लाल जी ने यह इच्छा प्रकट की कि मै भगवान महावीर के जीवन वृत्त को लेकर एक महाकाव्य लिखूँ। इस घटना के पहले मै सिद्धार्थ महाकाव्य लिख चुका था"[1]। इसी तरह द्विवेदी-युगीन प्रबन्धकाव्य रामचरित चिन्तामणि की प्रस्तावना में प० रामदहिन मिश्र ने लिखा है, "यह केवल नाम मात्र का ही महाकाव्य नहीं है बल्कि इसमे सर्गबन्धादि स्थूल लक्षण से लेकर वृत्तकीर्तनादि सूक्ष्म लक्षण तक महाकाव्य के प्राय सारे लक्षण वर्तमान है"[2]। यही बात रामदहिन जी ने आर्यावर्त की भूमिका मे भी कही है और लिखा है कि "आर्यावर्त हिन्दी मे सर्वप्रथम अमित्राक्षर छन्द का मौलिक महाकाव्य है"[3]। कवियो द्वारा अपने काव्यो को महाकाव्य कहने की यह प्रवृत्ति परवर्ती सस्कृत साहित्य म भी वर्तमान थी, जैसे हम्मीर महाकाव्य, धर्मशर्माभ्युदय महाकाव्य आदि। उन काव्यों म प्रत्येक सर्ग की पुष्पिका में भी उन काव्यो को महाकाव्य कहा गया है।

अपने काव्यो को स्वय महाकाव्य कहने की प्रवृत्ति तब उत्पन्न होती है जब कवि पूर्ववर्ती प्रख्यात महाकाव्यों को आदर्श मान कर उनका पूर्णत अनुकरण करते हुए तथा आलंकारिकों द्वारा निर्दिष्ट महाकाव्य के लक्षणों का पालन करते हुए परम्परागत शैली मे प्रबन्ध रचना करते हैं। हिन्दी के आधुनिक युग के प्रबन्ध-कवियों म भी यह प्रवृत्ति संस्कृत के परवर्ती कवियों के समान ही वर्तमान रही है। कुछ कवियों ने तो स्पष्ट रूप से इस बात को स्वीकार भी किया है 'कोशल किशोर' की भूमिका मे पं० बलदेवप्रसाद मिश्र ने लिखा है, 'मै रघुवश, किरात, माघ आदि के पन्ने उलट गया। महाकाव्य के लक्षण देख भाल। वर्ण्य विषयों की एक सूची बना ली ... महाकाव्य की पूर्णता और नवीनता की धुन म मैने यह भी निश्चय किया कि इस ग्रन्थ म नवो रस होगे, पर्याप्त प्रकृति-पर्यवेक्षण होगा, दरिद्रों की झोपडी से लेकर राजमहल के वैभवों तक का वर्णन होगा, छन्दों और तुकों में कई तरह के नमूने होगे, प्रत्येक सर्ग का अन्तिम छन्द न केवल अग्रिम सर्ग के विषय का ही

१ अनूप शर्मा, वर्द्धमान लेखक का वक्तव्य पृ० १
२ रामदहिन मिश्र—रामचरित चिन्तामणि प्रस्तावना पृ० १ लेखक रामचरित उपाध्याय।
३ रामदहिन मिश्र, आर्यावर्त भूमिका, पटना १९४३ पृ० १

सूचक होगा वरन उस सर्ग के प्रधान छन्द का भी सकेत कर देगा
इस प्रकार ८ अध्याया वाला यह विशालकाय महाकाव्य तैयार हो गया है।"[1] मिश्र जी ने यह बात स्पष्ट रूप से बता दी है। अ य कवियो ने इस बारे मे लिखा तो नहीं है किन्तु किया वही है जो मिश्र जी ने किया है। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इन कवियो ने 'महाकाव्य लिखने के लिए महाकाव्य' लिखा है, किसी महत्प्रेरणा के उद्वेलित होकर नहीं, अर्थात् उन्होने सरस्वती के साथ पहले ही से बन्दोबस्त करके महाकाव्य की रचना की है।

दूसरे अध्याय मे कहा जा चुका है कि महदुद्देश्य और महती काव्यप्रतिभा के बिना कोई काव्य महाकाव्य पद का अधिकारी नहीं हो सकता। महती काव्यप्रतिभा द्वारा ही कवि महान चरित्रो की सृष्टि करके उनके माध्यम से अपने महदुद्देश्य की अभि यक्ति करता है। इस तरह के महच्चरित्रो की कल्पना और अवतारणा अत्यन्त प्रतिभाशाली महाकवि ही करते हैं। इसका अर्थ यह है कि महाकाव्यकार का महाकवि होना आवश्यक है अथवा जो महाकवि नहीं है उसका लिखा हुआ बडा से बडा प्रबन्धकाव्य महाकाव्य के सभी शास्त्रीय लक्षणों से युक्त होते हुए भी महाकाव्य नही हो सकता। किन्तु आधुनिक युग मे 'महाकवि यश प्रार्थी' अनेक कवियो की धारणा रही है और आज भी है कि महाकाव्यकार के लिए महाकवि होना आवश्यक नहीं है अर्थात महती काव्यशक्ति, महदुद्देश्य और महत्प्रेरणा के बिना भी महाकाव्य की रचना हो सकती है। हरिऔध जी का जो कथन ऊपर उद्धृत किया गया है उसमे भी यही बात कही गयी है। अनूप शर्मा ने सिद्धार्थ की भूमिका मे महाकाव्य के सम्बन्ध में विचार करते हुए लिखा है, "क्या प्रत्येक महाकाव्यकार महाकवि है। ऐसा नही है।"[2] इससे आधुनिक युग के प्रबन्ध कवियों की इस धारणा का पता चलता है कि महाकाव्य का महान काव्य होना आवश्यक नहीं है और जिस किसी काव्य मे महाकाव्य के शास्त्रीय लक्षणों का पालन किया गया हो उसे महाकाव्य माना जा सकता है। श्री बलदेव प्रसाद मिश्र ने 'कोशल किशोर' की भूमिका मे यह बात स्पष्ट रूप से कह भी दी है, 'इस ग्रथ का नाम है 'कोशल किशोर' क्योकि इसमें सुप्रसिद्ध कोशल किशोर भगवान रामचन्द्र की किशोरावस्था का चरित चित्रित है। इसे लोग 'महाकाव्य' केवल इसलिए कह सकते हैं कि इसमें महाकाव्य के प्राय सब लक्षणों का निवाह किया गया है।

१ प बलदेवप्रसाद मिश्र—कोशल किशोर, भूमिका पृ० २ ३, रायगढ़, १९३४।
२ अनूपशर्मा—सिद्धाथ, भूमिका, पृ० बम्बई, १९३०

कविता की सच्ची तुला से यदि तौला जाय तो शायद यह सामान्य काव्य काव्य कहलाने का भी अधिकारी न समझा जाय।"[1] मिश्र जी ने यह बात विनम्रता प्रदर्शन के लिए कही है किन्तु आधुनिक युग के महाकाव्य रूप में मान्य अधिकांश प्रबन्धकाव्यों के सम्बन्ध में यह कथन शब्दशः सत्य है।

बात यह है कि काव्यरूप और काव्य की आत्मा यद्यपि अन्योन्याश्रित हैं पर वस्तुगत दृष्टि से देखने पर काव्य की आत्मा का दर्शन नहीं होता, दिखलाई पड़ने वाली वस्तु काव्यरूप या काव्य का बाह्य रूप विधान ही है। अतः जो कवि अन्तरात्मा की प्रेरणा से अभिभूत और महान उद्देश्यों से प्रेरित होकर काव्य रचना नहीं करता पर महाकवि बनने की महत्वाकांक्षा रखता है, वह पूर्ववर्ती महाकाव्यों की ओर दृष्टि दौड़ाता है। उसकी दृष्टि उन महाकाव्यों की आत्मा तक तो पहुँच नहीं पाती, अतः वह उनके काव्यरूप या बाह्य रूपरेखा को ही महाकाव्य का शाश्वत लक्षण मान कर उनका अनुकरण करने लगता है। इस तरह प्रारम्भिक महाकाव्यों की रचना होने लगती है। पर महाकाव्य के परम्परागत लक्षणों से युक्त होते हुए भी ऐसे अनुकृत काव्य वास्तविक महाकाव्य नहीं हो पाते। संस्कृत में दसवीं शताब्दी के बाद जितने भी महाकाव्य लिखे गये वे इसी प्रकार के रूढ़िबद्ध काव्य हैं, वास्तविक महाकाव्य नहीं। आधुनिक युग में हिन्दी के कवियों में जब महाकाव्य लिख कर हिन्दी साहित्य का भाण्डार भरने की शुभेच्छा उत्पन्न हुई तो उन्होंने भी वही कार्य किया जो संस्कृत के परवर्ती कवियों ने किया था। परिणामस्वरूप हिन्दी में महाकाव्य नाम से जितने भी काव्य लिखे गये हैं, उनमें से बहुत कम ऐसे हैं जिनमें महाकाव्य की आत्मा का दर्शन होता है, यद्यपि शरीरतः वे सभी महाकाव्य प्रतीत होते हैं। इसी दृष्टि से हमने आधुनिक युग के प्रबन्धकाव्यों में केवल 'कामायनी' को महाकाव्य माना है और उसे पृथ्वीराजरासो, पद्मावत और रामचरितमानस के समकक्ष रख कर उस पर विचार किया है। आल्हखण्ड लोकमहाकाव्य है, अतः उसे अलग रख कर यदि हिन्दी के उपर्युक्त चारों महाकाव्यों के काव्यरूप पर ही विचार करें तो हम देखते हैं कि उनमें से किसी में भी आलंकारिकों द्वारा निर्दिष्ट सभी लक्षणों के निर्वाह की ओर ध्यान नहीं दिया गया है। फिर भी उनके महाकाव्यत्व में बहुत कम लोग सन्देह करते हैं। जिस तरह महाकाव्य के परम्परागत लक्षणों का निर्वाह न करते हुए भी कोई काव्य महाकाव्य हो सकता है उसी तरह उन लक्षणों का पूर्णतया निर्वाह करते हुए भी कोई काव्य महाकाव्य नहीं हो सकता।

1 पं० बलदेव प्रसाद मिश्र—कोशल किशोर, भूमिका, पृ० ६।

कविता की सच्ची तुला से यदि तौला जाय तो शायद यह सामान्य काव्य काव्य कहलाने का भी अधिकारी न समझा जाय।"[1] मिश्र जी ने यह बात विनम्रता प्रदर्शन के लिए कही है किन्तु आधुनिक युग के महाकाव्य रूप में मान्य अधिकांश प्रबन्धकाव्यों के सम्बन्ध में यह कथन शब्दशः सत्य है।

बात यह है कि काव्यरूप और काव्य की आत्मा यद्यपि अन्योन्याश्रित हैं पर वस्तुगत दृष्टि से देखने पर काव्य की आत्मा का दर्शन नहीं होता, दिखलाई पड़ने वाली वस्तु काव्यरूप या काव्य का बाह्य रूप विधान ही है। अतः जो कवि अन्तरात्मा की प्रेरणा से अभिभूत और महान उद्देश्यों से प्रेरित होकर काव्य रचना नहीं करता पर महाकवि बनने की महत्वाकांक्षा रखता है, वह पूर्ववर्ती महाकाव्यों की ओर दृष्टि दौड़ाता है। उसकी दृष्टि उन महाकाव्यों की आत्मा तक तो पहुँच नहीं पाती, अतः वह उनके काव्यरूप या बाह्य रूपरेखा को ही महाकाव्य का शाश्वत लक्षण मान कर उनका अनुकरण करने लगता है। इस तरह प्रारम्भिक महाकाव्यों की रचना होने लगती है। पर महाकाव्य के परम्परागत लक्षणों से युक्त होते हुए भी ऐसे अनुकृत काव्य वास्तविक महाकाव्य नहीं हो पाते। संस्कृत में दसवीं शताब्दी के बाद जितने भी महाकाव्य लिखे गये वे इसी प्रकार के रूढ़िबद्ध काव्य हैं, वास्तविक महाकाव्य नहीं। आधुनिक युग में हिन्दी के कवियों में जब महाकाव्य लिख कर हिन्दी साहित्य का भाण्डार भरने की शुभेच्छा उत्पन्न हुई तो उन्होंने भी वही कार्य किया जो संस्कृत के परवर्ती कवियों ने किया था। परिणामस्वरूप हिन्दी में महाकाव्य नाम से जितने भी काव्य लिखे गये हैं, उनमें से बहुत कम ऐसे हैं जिनमें महाकाव्य की आत्मा का दर्शन होता है, यद्यपि शरीरतः वे सभी महाकाव्य प्रतीत होते हैं। इसी दृष्टि से हमने आधुनिक युग के प्रबन्धकाव्यों में केवल 'कामायनी' को महाकाव्य माना है और उसे पृथ्वीराजरासो, पद्मावत और रामचरितमानस के समकक्ष रख कर उस पर विचार किया है। आल्हखण्ड लोकमहाकाव्य है, अतः उसे अलग रख कर यदि हिन्दी के उपर्युक्त चारों महाकाव्यों के काव्यरूप पर ही विचार करें तो हम देखते हैं कि उनमें से किसी में भी आलंकारिकों द्वारा निर्दिष्ट सभी लक्षणों के निर्वाह की ओर ध्यान नहीं दिया गया है। फिर भी उनके महाकाव्यत्व में बहुत कम लोग सन्देह करते हैं। जिस तरह महाकाव्य के परम्परागत लक्षणों का निर्वाह न करते हुए भी कोई काव्य महाकाव्य हो सकता है उसी तरह उन लक्षणों का पूर्णतया निर्वाह करते हुए भी कोई काव्य महाकाव्य नहीं हो सकता।

१ पं० बलदेव प्रसाद मिश्र—कोशल किशोर, भूमिका, पृ० ६।

इस अध्याय के प्रारम्भ मे आधुनिक युग के जितने बडे प्रबन्धकाव्यो का नाम गिनाया गया है उनकी तीन कोटियाँ दिखाई पडती हैं —

१ वे काव्य जिनम महाकाव्य के शास्त्रीय लक्षणो का पूणतया निर्वाह हुआ है और जिनम दृष्टिकोण और रूपशिल्प सम्बन्धी कोई मौलिकता और नवीनता नहीं दिखलाई पडती।

२ वे काव्य जिनमे शैली की युगानुरूप नवीनता और दृष्टिकोण की मौलिकता होते हुए भी महाकाव्य के शास्त्रीय लक्षणो के निर्वाह का मोह नही छोडा गया है।

३ वे काव्य जिनमे परम्परागत प्रबन्धरूढियो का सर्वथा त्याग किया गया है और नवीनता की धुन म प्रबन्धत्व और भावात्मकता का भी बहिष्कार कर दिया गया है।

पहले प्रकार के प्रबन्धकाव्य विशेष रूप से द्विवेदी युग मे अथवा द्विवेदी युगीन प्रवृत्ति वाले कवियों द्वारा लिखे गये। इस प्रकार के प्रबन्धकाव्यो मे विशेष महत्वपूर्ण काव्य ये हैं —

१ रामचन्द्रोदय २ रामचरित चिन्तामणि ३ कोशल किशोर, ४ कृष्णायन ५ वर्द्धमान ६ अगराज ७ जन नायक ८ हल्दीघाटी ९ जौहर १० वैदेही वनवास।

दूसरे प्रकार के प्रबन्धकाव्य या तो माइकेल मधुसूदन दत्त के मेघनाद वध और विरहिणी ब्रजागणा की प्रेरणा से अथवा छायावादी काव्यधारा की विद्रोही, व्यक्तिवादी और प्रगीतात्मक प्रवृत्तियो से प्रभावित होकर लिखे गये हैं। उनमे से महत्वपूण काव्य ये हैं —

१ प्रियप्रवास, २ साकेत, ३ साकेत सन्त, ४ सिद्धार्थ, ५ नूरजहाँ, ६ आयावत।

तीसरे प्रकार के प्रबन्धकाव्यो पर पाश्चात्य विचार-धारा और यूरोप के आधुनिक प्रबन्धकाव्यो, जैसे टेनीसन के टैस्टामेट आव ब्यूटी और आइडिल्स आव द किंग, हाडा के द डाइनैस्ट आर गेटे के फाउस्ट आदि का प्रभाव पडा और साथ ही कामायनी की ख्याति देखकर भी मनोवैज्ञानिक और समाजशास्त्रीय विवेचना से भाराक्रान्त प्रबन्धकाव्यो की रचना की प्रवृत्ति बढी। ऐसे काव्यो म प्रबन्धकाव्यो की पूर्वप्रचलित परिपाटी को छोडकर नये-नये प्रयोग किये गये। ऐसे काव्यों की सख्या अधिक नही है। वे ये हैं —

१ मेधावी २ कुरुक्षेत्र ३ विक्रमादित्य ४ तत्तग्रह

प्रथम प्रकार के प्रबन्धकाव्यो को पढने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि कवियो ने महाकाव्य के लक्षणो को दृष्टि मे रखकर और शिशुपाल वध, किरातार्जुनीय आदि संस्कृत महाकाव्यो का आदर्श मानकर उनकी रचना की है। किन्तु युग की प्रवृत्तियो के अनुरूप उनमे कुछ प्रबन्धरूढियाँ नही भी अपनाई गयीं हैं। उदाहरणार्थ सज्जन दुर्जन चिन्ता, आत्मलघुता प्रदर्शन, अपने वंश का वर्णन, आश्रयदाता की प्रशंसा, रचना काल का निर्देश आदि बाते इनमे नही है। प्रस्तावना रूप मे उनमे मङ्गलाचरण और किसी किसी मे संक्षेप मे वस्तु निर्देश के बाद कथारम्भ हो गया है। इन सब मे आठ से अधिक सर्ग हैं, सब मे नायक सद्वंश क्षत्रिय और धीरोदात्त गुण समन्वित हैं। रस, वस्तुवर्णन, चतुर्वर्ग फल, कथावस्तु विन्यास आदि सभी दृष्टियो से ये काव्य संस्कृत के परवर्ती रूढिबद्ध महाकाव्यो की श्रेणी मे आते हैं। किन्तु इनमे से एक भी काव्य ऐसा नही है जिसमे कवि के महदुद्देश्य, महती काव्यप्रतिभा और महत्प्रेरणा का दर्शन होता हो। यही कारण है कि उनमे महाकाव्योचित महानता और उत्कृष्ट कोटि की काव्यात्मकता नहीं दिखाई पडती। महाकाव्य होने के लिए किसी काव्य की पहली आवश्यकता तो यह है कि उसमे काव्य सौष्ठव हो। इन काव्यों मे से प्राय सब मे अभिधात्मक शैली मे इतिवृत्त-कथन और स्थूल वस्तु वर्णन की प्रवृत्ति प्रधान है। द्विवेदी युगीन इतिवृत्तात्मकता, नीरसता और उपदेशात्मकता के कारण इनमे काव्य सौन्दर्य, गम्भीर भावात्मकता और मनोहारिता का नितान्त अभाव है। अनाकर्षक तुकबन्दी, अशक्त भाषा, उपयुक्त शब्दों के चयन की अक्षमता, गम्भीर जीवन दर्शन के अभाव और कल्पना शक्ति की हीनता के कारण न तो उनमे गुरुत्व, गाम्भीर्य और महत्व आ सका है और न शैली ही महाकाव्योचित गरिमा, भव्यता और उदात्तता से युक्त हो सकी है।

इन काव्यो मे ऐसे महान चरित्रों की अवतारणा भी नहीं हुई है जिन्हे कभी भुलाया न जा सके और जो अपनी विराटता की छाया मे युग युग तक समाज को आश्रय देते हुए उसे प्रेरणा प्रदान करते रहे। इसका यह अर्थ नहीं कि इन कवियो ने महाकाव्योचित महान नायकों का चुनाव नही किया है। भला राम, कृष्ण, कर्ण, महावीर, राणा प्रताप, महात्मा गाधी आदि महापुरुषों की महानता मे कौन सन्देह करेगा ? किन्तु महाकाव्य मे कवि अपने नायकों की एक तरह से नवीन सृष्टि करता है और उनमे ऐसा चारित्र्य प्रदान करता है कि वे इतिहास मे जितने महान होते हैं उससे कई गुना महान बन जाते हैं। यदि वैदेही वनवास के राम रामायण के राम से किसी भी प्रकार उत्कृष्ट

नही हैं तो यह स्पष्ट है कि वैदेही वनवास मे महाकाव्य होने की योग्यता नहीं है। उसी तरह अन्य प्रब धकाव्यो के नायक भी चारित्रिक विशिष्टता और महानता मे इतिहास से किसी प्रकार आगे नही बढ़े हैं। नायक की महानता की दृष्टि से भी इस श्रेणी के प्रबन्धकाव्यो मे केवल कृष्णायन ऐसा है जिसमे कवि ने अपनी नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा का कुछ परिचय दिया है। समग्र युग जीवन के चित्रण की दृष्टि से भी कृष्णायन म ही कुछ विशिष्टता दिखाई पडती है। इसमे तुलसी के 'मानस' का शैली का पूर्ण रूप से अनुकरण किया गया है। 'मानस' की तरह यह भी सात काण्डो मे विभक्त है और अवधी भाषा म दोहा चौपाई में लिखा गया है। उसी की तरह इसमे भी प्रस्तावना सम्बन्धी अनेक प्रबन्धरूढियाँ अपनाई गयी हैं। किन्तु यह सब होते हुए भी कृष्णायन की विशेषता यह है कि उसमे समग्र जीवन का चित्रण और महत् चरित्र की प्रतिष्ठा हुई है। इस दृष्टि से इसे महाकाव्य माना जा सकता है किन्तु इसमें शैली की उदात्तता, गम्भीर रसवत्ता, तीव्र प्रभावान्विति, काव्यात्मक उत्कृष्टता और जीवनी शक्ति का अभाव है। रामचरितमानस की तरह कृष्णायन कभी सामान्य जनता द्वारा अपनाया जायगा, इसमें सन्देह ही है क्योंकि इसमे कृत्रिमता और अनुकरणप्रियता ही अधिक है। महत काव्यप्रतिमा और महत्प्रेरणा के अभाव मे कवि अपने महान उद्देश्य में सफल नहीं हो सका है। अत सभी दृष्टियो से देखने पर "कृष्णायन" को महाकाव्य पद का अधिकारी नही माना जा सकता।

अन्य काव्यो मे कुछ मे तो जीवन का समग्र चित्र ही नहीं उपस्थित किया गया है और कुछ मे किया भी गया है तो उनमे कथानक का सुनियोजित सघटन नहीं है। उदाहरणार्थ कोशल किशोर और वैदेही वनवास मे क्रमश राम के जीवन के आदि और अन्त भागों का चित्रण हुआ है। हल्दीघाटी मे भी राणा प्रताप के युद्धो से सम्बन्धित कथा ही कही गयी है। उनके जीवन के अन्य पक्षों की उपेक्षा की गयी है। अत इस दृष्टि से ये काव्य महाकाव्य पद के अधिकारी नहीं हैं। बद्धमान, रामचरित चिन्तामणि और जननायक मे यद्यपि नायको के सपूर्ण जीवन की कथा वर्णित है पर उनमें कथानक के सघटन, घटनाओं और वर्ण्य वस्तुओं का समुचित चयन तथा कार्य-कारण की शृखला की सुचिन्तित योजना नहीं हुई है। इन सब कारणा से इस श्रेणी के प्रबन्धकाव्यों मे वह सशक्त प्राणवत्ता और अनवरुद्ध जीवनी शक्ति नहीं है जो उन्हे अमरत्व प्रदान करे। हृदय को रससिक्त कर के उसे स्थायी रूप से प्रभावित करने की शक्ति भी उनमे नहीं हैं। अत महाकाव्य के शाश्वत लक्षणों की दृष्टि से उन्हें

महाकाव्य नही माना जा सकता, भले ही उनमे अधिकाश शास्त्रीय नियमों का सम्यक् निर्वाह किया गया है।

दूसरे प्रकार के प्रबन्धकाव्यों पर आधुनिक युग की प्रवृत्तियों का विशेष प्रभाव पडा है। उनमे शास्त्रीय नियमो के निर्वाह के साथ नवीन प्रबन्ध पद्धति और जीवन दृष्टि का भी पर्याप्त समावेश हुआ है। इस सम्बन्ध मे यह बात ध्यान देने की है कि जीवन दृष्टि के परिवर्तन के कारण ही वस्तुत इन काव्यो के रूप शिल्प मे भी परिवर्तन आया है। परिवर्तन से यहाँ इतना ही अभिप्राय है कि उनमे शास्त्रीय महाकाव्य के अस्थायी और बाह्य लक्षणो के निर्वाह की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया गया है, इसके विपरीत आधुनिक उपन्यासो की कथानक सम्बन्धी 'टेक्नीक' का उन पर विशेष प्रभाव पडा है। साथ ही नायक और रस सम्बन्धी शास्त्रीय नियमो को भी उनमे पूर्णतया नही अपनाया गया है। किन्तु उनका मूल स्वर शास्त्रीय महाकाव्यों जैसा ही है। शास्त्रीय महाकाव्य के स्थायी और आन्तरिक लक्षणो का उनमे सर्वथा त्याग नही किया गया है। इन प्रबन्धकाव्यों मे सब से महत्वपूर्ण प्रियप्रवास और साकेत है। अनेक विद्वान इन दोनों काव्यो को महाकाव्य मानते हैं। अत इनके सम्बन्ध मे विशेष रूप से आगे विचार किया जायगा। इस श्रेणी के अन्य प्रबन्धकाव्यों मे मौलिकता, काव्यात्मक उत्कृष्टता और महती काव्य प्रतिभा का वह रूप नहीं दिखाई पडता जो प्रिय प्रवास और साकेत में है। सच पूछा जाय तो उनमे से अधिकाश अनुकृत काव्य हैं, अनुकरण भी प्राचीन महाकाव्यो का नहीं बल्कि ख्याति प्राप्त समकालीन प्रबन्धकाव्यों—प्रिय प्रवास, साकेत और बगला के मेघनाद वध—का हुआ है। उदाहरणार्थ सिद्धार्थ मे प्रियप्रवास की पूर्ण छाया दिखाई पडती है। उसी तरह "साकेत सन्त" मे "साकेत" की तथा "आर्यावर्त" मे "मेघनाद वध" की शैली का अनुकरण किया गया है। इनमे से सिद्धार्थ को तो "अनुकृति की अनुकृति" कहा जा सकता है क्योकि प्रियप्रवास मे स्वय माइकेल मधुसूदन की विरहणी ब्रजागणा और संस्कृत के शास्त्रीय महाकाव्यो तथा मेघदूत की शैली का अनुकरण हुआ है।

सिद्धार्थ १८ सर्गों मे विभक्त है और प्रिय प्रवास की तरह उसमे भी आद्यन्त संस्कृत के वर्णवृत्तो का प्रयोग हुआ है। उसकी भाषा, शब्द-चयन और अभिव्यक्ति शैली सब कुछ प्रियप्रवास के समान है। छन्द विधान मे प्रियप्रवास से इतनी ही भिन्नता है कि सर्गो के बीच मे कहीं कहीं भिन्न छन्द भी प्रयुक्त हैं। इसमे सर्गों की सख्या के साथ उनका नाम भी दिया गया है जो विश्वनाथ कविराज की परिभाषा के अनुरूप है। प्रियप्रवास में जिस तरह प्रारम्भ मे ही

ब्रज का वर्णन हुआ है उसी तरह इसमे भी काव्यारम्भ कपिलवस्तु नगर के वर्णन से हुआ है। १३ वें सर्ग में सिद्धार्थ के महाभिनिरुक्रमण के बाद शुद्धोदन और नगरवासियो के विलाप और १६ वे सर्ग मे यशोधरा की विरहावस्था क वर्णन और हम सन्देश मे प्रियप्रवास का प्रभाव स्पष्ट दीख पडता है। किन्तु सिद्धार्थ प्रियप्रवास से इस अर्थ में कुछ भिन्न है कि उसमे वस्तु वर्णन सम्बन्धी शास्त्राय लक्षणों का निवाह अधिक हुआ है, जैमे कुमारोदय वर्णन (सर्ग २), प्रभात, मृगया, वन-उपवन आदि का वर्णन (सर्ग ४, ७), ऋतुवणन (सर्ग ५), सयोग श्रृगार (सर्ग ६), विप्रलम्भ श्रृगार (सर्ग १६) आदि। इनके कारण सिद्धार्थ में वर्णन वैविध्य तो दिखाई पडता है परन्तु इससे कवि की रूढप्रियता और अनुकरण वृत्ति का भी परिचय मिलता है। इन शास्त्रीय प्रबन्धरूढियो का निर्वाह देखकर कोई सिद्धाथ को शास्त्रीय शैली का महाकाव्य भले ही मान लें किन्तु महदुद्देश्य, महती काव्य प्रतिभा, गुरुत्व गाम्भार्य तथा सशक्त प्राणवत्ता का अभाव होने से उसमे वास्तविक महाकाव्य होने की क्षमता नहीं है।

'साकेत सन्त' मे भी साकेत की अभिव्यजना का शैली, छन्द विधान, वस्तु विन्यास और दृष्टिकोण का पूर्णत अनुकरण किया गया है। प्रथम सर्ग का प्रारम्भ साकेत मे जिस तरह लक्ष्मण के अन्त पुर के वर्णन से हुआ है उसी तरह इसमे भी भरत के अन्त पुर और भरत-माण्डवी सम्वाद से हुआ है। साकत के नवम सर्ग की तरह इसका भी १३ वाँ सर्ग प्रगीत मुक्तक की शैला म लिखा गया है। निष्कर्ष यह कि इस काव्य मे मौलिकता का सर्वथा अभाव है। काव्यात्मकता भी इसकी उत्कृष्ट कोटि की नहीं हैं और न वर्णनों मे कोई आकपण या रसात्मकना है। साकेत मे यदि पूर्व कवियो दारा उपेक्षित उर्मिला के चरित्र को उभार कर रखा गया है तो इसमे कवि ने रामायण की दूसरी उपेक्षिता नारी माण्डवी के चरित्र को प्रकाश मे लाने का प्रयास किया है। भरत के चरित्र चित्रण मे कवि का विशेष सफलता मिली हैं। भरत रामकथा के अत्यन्त महत्वपूर्ण पात्र हैं पर उनके चरित को लेकर इसने पहले कोई बडा काव्य नहीं लिखा गया था। इसी अभाव की पूर्ति के लिए इस काव्य की रचना हुई है। अत कवि ने भरत के चरित्र का पयाप्त उत्कर्ष दिखाया है और उन्हें भक्त के साथ ही आदर्श प्रशासक, प्रजा पालक और राजनीतिज्ञ के रूप में भी चित्रित किया है। यह सब होते हुए भा इस काव्य मे गुरुता, गम्भारता और सप्राणता नहीं है क्यों कि उसमे सम्भीर जीवन दर्शन, शैली की उदात्तता और रसात्मकता का अभाव है।

'आर्यावत' तेरह सर्गो का अमित्राक्षर छ द म लिखा हुआ पृथ्वाराज के जीवन से सम्बन्धित प्रबन्धकाव्य है। इसमे मेघनाद-वध के छन्द विधान और

रूप शिल्प का अनुकरण किया गया है। मेघनाद वध मे जिस तरह प्रारम्भ मे सरस्वती वदना के साथ कवि अपने काव्य विषय का निदश करता है उसी तरह इस काव्य म भी महाकाली की वन्दना और वस्तु निदश का विधान हुआ है। वस्तुत स्वय माइकेल मधुसूदन ने मिल्टन के "पैराडाइज लास्ट" के काव्यारम्भ की शैली का अनुकरण किया है, अत यह काव्य भी अनुकृति की अनुकृति ही है। भारतीय राष्ट्रीयता की प्रवृत्ति और आर्य जाति के गोरव की भावना को इस काय मे प्रधानता मिली है। युग चेतना का प्रभाव इसमे अन्य काव्यो की अपेक्षा अधिक दिखलाई पडता है। इस कारण आयावर्त मे एक ऐसी नवीनता, सजीवता और आधुनिकता है जो इस युग के अधिकाश प्रबन्धका यों मे नहीं दिखलाइ पडती। इसमे महाका य के बाह्य शास्त्रीय लक्षणो का पालन नहीं हुआ है किन्तु वस्तु वणन, चरित्र चित्रण और रसवत्ता से सम्बन्धित शास्त्रीय लक्षणों का निवाह इसमे स्वाभाविक रूप मे दिखलाइ पडता है। रूढिबद्धता इसमे कही नहीं दिखलाइ पडती। इस सम्बन्ध में प० रामदहिन मिश्र ने लिखा है, "जैसे भाषा की सृष्टि होने से उसक व्याकरण बनते हैं, वैसे ही ये लक्षण ग्रन्थ भी बने हैं। संस्कृत ग्रन्था की सी उनकी सगति हिन्दी सी जिवित भाषा के काव्यों मे सम्भव नहीं। इस दृष्टि से आयावर्त प्रगतिवादी महाकाव्य कहा जा सकता है। क्यों कि हमे वह जीवन की गरिमा का एक नया परिचय देता है।"[1] इसमं कोई सन्देह नहीं कि आर्यावर्त में सप्राणता, जीवन्तता और दृष्टिकोण की गम्भीरता वतमान है किन्तु इसमे जीवन का वैसा वैविध्यपूर्ण और व्यापक चित्रण नहीं दिखलाइ पडता जिसके कारण काव्य में महाकाव्योचित गरिमा और विराटता आती है। अनुकृत काव्य होने से इसमे महती काव्य प्रतिभा और मोलिकता भी नहीं दिखलाइ पडती। वस्तुत आयावत मेघनाद वध की ऊँचाइ तक भी नहीं पहुँच सका है। स्वय मेघनाद वध के महाका यत्व के सम्बन्ध में अधिकाश विद्वानों को सन्देह है, अत उसके अनुकरण पर लिखे गये इस काव्य का महाकाव्यत्व नही स्वीकार किया जा सकता।

'नूरजहाँ' १८ सर्गा म लिखा हुआ एक बडा प्रबन्धकाव्य है। इसमें महाकाव्य के बाह्य शास्त्रीय लक्षणो का बिल्कुल पालन नही किया गया है। सर्गबद्ध होने के कारण ऊपरी दृष्टि से देखने पर इसके महाकाव्य होने का भ्रम हो सकता है किन्तु इसमें महदुद्देश्य महच्चरित्र, गुरुत्व, गाभीर्य सबका अभाव है। वस्तुत यह एक लम्बा ऐतिहासिक कथात्मक काव्य है। जिस तरह अग्रेजी में

१—रामदहिन मिश्र– "आर्यावर्त" की भूमिका–पृ० ३

स्काट के कथात्मक काव्य महदुद्देश्य के अभाव मे महाकाव्य नहीं माने जाते, उसी तरह नूरजहाँ को भी महाकाव्य नहीं माना जा सकता।

तीसरे प्रकार के प्रबन्धकाव्यो मे कुरुक्षेत्र और विक्रमादित्य विशेष महत्वपूर्ण है। इनमे से कुरुक्षेत्र मे तो प्रबन्धत्व और रसवत्ता का पूर्ण अभाव है। चरित्र चित्रण और वस्तुवर्णन की ओर भी उसमे बिलकुल ध्यान नही दिया गया है। अत उसके महाकाव्य क्या, प्रबन्धकाव्य होने मे भी सन्देह है। अनेक विद्वान उसे विचारकाव्य, निबन्धकाव्य या काव्य प्रबन्ध की सज्ञा देते हैं जिससे यह स्पष्ट है कि उसम प्रबन्धकाव्य के गुणों का अभाव है। इस कारण महाकाव्य के क्षेत्र मे कुरुक्षेत्र विचारणीय नही है। विक्रमादित्य हार्डी के डाइनेस्ट और गेटे के फाउस्ट क ढग का नाटकीय प्रबन्धकाव्य है। इसम कोई सन्देह नहीं कि नाटकीय शैली म लिखे गये काव्यो मे भी यदि महाकाव्य के गुग हो तो उन्हे महाकाव्य माना जा सकता है आर यूरोप म माना भी जाता है। किन्तु यह शैली अपनाने पर कवि की कठिनाइयॉ भी बढ जाती हैं। कारण यह है कि महाकाव्य मे गीतिकाव्य और नाटक के तत्त्वो का समन्वय हुआ रहता है। यदि महाकाव्य नाटकीय शैली मे लिखा जाता है तो गीतिकाव्य के तत्त्व उसमे से निकल जाते हैं। उनकी कमी की पूर्ति कथानक और सवादो की ऐसी योजना से होता है जिसम कवि की ओर से कही जाने वाली बातें पात्रो के मुख से कहला दी जाती हैं। वस्तुत नाट्यकला प्रबन्धकाव्य की कला से अधिक कठिन है। अत नाटकीय ढग के महाकाव्यो के लिए कवि की कलात्मक प्रतिभा का अत्यन्त उत्कृष्ट होना आवश्यक है। विक्रमादित्य मे इस कलात्मक प्रतिभा का अभाव दिखाई पडता है। वह बहुत कुछ रामचन्द्रिका के ढग का सवादात्मक प्रबन्धकाव्य हो गया है। सवाद रूप मे वस्तु वर्णन अथवा घटनाओं का विवरण अत्यन्त लम्बा और उबा देने वाला हो गया है। इस कारण उसमे कथानक का प्रवाह और विकासक्रम नहीं है। उसमे महाकाव्योचित महदुद्देश्य और महत्प्रेरणा का भी अभाव है। काव्यात्मक सरसता और शैली की गरिमा और उदात्तता तो उसमें और भी नहीं है। इन कारणों से विक्रमादित्य को भी महाकाव्य नहीं माना जा सकता।

पहले कहा जा चुका है कि आधुनिक युग के बडे प्रबन्धकाव्यो मे सबसे महत्वपूर्ण प्रिय प्रवास, साकेत और कृष्णायन हैं और कुछ विद्वानों ने इन तीनों को महाकाव्य की सज्ञा दी भी है। अत यहॉ यह देखने का प्रयत्न किया जा रहा है कि दूसरे अध्याय मे निर्दिष्ट महाकाव्य के शाश्वत लक्षणों के अनुसार उन्हें महाकाव्य माना जा सकता है या नहीं।

प्रिय प्रवास

प्रिय प्रवास खडी बोली हिन्दी का सर्व प्रथम बडा प्रबन्धकाव्य है। इसमे श्री कृष्ण के बचपन से लेकर मथुरा प्रवास तक की जीवन कथा १७ सर्गो मे लिखी गयी है। हरिऔध जी ने इसे आधुनिक ढग का महाकाव्य बनाने का प्रयास किया है। आधुनिकता लाने के लिए उन्होने महाकाव्य के अनेक शास्त्रीय लक्षणो को नही अपनाया है, उदाहरणार्थ प्रिय प्रवास मे मगलाचरण, वस्तुनिर्देश, पूर्व कवि प्रशसा, सज्जन दुर्जन चिन्ता आदि काव्यारम्भ सम्बन्धी प्रबन्धरूढियाँ नही हैं। उसका आरम्भ उपन्यास या कहानी की तरह कथा के बीच से इस तरह हुआ है कि पाठको के मन मे कथा के पूर्व प्रसग को जानने की जिज्ञासा बनी रहती है। इस तरह का प्रारम्भ मे हरिऔध जी ने प्रस्तावना न रख कर पर्याप्त नवीनता दिखाई है। प्रथम सर्ग मे पृष्ठभूमि के रूप मे प्रकृति का चित्रण करके किशोर कृष्ण की सर्वप्रियता दिखलाई गई है। बाद के सर्गो मे कृष्ण की बाल लीलाओ तथा कुछ लोक हित के कार्यो के वर्णन के उपरान्त उनके मथुरा प्रवास और व्रजजनो की विरह व्यथा का विस्तार से वर्णन हुआ है। इस तरह यह काव्य प्रधानतया भाव व्यजक और वर्णनात्मक है। उसमे काव्यात्मक उत्कृष्टता तो है किन्तु जीवन के केवल एक ही पक्ष और हृदय की एक ही भावना की प्रधानता होने से वह महाकाव्य की दृष्टि से एकागी है। इस काव्य की रचना मे हरिऔध जी का उद्देश्य कृष्ण को महान नीतिज्ञ, योगी, और वीर के रूप मे दिखलाना नहीं, बल्कि रीतिकालीन कवियो की उस भावना का परिमार्जन करना है जिसके अनुसार वे साहित्य मे एक विलासी, स्वैराचारी और धीर ललित नायक के रूप मे दिखलाई पडते है। इसके लिए कवि ने श्रीमद्भागवत मे वर्णित घटनाओ—माखन चोरी, रास लीला, पूतना वध इत्यादि—का बौद्धिकीकरण करके उनका आदर्शवादी दृष्टि से चित्रण किया है।

इस तरह यद्यपि हरिऔध का दृष्टिकोण लोकहित सम्पृक्त और आदर्शवादी है किन्तु कृष्ण के व्यापक जीवन और विराट व्यक्तित्व का आश्रय न लेने के कारण प्रिय प्रवास मे उद्देश्य की महानता और महत्प्रेरणा का अभाव दिखलाई पडता है। स्थूल नैतिकता और बाह्य मर्यादावादी दृष्टि के कारण प्रिय प्रवास मे गम्भीर जीवन दर्शन और विविध भावो की गहराई मे प्रवेश करने वाली मर्मस्पर्शिनी दृष्टि नही दिखलाई पडती। कवि ने जितनी शक्ति यशोदा, राधा तथा गोप गोपियो के विरह वर्णन मे लगाई है उतनी कृष्ण के महान चरित्र के चित्रण और उनके सशक्त व्यक्तित्व के उद्घाटन मे नहीं। यही कारण है कि कस वध जैसी बडी घटना भी प्रिय प्रवास मे महत्कार्य के रूप मे नहीं चित्रित

हुई है। घटना विरलता और वर्णन विस्तार के कारण इसमे कथानक बहुत संक्षिप्त है और उसमे वह प्रवाह तथा जाव तता नहीं जो महाकाव्य के कथानक मे होनी चाहिये। वस्तुत प्रिय प्रवास एक विरह-काव्य है और उसे मेघदूत तथा सन्देशरासक की परम्परा मे माना जा सकता है, यद्यपि उक्त दानो काव्या की अपेक्षा इसमे प्रबन्धत्व कुछ अधिक है। घटनाओ की कमी तथा सम्बन्ध निवाह और सक्रियता के अभाव के कारण नाटकीय सन्धिया और कार्यावस्थाओं की समुचित योजना इसमे नही हो सकी है। फलस्वरूप इस काव्य मे ताव्र प्रभावान्विति नहीं आ सकी है। यद्यपि इसमे आद्यन्त रस भाव का नैरन्तर्य दिखलाई पडता है किन्तु प्रबन्धकाव्य मे विभिन्न रसो की जैसी योजना होनी चाहिये वैसी इसमे नही हुई है। केवल प्रारम्भ के कुछ सगो म वात्सल्य और सख्य भाव की अभिव्यक्ति हुई हैं, उसक बाद सयोग और विप्रलम्भ शृगार की विस्तृत योजना हुई है। इस प्रकार इस काव्य का अधिक भाग विरह की विभिन्न अवस्थाओं और मनोदशाओ क चित्रण से ही भरा हुआ है।

इ ही कारणो से प्रिय प्रवास के महाकाव्यत्व मे अनेक विद्वानो ने स देह प्रकट किया है। इस सम्बन्ध मे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है, "जैसा कि इसक नाम से प्रकट है, इसकी कथा वस्तु एक महाकाव्य क्या, अच्छे प्रबन्धकाव्य के लिये भी अपयाप्त है। अत प्रबन्धकाव्य क सब अवयव इसमे कहाँ आ सकते हैं? किसी के वियोग मे कैसी बाते मन मे उठती हैं और क्या क्या कह कर लोग रोते हैं, इसका जहाँ तक विस्तार हो सका है, किया गया है।"[1] इस प्रकार महाकाव्य के मूल स्वर (एपिक इ टेन्शन) तथा शाश्वत लक्षणाके अभाव के कारण यह निस्सकोच कहा जा सकता है कि प्रिय प्रवास महाकाव्य नहीं है।

साकेत

साकेत १२ सगा का एक बृहत् प्रबन्धकाव्य है। यद्यपि इसका कथानक राम कथा पर आधारित है किन्तु राम कथा का वर्णन करना गुप्त जी का प्रधान लक्ष्य नहीं है। वस्तुत साकेत का मूल स्वर भी वही है जो प्रिय प्रवास का है। प्रिय प्रवास की तरह इसमे भी महाकाव्यात्मक उद्देश्य (एपिक इन्टेशन) का अभाव दिखाइ पडता है। प्रिय प्रवास का उद्देश्य यदि श्रीमद्भागवत की कथा का बौद्धिकीकरण और कृष्ण राधा आदि क चरित्रों का उदात्तीकरण है तो साकेत का उद्देश्य राम कथा के उपेक्षित पात्रों को प्रकाश में लाना तथा उसके देवत्व

१—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—"हिन्दी साहित्य का इतिहास"—पृ० ६०४

गुणयुक्त पात्रो को मानव रूप मे उपस्थित करना है। वाल्मीकि और तुलसी ने राम को इतनी उच्च भूमिका पर प्रतिष्ठित कर दिया था कि किसी परवर्ती सामान्य प्रतिभा वाले कवि के लिए राम के चरित्र को उतनी ऊँचाई तक ले जा सकना सम्भव नहीं था। इसलिये गुप्त जी ने अपने काव्य का प्रधान चरित्र राम और सीता को न बनाकर लक्ष्मण भरत और उर्मिला का बनाया है, किन्तु इन चरित्रो मे महाकाव्य का नायक बनने की क्षमता है या नहीं, इस पर कवि ने विचार नहीं किया। राम कथा मे राम के विराट व्यक्तित्व से अन्य सभी पात्रा का चरित्र इतना दबा हुआ है कि राम के अवलम्ब के बिना उसमे से किसी का स्वतत्र रूप से अपने निजी व्यक्तित्व के साथ खडा होना असम्भव है। अत लक्ष्मण, भरत आदि को नायक बनाकर लिखे गये काव्य का महाकाव्य की ऊचाइ तक पहुँचना अत्यन्त कठिन है।

साकेत मे लक्ष्मण और उर्मिला को नायक नायिका के रूप मे उपस्थित किया गया है, फिर भी प्रधानता राम के चरित्र की ही है। इस तरह उसमे न तो राम के चरित्र के ही पूर्ण विकास का अवसर मिला है और न लक्ष्मण और भरत के चरित्र को ही राम के समान ऊँचा उठाया जा सका है। निष्कर्ष यह कि महच्चरित्र के अभाव के कारण साकेत का महाकाव्यत्व अत्यन्त सन्दिग्ध है।

व्यापार योजना अथवा वस्तु विन्यास की दृष्टि से भी साकेत महाकाव्य की श्रेणी मे नही रखा जा सकता। इसम रामायण के विस्मृत, उपेक्षित तथा त्यक्त प्रसगों, पात्रों और व्यापारो पर ही अधिक प्रकाश डाला गया है, जैसे लक्ष्मण और उर्मिला का प्रेम प्रसग और मधुरालाप, उर्मिला की चोदह वर्षों की कालयापन विधि और विविधविरह दशायें, भरत की तपस्या और दिन चर्या, वन म सीता की दिनचर्या, कैकयी के चरित्र का विकास आदि। इन प्रसगो और व्यापारा के कारण यद्यपि राम कथा म नवीनता और आधुनिकता आयी है किन्तु इनकी अधिकता से रामायण की कथा मे जो महान कार्य-व्यापार है, साकेत मे उसकी समुचित योजना नही हो पाइ है। इस तरह महती घटनाओं और महत्कार्य की योजना उचित ढग स न होने से उसकी प्रबन्धात्मकता मे बहुत बाधा पडती है। रामायण की लम्बी कथा का एक छोटा अश तो साकेत के आठ लम्बे सर्गो म वर्णित हुआ है और बाद के महत्वपूर्ण अश को केवल दो सर्गों (दस, ग्यारह) म जल्दी जल्दी सिनेमा की रील की भाँति आगे बढाया गया है। विराट जीवन व्यापारा के चित्रण का जहाँ अवसर था, उन स्थलों का साकेत म महत्व ही नही दिया गया। इसके अतिरिक्त नवाँ सर्ग तो पूरा का पूरा उर्मिला की विरह दशाओं के चित्रण म लग गया है। कवि ने प्रगी-

त्मकता, कलाभिव्यक्ति तथा विरह वर्णन की परम्परागत पद्धति के निर्वाह के लिये इस सर्ग की रचना की है क्योकि उसे इस काव्य से अलग कर देने पर भी उसकी कथा धारा मे कोई बाधा नहीं उपस्थित होती। इस कारण साकेत मे कथानक की सुनिश्चित योजना तथा समग्र जीवन-चित्रण का अभाव दिखलाई पडता है। वस्तुत कवि का ध्यान इस बात पर था कि इस काव्य म पूरी राम कथा भी कह दी जाय और उपेक्षित पात्रों और प्रसगों को उभार कर रखा भी जाय। इस प्रयत्न मे कथानक का सन्तुलन बिगड गया है। इस तरह साकेत म कथा वस्तु का विन्यास सुसगठित और फल प्राप्ति की ओर उत्तरोत्तर विकसित होने वाला नही है।

काव्यात्मकता की दृष्टि से साकेत अवश्य एक उत्कृष्ट काव्य है। उसके विभिन्न प्रसगों में बीच-बीच मे अनेक रसमय स्थल भी आये हैं। प्रथम सर्ग म जो रस मय काव्य-सृष्टि हुई है, अन्तिम सर्ग मे उसी का उत्कर्ष हुआ है। इस तरह प्रिय प्रवास भी साकेत की तरह शृङ्गाररस प्रधान काव्य है। किन्तु बीच में इस रसधारा मे अनेक विघ्न आ जाते हैं। यदि साकेत मे प्रारम्भ से अत तक केवल उर्मिला और लक्ष्मण से सम्बन्धित कथा ही रहती और बीच बीच म राम कथा के अन्य प्रसग न आये होते तो निश्चय ही उसमे शृगार रस का पूर्ण विकास दिखाई पडता। प्रथम और अन्तिम सर्ग के बीच मे केवल नवे और दसवे सर्ग म उर्मिला के विरह वर्णन के रूप मे विप्रलम्भ शृगार की अभिव्यक्ति हुइ है और उसका भी कथानक से सीधा सम्बन्ध नहीं है। अत समग्र दृष्टि से देखने पर साकेत की रस योजना भी महाकाव्य के उपयुक्त नहीं है क्योकि उसके कथानक मे रसानुरूप सन्धियों और कार्यावस्थाओं की योजना नही हुई है।

जैसा पहले कहा जा चुका है, कवि ने किसी बहुत बडे उद्देश्य से अनु-प्राणित होकर साकेत की रचना नहीं की है। जातीय सस्कृति के मूल तत्त्वों के उद्घाटन, महान आदर्शो की स्थापना, राष्ट्रीय चेतना की सशक्त अभिव्यक्ति, महच्चरित्र की सर्जना अथवा आध्यात्मिक क्षेत्र की किसी वेगवान अनुभूति के प्रत्यक्षीकरण के उद्देश्य से लिखे गये महाकाव्यो मे जो गुरुत्व और गाम्भीर्य होता है वह साकेतमे नहीं है क्यो कि उसमे उपर्युक्त बातों मे से कोई भी उद्देश्य के रूप में नहीं गृहीत हुई है। महान उद्देश्यों को ग्रहण करने की क्षमता ऐसे महान प्रतिभा वाले कवि म ही होती है जो विराट कल्पना कर सकता है। साकेत मे विराट कल्पना का दर्शन नहीं होता। उसमे गुप्त जी का सरल भावुक मन सामान्य जीवन से ऊपर उठ कर महच्चरित्र और व्यापक पृष्ठभूमि की कल्पना

नही कर सका है। इसीलिये उाके काव्य का क्षेत्र साकेत नगर तक ओर उसमे भी विशेष रूप से उर्मिला के भवन तक ही सीमित रह गया है। महान उद्देश्य और महती काव्यप्रतिभा के अभाव म इस काव्य की सप्राणता और जीवनी शक्ति भी सीमित ही है। यद्यपि साकत सामान्य भावुक पाठका क लिए बहुत आकर्षक है पर गम्भीर जीवन दर्शन की प्रतिष्ठा न होने से उसमे अमरत्व की शक्ति नहीं आ सकी हे। इस प्रकार हम देखते हैं कि महाकाव्य के शाश्वत लक्षणा की कसौटी पर साकत खरा नहीं उतरता। उसे महाकाव्य सिद्ध करते हुए श्री न ददुलारे वाजपेयी ने लिखा है, "यो तो महाकाव्य की व्यापकता आर महत्व क द्योतक कोइ सुनिश्चित प्रतिमान नही हो सकते आर अतएव इस सम्बन्ध का निणय मतभेद से रहति नही हो सकता, किन्तु साकेत काव्य का साहित्यिक जगत म जो सम्मान है, हिन्दी के ऐतिहासिक विकास मे उसकी जो देन है, युगचेतना के जो नवोन्मेष उसम अपनी आभा बिखेर रहे हैं, उन्हे देखते हुए साकत को महाकाव्य न कहना अन्याय होगा।"[1] वाजपेयी जी ने साकत को महाकाव्य सिद्ध करने के लिए जो तर्क दिये हैं व महाकाव्य क शाश्वत लक्षण नहीं है। यदि शाश्वत लक्षणों क आधार पर साकेत महाकाव्य सिद्ध नहीं होता तो इससे न तो इसका गोरव कम हो जाता है न उसके, ऐतिहासिक महत्व म ही कोइ कमी आती है। महाकाव्य न होते हुए भी उसको जो लोकप्रियता आर महत्ता है वह अपनी जगह बनी रहेगी। सूर सागर, विनय पत्रिका आदि ग्रथ महाकाव्य नही हैं पर इमस उनका महत्व आर आदर बडे स बडे महाकाव्य स किसी तरह कम नहीं है।

[२]

हिन्दी साहित्य के इतिहास के चारो कालो (आदि, पूर्व मध्य, उत्तर मध्य ओर आधुनिक) के महत्वपूर्ण प्रब न्धकाव्यो क उपयुक्त पर्यवेक्षण स यह स्पष्ट है कि हि दी म वास्तविक महाकाव्य केवल पाँच—पृथ्वीराजरासो, आल्हखण्ड, पद्मावत, रामचरितमानस ओर कामायनी—हैं, अ य प्रबन्धकाव्यों म एक भी ऐसा नहीं है जिसे महाकाव्य की सज्ञा दी जा सके। यद्यपि हिन्दी मे राम स्वयंवर, रामरसायन तथा कृष्णायन जसे विशालकाय प्रबन्धकाव्य लिखे गये हैं किन्तु आकार की विशालता क कारण ही कोइ काव्य महाकाव्य पद का अधिकारी नहीं हो सकता। इसी तरह हिन्दी मे ऐस प्रबन्धकाव्यो की सख्या भी कम नहीं है जिनम आलंकारिकों द्वारा निर्दिष्ट महाकाव्य क लक्षणों का निर्वाह हुआ है,

१—आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी—आधुनिक साहित्य—पृष्ठ ५४

नही कर सका है। इसीलिये उनके काव्य का क्षेत्र साकेत नगर तक आ उसमे भी विशेष रूप से उर्मिला के भवन तक ही सीमित रह गया है। महा उद्देश्य और महती काव्यप्रतिभा के अभाव म इस काव्य की सप्राणता ओ जीवनी शक्ति भी सीमित हुई है। यद्यपि साकेत सामान्य भावुक पाठको के लिए बहुत आकर्षक है पर गम्भीर जीवन दर्शन की प्रतिष्ठा न होने से उसमे अमरत की शक्ति नहीं आ सकी है। इस प्रकार हम देखते हैं कि महाकाव्य के शाश्वत लक्षणो की कसौटी पर साकेत खरा नहीं उतरता। उसे महाकाव्य सिद्ध करते हुए श्री नन्ददुलारे वाजपेयी ने लिखा है, "यो तो महाकाव्य की व्यापकता और महत्व के द्योतक कोई सुनिश्चित प्रतिमान नहीं हो सकते और अतएव इस सम्बन्ध का निर्णय मतभेद से रहित नहीं हो सकता, किन्तु साकेत काव्य का साहित्यिक जगत मे जो सम्मान है, हिन्दी के ऐतिहासिक विकास म उसकी जो देन है, युगचेतना के जो नवोन्मेष उसम अपनी आभा बिखेर रहे हैं, उन्हे देखते हुए साकेत को महाकाव्य न कहना अन्याय होगा।"[1] वाजपेयी जी ने साकेत को महाकाव्य सिद्ध करने के लिए जो तर्क दिये हैं व महाकाव्य के शाश्वत लक्षण नहीं है। यदि शाश्वत लक्षणों के आधार पर साकेत महाकाव्य सिद्ध नहीं होता तो इससे न तो इसका गौरव कम हो जाता है न उसके ऐतिहासिक महत्व म ही कोई कमी आती है। महाकाव्य न होते हुए भी उसकी जो लोकप्रियता और महत्ता है वह अपनी जगह बनी रहेगी। सूर सागर विनय पत्रिका आदि ग्रथ महाकाव्य नही हैं पर इससे उनका महत्व और आदर बडे से बडे महाकाव्य स किसी तरह कम नहीं है।

[३]

हिन्दी साहित्य के इतिहास के चारो कालो (आदि, पूर्व मध्य, उत्तर मध्य और आधुनिक) के महत्वपूर्ण प्रबन्धकाव्यों के उपयुक्त पर्यवेक्षण से यह स्पष्ट है कि हिन्दी म वास्तविक महाकाव्य केवल पाँच—पृथ्वीराजरासो, आल्हखण्ड, पद्मावत, रामचरितमानस और कामायनी—हैं, अन्य प्रबन्धकाव्यों म एक भी ऐसा नहीं है जिसे महाकाव्य की सज्ञा दी जा सके। यद्यपि हिन्दी मे राम स्वयंवर, राम रसायन तथा कृष्णायन जैसे विशालकाय प्रबन्धकाव्य लिखे गये हैं किन्तु आकार की विशालता के कारण ही कोई काव्य महाकाव्य पद का अधिकारी नहीं हो सकता। इसी तरह हिन्दी म ऐसे प्रबन्धकाव्यों की सख्या भी कम नहीं है जिनमे आलकारिकों द्वारा निर्दिष्ट महाकाव्य के लक्षणों का निर्वाह हुआ है,

१—आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी—आधुनिक साहित्य—पृष्ठ ५४

किन्तु शास्त्रीय लक्षणों के पालन मात्र से भी कोई काव्य महाकाव्य नहीं माना जा सकता। सत्य तो यह है कि बिना महाकाव्यात्मक उद्देश्य के कोई भी का व महाकाव्य नही हो सकता। इस महाकाव्यात्मक उद्देश्य की पहचान आकार की विशलता और शास्त्रीय लक्षणो को देख कर नहीं हो सकती। महाकाव्यात्मक उद्देश्य हाने पर किसी लघु प्रबन्ध या मुक्तक काव्य म भी महाकाव्यत्मक वैशिष्ट्य (एपिक क्वालिटी) आ जाता है। हिन्दी म 'राम की शक्ति पूजा' म इस प्रकार का महाकाव्यात्मक उद्देश्य दिखलाई पडता है। इस सम्बन्ध मे ध्यान देने की बात यह है कि केवल महाकाव्यात्मक उद्देश्य ओर वैशिष्ट्य से ही कोई का य महाकाव्य नही बन जाता, उसके लिये और भी कइ बातों की आवश्यकता होती है। इस दृष्टि से देखने पर किसी भी देश के साहित्य मे वास्तविक महाकाव्यां की सख्या बहुत कम दिखलाई पडती है ओर अधिकतर काव्य, जिन्हे महाकाव्य माना जाता है, वास्तविक महाकाव्य नही, 'महाकाव्याभास' मात्र होते हैं। इसी दृष्टि से तीसरे अध्याय म सस्कृत, प्राकृत और अपभ्रश के प्रबन्धकाव्यों का पयवेक्षण करके हमने यह देखा है कि उनमे भी महाकाव्यों की सख्या अधिक नहीं है, यद्यपि उनम प्रबन्धकाव्यो की सख्या हि दी की तुलना मे बहुत अधिक है। अत हि दी मे केवल पाच ही महाकाव्य हैं, यह कोई आश्चय अथवा दु ख की बात नही है। ये पाँच महाकाव्य ऐसे हैं जो महाकाव्य की पाँच शैलियो का प्रतिनिधित्व करते हैं और उनका महत्व इसी से स्पष्ट है कि उनमे से कुछ को विश्व के श्रेष्ठतम महाकाव्यों की तुलना मे रखा जा सकता है।

लेखकानुक्रमणिका

(हिन्दी)

१—अत्तार, मटरू लाल—आल्हखण्ड, बाजार शाह घासा, मेरठ।

२—अबुल फजल—आइने अकबरी—गैरेट का अंग्रेजी अनुवाद।

३—ओझा, गौरीशकर हीराचन्द—उदयपुर राज्य का इतिहास।

४—कुलश्रेष्ठ, कमल—हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य, अजमेर, सन् १९५३।

५—गोस्वामी चिम्मन लाल और वाजपेयी प० नन्द दुलारे—
(सम्पादक)—रामचरितमानस, गीता प्रेस सस्करण।

६—चट्टोपाध्याय बंकिमचन्द्र—बंकिम ग्रन्थावली।

७—चतुर्वेदी, द्वारिकाप्रसाद—आल्हा (आल्हा की कथा), प्रयाग, १९४०।

८—ठाकुर, रवीन्द्रनाथ—(१) प्राचीन साहित्य (अनुवादक रामदहिन मिश्र)
(२) मेघनाद वध के हिन्दी अनुवाद की भूमिका, प्रथम सस्करण, झाँसी, सम्वत् १९८४।

९—तिवारी, डा० उदयनारायण—वीर काव्य, प्रयाग, सम्वत् २००५।

१०—तिवारी, प० गोरेलाल—बुन्देलखण्ड का संक्षिप्त इतिहास, काशी, स० १९९०।

११—त्रिपाठी, मानसराजहंस प० विजयानन्द जी—मानस प्रसग—चतुर्थ भाग, प्रथम सस्करण।

१२—त्रिवेदी, विपिन विहारी—चन्दबरदायी और उनका काव्य, प्रयाग१९५२।

१३—दास, बाबू श्यामसुन्दर—द्वारा सम्पादित परमाल रासो, काशी, सम्वत् १९७६।

१४—द्विवेदी, डा० हजारी प्रसाद—(१) हिन्दी साहित्य का आदिकाल प्रथम सस्करण।
(२) हिन्दी साहित्य (उद्भव और विकास) प्रथम सस्करण।
(३) हिन्दी साहित्य की भूमिका चतुर्थ सस्करण।

१५—दीक्षित प० मथुराप्रसाद—सपादक और टीकाकार—असली पृथ्वीराज रासो, बनारस, १९५२।

१६—पड्या, मोहनलाल विष्णुलाल—सपादक, पृथ्वीराजरासो, ना० प्र० स०, काशी, सन् १९१२।

१७—प्रसाद, जयशकर—काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, प्रयाग, सवत् २००५, तृतीय सस्करण।

१८—प्रेमी, नाथूराम—जैन साहित्य और इतिहास, बम्बई, सन् १९४२ ।
१९—पाण्डेय, चन्द्रबली—तसव्वुफ और सूफी मत, द्वितीय संस्करण, सन् १९४८ ।
२०—पाण्डेय, रूपनारायण—अनुवादक, बंकिम निबन्धावली ।
२१—वाजपेयी, पं० नन्ददुलारे—आधुनिक साहित्य, प्रयाग, सं० २००७ ।
२२—महादेवी वर्मा—भूमिका—'कमायनी एक परिचय'—लेखक गंगा प्रसाद पाण्डेय, इलाहाबाद सन् १९४६ ।
२३—मिश्र, पं० भगीरथ और तिवारी, उदय नारायण—संपादक, वीर काव्य संग्रह, प्रयाग, सं० १९९७ ।
२४—मुनि, जिन विजय—(१)—सम्पादक पुरातन प्रबन्ध संग्रह,
(२) प्रबन्ध चिन्तामणि,
(३) प्रबन्ध कोष
२५—मेनारिया, पं० मोतीलाल—(१) राजस्थानी भाषा और साहित्य, प्रयाग सं० २००६ ।
(२) राजस्थानी में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज, उदयपुर, सन् १९४२ ।
२६—राहुल सांकृत्यायन—हिन्दी काव्यधारा, इलाहाबाद, सन् १९४५ ।
२७—लमगोडा, राजबहादुर—विश्व साहित्य में रामचरितमानस, सतना १९४४ ।
२८—लाल, डा० श्रीकृष्ण—मानस दर्शन, काशी, सं० २००६ ।
२९—वर्मा, डा० रामकुमार—हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, प्रथम संस्करण ।
३०—बुल्के, कामिल—राम कथा (उत्पत्ति और विकास), प्रयाग, १९५० ।
३१—वैद्य, सी० वी०—(१) हिन्दू भारत का उत्कर्ष (हिन्दी अनुवाद), काशी, सं० १९८६ ।
(२) हिन्दू भारत का अन्त ।
३२—शर्मा, विनयमोहन—साहित्यावलोकन, प्रयाग, सन् १९५२ ।
३३—शिलीमुख, रामकृष्ण—सुकवि समीक्षा, प्रथम संस्करण ।
३४—शुक्ल, रामचन्द्र—(१) हिन्दी साहित्य का इतिहास—आठवाँ संस्करण ।
(२) जायसी ग्रन्थावली ।
(३) गोस्वामी तुलसी दास, सप्तम संस्करण ।

गुजराती

१—भायाणी, हरिवल्लभ तथा मोदी, मधुसूदन—भूमिका (गुजराती) धाहिल विरचित पउमसिरिचरिउ, विद्याभवन, बम्बई, २००५ ।
२—शर्मा, गोबर्धन—महाकवि चन्द अणे पृथ्वीराजरासो ।

हिन्दी की पत्र-पत्रिका

१—अवन्तिका—जून, जुलाई, अक्टूबर, सन् १९५४, पटना।

२—आलोचना—जुलाई १९५२, जुलाई १९५३, अक ७—१९५१, दिल्ली।

३—कल्याण—१३-३, गोरखपुर।

४—चाँद—(मारवाडी अक) प्रयाग।

५—नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ५१, अक ३-४,

,, ,, ,, , वर्ष ५८, अक ३।

,, ,, ,, , वर्ष ४६, ५२ और ५७।

,, ,, ,, , खोज रिपोर्ट, भाग १, काशी।

६—राजस्थानी—भाग ३-अंक २, भाग १—अक ४, १९४७।

७—विशालभारत-मई, सन् १९४३, अक्टूबर, सन् १९४६ भाग ३८, अ अक ४, भाग ३८, अक ६, दिसम्बर सन् १९४६, नवम्बर, सन् १९४६—कलकत्ता।

८—सगम (साप्ताहिक)—प्रयाग।

९—हिन्दुस्तानी-पत्रिका—भाग ७, सन् १९३७।

हिन्दी के स्मारक तथा अभिनन्दन ग्रन्थ

१—कोशोत्सव स्मारक सग्रह, काशी।

२—प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थ, बम्बई।

ग्रन्थानुक्रमणिका

(सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रश)

१—अग्निपुराण

२—अध्यात्म रामायण

३—ईश्वर प्रत्यभिज्ञा—अभिनवगुप्ताचार्य

४—ऐतरेयब्राह्मण

५—ऋग्वेद

६—करकण्डचरिउ—कनकामर

७—काव्यादर्श—दण्डी

८—काव्यानुशासन—हेमचन्द्र

९—काव्यालकार—रुद्रट

१०—काव्यालकार—भामह

११—कालिकापुराण

१२—छान्दोग्य उपनिषद्

१३—जसहरचरिउ—पुष्पदन्त
१४—तन्त्रसार—अभिनवगुप्ताचार्य
१५—तन्त्रालोक—अभिनवगुप्ताचार्य
१६—तैत्तिरीय उपनिषद्
१७—दशरूपक—धनंजय
१८—ध्वन्यालोक—आनन्दवर्धन, लोचन टीका—अभिनव गुप्त
१९—पउमचरिउ—स्वयम्भु देव
२०—पउमसिरिचरिउ—धाहिल
२१—पद्मपुराण
२२—पुरातन प्रबन्ध संग्रह—सं०, मुनि जिनविजय
२३—प्रत्यभिज्ञाहृदयम्—क्षेमराज
२४—प्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी
२५—बुद्धचरित—अश्वघोष
२६—बोधसार
२७—भविसयत्तकहा—धनपाल
२८—भविष्यपुराण
२९—भागवतपुराण
३०—मत्स्यपुराण
३१—महापुराण—पुष्पदन्त
३२—महापुराण—जिनसेन
३३—महार्थमंजरी—सं० महेश्वरानन्द, त्रिवेन्द्रम, सन् १९१९।
३४—महाभारत
३५—वायुपुराण
३६—विक्रमाङ्कदेवचरित—बिल्हण
३७—विष्णुपुराण
३८—बृहदारण्यक उपनिषद्
३९—शतपथब्राह्मण
४०—शिवदृष्टि—सोमानन्द
४१—स्कन्दपुराण
४२—साहित्यदर्पण—विश्वनाथ कविराज
४३—सुभाषित संग्रह—पिटसन (दूसरी रिपोर्ट)

(ENGLISH)

1 Abercrombie, L —The Epic

2 Bernett, Lionet D —Hindu Gods and Heroes, London, 1922

3 Bowra, C M -From Virgil to Milton, London, 1945

4 Buhler, George—Introduction Vikramankdevacharitam, 1915

5 Chadwick—The Growth of Literature, Vol I and II, Cambridge, 1932

6 Chaturjya, Dr S k —Indo Aryan and Hindi, Calcutta

7 Croce, Benedetto—Aesthetics Translated by Dorgas Ainstie

8 Das Gupta, S N & Day, S K —A History of Sanskrit Literature, Calcutta, 1947

9 Dixon, W Macneile—English Epic and Heroic Poetry, London, 1912

10 Grierson, Sir George—Imperial Gazetteer of India, Vol II, Linguistic Survay of India Vol IX, Part I, Introduction The Lay of Alha, Translated by W Waterfield

11 Gummere, F B —1 A Hand book of Poetry
2 Introduction Old English Ballads, London, 1894

12 Hopkins, Washburn—The Great Epic of India, Yale University, 1920

13 Jacobi, Harmann—Introduction Sthavirawalicharit, Calcutta, 1932

14 Jacolliot, A L —The Bible of India Translated from the French, Panini Office, Allahabad

15 Jones, Sir William—Works of William Jones, Vol, VII

16 Kaegi—The Rigveda, London, 1886

17 Keith, A B—A History of Sanskrit Literature, London, 1948

18 Ker, W P —The Dark ages Second Impression,
Epic and Romance
Form and Style in Poetry

19 Krishnamachariar—History of Classical Sanskrit Literature

20 Macdonell and Keith—Vedic Index, Edition 1912

21 Macdonell, A A —A History of Sanskrit Literature, London, 1913
Vedic Mythology

22 Macmillan—Editor Paradise Lost, Book II, Introduction

23 Moulton—World Literature

24 Morgoliouth, D S —The Poetics of Aristotle, London 1911

25 Moseon, T A —Aristotle's Poetics, Everymans Library Edition–1949

26 Muni Jinvijaya—Lilawati, Bombay, Samvat 2005

27 Pargitar, F E —1 Ancient Indian Geneologies and Chronologies
2 Ancient Indian Historical Tradition, London, 1922

28 Penzer—Notes in Tawney's translation of Kathasaritsagar

29 Raking—English translation of Muntakbut tawarikh, 1808

30 Sarkar, Benoy Kumar—The Folk Element in Hindu Culture, London, 1917

31 Shastri, Rama Swami Shiromani—RamCharit of Abhinand,

32 Sidhant, N K—The Heroic Age of India, London, 1929

33 Upadhye, Dr A N—Prakit Literature, in Dictionary of Literature, Vol I

34 Vaidya, p L—Introduction of 'mahapurana' of Puspadanta, Vol I, Bombay, 1937

35 Weber—History of Indian Literature

36 Winternitz—A History of Indian Literature, Vol I, Calcutta, 1927
A History of Indian literature, Vol II Calcutta, 1933

37 The Old Testament

ENGLISH JOURNALS

1 (i) A J of Philosophy—By M Bloomfield, Vols XL, XLI, XLIV and LVII
(ii) A J of pholosophy—By W Norman Brown Vols XLII and XLII

2 Appollodorus Bibiothica—I—VIII

3 (i) Calcutta Review-Vols IXI to IXIII and XLII
(ii) „ „ 1881

4 (i) Indian Antiquary Vol I
(ii) „ „ Vol XIV-1845

5 J A O S, Vols XXXVI—1917, XL-1920, XLIV-1924
6 Imperial Gazetteer of India, Vol II
7 (i) J R A S—July 1903
(ii) J R A S—1912
(iii) J R A S—1917
(V) J R A S—Vol IV, Pt I

DICTIONARIES—

1 Encyclopeaedia Britanica, Vol 19, 11th Edition
2 Encyclopeaedia of Islam
3 Encyclopeaedia of Religion and Ethics—Hastings
4 Vedic Index—Macdonell and Keith
5 Webster's New International Dictionary